शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त

[*द्वितीय भाग*]

लेखक की अन्य रचनाएँ

आलोचनात्मक—

कबीर की विचारधारा—७ ००

डालमिया पुरस्कार समिति द्वारा
२,१०० रु० की धनराशि से पुरस्कृत
विविध विश्वविद्यालयो के
एम० ए० के पाठ्यक्रमो मे निर्धारित ।

कबीर और जायसी का रहस्यवाद—६ ००

उत्तरप्रदेशीय सरकार द्वारा पुरस्कृत
विविध विश्वविद्यालयो के
एम० ए० के पाठ्यक्रमो मे निर्धारित

शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त, प्रथम भाग—८ ००

साहित्य, कला, काव्य और
उसके सम्प्रदायो का
शास्त्रीय विवेचन
विविध विश्वविद्यालयो के
एम० ए० के पाठ्यक्रमो मे निर्धारित

अनूदित—

हिन्दी दशरूपक—६ ५०

धनजय विरचित सस्कृतदशरूपकम् की
व्याख्यात्मक टीका
उत्तरप्रदेशीय सरकार द्वारा पुरस्कृत

सम्पादित—

हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ—३·५०

कहानी-कला पर एक विस्तृत और
गवेषणात्मक भूमिका सहित ।
विविध विश्वविद्यालयो के
विविध पाठ्यक्रमो मे निर्धारित

प्रेस मे—

हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी
दार्शनिक पृष्ठभूमि, लेखक की डी० लिट्०
की थीसिस

शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त

[द्वितीय भाग]

[हिन्दी साहित्य की समस्त विधाओं का शास्त्रीय एवं ऐतिहासिक विवेचन]

लेखक

डा० गोविन्द त्रिगुणायत

एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

१६५६

भारती साहित्य मन्दिर

फव्वारा — दिल्ली

परम पूज्य स्वर्गीय

पिताजी

की

पुण्य स्मृति मे

परम पूज्य स्वर्गीय

पिताजी

की

पुण्य स्मृति मे

प्राक्कथन

'शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त' का द्वितीय भाग भी विज्ञ पाठको की सेवा मे प्रस्तुत है। इस भाग मे लेखक ने साहित्य की लगभग सभी ज्ञात विधाओ के शास्त्रीय स्वरूप का निरूपण किया है। शास्त्रीय विवेचन के साथ ही साथ प्रत्येक विधा का ऐतिहासिक विकासक्रम भी स्पष्ट कर दिया गया है। क्योकि लेखक की धारणा है कि किसी भी विधा का शास्त्रीय विवेचन तब तक स्पष्ट और पूर्ण नही होता जब तक कि उसके ऐतिहासिक पक्ष का भी उद्घाटन न किया जाय।

इस भाग के लेखन मे लेखक ने यथाशक्ति अनुसन्धान और अध्ययन दोनो को समन्वित करने का प्रयास किया है। उसे यह कहने मे सकोच नहीं है कि हिन्दी साहित्य की समस्त विधाओ—कविता, नाटक, आधुनिक नाट्य रूप जैसे रेडियो रूपक, सगीत रूपक, रेडियो गीति-नाट्य, फीचर्स, फैण्टेसी, मौनोलॉग, झलकियाँ आदि, समालोचना, निबन्ध, गद्यकाव्य, कहानी, उपन्यास, सस्मरण, रेखाचित्र, डायरी, इण्टरव्यू, रिपोर्ताज, आत्मकथा, जीवनी, सलाप, पत्र, पत्रकारिता आदि के शास्त्र और इतिहास उभय पक्ष का इतना सर्वांगपूर्ण सरल, सुबोध एव अनुसन्धानात्मक विवेचन हिन्दी साहित्य मे पहली बार हुआ है। उसने इस ग्रन्थ की रचना करते समय विद्वानो और विद्यार्थियो दोनो की आवश्यकताओ को सदैव दृष्टि मे रखा है। विद्वानो की बौद्धिक बुभुक्षा की तृप्ति के लिए उसने यथाशक्ति प्रत्येक विधा से सम्बन्धित उपलब्ध और ज्ञात सामग्री के प्रस्तुतीकरण के साथ-साथ यथास्थान मौलिक विवेचन, और स्वतन्त्र चिन्तन को भी महत्त्व दिया है। सम्पूर्ण सामग्री को रूप प्रदान करते समय लेखक की दृष्टि विद्यार्थियो की अविकसित मेधा पर ही अधिक रही है। यही कारण है कि ग्रन्थ की रचना सरल, सुबोध एव विश्लेषणात्मक शैली मे की गई है। लेखक का यथाशक्ति यही प्रयास रहा है कि साहित्यशास्त्र के कठिन से कठिन सिद्धान्तो का विद्यार्थियो के मस्तिष्क मे स्पष्ट चित्र खिच जाय।

इतने विशाल ग्रन्थ मे सामग्री की प्रामाणिकता, विषय-विवेचन, शैली, भाषा और मुद्रण से सम्बन्धित कुछ भूलें रह गई हो तो कोई आश्चर्य नही। भूलें तो सामान्य आलोचनाओ मे भी बडे से बडे आलोचक से रह जाती हैं। यह तो साहित्यशास्त्र जैसा कठिन विषय है और कालिदास के शब्दो मे 'प्राशुलभ्ये फले लोभादुद्वाहुरिव वामन' की भाँति लेखक का प्रयास। अतः आशा है कि सुधी विद्वान उसकी सभी प्रकार की भूलो और त्रुटियो को उदारतापूर्वक क्षमा करेंगे।

ग्रन्थ लिखने मे लेखक ने देश-विदेश के सहस्रो लेखको और उनके ग्रन्थो का निस्सकोच भाव से उपयोग किया है। उसने प्रयत्न तो यही किया है कि जिस विद्वान लेखक से वह जो कुछ भी ग्रहण करे उसके प्रति यथास्थान आभार भी प्रकट करता

चले । किन्तु यदि अनजान मे किसी विद्वान की किसी रचना के किसी अश की छाया इस रचना के किसी अश पर आ गई हो और उनके प्रति आभार प्रकट न किया गया हो, तो वे कृपया राजशेखर की 'तत्रत्यानामर्थाना छायया परिवृत्ति' वाली उक्ति स्मरण कर क्षमा करे । इस ग्रन्थ का लेखक उन समस्त विद्वानो के प्रति, जिनकी रचनाओ का उसने ज्ञात या अज्ञात रूप मे उपयोग किया है, सविनय शत-शत वार आभार प्रकट करता है ।

विविध विधाओ के ऐतिहासिक पक्ष के उद्घाटन के प्रसग मे इस लेखक ने यथाशक्ति लब्धप्रतिष्ठ लेखकों की चर्चा और आलोचना की है । ऐसा करते समय उसका व्यक्तिगत ज्ञान ही प्रधान रहा है । किसी प्रकार के पक्षपात ने उसे पराभूत नही किया है । अज्ञानवश या प्रमादवश यदि किसी महारथी का नाम यथास्थान न आ सका हो, या किसी की आलोचना कुछ दूषित हो गई हो, तो लेखक उससे अपने प्रमाद और अज्ञान के लिए करबद्ध क्षमाप्रार्थी है ।

इस ग्रन्थ के लेखन मे लेखक सबसे अधिक आभारी पूज्य गुरुवर पण्डित अयोध्यानाथ शर्मा जी का है । उनके आशीर्वाद ने उसे प्रतिपल बल प्रदान किया है । सच तो यह है कि उनका आशीर्वाद ही उसके साहित्यिक जीवन का प्रकाश रहा है । इस प्रसग मे लेखक अपने विद्वान शिष्य डा० रणवीर चन्द्र राणा, एम० ए०, पी-एच० डी० का स्मरण किये बिना भी नही रह सकता । उन्होने समय-समय पर यथाशक्ति ग्रन्थादि जुटाने मे लेखक की सहायता की है । ईश्वर करे वे साहित्य जगत् मे अधिकाधिक कीर्ति के अधिकारी बनें । सबसे अधिक सराहना के योग्य लेखक की धर्मपत्नी डा० सरला त्रिगुणायत, एम० ए०, पी-एच० डी० हैं । उनकी प्रेरणा से ही यह ग्रन्थ पूर्ण हो सका है । इस ग्रन्थ के निर्माण मे उनका वही योग रहा है जो शैवदर्शन मे सृष्टि के निर्माण मे शक्ति का माना गया है ।

अन्त मे लेखक को यह कहने मे परम सन्तोष है कि उसने इस ग्रन्थ के लेखन मे यथाशक्ति अधिक से अधिक परिश्रम करने की चेष्टा की है । उसे विश्वास है कि विवेकी विद्वान् उसकी साधना का समादर करेंगे । रही अविवेकी और ईर्ष्यालु आलोचको की बात, वे तो सदा से दूसरो की साधना की निन्दा करते आए हैं । तभी तो तुलसी को लिखना पड़ा था—

"पइहैं सुख सुनि सुजन जन, खल करिहैं परिहास ।"

—लेखक

इह हि वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्य च। शास्त्रपूर्वकत्वात् काव्यानां पूर्वं शास्त्रेष्वभिनिविशेत। नह्यप्रवर्त्तितप्रदीपास्ते तत्त्वार्थसार्थमध्यक्षयन्ति।

अर्थात्

वाङ्मय के दो प्रमुख रूप हैं—शास्त्र और काव्य। काव्य ज्ञान के लिए शास्त्र ज्ञान परम आवश्यक है। जिस प्रकार विना दीपक के प्रकाश के पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान नही किया जा सकता, उसी प्रकार शास्त्र ज्ञान के विना काव्य का मर्म नही समझा जा सकता। अत काव्यो का अध्ययन करने से पूर्व शास्त्र का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए।

—काव्य-मीमासा, द्वितीय अध्याय

विषय-सूची

शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त

: १ :

कविता

काव्य और कविता

काव्य और कविता मे कोई तात्विक भेद नही है। दोनो के मूल उपादान एक ही होते है। अन्तर केवल रूप मे होता है। काव्य को जब छन्दो की शृखलाओ मे विधिवत बाँध दिया जाता है तभी उसे कविता कहने लगते हैं। छन्द विधान वास्तव मे कविता की सबसे प्रमुख विशेषता है।

छन्द शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ—छन्द शब्द छद् धातु मे असुन् प्रत्यय जोडने से बना है। यास्क ने 'छन्दासि छादनात' (नि ७/११) लिख कर छन्द मे छद् धातु ध्वनित की है। छद् धातु का अर्थ होता है प्रसन्न करना, फुसलाना, आच्छादन करना, बाँधना, आह्लादित करना इत्यादि। इन्ही अर्थो के आधार पर छन्द शब्द का अर्थ सामान्यतया प्रसन्न करने वाली वस्तु, इच्छा, आच्छादन, बन्धन आदि लिया जाता है।

छन्द का वैदिक अर्थ—छन्द शब्द का प्रयोग हमे सबसे पहले वैदिक साहित्य मे मिलता है। छान्दोग्योपनिषद् मे लिखा है—

> देवा वै मृत्योर्विभ्यतस्त्रयीं विद्या प्राविशस्ते छदोभिरच्छादयन्यदोभिरच्छादय स्तच्छदसा छदस्त्वम्। छादोग्योपनिषद् १।४।२।

अर्थात् मृत्यु से भयभीत हुए देवताओ ने त्रयी विद्या मे प्रवेश किया और अपने को छन्दो से आच्छादित कर लिया। इसीलिए मन्त्रो को छन्द भी कहते हैं। आगे चल कर छन्द शब्द सामान्यतया वेद के अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा। पाणिनी ने 'बहुला छन्दासि' (७।१।८, ७।१।१०) का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है। इस प्रयोग मे छन्दासि वेदो के लिए प्रयुक्त हुआ है। परवर्ती साहित्य मे और भी अनेक स्थलो पर इस शब्द का प्रयोग वेद के ही अर्थ मे मिलता है। 'उत्तररामचरित' मे 'छन्दसामयप्रयोक्ता', रघुवश मे 'प्रणवश्छन्दसामिव' लिख कर छन्द शब्द का प्रयोग वेद के ही अर्थ मे ध्वनित किया गया है।

परम्परागत साहित्यिक अर्थ—साहित्य मे छन्द शब्द एक विशेष पारिभाषिक अर्थ मे प्रयुक्त होता है। उसकी परिभाषा इस प्रकार है—

> "मतवरण गति यति नियम अन्तहि समता बन्द।
> जा पद रचना मे मिलें भानु भनत स्वच्छन्द॥" —छन्द प्रभाकर

अर्थात् जिस कविता मे मात्राओ और वर्णो के क्रम, गति और यति के नियम तथा चरणान्त की समता पाई जाती है, उसे छन्दवद्ध कविता कहते है। इस परिभापा के अनुसार छन्द के प्रमुख तत्त्व तीन निश्चित होते है, (१) मात्राओ और वर्णो की किसी क्रम विशेप मे योजना, (२) गति और यति के विशेप नियमो का पालन, और (३) चरणान्त की समता।

मात्राओ व वर्णो का रचनाक्रम—छन्द मे वर्णो पर विशेप रूप मे विचार किया गया है और तत्सम्वन्धी नियमो के पालन को अनिवार्य ठहराया गया है। नियोजन की सुविधा के लिए वर्ण दो प्रकार के वताए गए है—एक लघु और दूसरे गुरु। इनसे सम्वन्धित छन्द शास्त्र मे कुछ निश्चित नियम है जिनका हम आगे उल्लेख करेगे। छन्दो के विधान मे उन नियमो पर दृष्टि रखना वडा आवश्यक समझा जाता है।

छन्द विधान मे मात्रा विचार को भी वहुत महत्त्व दिया गया है। वर्ण के उच्चारण मे जो समय लगता है उसे मात्रा कहते है। इसी को कालव्याप्ति भी कहा जाता है। लघु वर्ण के उच्चारण मे जो काल प्रयुक्त होता है उसकी एक मात्रा मानी जाती है। तथा गुरु वर्ण के उच्चारण मे जो समय लगता है उसकी दो मात्राएँ मानी जाती है। मात्रा सम्वन्धी और भी वहुत से नियम है, उन पर आगे विचार करेगे। यहाँ पर हमारे कहने का इतना ही अभिप्राय है कि छन्द विधान मे वर्णो और मात्राओ के विशेप नियम पालनीय होते है।

गति—गति (स्वर साम्ययुक्त उच्चारण प्रवाह) का सम्वन्ध लय से होता है। प्रत्येक छन्द की एक विशेप लय होती है। उसी के अनुरूप गति का प्रयोग किया जाता है।

लय और छन्द—लय और छन्द मे घनिष्ठ सम्वन्ध माना जाता है। यह वात शुक्ल जी की छन्द की परिभापा से भी प्रगट है। वे लिखते है, 'छन्द वास्तव मे वँधी हुई लय के, भिन्न-भिन्न ढाँचो का योग है जो निर्दिष्ट लम्बाई का होता है'—(काव्य मे रहस्यवाद, पृ० १८५)। नाद की सुसगति और सुपमामय अभिव्यक्ति को लय कहते हैं। हमारे यहाँ नाद का वहुत वडा महत्त्व माना गया है। उसे ब्रह्म का पर्यायवाची तक कहा गया है। यौगिक साहित्य मे नादानुसधान ब्रह्मानुसधान के अर्थ में ही प्रयुक्त होता आया है। नाद को ही वेद मे वाक् शब्द से अभिहित किया गया है। उसी से सारे ससार की सृष्टि वतायी गई है। "वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे" लिख कर वाक् की सृष्टि विधायकता ही व्यजित की गई है। इस वाक् के चार रूप बतलाए गए है—परा, पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी। प्रथम तीनो की स्थिति पिण्ड मे कण्ठ के नीचे वताई गई है। उनका श्रवण हम भौतिक श्रवणो से नही कर सकते। चित्त वृत्ति को अन्तर्मुखी करके योग साधना के सहारे ही हम उनको सुन सकते हैं। वास्तव मे वे वाक् का अव्यक्त रूप है। वाक् का व्यक्त रूप वैखरी वाणी मानी जाती है। इस वैखरी वाणी को ही माहेश्वर सूत्र मे नियन्त्रित करने की चेष्टा की गई है। छन्दो का शरीर माहेश्वर सूत्र मे प्रयुक्त वर्णो और मात्राओ से ही बनता है। दूसरे शब्दो मे वे वैखरी वाणी की अभिव्यक्ति का माध्यम कहे जा सकते हैं।

वैखरी वाणी अव्यक्त और पिण्डस्थ परा, पश्यन्ति और मध्यमा का ही व्यक्त रूप है। पिण्ड भेद से इन वाणियो मे भी भेद रहता है। देश, काल, परिस्थिति और संस्कार के अनुरूप ही वैखरी की रूपरेखा निर्मित होती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि लय केवल वाह्य वस्तु नही है। वह हमारी आत्मा की सगीतात्मक अभिव्यक्ति है। जैसी जिसकी आत्मा होता है वैसा ही उससे उद्भूत लय का स्वरूप होगा। लय का स्वरूप प्रेरणा पर भी आधारित रहता है। वाह्य जीवन और जगत की वहुत-सी घटनाएँ हमारी आत्मा पर अथवा उसके भावात्मक रूप वृत्ति कोष पर कशाघात करती हैं। जिनकी प्रतिक्रिया के रूप मे स्वत. एक प्रकार की लयात्मक अभिव्यक्ति उद्भूत होती है। वह अभिव्यक्ति अभिव्यक्त-कर्त्ता के व्यक्तित्व का दर्पण होती है। अभिव्यक्त-कर्त्ता की आत्मा, हृदय, वुद्धि आदि जितने परिष्कृत होते है, नाद रूपी ब्रह्म की अनुभूति मे वह जितना समर्थ होता है, उसकी अभिव्यक्ति उतनी ही प्रभावपूर्ण लय को जन्म देती है। इसके उदाहरण रूप मे हम आदि कवि का आदिम श्लोक ले सकते हैं। क्रौंच मिथुन मे से एक के आहत होने पर आदि कवि के सात्त्विक और पवित्र हृदय पर एक कठोर कशाघात हुआ। और अनुष्टुप छन्द के रूप मे उनकी आत्मा निनादित हो उठी—

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगम शाश्वती समाः।
यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधी काम मोहित॥"

इस श्लोक ने स्वत एक विशेष प्रकार की लय उत्पन्न हो गई है। उसी लय को अनुष्टुप छन्द का अभिधान दे दिया गया है और उसकी वैधानिक व्याख्या कर दी गई है। इसी प्रकार अन्य छन्दो का भी निर्माण हुआ होगा। दुर्भाग्य से आज हमे उनके उदय का इतिहास उपलब्ध नही है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि छन्द का प्राण लय ही है। यह लय कवि की आत्मा की अभिव्यक्ति होती है। वर्ण, मात्राएँ, आरोह, अवरोह आदि उसके वाह्य शरीर मात्र हैं। अधिकतर विद्वानो की दृष्टि उसके वाह्य शरीर मे ही उलझ कर रह गई है। जिसके कारण उनकी छन्द सम्बन्धी परिभाषा एकांगी ही हो पाई है। आश्चर्य तो यह है कि आचार्य शुक्ल का सूक्ष्मभेदिनी दृष्टि भी छन्द के आन्तरिक रूप तक नही पहुँच पाई थी। उन्होंने छन्द की जो परिभाषा दी है वह उसके वाह्यात्मक पक्ष का ही उद्घाटन करती हुई प्रतीत होती है। उन्होने 'काव्य मे रहस्यवाद' शीर्षक निवन्ध मे छन्द की परिभाषा देते हुए लिखा है—

"छन्द वास्तव मे वँधी हुई लय के भिन्न-भिन्न ढाँचो का योग है। जो निर्दिष्ट लम्बाई का होता है।"

हमारी समझ मे छन्द की एक आत्मा भी होती है। वह आत्मा कवि की आत्मा का प्रतिबिम्ब कही जा सकती है। कवि की आत्मा का नाद ही लय रूप में छन्दो मे प्रतिष्ठित मिलता है।

यति—छन्दो के उच्चारण में जो वीच-वीच मे विराम आते हैं, उन्हें यति कहते हैं।

चरणान्त समता अथवा अन्त्यानुप्रास—हिन्दी छन्दो मे अन्त्यानुप्रास को भी विशेष महत्त्व दिया जाता है। अन्त्यानुप्रास के पाँच रूप दिखाई पडते है। प्रथम कोटि का अन्त्यानुप्रास वह होता है जहाँ चारो चरणो की अन्तिम तुक समान होती है। कवित्त, सवैये आदि इसी कोटि का अन्त्यानुप्रास रखते है। द्वितीय कोटि का अन्त्यानुप्रास दोहा, बरवै आदि मे मिलता है। इनके दूसरे और चौथे चरणो मे अन्त्यानुप्रास की समानता रहती है। तीसरे प्रकार के अन्त्यानुप्रास का रूप सोरठा आदि छन्दो मे देखा जाता है। इनमे प्रथम और तृतीय चरणो का अन्त्यानुप्रास समान होता है। अन्त्यानुप्रास का चौथा रूप वहाँ होता है जहाँ प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थ चरणो की तुक समान होती है। पाँचवे प्रकार का अन्त्यानुप्रास वहाँ होता है जहाँ सम चरण की तुक सम से और विषम चरण की तुक विषम से मिलाई जाती है।

कविता मे छन्दो का उपयोग और महत्त्व

कविता मे छन्दो का उपयोग निम्नलिखित दृष्टियो से होता है—

(१) भावो की अभिव्यक्ति को स्पष्टतर और तीव्रतर रूप मे प्रस्तुत करने के लिए।
(२) भावो के बिखराव मे एकसूत्रता स्थापित करने के लिए।
(३) कविता मे सजीवता लाने के लिए।
(४) कविता मे रमणीयता और सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करने के लिए।
(५) कविता को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए।
(६) रस निष्पत्ति मे योगदान के हेतु।
(७) प्रेषणीयता लाने के लिए।
(८) कवि के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा के लिए।
(९) उक्ति मे पवित्रता की प्रतिष्ठा के लिए।

भावो की अभिव्यक्ति को स्पष्टतर और तीव्रतर रूप प्रदान करने के लिए—छन्द कविता की भाव व्यजना मे बहुत सहायक होते है। प्रत्येक भाव का एक स्वरूप होता है। वह स्वरूप नादमय होता है। कवि की सफलता इसी मे होती है कि वह इष्ट भाव के स्वरूप को पहचान कर उसे उसी के अनुरूप छन्द मे बाँध दे। अनुरूप छन्द मे बँधकर भाव अधिक प्रस्फुटित होने लगता है। इसके लिए कवि का मनोवैज्ञानिक और सगीतज्ञ होना बडा आवश्यक होता है। क्योकि भाव के स्वरूप को पहचानने के लिए मनोविज्ञान की आवश्यकता होती है और उसको उसी के अनुरूप छन्द मे ढालने के लिए सगीत की। यह दोनो बाते किसी विरले ही महाकवि मे पाई जाती है। हिन्दी साहित्य मे सूर, तुलसी, जायसी, प्रसाद आदि मे यह विशेषता अति रूप मे प्रतिष्ठित मिलती है। यहाँ पर हम दो भावो—कोमल और कठोर—के उदाहरणो से बात को और अधिक स्पष्ट कर देना चाहते है। तुलसी ने अपने वाटिका वर्णन के प्रसग मे, नाद किस प्रकार राम के हृदय मे अनुराग भाव की उद्भावना करता है, इसका सुन्दर सकेत किया है। साथ ही उन्होने अपनी छन्द-योजना और भाषा-प्रयोग के सहारे उस भाव को पाठको मे भी मूर्तिमान कर दिया है। वे लिखते है कि—

"कंकण किंकिणि नूपुरि धुनि सुनि । कहत लखन सन राम हृदय गुनि ॥
मानहु मदन दुंदुभि दीनी । मनसा विश्व विजय कह कीनी ॥"

कंकण किंकिणी और नूपुरो की धुनि ने राम के हृदय मे अनुराग का भाव उत्पन्न किया है । तुलसी के छन्द और शब्दावलि ने पाठको के हृदय मे वही भाव मूर्तिमान कर दिया है । यही सच्चा कवि-कौशल है ।

कही-कही केशव आदि कवियो ने भी भावानुकूल छन्द योजना करके अपनी काव्य-कुशलता व्यजित की है । देखिए विजय छन्द मे उन्होने उत्साह, गर्व और विजय के भावो को कितने आवेग से भर दिया है —

"बोरौं सबै रघुवश कुठार की धार मे वारन वाज सरत्यहिं ।
बाण की वायु उडाय के लच्छन लच्छि करौं अरिहा समरत्यहिं ।
रामहि बाम समेत पठै वन कोप के भार मे भूंजो भरत्यहिं ।
जो धनु हाथ धरै रघुनाथ तो आज अनाथ करौं दशरत्यहिं ।"

इस प्रकार के छन्दो से उनका अर्थ न समझने पर भी पाठक के हृदय मे तद्विषयक भाव का रूप और आवेग चित्रित हो जाता है ।

कभी-कभी कवि लोग विषय और भाव को अधिक से अधिक बोधगम्य बनाने की कामना से राग और रागिनियो का उपयोग करते है । राग और रागिनियाँ भी एक प्रकार का छन्द विधान ही हैं । इनके प्रयोग से अभिव्यक्ति मे एक विशेष चमत्कार आ जाता है और विषय तथा भाव का रूप पाठको और श्रोताओ के हृदय मे स्पष्ट रूप से पूर्णतया प्रतिबिम्बित हो जाता है । उदाहरण के लिए हम तुलसी द्वारा किए गए निम्निलिखित वसन्त वर्णन को ले सकते है । कवि ने यहाँ पर वसन्त राग मे वसन्त का वर्णन किया है । जिससे वसन्त का रूप पाठको के हृदय मे पूरी प्रेरणा के साथ चित्रित होने लगता है ।

"देखो देखो वन बन्यो उमाकन्त । मानो देखन तुम्हहिं आई ऋतु वसन्त ॥
जनु तनु दुति, चम्पक कुसुममाल । वर वसन नील नूतन तमाल ॥" इत्यादि—
विनय पत्रिका, पद १४ ॥

इस प्रकार स्पष्ट है कि छन्द भावो के सच्चे परिवाहक होते हैं ।

बिखराव में एकसूत्रता स्थापित करने के लिए—कविता मे छन्दो का महत्त्व इसलिए भी बहुत अधिक होता है कि वे विश्रृखल विचारो और भावो मे एक श्रृखला स्थापित करते है । कवि के वृत्ति कोष मे सहस्रो भाव सस्कार रूप से प्रस्तुत पडे रहते हैं । किसी बाह्य प्रेरणा से सहसा सजग होकर वे अभिव्यक्ति के लिए तडपने लगते हैं । उन कवियो और महर्षियो के लिए जिनकी वाणी स्वय अनुगमन करती है, छन्दो के नियमो के पालन की उतनी आवश्यकता नही होती, क्योकि छन्द उनकी वाणी मे स्वयमेव अवतरित हो जाते हैं । किन्तु यह बात लौकिक कवि के पक्ष मे लागू नही हो सकती । लौकिक कवि यदि अपने भावो को निर्बाध गति से स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्त करने का प्रयास करेगा तो वह सत्काव्य की रचना मे असफल रहेगा क्योकि उसकी वाणी और उसके भावो का सयमन और नियमन नही हो पायेगा । इसीलिए कवि

के लिए छन्द विधान आवश्यक ठहराया गया है। अपने भावो को छन्दो मे बाँधते समय वह सरलता से उनकी अभिव्यक्ति को नियन्त्रित करने मे समर्थ हो जाता है। यही कारण है कि सभी देशो और सभी कालो मे छन्द विधान के किसी न किसी रूप की मान्यता अवश्य रही है।

कविता में सजीवता की प्रतिष्ठा करने के लिए—छन्दो का प्राण लय है। नाद के सुसगत और सुषमामय कपन को ही लय कहते है। नाद का यह कपन ही जीवन का चिह्न है। छन्द अभिव्यक्ति मे इसी सुषमामय और सुसगत नाद के कपन की प्रतिष्ठा करते है, जिससे अभिव्यक्ति मे जीवन का सचार हो जाता है। इसीलिए छन्दबद्ध अभिव्यक्ति स्वच्छन्द अभिव्यक्ति की अपेक्षा कही अधिक प्रेरणा विधायक होती है। इसका प्रमाण यह है कि प्राचीन काल मे बडे-बडे योद्धा लोग अपने पास तलवार के साथ-साथ कवि भी रखते थे। जब उनकी तलवार की गति शिथिल पडने लगती थी तो कवि की छन्दोमयी सजीववाणी उस योद्धा मे नव-जीवन का सचार करके उसकी तलवार की गति को अभिनव जीवन प्रदान करती थी। छन्द हमारे जीवन मे एक विशेष प्रेरणा भरते रहते हैं। इस कथन का पुष्टिकरण सगीत के दृष्टान्त से भी किया जा सकता है। सगीत विविध प्रकार का होता है। उसकी योजना देश-काल और परिस्थिति के अनुरूप की जाती है। विवाहकालीन सगीत युद्धकालीन सगीत से भिन्न होगा, किन्तु दोनो की प्रेरणाएँ एक समान ही बलवती होगी। जहाँ एक वीरता का सचार करने मे समर्थ होगा, दूसरा वही आह्लाद की निर्झरणी उत्पन्न करेगा। लय पर आधारित होने के कारण छन्द भी सगीत के सदृश ही प्रेरणा विधायक होते है। उनसे उक्ति मे सजीवता आती है। वह उक्ति मानवो मे जीवन का सचार करती है।

काव्य को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए—छन्द काव्य को प्रभावोत्पादक बनाते हैं। अभिव्यक्ति मे प्रभाव सृष्टि करने का श्रेय उन्ही को है। छन्द मे वर्ण और मात्रा सम्बन्धी विशेष नियमो का अनुसरण किया जाता है। विशेष क्रम से प्रयुक्त वर्ण और मात्रा विशेष प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करते हैं। इसके प्रमाण मे हम निम्नलिखित मन्त्र उद्धृत कर सकते हैं—

> "तिस्रोमात्रा मृत्युमत्य प्रयुक्ता
> अन्योन्यसक्ता अनुविप्रयुक्ता।
> क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु
> सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञ.॥"

इस मन्त्र मे प्रणव के भिन्न-भिन्न मात्राओ के क्रम से उच्चारणजनित भिन्न-भिन्न प्रभावो का निर्देश किया गया है।

उपर्युक्त उद्धरण से प्रकट है कि मात्रा भेद से उच्चारण मे अन्तर पडता है और उच्चारण भेद से प्रभाव मे अन्तर पडता है। प्रभाव भेद से फल भेद होता है। छन्दो का नियमन प्रभावो की दृष्टि से किया गया है। प्रत्येक छन्द का प्रभाव अलग-अलग होता है।

कविता में रमणीयता और सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करने के लिए—छन्द अभिव्यक्ति मे सुसगति और सुषमा की प्रतिष्ठा करते है । सुसगति और सुषमा का नाम ही सौन्दर्य है । इस दृष्टि से वे सौन्दर्य विधायक भी माने जा सकते है । छन्दो का भावानुकूल परिवर्तन भी होता रहता है । इस भावानुकूल परिवर्तन से प्रत्येक छन्द मे एक नवीनता परिलक्षित होती है । उस नवीनता से कविता मे रमणीयता आती है । इस दृष्टि से भी छन्दो का काव्य मे विशेष महत्त्व है ।

रस-निष्पत्ति मे योगदान के हेतु—काव्य का प्रमुख लक्ष्य रस-निष्पत्ति है । रस विभावानुभाव सचारी आदि के सयोग से निष्पन्न होता है । छन्द, जैसा कि हम ऊपर बता आए हैं, भावो के स्वरूप को स्पष्ट करते है और तदनुकूल प्रभाव उत्पन्न करते है, जिनके योग से रसनिष्पत्ति सरलता से हो जाती है और काव्य मे रमणीयता आ जाती है ।

प्रेषणीयता लाने के लिए—छन्द कवि और पाठक के बीच की कडी हैं । वे कवि के हृदय का साकार रूप हैं जो दूसरो के हृदयो मे सरलता से पैठ जाते हैं । अतएव छन्दो का प्रयोग प्रेषणीयता की दृष्टि से भी आवश्यक होता है । हम ऊपर कह आए हैं कि छन्द की आत्मा लय है और लय नादात्मा का सुषमामय रूप है । यह नादात्मा समस्त प्राणियो मे समान रूप से प्रतिष्ठित रहती है । लय उसका साकार रूप है । इसीलिए लय के प्रभाव को प्रत्येक मनुष्य सरलता से समझ जाता है । इसीलिए छन्दो मे प्रेषणीयता की मात्रा अधिक होती है ।

कवि के व्यक्तित्व की व्यजना करने के लिए—हम ऊपर बता आए हैं कि छन्द का प्राण लय है । लय नादात्मा का सुषमामय प्रकम्पन है । यह नादात्मा पिण्ड मे प्रतिष्ठित रहती है । अतएव लय मे पिण्ड की, दूसरे शब्दों मे व्यक्तित्व की, सारी विशेषताएँ सन्निहित रहती है । छन्दो मे वे लय के साथ-साथ प्रतिबिम्बित होती रहती है । अतएव कवि के अध्ययन मे उसके छन्दो का भी महत्त्वपूर्ण स्थान होता है ।

उक्ति मे एक अनिर्वचनीय पवित्रता उत्पन्न करने के लिए—छन्दो का सम्बन्ध धर्म भावना से भी माना जाता है । धार्मिको की धारणा है कि ईश्वरानुभूति की अभिव्यक्ति छन्दो मे ही होती है । इसीलिए धर्म ग्रन्थ छन्द-बद्ध मिलते है । हमारे यहाँ मन्त्रो मे एक विशेष शक्ति मानते हैं । उनमे एक विशेष प्रकार की पवित्रता प्रतिष्ठित हो जाती है ।

इस प्रकार हम देखते है कि काव्य मे छन्दो का बहुमुखी उपयोग और महत्त्व है । अतएव कविता की रचना मे उनकी उपेक्षा नही की जा सकती । उनकी उपेक्षा से काव्य क्षेत्र मे अनर्थ होने की सम्भावना है ।

छन्द योजना सम्बन्धी कुछ प्रमुख नियम और सिद्धान्त

छन्दो के दो प्रकार

छन्द मुख्य रूप से दो प्रकार के होते है ।
(१) मात्रिक, (२) वर्णिक ।

मात्रिक छन्दो मे मात्राओ का विचार किया जाता है। उसे जाति भी कहते है। और वर्णिक छन्दो मे वर्णों का विचार रहता है। उन्हे वृत्त भी कहते है।

सम अर्द्धसम और विषम छन्द

सम, अर्द्धसम और विषम भेद से वृत्त तीन प्रकार के होते है।

सम वृत्त की विशेषताएँ

(क) उसमे चार चरण होते है।

(ख) उसके चारो चरण सम होते हैं। अर्थात् चारो चरणो की गति एक-सी ही होती है।

अर्द्धसम वृत्त की विशेषताएँ

(क) चार चरण होने चाहिएँ।

(ख) जिनका पहला और तीसरा चरण तथा दूसरा और चौथा चरण समान हो उन्हे अर्द्धसम छन्द कहते है।

विषम वृत्त—

चार चरणो से अधिक व कम वाले छन्द विषम कहलाते है।

साधारण छन्द—बत्तीस मात्राओ वाले मात्रिक छन्द और छब्बीस वर्णों वाले वर्णिक छन्द साधारण कहलाते है।

दण्डक छन्द—जिन मात्रिक छन्दो मे बत्तीस से अधिक मात्राएँ और वर्णिक छन्दो मे २६ से अधिक वर्ण होते हैं उन्हे दण्डक छन्द कहते हैं।

वर्णिक छन्दों मे लघु-गुरु विचार—व्याकरण मे वर्णों के दो प्रकार माने गए है—स्वर और व्यजन, किन्तु छन्द शास्त्र मे केवल स्वरो को ही वर्ण माना जाता है। यह दो प्रकार के माने गए हैं एक लघु और दूसरा गुरु। इनसे सम्बन्धित कुछ निश्चित नियम हैं। वर्णिक छन्दो का अध्ययन करने से पहले उन नियमो का जान लेना आवश्यक है। छन्द-प्रभाकर नामक पिंगल ग्रन्थ मे वे नियम इस प्रकार दिए हुए है—

(१) लघु—ह्रस्वाकार को लघु कहते हैं। लघु का चिह्न है '।'। जैसे—
इ, उ, क, कि, कु,

(२) गुरु—दीर्घाकार को गुरु कहते है। गुरु का चिह्न है 'ऽ'। जैसे—
(१) आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः,
(२) का, की, कू, के, कै, को, कौ, कं, कः।

(३) सयुक्ताक्षर के पूर्व का लघुवर्ण गुरु माना जाता है। जैसे—

सत्य, धर्म, चिह्न,—यहाँ स, ध, और चि गुरु है।

सयुक्ताद्य दीर्घं, सानुस्वार विसर्ग सम्मिश्रं।
विज्ञेयमक्षर गुरु पादान्तस्थ विकल्पेन ॥

अर्थात् सयुक्ताक्षर के पूर्व का वर्ण गुरु माना जाता है। अनुस्वार तथा विसर्ग से

युक्त वर्ण भी गुरु माना जाता है। चरण के अन्तिम वर्ण को विकल्प से गुरु माना जाता है।

(४) सयुक्ताक्षर के पूर्व का लघु, जिस पर भार नही पडता, लघु ही रहता है जैसे—

कन्हैया, जुन्हैया, तुम्हारी इत्यादि। यहाँ कु, जु, और तु, लघु ही रहेंगे क्योकि ये शब्द कनैया, जुनैया और तुमारी वत् ही पढे जाते हैं। यथा—

'शरद् जुन्हैया मोद प्रद करत कन्हैया रास।'

(५) अर्द्ध चन्द्रविन्दु वाले वर्ण भी लघु ही माने जाते हैं। जैसे—

हँसी फँसी गँसी इत्यादि क्योकि ये शब्द हसी फसी और गसी वत् पढे जाते हैं।

(६) कभी-कभी चरण के अन्त मे लघु वर्ण भी विकल्प से अर्थात् प्रयोजनानुसार गुरु मान लिया जाता है। और उसका उच्चारण भी गुरुवत् होता है। यथा—

'लीला तुम्हारी अति ही विचित्र।'

यह उद्धरण इन्द्रवज्रा वृत्त का एक चरण है। नियमानुसार इसके अन्त मे दो गुरु होते है। सयोगी वर्ण 'त्र' के पूर्व 'चि' तो गुरु हो गया और 'त्र' जो लघु रह गया था सो भी गुरु मान लिया गया। उसका उच्चारण भी गुरुवत् हुआ।

(७) यदि लघु के बाद मे अनुस्वार या विसर्ग हो तो उसको गुरु माना जाता है। जैसे मगल और दु ख। इनमे क्रमश. म और दु वर्ण दीर्घ हैं।

गुरुवर्ण का लघुवत् उच्चारण

"करत जो वन सुर नर मुनि भावन"

यहाँ 'जो' का उच्चारण 'जु' के सदृश है। अतएव 'जो' लघु माना गया।

लघु वर्ण का गुरुवत् उच्चारण

(१) 'लीला तुम्हारी अति ही विचित्र'।

(२) 'उपेन्द्रवज्रादपिणे सि'।

इन दोनो पदो मे 'त्र' और 'सि' पादात मे रहने के कारण गुरु माने गए और इनका उच्चारण भी गुरुवत् ही होता है।

मात्रिक छन्द की परिभाषा

जिस छन्द के चारो चरणो मे मात्राओ की सख्या एक समान हो किन्तु वर्णों का क्रम एक सा न हो उसे मात्रिक छन्द कहते है।

मात्रा विचार—लघुवर्ण मे एक मात्रा मानी जाती है। गुरुवर्ण मे दो मात्राएँ मानी जाती हैं। व्यजन की केवल आधी मात्रा मानी जाती है। पूरी मात्रा स्वरयुक्त व्यजन की मानी जाती है।

गण विचार—वर्णिक छन्दो की लय की रक्षा के लिए लघु गुरु वर्णों का विधान किया गया है। तीन लघु गुरु वर्णों के सघात को एक वार्णिक गण कहा जाता है। इस प्रकार के वार्णिक गण आठ होते है। उनके नाम क्रमश यगण मगण तगण रगण जगण भगण नगण और सगण है। इनके सकेताक्षर य म त र ज भ न स है। इनका प्रसिद्ध सूत्र 'य माता राज भान सल गम' है। इस सूत्र के सहारे हम वर्ण गणो को वडी सरलता से निकाल सकते है। किसी भी गण का रूप मालूम करने के लिए सूत्र मे उस अक्षर के आगे दो वर्ण लेने चाहिएँ। मान लीजिए जगण का रूप निकालना है। तो जा और आगे के दो अक्षरो को लेकर ज भान रूप आयेगा। इनका क्रम है लघु गुरु लघु। इससे स्पष्ट हुआ कि जगण मे लघु गुरु लघु का क्रम रहता है।

मात्रागण—मात्रिक छन्दो मे यद्यपि मात्राओ के नियम ही पालनीय होते हैं किन्तु कही-कही लय प्राप्ति के लिए लघु गुरु का विधान भी रहता है। उसके लिए वर्णिक गणो का ही उपयोग होता है। वर्णिक गणो के अतिरिक्त मात्रिक गण भी होते है। किन्तु उनका प्रयोग कम होता है, अत यहाँ उनका उल्लेख नही किया जा रहा है।

हिन्दी के कुछ प्रमुख छन्द

तोमर (मात्रिक समछन्द)—

इस मात्रिक समछन्द मे प्रत्येक चरण मे बारह मात्राएँ होती है। चरण के अन्त मे क्रमश गुरु और लघु वर्ण रहते है। इसका सकेत सूत्र है—"तोमर बारह गल अन्ते" अर्थात् तोमर छन्द मे १२ मात्राएँ होती हैं तथा इसके अन्त मे क्रमश गुरु तथा लघु वर्ग रहते हैं। (गल से अभिप्राय गुरु तथा लघु से है) इसका उदाहरण है—

२११　१११　११२१　=१२ मात्रा
S।।　।।।　।।S।
चौदह　सहस　रनधीर।
था भीम राक्षस वीर॥
खर दूषनादि कराल।
तुमने हने तिहि काल॥

गीतिका (मात्रिक समछन्द)—

यह मात्रिक समछन्द है। इसमे चौदह और बारह मात्राओ की यति से छब्बीस मात्राएँ होती हैं। अन्त मे लघु और गुरु रहते हैं। इसका सकेत सूत्र है—"रत्न रवि यति अन्त लग हो तब बनेगा गीतिका।" अर्थात् गीतिका छन्द मे चौदह तथा बारह पर यति होती है तथा अन्त मे क्रमश लघु तथा गुरु वर्ण रहते है। यहाँ पर रत्न का अर्थ चौदह तथा रवि का अर्थ बारह है। इसका उदाहरण है—

२१ २२ २ १२२ २१२ ११२ १२=१४+१२=२६ मात्रा
S I S S S I S S S I S I I S I S
साधु भक्तों मे सुयोगी सयमी बढने लगे ।
सम्यता की सीढ़ियों पर सूरमा चढने लगे ।
वंचकों की छातियों मे सूल से गड़ने लगे ।

हरिगीतिका (मात्रिक समछन्द)--

इस मात्रिक समछन्द मे सोलह और वारह की यति से अट्ठाईस मात्राएँ होती है। अन्त में एक लघु और एक गुरु क्रम से होते है। इसका सकेत सूत्र है—"श्रृंगार दिनकर यति लागा। कर गाइये हरिगीतिका।" अर्थात् हरिगीतिका छन्द मे १६ और १२ पर यति होती है तथा अन्त मे क्रमश गुरु और लघु रहते हैं। यहाँ पर शृगार का अर्थ सोलह और दिनकर का अर्थ वारह है। लग से लघु तथा गुरु का बोध होता है। इसका उदाहरण है—

११ २१ २ २ २ १ २ ११ ११ १२ २२ १२=१६+१२=२८ मात्रा
I I S I S S S I S I I I I I S S S I S
खग वृन्द सोता है अत कल कल नहीं होता वहाँ ।
बस मन्द मारुत का गमन ही मौन खोता है जहाँ ।।
इस भाँति धीरे से परस्पर कह सजगता की कथा ।
यों दीखते हैं वृक्ष ये हो विश्व के प्रहरी यथा ।।

उल्लाला (अर्द्धसम मात्रिक)--

उल्लाला सम तथा अर्द्धसम दो प्रकार का होता है। अर्द्धसम उल्लाला मे विषम चरणो मे पन्द्रह और समचरणो मे तेरह मात्राएँ होती हैं। इसका सकेत सूत्र है—"तिथि सरिता सम विषम में रखि उल्लाला कीजिए।" अर्थात् उल्लाला के विपम चरणो मे १५ तथा सम चरणो मे १३ वर्ण होते हैं। इस सूत्र मे तिथि पन्द्रह और सरिता तेरह के वाचक है। इसका उदाहरण है—

११ १११ २१ २२ १११ ११ ११२ ११२ १२=१५+१३=२८ मात्रा
I I I I I S I S S I I I I I I I S I I S I S
हम जिधर कान देते उधर सुन पडता हमको यही ।
जय-जय भारतवासी कृती जय जय जय भारत मही ।।

उल्लाला (सम मात्रिक)--

उल्लाला का दूसरा प्रकार सम मात्रिक छन्द है। इसके प्रत्येक चरण मे तेरह मात्राएँ होती है और आठवी मात्रा पर यति होती है। इसका सकेत सूत्र है—"उल्लारल आठ अरु पाँच"। अर्थात् आठ और पाँच वर्णों पर यति से युक्त उल्लाला छन्द होता है। इसका उदाहरण है—

११ २२ ११ ११ १११=८+५=१३ मात्रा
।। ऽऽ ।। ।। ।।।
यदि चाहो भव निधि चरण ।
छोड दूसरो की सरन ।।
करो पोतवत हरि चरन ।
वे ही हैं सब दुख हरन ।।

चौपाई (मात्रिक समछन्द)—

यह मात्रिक समछन्द है। इसके प्रत्येक चरण मे सोलह मात्राएँ होती हैं। सामान्यतया अन्त मे या तो दो लघु रखे जाते है अथवा दो गुरु रखे जाते है। इसका स्मरण सूत्र यह है—"कल सोलह जत अन्त न आई। सम-सम विषम-विषम चौपाई।" अर्थात चौपाई के चारो चरणो मे १६-१६ मात्राएँ होती है। इस प्रकार कुल चौंसठ मात्राएँ होती है। इसके अन्त मे जगण और तगण को नही आने देना चाहिए। अर्थात् अन्त मे या तो दो लघु हो या दो गुरु हो किन्तु लघु गुरु अथवा गुरु लघु नही होने चाहिएँ। इसके समचरण अर्थात् दूसरा और चौथा चरण विषम चरणो के अर्थात् क्रमश पहले और तीसरे चरण के समान होने चाहिएँ। अर्थात् इसके पहले और दूसरे चरण मे तथा तीसरे और चौथे चरण मे अन्त्यानुप्रास होना चाहिए। दोनो प्रकार के उदाहरण ये हैं—

२१ १११ ११ १११ १२ २ २ ११२१ १११ ११ २ २=१६,१६ मात्रा
ऽ। ।।। ।। ।।। ।ऽ ऽ ऽ ।।ऽ। ।।। ।। ऽ ऽ
देखु गरुड निज हृदय विचारी। मैं रघुवीर भजन अधिकारी ।।
सकुनाधम सब भाँति उपावन। प्रभु मोहि कीन्ह विदित जग पावन ।।

चौपई (मात्रिक समछन्द)—

यह भी मात्रिक समछन्द है। इसके प्रत्येक चरण में पन्द्रह मात्राएँ होती है और अन्त मे गुरु और लघु वर्ण होते है। इसका सकेत सूत्र है—"तिथि गल अन्त चौपई माहि।" अर्थात् चौपई मे १५ मात्राएँ होती है और अन्त मे गुरु लघु होते है। यहाँ पर तिथि पन्द्रह का वाचक है और गल गुरु लघु का द्योतक है। इसका उदाहरण यह है—

११११ २ ११ १२ १२१=१५ मात्रा
।।।। ऽ ।। ।ऽ ।ऽ।
उपवन में अति भरी उमग।
कलियाँ खिलती हैं बहुरग ।।
पर मिलता है उनको मान।
जो है सुखद सुगन्ध निधान ।।

रोला (मात्रिक समछन्द)—

इस मात्रिक समछन्द मे प्रत्येक चरण मे ग्यारह और तेरह के विराम से

चौबीस मात्राएँ होती है। इसका सकेत सूत्र है—"रोला कल चौबीस। रुद्र सरिता यति धारी।" अर्थात् रोला छन्द मे चौबीस मात्राएँ होती है। ग्यारह और तेरह पर यति होती है। यहाँ पर रुद्र ११ और सरिता १३ का द्योतक है। इसका उदाहरण है—

११२ ११ २ १२ २११ ११२११ २२=११+१३=२४ मात्रा
।।S ।। S ।S S।। ।।S।। S S
"उसके उर मे लसी कान्त अरुणोदय लाली।
किरणों से मिल दिखा रही थी कान्ति निराली॥
कियत्काल उपरान्त अंक सरि का हो उज्ज्वल।
लगा जगमगाने न मनों मे भर कौतूहल॥"

दोहा (मात्रिक अर्द्धसम छन्द)—

यह मात्रिक अर्द्धसम छन्द है। इसके पहले और तीसरे चरण मे तेरह तथा दूसरे और चौथे चरण मे ग्यारह मात्राएँ होती हैं। विषम चरण के प्रारम्भ मे जगण नही होना चाहिए और सम के अन्त मे लघु होना आवश्यक होता है। जैसे—

२ १ २ १११ २ १ ११ ११ १ २१ ११२१ =१३+११=२४ मात्रा
S। S ।।। S। ।। ।। ।S। ।।S।
"जन्मु सिन्धु पुनि वन्धु विपु दिन मलीन सकलक।
सिय मुख समता पाव किमि चन्दु वापुरो रक॥"

सोरठा (मात्रिक अर्द्धसम छन्द)—

इस मात्रिक अर्द्धसम छन्द मे पहले और तीसरे चरण मे ग्यारह और दूसरे तथा चौथे चरण मे तेरह मात्राएँ होती है। यह दोहे का बिलकुल विपरीत होता है। इसका सूत्र है—"तेरह सम विषमेश दोहा उलटा सोरठा" अर्थात् इसके समचरण मे तेरह और विषम चरण मे ग्यारह मात्राएँ होती है। यह दोहे का उलटा होता है। इसका उदाहरण यह है—

११ ११ ११ ११ २ १ १११२११ ११११ १११=११+१३=२४ मात्रा
।। ।।।। ।। S। ।।।S।। ।।।। ।।।
जिहि सुमिरत सिधि होइ गणनायक करिवर वदन।
करहु अनुग्रह सोइ बुद्धि रासि सुभ गुन सदन॥

वरवै (मात्रिक अर्द्धसम छन्द)—

यह मात्रिक अर्द्धसम छन्द है। इसके पहले और तीसरे चरण मे बारह मात्राएँ होती हैं और दूसरे तथा चौथे चरण मे सात मात्राएँ होती हैं। उसके सम-चरणो के अन्त मे जगण का होना सौन्दर्यवर्द्धक माना जाता है। इसका सकेत सूत्र है—"विषमे बारह वरवै सम दिन जान।" अर्थात् वरवै के विषम चरणो मे १२ तथा सम चरणो मे सात मात्राएँ होती है। यहाँ पर दिन सात का द्योतक है। इसका उदाहरण यह है—

१११ १११ ११२११ ११ ११ २ १ =१२+७=१६ मात्रा
। । । । । । । । ऽ । । । । । । ऽ ।
गरव करहु रघुनन्दन जनि मन माँह ।
देखहु आपनि मूरति सिय के छाँह ॥

कुण्डलिया (मात्रिक विषम छन्द)—

यह मात्रिक विषम छन्द है। इसमे छै चरण होते है। इसके पहले दो चरण दोहे के होते है और अन्तिम चार चरण रोला के। इसके प्रत्येक चरण मे २४ मात्राएँ होती है। सम्पूर्ण छन्द मे १४४ मात्राएँ होती है। इस छन्द का प्रारम्भिक और अन्तिम शब्द एक ही होता है। इसका सकेत सूत्र है—"दोहा रोला कुण्डलित कर कुण्डलिया होय" अर्थात् दोहा और रोला को मिला कर कुण्डलिया छन्द बन जाता है। इसका उदाहरण यह है—

२ २ ११११ २ १२ २ १ १२ ११ २१=१३+११=२४ मात्रा
ऽ ऽ । । । । ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । । ऽ ।
साईं अवसर के परे, को न सहै दुख द्वन्द्व ।
जाय विकाने डोम घर, वै राजा हरिचन्द ॥ } दोहा

२ २२ ११२१ १२ ११११ ११२२ =११+१३=२४ मात्रा
ऽ ऽ ऽ । । ऽ । । ऽ । । । । । । ऽ ऽ
वै राजा हरिचन्द, करै मरघट रखवारी ।
धरे तपस्वी भेस, फिरे अर्जुन बलधारी ॥
कह गिरिधर कविराय, तपै वह भीम रसोई ।
को न करै घटि काम, परे अवसर के साईं ॥ } रोला

छप्पय (मात्रिक विषम छन्द)—

इस विषम छन्द मे भी कुण्डलिया के सदृश छै चरण होते है। इसके पहले चार चरण रोला के होते है। अर्थात् ग्यारह और तेरह की यति से चौबीस-चौबीस मात्राएँ होती है। इसके अन्तिम दो चरण उल्लाला के होते है। उल्लाला दो प्रकार का होता है। इसी आधार पर छप्पय भी दो प्रकार का माना जाता है।

पहले प्रकार के छप्पय के पहले चार चरण रोला के होते हैं अर्थात् उनमे ग्यारह और तेरह मात्राओ की यति से चौबीस मात्राएँ होती है और अन्तिम दो चरण अर्द्धसम उल्लाला के होते है अर्थात् उनमे प्रत्येक पन्द्रह और तेरह की यति से २८ मात्राओ का होता है।

दूसरे प्रकार के छप्पय के पहले चार चरण रोला के होते है अर्थात् उनमे ग्यारह और तेरह मात्राओ की यति से चौबीस मात्राएँ होती है और अन्तिम दो चरण सम उल्लाला के होते है अर्थात् उनमे प्रत्येक आठ और पांच की यति से पन्द्रह मात्राओ का होता है।

छप्पय का सकेत सूत्र इस प्रकार है—

"छप्पय षट्पद छन्द मिलि रोला उल्लाला"

अथवा

"रोला के पद चार रख उल्लाला पद दोय ।
कहते कविगण हैं सदा होता छप्पय सोय ।।"

अर्थात् छप्पय छै पदो का एक छन्द है जो रोला और उल्लाला को मिला कर बनता है । इसका उदाहरण यह है—

२१ २१ ११ १२ २१ २ १११ १२११ =११+१३=२४ मात्रा
ऽ। ऽ। ।। ।ऽ ऽ। ऽ ।।। ।ऽ।।

सर्व-भूत-हित महा मन्त्र का सबल प्रचारक ।
सदय हृदय से एक एक जन का उपकारक ।।
सत्य भाव से विश्व, बन्धुता का अनुरागी ।
सकल सिद्धि सर्वस्व सर्व-गत सच्चा त्यागी ।। } रोला

(अर्द्धसम मात्रिक)

११२ १२१ २२१२ २ २ २ २ २ १२ =१५+१३=२८ मात्रा
।।ऽ ।ऽ। ऽऽ।ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ।ऽ

उसकी विचार-धारा धरा, के धर्मों मे है वही ।
सब सार्व-भौम सिद्धान्त का, आदि प्रवर्त्तक है वही ।। } उल्लाला

पीयूषवर्ष (मात्रिक समछन्द)—

इसमे उन्नीस मात्राएँ होती है । अन्त मे लघु गुरु रहता है । दस पर यति होती है । इसका सकेत सूत्र है—'उन्निस-कल लग अन्ते यति दस पीयूषवर्ष है' अर्थात् जिस वृत्त मे उन्नीस मात्राएँ हो, अन्त मे क्रमश. गुरु तथा लघु आवे तथा दस पर यति हो, उसे पीयूषवर्ष कहते है । इसका उदाहरण यह है—

२ १ २ २ २ १२२ २ १ २ =१०+९=१९ मात्रा
ऽ।ऽ ऽऽ ।ऽऽ ।ऽ ऽ

दासता टूटी हजारों वर्ष की ।
खुल गई तकदीर भारतवर्ष की ।।

दिक्पाल (मात्रिक समछन्द)—

इसमे चौबीस मात्राएँ होती है और बारह पर यति होती है । इसका सकेत सूत्र इस प्रकार है—"कला चौबीस यति बारह सदा दिक्पाल में होवें" अर्थात् दिक्पाल छन्द मे सदा चौबीस मात्राएँ होती हैं तथा बारह मात्राओ पर यति होती है । इसका उदाहरण यह है—

२२ १२१ २ २ २२ १११ १२ २ =१२+१२=२४ मात्रा
ऽऽ ।ऽ। ऽ ऽ ऽऽ ।।। ।ऽ ऽ

आते समीर के ये झोंके मधुर कहाँ से ।
कहते निकुंज मे हैं जो मन्द-गति गति से ।।

इन्द्रबज्रा (वर्णिक समछन्द)—

इसमे दो तगण, एक जगण और दो गुरु होते हैं । कुल मिलाकर इस चरण मे ग्यारह वर्ण रहते है । इस प्रकार यह एक सम वर्णिक छन्द है । इसका सकेत

सूत्र है "ताता ज गागा शुभ इन्द्रवज्रा" अर्थात् इन्द्रवज्रा छन्द मे क्रमश तगण, तगण, जगण और दो गुरु होते हैं। इसका उदाहरण निम्नलिखित है—

त त ज ग ग =ता ता ज गा गा=११ वर्ण

S S I S S I I S I S S

मैं जो नया ग्रन्थ विलोकता हूँ।
भाता मुझे सो नव मित्र सा है॥
देखूँ उसे मैं नित बार-बार।
मानो मिला मित्र मुझे पुराना॥

उपर्युक्त छन्द मे तृतीय पक्ति मे अन्त के 'र' वर्ण को गुरु मान लिया गया है।

उपेन्द्रवज्रा (वर्णिक समछन्द)—

यह भी सम वर्णिक छन्द है। इसमे जगण, तगण, जगण और दो गुरु रहते हैं। इसका प्रत्येक चरण ग्यारह वर्णों का होता है। इसका सकेत सूत्र इस प्रकार है—"उपेन्द्रवज्रा जत जा गगा है।" अर्थात् उपेन्द्रवज्रा छन्द मे क्रमश जगण, तगण, जगण और दो गुरु आते है। इसका उदाहरण यह है—

ज त ज ग ग =ज त ज गगा=११ वर्ण

I S I S S I I S I S S

अनेक ब्रह्मादि न अन्त पायो।
अनेकधा वेदन गीत गायो॥
तिन्हें न रामानुज बन्धु जानो।
सुनो सुधी केवल ब्रह्म मानो॥

उपजाति (वर्णिक विषम छन्द)—

इस वर्णिक विषम छन्द मे कुछ चरण इन्द्रवज्रा के तथा कुछ चरण उपेन्द्रवज्रा वृत्त के होते है। इसका सकेत सूत्र यह है—"उपेन्द्रेन्द्रवज्रा उपजाति होगा।" अर्थात् उपेन्द्रवज्रा और इन्द्रवज्रा को मिलाकर उपजाति वृत्त बनता है। इसका उदाहरण यह है—

त त ज ग ग

S S I S S I I S I S S

व्यापार बीथी बिच तू उजेरी, (इन्द्रवज्रा)
संसार खेती बिच तू हरेरी। (इन्द्रवज्रा)
उद्योग उद्यान वसन्त तू है, (इन्द्रवज्रा)

ज त ज ग ग

I S I S S I I S I S S

दिगन्त मे सार अनन्त तू है। (उपेन्द्रवज्रा)

वशस्थ (वर्णिक समछन्द)—

यह समवर्णिक छन्द है। इसमे जगण, तगण, जगण और रगण के योग से प्रत्येक चरण मे वारह वर्णों का क्रम रहता है। इसका सकेत सूत्र यह है—"विचार वशस्थ रचो जता जरा।" अर्थात् वशस्थ छन्द की रचना क्रमश जगण, तगण, जगण और रगण के योग से होती है। इसका उदाहरण यह है—

ज त ज र =ज ता ज रा=१६ वर्ण

। S । S S । । S । S । S

वसन्त ने, सौरभ ने, पराग ने,
प्रदान की थी अति कान्त भाव से।
वसुन्धरा को, पिक को, मिलिन्द को,
मनोज्ञता, मादकता, मदान्धता॥

वसन्ततिलका (वर्णिक समछन्द)—

इस छन्द के प्रत्येक चरण मे तगण, भगण, जगण, जगण और दो गुरु के क्रम से चौदह वर्ण होते है। इसका सकेत सूत्र है—"जानो वसन्ततिलका तमजा जगागा।" अर्थात् तगण, भगण, जगण, जगण और दो गुरु के क्रम रखने वाले छन्द को वसन्ततिलका समझना चाहिए। इसका उदाहरण यह है—

त भ ज ज ग ग =त भ जा ज गा गा=१४ वर्ण

S S । S । । । S । । S । S S

जैसी मनोहर हुई यह यामिनी थी।
वैसी कभी न जन लोचन ने विलोकी॥
जैसी वही रस सरी इस शर्वरी मे।
वैसी न कभी व्रज भूतल में वही थी॥

भुजगप्रयात (वर्णिक समछन्द)—

इस वर्णिक समछन्द मे प्रत्येक चरण मे चार यगण होते हैं। इस प्रकार कुल बारह वर्ण प्रत्येक चरण मे होते हैं। इसका सकेत सूत्र यह है—"य चारों बनाओ भुजगप्रयाता।" अर्थात चारो यकारो के सयोग से भुजगप्रयात वृत्त का निर्माण होता है। इसका उदाहरण यह है—

य य य य =य य य य=१२ वर्ण

। S S । S S । S S । S S

बना लो जहाँ हो वहाँ स्वर्ग होगा।
स्वयभूत थोडा कहीं स्वर्ग होगा॥
खलो को कहीं भी नहीं स्वर्ग होगा।
भलों के लिए तो यहीं स्वर्ग होगा॥

द्रुतविलम्बित (वर्णिक समछन्द)—

इसके प्रत्येक चरण मे नगण, दो भगण, और रगण के क्रम से बारह वर्ण होते हैं। यह भी सम वर्णिक छन्द है। इसका सकेत सूत्र है—"द्रुत विलम्बित होत न भा भरा।" अर्थात् वृत्त मे न भ भ और र गण का क्रम होने पर उसे द्रुत विलम्बित कहते है। इसका उदाहरण यह है—

न भ भ र = न भा भ रा = १२

। । । ऽ । । ऽ । । ऽ । ऽ

दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला॥
तरु-शिखा पर थी अब राजती।
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा॥

मालिनी (वर्णिक समछन्द)—

इसमे नगण, नगण, मगण, यगण और यगण के क्रम से प्रत्येक चरण में पन्द्रह वर्ण होते हैं। इसमे आठवें वर्ण पर यति रहती है। इसका सकेत सूत्र है—"न न म य य जुटा के मालिनी रम्य गाओ।" अर्थात् मालिनी छन्द मे न न म य य के क्रम से गणो की अवस्थिति रहती है। इसका उदाहरण यह है—

न न म य भ = न न म य भ = १५ वर्ण

। । । । । । ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ

लख कर मुख सूखा सूखता है कलेजा।
उर विचलित होता है विलोके दुखो के॥
शिर पर सुत के जो आपदा नाथ आई।
यह अवनि फटेगी और समा जाऊँगी मैं॥

शिखरिणी (वर्णिक समछन्द)—

इसमे यगण, मगण, नगण, सगण, भगण, लघु और गुरु के क्रम से १७ वर्ण रहते हैं। इसका सकेत सूत्र है—"रस स्थाणु युक्ता। यमन सभ लागा शिखरिणी"। अर्थात् वृत्त मे ६ और ११ वर्णों की यति से क्रमश यगण, मगण, नगण, सगण, और भगण तथा लघु और गुरु की अवस्थिति होने पर उसे शिखरिणी वृत्त कहते है। यहाँ पर रस ६ का और स्थाणु ११ का सकेतक है। इसका उदाहरण यह है—

य म न स भ ल ग = य म न स भ ल गा
= १७ वर्ण

। ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ । । । । । ऽ ऽ । । । ऽ

अनूठी आभा से / सरस - सुषमा से सुरस से।
वना जो देती थी / वहु गुणमयी भू विपिन को॥
निराले फूलों की / विविध दलवाली अनुपमा।
जडी बूटी हो हो वहु फलवती थीं विलसती॥

मन्दाक्रान्ता (वर्णिक समछन्द)—

यह भी सम वर्णिक छन्द है। इसमे मगण, भगण, नगण, तगण, तगण, और दो गुरु के क्रम से प्रत्येक चरण मे सत्रह वर्ण होते है। इसमे चौथे, छठे और सातवें वर्णों पर यति रहती है। इसका सकेत सूत्र है—"मन्दाक्रान्ता, श्रुति रस ऋषी, मा भ ना ता त गागा।" अर्थात् चार, छै और सात की यति से क्रमश म, भ, न, त, त गण और गुरु गुरु से युक्त वृत्त को मन्दाक्रान्ता कहते हैं। यहाँ पर श्रुति=४ का, रस=६ का और ऋषि=७ का द्योतक है। इसका उदाहरण यह है—

म भ न त त ग ग =मा भ ना ता त गा गा=१७ वर्ण

ऽऽ ऽऽ ।।। ।।ऽ ऽ।ऽ ऽ। ऽऽ

धाता द्वारा / सृजित जग मे / हो धरा मध्य आके।
पाके खोये / विभव कितने / प्राणियों ने अनेको॥
जैसा प्यारा / विभव व्रज ने / हाथ से आज खोया।
पाके ऐसा / विभव वसुधा / मे न खोया किसी ने॥

शार्दूलविक्रीडित (वर्णिक समछन्द)—

इसमे मगण सगण, जगण, सगण और दो तगण तथा एक गुरु के क्रम से प्रत्येक चरण मे उन्नीस वर्ण होते है। इसमे बारहवें और सातवें वर्णों पर यति होती है। इसका सकेत सूत्र है—"श्री सूर्य स्वर मा स जा स त त गा। शार्दूलविक्रीडितम्।" अर्थात् १२ और ७ वर्णों पर यति तथा क्रमश म, स, ज, स, त और त गण तथा अन्त मे गुरु से युक्त वृत्त को शार्दूलविक्रीडित कहते हैं। इसका उदाहरण यह है—

म स ज स त त ग = मा स जा स त त गा = १९ वर्ण

ऽऽऽ ।।ऽ ।ऽ। ।।ऽ ऽऽ। ऽऽ।ऽ

पेचीले नव राजनीति पचड़े / जो वृद्धि हैं पा रहे।
यात्रा मे व्रज-भूमि की अहह वे / हैं विघ्नकारी बड़े॥
आते वासर हैं नवीन जितने / लाते नये प्रश्न हैं।
होता है उनका दुरूहपन भी / व्याघातकारी महा॥

स्रग्धरा (वर्णिक समछन्द)

इसमे मगण, रगण, भगण, नगण और तीन यगण के क्रम से प्रत्येक चरण मे २१ वर्ण रहते हैं। प्रत्येक सात वर्णों पर यति रहती है। इसका सकेत सूत्र है—"मा रा भा ना य या या मुनि गुन यति से स्रग्धरा होत रम्या।" अर्थात् क्रमश म, र, भ, न, य, य, य गणो से युक्त वृत्त को स्रग्धरा कहते है। इसमे तीन स्थानो पर सात-सात के क्रम से यति होती है। यहाँ पर मुनि सात का तथा गुन तीन का द्योतक है। इसका उदाहरण यह है—

म र भ न य य य =मा रा भा ना य या या
=२१ वर्ण

S S S S I S S I I I I I I S I I S S I S I
मोरे भौने ययू को / कहहु सुत कहाँ / ते लिए आवते हो ।
मा का आनन्द आजी / तुम फिर फिर के / माथ जो नवाते हो ।
बोले माता विलोक्यो / फिरत सह चमू / बाग मे स्रग्धरे ज्यो ।
काढी माला रुमारे / विपुल रिपु बली / अश्व को जीति के त्यों ।

सवैया (वर्णिक समछन्द)—

बाईस से छब्बीस वर्ण तक के चरण रखने वाले छन्द सवैया कहलाते है । इस सवैया वृत्त के अडतालीस भेद बताए जाते हैं । किन्तु सबसे प्रसिद्ध भेद मत्तगयद है । इसके अतिरिक्त मदिरा, चकोर, सुमुखी, मुक्तहरा, दुर्मिल आदि सवैया भेद भी प्रसिद्ध हैं ।

मत्तगयद, मालती अथवा इन्दव (सवैया) (वर्णिक समछन्द)—

जैसा कि ऊपर दिया जा चुका है, यह सवैया का सर्वप्रसिद्ध भेद है । इसमे सात भगण और दो गुरु के क्रम से प्रत्येक चरण मे तेईस वर्ण रहते हैं । इसका सकेत सूत्र है—"भागण सात मिला गुरु दो रच लो तुम मत्तगयद सवैया ।" अर्थात् मत्तगयद सवैये की रचना सात भगणो को मिलाकर तथा अन्त मे दो गुरु रख कर की जाती है । इसका उदाहरण यह है—

भ भ भ भ भ भ भ ग ग =७ भगण, गुरु
=२३ वर्ण

S I I S I I S I I S I I S I I S I I S I I S S
मैं मन-मोहन की मुरली लइ मेरि लई मुरलीधर माला ।
मैं मुरली अधरान धरी पहिरी मुरलीधर मेरिय माला ॥
मैं मन-मोहन को मुरली दइ मोहिं दयी मुरलीधर माला ।
मैं मन मोहन की मुरली भइ मेरी भए मुरलीधर माला ।

मदिरा (सवैया) (वर्णिक समछन्द)—

इस वृत्त मे प्रत्येक चरण मे सात भगण और एक गुरु के क्रम से कुल २२ वर्ण रहते हैं । इसका सकेत सूत्र यह है—"भागण सात मिला गुरु एक रचो मदिरा शुभ मोदमयी ।" अर्थात् सात भगण और एक गुरु की क्रमश प्रत्येक चरण मे अवस्थिति होने पर सुन्दर आनन्द देने वाली मदिरा तैयार होती है। यहाँ पर 'मदिरा' मे श्लेष भी है । इसका उदाहरण यह है—

भ भ भ भ भ भ भ ग =७ भगण, गुरु
=२२ वर्ण

S I I S I I S I I S I I S I I S I I I I S I I S
लक्ष्मण के पुरिषान कियो पुरुषारथ सो न कह्यो परई ।
वेष बनाय कियो वनितान को देखत केशव ह्यो हरई ॥
क्रूर कुठार निहारि तजो फल ताको यहै जु हियो जरई ।

सुमुखी (सवैया) (वर्णिक समछन्द)—

यह २३ वर्णों का वृत्त है। वर्णों का क्रम इसमे इस प्रकार है—सात जगण के पश्चात् एक लघु और एक गुरु। इसका सकेत सूत्र है—"ज सात लगा सुमुखी रचिए मन मोहकता अति शुभ्र लसै।" अर्थात् सात जगण और अन्त मे एक लघु तथा एक गुरु के क्रम से सुन्दर मन मोहक सुमुखी वृत्त की रचना होती है। यहाँ लगा का अर्थ लघु और गुरु है। इसका उदाहरण यह है—

ज ज ज ज ज ज ज ल गु =जगण, ल, गु =२६ वर्ण

। ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । ऽ ।

कुमार कि रंग निवास कि हैं अलवेलि नवेलि तहाँ रमनी।
लसै छवि सोवत मे मुख की प्रति एक की ऐसी लुनाई सनी॥
परै कहुँ जाहि पै दीठि जहाँ सोइ लागति सुन्दरि ऐसी बनी।
यहै कहि आवत है मन मे सब मे यह रत्न अमोल घनी॥

सुन्दरी (सवैया) (वर्णिक समछन्द)—

यह २५ वर्णों का वृत्त है। इसमे क्रमश ८ सगण और अन्त मे एक गुरु रखते हैं। इसका सकेत सूत्र है—"वसु सगण एक मिला करके गुरु सुन्दरी नामक छन्द बनावें।" अर्थात् ८ सगण और एक गुरु मिला कर सुन्दरी नामक छन्द बनता है। यहाँ पर वसु ८ का सकेतक है—

स स स स स स स स गु =८ सगण, गुरु =२५ वर्ण

। । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ ।

पद कोमल स्यामल गौर कलेवर राजत कोटि मनोज लजाए।
करबान सरासनु सीस जटा, सरसीरुह लोचन को न सुहाए॥
जिन देखे सखी, सत भायहु तें, तुलसी तिन तो मन फेरि न पाए।
यहि मारग आजु किशोर वधू, विधु बैनी अनूप समेत सिधाए॥

मनहर (कवित्त) (वर्णिक समछन्द)—

यह दडक वर्णवृत्त है। इसके प्रत्येक चरण मे ३१ वर्ण रहते है। आठ, आठ, आठ और सात वर्णों पर यति होती है। इसका अन्तिम वर्ण गुरु होता है। इसका सकेत सूत्र है—

"याम योग गोग कर यति दैके भक्ति राग।
स्युक्त कवित्त मनहरण बनाइए॥"

अर्थात् आठ आठ वर्णों को मिला कर तथा फिर आठ और सात वर्णों को मिला कर मनहरण कवित्त की रचना होती है। यहाँ पर याम, योग और भक्ति आठ के द्योतक हैं तथा राग सात का द्योतक है। दूसरे योग का अर्थ मिलाना है। इस प्रकार के सयोग से आठ, आठ, आठ और सातवें वर्णों पर यति होती है। इसका उदाहरण यह है—

सुनिये बिटप प्रभु ! / पुहुप तिहारे हम, / राखिहौ हमे तौ सोभा / रावरी बढ़ाइ हैं ।
तजिहौं हरषि कै तौ, / बिलग न मानै कछू, / जहाँ जहाँ जैहैं तहाँ / दूनो जस गाइ हैं ।।
सुरन चढैगे, नर / सिरन चढैगे फेरि / सुकवि "अनीस" हाथ / हाथन विकाइ हैं ।
देस मे रहेगे, पर / देश मे रहेंगे, काहू / भेस मे रहेंगे, तऊ / रावरे कहाइ हैं ।।
=८+८+८+७=३१ वर्ण

घनाक्षरी (वर्णिक समछन्द)—

यह भी दडक कोटि का मुक्तक वर्णवृत्त है। इसके दो भेद होते है। (१) रूप घनाक्षरी, (२) देव घनाक्षरी।

रूप घनाक्षरी (सम वर्णिक वृत्त)—

इस वृत्त मे प्रत्येक चरण मे बत्तीस वर्ण होते हैं। अन्त मे गुरु लघु रहता है। प्रत्येक आठवें वर्ण पर यति रहती है। इसका सकेत सूत्र इस प्रकार है— "आठ, आठ, आठ, आठ पर यति दे बत्तीस की, रूप घनाक्षरी रचो चरण सुधारि।" अर्थात् आठ आठ आठ आठ पर यति देकर बत्तीस वर्णों की सुन्दर रूपक घनाक्षरी की रचना होती है। इसे 'रस घनाक्षरी' भी कहते हैं। इसका उदाहरण यह है—

ऊधौ यह ज्ञान कौ ब/खान सब बाद हमैं / सूधौ बाद छाँडि बक/बादहि बढ़ावै कौन।
कहै रतनाकर बि/लाय ब्रह्मकाय माँहि / आपने सौं आपुनपौ/आपुनो नसावै कौन।।
काहू तौ जनम मे मि / लेंगी स्यामसुन्दर कौं / याहू आस प्रानायाम / सास मे उडावै कौन।
परि कै तिहारी ज्योति / ज्वाल की जगाजग मे / फेरि जग जाइबे की/ जुगति जुरावै कौन ।।
=८+८+८+८=३२ वर्ण

देव घनाक्षरी—

इसमे ३३ वर्ण होते है। यति ८, ८, ८ और ९ वर्ण पर होती है। अन्त मे तीन लघु होते है। इसका उदाहरण यह है —

झिल्ली झनकारें पिक / चातक पुकारें बन / मोरनि गुहारें उठै / जुगनू चमकि चमकि।
घोर घन कारे भारे / घुरवा धुरारे धाम / धूमनि मचावै नाचै / दामिनी दमकि दमकि।।
भूकनि बयार बहै / लूकनि लगावै अग / हूकनि भभूकनि की / उर मे खमकि खमकि।।
कैसे करि राखो प्रान/प्यारे घनश्याम बिना/नान्ही नान्ही बूँद झरै/मेघवा झमकि झमकि।।
=८+८+८+९=३३ वर्ण

आधुनिक छन्द

आधुनिक क्रान्ति के युग मे छन्दो मे क्रान्ति सी आ गई है। कुछ आधुनिक कवि छन्दो के बधन को स्वीकार नही करते। बल्कि वे अपनी इच्छानुसार चाहे जिस क्रम से शब्दो का चयन कर लेते है। इस प्रकार के छन्द मुक्त काव्य का सृजन करने वाले कलाकारों का प्रयास भी दो प्रकार से अभिव्यक्त होता दिखाई देता है। पहले प्रकार के कलाकारो की प्रवृत्ति गीतो के रूप मे अभिव्यक्त होती है। इनके छन्दो को हम गीतात्मक छन्द का अभिधान दे सकते हैं। इसके उदाहरण के रूप मे हम निम्नलिखित गीत प्रस्तुत कर सकते है—

अब तो नूतन गीत पुराने से लगते हैं !
गीतों के स्वर नए नए पर छन्द वही हैं,
छन्दों मे रागों का अन्तर्द्वन्द्व वही है,
चिन्तन मे अकुरित विचारों की बगिया मे,
नए-नए हैं फूल मगर मकरन्द वही है। (वलवीरसिंह रग)

कहने की आवश्यकता नही कि जैसा कि उपर्युक्त गीत मे रग जी ने ध्वनित किया है कि यह गीत भी छदवद्ध ही है, अन्तर स्वर और लयो मे रहता है।

दूसरे प्रकार के मुक्तक छन्दो मे गीतात्मकता का भी अभाव होता है। वे कवि की इच्छानुसार केंचुए या रवड की भाँति चाहे जहाँ वढ कर विशालकाय वन जाते हैं तथा चाहे जिस स्थान पर सिकुड़ कर लघुकाय रह जाते हैं। इनमे भी स्वर या लय पर कवि का ध्यान रहता है। इसी की साधना के लिए यमक, अनुप्रास आदि शब्दालकारो की सहायता ली जाती है। इस साधना मे चरण का शरीर वढ जाता है अथवा घट जाता है। चरणो की सख्या भी नियत नही रहती। इसका उदाहरण यह है—

मधुमय वसन्त, राको-रजनी।
गगा का तट,
वालुका विमल,
निर्मल था जल,
चल-दल सा चल,
लघु लोल लोल,
कल कल कल कल,
स्वर्गिक आभा व्याप्त हुई,
सुन्दर सी अवनी,
मधुमय वसन्त, राका-रजनी ॥

छन्द शास्त्र का सक्षिप्त विकास-क्रम

छन्द शास्त्रीय सस्कृत के ग्रन्थ—छन्दो का प्राचीनतम उदाहरण वेद है। छन्दो और वेद का इतना घनिष्ठ सम्वन्ध है कि वेदो का दूसरा नाम ही छन्दस पड़ गया है। पाणिनि ने 'वहुल छन्दसि' वाक्याश का प्रयोग वार-वार किया है। लौकिक साहित्य मे अनेक स्थलो पर वेदो के लिए छन्दस शब्द का ही प्रयोग किया गया है। उत्तर रामचरित का "सच कुलपतिराद्यश्छन्दसा य प्रयोक्ता," रघुवश का "प्रणवऽछन्दसामिव" आदि उद्धरण इसके प्रमाण हैं। किन्तु वैदिक सहिताओ मे कही पर छन्दो के शास्त्रीय स्वरूपो का विवेचन नही मिलता।

ब्राह्मण ग्रन्थ—छन्दो के शास्त्रीय विवेचना का श्रीगणेश हमे सर्वप्रथम ब्राह्मणो मे दिखाई पडता है। इनमें हमे वहुत से स्थलो पर छन्दो की व्याख्या और लक्षण भी मिलते हैं। किन्तु इनका उल्लेख मिलता आनुषगिक रूप में ही है। ब्राह्मण रचनाकारो का लक्ष्य छन्दो के शास्त्रीय पक्ष की मीमासा करना कही प्रतीत नहीं

सुनिये विटप प्रभु ! / पुहुप तिहारे हम, / राखिहौ हमें तो सोभा / रावरी बढाइ हैं।
तजिहौ हरषि कै तौ, / विलग न मानै कछू, / जहां जहां जैहैं तहां / दूनौ जस गाइ हैं॥
सुरन चढैंगे, नर / सिरन चढैंगे फेरि / सुकवि "अनीस" हाथ / हाथन विकाइ हैं।
देस मे रहैंगे, पर / देश मे रहैंगे, काहू / भेस मे रहैंगे, तऊ / रावरे कहाइ हैं॥
=८+८+८+७=३१ वर्ण

घनाक्षरी (वर्णिक समछन्द)—

यह भी दडक कोटि का मुक्तक वर्णवृत्त है। इसके दो भेद होते है। (१) रूप घनाक्षरी, (२) देव घनाक्षरी।

रूप घनाक्षरी (सम वर्णिक वृत्त)—

इस वृत्त मे प्रत्येक चरण मे बत्तीस वर्ण होते है। अन्त मे गुरु लघु रहता है। प्रत्येक आठवे वर्ण पर यति रहती है। इसका सकेत सूत्र इस प्रकार है— "आठ, आठ, आठ, आठ पर यति दे बत्तीस को, रूप घनाक्षरी रचो चरण सुधारि।" अर्थात् आठ आठ आठ आठ पर यति देकर बत्तीस वर्णों की सुन्दर रूपक घनाक्षरी की रचना होती है। इसे 'रस घनाक्षरी' भी कहते हैं। इसका उदाहरण यह है—

ऊधौ यह ज्ञान कौ ब/खान सब बाद हमैं / सूधौ बाद छांडि बक/बादहि बढ़ावै कौन।
कहैं रतनाकर वि/लाय ब्रह्मकाय माहिं / आपने सौ आपुनपौ/आपुनो नसावै कौन॥
काहू तौ जनम मे मि / लेंगी स्यामसुन्दर कौं / याहू आस प्रानायाम / सास मे उडावै कौन।
परि कै तिहारी ज्योति / ज्वाल की जगाजग में / फेरि जग जाइबे की/ जुगति जुरावै कौन॥
=८+८+८+८=३२ वर्ण

देव घनाक्षरी—

इसमे ३३ वर्ण होते है। यति ८, ८, ८ और ९ वर्ण पर होती है। अन्त मे तीन लघु होते है। इसका उदाहरण यह है —

झिल्ली झनकारें पिक / चातक पुकारें बन / मोरनि गुहारें उठैं / जुगनू चमकि चमकि।
घोर घन कारे भारे / धुरवा धुरारे धाम / धूमनि मचावैं नाचै / दामिनी दमकि दमकि॥
भूकनि बयार बहै / लूकनि लगावै अग / हूकनि भभूकनि की / उर मे खमकि खमकि॥
कैसे करि राखो प्रान/प्यारे घनश्याम बिना/नान्ही नान्ही बूंद झरैं/मेघवा झमकि झमकि॥
=८+८+८+९=३३ वर्ण

आधुनिक छन्द

आधुनिक क्रान्ति के युग मे छन्दो मे क्रान्ति सी आ गई है। कुछ आधुनिक कवि छन्दो के बधन को स्वीकार नही करते। बल्कि वे अपनी इच्छानुसार चाहे जिस क्रम से शब्दो का चयन कर लेते है। इस प्रकार के छन्द मुक्त काव्य का सृजन करने वाले कलाकारों का प्रयास भी दो प्रकार से अभिव्यक्त होता दिखाई देता है। पहले प्रकार के कलाकारो की प्रवृत्ति गीतो के रूप मे अभिव्यक्त होती है। इनके छन्दो को हम गीतात्मक छन्द का अभिधान दे सकते हैं। इसके उदाहरण के रूप मे हम निम्नलिखित गीत प्रस्तुत कर सकते है—

अब तो नूतन गीत पुराने से लगते हैं !
गीतों के स्वर नए नए पर छन्द वही हैं,
छन्दों मे रागों का अन्तर्द्वन्द्व वही है,
चिन्तन में अकुरित विचारो की वगिया मे,
नए-नए हैं फूल मगर मकरन्द वही है। (वलवीरसिह रंग)

कहने की आवश्यकता नही कि जैसा कि उपर्युक्त गीत मे रग जी ने ध्वनित किया है कि यह गीत भी छदवद्ध ही है, अन्तर स्वर और लयो मे रहता है।

दूसरे प्रकार के मुक्तक छन्दो मे गीतात्मकता का भी अभाव होता है। वे कवि की इच्छानुसार केंचुए या रवड की भाँति चाहे जहाँ वढ कर विशालकाय वन जाते हैं तथा चाहे जिस स्थान पर सिकुड़ कर लघुकाय रह जाते हैं। इनमे भी स्वर या लय पर कवि का ध्यान रहता है। इसी की साधना के लिए यमक, अनुप्रास आदि शब्दालकारो की सहायता ली जाती है। इस साधना मे चरण का शरीर वढ जाता है अथवा घट जाता है। चरणो की सख्या भी नियत नही रहती। इसका उदाहरण यह है—

मधुमय वसन्त, राका-रजनी।
गगा का तट,
वालुका विमल,
निर्मल था जल,
चल-दल सा चल,
लघु लोल लोल,
कल कल कल कल,
स्वर्गिक आभा व्याप्त हुई,
सुन्दर सी अवनी,
मधुमय वसन्त, राका-रजनी ॥

छन्द शास्त्र का सक्षिप्त विकास-क्रम

छन्द शास्त्रीय सस्कृत के ग्रन्थ—छन्दो का प्राचीनतम उदाहरण वेद हैं। छन्दो और वेद का इतना घनिष्ठ सम्वन्ध है कि वेदो का दूसरा नाम ही छन्दस पड़ गया है। पाणिनि ने 'वहुल छन्दसि' वाक्याश का प्रयोग वार-वार किया है। लौकिक साहित्य मे अनेक स्थलो पर वेदो के लिए छन्दस शब्द का ही प्रयोग किया गया है। उत्तर रामचरित का "सच कुलपतिराद्यश्छन्दसा य प्रयोक्ता," रघुवश का "प्रणव-ऽछन्दसामिव" आदि उद्धरण इसके प्रमाण हैं। किन्तु वैदिक सहिताओ मे कही पर छन्दो के शास्त्रीय स्वरूपो का विवेचन नही मिलता।

व्राह्मण ग्रन्थ—छन्दो के शास्त्रीय विवेचना का श्रीगणेश हमे सर्वप्रथम व्राह्मणो मे दिखाई पडता है। इनमे हमे वहुत से स्थलो पर छन्दो की व्याख्या और लक्षण भी मिलते हैं। किन्तु इनका उल्लेख मिलता आनुषगिक रूप में ही है। व्राह्मण रचनाकारो का लक्ष्य छन्दो के शास्त्रीय पक्ष की मीमासा करना कही प्रतीत नहीं

होता है। फिर भी हम ब्राह्मण ग्रन्थो को छन्द शास्त्र का शिलान्यास कर्त्ता मान सकते हैं।

पिंगल सूत्र—यह छन्द शास्त्र का सबसे प्रामाणिक और प्रथम ग्रन्थ है। यह आठ अध्यायो मे विभक्त है। इसमे वैदिक और लौकिक दोनो प्रकार के छन्दो की स्वरूप-मीमासा की गई है। किन्तु वैदिक छन्दो का विवरण अपेक्षाकृत सक्षिप्त है। महर्षि पिंगल ने लघु गुरु के नियन्त्रण के लिए गण-शैली का आविष्कार किया था। वह शैली आगे चलकर बहुत प्रचलित हुई। पिंगल सूत्र मे २७ अक्षरो तक के छन्दो के लक्षण और उदाहरण दिये हैं।

अग्नि पुराण—छन्द शास्त्र का दूसरा प्रामाणिक ग्रन्थ अग्नि-पुराण है। इसमे जहाँ काव्यशास्त्र की अनेक बातो का उल्लेख मिलता है वही छन्दो के लक्षण और उदाहरण भी दिए गए हैं।

नाट्यशास्त्र—नाट्यशास्त्र मे भी हमे छन्दो की चलती-फिरती चर्चा मिलती है। उसमे इस शास्त्र का विस्तृत विवेचन नही पाया जाता, सम्भवत इसका कारण यह था कि नाट्यशास्त्र का छन्दो से कोई गहरा सम्बन्ध नही है।

वाराहमिहिर की 'बृहत् सहिता'—छन्दो की थोड़ी सी चर्चा 'बृहत् सहिता' मे भी मिलती है। किन्तु ज्योतिष सम्बन्धी ग्रन्थ होने के कारण इसमे छन्दो के विवेचन को प्रधानता नही दी गई है।

श्रुतिबोध—इसके रचयिता कालिदास बताए जाते है। यह कालिदास सम्भवतः मेघदूत के रचयिता कालिदास से भिन्न है। इसकी भाषा और शैली बिलकुल अर्वाचीन है।

वररुचि—इनका लिखा हुआ एक छन्द शास्त्रीय ग्रन्थ बताया जाता है। किन्तु वह उपलब्ध नहीं है।

दण्डी—कहते हैं कि दण्डी ने भी एक छन्द सम्बन्धी ग्रन्थ लिखा था, किन्तु वह मेरे देखने मे नही आया है।

जयदेव—जयदेव ने छन्दो के क्षेत्र मे बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। यह आठवी शताब्दी मे हुए थे। उन्होने छ अक्षरो के छन्दो से लेकर २७ अक्षरो तक के छन्दो की विवेचना की है।

जयकीर्ति—इन्होने 'छन्दानुशासन' की रचना की थी। इसमे एकाक्षरी छन्दो से लेकर दण्डक छन्दो तक के लक्षण-उदाहरण मिलते है।

केदार भट्ट—छन्दो का विवेचन केदार भट्ट ने भी किया था। वृत्तरत्नाकर नामक उनका ग्रन्थ लोक प्रसिद्ध है। इसमे लगभग १५० छन्दो का निरूपण किया गया है।

क्षेमचन्द्र—इन्होने 'सुवृत्त तिलक' नामक छन्द सम्बन्धी ग्रन्थ लिखा था। उसकी अच्छी ख्याति है।

हेमचन्द्र का छन्दानुशासन—छन्दशास्त्र का यह ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण है। इस मे अनेक छन्दों का निरूपण किया गया है।

गगादास की छन्दोमजरी—यह ग्रन्थ भी छात्रोपयोगी होने के कारण महत्त्व-

पूर्ण है। इसमे छन्दो के लक्ष्य-लक्षण प्राय एक ही पक्ति मे लिए गए हैं। छोटे-छोटे छात्रो के लिए यह ग्रन्थ वहुत उपयोगी है।

हिन्दी के छन्दशास्त्रीय ग्रन्थ

सस्कृत छन्दशास्त्र की उपयुक्त पृष्ठभूमि पर हिन्दी मे छन्दशास्त्र का विकास हुआ है।

हिन्दी के प्रमुख छन्दशास्त्रीय ग्रन्थ

चिन्तामणि त्रिपाठी का छन्द-विचार—हिन्दी मे लिखा हुआ यह सम्भवतः पहला छन्दशास्त्रीय ग्रन्थ है।

केशव का छन्दशास्त्रीय ग्रन्थ—कहते है कि केशव ने भी छन्दशास्त्र का एक ग्रन्थ लिखा है, किन्तु वह उपलव्ध नही है।

मतिराम का छन्दसार—यह ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण है। इसमे प्रसिद्ध छन्दो के लक्ष्य-लक्षण सग्रहीत किए गए है। मौलिकता की दृष्टि से ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण नही है।

भिखारीदास का 'छन्दार्णव'—यह एक वृहत ग्रन्थ है। इसमे शताधिक छन्दो का उल्लेख किया गया है। यह ग्रन्थ वहुत सी दृष्टियो से वेजोड़ है।

पद्माकर की छन्दोमजरी—यह सस्कृत की 'छन्दोमजरी' के अनुकरण पर लिखी गई हिन्दी रचना है। सामान्य छात्रो के लिए यह रचना वहुत उपयोगी है।

राजाधर की वृत्त चन्द्रिका—यह छन्दशास्त्र सम्वन्धी एक सामान्य ग्रन्थ है। इसे एक प्रकार से सग्रह ग्रन्थ कह सकते है।

सुखदेव मिश्र का वृत्तविचार—यह ग्रन्थ भी सामान्य कोटि का है। इसमे हिन्दी के प्रसिद्ध छन्दो की स्वरूप व्याख्या की गई है।

श्रीधर का पिंगलशास्त्र—यह छन्दशास्त्र का वृहत् ग्रन्थ है। आकार की दृष्टि से यह जितना वडा है, विवेचना की दृष्टि से वह उतना ही महत्त्वहीन है।

जगन्नाथप्रसाद का छन्द प्रभाकर—यह छन्दशास्त्र का एक वहुत महत्त्वपूर्ण और वृहत् ग्रन्थ है। इसमे प्राचीन ढग का शायद ही कोई छन्द रह गया हो, जिसकी विवेचना न की गई हो।

रघुवरदयाल का पिंगल-प्रकाश—यह भी सामान्य कोटि का ग्रन्थ है। यह साधारण विद्यार्थियो के उपयोग की रचना है। विद्वान इससे अधिक लाभ नही उठा सकते।

रामनरेश त्रिपाठी लिखित हिन्दी पद-रचना—यह ग्रन्थ कई दृष्टियो से सुन्दर है। इसमे कुछ नए छन्दो पर भी विचार किया गया है।

सक्षेप मे छन्दशास्त्र का सक्षिप्त विकास-क्रम यही है।

काव्य के भेद-प्रभेद

प्राचीन आचार्यों ने काव्य के निम्नलिखित भेद वताए हैं—

१. **मुक्तक**—जिसमे एक निरपेक्ष श्लोक मे ही चमत्कार की योजना की गई हो।

२ सद्रानितक—जहाँ दो श्लोको मे क्रिया का अन्वय दिखाया जाय।
३ विशेषक—जहाँ तीन श्लोको मे क्रिया का अन्वय दिखाया जाय।
४ कुलापक—जहाँ चार श्लोको मे किसी एक बात का वर्णन किया जाय।
५. कुलक—जहाँ पाँच श्लोको मे किसी बात का वर्णन किया जाय।
६. पर्यायबन्ध—जहाँ किसी एक विषय का थोडे से श्लोको मे वर्णन किया जाय।
७. परिकथा—बहुत से श्लोको मे कई कथाओ का एक साथ वर्णन।
८. खण्ड काव्य—किसी बडी कथा के एक अग का सर्ग-विहीन वर्णन।
९ सकल कथा—फल पर्यन्त इतिवृत्त का वर्णन।
१० सर्गबद्ध—महाकाव्य को कहते है।
११. अभिनेयार्थ—रूपक।
१२. आख्यायिका—उच्छ्वासादि मे विभक्त वक्ता प्रतिवक्तादि युक्त कथा।
१३. कथा—उच्छ्वास, वक्ता, प्रतिवक्ता आदि से रहित कथा।

—ध्वन्यालोक टीका ३। ७

कविता के भेद

कविता को स्थूल रूप से दो भागो मे बाँट सकते हैं—आध्यात्मिक और लौकिक। आध्यात्मिक कविता भी दो भागो मे बाँटी जा सकती है—क्रान्त कविता और भक्ति-परक कविताएँ। लौकिक कविताओ को स्थूल रूप से मुक्तक और प्रबन्ध इन दो भेदो मे बाँटा जा सकता है। इनके अतिरिक्त एक मिश्रित रूप भी मिलता है। उसके दो भेद दिखाई पडते है—प्रबन्धोन्मुख मुक्तक और मुक्तकोन्मुख प्रबन्ध।

मुक्तक काव्य स्वरूप

मुक्तक शब्द मुक्त शब्द मे कन प्रत्यय जोडने से बना है। मुक्त शब्द मे क्, प्रत्यय और मुच धातु है। मुच धातु का अर्थ होता है—त्यागना, उन्मुक्त करना, खोलना, फेंकना आदि। मुक्तक शब्द का प्रयोग प्राचीन साहित्य मे कई अर्थों मे मिलता है। कोपकारो ने उसके लगभग ६ अर्थों का सकेत किया है। कविता के प्रसग मे, उसका प्रयोग एक प्रकार के गद्य, जिसमे समास का प्रयोग बहुत कम होता है, के अर्थ मे किया गया है। अब मुक्तक शब्द स्वतन्त्र, निरपेक्ष और फुटकर कविता के अर्थ मे रूढ सा हो गया है। सस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो मे इसका उल्लेख हमें सर्वप्रथम अग्नि पुराण मे मिलता है। इसका वर्णन करते हुए उसमे लिखा है—

"मुक्तक श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षम सताम्" ॥ ३३७-३६ ॥

अर्थात् मुक्तक एक ही श्लोक को कहते है। वह सहृदयो मे चमत्कार का सचार करने मे समर्थ होता है। अग्नि पुराण के पश्चात् मुक्तक की चर्चा हमे अनिबद्ध के नाम से भामह और वामन के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो मे मिलती हैं। राजशेखर ने भी इसके स्वरूप पर मुक्तक नाम से ही प्रकाश डालने की चेष्टा की है।

मुक्तक और प्रवन्ध की चर्चा ध्वनिकार ने भी की है। उन्होने उसमे रसात्मकता के संचार पर बल दिया है। उन्होने लिखा है, "प्रवन्ध मुक्तके वापि रसादीन वन्धमिच्छता", अर्थात् प्रवन्ध और मुक्तक दोनो मे रस सम्वन्वी साम्य पाया जाता है। आनन्दवर्द्धन ने भी मुक्तक मे रसात्मकता की अवस्थिति पर बल दिया है। उन्होने लिखा है, "तत्र मुक्तकेपु रसवन्धाभिनिवेशिन कवे तदाश्रयमौचित्यम् ।" अर्थात् मुक्तको मे भी रस की प्रतिष्ठा रहती है। उस रस के अनुकूल औचित्य का ध्यान कवि को मुक्तक मे भी रखना पड़ता है। इसी प्रकार ध्वन्यालोक टीकाकार आनन्दवर्द्धन ने और भी कई स्थलो पर मुक्तको की रसात्मकता पर वल दिया है।

मुक्तक के सम्वन्ध मे आचार्य शुक्ल का मत—हिन्दी मे मुक्तक के स्वरूप की मीमासा आचार्य शुक्ल ने भी की है। आचार्य शुक्ल ने मुक्तक को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "मुक्तक मे प्रवन्ध के समान रस की धारा नही रहती, जिसमे कथा प्रसग की परिस्थिति मे अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय मे एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमे तो रस के ऐसे छीटे पडते है जिनमे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रवन्ध-काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से यह समाजो के लिए अधिक उपयुक्त होता है। इसमें उत्तरोत्तर दृश्यो द्वारा सगठित पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अग का प्रदर्शन नही होता, वल्कि एक रमणीय खण्ड दृश्य इस प्रकार सहसा सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिए मन्त्र-मुग्ध सा हो जाता है। इसके लिए कवि को मनोरम वस्तुओ और व्यापारो का एक छोटा सा स्तवक कल्पित करके उन्हे अत्यन्त सक्षिप्त और सशक्त भाषा मे प्रदर्शित करना पडता है।"—(इतिहास, पृ० २९८-९९)

इसके अतिरिक्त और भी कई स्थलो पर उसके स्वरूप पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। एक स्थल पर उन्होने मुक्तक काव्य की सवसे प्रमुख दो विशेषताएँ वताई हैं—भाषा की समास शक्ति और कल्पना की समाहार शक्ति। इसमे कोई सन्देह नही कि सफल मुक्तक मे ये दोनो विशेषताएँ अवश्य होनी चाहिएँ किन्तु इनके अतिरिक्त मुक्तक की परिभाषा मे कुछ वातें और समेटनी पड़ेंगी।

✓**अपना दृष्टिकोण**—मेरी समझ मे मुक्तक उस रचना को कहते है जिसमे प्रवन्धत्व का अभाव होते हुए भी कवि अपनी कल्पना की समाहार शक्ति और भाषा की समास शक्ति के सहारे किसी एक रमणीय दृश्य, परिस्थिति, घटना या वस्तु का ऐसा चित्रात्मक एव भावपूर्ण वर्णन प्रस्तुत करता है, जिससे पाठको को प्रवन्ध जैसा आनन्द आने लगता है।

मुक्तक के भेद-प्रभेद—मुक्तक की चर्चा 'साहित्य-दर्पण' मे भी मिलती है। उसमें उसके दो भेद कोष और सघात वताए गए है। कोष का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—

"कोषाः श्लोक सग्रहस्तु स्यादन्योन्यान प्रेक्षक.।
व्रज्याक्रमेण रचित. स रूपाति मनोरम।"

अर्थात् निरपेक्ष पद्यो के समूह को कोष कहते हैं। यदि कोष की रचना व्रज्या (क्रम) से की जाय तो बडी मनोरम होती है। व्रज्या का अर्थ है क्रम। यह क्रम दो प्रकार का हो सकता है—एक वह जिसमे एक ही जाति के पद्यो का सकलन किया जाय, दूसरे वह जिसका सकलन वर्णानुक्रम से किया गया है। इसी प्रकार सघात की भी परिभाषा दी हुई है। वह इस प्रकार है—

"यत्र कविरेकमर्थम् वृत्तेनेकेंव वर्णयति काव्ये।
सघात स निगदितो वृन्दावन मेघदूतादिः॥"

राजशेखर ने काव्य के भेदो को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"स च पुनर्द्विधा—मुक्तक प्रबन्धविषयत्वेन। तावपि प्रत्येक पंचधा। शुद्ध, चित्र, कथोत्थ सविधानकभू, आख्यानकवाश्च। तत्र मुक्तेतिवृत्त शुद्ध। स एव सप्रपचश्चित्र, वृत्तेतिवृत्त कथोत्थ। सम्भावितेतिवृत्त सविधानकभू। परिकल्पितेतिवृत्त आख्यानकवान्। तत्र।

अर्थात् काव्य दो प्रकार का होता है। एक मुक्तक और दूसरा प्रबन्ध। इसके भी क्रमश शुद्ध, चित्र, कथोत्थ, सविधानकभू और आख्यानकवान नाम के पाँच भेद होते हैं। जिस मुक्तक श्लोक मे किसी इतिहास या इतिवृत्त की प्रतिष्ठा नही रहती है, उसे 'शुद्ध मुक्तक' कहते हैं। जब इतिहासरहित किसी सामान्य घटना या वस्तु का चित्र चित्रित कर दिया जाता है, तब उसे 'चित्र-मुक्तक' कहते हैं। 'कथोत्थ मुक्तक' उसे कहते हैं जिसमें किसी इतिहास या कथा का सकेत रहता है। जिस मुक्तक मे कोई घटना सभावित होती है, उसे 'सविधानक' कहते हैं। इसी प्रकार जिस मुक्तक मे इतिहास की कल्पना सन्निहित रहती है, उसे 'आख्यानकवान मुक्तक' कहते है। हिन्दी मे शुद्ध मुक्तक के उदाहरणो मे हम नीति-परक सूक्तियो को ले सकते हैं। चित्र के अन्तर्गत किसी घटना, परिस्थिति आदि के चित्र प्रस्तुत करने वाले विहारी आदि के दोहे ले सकते है। कथोत्थ के उदाहरण के रूप मे हम सूर की रचनाओ को ले सकते है। सविधानकभू के उदाहरण हमे भूषण आदि कवियो मे मिलते हैं। आख्यानक मुक्तक के उदाहरण मे हम उद्धवशतक, तुलसी की कवितावली, गीतावली आदि को ले सकते हैं। मुक्तको का विवेचन करने पर मुक्तक सम्बन्धी दो-तीन बातें ध्वनित होती है—

१—मुक्तक एक स्वतन्त्र और निरपेक्ष रचना होती है।

२—उसमे किसी परिस्थिति, सिद्धान्त एव घटना का वर्णन होता है।

३—मुक्तको मे ऐतिहासिक तथ्यो का भी सक्षेप मे वर्णन किया जा सकता है।

अपना मत—मेरी समझ मे समस्त मुक्तक रचनाएँ सरलता से तीन वर्गो मे बाँटी जा सकती है—

(१) गीति काव्य
(२) नीति काव्य
(३) रीति काव्य

गीतिकाव्य

गीतिकाव्य स्वरूप—गीतिकाव्य के सम्बन्ध मे पाश्चात्य और भारतीय दोनो प्रकार के विद्वानो ने अपने-अपने मत प्रकट किये है। हम पहले पाश्चात्य विद्वानो के मतो का उल्लेख करेंगे। बाद मे भारतीय विद्वानो के दृष्टिकोणो को प्रगट करेंगे।

गीतिकाव्य के सम्बन्ध मे पाश्चात्य विद्वानो के मत

हरबर्ट रीड महोदय का मत—इनका कहना है कि गीत का मूल अर्थ अब लुप्त हो गया है। उसका व्यावहारिक पक्ष अब प्रचलित हो चला है। अब केवल भावात्मकता को ही उसकी प्रमुख विशेषता समझा जाने लगा है। अब गीत साधारणतया उस रचना को कहते है जिसमे सूक्ष्म अनुभूति हो, अथवा इन अनुभूतियो की वे प्रतिक्रियाएँ हो जो एकान्त आनन्द से जाग्रत होती हैं, इत्यादि। हरबर्ट रीड की परिभाषा का विश्लेषण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रीड महोदय ने गीतिकाव्य को भावात्मक अधिक माना है। उनकी परिभाषा सुकोमल भावात्मकता पर ही केन्द्रित करके लिखी गई है।

अर्नेस्ट राइस साहब की परिभाषा—उनके मतानुसार सच्चा गीत वही है जिसमे भाव या भावात्मक विचार का भाषा मे स्वाभाविक विस्फोट हो, जो शब्द और लय के सामजस्य से सूक्ष्म भाव को पूर्णतया प्रदर्शित करता है और जिसके पदलालित्य एव शब्द माधुर्य से वह सगीतमयी ध्वनि निकलती है जिसे स्वाभाविक भावात्मक अभिव्यक्ति कहते है। उसमे शब्द सरल, कोमल और नादपूर्ण हो, गीत का उसमे प्रवाह हो, अनुभूति का सुन्दर आरोह-अवरोह हो, माधुर्ययुक्त हो, प्रमादपूर्ण हो, और स्पष्ट हो।

राइस साहब की परिभाषा का विश्लेषण करने पर गीतिकाव्य के निम्नलिखित तत्व ठहरते है —

१—भावात्मकता।	४—माधुर्य
२—शब्द और लय का सामजस्य।	५—प्रवाह।
३—सगीतात्मकता	६—स्पष्टता।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक पाश्चात्य विद्वानो ने गीतिकाव्य के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रगट किए हैं। विस्तार भय से उनको यहाँ उद्धृत नही कर रहे है।

भारतीय विद्वानो का दृष्टिकोण

सस्कृत आचार्यों ने गीतिकाव्य के स्वरूप पर स्वतन्त्र रूप से विचार नही किया है। वे गीत और मुक्तक मे कोई मौलिक भेद नही मानते थे। हाँ, हिन्दी के विद्वानो ने अवश्य गीतिकाव्य के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

डॉ० श्यामसुन्दरदास का मत—गीतिकाव्य मे कवि अपनी अन्तरात्मा मे प्रवेश करता है और बाह्य जगत को अपने अन्त करण मे ले जाकर उसे अपने भावो से रजित करता है। आत्माभिव्यजन सम्बन्धी कविता गीतिकाव्य मे ही छोटे-छोटे गेय पदो मे मधुर भावनापूर्ण आत्म-निवेदन से युक्त स्वाभाविक सी जान पड़ती है। उसमे शब्द की साधना के साथ-साथ स्वर की भी साधना होती है। भावना सुकोमल

होती है और एक-एक पद मे पूर्ण होकर समाप्त हो जाती है। कवि उसमे अपने अन्तर्तम को स्पष्टतया दृष्टव्य कर देता है। वह अपने अनुभावो एव भावनाओ से प्रेरित होकर उनकी भावात्मक अभिव्यक्ति कर देता है।

डॉ० श्यामसुन्दरदास की उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार गीतिकाव्य की प्रमुख विशेषताएँ हैं—

१—आत्माभिव्यजन।
२—भावमयता।
३—गेयता।
४—मधुरता।
५—शब्द-चयन अर्थात् शब्द की साधना।
६—सगीतात्मकता।
७—सुकोमल भावना।

महादेवी वर्मा का मत—महादेवी वर्मा के मतानुसार सुख-दु ख की भावावेशमयी अवस्था को विशेष गिने-चुने शब्दो मे चित्रण कर देना ही गीत है। गीत यदि दूसरे का इतिहास न कह कर वैयक्तिक सुख-दु ख ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता सुख-दु ख की वस्तु बन जाती है। इसमें कोई सन्देह नही।

गीत की उपर्युक्त परिभाषा मे निम्नलिखित विशेषताएँ व्यजित की गई है—

१—भावातिरेकता।
२—गिने चुने शब्दो में स्वर-साधना।

डॉ० रामकुमार वर्मा का दृष्टिकोण—"गीतिकाव्य की रचना आत्माभिव्यक्ति के दृष्टिकोण से ही होती है, उसमे विचारो की एकरूपता रहती है।"

अत सफल गीतिकाव्य मे ये चार बातें—आत्माभिव्यक्ति, विचारो की एकरूपता, सगीत और सक्षिप्तता होनी आवश्यक है। —इतिहास, पृ० ५६।

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि डॉ० रामकुमार वर्मा ने गीतिकाव्य की चार विशेषताए बताई है—

१—आत्माभिव्यक्ति।
२—सगीतात्मकता।
३—सक्षिप्तता।
४—विचारो की एकरूपता।

उपर्युक्त परिभाषाओ की आलोचना और अपना दृष्टिकोण

उपर्युक्त सभी परिभाषाएँ व्यापक होते हुए भी किसी न किसी दृष्टि से अपूर्ण प्रतीत होती है। प्रत्येक परिभाषा मे गीतिकाव्य के कुछ न कुछ तत्त्व सन्निविष्ट होने से छूट गए है। गीतिकाव्य को यदि हम परिभाषाबद्ध करना चाहे तो कह सकते हैं कि गीतिकाव्य अन्तर्वृत्ति निरूपक वह निरपेक्ष रचना है जिसमे शब्द और लय का सामजस्य, माधुर्य, प्रवाहात्मकता, कोमल भावनाओ का उद्रेक तथा प्रभाव-ऐक्य के साथ-साथ कवि का अन्तर्दर्शन भी शब्द-चित्रो मे सँजोया रहता है। अधिक स्पष्ट शब्दो मे कहना चाहें तो गीतिकाव्य की निम्नलिखित विशेषताएँ निर्दिष्ट की जा सकती हैं —

१—अन्तर्वृत्ति प्रधानता अथवा सब्जैक्टिविटी।
२—सगीतात्मकता।
३—निरपेक्षता या पूर्वापर-सम्बन्ध-विहीनता।

४—रसात्मकता और रजकता।
५—भावातिरेकता या रागात्मक अनुभूतियो की कसावट।
६—शब्द-चयन और चित्रात्मकता।
७—समाहित प्रभाव।
८—मार्मिकता।
९—सक्षिप्तता।

१. अन्तर्वृत्ति प्रधानता—पाश्चात्यो ने काव्य के दो प्रकार वताए है वाह्यार्थ निरूपक और अन्तर्वृत्ति निरूपक। गीतिकाव्य अन्तर्वृत्ति निरूपक काव्य है। इसमे कवि की अन्तर्वृत्तियो, उसके अन्तर्दर्शनी तथा उसके सुख-दु ख, राग-द्वेष आदि की सरस अभिव्यक्ति रहती है।

२ सगीतात्मकता—ध्वनि और सगीत का साहित्य और जीवन से वड़ा घनिष्ठ सम्वन्ध है। सगीत मे जीवनदायिनी शक्ति होती है। उसका प्रभाव चिरन्तन, परम और व्यापक होता है। सगीत और लय के अनुरूप ही फल की प्राप्ति होती है। सगीत का कोई रूप मन को मुग्ध करता है , कोई आत्मा को आनन्द-विभोर करता है। गीतिकाव्य का महत्त्व इसी मे है कि वह हमारी सम्पूर्ण चेतना को मुग्ध करके उसे रसधारा से सरावोर कर देता है।

३ निरपेक्षता—गीतिकाव्य मे एक घटना, एक परिस्थिति, एक अनुभूति का आत्मानुभूति-प्रधान वर्णन रहता है। वह वर्णन अपने मे पूर्ण रहता है। उसके लिए किसी प्रकार के पूर्वापर सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं होती। उसमे भावो और विचारो की एकरूपता रहती है।

४ रसात्मकता या रजकता—गीत शब्द मे कथामूलक रोचकता वहुत कम होती है। उसमे साग रस का परिपाक भी नहीं मिलता है। अत उसमे ऐसे तत्त्वो की प्रतिष्ठा की जानी चाहिए जिससे श्रोता का मन उल्लसित और चमत्कृत हो सके। वाग्विदग्धता, उक्ति-वैचित्र्य तथा अन्य प्रकार के चमत्कारो की योजना करके गीत को रोचक और रजक वनाया जाता है।

५. भावातिरेकता या रागात्मक अनुभूतियों की कसावट—गीतिकाव्य मे सुकोमल भावनाओ और अनुभूति का प्रचण्ड प्रवेग रहता है। वह प्रवेग ही श्रोता के मन को आप्लावित कर देता है, जिससे वह भाव-विभोरता की अवस्था को प्राप्त हो जाता है। यह भाव-विभोरता की अवस्था मेरी समझ में साधारणीकरण की एक निम्न स्थिति है। गीतिकाव्य मे साधारणीकरण का प्रश्न नही उठता। साधारणीकरण के लिए विभावानुभाव सचारी आदि का सयोग आवश्यक होता है। गीतिकाव्य मे रस-निष्पत्ति के केवल दो-एक अग ही विद्यमान रहते हैं। अत पूर्ण रस-निष्पत्ति हो ही नही मकती। फिर साधारणीकरण किस प्रकार हो सकेगा। गीतिकाव्य मे पूर्ण रस-परिपाक के लिए वहुत कम स्थान रहता है। अत उसमे साधारणीकरण की स्थिति भी नही उदय हो पाती है। उस कमी को पूर्ण करने के लिए कवि अपनी गीति-रचना मे सुकोमल भावनाओ का एक ऐसा तूफान उँडेलता है कि पाठक की चित्तवृत्ति उस तूफान मे वह जाती है और वह भावमग्न हो

जाता है। थोडी देर के लिए वह आनन्द के ऐसे अगाध रस-सागर मे डूब जाता है, जहाँ रस पान करके अनन्त तृप्ति का अनुभव करने लगता है। अगर कवि गीतिकाव्य मे सुकोमल और मार्मिक भावनाओ का तूफान न उँडेले तो वह गीतिकाव्य न रहकर सामान्य मुक्तक रचना भर रह जायगी।

शब्द-चयन और चित्रात्मकता—गीति-काव्यकार का दायित्व प्रबन्धकार से कही अधिक होता है। प्रबन्धकार को अपनी लम्बी-चौडी कहानी के माध्यम से मनमाने ढग पर कहने का अवसर होता है, किन्तु गीतिकार को अपनी छोटी सी रचना मे अपने भावो को पाठको के मस्तिष्क के आगे प्रस्तुत करना पड़ता है। इसके लिए उसे शब्द-चयन और चित्र-विधान की कलाओ का आश्रय लेना पड़ता है। वह सार्थक, औचित्यपूर्ण, लाक्षणिक, व्यजनात्मक, प्रतीकात्मक, एव रूपकात्मक शब्दो के प्रयोग से एक-एक शब्द मे एक-एक इतिहास ठूँस देता है। अपनी इसी शब्द-चयन कला के सहारे वह छोटी सी रचना मे बहुत बडी बातो को कहने मे समर्थ होता है। कभी-कभी गीतिकार को चित्र-विधान कला का भी आश्रय लेना पडता है। गीतिकार अपनी अनुभूतियो को पाठको के हृदय तक पहुँचाने के लिए उन्हे साकार रूप प्रदान करना चाहता है। इसके लिए वह चित्र-विधान-कला का आश्रय लेता है। वास्तव मे चित्र-विधान-कला गीतिकार की सबसे महत्त्वपूर्ण शिल्प-विधि है।

समाहित प्रभाव—गीतिकाव्य की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता होती है एक समाहित प्रभाव उत्पन्न करने मे। जिस गीत का समाहित प्रभाव जितना व्यापक और मार्मिक होता है वह गीत उतना ही सुन्दर माना जाता है।

मार्मिकता—मार्मिकता गीतिकाव्य की सबसे प्रमुख विशेषता है। यह मार्मिकता गीतिकाव्य का प्राण है। इसके अभाव मे गीतिकाव्य गीतिकाव्य कहलाने का अधिकारी नही रहता। यह मार्मिकता, अनुभूति, भावना, शैली, व्यजना, सभी मे प्रतिष्ठित रहनी चाहिए। सामान्य कवि लोग इस मार्मिकता को लाने के लिए ही विविध प्रकार के चमत्कारो की योजना करते हैं।

गीतिकाव्य के विविध भेद

गीतो का विभाजन कई दृष्टियो से किया जा सकता है। भाषा, देश, अवसर, वर्ण्य विषय और विधान।

भाषा के आधार पर अग्रेजी, हिन्दी, उर्दू, रूसी, फ्रेच, इटेलियन आदि अनेक प्रकार गीतो के हो सकते है। किन्तु यह विभाजन बहुत व्यापक है। अवसर के आधार पर गीतो के नाम सोहर आदि प्रचलित है। किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण विभाजन वर्ण्य-विषय-विधान के आधार पर सम्पन्न हुआ है। इस आधार पर गीतो के निम्नलिखित भेद किए गए है —

१—वीर गीत।
२—करुण गीत।
३—व्यग्य गीत।
४—सामाजिक गीत।
—उपालम्भ गीत।
—गीति-नाट्य।
७—रूपक गीत।
८—विचारात्मक गीत।
९—सम्बोधि गीत।
१०—चतुर्दशपदी गीत।
११—अन्य प्रकार।

१. वीर गीत—किसी वीर के चरित्र को आधार बना कर गाये जाने वाले गीत 'वीर गीत' कहलाते हैं। इस कोटि के गीतो मे प्राय कथा और सगीतात्मकता का मिश्रण रहता है। इस प्रकार के गीत प्रबन्धोन्मुख रहते हैं। प्राय देखा जाता है कि इनकी सगीतात्मकता क्षीण हो जाती है और कथात्मकता बढती जाती है। आल्हखण्ड वीर गीत के रूप मे ही प्रसिद्ध है। इस कोटि के गीतो की भाषा प्रसाद और ओज गुण सम्पन्न होती है। आधुनिक कवियो ने वीर गीत बहुत कम लिखे है।

२. करुण गीत—अग्रेजी मे इसके लिए Elegy शब्द का प्रयोग किया जाता है। ग्रीक मे विशेष प्रकार के छन्द-विधान को ही इलेजी कहा जाने लगा था। इसका परिणाम यह हुआ कि उस प्रकार के छन्द मे लिखे गए गीत एलेजी कहलाने लगे। वास्तव मे करुण गीतो मे छन्द-विधान के साथ-साथ करुण भावना की अभिव्यक्ति भी नितान्त आवश्यक होती है। कहना न होगा कि हिन्दी के शोक-गीतो का प्रणयन अग्रेजी के शोक-गीतो के अनुकरण पर हुआ है। प्रसाद का 'आँसू" हिन्दी का एक श्रेष्ठ-करुण गीत है। दिनकर लिखित "नई दिल्ली" शीर्षक कविता मे भी हमे शोक गीत का परिष्कृत रूप दिखाई पडता है।

३. व्यंग्य गीत—व्यग्य गीत उन गीतो को कहते है जिनमे किसी वस्तु, स्थान या बात पर व्यग्य या कटाक्ष किया गया हो। व्यग्य गीतो की रचना हिन्दी मे भारतेन्दु-युग मे अधिक हुई थी। आधुनिक कवियो मे व्यग्य गीत रचयिताओ मे निराला का नाम लिया जा सकता है। इनकी प्रसिद्ध रचना 'कुकुरमुत्ता' एक सफल व्यगगीत है।

४. उपालम्भ गीत—वह गीत जिसमे किसी प्रकार का व्यगपूर्ण उपालम्भ रहता है, उपालम्भ गीत कहलाता है। सूरदास का भ्रमर गीत हिन्दी का श्रेष्ठ उपालम्भ गीत है।

५. गीति-नाट्य—गीति-नाट्य को अब स्वतन्त्र काव्य का रूप समझा जाने लगा है। हमने भी इसका स्वतन्त्र रूप से ही विवेचन किया है। यह नाटक गीतिकाव्य और नाट्य का मिश्रित रूप है। गीति-नाट्यो मे प्रसाद रचित 'करुणालय', 'महाराणा का महत्त्व', निराला रचित 'पचवटी प्रसग'; उदय शकर भट्ट प्रणीत 'मत्स्यगधा' और 'विश्वामित्र', भगवती चरण वर्मा लिखित 'तारा', और केदारनाथ प्रभात रचित 'सवर्त्त' विशेष उल्लेखनीय है। इनका विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ मे नाटक के अन्तर्गत देखिए।

६. रूपक गीत—जिन गीतो मे कवि लोग रूपको के सहारे अपनी भावनाओ को अभिव्यक्त करते है, उन्हे रूपक गीत कहते है। छायावादी कवियो के अधिकाश गीत इसी कोटि मे आते है।

७. विचारात्मक गीत—जिन गीतो मे अनुभूति के स्थान पर विचारात्मकत की प्रधानता रहती है उन्हे विचारात्मक गीत कहते हैं। हिन्दी मे इस कोटि के गीतो की रचना निराला ने की है। उनकी 'मै और तुम' शीर्षक रचना ऐसा ही गीत है।

८. सम्बोधि गीत—सम्बोधि गीत वे होते है जिनमे कवि किसी वस्तु को सम्बो-

धित करके अपनी भावात्मक प्रतिक्रियाओ की अभिव्यक्ति करता है । अग्रेजी मे इस प्रकार के गीत बहुत हैं । उन्ही के अनुकरण पर हिन्दी मे भी बहुत से सम्बोधि गीत लिखे गए हैं, जैसे पन्त की 'छाया', निराला की 'यमुना के प्रति', शीर्षक कविताए । सम्बोधि गीत सस्कृत मे भी थे । मेघदूत सुन्दर सम्बोधि गीत है । उसके अनुकरण पर 'धोय' के 'पवनदूत' की रचना हुई है ।

९. **चतुर्दश पदी गीत**—यह अग्रेजी सॉनेट का हिन्दी पर्याय कहा जा सकता है । हिन्दी मे इस प्रकार के गीत बहुत कम हैं ।

अन्य प्रकार—इनके अतिरिक्त और भी कई प्रकार के गीत देखने को मिलते हैं ; जैसे, चारण गीत, पत्रगीत, प्रणय गीत, Courting Lyrics आदि । किन्तु इन कोटियो से सम्बन्धित गीत हिन्दी मे बहुत कम हैं ।

नीतिकाव्य और उसके भेद-प्रभेद

नीतिकाव्य भारतीय साहित्य का परम महत्त्वपूर्ण अग है । डॉ० विन्टरनिट्ज़ का यह कथन कि नीति-साहित्य-सर्जना मे भारतीयो की बराबरी कोई जाति नही कर सकती, पूर्णतया सत्य है । इसका कारण भारतीयो की आदर्श और धर्म-प्रियता है ।

नीति शब्द 'नी' धातु से बना है । 'नी' का अर्थ होता है ले जाना या आगे ले जाना । इस आधार पर नीति-रचना उसी कृति को कहेगे जो मानव समाज को सस्कृत कर ऊर्ध्वोन्मुखी बनावे ।

प्राचीन साहित्य मे नीतिशास्त्र की रचना के सम्बन्ध मे रोचक कथाएँ दी हुई हैं । इनमे से कुछ कथाओ की चर्चा डॉ० भोलानाथ तिवारी ने 'अपने हिन्दी नीतिकाव्य' मे की है । यहाँ पर दो एक कथाए सकेतित कर देना अनुचित न होगा । महाभारत के शान्ति पर्व के ५९वें अध्याय मे दी हुई एक कथा के अनुसार सत्ययुग मे सृष्टि रचना के कुछ दिनो बाद लोक पथभ्रष्ट होकर पाप मे प्रवृत्त होने लगा । मनुष्यो को इन पापो से निवृत्त करने के लिए तथा लोक-रक्षा के हेतु ब्रह्मा जी को नीतिशास्त्र की रचना करनी पडी । वह नीतिशास्त्र ब्रह्मा जी से महादेव जी को प्राप्त हुआ । महादेव से इन्द्र ने उपलब्ध किया । इन्द्र ने उसे बृहस्पति जी को समर्पित कर दिया । बृहस्पति जी से वह शुक्राचार्य जी को प्राप्त हुआ । प्रारम्भिक नीतिशास्त्र मे एक लाख अध्याय थे । सक्षिप्त होते-होते उसमे एक हजार अध्याय रह गए । वह रचना अब शुक्र नीति के नाम से प्रसिद्ध है । उपर्युक्त कथा से इतना अवश्य प्रकट होता है कि नीतिशास्त्र का प्रणयन लोक-रक्षा की भावना से हुआ था । इस भावना की अभिव्यक्ति शुक्र नीति की परिभाषा से होती है । उसमे लिखा है कि नीतिशास्त्र धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का प्रवर्त्तक होता है । यह ससार की धारणा को स्थिर करने वाला और उसकी मर्यादा को रक्षित करने वाला तत्व है ।

जिस काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति नीति एव उपदेश-प्रधान होती है, उसे नीति काव्य कहते है । यहाँ पर प्रश्न उठता है कि क्या नीति-प्रधान रचनाए काव्य कहलाने की अधिकारिणी हो सकती है । इस सम्बन्ध मे कुछ लोगो का उत्तर

निषेधात्मक है, किन्तु मेरी अपनी दृढ धारणा है कि यदि किसी कृति में मानव हृदय को स्पर्श करने की क्षमता है, हमारी प्रसुप्त रागात्मक शक्तियो को प्रवुद्ध करके उत्तेजित करने की शक्ति है, तो उसमे चाहे नीति या उपदेश ही क्यो न प्रतिष्ठित किए गए हो, उसे काव्य कहना सर्वथा उपयुक्त है। मैं तो यहाँ तक कह सकता हूँ कि जो साहित्यिक सृष्टि मानव से मानव वनने का सदाग्रह नही करती वह चाहे काव्य के सभी लक्षणो से समन्वित क्यो न हो, ठीक उसी तरह से काव्य कहलाने की अधिकारिणी नही है जिस प्रकार स्त्री-ककाल सब प्रकार के वस्त्राभूषणो से सुशोभित होते हुए भी प्राणवत्ता के अभाव मे रमणी कहलाने के अधिकार से वचित ही रहेगा। अत साहित्य मे मानव को मानव वनाने का सदाग्रह तो होना ही चाहिए। हाँ, इतना अवश्य है कि वह सदाग्रह कान्ता-सम्मित शैली मे ही व्यक्त किया जाना चाहिए। कान्ता-सम्मित शैली के अभाव मे नीतिकाव्य सूक्ति ही कहला सकेगा, नीतिकाव्य नही। शुक्ल जी ने जिन नीतिकवियो को कवि मानने से इनकार किया है, (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २४२) उनमे कान्ता-सम्मित शैली का अभाव है। जिन लोगो ने कान्ता-सम्मित शैली में नीति और उपदेश का प्रतिष्ठा की है, उनकी उन्होने सर्वत्र प्रशसा ही की है। कान्ता-सम्मित शैली के विविध प्रसाधनो मे अन्योक्ति का स्थान महत्त्वपूर्ण है। अन्योक्ति लिखने वालो मे दीनदयाल गिरि का स्थान महत्त्वपूर्ण है। शुक्ल जी ने उनकी मुक्त कण्ठ से प्रशसा की है।

(देखिये हिन्दी साहित्य का इतिहास; पृ० ४२७)

नीतिकाव्य के विविध रूप—ऊपर मै वता आया हूँ कि नीतिकाव्य कहलाने की अधिकारिणी वे ही नीति और उपदेश-प्रधान रचनाएँ हैं, जिनकी अभिव्यक्ति कान्ता-सम्मित शैली मे होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि कान्ता-सम्मित शैली के भेदो के आधार पर ही नीति-काव्य के प्रभेदो का परिगणन किया जाना चाहिए। इस दृष्टि से नीति-काव्य सभी रचनाओ को निम्नलिखित भागो में वाँट सकते हैं—

१—कवीर आदि की रूपक, उलटवासियाँ आदि प्रधान नीति-काव्यमयी रचनाएँ।

२—अन्योक्ति-परक रचनाएँ। इस वर्ग मे दीनदयाल गिरि की रचनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

३—समासोक्ति-परक रचनाएँ। इस वर्ग मे प्रवन्ध-काव्यो की नीति-रचनाएँ आवेंगी।

४—व्यजना के रूप मे नीति या उपदेश प्रकट करने वाली रचनाएँ।

नीतिप्रधान रचनाओ के यही चार प्रकार प्रमुख हैं किन्तु कुछ रचनाएँ ऐसी भी होती है जिनमे काव्यत्व की प्रधानता न होकर भी कथनमूलक चमत्कार की प्रधानता होती है, उन्हे हम सूक्ति कहना उचित समझते है। हिन्दी का कलेवर इस प्रकार की चमत्कार-प्रधान कविताओ से भरा पड़ा है। इस प्रकार नीति-मुक्तक काव्य के स्थूल रूप से दो भेद हो गए—

१—कान्ता-सम्मित शैली मे अभिव्यक्त, नीति और उपदेश-प्रधान रचनाएँ।

२—विविध प्रकार के कथनमूलक चमत्कारो से विशिष्ट नीति-परक उक्तियाँ जो सूक्तियो के अन्तर्गत आती हैं।

इनके अतिरिक्त भी एक तीसरी प्रकार की रचनाएँ मिलती है। वे शुद्ध नीति-प्रधान रचनाएँ है। इस कोटि की रचनाओ मे न तो कान्ता-सम्मित शैली का ही प्रयोग मिलता है और न किसी प्रकार के चमत्कार की योजना ही पाई जाती है। इस प्रकार की उक्तियो को मै अवर काव्य की श्रेणी मे रखता हूँ। काव्य की सीमा से मैं इन्हे भी नही निकाल सकता क्योकि इनमे भी जन-जीवन को स्पर्श करने का प्रयास मिलता है। जो रचना थोडा भी जन-जीवन या जन-हृदय को स्पर्श करने मे समर्थ हो वह काव्य की सीमा से वहिष्कृत नही की जा सकती।

हिन्दी का नीति-साहित्य—हिन्दी मे एक विस्तृत नीति-साहित्य उपलब्ध है। इसका विस्तृत विवरण डॉ० भोलानाथ तिवारी के 'हिन्दी नीतिकाव्य' पृ० २० पर देखा जा सकता है। प्रसिद्ध नीतिकार और उनकी रचनाओ के नाम इस प्रकार है—

गोरखनाथ ... .. फुटकर पद।
कबीर तथा अन्य सत कवि .... फुटकर पद और साखी।
तुलसी .. . दोहावली।
गग .. .. फुटकर पद।
रहीम .. . दोहावली।
रूपचन्द्र जैन ... ... परमार्थी दोहशतक।
वृन्द ... वृन्द सतसई।
गिरिधर ... .. कुण्डलियाँ।
वाकी दासी . .. नीति मजरी, कृपण दर्पण, सतोष बावनी, भूप भूषण, आदि।
दीनदयाल गिरि ... अन्योक्ति, कल्पद्रुम, दृष्टान्त तरगिणी।
बुध जन ... ... बुध जन सतसई।
हरिऔध ... ... दिव्य दोहावली।
रामचरित उपाध्याय ... सूक्ति शतक।
दुलारेलाल भार्गव ... दुलारे दोहावली के नीति छन्द।

रीति-मुक्तक—रीति शब्द सस्कृत की 'रीङ' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय के योग से व्युत्पन्न हुआ है। 'काव्यालकार सूत्र' मे रीति की परिभाषा देते हुए लिखा है 'विशिष्टा पद रचना रीति' अर्थात् विशेष प्रकार की पद-रचना को रीति कहते हैं। 'विशेषोगुणात्मा' विशेष प्रकार का अर्थ है गुण नामक काव्योपादान से सुशोभित होना। अर्थात् जो रचना गुण नामक विशिष्ट प्रकार के काव्योपादान से विशिष्ट होती है उसे रीति कहते है। वक्रोक्तिकार ने रीति की परिभाषा कुछ अधिक व्यापक रूप मे की है। उन्होने रीति को 'कवि प्रधान हेतु' कहा है। आनन्दवर्द्धन ने 'वाक्य वाचक चारुत्व हेतु' कहा है। इन सबका अभिप्राय यही है कि रीति विविध काव्योपादानो से विशिष्ट रचना को कहते हैं। धीरे-धीरे रीति का यह अर्थ और भी अधिक व्यापक हो गया और वह सामान्यतया परम्परागत रस, गुण,

अलकारादि काव्योपादानो से विशिष्ट रचना का वाचक बन गया। इन सब उपादानो से विशिष्ट रचना को स्वभावत रीतिवद्ध रचना कहा जाने लगा। जब निर्पेक्ष फुटकर पदो मे किन्हीं काव्य शास्त्रीय तत्त्वो की अभिव्यक्ति लक्ष्य-लक्षण शैली मे की जाती है, तब उसे रीति-मुक्तक कहते है। हिन्दी के रीतिकाल की अधिकाश रचनाएँ रीति-मुक्तक ही हैं।

मुक्तक और प्रबन्ध मे अन्तर

हमारे प्राचीन सस्कृत आचार्यों ने अभिव्यक्त रूप के आधार पर काव्य के स्थूल रूप से दो विभाग किए है—गद्य और पद्य। पद्य के पुन दो विभाग हुए—मुक्तक और प्रबन्ध। निबद्ध रचनाओ को प्रबन्ध और अनिबद्ध रचना को मुक्तक कहते हैं—

अनिबद्ध मुक्तक निबद्ध प्रबन्धरूपमिति प्रसिद्धि ।

—काव्यालकार सूत्रवृत्ति १। ३। २७

प्रबन्ध और मुक्तक के पारस्परिक अन्तर को स्पष्ट करने का प्रयास आचार्य शुक्ल ने भी किया है। वे लिखते हैं, "यदि प्रबन्ध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २४७) अधिक स्पष्ट करना चाहे तो कह सकते है यदि एक माला है तो दूसरा केवल एक सुमन।

प्रबन्ध और मुक्तक दोनो ही पद्यात्मक काव्य के दो प्रकार है। रमणीयता, अभिव्यक्ति-सौष्ठव और चमत्कार-योजना की दृष्टि से दोनो मे कोई मौलिक भेद नही होता। भेद होता है पूर्वापर सम्बन्ध निर्वाह तथा निरूप्य वस्तु की दृष्टि से।

प्रबन्ध मे सर्वत्र सानुबन्ध कथा होती है। उस कथा में पूर्वापर-सम्बन्ध-निर्वाह, प्रकथन-प्रवाह, कथावस्तु का सुगठित विन्यास एव साग रस परिपाक अवश्य पाया जाता है। मुक्तक काव्य मे इन सब बातो का अभाव रहता है। इनके स्थान पर उसमे निरपेक्ष चित्रण, चमत्कार योजना, रसाभिव्यक्ति आदि तत्त्व विद्यमान रहते है। दोनो काव्य-रूपो मे दूसरा अन्तर वर्ण्य विषय को लेकर स्पष्ट किया जा सकता है। प्रबन्ध मे सम्पूर्ण जीवन की झाँकी प्रस्तुत की जाती है जब कि मुक्तक मे उसके किसी रमणीय पक्ष के सौन्दर्योद्घाटन पर ही ध्यान केन्द्रित रहता है।

प्रबन्ध काव्य के प्रमुख तत्त्व

प्रबन्ध काव्य के स्वरूप की मीमासा भारतीय और पाश्चात्य सभी विद्वानो ने की है। भारतीय विद्वानो मे सस्कृत और हिन्दी आचार्यो के दृष्टिकोण विशेष रूप से दृष्टव्य है।

सस्कृत आचार्यो का मत—सस्कृत मे प्रबन्ध के स्वरूप पर विस्तृत प्रकाश डालने वालो मे ध्वन्यालोककार आनन्दवर्द्धन का नाम ही विशेष उल्लेखनीय है। उनसे अधिक व्यापक एवं विस्तृत विवेचन और किसी आचार्य ने नही किया है।

ध्वन्यालोककार का मत—हमारे यहाँ प्रबन्ध काव्य को मुक्तक की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया जाता रहा है। किन्तु आश्चर्य है कि प्रबन्ध के तत्त्वो की

मीमासा बहुत कम आचार्यों ने की है। केवल ध्वन्यालोककार ने इसका विस्तृत विवेचन किया है। ध्वन्यालोककार ने प्रबन्ध के निम्नलिखित प्रमुख तत्त्व बताए हैं—

१. विभाव भावानुभाव संचार्यौचित्य चारुण ।
विधि. कथा शरीरस्यवृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ॥

अर्थात् प्रबन्धकाव्य मे कवि भाव, विभाव, अनुभाव, सचारी भाव के औचित्य से रमणीय भूत, ऐतिहासिक अथवा कल्पित कथावस्तु की प्रतिष्ठा करता है।

२ इतिवृत्तवशायाता त्यक्त्वाऽ नुनुगुणा स्थितिम् ।
उत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्ट रसोचित कथोन्नय ॥

अर्थात् सफल प्रबन्धकार ऐतिहासिक कथा के उन अशो को जिनसे रस-परिपाक मे कोई सहायता नही मिलती, काट-छाँट कर रस के पोषण करने वाले अशो की कल्पना करता है। इस प्रकार कथा का सस्कार भी बड़ा आवश्यक होता है।

३ सन्धिसन्ध्यग घटन रसाभिव्यक्त्यपेक्षया ।
न तु केवलया शास्त्र स्थितिसम्पादनेच्छया ॥

अर्थात् प्रबन्ध मे वस्तु-विन्यास भी समुचित रूप मे किया जाना चाहिए। इसके लिए सन्धि, सन्ध्यगो का यथास्थान नियोजन होना चाहिए। किन्तु कवि को ऐसा केवल शास्त्रीय विधान की लकीर पीटने की दृष्टि से नही करना चाहिए। ऐसा करते समय उसे इसके गौरव को ध्यान मे रखना चाहिए।

४. उद्दीपन प्रशमने यथावसरमन्तरा ।
रसस्यारब्धविश्रान्तरनुसन्धानमगिन ।

अर्थात् इस बात को सदैव ध्यान मे रखना चाहिए कि कहाँ पर रसो के उद्दीप्त स्वरूप प्रस्तुत करने हैं और कहाँ उसका प्रशमित रूप नियोजित करना है।

इसके साथ ही साथ प्रधान रस का भी सदैव स्मरण रखना चाहिए। उसकी उपेक्षा कदापि नही होनी चाहिए।

५. अलकृतीना शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम् ।
प्रबन्धस्य रसादीना व्यजकत्वे निबन्धनम् ॥

अर्थात् अलकारो की योजना रसानुरूप ही होनी चाहिए।

प्रबन्ध के उपर्युक्त स्वरूप निरूपण का अध्ययन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि ध्वन्यालोककार ने प्रबन्ध कथा मे रस के समुचित परिपाक को ही सबसे अधिक महत्त्व दिया है। कथा का प्रकथन, प्रवाह एव विन्यास सब कुछ रस को दृष्टि मे रखकर किया जाना चाहिए। यह ही आचार्य आनन्दवर्द्धन का प्रमुख मन्तव्य प्रतीत होता है।

प्रबन्ध स्वरूप के सम्बन्ध मे प्रसिद्ध हिन्दी विद्वानो का दृष्टिकोण

हिन्दी मे प्रबन्ध के स्वरूप पर बहुत कम विद्वानो ने विचार किया है। विचार करने वाले विद्वानो मे भी आचार्य शुक्ल का दृष्टिकोण विशेष रूप से दृष्टव्य है।

आचार्य शुक्ल का मत—शुक्ल जी ने प्रवन्ध के स्वरूप पर विचार करते हुए लिखा है, "प्रवन्ध काव्य में मानव जीवन का एक पूर्ण दृश्य होता है। उसमे घटनाओ की सम्वद्ध शृखला और स्वाभाविक क्रम से ठीक-ठीक निर्वाह के साथ-साथ हृदय को स्पर्श करने वाले तथा उसे नाना भावो का रसात्मक अनुभव कराने वाले प्रसगो का समावेश होना चाहिए। इतिवृत्त के निर्वाह से रसानुभव नही कराया जा सकता। उसके लिए घटनाचक्र के अन्तर्गत ऐसी वस्तुओ और व्यापारो का प्रतिविम्ववत चित्रण होना चाहिए जो श्रोता के हृदय मे रसात्मक तरगें उठाने में समर्थ हो। अत. कवि को कही तो घटना का सकोच करना पडता है और कही विस्तार।

—जायसी ग्रन्थावली, पृ० ६६

पाश्चात्य विद्वानों के मत—पाश्चात्य विद्वानो ने प्रवन्ध काव्य पर भी विचार किया है।

अरस्तू का मत—अरस्तू ने प्रवन्ध काव्य मे निम्नलिखित वातो का होना आवश्यक वताया है —

१. प्रवन्ध काव्य की कथावस्तु ट्रेजडी के सदृश नाटकीय ही होनी चाहिए।

२ उसमे किसी एक व्यापक कार्य की प्रतिष्ठा होनी चाहिए।

३. कथा मे आरम्भ, मध्य एव अन्त, यह तीनो अश समुचित रूप से विन्यस्त और स्पष्ट होने चाहिएँ।

४. प्रवन्धकाव्य का कथानक सरल एव स्वाभाविक भी हो सकता है और जटिल तथा क्लिष्ट भी।

५ ट्रेजडी के सदृश ही प्रवन्ध काव्य की कथावस्तु मे परिवर्तन, अनुसधान एव आपत्ति का नियोजन किया जाना चाहिए।

६ गौरवमयी शैलियो मे भावो की सुन्दर अभिव्यजना की जानी चाहिए।

७ उसमे प्रमुख कथा के साथ वहुत सी प्रासगिक कथाएँ भी होनी चाहिएँ। वे एक दूसरे से पूर्णतया सम्वद्ध होनी चाहिएँ।

प्रवन्ध के स्वरूप की पुनर्व्याख्या

उपर्युक्त मतो का यदि मनोयोग के साथ अध्ययन करें तो दो वातें स्पष्ट हो जायँगी। एक यह कि भारतीय विद्वान् रस को प्रवन्ध का निवद्धक सूत्र मानते है, जवकि पाश्चात्य विद्वानो के मतानुसार कार्य कथा का निवद्धक सूत्र होता है। इस भेद के अतिरिक्त शेष वातें पौरस्त्य और पाश्चात्य दोनो स्थानो के आचार्यों को समान रूप से मान्य है। वे क्रमश इस प्रकार हैं—

१. सानुवन्ध प्रवाहपूर्ण प्रकथन।

क—आधिकारिक और प्रासगिक कथाओ का सुसम्वद्ध होना।

ख—कार्यान्विय।

ग—कथा का प्रवाह।

घ—सम्वन्ध निर्वाह।

ङ—रोचकता।

(i) छोटे-छोटे विनोद-पूर्ण सवादो और प्रसगो की योजना।
(ii) नाटकीय परिवर्तनो की योजना।
(iii) नाटकीय विषमताओ की योजना।
(iv) घटनाओ की सकारणता।
(v) इतिवृत्तात्मक और रसात्मक वर्णनो का सामजस्य।

२ जीवन के किसी सम्पूर्ण दृश्य का रसात्मक प्रकथन।
३ पात्रों का चरित्र-चित्रण।
४. पात्रों द्वारा भाव-व्यजना।

१ **सानुबन्ध प्रवाहपूर्ण प्रकथन**—प्रबन्ध काव्य की प्राणभूतविशेषता सानुबन्ध प्रवाहपूर्ण प्रकथन होता है। इस शीर्षक के अन्तर्गत निम्निलिखित बातें विचारणीय है—

क—आधिकारिक कथा और प्रासगिक कथाओ का सुसम्वद्ध होना।
ख—कार्यान्विय।
ग—कथा का प्रवाह।
घ—सम्बन्ध निर्वाह।

अधिकारिक और प्रासगिक कथाओं का सुसम्वद्ध होना—प्रत्येक विस्तृत प्रवन्ध मे हमे प्राय दो प्रकार की कथाएँ मिलती है—आधिकारिक और प्रासगिक। सुनिबद्ध रचना वही कही जायगी जिसमे दोनो प्रकार की कथाए सुसम्वद्ध हो। सच तो यह है कि समस्त प्रासगिक कथाएँ आधिकारिक कथा की पोषिका और बल प्रदान करने वाली होनी चाहिए, ठीक उसी तरह जिस तरह छोटी-छोटी नदियाँ किसी बड़ी नदी से स्थान-स्थान पर मिल कर उसका पोषण करती हैं। जिस प्रकार छोटी-छोटी नदियाँ बडी नदी के समानान्तर या उससे अलग रहकर महत्वहीन हो जाती है, उसी प्रकार वे प्रासगिक कथाएँ जो आधिकारिक कथा से सुसम्वद्ध होकर उसकी पोषिका नही बनती, महत्त्वहीन हो जाती है। साथ ही रचना का प्रवन्धतत्त्व सुनिबद्ध नही रहता। अब प्रश्न यह है कि प्रासंगिक कथाएँ किस प्रकार आधिकारिक कथाओ का पोषण कर सकती है। यह पोषण प्रक्रिया द्विविध हो सकती है। एक तो नायक के चरित्र को स्पष्टतर एव उदात्ततर बनाकर, दूसरे प्रमुख कार्य को बल प्रदान करके। चरित्र-प्रधान प्रबन्धो मे पहली प्रक्रिया-प्रधान रहती है और घटना-प्रधान प्रवन्ध मे द्वितीय।

कार्यान्विय—प्रत्येक प्रवन्ध मे कोई कार्य अवश्य रहता है। उस कार्य के अनेक पोषक क्रिया व्यापार रहते हैं। उन सबमें एक अन्विति होनी चाहिए। अगर उनमे परस्पर अन्विति नही होती तो प्रबन्ध की निबद्धता सुमफल नही कही जायगी। इसके लिए आदि, मध्य और अन्त का सुसम्वद्ध और स्पष्ट होना आवश्यक होता है।

कथा का प्रवाह—आचार्य शुक्ल ने प्रवन्ध के सम्बन्ध-निर्वाह के अन्तर्गत गति के विराम के विचार को महत्त्व दिया है। सफल प्रबन्ध की कथावस्तु मे अनावश्यक विराम नही होने चाहिए। अनावश्यक विराम कथा के प्रवाह को अवरुद्ध करते हैं। सफल प्रवन्ध मे कथा का प्रवाहयुक्त होना बडा आवश्यक होता है। कथा मे प्रवाह की रक्षा और निर्वाह के लिए निम्नलिखित बातो पर ध्यान देना चाहिए—

१. मुख्य-मुख्य दृश्यो को परस्पर अन्वित होना चाहिए।

२ कवि को वर्णन के प्रसग मे इस वात पर सदैव ध्यान देना चाहिए कि वह किसी ऐसी वात के वर्णन मे तो नही रमा जा रहा है, जो कथा की प्रमुख घटना, प्रमुख पात्र, प्रमुख दृश्य अथवा प्रमुख क्रिया-व्यापार का पोषण और विकास करने मे असमर्थ है। इस प्रवाह को वनाए रखने के लिए कवि को रोचक प्रभावोत्पादक एव प्रभावान्वितिमूलक सवादो का योजना करनी चाहिए। यदि प्रवन्ध मे सवादो के लिए विशेष स्थान न हो तो कवि को रोचक चित्रणो के सहारे कथा मे प्रवाह उत्पन्न करने की चेष्टा करनी चाहिए जिससे पाठको का मन न ऊव उठे।

सम्बन्ध निर्वाह—कथा मे प्रवाह वनाए रखने के लिए सम्वन्ध निर्वाह वडा आवश्यक होता है। सम्वन्ध की रक्षा के लिए कवि को कही-कही सकेत, अनुमान, स्वप्न, स्मृति आदि नाटकीय उपकरणो का आश्रय लेना पडता है। इन सवके सहारे वह कथा की टूटती हुई शृखला की रक्षा करने मे समर्थ होता है।

रोचकता—कथा के प्रवन्धत्व के निर्वाह के लिए उसमे रोचकता और उत्सुकता आदि का वनाए रखना वडा आवश्यक है। कथा मे रोचकता की प्रतिष्ठा कई प्रकार से की जा सकती है।

१—छोटे-छोटे विनोदपूर्ण सवादो और प्रसगो की योजना से।

२—नाटकीय परिवर्तनो की योजना से।

३—नाटकीय विषमताओ की योजना से।

विनोदपूर्ण प्रसगो की योजना से कभी-कभी कथा-प्रवाह भी सुरक्षित हो जाता है, और कथा की गम्भीरता और शिथिलता भी निराकृत हो जाती है। उदाहरण के लिए साकेत मे हम उर्मिला के सवाद को ले सकते हैं। इस सवाद ने कथा वर्णन एव प्रवन्धत्व मे प्राण फूंक दिये है। सफल प्रवन्धकार सदैव इस प्रकार के प्रसगो की कल्पना कर लेते है।

ड्रेमेटिक टर्न या नाटकीय परिवर्त्तन भी कथा मे रोचकता वनाए रखने में समर्थ होते है। परिस्थितियो को जव कवि सहसा ऐसी आकस्मिक मोड़ दे देते हैं, जिनकी कोई आशा नही होती, तव ऐसे परिवर्त्तनो को देखकर पाठक स्तम्भित और मन्त्र-मुग्ध हो जाते हैं।

१. **नाटकीय विषमता**—प्रवन्ध मे रोचकता की प्रतिष्ठा कभी-कभी नाटकीय विषमता के द्वारा भी हो जाती है। कभी-कभी कवि ऐसी वात कह देता है जिसके दो अर्थ निकलते है। एक अर्थ वर्त्तमान से सम्वन्धित रहता है और दूसरा किसी भावी घटना का सकेत होता है। यह विषमता प्राय दो प्रकार की होती है—एक परिस्थिति-जन्य दूसरी शब्द-जन्य। सफल प्रवन्धकार इनकी योजना कर वर्णन मे रोचकता उत्पन्न करने मे समर्थ होते है।

सफल प्रवन्ध के लिए यह भी वडा आवश्यक होता है कि घटनाएँ सकारण और पूर्वापर सम्वन्ध से युक्त हो। कवि अपने प्रवन्ध मे जिन घटनाओ को नियोजित कर वे उनके घटित होने के कारण को किसी न किसी प्रकार से निर्दिष्ट अवश्य

कर दे। ऐसा करने से पाठको की जिज्ञासा वृत्ति परितृप्त रहेगी और प्रबन्ध की निवद्धना सफल रहेगी।

प्रत्येक प्रवन्ध मे वस्तु वर्णन दो प्रकार के मिलते हैं—एक इतिवृत्तात्मक और दूसरे रसात्मक। रसात्मक प्रसगो की रसात्मकता भाव-व्यजना पर आश्रित रहती है। इतिवृत्तात्मक प्रसगो का महत्त्व केवल दो बातो मे शृखला जोडने की दृष्टि से होता है। रसात्मक प्रसग उनकी नीरसता और शिथिलता को निराकृत करके प्रवन्ध को रोचक और सरस वना देते हैं। अत यह आवश्यक होता है कि इतिवृत्तात्मक वर्णन के साथ-साथ रसात्मक वर्णन भी गुथे हुए हो। यह रसात्मक वर्णन पात्रो द्वारा भाव-व्यजना के रूप मे होते हैं, या विनोदपूर्ण परिस्थितियो के रूप मे, या फिर सरस दृश्य वर्णन के रूप मे होते हैं।

२. जीवन के किसी सम्पूर्ण दृश्य का रसात्मक प्रकथन—प्रवन्ध-काव्य के कथानक ऐतिहासिक और कल्पित दोनो ही प्रकार के हो सकते है, किन्तु उनका विपय जीवन का कोई सम्पूर्ण दृश्य होना चाहिए। यदि जीवन के किसी एक अश का ही वर्णन किया गया हो तो भी उसका पूर्ण और व्यापक होना आवश्यक होता है।

३ पात्रों का चरित्र-चित्रण—प्रवन्ध-काव्य में जीवन के किसी एक पूर्ण दृश्य का चित्रण रहता है। प्रत्येक पूर्ण दृश्य कई पात्रो के क्रियाकलापो से मिल कर वनता है। अत प्रवन्ध मे पात्रो का चरित्र-चित्रण होना स्वाभाविक है, चाहे वह अनायास हो जाय। एक बात और है—जिस रचना मे एक से अधिक पात्र होते हैं उनमे सवादो का होना अनिवार्य हो जाता है। सवाद चरित्र-चित्रण, प्रकथन, प्रवाह, वस्तु-विकास आदि मे वहुत सहायक होते हैं।

४ पात्रों द्वारा भाव-व्यजना—प्रवन्ध-काव्य मे सारा सौष्ठव पात्रो द्वारा भाव-व्यजना मे रहता है। शुक्ल जी ने इस विशेपता को वहुत महत्त्व दिया है। उन्होने लिखा है कि भाव-व्यजना करते समय दो बातें विचारणीय होती हैं —

(क)—कितने भावो और गूढ मानसिक विकारो तक कवि की दृष्टि पहुँची है।

(ख)—कोई भाव कितने उत्कर्प तक पहुँचा है।

कुछ प्रवन्ध-काव्यो मे भाव-व्यजना का पहला रूप दिखाई पड़ता है। किसी मे दूसरे का सौष्ठव। कुछ महाकवियो में दोनो का सौन्दर्य समान रूप से पाया जाता है।

इस प्रकार हम देखते है कि प्रवन्ध-काव्य का एक निश्चित स्वरूप होता है।

प्रवन्ध काव्य के भेद

प्रवन्ध के भेदो का निर्देश भारतीय और पाश्चात्य दोनो ही विद्वानो ने किया है जिनका हम पृथक्-पृथक् विवेचन करेंगे।

भारतीय विद्वानों के मतानुसार—अधिकाश सस्कृत आचार्यों ने प्रवन्ध के स्थूल रूप से दो भेद माने हैं—महाकाव्य और खण्डकाव्य। कुछ विद्वानो के मतानुसार प्रवन्ध के तीन स्वरूप हो सकते है—महाकाव्य, एकार्थक काव्य और

खण्डकाव्य। राजशेखर ने प्रबन्ध के भी वे ही भेद स्वीकार किए हैं जो मुक्तक के बताए जा चुके हैं।

पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार प्रबन्ध काव्य के भेद—पाश्चात्य आचार्य हडसन प्रबन्ध या नेरेटिव पोयट्री के चार भेद मानते है—वीरगीत (बैलेड), महाकाव्य (ऐपिक), पद्यमय रोमास (मेट्रिकल रोमास), अभिनयात्मक काव्य (ड्रेमेटिक पोयट्री)।

अपना दृष्टिकोण—मै प्रबन्ध काव्यो के स्थूल रूप से तीन विभाग मानने के पक्ष मे हूँ—

१—महाकाव्योन्मुख प्रबन्ध काव्य।

२—महाकाव्य।

३—खण्डकाव्य।

महाकाव्योन्मुख प्रबन्ध काव्य—भारत मे स्थूल रूप से प्रबन्ध काव्य के दो रूप मिलते हैं—महाकाव्य और खण्डकाव्य। किन्तु समस्त प्रबन्ध रचनाएँ इन दोनो विभागो के अन्तर्गत नही आ पाती है। बहुत से ऐसे प्रबन्ध काव्य शेष रह जाते हैं जिनमे न तो महाकाव्य के वैधानिक लक्षण मिलते है और न खण्डकाव्य की विशेषताएँ ही उपलब्ध होती हैं। ऐसे प्रबन्ध अधिकतर लिखे तो महाकाव्य रचना की दृष्टि से जाते हैं, किन्तु किन्ही कारणो से सफल महाकाव्य नही हो पाते। ऐसे प्रबन्ध काव्यो को मै महाकाव्योन्मुख प्रबन्ध काव्य ही मानने के पक्ष मे हूँ। हिन्दी के महाकाव्योन्मुख प्रबन्धो का नामोल्लेख आगे करेंगे।

महाकाव्य—महाकाव्यो के स्वरूप पर पौरस्त्य और पाश्चात्य दोनो कोटि के आचार्यों ने विचार किया है। यहाँ पर उनका उल्लेख कर रहा हूँ।

भामह की परिभाषा—सस्कृत मे महाकाव्य के स्वरूप पर विचार करने वाले सर्वप्रथम आचार्य भामह थे। उन्होंने उसका स्वरूप निर्देश करते हुए लिखा है—

सर्गबन्धो महाकाव्य महता च महच्च यत्।
अग्राम्यशब्दमर्थं च सालकार सदाश्रयम्॥
मन्त्रदूतप्रयाणाजिन ... नायकाभ्युदयचयत्।
पचभि सन्धिभिर्युक्तं नाति व्याख्येयमृद्धिमत्॥

उपर्युक्त पक्तियो मे भामह ने महाकाव्य की निम्नलिखित विशेषताएँ व्यजित की हैं—

१ महाकाव्य मे कई सर्ग होने चाहिएँ।

२ उसमे उदात्त चरित्र वाले किसी महापुरुष का नायक रूप मे वर्णन रहना चाहिए।

३. उसमे किसी महत् कार्य का वर्णन होना चाहिए।

४ उसमे श्लिष्ट एव नागर प्रयोग तथा अलकारो की योजना रहनी चाहिए।

५. जीवन की विविध रूपी झाँकी, प्रस्तुत की जानी चाहिए।

६. उसमे पच सधियो आदि की योजना रहनी चाहिए।

७ कथानक का उपयुक्त सघटन किया जाना चाहिए।

८ उसमे सास्कृतिक सम्वृद्धता होनी चाहिए।

रुद्रट—रुद्रट ने अपने काव्यालकार सूत्र मे महाकाव्य की विस्तृत परिभापा दी है। वह इस प्रकार है—

> सन्ति द्विधा प्रबन्धा काव्यकथाख्यायिकादय काव्ये ।
> उत्पाद्यानुत्पाद्या महल्लघुत्वेन भूयोपि ॥२॥
> तत्रोत्पाद्या येषा शरीरमुत्पादयेत्कवि सकलम् ।
> कल्पितयुक्तोत्पत्ति नायकमपि कुत्रचित्कुर्यात् ॥३॥
> पजरमितिहासादिप्रसिद्धमखिल तदेकदेश वा ।
> परिपूरयेत्स्ववाचा यत्रकविस्ते त्वनुत्पाद्या ॥४॥
> तत्र महान्तो येषु च विततेष्वभिधीयते चतुर्वर्ग ।
> सर्वे रसाश्च क्रियन्ते काव्यस्थानानि सर्वाणि ॥५॥
> × × ×
> सर्गाभिधानि चास्मिन्नवान्तरप्रकरणानि कुर्वीत ।
> सधीनपि सश्लिषस्तेषामन्योन्य सबन्धात् ॥१९॥

रुद्रट की इस परिभाषा मे महाकाव्य की निम्नलिखित विशेषताओ का निर्देश किया गया है—

१ महाकाव्य मे उत्पाद्य अथवा अनुत्पाद्य किसी भी कोटि की पद्यबद्ध कथा रहती है।

२ महाकाव्य की कथा मे प्रसगानुसार अन्य अवान्तर्कथाएँ भी नियोजित की जाती हैं। यह अवान्तर्कथाएँ मूल आधिकारिक कथा की पोषिका होती है।

३ महाकाव्य मे सर्ग होते है। उसकी कथावस्तु का विन्यास नाटकीय तत्वो के ढग पर किया जाता है।

४ महाकाव्य मे सम्पूर्ण जीवन का चित्र प्रस्तुत किया जाता है। इस चित्र का केन्द्र कोई विशेष घटना या कोई साहसिक कार्य हुआ करता है। कवि इस घटना या साहसिक कार्य से सम्बन्धित अनेक प्रकार के लौकिक और अलौकिक वर्णन प्रस्तुत करता है। लौकिक वर्णनो मे प्रकृति वर्णन, नगर वर्णन, वाटिका वर्णन आदि को विशेष महत्त्व दिया जाता है। अलौकिक वर्णनो के अन्तर्गत देवता और स्वर्गादि के चित्र लिये जाते है।

५ महाकाव्य का नायक द्विज कुलोत्पन्न सर्वगुण सम्पन्न विश्व को जीतने की इच्छा रखने वाला कोई वीर योद्धा होता है। वह परम शक्तिवान्, नीतिज्ञ, और सर्वशास्त्र पारगत एव व्यवहारकुशल महापुरुष होता है।

६. उसमे प्रतिनायक और उसके वशादि का भी वर्णन रहता है।

७. महाकाव्य मे नायक की विजय और प्रतिनायक की पराजय दिखाई जाती है। इस दृष्टि से वह एक सुखान्त रचना कही जा सकती है।

८. महाकाव्य का कोई महत् उद्देश्य रहता है। अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष मे से किसी एक की प्रतिष्ठा की जाती है।

९. महाकाव्य मे लगभग सभी रसो की योजना की जाती है। रसात्मकता उसकी प्राणभूत विशेषता है। उत्पाद्य तथा प्रधान महाकाव्यो मे नायक के वंश की प्रशंसा रहती है। उसकी नगरी आदि के सुन्दर वर्णन रहते है।

१०. महाकाव्य मे कुछ अतिप्राकृतिक तत्त्व भी रहते हैं। कुछ ऐसी घटनाएँ और चित्र नियोजित किए जाते हैं जिनसे महाकाव्य मे दिव्यता का सचार होता है।

११. महाकाव्य मे मानव जीवन की ऐसी घटनाओ का वर्णन नही किया जाता जो अस्वाभाविक प्रतीत हो।

हेमचन्द्र की परिभाषा—महाकाव्य को परिभाषाबद्ध करने का प्रयास हेमचन्द्र ने भी किया था। हेमचन्द्र की परिभाषा सूत्रशैली मे व्यक्त की गई है। वह इस प्रकार है—

पद्य प्राय· संस्कृतप्राकृतापभ्रंशग्राम्याभाषानिबद्ध भिन्नान्त्यवृत्तसर्गाश्वाससन्ध्यव-स्कन्ध कबन्धं सत्संधिशब्दार्थवैचित्र्योपेत महाकाव्यम्।

हेमचन्द्र ने उपर्युक्त महाकाव्य की परिभाषा मे दण्डी के लक्षणो के प्रति प्रवृत्ति ही प्रदर्शित की है। इसका प्रमाण यह है कि उपर्युक्त सूत्र की वृत्ति में लगभग दण्डी के द्वारा निर्दिष्ट महाकाव्य के सभी लक्षण दिए हुए हैं।

दण्डी द्वारा दी गई परिभाषा—महाकाव्य की सांग परिभाषा हमे सबसे पहले दण्डी मे मिलती है।

"सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देश वापि तन्मुखम्॥
इतिहास कथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।
चतुर्वर्गफलोपेतं चतुरोदात्तनायकम्॥
नगरार्णवशैलतु चन्द्रार्कोदयवर्णने।
उद्यान सलिल क्रीडा मधुपानरतोत्सवैः॥
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदय वर्णनैः।
मन्त्रदूत प्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि॥
अलकृत सक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्।
सर्गैरनतिविस्तीर्णं श्रव्यवृत्तैः सुसंधिभि·॥
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोक रञ्जनम्।
काव्य कल्पान्तरस्थायि जायते सदलकृति॥"

—काव्यादर्श' प्रथम परिच्छेद

अर्थात् महाकाव्य सर्गबद्ध रचना होती है। उसके प्रारम्भ मे आशीर्वचन नमस्कार वस्तुनिर्देश आदि का विधान रहता है। उसकी कथावस्तु ऐतिहासिक होती है। उसमें सत्य घटना का ही वर्णन किया जाता है। (बहुत से लोग महाकाव्य मे कल्पित कथावृत्त का वर्णन निषिद्ध मानते हैं। देखिए काव्यादर्श की टीका, पृ० १७,

पूना—१६३८)। उसमे अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष आदि मे से किसी एक की फल रूप मे प्रतिष्ठा की जाती है। उसका नायक चतुर और उदात्त गुण सम्पन्न होता है। उसमे नगर, समुद्र, ऋतु, शैल, चन्द्रोदय, सूर्योदय, उद्यान, सलिल क्रीडा, मधुपान, रतोत्सव आदि के मनोरम वर्णन भी रहते है। उसमें विप्रलम्भ शृगार विवाह कुमारोत्पत्ति आदि का नियोजन भी किया जाता है। मन्त्रणा, दूतप्रेषण, युद्ध गमन, विजय आदि के वर्णन भी उसका अग होते हैं। अलकार रस भावादि की उसमे सम्यक योजना की जाती है। उसके सर्ग बडे नही होने चाहिएँ। उसमे यतिभगादि दोष भी नही होना चाहिएँ। कथा सुसगठित होनी चाहिए। उसमे सधियो आदि का यथास्थान नियोजन रहना चाहिए। सर्गों के अन्त मे छन्द परिवतन का विधान भी है। इस प्रकार का महाकाव्य एक ओर तो लोक रजक होता है और दूसरी ओर कल्पान्त स्थायी। दण्डी की इस परिभाषा को विश्लेषणात्मक ढग से रखते हुए हम कह सकते हैं कि उसने महाकाव्य के अन्तर्गत निम्नलिखित तत्वो का होना अनिवार्य बताया।

१—सर्गबद्धता—सर्ग के अन्त मे छन्द परिवर्तन होना चाहिए। सर्ग बहुत बडे नही होने चाहिएँ।

२—प्रारम्भ में मगलाचरण होना चाहिए। यह मगलाचरण तीन प्रकार का हो सकता है। आशीर्वचन रूप नमस्कार रूप वस्तुनिर्देश रूप।

३—कथावस्तु ऐतिहासिक और सदाश्रित होनी चाहिए।

४—चतुर्वर्ग मे से किसी एक की प्राप्ति दिखानी चाहिए।

५—नायक को चतुर और उदात्त गुण सम्पन्न होना चाहिए।

६—उसमे नगर, ऋतु, शैल, समुद्र, चन्द्रोदय, सूर्योदय, उद्यान, सलिल क्रीडा मधुपान, रसोत्सव आदि के वर्णन होने चाहिएँ।

७—उसमे विप्रलम्भ शृगार विवाह पुत्रोत्पत्ति आदि प्रसगो का नियोजन भी किया जाना चाहिए।

८—उसमे मन्त्रणा दूत प्रेषण आदि राजनीतिक बातें भी लानी चाहिएँ।

९—अलकार रस भावादि की सम्यक योजना की जानी चाहिए।

१०—छन्दो मे यतिभग दोष न हो। वे श्रुतिमधुर होने चाहिएँ।

११—कथावस्तु सुसगठित और सधियो से युक्त होनी चाहिए।

दण्डी की इस परिभाषा को आगे चल कर विश्वनाथ ने और अधिक व्यापक और विस्तृत करने की चेष्टा की।

विश्वनाथ की परिभाषा—विश्वनाथ ने अपने साहित्य-दर्पण मे महाकाव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—

सर्गबन्धो महाकाव्य तत्रैको नायक सुर ॥३१५॥
सद्वश क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वित ।
एकवशभवा भूपा कुलजा बहवोपि वा ॥३१६॥
शृंगारवीरशान्तानामेकों रस इष्यते ।
अगानि सर्वेपि रसा सर्वे नाटकसधय ॥१७॥
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ।

चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेक फल भवेत् ॥३१८॥
आदौ नमस्क्रियाभिर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ।
क्वचिन्निन्दा खलोदीना सता च गुणकीर्तनम् ॥३१९॥
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकै. ।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घा सर्गा अष्टाधिका इह ॥३२०॥
नानावृत्तमय क्वापि सर्ग कश्चन दृश्यते ।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथाया. सूचन भवेत् ॥३२१॥
संध्यासूर्येन्दुरजनी प्रदोषध्वान्तवासराः ।
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलवर्तु न सागरा ॥३२२॥
सभोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वरा ।
रणप्रयाणोपयममन्त्र पुत्रोदयादय. ॥३२३॥
वर्णनीया यथायोग सांगोपांगा अमी इह ।
कवेर्वृत्तस्य वा नाना नायकस्येतरस्य वा ॥३२४॥
नामास्य, सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु ।
अस्मिन्नार्षे पुन सर्गा भवन्त्यास्यानुसज्ञका. ॥३२५॥
प्राकृतैर्निर्मिते तस्मिन्सर्गा आश्वाससज्ञका ।
छन्दसा स्कन्धकेनैतत्क्वचिद् गलितकैरपि ॥३२६॥
अपभ्रशनिबद्धेस्मिन्सर्गा कुडवकाभिधाः ।
तथापभ्रशयोग्यानि छन्दासि विविधान्यपि ॥३२७॥
भाषाविभाषा नियमात्काव्य सर्गसमुत्थितम् ।
एकार्थप्रवणै पद्यै. सन्धिसामग्र्यवर्जितम् ॥३२८॥

विश्वनाथ की परिभाषा का विश्लेषणात्मक उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है ।

१. महाकाव्य को सर्गबद्ध होना चाहिए।

(क) सर्ग न छोटे होने चाहिएँ और न बडे होने चाहिएँ ।

(ख) सर्ग आठ से अधिक भी नही होने चाहिएँ । इसी प्रसग मे हम ईशान सहिता के मत का उल्लेख भी कर सकते है । उसमे लिखा है—

"अष्टसर्गान्नतु न्यून त्रिशत्सर्गाच्च नाधिकम् ।
महाकाव्य प्रयोक्तव्यं महापुरुषकीर्तियुक्त ॥"

अर्थात् महाकाव्य मे सर्ग न तो आठ से कम होने चाहिएँ और न तीस से अधिक ।

(ग) सर्ग के अन्त मे भावी कथा की सूचना भी रहनी चाहिए ।

(घ) सर्ग के अन्त मे छन्द परिवर्तन होना चाहिए ।

(ङ) कभी-कभी एक ही सर्ग मे कई छन्दो का प्रयोग भी किया जा सकता है ।

(च) सर्ग का नामकरण भी किया जाना चाहिए ।

२. नायक मे निम्नलिखित गुण होने चाहिएँ ।

(क) वह शूरवीर हो। (ख) वह सद्वंश का हो।
(ग) क्षत्री हो। (घ) धीरोदात्तादि गुणो से युक्त हो।

३ रस—(क) शृगार, वीर, शान्त मे से कोई एक अगी रूप से प्रतिष्ठित किया गया हो।

(ख) शेष रस अग रूप मे अपनाए गए हो।

४ वृत्त —(क) ऐतिहासिक होना चाहिए।

(ख) सदाश्रित होना चाहिए।

५. फल—अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष मे से किसी एक फल की प्रतिष्ठा की जानी चाहिए।

६ वस्तु—सगठित हो और उसमे नाटक की सधि सध्यगो का नियोजन किया गया हो।

७ ग्रन्थ के आरम्भ मे नमष्क्रिया अथवा वस्तु निर्देश होना चाहिए।

८ इसमे कही-कही पर सज्जनो की प्रशसा और खलो की निन्दा होनी चाहिए।

९. इसमे प्रकृति वर्णन के रूप मे सन्ध्या वर्णन, सूर्योदय, चन्द्रोदय आदि का नियोजन भी रहना चाहिए। इनके अतिरिक्त जीवन के और भी प्रसगो की रमणीय योजना की जा सकती है।

इस प्रकार साहित्य दर्पणकार ने महाकाव्य के स्वरूप का निरूपण किया है दण्डी और विश्वनाथ दोनो की परिभाषाओ मे कोई मौलिक अन्तर नही है।

उपर्युक्त परिभाषाओ के प्रकाश मे महाकाव्य का रूप

सस्कृत आचार्यो द्वारा दी गई उपर्युक्त महाकाव्य की समस्त परिभाषाओ को यदि मिला कर एक व्याख्यात्मक परिभाषा देने का प्रयास किया जाय तो निम्न-लिखित विशेषताएँ प्रकट होगी।

१. कथावस्तु—(क) भारतीय महाकाव्य की परिभाषाओ मे कथानक के सम्बन्ध मे सर्वत्र यही वल दिया गया है कि वह महत् होनी चाहिए।

(ख) वस्तु का विन्यास सर्गो मे किया जाना चाहिए।

(ग) नाटको की सधियो आदि की योजना भी यथास्थान की जानी चाहिए।

(घ) महाकाव्य की प्रमुख कथावस्तु का प्राण कोई घटना होनी चाहिए। सम्पूर्ण कथा उसी घटना के विस्तार रूप मे वर्णित की जानी चाहिए। जितनी अन्य छोटी-छोटी घटनाएँ महाकाव्य मे नियोजित की जायँ उनके नियोजन मे सदैव इस वात पर ध्यान रखना चाहिए कि वे मूल घटनाओ की पोषिका हो।

(ङ) महाकाव्यो की कथावस्तु मे सर्वत्र सक्रियता होनी चाहिए। उससे महाकाव्य मे एक सजीवता आ जाती है।

(च) महाकाव्य मे प्रमुख कथा के साथ-साथ कुछ अवान्तर्कथाएँ भी नियोजित की जा सकती है किन्तु यह मुख्य कथा की पोषिका वना कर ही नियोजित की जानी चाहिए।

(छ) कथावस्तु उत्पाद्य, अनुत्पाद्य और मिश्र तीनों प्रकार की होती है किन्तु महाकाव्यो मे अधिकतर अनुत्पाद्य और मिश्र कथाओ की ही योजना की जाती है।

२ चरित्र—(क) महाकाव्य का सबसे महान् तत्व नायक होता है। यह नायक धीरोदात्त, अभिजातकुलोद्भूत कोई देवता या महापुरुष होता है। रुद्रट के मतानुसार नायक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन्ही तीन जातियो मे से किसी जाति का होना चाहिए। दण्डी के मतानुसार कोई भी धीरोदात्त चतुर व्यक्ति नायक हो सकता है। विश्वनाथ एक ही महाकाव्य मे कई नायको की स्थिति मे भी विश्वास करते है।

(ख) महाकाव्य मे नायक के साथ ही साथ प्रतिनायक भी होना चाहिए।

३. वस्तु व्यापार चित्रण—भारतीय आचार्यों ने महाकाव्य मे विविध प्रकार के चित्रणो का होना बहुत आवश्यक ठहराया है। प्राय सभी आचार्यों ने नगर वर्णन, समुद्र वर्णन, सन्ध्या वर्णन, प्रात वर्णन आदि-आदि की स्थिति को महाकाव्य का आवश्यक लक्षण माना है। प्रकृति वर्णनो के साथ ही साथ महाकाव्यों में प्रेम, विवाह, मिलन, कुमारोत्पत्ति आदि घटनाओ के नियोजन को भी आवश्यक बताया गया है।

रस और भाव-व्यजना—भारतीय आचार्य भाव और रस मे अन्योन्याश्रय भाव सम्बन्ध मानते है। भाव के बिना रस और रस के बिना भाव अपूर्ण रहता है। इसीलिए महाकाव्यो मे जिस प्रकार भाव योजना को महत्त्व दिया गया है उसी प्रकार रस निष्पत्ति को भी उसका परमावश्यक अग ठहराया गया है। भारतीय दृष्टि मे महाकाव्य मे शृगार, वीर, करुणा आदि मे से कोई रस अगी रूप मे होना चाहिए और शेष रस उसके अग बनकर नियोजित किए जाने चाहिएँ। घटना प्रवाह, वस्तु व्यापार योजना और भाव-व्यजना रस निष्पत्ति के बिना नीरस रहते है।

अति प्राकृतिक तत्त्व—भारतीय महाकाव्यो मे बहुत से अति प्राकृतिक और अलौकिक तत्त्वो की प्रतिष्ठा भी पाई जाती है। विश्वनाथ ने इसका सकेत मात्र किया है और रुद्रट ने इस प्रकार के तत्त्वो की प्रतिष्ठा को महाकाव्य का आवश्यक अग बताया है।

शैली और रूप-विधान—भारतीय आचार्यों ने महाकाव्य की शैली और उसके रूप का निरूपण करने का भी प्रयास किया है। रूप और शैली से सम्बन्धित महाकाव्य मे निम्नलिखित तत्त्वो का होना भारतीय आचार्यो की दृष्टि मे अनिवार्य है—

(क) महाकाव्य एक सर्गबद्ध रचना होती है। आचार्यो के अनुसार उसमे ८ से अधिक सर्ग होने चाहिएँ। कुछ आचार्य सर्गो की सख्या के प्रतिबन्ध को महाकाव्य की रचना के लिए आवश्यक नही मानते है। सर्ग के अन्त मे भावी कथा की सूचना देने की भी प्रथा है।

(ख) महाकाव्य का नामकरण अधिकतर नायक के नाम पर किया जाता है।

(ग) महाकाव्य के प्रारम्भ मे मगलाचरण, वस्तु निर्देश आदि भी रहना चाहिए।

(घ) कुछ आचार्यो के अनुसार महाकाव्य के प्रारम्भ मे खलो की निन्दा और

सज्जनो की प्रशसा भी रहनी चाहिए ।

(च) महाकाव्यो के अन्त मे रुद्रट के अनुसार नायक की विजय दिखाई जानी चाहिए । हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने महाकाव्य के अन्त मे उपसहारात्मक वर्णनो का होना भी आवश्यक माना है । उनका मत है कि महाकाव्य के अन्त में कवि के इष्टदेव का नाम, महाकाव्य रचना का हेतु, मगलवाची वाक्य अवश्य रखे जाने चाहिएँ ।

(छ) छन्द—भारतीय आचार्यों ने महाकाव्य के छन्द-विधान पर भी विचार किया था । भामह और रुद्रट ने छन्द-विधान के सम्बन्ध मे कुछ नही लिखा है । छन्दो पर सर्वप्रथम विचार करने का श्रेय दण्डी को है । उसके मतानुसार प्रत्येक सर्ग मे एक ही छन्द होना चाहिए । सर्ग के अन्त मे छन्द परिवर्तन भी रहना चाहिए । विश्वनाथ ने दण्डी के भाव को और विस्तृत करने की चेष्टा की है । उन्होने लिखा है कि एक ही सर्ग मे कई छन्दो का प्रयोग भी किया जा सकता है ।

(ज) अलकार—अधिकाश भारतीय आचार्यों ने महाकाव्य मे अलकारो की योजना को भी आवश्यक ठहराया है । भामह ने 'सालकार' और दण्डी ने 'अलकृत' शब्दो के प्रयोग से महाकाव्य की आलकारिकता ही व्यजित की है । हेमचन्द्र ने तो अलकारो की स्थिति को महाकाव्य मे अनिवार्य-सा ही व्यजित किया है ।

(झ) भाषा—महाकाव्य की भाषा के सम्बन्ध मे प्राचीन आचार्यों ने कुछ विशेष नही लिखा है । केवल भामह ने इतना सकेत अवश्य किया है कि महाकाव्य मे ग्राम्य शब्दो और अर्थों का प्रयोग न करके शिष्ट और नागर जनो में प्रचलित भाषा ही का प्रयोग करना चाहिए । हेमचन्द्र ने भाषा के सम्बन्ध मे प्रत्यक्ष रूप से तो कुछ नही लिखा है किन्तु समस्त लोकरजकत्व को महाकाव्य का प्रमुख गुण बतलाकर उन्होने भाषा की बोधगम्यता और सरलता व्यजित की है । महाकाव्य की शैली जैसा कि पीछे कह चुके है, उदात्त और गम्भीर होती है । भाषा उस शैली के अनुरूप ही होनी चाहिए । दूसरे शब्दो मे हम यो कह सकते है कि महाकाव्य की भाषा प्रौढ, सयत और गम्भीर होनी चाहिए ।

(ट) गठन विधि—महाकाव्य एक उच्चकोटि की काव्य विधा है । उसकी कथावस्तु वैधानिक दृष्टि से पूर्ण गठित होनी चाहिए । इसके लिए कवि को नाटकीय सधियो आदि की योजना करनी चाहिए । प्रसिद्ध कथा को कल्पना-सूत्रो मे इस प्रकार बाँध देना चाहिए कि महाकाव्य मे रोचकता भी आ जाय, पात्रो के चरित्र उदात्त भी बन जायँ और काव्यत्व का भी सम्यक स्फुरण होने लगे । यहाँ पर एक प्रश्न उठता है, वह यह कि क्या प्राचीन भारतीय आचार्य ऐतिहासिक कथाओ मे कल्पना की पुट को महत्त्व देते थे या नहीं । इस सम्बन्ध मे रुद्रट ने स्पष्ट लिखा है कि इतिहास और पुराण आदि से कथा का ककाल मात्र लिया जाना चाहिए । उसमे रग भरने का कार्य कवि को अपनी कल्पना के द्वारा ही करना चाहिए ।

(ठ) उद्देश्य—भारतीय दृष्टि मे महाकाव्य मे कोई महत् उद्देश्य अवश्य सन्निहित रहना चाहिए । दण्डी और हेमचन्द्र ने महत् उद्देश्य का सकेत करते हुए—

'चतुर्वर्गफलायुक्तम्' तथा 'चतुर्वर्गफलोपायत्तम ।'

आदि शब्दो का प्रयोग किया है। इनसे प्रकट है कि महाकाव्य मे अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष मे से किसी एक की प्राप्ति अवश्य दिखाई जानी चाहिए।

(ङ) व्यवहार ज्ञान और शास्त्र ज्ञान की प्रतिष्ठा—भारतीय आचार्यों के अनुसार महाकाव्य मे कवि के शास्त्र ज्ञान और उसके व्यवहार ज्ञान की प्रतिछाया भी रहनी चाहिए। यद्यपि प्राचीन परिभाषाओ मे इस सम्बन्ध मे कोई स्पष्ट उल्लेख नही मिलता है परन्तु पण्डित परम्परा इसे भी महाकाव्य की एक विशेषता स्वीकार करती आई है।

इस प्रकार हम देखते है कि भारत मे महाकाव्य के स्वरूप पर बडी सूक्ष्मता के साथ विचार किया गया है। भिन्न-भिन्न आचार्यो के स्वरूप निरूपण मे जो अन्तर दिखाई पडता है उसका कारण लक्ष्य भेद है। कुछ आचार्यो ने अपनी परिभाषाएँ प्राचीन रामायण, महाभारत आदि के आधार पर निश्चित की थी, कुछ ने प्राकृत और अपभ्र श के महाकाव्यो के आधार पर महाकाव्य के स्वरूप को परिभाषाबद्ध करने का प्रयास किया था। कुछ की परिभाषाएँ परवर्ती सस्कृत के महाकाव्य को दृष्टि मे रखकर बनाई गई थी। इन तीनो कोटियो के महाकाव्यो मे परस्पर थोडा-बहुत अन्तर है। इस अन्तर के कारण ही भिन्न-भिन्न आचार्यों की महाकाव्य सम्बन्धी परिभाषाओ मे भी अन्तर दिखाई पडता है। किन्तु यह अन्तर तात्विक न होकर बहुत कुछ व्यावहारिक मात्र है।

महाकाव्य के विविध भेदोपभेद—हमारे यहाँ महाकाव्य के भेदोपभेदो पर कोई स्वतन्त्र रूप से विचार नही किया गया। जिन आचार्यो ने महाकाव्य के स्वरूप का निर्देश किया है उनकी दृष्टि मे अधिकतर सस्कृत के महाकाव्य ही थे। सस्कृत के महाकाव्यो के भी हमे कई रूप दिखाई पडते हैं—

१. अश्वघोष और कालिदासकालीन रीतिमुक्त महाकाव्य।

२. परवर्त्ती रीतिबद्ध महाकाव्य जिनमे नैषधीय चरित, शिशुपाल-वध, आदि-आदि उल्लेखनीय हैं।

३ श्लिष्ट महाकाव्य। इस कोटि के महाकाव्यो मे एक साथ ही श्लेष के बल पर कई कथाएँ वर्णित की जाती हैं। जैसे राघव पाण्डवीय।

४. रीतिनियमो की उपेक्षा करनेवाले महाकाव्य। जैसे हर विजय आदि।

जहाँ तक काव्य-सौष्ठव और कला का सम्बन्ध है केवल उपर्युक्त दो प्रकार के महाकाव्य ही महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। प्रथम कोटि मे महाकाव्यो का स्वाभाविक सौन्दर्य मिलता है और दूसरी कोटि के महाकाव्यो मे रीतिकालीन चमत्कार की प्रधानता पाई जाती है। शेष अन्य कोटि के काव्यो मे निम्न कोटि के ऊहात्मक चमत्कार की ही प्रधानता दिखलाई पड़ती है। बहुतो मे तो अनावश्यक विस्तार भी किया गया है। बहुतो की कथावस्तु सुसम्बद्ध भी नहीं है। इस कोटि के महाकाव्य वास्तव मे महाकाव्य अभिधान के अधिकारी नही है। महाकाव्य के कुछ लक्षणो का पालन करने के कारण उन्हे महाकाव्य कहने की परिपाटी चल पडी और आज तक उसी का अधानुसरण किया जा रहा है।

सस्कृत के उपर्युक्त कोटि के महाकाव्यो मे से किसी एक को ही दृष्टि मे रख

कर भिन्न-भिन्न आचार्यों ने महाकाव्य के लक्षणो का निर्देश किया था। उपर्युक्त भेदो के कारण ही उनके लक्षणो मे भी थोडा-बहुत अन्तर दिखाई पडता है। कुछ आचार्यों ने पालि और अपभ्रश के चरित काव्यो को दृष्टि मे रखकर भी महाकाव्य के लक्षणो का निर्माण किया था।

शम्भूनाथ सिंह ने 'हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास' शीर्षक अपनी थीसिस मे पौराणिक शैली, ऐतिहासिक शैली और रोमाचक शैली के महाकाव्य भी माने हैं। इन तीनो कोटि के महाकाव्यो के उदाहरण अधिकतर उन्होने अपभ्रश साहित्य से लिए हैं। मैं उनके मत से सहमत नही हूँ। अपभ्रश के अधिकाश वर्णनात्मक काव्य केवल प्रबन्धकाव्य मात्र हैं महाकाव्य नही। जैन कवियो का लक्ष्य काव्य-सौष्ठव प्रदर्शित करना नही था, जैन शिक्षाओ को प्रबन्ध काव्य के माध्यम से व्यक्त करना मात्र था। उनकी कथावस्तु मे इतिवृत्तात्मक वर्णनो की अधिकता है, रसात्मक वर्णन बहुत सीमित है। कथावस्तु का विन्यास क्रम कही पर भी नाटकीय तत्त्वो के आधार पर नही मिलता। कथाओ मे प्रभावान्विति और कार्यान्विति भी बहुत कम मिलती है। वर्णनो मे कवियो ने नियन्त्रण और सयम से काम नही लिया। इन्ही सब कारणो से मैं उनको महाकाव्य न कहकर केवल प्रबन्धकाव्य मात्र मानता हूँ। यदि इनको महाकाव्य मान लेगे तो महाकाव्य शब्द का दुरुपयोग करना ही कहा जायगा।

महाकाव्य की पाश्चात्य परिभाषाएँ

पाश्चात्य साहित्य मे भी महाकाव्य के स्वरूप पर पर्याप्त विचार किया गया है। अरस्तू से लेकर आज तक महाकाव्य की सैकडो परिभाषाएँ दी गई हैं। महाकाव्य की प्राचीन परिभाषाओ मे अरस्तू की परिभाषा और नवीन परिभाषाओ मे एवरक्राम्बी, वाबरा, टिलियर्ड आदि आचार्यो की परिभाषाएँ विशेष महत्त्व की है।

अरस्तू की परिभाषा—अरस्तू ने महाकाव्य की विस्तृत परिभाषा दी है। इस परिभाषा को उनके काव्यशास्त्र के भाग ३ मे देखा जा सकता है। उसके मतानुसार महाकाव्य मे निम्नलिखित विशेषताएँ होनी चाहिएँ—

१ उसमे कथात्मक अनुकरण होना चाहिए। अर्थात् किसी कथा को काव्य रूप मे प्रस्तुत करना चाहिए।

२. उसमे ६ पदो वाले एक विशेष प्रकार के छन्द की योजना रहनी चाहिए।

३ उसकी कथा वस्तु विन्यास अन्वितियो से सगठित रहनी चाहिए। कार्यान्विति का होना तो नितान्त आवश्यक होता है। आदि, मध्य और अन्त भी स्पष्ट और सुसम्बद्ध होना चाहिए।

४ उसमे अवान्तर कथाएँ भी नियोजित की जा सकती हैं। किन्तु वे प्रमुख कथा का पोषण करनेवाली हो तो अच्छा है।

५ इसका कथानक इतिहास से लिया जाना चाहिए। किन्तु वह भी इतिहास नही होना चाहिए। इतिहास मे अनेक व्यक्तियो और अनेक घटनाओ का वर्णन रहता है। महाकाव्य मे एक व्यक्ति के जीवन की उन्ही घटनाओ का उल्लेख

किया जाता है जो हमारी सवेदना को जागृत करने मे समर्थ है। इस दृष्टि से कुछ महाकाव्य अपवाद रूप मे भी आवेंगे। होमर के पूर्व के महाकाव्यो मे युग विशेष की अनेक घटनाओ और उसके अनेक व्यक्तियो के विस्तृत वर्णन मिलते है।

६ महाकाव्य की कथा मे ऐतिहासिकता के साथ-साथ कल्पना की भी पुट रहती है।

७ महाकाव्य के वर्णनो मे सर्वत्र स्वाभाविकता रहनी चाहिए। इसके लिए कवि को सदैव असम्भव घटनाओ के वर्णनो से बचते रहना चाहिए।

८ महाकाव्य मे अनेक वस्तुओ, परिस्थितियो, भावो आदि के विस्तृत वर्णन भी रखे जा सकते है।

९ महाकाव्य मे जीवन के विविध रूपी चित्र होने चाहिएँ। वास्तव मे महाकाव्य सम्पूर्ण जीवन की एक रोचक झाँकी होती है।

१० अरस्तू ने महाकाव्य की शैली पर भी विचार किया है। उसके मतानुसार महाकाव्य सरल अथवा जटिल दोनो प्रकार की शैलियो मे लिखे जा सकते हैं। इन शैलियो के भी नैतिकतापूर्ण और दुर्घटनापूर्ण दो रूप होते हैं। इलियड प्रथम कोटि की रचना है और ओडेसी दूसरे प्रकार की।

११ अरस्तू ने महाकाव्य मे पात्रो के स्वरूप आदि पर विशेष विचार नही किया है। एक स्थल पर उन्होने केवल यह ध्वनित मात्र कर दिया है कि महाकाव्य के पात्र महान् होने चाहिएँ।

१२ महाकाव्य का लक्ष्य अरस्तू रजन मानता था और इस रजन का कारण वह अनुकृति को बताता था।

सक्षेप मे अरस्तू के द्वारा वर्णित महाकाव्य की विशेषताएँ यही है।

कुछ अन्य परिभाषाएँ—महाकाव्य के स्वरूप पर प्रकाश डालने का प्रयास कुछ अन्य पाश्चात्य विद्वानो ने भी किया है। इनमे से निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं—

फ्रासीसी आलोचक ल बस्सु की परिभाषा—इस विद्वान् ने महाकाव्य के केवल तीन आवश्यक तत्त्व ठहराये हैं—

१ प्राचीन घटनाओ का वर्णन किया गया हो।

२ वह पद्यबद्ध रचना हो।

३ युग की सस्कृति का चित्र हो।

डैवनोट का मत—महाकाव्य की परिभाषा देने का प्रयास डैवनोट नामक विद्वान् ने भी किया है। उसके मतानुसार महाकाव्य मे केवल दो तत्त्व होने चाहिएँ।

१. महाकाव्य मे प्राचीन घटनाओ का शृखलाबद्ध वर्णन किया गया हो।

२ उसमे वीर-भावो का चित्रण हो।

लुकन का मत—लुकन ने प्राचीन घटनाओ के विस्तृत वर्णन को ही महाकाव्य कहा है।

टेसो की परिभाषा—टेसो के अनुसार महाकाव्य मे प्राचीन और नवीन दोनो प्रकार की घटनाओ का वर्णन किया जा सकता है।

उपर्युक्त परिभाषाएँ तथा कुछ अन्य परिभाषाएँ ई० ऐम० डब्लू० रिलियर्ड लिखित "दी इगलिश रैनशा फेक्ट एण्ड फिक्शन" शीर्षक अग्रेजी रचना मे दी गई है। इसी ग्रन्थ मे टिलियर्ड नामक विद्वान के द्वारा निरूपित महाकाव्य के लक्षण भी दिए गए है। ये लक्षण अधिक व्यापक और महत्त्वपूर्ण हैं। सक्षेप मे उनका निर्देश इस प्रकार किया जा सकता है।

टिलियर्ड की परिभाषा—१. क्वान्टिटी या गौरवपूर्णता—टिलियर्ड ने गौरवपूर्णता को महाकाव्य का सबसे आवश्यक अग बताया है। उसने लिखा है कि महाकाव्य की गौरवपूर्णता उसकी प्रभावात्मकता पर निर्भर रहती है। महाकवि को अपने महाकाव्य की प्रभावात्मकता की रक्षा के लिए उसकी भाषा एव रचना-शैली मे गुरुता की प्रतिष्ठा करनी पडती है। महाकाव्य की इस विशेषता को स्वीकार करने पर अग्रेजी के किंग अर्थर आदि बहुत से वीर प्रबन्ध महाकाव्य की श्रेणी से निकल जावेगे।

२ टिलियर्ड ने महाकाव्य की दूसरी विशेषता समृद्धता बतलाई है। उसने लिखा है कि महाकाव्य की कथावस्तु जीवन के अधिक से अधिक सुविस्तृत पक्ष से सम्बन्धित होनी चाहिए। उसमे साधारण से साधारण बात से लेकर महान् से महान् बात वर्णित की जा सकती है।

३ टिलियर्ड ने महाकाव्य की तीसरी विशेषता सयम बतलाई है। उसने लिखा है कि महाकाव्य की कथावस्तु का केवल विस्तृत और सकुल होना ही आवश्यक नही है। वास्तव मे विस्तार और सकुलता के निर्वाह मे सयम से काम लिया जाना चाहिए तभी सफल महाकाव्य की रचना हो सकती है।

४ टिलियर्ड के मतानुसार महाकाव्य मे सगीतात्मकता का होना भी बडा आवश्यक है। सगीतात्मकता के साथ ही साथ महाकवि को युग की सस्कृति का प्रतिनिधित्व भी करना चाहिए। इन विशेषताओ का सकेत करते हुए उसने लिखा है कि महाकाव्य के लेखक को अपने समय के एक बहुत बडे वर्ग के लोगो के विचारो और भावनाओ की सगीतात्मक अभिव्यक्ति करनी चाहिए। उसका विश्वास था कि महाकाव्य केवल राष्ट्र-भावना के प्रतीक भर नही होते उसमे सम्पूर्ण सस्कृति की झाँकी सजाई जा सकती है। इस दृष्टि से महाकाव्य दुखान्त नाटकों से भिन्न होता है।

५ महाकाव्य मे प्रणय, व्यग आदि से सम्बन्धित बातो को भी स्थान दिया जा सकता है। किन्तु इनकी योजना उसी सीमा तक की जानी चाहिए जहाँ तक वह उसकी प्रभावान्विति मे योग देते हो।

सक्षेप मे टिलियर्ड के द्वारा दी गई महाकाव्य की परिभाषा यही है।

महाकाव्य के सम्बन्ध मे ऐबर क्रौम्बी का मत—उसने लिखा है कि केवल वृहदाकार वर्णनात्मक प्रबन्धत्व के कारण ही किसी रचना को महाकाव्य नही कहा जा सकता। महाकाव्य उसी प्रबन्ध को कहेगे जिसकी शैली महाकाव्योचित होगी और जिसमे कवि की कल्पना और विचारधारा का उदात्त रूप दिखाई पडेगा। उसके मतानुसार महाकाव्य मे कोई भी ऐसी बात नही होनी चाहिए जो अगम्भीर और महत्वहीन हो।

सी० ऐम० बावरा की परिभाषा—सी० ऐम० बावरा ने अपने महाकाव्य की परिभाषा मे निम्नलिखित बातो पर बल दिया है—

१. महाकाव्य को बृहत् वर्णनात्मक प्रबन्ध होना चाहिए।

२. उसमे गम्भीर और महत्त्वपूर्ण घटनाओ का वर्णन होना चाहिए।

३. पात्रो के महत्वपूर्ण और क्रियाशील जीवन पक्ष का उद्घाटन रहना चाहिए।

४. महाकाव्य मे रजनतत्त्व भी आवश्यक होता है।

५. हृदय मे आत्म-गौरव का सचार करने वाली घटनाएँ हो। पात्र भी गौरव सचार करने वाले होने चाहिएँ।

केर साहब की परिभाषा—इनके मतानुसार महाकाव्य मे निम्निलिखित गुण होने चाहिएँ—

१ महाकाव्य के चरित्र बहुत व्यापक और पूर्ण होने चाहिएँ।

२. महाकाव्य के कथानक मे एक विचित्र गरिमा होनी चाहिए।

डिकसन साहब की परिभाषा—उनके मतानुसार भी महाकाव्य मे निम्नलिखित दो विशेषताएँ होनी चाहिएँ—

१. महान् घटना का वर्णन, और

२. विविध जीवन-सघर्षो का चित्रण।

उसके अनुसार महाकाव्य साहित्य का एक उदात्त कलात्मक रूप है। उसकी रचना मे कोई विरला प्रतिभासम्पन्न महाकवि ही समर्थ होता है।

पाश्चात्य साहित्य मे महाकाव्यो के विविध रूप

✓ पाश्चात्य देशो मे महाकाव्य के विविध स्वरूपो की चर्चा की गई है। उनमे प्रमुख रूप दो हैं—

१. विकसनशील।

२. अलकृत या कलात्मक।

✓ **विकसनशील महाकाव्य**—पाश्चात्य आलोचको ने विकसनशील महाकाव्य के लक्षण इस प्रकार बताए है—

१. विकसनशील महाकाव्य के स्वरूप का विकास विविध युगो के थपेड़ो से विविध व्यक्तियो की प्रतिभा के सहारे होता है।

२ उनमे वीरता की भावना को ही विशेष महत्त्व दिया जाता है।

३. उनके पात्र एक ओर तो अद्वितीय योद्धा होते है और दूसरी ओर सरस या सहृदय प्रणयी। प्रणय उनकी वीरता प्रदर्शन का एक हेतु बना रहता है।

४. कथानक विस्तृत, अनियन्त्रित और असयमित होता है। उसमे न तो प्रभावान्विति ही मिलती है, न कार्यान्विति ही दिखाई पड़ती है और न नाटकीय शैली पर वस्तु-विन्यास ही किया जाता है।

५. सरलता और स्वाभाविकता इन महाकाव्यो की सबसे बड़ी विशेषता होती है।

६. उनका रूप परिवर्त्तित होता रहता है। इसीलिए उनकी विविध प्रतियो मे बहुत बड़ा पाठ-भेद दिखाई पड़ता है।

७ इस कोटि के महाकाव्यो मे वैधानिक नियमो की पूर्ण अभिव्यक्ति नही दिखाई पडती।

सक्षेप मे पाश्चात्य दृष्टि से विकसनशील महाकाव्य के यही लक्षण है।

इन विकसनशील महाकाव्यो को वास्तव मे सच्चा महाकाव्य नही कहा जा सकता। पाश्चात्य दृष्टि से हमे विमोहित नही होना चाहिए। उपर्युक्त ढग के कथात्मक काव्यो को मै वृहदाकार वीर प्रवन्धकाव्य कहने के पक्ष मे हूँ। वास्तव मे रामायण और महाभारत को जो लोग महाकाव्य कहते है वे पाश्चात्य दृष्टिकोण से प्रभावित होकर ही कहते है। उनके मतानुसार वे दोनो विकसनशील महाकाव्य की श्रेणी मे आते है। मैं भारतीय साहित्य को पाश्चात्य चश्मा लगाकर देखने वाली बात से सहमत नही हूँ। वृहत् प्रबन्धकाव्यो को इसीलिए मैं महाकाव्य कहना अनुचित समझता हूँ।

कलात्मक महाकाव्य--पाश्चात्य साहित्य मे भी हमे विकसनशील महाकाव्यो के प्रति उपेक्षा भाव के दर्शन होते हैं। अलकृत काव्यो की परम्परा का उदय इसी उपेक्षा का परिणाम है। पाश्चात्य ढग के अलकृत काव्यो की कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं। वे वाल्टेयर के शब्दो मे, भले ही शब्दो मे व्यक्त न की जा सकें पर समाज उनका अनुभव अपनी सहज बुद्धि द्वारा करता है। इन अनभिव्यक्त गुणो को व्यक्त करने का प्रयास किया है। उनकी चर्चा हम पीछे कर चुके है। टिलियर्ड, एवर क्राम्बी, वाबरा, केर आदि विद्वानो ने महाकाव्यो के जो लक्षण दिए है वे सब अलकृत महाकाव्यो पर ही लागू होते हैं। अरस्तू के महाकाव्य सम्बन्धी लक्षण भी महाकाव्य के सम्बन्ध मे ही अधिक घटित होते है।

महाकाव्य की नवीन परिभाषा

ऊपर मैंने महाकाव्य के स्वरूप के सम्बन्ध मे अनेकानेक आचार्यों के मतो का उल्लेख किया है। उन सबका अध्ययन करने के पश्चात् यह कहे बिना नही रहा जा सकता कि वे सभी परिभाषाएँ बडी सकुचित हैं। हमारी समझ मे महाकाव्य पद की अधिकारिणी उस रचना को मानना चाहिए जिसमे निम्नलिखित तत्त्व वर्तमान हो—

१—प्रबन्धत्त्व एव प्रकथन प्रवाह।

२—महत् कथावस्तु, (परम्परागत आदर्शों से परिपूर्ण)।

३—महत् उद्देश्य।

४—उदात्त अभिव्यक्ति सौष्ठव, साहित्यिकता एव आवश्यक वैधानिक रूढियो का पालन।

५—सफल एव साग रस-परिपाक।

६—चरित्र-चित्रणगत सौन्दर्य।

७—सर्गबद्धता, (महाकाव्य मे कम से कम पाँच सर्ग अवश्य होने चाहिएँ)।

उपर्युक्त तत्त्वो के प्रकाश मे आज महाकाव्य कहलाने की अधिकारिणी वही सर्गबद्ध रचना हो सकती है, जिसमे प्रबन्धत्व एव प्रकथन प्रवाह के साथ-साथ महत् उद्देश्य को लेकर किसी महत् कथा को ऐसा साहित्यिक स्वरूप दिया गया हो जिसमें

सफल रस-परिपाक के साथ-साथ चरित्र-चित्रणगत सौन्दर्य भी विद्यमान हो। इस कसौटी पर कसने से प्राचीन महाकाव्यो के अतिरिक्त आधुनिक युग के प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी आदि अनेक प्रबन्ध काव्य, महाकाव्य पद के अधिकारी सरलता से प्रतीत होने लगते है। यहाँ पर कुछ प्रसिद्ध महाकाव्यो के महाकाव्यत्व की चर्चा कर रहे है, किन्तु उनकी कसौटी अधिकतर वही है जिसका निर्माण प्राचीन आचार्य कर चुके हैं। ऐसा कुछ जान-बूझ कर किया गया है।

हिन्दी के प्रमुख महाकाव्य

हिन्दी मे अनेक महाकाव्य उपलब्ध है। कुछ प्रसिद्ध महाकाव्यो का विवरण इस प्रकार है—

१ पृथ्वीराज रासो—यह हिन्दी का सफल विकसनशील महाकाव्य है। विकसनशील महाकाव्य तीन प्रकार के होते है—

(१) वह प्रचलित लोक-गाथा, जो विकसित होती हुई महाकाव्य का रूप धारण कर लेती है।

(२) वह जिससे किसी ऐतिहासिक नायक का चरित्र विकसित होते-होते महाकाव्य का रूप धारण कर लेता है।

(३) तीसरे वे गेय जन-महाकाव्य होते है जिनका गायक कोई प्राचीन व्यक्ति होता है। कालान्तर मे उसका नाम-मात्र शेष रह जाता है। उसकी रचना जनता के कठो मे पडकर नूतन रूप धारण कर लेती है।

विकास की अवस्थाएँ—पृथ्वीराज रासो द्वितीय कोटि का महाकाव्य है। डॉ० शम्भूनाथसिंह ने इसके विकास की पाँच अवस्थाएँ बताई है। पहली अवस्था वह है जिसमे चन्द बरदाई के मूल रासो की रचना हुई है। डॉ० शम्भूनाथसिंह की धारणा है कि चन्द ने यह ग्रथ अधूरा छोड दिया था। किन्तु यह कल्पनामात्र है। दूसरी अवस्था मे चन्द के पुत्र जल्हण ने शेष कथा पूरी करने की चेष्टा की थी। इसका प्रमाण इस प्रकार है।

'जलहन हत्थ दै चलि गज्जन्न नृप काज' मे उक्ति है। आचार्य शुक्ल ने भी नानूराम भाट के कथन का आधार लेते हुए लिखा है कि रासो के अन्तिम दस समयो को चन्द के पुत्र ने पूरा किया है। तीसरी अवस्था स० १३०० से १६५० तक विकसित हुई। जल्हण के वशजो ने इस अवस्था मे बहुत परिवर्तन और विकास किये। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने इस अनुमान का समर्थन किया है। चौथी अवस्था वह है जिसमे कवियो ने उसको सकलित और सम्पादित करने का प्रयत्न किया तथा उसे लिपिबद्ध किया। यह अवस्था १६०० से १७६० के बीच तक की है। १७६० तक उसके चार संस्करण हो गये है। इसके बाद उसकी पाँचवी अवस्था प्रारम्भ हो जाती है। इस अवस्था मे उसके गायको ने उसके छन्दो की सख्या एक लाख तक पहुँचाने की चेष्टा की है। इस प्रकार रासो के पाँच अवस्थाओ मे विकसित होने के कारण ही उसे विकसनशील महाकाव्य कहा गया है।

वैधानिक पूर्णता—विकसनशील महाकाव्य के कुछ अपने लक्षण हैं। डॉ०

शम्भूनाथसिंह ने उनके प्रकाश मे रासो का अध्ययन करते हुए निम्नलिखित प्रकार से उसे एक सफल विकसनशील महाकाव्य सिद्ध करने की चेष्टा की है।

(१) **महदुद्देश्य, महाप्रेरणा और महती काव्य प्रतिभा**—डा० शम्भूनाथसिंह के शब्दो मे रासो का उद्देश्य है जातीय जीवन में प्राण सचार करना, उसमे स्वातन्त्र्य और बलिदान का मन्त्र फूँकना और बाहुबल पर आधारित जीवन मूल्यो की स्थापना करना। इसकी प्रेरणा भी महती है। इसकी प्रेरणा है हिन्दू राष्ट्र की रक्षा मे भारतीय राजपूतो के अभूतपूर्व बलिदान की भावना। महदुद्देश और महाप्रेरणा कवि की अलौकिक प्रतिभा पाकर थिरक उठी है। इस दृष्टि से यह सफल महाकाव्य है।

(२) **महत्कार्य और समग्र युग जीवन का चित्रण**—रासो का महत्कार्य है 'पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन का अन्तिम युद्ध और उत्तरी भारत पर मुसलमानो का अधिकार। सारा घटना-चक्र इसी महत्कार्य के चारो ओर चक्कर काटता है। पृथ्वीराज का समग्र जीवन-चित्र प्रस्तुत किया गया है। उस चित्र को स्पष्ट करने के लिए और अनेकानेक घटनाओ तथा पात्रो की योजना की गई है। यही कारण है उसमे जीवन के व्यापक चित्रो की अवतारणा के साथ एक विचित्र गुरुत्व और गाम्भीर्य भी है।

गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्त्व—रासो मे अनेक राजनीतिक, नैतिक, धर्मशास्त्रीय योग-दर्शन, अभ्यास विद्या आदि के सैकडो चित्र मिलते है। उनसे महाकाव्य मे गुरुता आगई है। इसका नायक पृथ्वीराज है जो युग का महान् पुरुष और भारतीय नायको के सभी उदात्त गुणो से सम्पन्न है। उसके गुणो की उदारता ने रचना को महत्त्व और गाम्भीर्यप्रधान बना दिया है।

वस्तु व्यापार वर्णन—विकसनशील महाकाव्यो का लक्ष्य वस्तु व्यापार वर्णन मे किसी निश्चित परिपाटी का अनुगमन करना नही होता। उसकी सीमा के अन्दर जीवन और जगत का सम्पूर्ण ज्ञान आ सकता है। रासोकार ने अपने ग्रन्थ मे जीवन और जगत के अधिकाधिक ज्ञान को ठूँसने का प्रयास किया है। उसने इस बात की घोषणा भी की है।

उक्ति धर्म विशालस्य राजनीति नवरस. ।
षट् भाषा पुराण च कुरान कथित मया ।।

अर्थात् इस ग्रन्थ मे सूक्तियाँ हैं, धर्मशास्त्र सम्बन्धी बातें हैं, पुराणो का ज्ञान भी भरा गया है, राजनीतिशास्त्र की बातें भी लिखी गई हैं। नव रसो की योजना की गई है। कुरान वर्णित इस्लाम धर्म की बातें भी रक्खी गई है। ग्रन्थ के अन्त मे भी ग्रन्थ की सर्वज्ञान सग्रहात्मकता प्रकट की गई है। इस दृष्टि से रासो और महाभारत से बहुत मिलता-जुलता है।

परिगणन की प्रवृत्ति—विकसनशील महाकाव्य के सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नही है। इसका आकार अत्यधिक विशाल भी हो सकता है। ऐसा अवस्था मे कवि स्वतन्त्रता से अपनी बहुज्ञता का प्रदर्शन कर सकता है और करता भी है। रासोकार ने किया भी यही है। जहाँ कही भी मौका मिला है उसने वस्तु परिगणन की प्रवृत्ति का आश्रय लिया है।

वर्णन—विकसनशील महाकाव्यो मे यो तो सभी विषयो का विस्तृत वर्णन रहता है किन्तु कुछ विषय उसमे विशेष रूप से वर्णित किए जाते हैं जैसे युद्ध मृगया, विवाहादि का वर्णन। रासो मे इन सबके विस्तृत वर्णन मिलते हैं।

वस्तु-विन्यास—विकसनशील महाकाव्य अलकृत महाकाव्यो से वस्तु-विन्यास की दृष्टि से भिन्न है। विकसनशील महाकाव्य अलकृत महाकव्यो की भाँति सुसगठित नही होता। उसमे सधियो आदि के लिए स्थान नही होता। उसका कथानक बिखरा हुआ होता है। रासो का कथानक भी ऐसा ही है। किन्तु वस्तु-विन्यास सम्बन्धी इस विशृखलता के कारण महाकाव्य का मूल्य कम नही किया जा सकता है। उसमे प्रवाह है और क्रिया-व्यापार का प्रवेग है। यही कारण है कि उसकी वस्तु सघटित न होते हुए भी भार रूप नही होने पाई है।

नायक का चारित्रिक सौन्दर्य—महाकाव्य का नायक महान् चरित्र वाला होता है। उसके चरित्र की गरिमा महाकाव्य को आक्रान्त किए रहती है। रासो इस दृष्टि से भी सफल है। उसका नायक आदर्श भारतीय नायक है। उसमे नायक के समस्त गुण वर्तमान है। वह क्षत्रियवश का राजा है, वीर है, अर्थ और काम मे लीन है। बहुत सी दृष्टियो मे वह आदर्श और महान् है। उसके चरित्र की गरिमा का पता इसी एक तथ्य से चलता है कि उसने अपने प्रबल शत्रु शाहबुद्दीन को कई बार पराजित कर क्षमादान किया था। उसके चरित्र की यह विशेषता अकेली ही रासो को महाकाव्य का पद प्रदान कर सकती है। पृथ्वीराज और पात्रो मे चारित्रिक सौन्दर्य की झाँकी सजाई गई है। स्वय चन्द का चरित्र भी कम उज्जवल नही है। उसकी जैसी स्वामि-भक्ति उसके आत्म-बलिदान की भावना विश्व साहित्य में ढूँढने से भी नही मिलेगी।

शैलीगत गरिमा—प्रत्येक प्रकार के महाकाव्य मे शैली की गरिमा भी रहती है। रासो की शैली मे झूठी साहित्यिक कृत्रिमता नही है। उसमे स्वाभाविक गौरव है। उस गौरव की प्रतिष्ठा, भावनाओ के अनुरूप भाव-भाषा और चमत्कार की अभिव्यक्ति के कारण हुई है। 'उसमे राजमहल जैसी कृत्रिम गरिमा नही है। उसकी गरिमा इलोरा की गुफाओ के सदृश है जो मानव-हाथो द्वारा गढी हुई होने पर भी नैसर्गिक गरिमा से गौरवमय है। अपनी शैलीगत गरिमा के कारण ही रासो आज भी जीवित है।'

महाकाव्यगत रूढियों का पालन—सस्कृत आचार्यो ने महाकाव्य के कुछ लक्षण बताए है। उनमे से कुछ लक्षण सभी प्रकार के महाकाव्यो मे पाए जाते है। कुछ ऐसी बाते भी है जिनका उल्लेख आचार्यो ने तो नहीं किया है किन्तु रूढि के रूप मे मान्य है। डॉ० शम्भूनाथसिह ने उनकी परिगणना इस प्रकार की है।

(१) सर्गसम्बन्धी प्रतिबन्ध।
(२) मगलाचरण और आशीर्वचन।
(३) वस्तु निर्देश।
(४) दुर्जन निन्दा, सज्जन प्रशसा।

शम्भूनाथसिंह ने उनके प्रकाश मे रासो का अध्ययन करते हुए निम्नलिखित प्रकार से उसे एक सफल विकसनशील महाकाव्य सिद्ध करने की चेष्टा की हैं।

(१) **महदुद्देश्य, महाप्रेरणा और महती काव्य प्रतिभा**—डा० शम्भूनाथसिंह के शब्दो मे रासो का उद्देश्य है जातीय जीवन में प्राण सचार करना, उसमे स्वातन्त्र्य और बलिदान का मन्त्र फूंकना और बाहुबल पर आधारित जीवन मूल्यो की स्थापना करना। इसकी प्रेरणा भी महती है। इसकी प्रेरणा है हिन्दू राष्ट्र की रक्षा मे भारतीय राजपूतो के अभूतपूर्व बलिदान की भावना। महदुद्देश और महाप्रेरणा कवि की अलौकिक प्रतिभा पाकर थिरक उठी है। इस दृष्टि से यह सफल महाकाव्य है।

(२) **महत्कार्य और समग्र युग जीवन का चित्रण**—रासो का महत्कार्य है पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन का अन्तिम युद्ध और उत्तरी भारत पर मुसलमानो का अधिकार। सारा घटना-चक्र इसी महत्कार्य के चारो ओर चक्कर काटता है। पृथ्वीराज का समग्र जीवन-चित्र प्रस्तुत किया गया है। उस चित्र को स्पष्ट करने के लिए और अनेकानेक घटनाओ तथा पात्रो की योजना की गई है। यही कारण है उसमे जीवन के व्यापक चित्रो की अवतारणा के साथ एक विचित्र गुरुत्व और गाम्भीर्य भी है।

गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्त्व—रासो मे अनेक राजनीतिक, नैतिक, धर्मशास्त्रीय, योग-दर्शन, अभ्यास विद्या आदि के सैकडो चित्र मिलते हैं। उनसे महाकाव्य मे गुरुता आगई है। इसका नायक पृथ्वीराज है जो युग का महान् पुरुष और भारतीय नायको के सभी उदात्त गुणो से सम्पन्न है। उसके गुणो की उदारता ने रचना को महत्त्व और गाम्भीर्यप्रधान बना दिया है।

वस्तु व्यापार वर्णन—विकसनशील महाकाव्यो का लक्ष्य वस्तु व्यापार वर्णन मे किसी निश्चित परिपाटी का अनुगमन करना नही होता। उसकी सीमा के अन्दर जीवन और जगत का सम्पूर्ण ज्ञान आ सकता है। रासोकार ने अपने ग्रन्थ मे जीवन और जगत के अधिकाधिक ज्ञान को ठूंसने का प्रयास किया है। उसने इस बात की घोषणा भी की है।

उक्ति धर्म विशालस्य राजनीति नवरस.।
षट् भाषा पुराण च कुरान कथित मया ॥

अर्थात् इस ग्रन्थ मे सूक्तियाँ हैं, धर्मशास्त्र सम्बन्धी बातें है, पुराणो का ज्ञान भी भरा गया हं, राजनीतिशास्त्र की बातें भी लिखी गई हैं। नव रसो की योजना की गई हं। कुरान वर्णित इस्लाम धर्म की बाते भी रक्खी गई है। ग्रन्थ के अन्त मे भी ग्रन्थ की सर्वज्ञान सग्रहात्मकता प्रकट की गई हं। इस दृष्टि से रासो और महाभारत से बहुत मिलता-जुलता हं।

परिगणन की प्रवृत्ति—विकसनशील महाकाव्य के सम्बन्व में कोई निश्चित नियम नही है। इसका आकार अत्याधिक विशाल भी हो सकता है। ऐसा अवस्था मे कवि स्वतन्त्रता से अपनी बहुज्ञता का प्रदर्शन कर सकता है और करता भी है। रासोकार ने किया भी यही है। जहाँ कही भी मौका मिला है उसने वस्तु परिगणन की प्रवृत्ति का आश्रय लिया है।

वर्णन—विकसनशील महाकाव्यो मे यो तो सभी विपयो का विस्तृत वर्णन रहता है किन्तु कुछ विषय उसमे विशेष रूप से वर्णित किए जाते हैं जैसे युद्ध मृगया, विवाहादि का वर्णन। रासो मे इन सबके विस्तृत वर्णन मिलते हैं।

वस्तु-विन्यास—विकसनशील महाकाव्य अलकृत महाकाव्यो से वस्तु-विन्यास की दृष्टि से भिन्न है। विकसनशील महाकाव्य अलकृत महाकव्यो की भाँति सुसगठित नही होता। उसमे सधियो आदि के लिए स्थान नही होता। उमका कथानक विखरा हुआ होता है। रासो का कथानक भी ऐमा ही है। किन्तु वस्तु-विन्यास सम्वन्धी इस विश्रृखलता के कारण महाकाव्य का मूल्य कम नही किया जा सकता है। उसमे प्रवाह है और क्रिया-व्यापार का प्रवेग है। यही कारण है कि उसकी वस्तु सघटित न होते हुए भी भार रूप नही होने पाई है।

नायक का चारित्रिक सौन्दर्य—महाकाव्य का नायक महान् चरित्र वाला होता है। उसके चरित्र की गरिमा महाकाव्य को आक्रान्त किए रहती है। रासो इस दृष्टि से भी सफल है। उसका नायक आदर्श भारतीय नायक है। उसमे नायक के समस्त गुण वर्तमान है। वह क्षत्रियवश का राजा है, वीर है, अर्थ और काम मे लीन है। वहुत सी दृष्टियो से वह आदर्श और महान् है। उसके चरित्र की गरिमा का पता इसी एक तथ्य से चलता है कि उसने अपने प्रवल शत्रु शाहवुद्दीन को कई वार पराजित कर क्षमादान किया था। उसके चरित्र की यह विशेपता अकेली ही रासो को महाकाव्य का पद प्रदान कर सकती है। पृथ्वीराज और पात्रो में चारित्रिक सौन्दर्य की झाँकी सजाई गई है। स्वय चन्द का चरित्र भी कम उज्जवल नही है। उसकी जैसी स्वामि-भक्ति उसके आत्म-वलिदान की भावना विश्व साहित्य मे ढूँढने से भी नही मिलेगी।

शैलीगत गरिमा—प्रत्येक प्रकार के महाकाव्य मे शैली की गरिमा भी रहती है। रासो की शैली मे झूठी साहित्यिक कृत्रिमता नही है। उसमे स्वाभाविक गौरव है। उस गौरव की प्रतिष्ठा, भावनाओ के अनुरूप भाव-भापा और चमत्कार की अभिव्यक्ति के कारण हुई है। 'उसमे राजमहल जैसी कृत्रिम गरिमा नही है। उसकी गरिमा इलोरा की गुफाओ के सदृश है जो मानव-हाथो द्वारा गढी हुई होने पर भी नैसर्गिक गरिमा से गौरवमय है। अपनी शैलीगत गरिमा के कारण ही रासो आज भी जीवित है।'

महाकाव्यगत रूढियो का पालन—सस्कृत आचार्यो ने महाकाव्य के कुछ लक्षण वताए है। उनमे से कुछ लक्षण सभी प्रकार के महाकाव्यो मे पाए जाते हैं। कुछ ऐसी वातें भी है जिनका उल्लेख आचार्यो ने तो नही किया है किन्तु रूढि के रूप मे मान्य है। डॉ० शम्भूनार्थासिह ने उनकी परिगणना इस प्रकार की है।

(१) सर्गसम्वन्धी प्रतिवन्ध।
(२) मगलाचरण और आशीर्वचन।
(३) वस्तु निर्देश।
(४) दुर्जन निन्दा, सज्जन प्रशसा।

(५) पूर्व कवि प्रशसा ।
(६) कवि की विनम्रता ।
(७) नायक की प्रशसा और उसके नगर का वर्णन ।
(८) नायक के वश की उत्पत्ति और पूर्वजो की वशावली ।
(९) ग्रन्थ का महत्त्व कथन ।
(१०) छन्द सम्बन्धी रूढियाँ ।

उपर्युक्त सभी रुढियो के प्रकाश मे रासो का अध्ययन करने पर स्पष्ट प्रगट होता है कि यह सभी बाते रासो मे पाई जाती है । रासो सर्गों मे विभक्त है । सर्गों का नाम समय या प्रस्ताव है । कही-कही सर्ग के लिए पर्व तथा खण्ड शब्दो का प्रयोग भी मिलता है । कथा भी सवादात्मक शैली मे ही प्रारम्भ की गई है । महाकाव्य के प्रारम्भ मे मगलाचरण भी है । महाकाव्य मे वस्तु निर्देश भी मिलता है । आदि पर्व से लेकर ७९ से ८४ और ७६१ से ७८३ तक के छन्दो मे वस्तु निर्देश की ही प्रथा का पालन किया गया है ।

रासो एक लोक-महाकाव्य है धर्म काव्य नही । सज्जनो की प्रशसा और दुर्जनो की निन्दा वाली प्रवृत्ति धार्मिक महाकाव्यो मे अधिक पाई जाती है लोक काव्यो मे कम । यही कारण है कि रासो मे सज्जन और दुजन से सम्वन्धित दो ही दोहे है । महाकाव्य मे नायक वश की उत्पत्ति पूर्वजो की वशावली सम्बन्धी रूढि का निर्वाह भी मिलता है ।

अन्य रूढियो की अभिव्यक्ति किसी न किसी रूप मे अवश्य मिलती है । विस्तार-भय से उनका उल्लेख नही कर रहा हूँ । इन सबके लिए डॉ० शम्भूनाथ सिह की 'हिन्दी महाकाव्य' शीर्षक थीसिस देखिए ।

प्रभाव ऐक्य—महाकाव्यो मे ही क्या सभी प्रकार की रचनाओ मे प्रभाव ऐक्य का होना बडा आवश्यक होता है । यह प्रभाव ऐक्य ही साहित्यिक रचनाओ का प्राण होता है । प्रभाव ऐक्य के लिए तो वस्तु का समुचित सगटन होना चाहिए या फिर उद्देश्य के माध्यम से ऐक्य स्थापित होना चाहिए । अलकृत काव्यो मे प्रभाव ऐक्य की सृष्टि वस्तु के विविध अवयवो के सघटन के द्वारा की जाती है और विकसनशील महाकाव्यो मे यह कार्य महदुद्देश्य की योजना के द्वारा लाया जाता है । रासो मे वस्तु सघठन दूसरे प्रकार से किया गया है । एक महदुद्देश्य ने सारी कथा को एक सूत्र मे बाँध रखा है । उसी एकता से प्रभान्विति की सृष्टि हुई है ।

रसवत्ता—रासो एक वीररस-प्रधान महाकाव्य है । शृगार, करुणादि अन्य सहायक रस हैं । इन सबका पूर्ण परिपाक हुआ है । रासोकार ने स्वय लिखा है 'रासो रसाल नवरस सरस' ।

जीवन-शक्ति और प्राणवत्ता—महाकाव्य कहलाने की अधिकारी वही रचना हो सकती है जिसमे अमरत्व के गुण हो । सच तो यह है कि जो महाकाव्य जितने अधिक दिन तक जीवित रहता है वह उतना ही श्रेष्ठ होता है । इस दृष्टि से रासो हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है । उसकी यह चिरन्तन लोकप्रियता उसकी

जीवन-शक्ति और प्राणवत्ता की परिचायिका है। अध्यात्मप्रिय उसकी राष्ट्रीय भावना, महान् नायक का चरित्र, उदात्त, शैलीगत गरिमा, उसकी प्रभावपूर्णता और रसवत्ता आदि कुछ ऐसी विशेषताएँ है जिन्होने उसे अलौकिक जीवन-शक्ति और प्राणवत्ता प्रदान कर दी है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि रासो हिन्दी का प्रथम श्रेष्ठ विकसनशील महाकाव्य है।

२ आल्हा खण्ड –पृथ्वीराज रासो की विवेचना करते समय तीन प्रकार के विकसनशील महाकाव्यो की चर्चा की गई है। आल्हा खण्ड उनमे से तृतीय कोटि का है। यह ग्रन्थ अपने मूल रूप मे किसी कवि द्वारा लिखा गया था। उसका नाम जगनिक बताया जाता है। आगे चलकर वह रचना अपने कुछ विशिष्ट गुणो के कारण इतनी अधिक लोकप्रिय बनी कि उस कवि का नाम गौण पड गया है और वह रचना लोक की सम्पत्ति बन गई है। विभिन्न देश, काल और परिस्थितियो मे लोक ने उसके स्वरूप को अपने ढग पर विकसित करने की चेष्टा की। परिणाम यह हुआ कि उसके मूल रूप का पता लगाना ही कठिन हो गया।

आल्हा खण्ड के स्वरूप के सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतैक्य नही है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने उसे वीररस-प्रधान एक गीतिकाव्य कहा है। आचार्य शुक्ल उसे वीर गीता का समुच्चय मानते थे। किन्तु उसके स्वरूप पर विचार करने मे पता चलता है कि वह विकसनशील महाकाव्य है। उसमे उसके सभी लक्षण पाए जाते हैं।

आल्हा खण्ड एक प्राचीन रचना है किन्तु भिन्न युगो के गायको के हाथों मे पडकर इसका रूप विकसित ही नही हुआ अपितु अनेक दृष्टियो से अभिनव भी हो गया है। आल्हा खण्ड को कुछ लोग परमाल रासो भी कहते है। मेरा अपना अनुमान यह है कि आल्हा खण्ड और परमाल रासो दो भिन्न-भिन्न रचनाएँ थी। हो सकता है कि आल्हा खण्ड परमाल रासो का एक खण्ड हो और बाद मे लोकप्रिय होने से नित्य-प्रति विकसित होता गया और उसके विकास के साथ-साथ परमाल रासो का ह्रास होता गया और अब नामावशेषमात्र रह गया है। जो भी हो आल्हा खण्ड तृतीय कोटि का एक सफल विकसनशील लोक महाकाव्य है।

रोमाचक महाकाव्य पद्मावत—पद्मावत के काव्य रूप के सम्बन्ध में विद्वानो मे बडा मतभेद है। कुछ लोग उसे प्रेमाख्यानक प्रबन्ध काव्य कहते हैं। कुछ के मतानुसार वह एक कथाकाव्य है। बहुत मे विद्वानो की दृष्टि मे वह एक सफल रोमाचक महाकाव्य है। मेरी समझ मे भी पद्मावत एक रोमाचक महाकाव्य ही है जिसमे महाकाव्य के भारतीय लक्षणो के साथ-साथ मसनवियो के लक्षण भी विद्यमान हैं। उसकी कथामूलक रोचकता और प्रबन्ध सौष्ठव ने उसको लोकप्रिय बनाने मे विशेष योग दिया है।

मानस—हिन्दी भाषा का सबसे महत्वपूर्ण महाकाव्य रामचरित मानस है। कुछ लोगो ने इसे महाकाव्य न मानने का दुराग्रह भी किया है। ऐसे लोग मानस को कोरा पुराण काव्य भर मानते है। (मानस दर्शन, डॉ० किशनलाल) किन्तु इस प्रकार के कथनो को मैं महत्त्वहीन दुराग्रह भर मानता हूँ। मै मानस को ससार का सर्वश्रेष्ठ

ामिक महाकाव्य मानता हूँ। उसमे महाकाव्य के सभी लक्षणो की प्रतिष्ठा के ाथ-साथ मानव-धर्म की बुभुक्षा को तृप्त करने का प्रयास भी किया गया है।

आधुनिक युग के प्रसिद्ध महाकाव्य एव महाकाव्योन्मुख प्रबन्ध-काव्य

कामायनी (*जयशंकर 'प्रसाद'*)—कामायनी के महाकाव्यत्व के सम्बन्ध हिन्दी मे विविध प्रकार के विचार प्रगट किए गए है। कुछ लोग उसे महाकाव्य ानते है तो कुछ उसे एकार्थक काव्य कहते है और कुछ की दृष्टि मे वह केवल मुक्तक ़ली मे लिखा हुआ प्रबन्ध काव्य है। इन तीन प्रकार के दृष्टिकोणो के अतिरिक्त और ो विविध प्रकार के मत प्रगट किए गए है। मै उसे रूपक कथा प्रधान महाकाव्य ानने के पक्ष मे हूँ। उसे सामान्य महाकाव्य इसलिए नही कह सकता क्योकि उसकी ़ली रूपात्मक है और अभिव्यक्ति छायावादी। उसे मैं एकार्थक काव्य भी नही कह कता क्योकि उसमे गौरवपूर्ण महाकाव्य के सभी लक्षण पाए जाते है। उसे मुक्तक ़ली मे लिखा हुआ प्रबन्ध काव्य कहना भी ठीक नहीं समझता क्योकि न तो उसकी ़ली ही मुक्तक है और न वह केवल प्रबन्ध काव्य ही है। उसकी शैली रूपात्मक ौर छायावादी है और उसका काव्य रूप महाकाव्य कहलाने का सब प्रकार से ाधिकारी है।

साकेत (*मैथिलीशरण गुप्त*)—इस महाकाव्य मे महाकाव्य के शास्त्रीय ाक्षणो की प्रतिष्ठा के साथ-साथ नवीन चेतना के भी दर्शन होते है। यह नवीन चेतना ्योमुखी है—साहित्यिक, सास्कृतिक और कलात्मक। इस त्रयोमुखी अभिनव चेतना उसे वर्तमान युग के नवीन ढग के श्रेष्ठ महाकाव्य का पद प्रदान कर दिया है।

प्रियप्रवास (*अयोध्यासिंह उपाध्याय*)—साकेत के सदृश प्रियप्रवास भी ाधुनिक ढग का एक सुन्दर महाकाव्य है। उसमे शास्त्रीय लक्षणो की प्रतिष्ठा ; साथ-साथ नूतन दृष्टिकोण को भी स्थान दिया गया है। साकेत और प्रियप्रवास ोनो मे ही नायक की अपेक्षा नायिका के चरित्र-चित्रण को प्रधानता दी गई है। ाष्ट्रीय चेतना दोनो ही महाकाव्यो मे मुखरित है।

साकेत संत (*बलदेवप्रसाद मिश्र*)—यह नये ढग का सरस महाकाव्य है। ाह गुप्तजी के 'साकेत' के अनुकरण पर लिखा गया है। इसकी रचना ाहाकाव्य लिखने के दृष्टिकोण से ही की गई है। यह महाकाव्य के शास्त्रीय ाक्षणो से युक्त होते हुए भी महाकाव्योचित स्वाभाविक गरिमा से विरहित प्रतीत ़ोता है।

आर्यावर्त (*मोहनलाल महतो 'वियोगी'*)—यह असफल महाकाव्य है। ़समे तेरह सर्ग है। कवि ने ग्रन्थ रचना मे महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणो को खपाने ़ा प्रयास किया है। किन्तु उसमे वह सफल नही हो पाया है। वह सफल महाकाव्य ़ रहकर केवल प्रवन्ध काव्य भर रह गया है। हाँ, उसकी राष्ट्रीय भावना ने ़से महाकाव्य के पद तक पहुँचाने की चेष्टा की है।

नूरजहाँ (*गुरु भक्तसिह*)—कुछ लोग नूरजहाँ को भी महाकाव्य कहते है। किन्तु मै इसे १८ सर्गों मे लिखा गया प्रवन्ध काव्य मानने के पक्ष मे ही हूँ

उसमे न तो महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणो की सफलतापूर्वक प्रतिष्ठा ही मिलती है और न महाकाव्योचित गरिमा ही है।

प्रभात की कैकयी (*केदारनाथ मिश्र*)—कैकेयी एक प्रयत्नज महाकाव्य है। उसमें महाकाव्य के लक्षणो की अवतारणा करने की चेष्टा तो की गई है किन्तु कवि को साकेत सत के कवि के सदृश सफलता नही मिली है। फिर उसकी कथावस्तु महाकाव्य की कथावस्तु होने योग्य भी नही है। शैली भी उतनी उदात्त नही है। हाँ, प्रवन्धात्मकता की दृष्टि से उसे अवश्य सफल कह सकते हैं।

कुरुक्षेत्र (*दिनकर*)—कुरुक्षेत्र के सम्वन्ध मे विद्वानो की धारणाएँ बहुत अच्छी नहीं है। डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है—"दिनकर ने स्वय कुरुक्षेत्र के प्रवन्धत्व की सफाई मे कहा है कि इसमे प्रवन्ध की एकता वर्णित विचारो को लेकर है किन्तु उनकी यह धारणा भ्रान्त है। इसमे विचार की एकता विलकुल नही है, वरन् युद्ध के औचित्य और अनौचित्य को लेकर उठने वाली शका की है। उसने उनके मन को अस्थिर कर दिया है। जिसकी परिभाषा उन्होने स्वय इस प्रकार दी है। "महाकाव्य की रचना मनुष्य को विकल करने वाली अनेक भावधाराओ के वीच सामजस्य लाने का प्रयास है, समय के परस्पर विरोधी प्रश्नो के समाधान की चेष्टा है"। मैं नगेन्द्रजी के उपर्युक्त कथन से सहमत नही हूँ। मेरी अपनी धारणा है कि दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' युग का प्रतिनिधि महाकाव्य है। उसने महाकाव्य की नई मान्यता की प्रतिष्ठा की है। आज के महाकाव्य की गरिमा प्राचीन कथानको को वर्तमान विचारो के प्रकाश मे देखने से मुखरित होती है। अपनी इसी गरिमा के कारण आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उसे हिन्दी भाषा का गौरव ग्रन्थ कहा है। प्रोफेसर नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी उसे महाकाव्य ही माना है। विहार की वृहत्रयी मे उन्होने उसे गौरवपूर्ण स्थान दिया है। मेरी समझ मे कुरुक्षेत्र महाकाव्यो की नई परम्परा का प्रवर्तक है। उसमे चाहे प्राचीन ढग की कथामूलक प्रवन्धात्मकता न हो किन्तु विचारो की एकता अवश्य है। यह विचार भी आधुनिकतम है। उसमे शैलीगत उदात्तता के साथ-साथ जीवन की गरिमा का नया चित्र प्रस्तुत किया गया है।

जयभारत (*मैथिलीशरण गुप्त*)—इस प्रवन्ध काव्य मे कवि ने महाभारत के सैतालीस प्रसगो को अपनी प्रतिभा से चमत्कृत कर हमारे सामने रखने की चेष्टा की है। गुप्तजी की इस रचना मे हमे साकेत का प्रवन्ध सौष्ठव न मिलते हुए भी चरित्र-निर्माण का सफल एव उदात्त प्रयत्न परिलक्षित होता है। उनकी चरित्र-निर्माण कला अपनी है। वह अन्तश्चेतना वादियो से रत्ती भर प्रभावित नहीं है।

इस प्रवन्ध-काव्य को हम शैली की दृष्टि से महाकाव्य कह सकते हैं। उसकी शैली अलकृत महाकाव्य की शैली के सदृश है किन्तु उसमे उसकी अपेक्षा प्रवाह और प्रयोग वैचित्र्य एव कथानक वक्रता अधिक है। इनके अतिरिक्त निम्नलिखित प्रवन्ध काव्य, जिनमे कुछ महाकाव्य भी है, विशेष उल्लेखनीय है—

वैदेही वनवास—अयोध्यासिंह उपाध्याय
वर्द्धमान—अनूप शर्मा
देवार्चन—करील
नूरजहाँ—गुरुभक्तसिंह
विक्रमादित्य— ,,
दमयन्ती—ताराचन्द्र हारित
कृष्णायन—द्वारिकाप्रसाद मिश्र
रानी दुर्गावती—देवीलाल चतुर्वेदी
मीरा (महाकाव्य)—परमेश्वर द्विरेफ
जन-नायक—रघुवीरशरण मिश्र
अम्बपाली—राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह
राधाकृष्ण— ,,
कुरुक्षेत्र—दिनकर
चित्ररेखा—रामकुमार
अशोक—रामदयाल पाण्डे
पार्वती—रामानन्द दोषी
गाधी चरितमानस—विद्याधर महाजन
गौतम—वीरेन्द्र मिश्र
जौहर—श्यामनारायण पाण्डेय।
बापू—सियारामशरण गुप्त
तुलसीदास—सूर्यकान्त त्रिपाठी
रावण महाकाव्य—हरदयालसिंह
दयानन्दायन—गदाधर सिंह
रामचरित चिन्तामणि—रामचरित उपाध्याय
नलनरेश—पुरोहित प्रतापनारायण
प्रताप चरित्र (ब्रजभाषा)—केसरीसिंह
सिद्धार्थ—अनूप शर्मा
रामचन्द्रोदय—रामनाथ ज्योतिषी
पुरुषोत्तम—निराला
मानसी—उदयशकर भट्ट
हल्दीघाटी—श्यामनारायण पाण्डेय
जौहर—सुधीन्द्र
जौहर—रामकुमार वर्मा
महामानव—ठाकुरप्रसादसिंह
शर्वाणी—अनूप शर्मा
उर्मिला—नवीन (अप्रकाशित)

खण्डकाव्य

सस्कृत काव्यशास्त्र के ग्रन्थो मे खण्डकाव्य की कोई विस्तृत व्याख्या नही मिलती है। केवल एक स्थल पर ही उसके स्वरूप की थोडी चर्चा की गई है। वह है "खण्डकाव्य भवेत काव्यस्य एकदेशानुसारि चै" (साहित्य-दर्पण ३।१३९), अर्थात् खण्डकाव्य महाकाव्य का एक देशीय रूप होता है। अब प्रश्न यह है कि एकदेशीयता से लेखक का क्या अभिप्राय है। हमारी समझ मे एकदेशीयता से लेखक ने कई बाते व्यजित की है।

(१) उसमे जीवन के किसी एक पक्ष का चित्रण किया जाता है।
(२) उसमे महाकाव्य के लक्षण सकुचित रूप मे स्वीकार किए जाते हैं।
(३) रूप और आकार मे खण्डकाव्य महाकाव्य से छोटा होता है।
(४) कुछ अन्य विशेषताएँ—प्रभावान्विति, वर्णन प्रवाह आदि।

जहाँ तक पहली बात का सम्बन्ध है वह बहुत स्पष्ट है। महाकाव्य मे जीवन का सर्वांगीण चित्र रहता है। किन्तु खण्डकाव्य में उसके किसी रोचक और मार्मिक पक्ष का ही उद्घाटन किया जाता है। उसके लिए कवि किसी रोचक, रमणीय भावोद्बोधक घटना, परिस्थिति या प्रसग की कल्पना करता है। वह उसको अपने वर्णन-सौष्ठव से प्रभावपूर्ण और मर्मस्पर्शी बना देता है।

दूसरी बात थोडी विचारणीय है। वह है खण्डकाव्य को महाकाव्य का सकुचित

रूप कहना। खण्डकाव्य मे महाकाव्य के लक्षणो का आशिक और एक देशीय रूप में निर्वाह होता है। इस प्रसग मे महाकाव्य के लक्षणो का पर्यवेक्षण करना पडेगा। महाकाव्य के लक्षणो पर विस्तृत विचार मैं पहले ही कर चुका हूँ। यहाँ पर महाकाव्य के भारतीय लक्षणो के प्रकाश मे खण्डकाव्य के स्वरूप की मीमासा करेंगे। विश्वनाथ के अनुसार महाकाव्य का नायक सद्वश या क्षत्रिय होना चाहिए। दण्डी के अनुसार उसका सदाश्रय, चतुर और उदात्त होना भी आवश्यक होता है। महाकाव्य की यह विशेषता खण्डकाव्य मे थोडी शिथिलता से ग्रहण की गई है। खण्डकाव्य का नायक साधारणतया उच्च वश का होना चाहिए। सुदामा चरित् के नायक सुदामा उच्च वश के ब्राह्मण है। पचवटी के नायक लक्ष्मण श्रेष्ठ क्षत्रिय वश के है। पथिक और मिलन आदि के नायक आदर्श कोटि के अभिजात कुल के सामान्य व्यक्ति हैं। इन अनेक उदाहरणो के आधार पर इतना स्पष्ट है कि खण्ड-काव्य का नायक कोई भी उच्च वश का आदर्श महापुरुष हो सकता है।

महाकाव्यो मे शृगार, वीर, शान्त इन तीनो मे से कोई एक रस अगी रूप और अन्य रस अग रूप होते हैं। खण्डकाव्य मे इस प्रकार का कोई नियम नही है। उसमे किसी एक रस का परिपाक प्रधान रूप से दिखाया जाना चाहिए। अन्य रस गौण रूप मे रहते है। उनकी स्थिति अनिवार्य नही है। वे हो भी सकते हैं और नही भी हो सकते। यह भी हो सकता है कि खण्डकाव्य मे किसी रस विशेष का परिपाक न दिखाया जाकर किसी उदात्त भाव का चरम सौन्दर्य भर दिखाकर मुग्ध कर दिया जाय। सुदामा चरित् मे नरोत्तमदास ने ऐसा ही किया है। उन्होने मैत्री भाव का ही चरम सौन्दर्य दिखाकर हमारे हृदय को भाव विभोर कर दिया है। उस भाव के उदात्त और उद्दीप्त स्वरूप को देखकर हमारा रोम-रोम पुलकायमान हो जाता है।

भारतीय काव्यशास्त्रियो के अनुसार महाकाव्य सर्गबद्ध होना चाहिए। दण्डी ने सर्गों की कोई सख्या नही निश्चित की है किन्तु विश्वनाथ ने कम से कम आठ सर्गों का होना आवश्यक बताया है।

महाकाव्य की यह विशेषता खण्डकाव्य मे आशिक रूप मे ही पाई जाती है। खण्डकाव्य सर्गबद्ध हो भी सकता है और नही भी हो सकता। खण्डकाव्य यदि सर्गबद्ध रखना हो तो फिर सर्ग छोटे होने चाहिएँ। वे सख्या मे आठ से अधिक नही होने चाहिएँ।

महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग मे एक ही छन्द होना चाहिए किन्तु सर्ग के अन्त मे छन्द परिवर्तन होना भी आवश्यक है। खण्डकाव्य मे इस प्रकार का कोई अनिवार्य नियम लागू नही होता। उसमे भावानुकूल छन्द योजना को ही महत्त्व दिया जाना चाहिए। सुदामा चरित् मे हमे एक ही पृष्ठ पर दोहा, कवित्त, सवैया आदि कई छन्द नियोजित किए हुए दिखाई देते हैं। वास्तव मे खण्डकाव्य मे महाकाव्य की अपेक्षा अभिनेयता की मात्रा अधिक रहती है। यही कारण है कि कवि को पात्र, परिस्थिति और भावना के परिवर्तन के साथ छन्द भी परिवर्तित करना पड़ता है।

महाकाव्य मे वस्तु-विन्यास नाटकीय सधियो के आधार पर किया जाता है

किन्तु खण्डकाव्य मे इस प्रकार का कोई नियम नही है। उसका वस्तु-विन्यास कथा की रोचकता के अनुरूप होना चाहिए। कथा का जो अश रोचकतम हो उसे थोडा बाद को रखना चाहिए तथा कौतूहल और उत्सुकताबर्द्धक अश पहले रहने चाहिएँ।

महाकाव्य के सदृश खण्डकाव्य का एक लक्ष्य होता है। वह लक्ष्य अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष तो हो ही सकता है किन्तु इसके अतिरिक्त किसी उदात्त भाव के उद्दीप्त रूप को सामने रखकर मानव-मन को उद्‌वोधित करना भी होता है।

महाकाव्य मे यह भी नियम है कि आरम्भ मे मगलाचरण तथा उसके बाद सज्जनो की प्रशसा और दुर्जनो की निन्दा भी होनी चाहिए। खण्डकाव्य मे इन सब के लिए अधिक अवकाश नही रहता। मगलाचरण ग्रन्थ के आरम्भ मे किन्ही परिस्थितियो मे रखा भी जा सकता है किन्तु वह बहुत सक्षिप्त होना चाहिए।

महाकाव्य मे सन्ध्या, सूर्योदय, मृगया, आदि अनेक आनुषगिक वस्तुओ और प्रसगो के वर्णन मिलते हैं। किन्तु खण्डकाव्य मे इन सव के लिए अवकाश नही रहता। हाँ, प्रकृति के रमणीय चित्रो की अवतारणा सक्षेप मे सश्लिष्ट शैली मे की जा सकती है। किन्तु यदि भाव या परिस्थिति की पृष्ठभूमि के रूप मे की जाय तो और भी अच्छा है।

महाकाव्य का यह भी नियम है कि उसका नामकरण वृत्त के अथवा नायक के नाम के आधार पर किया जाना चाहिए। महाकाव्य का यह नियम खण्डकाव्य पर पूर्णतया लागू होता है। उसका नामकरण नायक अथवा इतिवृत्त के आधार पर ही किया जाना चाहिए।

महाकाव्य की इतनी वैधानिक विशेषताओ के होते हुए भी खण्डकाव्य महाकाव्य से रूप और आकार मे बहुत छोटा होता है।

इतनी विशेषताओ के अतिरिक्त खण्डकाव्य मे कुछ और बातो का होना भी आवश्यक होता है। वे इस प्रकार है—

(१) **प्रभावान्विति**—खण्डकाव्य मे एक ही प्रभावान्विति होती है। वह प्रभावान्विति ही उसकी कथावस्तु को समुचित सघटना प्रदान करती है। यही कारण है कि सन्धियो आदि के नियोजन के विना ही खण्डकाव्य मे कथावस्तु समुचित रूप से सुसगठित प्रतीत होती है।

(२) **निर्वाध वर्णन प्रवाह**—खण्डकाव्य की दूसरी प्रमुख विशेषता उसकी निर्वाध अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति की निर्वाधता तीन बातो पर आश्रित रहती है।

(क) **क्रिया व्यापार की निर्वाध अभिव्यक्ति**—इसके लिए कवि को ऐसी परिस्थिति या घटना को खण्डकाव्य का विपय वनाना चाहिए जिसमे क्रिया व्यापार का निर्वाध प्रवाह हो। उसे क्रिया व्यापार के वाधक तत्त्वो से सदैव वचते रहना चाहिए। क्रिया व्यापार मे व्याघात पडने पर वर्णन-प्रवाह वाधित हो जाता है।

क्रिया व्यापार की गति को निर्वाध वनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि सक्षिप्त, ओजपूर्ण, परिस्थिति के अनुरूप, त्वरा वुद्धिमूलक, तर्कपूर्ण सवादो की

योजना की जाय। इस प्रकार के सवाद एक ओर इतिवृत्त को गति प्रदान करते हैं दूसरे क्रिया व्यापार को सक्रिय रखते है।

(ख) अवान्तर कथाओ और घटनाओं आदि का परित्याग—खण्डकाव्य मे कथा-प्रवाह बनाए रखने के लिए कवि को अवान्तर कथाओ से बचना चाहिए। आनुषगिक सभी बातें बचाई जानी चाहिएँ। इतिवृत्त मे केवल उन्ही परिस्थितियो, घटनाओ और पात्रो की अवतारणा करनी चाहिए जिनसे व्यर्थ का विस्तार न हो और कथा-प्रवाह भी बना रहे।

(ग) खण्डकाव्य मे चरित्र-चित्रण भी मिलता है, किन्तु नाटक और महाकाव्य की चरित्र-चित्रण कला मे खण्डकाव्य की चरित्र-चित्रण कला थोडी भिन्न होती है। प्रबन्ध-काव्य मे नायकादि के चरित्र की सभी उदात्त विशेषताओं का उद्घाटन किया जाता है। किन्तु खण्डकाव्य मे इतना अवकाश नही होता। खण्ड-काव्य मे पात्रो के चरित्र-चित्रण सम्बन्धी केवल दो एक प्रमुख विशेषताओ पर ही बल दिया जाता है। सम्पूर्ण कथावस्तु उन्ही दो एक गुणो के विविध पक्षो पर प्रकाश डालती है।

संक्षेप मे खण्डकाव्य की यही वैधानिक विशेषताएँ है।

हिन्दी के प्रसिद्ध खण्डकाव्य—हिन्दी मे बहुत से खण्डकाव्य लिखे गए है। किन्तु उनमे कुछ ही महत्त्वपूर्ण हैं। उनके नाम क्रमश इस प्रकार है—

१—सुदामा चरित	—(नरोतम कवि)
२—जयद्रथ वध	—(मैथिलीशरण गुप्त)
३—वक महार	—(,, ,,)
४—सैरन्ध्री	—(,, ,,)
५—पचवटी	—(,, ,,)
६—तिलोत्तमा	—(,, ,,)
७—भोजराज	—(रसाल)
८—पथिक	—(रामनरेश त्रिपाठी)
९—मिलन	—(,, ,,)
१०—रति विलाप	—(उदयवीर विराज)

मिश्रित रूप

हिन्दी मे कुछ ऐसी रचनाएँ भी मिलती हैं जिनमे हमे मुक्तक और प्रबन्ध दोनो का मिश्रित रूप दिखाई पडता है। ये मिश्रित काव्यरूप दो प्रकार के होते हैं—एक वे जिनमे प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक की प्रधानता रहती है और दूसरे वे जिनमें मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्धत्व प्रधान रहता है। एक को हम मुक्तकोन्मुख प्रबन्ध कहेंगे और दूसरे को प्रबन्धोन्मुख मुक्तक। प्रथम के उदाहरण मे हम रामचन्द्रिका और गीतावली आदि का और द्वितीय के उदाहरण मे उद्धवशतक का नाम निर्दिष्ट कर सकते है।

कवि की कल्पना-शक्ति पर विचार करते समय विचारणीय तत्त्व

कल्पना के स्वरूप आदि के सम्बन्ध मे जो विभिन्न मत है, उनका स्पष्टीकरण

हम प्रथम भाग मे कर चुके हैं। अत यहाँ पर हम उसका पिष्टपेपण नही करना चाहते। यहाँ पर हम केवल उन्ही बातो का उल्लेख करेंगे जिनके आधार पर किसी भी कवि की कल्पना-शक्ति का विवेचन किया जाना चाहिए।

कल्पना-शक्ति के सम्बन्ध मे भारत मे प्रतिभा और भावना के अन्तर्गत ही विचार किया गया है। उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नही समझा जाता था। किन्तु पाश्चात्य देशो मे कल्पना का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया गया है। पाश्चात्य प्रभाव से भारत मे कल्पना को स्वतन्त्र शक्ति समझा जाने लगा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कल्पना को भावुकता का ही अग मानते थे। मेरी समझ मे कल्पना भावमूलक और बुद्धिमूलक दोनो प्रकार हो सकती है। जब कल्पना किसी भावना से प्रेरित होकर प्रसग योजना, अप्रस्तुत नियोजन, भाव तथा चित्र विधान करती है तब वह भावमूलक होती है और जब वह बुद्धि से प्रेरित होती है तब उसे ऊहा कहते है। अत कवि के कल्पनामूलक प्रसगो, चित्रो, भावो और विचारो आदि का विवेचन करने से पहले यह देखना होगा कि उसके मूल मे कोई भावना क्रियमाण है अथवा कोई बौद्धिक व्यापार जागरूक है।

(१) भावमूलक कल्पना— भाव प्रेरित प्रसगो, चित्रो और भावो की कुछ अपनी विशेपताएँ होती है। वे इस प्रकार है—

(क) उनमे भाव, रस और ध्वनिमूलक एक विचित्र रमणीयता होती है।

(ख) वे प्रभावपूर्ण सश्लिप्ट और स्पष्ट होते है।

(ग) वे परम्परागत सस्कारो से सम्बन्धित होते है।

इनके विपरीत ऊहात्मक कल्पना मे निम्नलिखित विशेपताएँ होगी।

(क) उसमे वाग्वैदग्ध्य-प्रधान चमत्कार होता है।

(ख) उसमे अलकारमूलक चमत्कार होता है।

(ग) उसमे जटिलता और क्लिष्टता होती है।

(घ) उसमे परम्परागत तथ्यो और सस्कारो की उपेक्षा रहती है।

भावमूलक कल्पना के कई प्रकार हो सकते है—

(क) स्मृत्याभाम कल्पना।

(ख) इतिहासावृत्त स्मृत्याभाम कल्पना।

(ग) कवि समयो पर आधारित कल्पना।

(२) स्मृत्याभास कल्पना—यह वह कल्पना है जो स्मृति का आधार लेकर अग्रसर होती है। जैसे—"इहि बिरिया वन से ब्रज आवते।"

इतिहासावृत्त स्मृत्याभास कल्पना- हम पुराण, इतिहास आदि के वर्णनो के आधार पर बहुत नए चित्रो का निर्माण करते है। इस प्रकार के चित्रो का कारण यही कल्पना होती है। जैसे सूर का निम्नलिखित पद ले सकते है—

हरि कर राजत माखन रोटी।

मनो वराह भूधर सह पृथिवी धरी दसनन की कोटी॥

(४) कवि-समयो पर आधारित कल्पना—कवियों की अधिकाश कल्पना का सम्बन्ध कवि-समयो से होता है। अत यहाँ पर हम थोड़ा उसका स्पष्टीकरण

भी कर देना चाहते हैं। कवि-समय पर आधारित कल्पना के उदाहरण मे सूर का यह पद देखिए—

हमको सपनेहू मे सोच।
जा दिन से बिछुरे नन्दनन्दन ता दिन तें यह पोच॥
मनो गोपाल आए मेरे घर हँसि करि भुजा गही।
कहा करौं वैरिन भई निंदिया निमिष न और रही॥
ज्यो चकई प्रतिबिंब देखिकै आनन्दी पिय जानि।
सूर पवन मिलि निठुर विधाता चपल कियो जल आनि॥

कवि-समय—सस्कृत के केवल दो ही आचार्यों ने कवि-समयो पर विचार किया है। वे है राजशेखर और वामन। राजशेखर ने कवि-समय की परिभाषा देते हुए लिखा है—"अशास्त्रीय अलौकिक केवल परम्परा प्रचलित जिस अर्थ का उल्लेख कविजन करते आए है उसे ही कवि-समय कहते है।" इसको और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होने एक दूसरे स्थल पर लिखा है—"प्राचीन विद्वानो ने सहस्रो शाखा वाले वेदो का अगो सहित अध्ययन करके शास्त्रो का तत्त्व-ज्ञान करके देशान्तर और द्वीपान्तरो का भ्रमण करके जिन वस्तुओ को देख, सुन और समझकर उल्लिखित किया है उन वस्तुओ और पदार्थों का देश-काल और कारण-भेद होने पर भी विपरीत हो जाने पर भी उसी प्राक्तन अविकृत रूप मे वर्णन करना कवि-समय है।" (काव्य-मीमासा पण्डित केदारनाथ सारस्वत की टीका, पृ० १६१)

कवि-समय के भेद—राजशेखर ने कवि समय के प्रमुख तीन भेद बताए है।
(क) स्वर्ग्य, (ख) भौम, और (ग) पातालीक।

(क) स्वर्ग्य कवि-समय—स्वर्गीय व्यक्तियो की वस्तुओ के सम्बन्ध मे कवि परम्परागत तथ्यो का वर्णन करना स्वार्ग्य कवि-समय कहलाता है जैसे—शश और हरिण की एकता। कवि लोग चन्द्रमा मे शशि और हरिण दोनो का उल्लेख करते आए हैं। इसी प्रकार कामदेव के ध्वज चिह्न को कही मकर रूप और कही मत्स्य रूप कहा गया है। पुराणो मे चन्द्रमा की उत्पत्ति कही अत्रि के नेत्र से और कही समुद्र मे मानी गई है। कवि लोग इन दोनो बातो को एक ही मानकर वर्णन करते रहे हैं।

(ख) भौम कवि-समय—यह कवि-समय चार प्रकार का बताया गया है। (अ) जातिरूप, (इ) द्रव्यरूप; (उ) गुणरूप, और (ऋ) क्रियारूप।

(अ) जातिरूप—किसी विशेष वस्तु मे पाई जाने वाली वस्तु की प्राप्ति वस्तु जाति मात्र मे उल्लिखित करना जातिरूप कवि-समय होता है। जैसे कमल सुन्दर जलाशयो मे उत्पन्न होता है। किन्तु उसका नदियो मे भी उल्लेख करना अथवा जैसे हसादि मानसरोवर मे ही होते है किन्तु उनका समस्त सरोवरो मे उल्लेख करना आदि।

(इ) द्रव्यरूप—कवि परम्परागत असत् द्रव्य का काव्य मे निबन्धन करना द्रव्य कवि-समय कहलाता है। जैसे—कृष्ण पक्ष मे चन्द्रिका के होने पर भी उसका वर्णन न करना। इस प्रकार के और कवि-समयो मे मलयाचल मे चन्दन का उल्लेख

करना, रात्रि मे चकवा-चकई का वियोग चित्रित करना, चकोरो का चन्द्रिका पान करना आदि विशेष उल्लेखनीय है।

(उ) **गुणरूप**—इसके उदाहरण बहुत कम मिलते है।

(ऋ) **क्रियारूप**—असत् क्रियाओ का सत् रूप मे स्वीकार करना क्रियारूप कवि-समय कहलाता है। जैसे रात्रि मे नील कुमुद का विकसित होना, शेफाली के कुसुमो का रात्रि मे भ्र श होना आदि-आदि।

(ग) **पातालीक कवि-समय**—पातालीय वस्तुओ के सम्बन्ध मे प्रस्तुत किए गए कवि-समयो को पातालीक कवि-समय कहते हैं। जैसे नाग और सर्प आदि की एकता प्रदर्शित करना।

इस प्रकार कवि-समयो की योजना मे जहाँ कवि की जानकारी सहायक होती है वही उसकी कल्पना-शक्ति भी उनको प्रस्तुत करने मे योग देती है। कवि-कल्पना का विवेचन करते समय इन कवि-समयो का उदघाटन भी किया जाना चाहिए। इन विविध प्रकार की कल्पनाओ का विवेचन करके आलोचक को विवेच्य कर्म मे उनकी अवस्थिति दिखानी चाहिए। पुनश्च कवि द्वारा कल्पना के उपयोगो पर प्रकाश डालना चाहिए।

कवि द्वारा कल्पना का उपयोग—काव्य-रचना मे कवि कल्पना का उपयोग दो रूपो मे किया करता है—(१) वस्तु-वर्णन मे और (२) अलकार विधान मे।

(१) **वस्तु-वर्णन मे कल्पना का वियोग**—वस्तु-वर्णन मे कवि अपनी कल्पना के सहारे विविध वस्तुओ को नियोजित और सगठित करता है जिससे वर्णन मे चित्रात्मकता और सश्लिष्टता आती है। यह सश्लिष्टता कवि के सूक्ष्म पर्यवेक्षण का परिणाम होती है। इससे चित्र मे सजीवता और स्वाभाविकता आती है।

(२) **अलकार-विधान मे कल्पना का प्रयोग**—कवि की कल्पना का सही उपयोग अलकार विधान के क्षेत्र मे देखा जाता है। इस सम्बन्ध मे हम आचार्य शुक्ल का निम्नलिखित उद्धरण उद्धृत कर सकते है—"कहने की आवश्यकता नहीं कि अलकार विधान मे उपयुक्त उपमान लाने मे कल्पना ही काम करती है। जहाँ वस्तु गुण या क्रिया के पृथक्-पृथक् साम्य पर ही कवि की दृष्टि रहती है वहाँ वह उपमान, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का सहारा लेता है और जहाँ व्यापार-समष्टि या पूर्ण प्रसग का साम्य अपेक्षित होता है वहाँ द्रष्टान्त, अर्थान्तरन्यास और अन्योक्ति का। उपर्युक्त विवेचन से यह प्रकट है कि प्रस्तुत के मेल मे जो अप्रस्तुत रखा जाय वह वस्तु गुण या क्रियारूप हो। अथवा व्यापार-समष्टि—वह प्राकृतिक और चित्ताकर्षक हो तथा उसी प्रकार का भाव जगाने वाला हो जिस प्रकार का प्रस्तुत। व्यापार-समष्टि के समन्वय मे कवि की सहृदयता का जिस पूर्णता के साथ दर्शन होता है उस पूर्णता के साथ वस्तु, क्रिया आदि के पृथक्-पृथक् समन्वय मे नही।" शुक्लजी ने अपने कथन की पुष्टि मे भ्रमरगीत से बहुत से सुन्दर उदाहरण उद्धृत किये हैं। उनमे से एक छोटा सा उदाहरण इस प्रकार है—

सागर कूल मीन तरफत है हुलसि होत जल पीन।

इस पक्ति मे सूरदास ने सुन्दर प्राकृतिक चित्र द्वारा पूरे प्रसग की व्यजना

कर दी है। गोपियाँ मथुरा से थोडी ही दूर विरह मे तडफ रही हैं और कृष्ण निर्द्वन्द्व भाव से मथुरा मे आनन्द मे निमग्न है। यह हुई भाव-प्रेरित कल्पना की विवेचना-पद्धति।

ऊहा का विवेचन—बुद्धि-प्रेरित कल्पना को ऊहा या अनुमान कहते हैं। कला को विशेष महत्त्व देने वाले कवियो मे प्राय कल्पना के इसी रूप की झाँकी अधिक मिलती है। ऊहा उक्ति मे वक्रता की स्थापना करती है। बिहारी मे इस प्रकार के चमत्कार भरे पडे है। सूर और जायसी मे भी उनकी कमी नही है। उदाहरण के लिए सूर का निम्नलिखित पद देखिये—

कर धनु लै किन चदहि मारि।
तू हरुवाय जाय मदिर चढि ससि सम्मुख दर्पण विस्तारि।
याही भाँति बुलाय मुकुर महि अति बल खड-खड करि डारि।

ऊहामूलक वचन वक्रता या वाग्वैदग्ध्य—ऊपर हम कह चुके है कि बुद्धि-प्रेरित कल्पना को ऊहा कहते है। इसके निम्नलिखित रूप देखने मे आते है—

(१) वर्ण विन्यास वक्रता, (२) पारिभाषिक शब्दगत वक्रता, (३) श्लिष्ट शब्दगत वक्रता, (४) सख्या के पर्यायवाची शब्दो के प्रयोग से उद्भूत, (५) प्रतीकात्मक शब्द-जनित, (६) वाक्यगत, (७) सूक्तिमूलक वक्रता, (८) प्रकरण वक्रता, (९) प्रबन्ध वक्रता, (१०) प्रसग गर्भत्व प्रधान वाग्वैदग्ध्य, और (११) वाक् चातुर्यमूलक वक्रता।

यह सभी शीर्षक स्पष्ट से ही है और साहित्य में इनके सैकडो उदाहरण मिलते है। अतएव यहाँ पर इनका अकारण लक्षण और उदाहरण देकर विस्तार नही किया जा रहा है।

हिन्दी कविता मे प्रकृति-चित्रण के रूप और प्रकार

आदि काल से ही मानव प्रकृति के साहचार्य की अभिव्यक्ति अपनी वाणी से किसी न किसी रूप मे करता आया है। उन समस्त रूपो और प्रकारो को शास्त्र के अन्तर्गत बाँधना थोडा कठिन है। किन्तु फिर भी प्रकृति-वर्णन के निम्नलिखित रूप दिखाई पडते हैं—

(१) आलम्बन रूप मे, (२) उद्दीपन रूप मे, (३) अलकार रूप मे, (४) रहस्य भावना की अभिव्यक्ति के रूप मे, (५) पृष्ठभूमि के रूप मे, और (६) उपदेश के रूप मे।

(१) आलम्बन रूप मे—आलम्बन रूप मे भी प्रकृति के कई प्रकार के वर्णन दिखाई देते है—(क) वस्तु परिगणनात्मक वर्णन, (ख) सामान्य वर्णन, और (ग) सश्लिष्ट वर्णन। इन तीनो मे अन्तिम दो के फिर दो-दो भेद किए जा सकते है—(१) भावोद्दीपक, और (२) इन्द्रियोत्तेजक। यह भी मधुर और भयावह भेद से दो प्रकार के कहे जा सकते हैं।

(२) उद्दीपन रूप मे—उद्दीपन रूप मे भी हमे प्राय प्रकृति-वर्णन के दो रूप दिखाई देते हैं। एक मानव-भावनाओ की अनुरूपता मे और दूसरे मानव-भावनाओ की प्रतिकूलता मे। रीतिकालीन कविता मे हमे प्रकृति के उद्दीपन रूप के यह दोनो प्रकार अनेक स्थलो पर दिखाई पडते हैं।

(३) **अलकार रूप मे**—इस रूप मे प्रकृति-चित्रण हमे दो रूपो मे दिखाई पडता है—एक मानवीकरण के रूप मे, दूसरे अप्रस्तुत योजना के रूप मे। मानवीकरण के उदाहरण छायावादी कविता मे अधिक मिलते हैं और अप्रस्तुत योजना के उदाहरण लगभग सम्पूर्ण हिन्दी कविता मे उपलब्ध है।

(४) **रहस्य भावना की अभिव्यक्ति के रूप मे**—कवियो ने प्रकृति का उपयोग रहस्य भावना की अभिव्यक्ति के रूप मे भी किया है। रहस्य भावना की अभिव्यक्ति भी हमे प्रकृति के माध्यम से तीन रूप मे मिलती है—(१) जिज्ञासात्मक रूप मे, (२) दार्शनिक कथन के रूप मे, और (३) विराट् भावना के आरोपण के रूप मे। प्रथम के उदाहरण हमे छायावादी कविता मे तथा सतो की वाणियो मे मिलते है। द्वितीय प्रकार की अभिव्यक्ति हमे सतो की वाणियो मे अधिक दिखाई पडती है। तृतीय प्रकार के लिए जायसी आदि सूफी कवि प्रसिद्ध हैं।

(५) **पृष्ठभूमि के रूप मे**—इसकी भी अभिव्यक्ति दो रूपो मे मिलती है। (१) मानव-भावनाओ की अनुरूपता मे, और (२) मानव-भावनाओ के वैषम्य मे। इन दोनो प्रकार के उदाहरण हमे सूर, प्रसाद, हरिऔध आदि कवियो मे मिल जाते हैं।

(६) **उपदेश के रूप मे**—प्रकृति उपदेश का माध्यम भी रही है। इन उपदेशो की अभिव्यक्ति भी प्रकृति के माध्यम से तीन रूपो मे दिखाई पडती है—(१) प्रभु सम्मित रूप मे, (२) सुहृद सम्मित रूप मे, (३) कान्ता सम्मित रूप मे। प्रथम के उदाहरण सत कवियो मे मिलते है, द्वितीय के उदाहरण सूर, तुलसी आदि मे पाए जाते है, और तृतीय के उदाहरण के लिए सूफी कवियो का नामोल्लेख किया जा सकता है। अन्योक्ति, रूपक, प्रतीक आदि अभिव्यक्ति प्रसाधनो का आश्रय भी अधिकतर उपदेश प्रधान प्रकृति-चित्रणो मे ही लिया जाता है।

साहित्य मे उपर्युक्त प्रकार के प्रकृति-चित्रणो के शत् शत् उदाहरण भरे पडे हैं। विस्तार-भय से यहाँ पर उदाहरणो का उल्लेख नही किया गया है।

कवि की भावुकता के प्रसग मे विचारणीय बातें

मार्मिक प्रसगो, रमणीय चित्रो और सरस भावो के अभिज्ञान, उनकी उद्भावना तथा उनमे तन्मय होने की क्षमता को ही भावुकता कहते है। जिस कवि मे यह क्षमता जितनी अधिक होती हैं, वह उतना ही अधिक भावुक समझा जाता है। किसी भी कवि की इस क्षमता का विश्लेषण करते समय निम्नलिखित बातो पर विशेष रूप से विचार करना चाहिए—

कवि की सहृदयता—सहृदय कवि ही भावुक हो सकता है क्योकि भावो का अधिष्ठान कवि का वृत्ति कोष ही होता है। अब प्रश्न यह है कि कवि की सहृदयता की पहचान कसे की जाय। इसके लिए निम्नलिखित बातो की खोज करनी पडेगी—

(क) उसका हृदय कहाँ तक सवेदनशील है। उसमे दूसरो के प्रति सहानुभूति, उदारता, क्षमा, दया आदि वृत्तियो की स्वाभाविक प्रवृत्ति किस मात्रा

होती है। इसके उदाहरण के रूप मे जीवन के कुछ सस्मरण उद्धृत किए जा सकते है।

(ख) हृदय की निर्मलता और पवित्रता—कवि का हृदय जितना निर्मल और पवित्र होगा उतने ही श्रेष्ठ काव्य का वह अधिष्ठान बन सकेगा।

(ग) अनुभूति की कोमलता और तीव्रता—ससार मे मानव अनेक प्रकार के होते हैं। कुछ कोमल हृदय होते हैं, कुछ कठोर हृदय। कोमल हृदय मे सामान्य बातो को भी अनुभव करने की बडी विलक्षण क्षमता होती है। सामान्य व्यक्तियो के लिए जिन बातो का कोई महत्त्व नही होता, कोमल हृदय व्यक्ति के लिए वे ही बाते बड़ी महत्त्वपूर्ण बन जाती है।

दृष्टि-विस्तार—सामान्य मानव मे और सहृदय कवि मे यही अन्तर होता है कि एक की दृष्टि स्थूल होती है तथा वह स्थूल पदार्थो तक ही सीमित रह जाती है। जब कि कवि की दृष्टि बडी भेदनशील होती है वह स्थूल पदार्थों मे सूक्ष्म भावो की पर्यवेक्षण की अलौकिक क्षमता रखती है। ऐसे ही व्यक्ति को जीवन और जगत के कण-कण मे एक विचित्र सन्देश सन्निहित दिखाई पडता है। उसकी दृष्टि का यह विस्तार ही उसकी सहृदयता का पुष्ट प्रमाण है।

तन्मय होने की क्षमता—भावुक कवि की यह भी एक विशेषता होती है कि वह अपने वर्ण्य-विषय मे इतना तन्मय हो जाता है कि साधारणीकरण की अवस्था को पहुँच जाता है। उस दशा मे उदभूत रचनाएँ ही सरस और भाव-प्रधान होती है।

मार्मिक स्थलों का अभिज्ञान—सच्चा भावुक वही होता है जिसे मार्मिक स्थलो की पहिचान होती है। किन्तु यह बात केवल प्रबन्ध कवि के सम्बन्ध में ही लागू हो सकती है। क्योकि प्रसगो की बहुलता तो प्रबन्ध काव्य मे ही देखी जाती है। मुक्तक मे मार्मिक चित्रो की प्रधानता होती है मार्मिक प्रसगो की नही। प्रबन्ध कवि का लक्ष्य सम्पूर्ण जीवन की झाँकी सजाना होता है। जीवन मे रमणीयता-अरमणीयता, शुष्क और मार्मिक सभी प्रकार के प्रसग रहते है। भावुक कवि अमार्मिक प्रसगो का इतिवृत्तात्मक शैली मे वर्णन करता है और मार्मिक प्रसगो का विस्तार से प्रतिपादन तथा वर्णन करता है। इस प्रकार के वर्णन भी दो प्रकार के देखे जाते है—एक प्रयत्नज और दूसरे सहज। प्रयत्नज वर्णन उन कवियो के होते हैं जिनमे रमणीय प्रसगो मे तन्मय होने की क्षमता नही होती, और सहज वर्णन उन कवियो के होते है जिनमे रमणीय प्रसगो को पहचानने की ही नही उनमे तन्मय हो जाने की भी क्षमता होती है। इस दृष्टि से हिन्दी मे केशव और मैथिलीशरण गुप्त प्रथम कोटि में आते हैं। तुलसी, प्रसाद आदि द्वितीय कोटि में।

मार्मिक चित्रों की पहचान—जिस प्रकार भावुक प्रबन्ध कवि के लिए मार्मिक प्रसगो की पहचान परमापेक्षित होती है। उसी प्रकार भावुक मुक्तककार के लिए रमणीय चित्रो की पहचान परमावश्यक होती है। मुक्तक काव्यकार का कार्य बडा कठिन होता है। उसे जीवन के विविध पक्षो के वे ही रमणीय चित्र चुनने पडते है जिनमें दूसरो के हृदय को आल्हादित करने की विचित्र क्षमता हो। इस दृष्टि से बिहारी सर्वश्रेष्ठ कहे जा सकते है। किन्तु आजकल के गीत-काव्यकार उनसे

भी अधिक सफल कहे जा सकते हैं। क्योकि उन्होने रमणीय चित्रो को सम्पूर्ण जीवन जगत से चुनने की चेष्टा की है। प्राचीन कवियो की दृष्टि केवल प्रणय एव वात्सल्य-प्रधान प्रसगो तक ही पहुँच पाई थी। आज के गीतकार की दृष्टि की व्यापकता सर्वथा सराहनीय है।

मार्मिक भावो की पहचान—सच्चे भावुक कवि मे मार्मिक भावो की अच्छी पहचान होती है। भाव अगणित होते हैं। उन अगणित भावो, देश-काल युग के पाठको आदि के अनुरूप भावो का चित्रण करना ही सच्चे भावुक कवि का कार्य होता है। भाव स्थूल रूप से दो प्रकार के होते हैं। एक चिरन्तन और दूसरे युगज। प्रथम कोटि के भाव देश, काल और व्यक्ति की सीमा का उल्लघन कर सार्वकालिक, सार्वभौमिक एव सार्वजनीन वन जाते हैं। जिस कवि को इन भावो की जितनी गहरी पहचान होती है वह उतना ही महान् और भावुक समझा जाता है। दूसरी कोटि के भाव वे होते है जो किसी देश विशेष, जाति विशेष, सस्कृति विशेष तथा काल विशेष की सचित निधि होते है। सच्चे कवि को इनकी भी पहचान होनी चाहिए। यदि वह इनको पहचाने विना अनर्गल ढग से अपने काव्य मे सब प्रकार के भावो को स्थान देगा तो उसकी कविता निश्चय ही हास्यास्पद हो जायगी।

मार्मिक चित्रो, प्रसगो और भावो की उद्भावना, नियोजन व अभिव्यक्ति—सच्चे भावुक कवि मे मार्मिक प्रसगो, चित्रो और भावो के अभिज्ञान की शक्ति ही नही होती, वह उनकी उद्भावना मे भी समर्थ होता है। इस उद्भावना के कारण ही वह पुरातन भावो को नए ढग से प्रस्तुत करता है जिससे उसके काव्य मे मौलिकता का समावेश होता है। आलोचक को कवि की भावुकता का विवेचन करते समय उसके द्वारा नियोजित, कल्पित एव उद्भावित नूतन प्रसगो, चित्रो और भावो का भी निर्देश करना चाहिए।

सरसता—भाव और रस का अन्योन्याश्रय भाव सम्वन्ध है यह हम वार-वार प्रमाणित कर आए है। सच्चे भावुक कवि मे रसात्मकता का समावेश परमावश्यक होता है। इसके लिए उसको अपने काव्य मे रस की सम्यक प्रतिष्ठा करनी पडती है। यद्यपि रस का विवेचन हम रस सम्प्रदाय के प्रसग मे कर चुके है। किन्तु तत्सम्वन्धी कुछ वातो का स्पष्टीकरण यहाँ पर भी आवश्यक है।

काव्य स्थूल रूप से दो प्रकार के होते हैं—प्रवन्ध काव्य और मुक्तक। दोनो मे रसात्मकता का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न होता है। प्रवन्ध काव्य मे साग रस की निष्पत्ति की जाती है। प्राय सभी रसो की अवस्थिति रहती है। किन्तु प्रधान रस एक ही होता है। उसे अगी रस कहते है। शेष रस उसके पोषक और गौण होते है। उन्हे अग कहते हैं। अगी रस प्राय शृगार, करुण और वीर ही रखे जाते है। लोक मे इन्ही की अधिक मान्यता देखी जाती है। मुक्तक मे रस का साग परिपाक नही देखा जाता। उनमे रस के छीटे मात्र दिखाई पडते है। उसमे रसात्मकता की प्रतिष्ठा के लिए कुछ और उपाय अपनाए जाते हैं। वे इस प्रकार है—

(क) रस के किसी एक अग की प्रतिष्ठा।

(ख) किसी प्रकार के चमत्कार की योजना। यह चमत्कार अनेक प्रकार

का हो सकता है। किन्तु स्थूल रूप से उसके दो भेद मान सकते है—वक्रोक्तिमूलक, और अलकारमूलक। उसके भावमूलक और ऊहात्मक भेद भी किए जा सकते हैं। भावुक कवि भावमूलक चमत्कार की ही योजना करता है। सूर मुक्तक कवि है। उनकी वाणी भावमूलक चमत्कार-प्रधान है। इसीलिए वे भावुक कवि माने जाते है।

प्रेषणीयता—भावुक कवि की वाणी मे एक विशेपता और मिलती है जो अभावुक कवियो मे नही पाई जाती। वह है प्रेपणीयता। कविता मे प्रेपणीयता निम्नलिखित वातो से आया करती है।

(क) निर्वाध और निष्कपट अभिव्यक्ति—जव हृदय की अनुभूतियाँ विना किसी कृत्रिमता के निर्वाध और निष्कपट भाव से अभिव्यक्त होती है तभी वे सीधे हृदय पर चोट करती है। सच्चे भावुक कवि मे इसलिए हम कला का झूठा आग्रह नही पाते।

(ख) सरल, स्वाभाविक प्रसादपूर्ण भाषा का प्रयोग—सच्चे भावुक कवि के वर्णनो मे एक विचित्र सरलता और प्रभावपूर्णता रहती है। उसमे स्वाभाविक लक्षणा और व्यजना की प्रतिष्ठा पाई जाती है। उससे वह वहुत प्रभावपूर्ण वन जाती है। जायसी और प्रसाद इसके सुन्दर उदाहरण है। जायसी का काव्य इसी लिए प्रथम कोटि मे रखा जा सकता है। उसमे हमे स्वाभाविक लक्षणा व्यजना-जनित अभिव्यक्ति सौष्ठव मिलता है।

सक्षेप मे जव भी किसी कवि की भावुकता का विवेचन करना हो तो इन्ही नियमो का आश्रय लेते हुए उसकी भावुकता की व्याख्या करनी चाहिए।

कवि की भाषा का अध्ययन करते समय विचारणीय वातें

भाषा पारस्परिक भावो के आदान-प्रदान का माध्यमभूत वह सार्थक व्यक्त ध्वनि समूह है जिसकी रूप-रेखा, प्रयोग-प्रवाह व्याकरण और भाषा-विज्ञान के नियमो से नियन्त्रित रहती है।

उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर किसी भी कवि की भाषा का विवेचन करते समय निम्नलिखित तीन दृष्टिकोणो से विचार करना चाहिए—

(१) प्रयोग और प्रवाह।

(२) व्याकरण।

(३) भाषा वैज्ञानिक तत्त्व।

(१) प्रयोग और प्रवाह—भाषा को जीवित रखने वाला प्रमुख तत्त्व ये ही है। जिस भाषा का नियन्त्रण प्रधान रूप से प्रयोग और प्रवाह के माध्यम से होता है वह ही जीवित भाषा समझी जाती है। लोक भाषा इन्ही दोनो प्राकृतिक तत्त्वो से अनुप्रेरित होता है। उसमे व्याकरण आदि का महत्त्व गौण होता है।

प्रयोग और प्रवाह के अन्तर्गत निम्नलिखित तत्त्व विचारणीय होते हैं।

(क) भाषा का रूप सहज है अथवा कृत्रिम—सहज रूप उसे कहते है जो व्याकरणिक नियमो आदि से दूषित होते हुए भी लोक मे प्रचलित हो जाने के

दूसरे स्थल पर उन्होने कवियो का वर्गीकरण मौलिकता की दृष्टि से भी किया है। इस दृष्टि से उन्होने कवि तीन प्रकार के बताए है—(१) उत्पादक, (२) परिवर्तक, और (३) आच्छादक। यह विभाजन कुछ अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होता है। उत्पादक वे कवि होते है, जिनमे शत-प्रतिशत मौलिकता होती है। परिवर्तक कवि वे होते है जिनमे अपनी मौलिकता नही होती, वे अपने किसी पूर्ववर्ती कवि की रचना को अपने ढग पर बदलकर रख देते है। आच्छादक भी मौलिकता की दृष्टि से बहुत उत्तम नही होते। उसकी सबसे बडी विशेषता यह होती है कि वह अपनी साहित्यिक चोरी को कलात्मक ढग से छिपाने मे समर्थ होता है।

हमारी समझ मे राजशेखर का वर्गीकरण आज बहुत अधिक महत्त्व नहीं रखता। इसके अतिरिक्त उसके वर्गीकरणो के अन्तर्गत हिन्दी के बहुत से कवि नही आ सकते। अतएव वर्गीकरण की पुनर्व्यवस्था बडी आवश्यक प्रतात होती है। सामान्य रूप से कवियो के दो प्रमुख भेद किए जा सकते है—(१) कवि, और (२) महाकवि। कवि मे हमे महाकवि की अपेक्षा मौलिक भावो की उद्भावना-शक्ति और अलौकिक वस्तु के उन्मेष की प्रवृत्ति कम मिलती है। आगे हम महाकवि का जो स्वरूप स्पष्ट करेगे, उससे कवि और महाकवि का भेद और अधिक स्पष्ट हो जायगा। इन दोनो स्थूल भेदो के भी क्रमश दो-दो भेद किए जा सकते है—एक मनीषी कवि और दूसरे लौकिक या रसिक कवि। मनीषी कवियो के भी युग-द्रष्टा और भक्त यह दो भेद किए जा सकते है। लौकिक, मनीषी दोनो कवियो के क्रमश प्रबन्धकार और मुक्तककार यह दो भेद किए जा सकते हैं। प्रबन्धकार को फिर तीन रूपो मे बाँट सकते है—प्रबन्ध महाकवि, दूसरे प्रबन्धोन्मुख कवि, और तीसरे महाकाव्योन्मुख प्रबन्धकार कवि। इसी प्रकार लौकिक मुक्तक के भी क्रमशः रीतिकार, गीतिकार और नीतिकार नामक भेद किए जा सकते है।

महाकवि की परिभाषा—महाकाव्यो की इतनी चर्चा करने के बाद अब मैं महाकवि के स्वरूप को स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। बहुत से लोगो की धारणा है कि महाकाव्य की रचना करने वाले कवि को ही महाकवि कहते है किन्तु यह धारणा भ्रमपूर्ण है। महाकाव्य की रचना करके कोई कवि महाकवि की पदवी का अधिकारी नही होता। महाकवि की पदवी उसी कवि को प्राप्त होती है जिसमे महाकवि के गुण होते हैं।

महाकवि के गुणो की चर्चा राजशेखर ने अपनी काव्य-मीमासा मे कई स्थलो पर की है। ११वे अध्याय के अन्त मे उन्होने लिखा है—

> शब्दार्थोक्तिषु पश्येदिह किंचन नूतनम्।
> उल्लिखेत्किञ्चन प्राच्य मन्यता स महाकवि ॥

अर्थात् जो कवि शब्दो, अर्थों और उक्तियो मे कुछ नए भावो को देखने की शक्ति रखता है और अपनी प्रतिभा-प्रकर्ष से अलौकिक वस्तु का उन्मेष करता है उसे ही 'महाकवि' कहना चाहिए। राजशेखर की उपर्युक्त उक्ति मे महाकवि मे निम्नलिखित गुणो का होना व्यजित किया गया है—

(१) मौलिक भावोद्भावना शक्ति, और

(२) किसी अलौकिक वस्तु के उन्मेष करने की क्षमता ।

मौलिक भावोद्भावना शक्ति—महाकवि मे मौलिक भावोद्भावना शक्ति का होना बडा आवश्यक होता है । पुराने भावो को नया परिधान पहिनाना असाधारण कवि का ही काम है । महाकवि की उर्वर प्रतिभा ऐसे नए-नए भाव-क्षेत्र की खोज करती है जिस तक पहले के कवियो की दृष्टि नही पहुँची है तथा जो मानव-अन्तर्जगत् को स्पर्श करने की विशेष क्षमता रखते है । इस प्रकार के नए मौलिक भावो की उद्भावना करने के लिए नए भावपूर्ण प्रसगो की कल्पना तथा नए भावपूर्ण चित्रो की अवतरणा करनी पडती है, तथा पुराने भावो की अभिव्यक्ति मे एक नूतन प्रकम्पन उत्पन्न करना पडता है । कहने का अभिप्राय यह है कि महाकवि मे उच्चतम भावुकता के साथ उच्चकोटि की मौलिकता भी होती है । जिस कवि मे जितनी अधिक मौलिकता और भावुकता होगी उतना ही वह महान् कवि होगा ।

महाकवि मे मौलिकता की अवस्थिति को महत्त्व देते हुए आचार्य अभिनव-गुप्त ने लिखा है, "दूसरे कवि के अर्थ को ग्रहण करने की इच्छा से विरत मन वाले सुकवि के लिए यह भगवती सरस्वती यथेष्ट वस्तु से घटित कर देती है । पूर्व जन्मो के पुण्य और अभ्यास के परिपाकवश जिन सुकवियो की प्रवृत्ति होती है, दूसरो के विकसित अर्थ ग्रहण मे निस्पृह उन सुकवियो को काव्य-निर्माण मे अपने कोई प्रयत्न करने की आवश्यकता नही होती, वही भगवती सरस्वती अभिवाछित अर्थों को स्वय ही प्रकट करती है । यही महाकवियो का महाकाव्यत्व है । (चतुर्थ उद्योतकारिका १७ की टीका देखिए ।)

अलौकिक वस्तु के उन्मेष करने की क्षमता—महाकवियो की वाणी मे अलौ-किक वस्तु का उन्मेष भी होना चाहिए । अलौकिक वस्तु के उन्मेष से क्या तात्पर्य है, इसको स्पष्ट करने के लिए मै ध्वन्यालोक टीका के शब्दो को उद्धृत कर देना उचित समझता हूँ । अभिनवगुप्त ने किसी महाकवि की वाणी उद्धृत करते हुए लिखा है, "जो उस रमणीय रूप मे वस्तुत स्थित होने वाले मुख आदि पदार्थ विशेष को भी इस रूप मे स्थित कर हृदय मे जमा देती है महाकवियो की वह वाणी सर्वोत्कृष्ट है ।" इस उद्धरण से स्पष्ट है कि 'महाकवियो की वाणी मे जो अलौकिक वस्तु रूप वस्तु बताई गई है वह ध्वनि के अतिरिक्त और कुछ नही । वह ध्वनि किस प्रकार अलौकिक और अनिर्वचनीय रूप मे भासित होती है, इसका वर्णन करते हुए आनन्दवर्द्धन कहते हैं ।

> प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषुमहाकवीना,
> एतत्प्रसिद्धावयवातिरिक्त आभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ।
>
> —१।४ ध्वन्यालोक

अर्थात् प्रतीयमान कुछ और ही चीज है जो रमणियो के प्रसिद्ध अवयवो से भिन्न लावण्य के समान महाकवियो की सूक्तियो मे भासित होती है । यह प्रतीयमान और अलौकिक वस्तु ध्वनि के अतिरिक्त और कुछ नही है । रस ध्वनि का ही एक अग है अत प्रतीयमान अलौकिक वस्तु मे रस का समाहार हो जाता है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाकवियो मे भावुकता, मौलिकता, ध्वन्यात्मकता, रसात्मकता आदि की विशेष छटा मिलती है।

हिन्दी साहित्य का इतिहास और उसका काल-विभाजन

हिन्दी कविता के विकास का निर्देश करने से प्रथम मै हिन्दी साहित्य के इतिहास और उसके काल-विभाजन की समस्या पर थोडा सा विचार कर लेना आवश्यक समझता हूँ।

साहित्यकार दो प्रकार के हुआ करते है—एक तो वे जो अपने युग की परिस्थितियो के अनुरूप साहित्य का सृजन करते है, दूसरे वे जो अपने युग की परिस्थितियो से ऊपर उठकर युग-प्रवर्त्तक साहित्य की सृष्टि करते हैं। साहित्य के इतिहासकार को इन दोनो प्रकार के साहित्यकारो को दृष्टि मे रखते हुए सम्पूर्ण साहित्य का अध्ययन करना चाहिए। जब उसे एक सी प्रवृत्तियो के बहुत से कवि मिलने लगें तो उसे उनका एक वर्ग बना देना चाहिए। इस प्रकार सम्पूर्ण साहित्यिक सामग्री कई वर्गों मे विभक्त हो जायगी। पुनश्च उन वर्गों की प्रवृत्तियो का अध्ययन कर देखना चाहिए कि किन-किन वर्गों की मूल धारणाएँ समान है। उनको एक काल के अन्तर्गत समेट लेना चाहिए। ऐसा करते समय इतिहासकार को उस काल विशेष की राजनीतिक, धार्मिक, सास्कृतिक एव साहित्यिक परिस्थितियो को भी दृष्टि मे रखना चाहिए। युग विशेष की चिन्ता-धाराओ ने उस युग के साहित्यकारो को कहाँ तक किस अश मे प्रभावित किया है, यह भी निर्दिष्ट करना चाहिए। उसे वर्ग निश्चित करते समय जब कभी ऐसा साहित्यकार मिल जाय, जिसकी वाणी अपने युग की परिस्थितियो के मेल मे न होकर नवयुग के निर्माण की प्रेरणा दे रही हो, तो समझना चाहिए कि साहित्य-क्षेत्र मे किसी नई धारा का उदय हो रहा है। इस क्रम से साहित्य के विविध कालो और उन कालो मे पाए जाने वाले विविध सम्प्रदायो का निश्चितीकरण करके प्रत्येक सम्प्रदाय तथा प्रत्येक युग की प्रवृत्तियो का सम्यक् निरूपण करना चाहिए। इस प्रकार सम्प्रदाय और काल-भेद के आधार पर प्रवृत्तियो का अध्ययन करके उन प्रवृत्तियो से सम्बन्धित साहित्यकारो का यथास्थान विवरण देकर साहित्य का इतिहास लिखना चाहिए।

हिन्दी साहित्य मे इतिहास लिखने के सिद्धान्तो को दृष्टि मे रखकर इतिहास लिखने की परम्परा बहुत देर से प्रवर्त्तित हुई। प्रारम्भिक इतिहास शुक्लजी के शब्दो मे 'कविवृत्त सग्रह मात्र' थे। हिन्दी के सर्वप्रथम इतिहासकार तासी ने (१८३९) अग्रेजी वर्णमाला के वर्णों के क्रम से ७२ कवियो का सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया था। "सरोज" मे शिवसिंह सेगर ने (१८८३) एक हज़ार कवियो की सक्षिप्त चर्चा की। मिश्रबन्धु विनोद मे ५,००० कवियो के विवरण सकलित किए गए। काल-विभाजन का क्षीण प्रयास इसमे भी किया गया है। किन्तु उसका कोई वैज्ञानिक आधार नही है। उसके आदि "प्रकरण" में कबीर और जायसी जैसे शुद्ध भक्त-कवियो को समेट लिया गया है। वैज्ञानिक आधार लेकर हिन्दी साहित्य को विविध कालो मे विभाजित करने का सर्वप्रथम प्रयास हमे ग्रियर्सन मे

मिलता है। उन्होने सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य को, (१) आदि युग, (२) पूर्व-मध्ययुग, (३) उत्तर मध्यमयुग, (४) रीतियुग, और (५) वर्तमान युग मे विभाजित किया है। ग्रियर्सन का काल-विभाजन क्रम किन्ही विशेष आधारो पर आधारित न होने के कारण शुक्लजी ने उसको पुनर्व्यवस्थित करने का प्रयास किया और हिन्दी साहित्य को अपने इतिहास (सस्करण १६२६) मे वीरगाथा काल (१०५० से १३५०), भक्तिकाल (१३५० से १७००), रीतिकाल (१७०० से १६००) और आधुनिक काल (१६०० के बाद) शीर्षको मे विभाजित किया। और कालो का नामकरण तो लगभग सबको मान्य हो गया है, किन्तु उनके "वीरगाथा काल" की अच्छी आलोचना की गई है। उसके लिए अन्य कई उपयुक्त नाम सुझाए गए हैं, जैसे रासो काल, चारण काल, अपभ्रंश काल, सिद्ध सामन्त युग, आदिकाल, आदि-आदि। अब प्रश्न यह है कि इनमे से कौन सा नाम अधिक उपयुक्त है। रासो काल, चारण काल और वीरगाथा काल यह तीनो शब्द समानार्थक हैं। इन अभिधानो के प्रवर्त्तक आचार्य शुक्ल थे। उन्होने अपने इन नामो के पक्ष मे जो तर्क प्रस्तुत किए है वह इस प्रकार है—उनका प्रमुख तर्क है कि (१) विजयपाल रासो, (२) हम्मीर रासो, (३) कीर्तिलता, (४) कीर्ति पताका, (५) खुमान रासो, (६) वीसलदेव रासो, (७) पृथ्वीराज रासो, (८) जयचन्द प्रकाश (६) जयमयक जस चन्द्रिका, (१०) परमाल रासो, (११) खुसरो की पहेलियाँ, और (१२) विद्यापति-पदावली। इन्ही बारह रचनाओ की दृष्टि से आदि काल का लक्षण, निरूपण और नामकरण हो सकता है। इनमे अन्तिम दो तथा वीसलदेव रासो को छोड़कर शेष सब वीरगाथात्मक है। अत आदि-काल का नाम वीरगाथा काल ही रखा जा सकता है। आचार्य शुक्ल के इस नामकरण की कटु आलोचना आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने की है। उन्होने उनके उपर्युक्त कथन के प्रत्युत्तर मे लिखा है—"इधर हाल की खोजो से पता चलता है कि जिन बारह पुस्तको के आधार पर शुक्ल जी ने इस काल की प्रवृत्तियो का विवेचन किया है, इनमे कई पीछे की रचनाएँ हैं। कई नोटिस मात्र हैं और कई के सम्बन्ध मे यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि उनका मूल रूप क्या था।" अपने इस कथन के पोषण मे उन्होने लिखा है कि श्री मोतीलाल मेनारिया ने यह सतर्क सिद्ध कर दिया है कि खुमान रासो आदि-काल मे न रचा जाकर सवत् १७३० और १७६० के बाच रचा गया है। उन्होने वीसलदेव रासो को भी १६वी शताब्दी की रचना सिद्ध कर दिया है। हम्मीर रासो आज तक प्राप्त नही हो सका है। फिर उसको काल-निरूपण मे आधार कैसे बनाया जा सकता। 'जयचद प्रकाश' और 'जयमयक जस चन्द्रिका' का उल्लेख 'राठौरा री ख्यात' मे किया गया है। इन ग्रन्थो का रूप भी ज्ञात नही है। पृथ्वीराज रासो और परमाल रासो की प्रामाणिकता सदिग्ध है। इस प्रकार शुक्लजी के वीरगाथा काल के आधार-भूत ६ ग्रन्थो मे ६ ग्रन्थो की प्रामाणिकता सदिग्ध सिद्ध हो जाती है। अतः केवल तीन ग्रन्थो के आधार पर किसी काल का नामकरण करना कितना अनौचित्यपूर्ण है। इनका कहना है कि हिन्दी की अधिकाश रचनाएँ धार्मिक प्रवृत्ति-प्रधान हैं। इनका सम्बन्ध किसी साधना या धार्मिक विचारधारा से नही है। उसमें कई प्रकार की

विचारधाराएँ दिखाई पडती है। धार्मिक विचारधाराओ के साथ लौकिक साहित्य की वीरगाथात्मक धारा भी स्वीकार कर लेने मे कोई हानि नही है। किन्तु उसके नाम पर सम्पूर्ण काल को वीरगाथा काल नाम देना बहुत अनुपयुक्त है। इस विविध धाराओ के सक्रमण युग को आदियुग कहना अधिक उपयुक्त है। इस प्रकार शुक्लजी के वीरगाथा काल नाम को निराधार सिद्ध कर आचार्य द्विवेदीजी ने उसके लिए आदि युग का नाम देना ही उपयुक्त समझा है।

इसी प्रसग मे अन्य मतो की समीक्षा भी कर लेना अनुचित न होगा। गुलेरी जी ने अपनी पुरानी हिन्दी' नामक रचना मे आदिकाल को अपभ्रश-युग कहा है, किन्तु यह नाम भी ठीक नही है। पहली बात तो यह है कि किसी भाषा के नाम पर किसी युग का नामकरण नही किया जा सकता और यदि थोडी देर को यह स्वीकार भी कर लें तो भी इस युग की समस्त रचनाएँ अपभ्रश मे नही हैं। अब फिर सम्पूर्ण साहित्य को, जिसका अधिकाश देश-भाषा मे लिखा हुआ है, अपभ्रश काल कैसे कह सकते हैं।

राहुल साकृत्यायन ने अपनी 'काव्यधारा' नामक पुस्तक मे आदियुग को सिद्ध-सामन्त युग कहा है। मेरी समझ मे यह नाम भी अधिक उपयुक्त नही है। क्योकि इस युग की रचनाएँ केवल सिद्धो और सामन्तो की ही नही थी। कुछ अन्य कोटि की रचनाएँ भी उपलब्ध है, जैसे जैन, नाथ आदि की।

डॉ० रामकुमार वर्मा ने आदि युग को दो भागो मे विभक्त कर दिया है—सधि-युग और चारण काल। आदि युग को इस प्रकार विभाजित करके भी वे उस युग की समस्त प्रवृत्तियो को द्योतित करने मे समर्थ नही हो सके है। अत हमे यह विभाजन-क्रम भी मान्य नही है।

आदिकाल की विविध रूपिणी प्रवृत्तियो को देखते हुए हम उसे किसी विशिष्ट नाम से अभिहित नही कर सकते। उसके लिए आचार्य हजारीप्रसादजी के अनुकरण पर मैं आदि युग का अभिधान ही अधिक उपयुक्त समझता हूँ।

भक्ति काल के सम्बन्ध मे कोई विशेष मतभेद नही है। लगभग सभी इतिहासकारों ने उसे इसी नाम से अभिहित करना उचित समझा है।

थोड़ा-सा मतभेद रीतिकाल के सम्बन्ध मे है। रीतिकाल शब्द जिस युग के लिए प्रयुक्त किया गया है उसमे हमे रीतिबद्ध और रीतिमुक्त दोनो प्रकार की रचनाएँ मिलती है। ऐसी अवस्था मे उसे केवल रीतिकाल कहना ठीक नही है। उसे शृगारकाल कहना अधिक उपयुक्त है। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी उसे यही नाम दिया है।

हिन्दी कविता का आदिकाल

हिन्दी का विकास अपभ्रश भाषाओ से हुआ। अपभ्रश भाषाएँ प्राकृत भाषाओ से विकसित हुई थी। शौरसेनी अपभ्रश से व्रजभाषा विकसित हुई। मागधी अपभ्रश से बिहारी, मगही, मैथिली आदि भाषाएँ निकली। अवधी का विकास अर्धमागधी से माना जाता है। राजस्थानी भाषा नागर अपभ्रश से निकली है। नागर

अपभ्रंश को कुछ लोग गुर्जर अपभ्रंश भी कहते है। अपभ्रंश काल के विकास के चिन्ह पहली और दूसरी शताब्दी मे ही दिखाई देने लगे थे। पतजलि के महाभाष्य मे अपभ्रंश शब्द का प्रयोग सबसे पहले मिलता है। इसके पश्चात् इसका प्रयोग दण्डी ने किया। चौथी शताब्दी से लेकर आठवी शताब्दी तक इस भाषा मे बहुत से सुन्दर साहित्यिक ग्रन्थ भी लिखे गए थे। राजशेखर की 'कर्पूरमजरी सट्टक' मे अपभ्रंश का अच्छा प्रयोग मिलता है। सारगधर, विद्यापति आदि की रचनाएँ भी अपभ्रंश मे ही लिखी गई थी। अपभ्रंश मिश्रित हिन्दी मे हमे सिद्धो और जैनो की रचनाएँ मिलती है। कुछ लोग सिद्ध कवि सरहपा को हिन्दी का आदि कवि मानते है, और कुछ लोग जैन कवि स्वयम्भू को। डॉ० शहीदुल्ला और डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य का मत यदि सही समझा जाय तो हम सरहपा को ही हिन्दी का पहला कवि मानेंगे। वैसे भी हिन्दी मे सिद्धो का उदय जैन कवियो की अपेक्षा पहले हुआ था।

सिद्धमत और चौरासी सिद्ध—स्वामी शकराचार्य के उदय से बौद्धो को कड़ा धक्का पहुँचा। उन्होने बौद्ध धर्म का पूर्णरूपेण मूलोच्छेदन करने का प्रयास किया था। बौद्ध धर्म वास्तव मे बहुत प्राचीन धर्म है। भगवान् बुद्ध ने इसका प्रवर्त्तन किया था। उनके निर्वाण के पश्चात् सम्राट् अशोक ने बुद्ध धर्म को व्यवस्थित और दृढ करने के लिए कई विराट् सभाएँ की थी। इन सभाओ मे बहुत से बौद्ध लोग निर्वासित कर दिए गए थे। उन सब पर यह दोषारोपण किया गया था कि वे सब धर्मों के प्रति समादर का भाव नही रखते थे। आगे चलकर इन हजारो की सख्या मे निर्वासित भिक्षुओ ने बहुत से नए पथ प्रवर्त्तित किए। इन पथो मे एक ओर तो बौद्ध धर्म की बहुत सी बातें ग्रहण की गई थी और दूसरी ओर बौद्धो के बाह्य विधि-विधानो की उपेक्षा भी की गई थी। शकराचार्य के उदय से कुछ दिनो पहले तक इस बौद्ध धर्म के विरोध मे खडे हुए बौद्ध धर्म के ही विविध सम्प्रदाय प्रचार नही पा सके थे। किन्तु शकराचार्य ने जब बौद्ध धर्म का मूलोच्छेदन किया उस समय इन विविध बौद्ध-पद्धतियो को जनता मे फैलने का अच्छा अवसर मिला। बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा रखने वाली साधारण जनता जब प्रत्यक्ष सच्चे बौद्ध धर्म का पालन करने मे असमर्थ होने लगी तो उसने विविध बौद्ध उप-सम्प्रदायो को अपनाना शुरू कर दिया। इन बौद्ध उप-सम्प्रदायो मे सबसे पहले मन्त्रयान और तन्त्रयान का उदय हुआ। उसके पश्चात् सहजयान का प्रवर्त्तन किया गया। पुनश्च इन तीनो के योग से एक चौथा सम्प्रदाय निकला जिसे वज्रयान कहते है। इस वज्रयान पर शाक्तो के वाममार्ग और हठयोगियो की योगिक प्रक्रियाओ का भी पूरा-पूरा प्रभाव पडा। विविध प्रकार की तान्त्रिक साधनाओ से भी इसने सामजस्य स्थापित करने की चेष्टा की।

मन्त्रयान और तन्त्रयान—बौद्ध धर्म स्थूल रूप से हीनयान और महायान दो भागों मे बँट चुका था। हीनयान प्राचीन रूढीवादी बौद्ध थे और महायानी सामजस्य-वादी एव प्रगतिवादी। महायान मे हिन्दू धर्म की भक्ति-भावना एव वैधी उपासना का भी समावेश हो गया था। कुछ दिनो के पश्चात् महायान धर्म भी ब्राह्मण धर्म के समान बाह्याचार प्रधान हो गया। तन्त्रो के प्रभाव से उसकी दो नवीन शाखाएँ प्रस्फुटित हुईं। वे क्रमश तन्त्रयान और मन्त्रयान है। इन दोनो शाखाओ के प्रवर्त्तन

में सम्भवत निर्वासित परम्परा के भिक्षुओ का भी कुछ हाथ रहा होगा, ऐसा हमारा अनुमान है। मन्त्रयान और तन्त्रयान मे विविध प्रकार के देवी-देवताओ की पूजा, जादू-टोने आदि की साधना विधेय ठहरायी गई। इन दोनो शाखाओ का साहित्य अभी तक एक प्रकार से अनुपलब्ध ही है।

सहजयान—महायान धर्म के इस प्रकार मन्त्रयान और तन्त्रयान मे परिवर्त्तित हो जाने के फलस्वरूप बौद्ध साधना मे विविध प्रकार के बाह्याचारो-आडम्बरो से उद्भूत अस्वाभाविकता को प्रश्रय मिल गया। कुछ सम्भ्रान्त ब्राह्मण और बौद्ध विद्वानो की आत्मा इस प्रकार के बाह्याचार-प्रधान धर्म के मिथ्या स्वरूप को देख कर कांप उठी। उन्होने तन्त्रयान और मन्त्रयान के विरोध मे एक नवीन यान की स्थापना की। यह यान अस्वाभाविक एव बाह्याचार-प्रधान मन्त्रयान और तन्त्रयान की प्रतिक्रिया के रूप मे उदित हुआ था, अतएव इसका नाम सहजयान रखा गया। सहजयान के सबसे प्रथम ज्ञात प्रवर्त्तक महासिद्ध सरहपा थे। पहले यह एक विद्वान ब्राह्मण थे और तक्षशिला के विद्यालय मे अध्यापन का कार्य करते थे। वहाँ के जीवन मे इन्हे बडी अस्वाभाविकता दिखलाई दी, इसलिए इन्होने अध्यापन कार्य त्याग कर अपने नवीन धर्म का उपदेश देना शुरू किया। उनके मतानुसार धर्म, जीवन और साधना तीनो मे विराग और योग के साथ-साथ भोग का भी उचित स्थान था। उन्होंने इस बात को अपने जीवन मे चरितार्थ भी किया था। कहते है कि उन्होने शर जाति की (एक नीच जाति की) स्त्री को योगिनी बनाकर जीवन भर अपने साथ रक्खा था। इसीलिए इनका नाम शरहपा या सरहपा हो गया। सरहपा के अतिरिक्त सहजयान के प्रमुख सिद्धो मे तिल्लोपा, नरोपा और कर्णपा आदि भी थे। इन सहजयानी सिद्धो ने यद्यपि सहज साधना मे भोग को भी थोड़ी मात्रा मे आवश्यक माना था, किन्तु फिर भी इनकी साधना सात्विक ही थी। बाद के वज्रयानी सिद्धो के समान इनमे नास्तिकता का भयकर स्वरूप नही दिखाई पडता। यह लोग सुखवाद के सिद्धान्त को मानते थे। इनका मत था कि प्रज्ञा और उपाय के योग से इस महा सुख की उत्पत्ति होती है। यह शून्यवादी थे। अपने इस शून्य तत्त्व को यह द्वैताद्वैत विलक्षण समरस स्वरूप मानते थे। इन्होने मन्त्र-तन्त्र आदि की निन्दा की है। मन-सयम पर विशेष जोर दिया है। तीर्थ, व्रत, मूर्ति-पूजा आदि विविध ब्राह्मण धर्म के बाह्याचारो की भी इन्होने कटु शब्दो में आलोचना की है। इनकी उक्तियो मे स्थान-स्थान पर रहस्यभावना की भी अभिव्यक्ति पाई जाती है। इन सहजयानी सिद्धो ने अधिकतर अपनी रचनाएँ दोहा नामक छन्द मे लिखी थी। डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची ने तिल्लोपाद, सरहपाद और कर्णपाद नामक सहजयानी सिद्धो के दोहो का एक दोहा कोष नामक सग्रह ग्रन्थ प्रकाशित कराया है। महामहोपाध्याय हरप्रशाद शास्त्री ने भी भोट देश मे जाकर इन सिद्ध कवियो की रचनाओ का एक सग्रह तैयार किया था जो 'बौद्धगान और दोहा' के नाम से प्रकाशित हुआ है। इन दोनो विद्वानो से पहले डा० शहीदुल्ला ने 'लाचेन्टस मिस्टीक्स' नामक पुस्तक मे इन सहजयानी सिद्धो के दोहे सम्पादित किए थे। इधर राहुल सास्कृत्यायन ने भी सिद्ध कवियो की रचनाओ का एक सग्रह प्रकाशित किया है। इसमे उन्होने बहुत से सिद्धो की रचनाएँ सकलित की हैं। इसका

नाम 'हिन्दी काव्यधारा' है। इन सहजयानी सिद्धो की भाषा अपभ्रंश अधिक है हिन्दी कम। किन्तु फिर भी हिन्दी जानने वाले इसे सरलता से समझ लेते है। उदाहरण स्वरूप इनका निम्नलिखित दोहा देखा जा सकता है—

जहि मन पवन न सचरइ, रवि ससि नाहि पवेश।
तहि वट चित्त विसाम करु, सरहे कहिए उवेस॥

वज्रयानी सिद्ध—सहजयान अधिक दिन तक अपने स्वरूप को स्थिर न रख सका। इसके कई कारण थे। एक तो सहजयानी सिद्धो ने जाति-पाँति का विरोध किया था, जिसके फलस्वरूप बहुत सी नीची जातियो के लोगो को अपना शिष्य बना लिया था। यह लोग पढे-लिखे नही थे। इनकी प्रवृत्ति भी अधिकतर तामसिक ही थी। दूसरे सहजयानी सिद्धो ने योग आदि के कुछ पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग किया था। तन्त्रो के प्रभाव से पारिभाषिक शब्दो की सख्या और भी बढ गई। इधर श्री पर्वत पर वैपुल्यवाद, जो वाममार्ग का ही एक प्रकार मे रूपान्तर था, बहुत प्रचार पाने लगा था। सहजयान का इस वाममार्गीय वैपुल्यवाद से मिलन हुआ और उसने वज्रयान का रूप धारण कर लिया। इन वज्रयानियो ने वाममार्गीय साधना को अतिरूप मे अपनाने की चेष्टा की। इसका परिणाम यह हुआ कि इनकी साधना मे सहजयानी साधना के पारिभाषिक शब्दों के अर्थ के स्थान पर अनर्थ किया जाने लगा। महासुखवाद के अनुयायी यह भी थे। किन्तु इनका महासुखवाद सहजयानियो से बिलकुल भिन्न था। सहजयान मे मन मे सहजस्वरूप मे लय होने की दशा को ही महासुख की दशा कहा गया था। उसकी प्राप्ति उन्होने प्रज्ञा और उपाय के योग से मानी थी। वज्रयानी सिद्धो ने इन दोनो शब्दो के अर्थ का अनर्थ किया। प्रज्ञा का अर्थ स्त्री और उपाय का अर्थ पुरुष लेकर भोगमूलक लौकिक सुख को ही महासुखवाद का प्रतीक कहा। इसी तरह उन्होने पाँच नाडियो को, जिनके नाम डोमनी, रजकी, रमना, ललना और अवधूति आदि थे, पाँच प्रकार की नीच जाति की स्त्रियो के अर्थ मे ग्रहण किया। सहजयान मे अधिकाश सिद्धो ने पाँच नाडियो की साधना अपेक्षित बतलाई थी। वज्रयानियो ने नाडियो के स्थान पर नारियो की साधना करना प्रारम्भ कर दिया। इसी प्रकार तन्त्र मतो मे महामुद्रा शक्ति को कहते थे, किन्तु इन्होने महामुद्रा का अर्थ स्त्री लिया है। योग मे एक जगह पर गो-मास भक्षण का पारिभाषिक प्रयोग मिलता है, इन्होने उसका अभिधामूलक अर्थ लेकर गो-मास भक्षण करना शुरू कर दिया। साधना मे यह मद्य और मास आदि मकारो को भी आवश्यक मानते थे। इन सबका परिणाम यह हुआ कि इनमे घोर तामसिक वृत्ति आ गई। इसका मध्यकालीन भारतीय सस्कृति पर बडा बुरा प्रभाव पडा था।

इन सिद्धो ने बहुत सी रचनाएँ भी की थी। यह रचनाएँ कुछ तो सिद्धान्तो के उपदेश के रूप मे व्यक्त हुई हैं और कुछ गीतो के रूप मे। उपदेश अधिकतर दोहा, चौपाई तथा कुछ अन्य प्राचीन छन्दो मे तथा गीत विविध प्रकार की ग्रामीण राग-रागिनियो मे हैं। गीतो की भाषा पूर्वी अधिक है। इसमे बिहारी भाषा का अच्छा पुट मिला है। अवधी भाषा का भी अच्छा प्रभाव प्रतीत होता है। उपदेशो

आदि बहुत से साधना सम्बन्धी पारिभाषिक शब्द प्रचलित थे। निर्गुण धारा के कवियो ने इन शब्दो को ज्यो का त्यो ग्रहण कर लिया।

पद और वाक्य—जायसी, कबीर आदि निर्गुण और प्रेमधारा के कवियो मे गोरखनाथ के वाक्य यहाँ तक कि पूरे पद्य के पद्य दोहरा लिये गए हैं। कबीर का यह पद—

"या मन सक्ति या मन सीऊ, या मन पच तत्त्व का जीऊ
या मन ले उन्मन रहै, तीन लोक की बाता कहै।"

गोरखबानी मे यह पद्य ज्यो का त्यो प्राप्त हुआ है। इसी तरह से गोरखनाथ के और भी बहुत से वाक्याश और पद निर्गुणवादी कवियो ने दोहराए हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि हिन्दी साहित्य पर नाथपन्थ का पर्याप्त प्रभाव पडा है। विशेष-कर निर्गुण-काव्यधारा तो उसकी बहुत ऋणी है।

जैन काव्यधारा—बौद्ध धर्म के साथ-साथ भारत म जैन धर्म का भी विकास हुआ। यो तो इसका बीजारोपण बहुत पहले हो चुका था, किन्तु इसको व्यवस्थित रूप देने वाले तीर्थ कर महावीर स्वामी थे। इसके पहले तो श्वेताम्बर और दिगम्बर दो सम्प्रदाय हुए। इसके बाद यह और भी कई उपसम्प्रदायो मे विभक्त हुआ। बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म हिन्दू धर्म के अधिक समीप है। हिन्दी साहित्य के आदि काल मे जैन कवियो ने उसके विकास मे अच्छा सहयोग दिया था। इनकी भाषा वैसे तो अपभ्र श ही थी किन्तु उसमे हिन्दी का प्रारम्भिक रूप भी निहित है। इन जैन कवियो मे सबसे पहले कवि स्वयम्भू है।

स्वयम्भू कवि—स्वयम्भू कवि की खोज अभी थोडे ही दिन हुए, हुई है। इनके समय के सम्बन्ध मे बडा मतभेद है। इनकी रचनाओ मे धर्मपाल नामक राजा का उल्लेख है। इसका समय ७३४ ई० माना जाता है। अतएव यह ७३४ के पश्चात् ही हुए होगे। इधर पुष्पदन्त कवि ने अपने महापुराण मे स्वयम्भू का सकेत किया है। इनका समय ११वी शताब्दी का प्रथम चरण माना जाता है। राहुल साकृत्यायन ने इनका समय ८४७ ई० निश्चित किया है। इनके लिखे हुए चार ग्रन्थ बतलाए जाते हैं। इन सब मे 'पउम चरिउ' बहुत प्रसिद्ध है। इसे हम जैन रामायण कह सकते हैं। 'पिथ्येपि कथा' उनका दूसरा ग्रन्थ है। इन्होने एक व्याकरण ग्रन्थ भी लिखा था। इसमे इन्होने अपने पिता मारुति देव का सकेत किया है। मारुति देव भी कवि थे। इनकी रचनाओ से यह ज्ञान होता है कि इनके दो पत्नियाँ थी। एक का नाम आर्यम्बा और दूसरी का सामयम्बा था। इनकी बहुत सी सतानें थी। इनके सबसे छोटे पुत्र भी कवि थे। इनकी कविता मे युद्ध, शृगार और विलाप-वर्णन बहुत सुन्दर बन पडे है। रामायण भर मे न मालूम कितने विलाप इन्होने चित्रित किए है। हीरालाल जैन, मुनिजिन विजय, कामताप्रसाद जैन, नाथूराम आदि विद्वानो ने इन्ही को हिन्दी का पहला कवि सिद्ध किया है।

देवसेन—इनको श्रावकाचार्य भी कहते थे। इन्होने 'दव्वसहायपयास' नामक ग्रन्थ लिखा था। इसके अतिरिक्त इन्होने और भी ग्रन्थ लिखे थे, जिनमे से अधिकाश

अनुपलव्ध है। इसकी कविता अत्यन्त प्रौढ मानी जाती है। इनका ग्रन्थ दोहा-चौपाइयो मे लिखा गया है। इसे हम चरित्र-काव्य कह सकते है। इनका समय दसवी शताव्दी निश्चित किया गया है। इनके पश्चात् सवसे प्रमुख जैन आचार्य हेमचन्द्र आते है।

हेमचन्द्र—इनका समय ११५० से लेकर १२३० तक माना जाता है। यह गुजरात के सोलकी राजा सिद्धराज जयसिंह और उसके भतीजे कुमारपाल के आश्रय मे रहते थे। इन्होने एक वहुत ही प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ लिखा है। उसका नाम 'सिद्ध हेमचन्द्र शव्दानुशासन' है। इन्होने कुमारपाल चरित नामक एक चरित्र-काव्य भी लिखा था। वैसे यह ग्रन्थ सस्कृत मे लिखा गया है, किन्तु वीच-वीच मे अपभ्र श के पद्य भी रखे हुए हैं। यह भट्टी काव्य की तरह द्वैआश्रय काव्य है। इसकी भाषा के उदाहरण के रूप मे यह पद्य वहुत अधिक प्रसिद्ध है—

"भल्ला हुआ जु मारिआ, वहिणि हमारा कन्तु।
लज्जेजम तु वय सिअहु, जइ भग्गा घरु एन्तु॥"

सोमप्रभ सूरि—यह भी एक जैन पडित थे। इन्होने १२४१ में 'कुमारपाल प्रतिशोध' नामक एक गद्य-पद्य मे सस्कृत-प्राकृत काव्य लिखा था। इसमे समय-समय पर हेमचन्द्र द्वारा कुमारपाल को उपदेश दिए जाने की कथाएँ लिखी हैं। यह ग्रन्थ अधिकाश मे प्राकृत मे ही है। वीच-वीच मे अपभ्र श के दोहे आए है। इनकी रचना का एक उदाहरण इस प्रकार है—

"रावण जायहु जहि दियहि, दह मुह एक सरीर।
चिन्ताविय तइयहि जणनि, कवण पियायहु खीर॥"

अर्थात् जिस दिन दस मुँह एक शरीर वाला रावण उत्पन्न हुआ था, तभी माता चिन्तित हुई कि किस मे दूध पिलाऊँ।

जैनाचार्य मेरुतु ग—स० १३६१ मे इन्होने 'प्रवन्ध चिन्तामणि' नामक एक सस्कृत ग्रन्थ लिखा था। यह भोज-प्रवन्व के ढग पर रचित है। इसमे भी वहुत से प्राचीन आख्यान सग्रहीत है। इन आख्यानो के वीच-वीच मे अपभ्र श के दोहे भी है। इनमे से कुछ दोहे राजा भोज के चाचा मु ज के कहे हुए हैं। यह दोहे अधिकतर मु ज के जीवन की उस घटना से सम्वन्धित है जिसने उसके जीवन में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी। मु ज ने जव तैलग पर चढाई की तो वहाँ के राजा तैलप ने उसे पराजित करके कारागार मे डाल दिया। किन्तु तैलप की वहिन मृणालवती ने मुँज को अपना स्नेह समर्पित करके उसके जीवन को सरस वना दिया। इनके अतिरिक्त अपभ्र श मे वहुत से और जैन कवि हुए थे। जैन इतिहासकारो ने इन तमाम कवियो के विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किए हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा ने भी अपने इतिहास मे वहुत से जैन कवियो का उल्लेख किया है। इन जैन कवियो का अध्ययन दो दृष्टियो से आवश्यक है, एक तो छन्दो और काव्य की दृष्टि से ; दूसरे गद्य की दृष्टि से। इन जैन कवियो की रचनाओ मे जगह-जगह पर गद्य मे लिखी हुई टिप्पणियाँ मिलती है। इनको 'टव्वा' कहते है। जैन कवियो ने सवसे पहले चरित्र-काव्य लिखे है, उन्होने दोहा-

चौपाइयो की शैली का अनुकरण किया है। हिन्दी के प्रेमगाथाकारो ने दोहा-चौपाइयो की शैली इन्ही चरित्र-काव्यो से सीखी होगी। यह चरित्र-काव्य प्रवन्ध के रूप मे लिखे जाते थे। सूफियो ने अपनी कथाएँ इन्ही के अनुकरण पर लिखी थी।

फुटकर अपभ्रंश रचनाएँ—इस युग मे बहुत से ऐसे लेखक और कवि भी हुए थे जो न तो जैन ही थे, न वौद्ध ही। यह स्वतन्त्र लेखक थे, और अपभ्रंश मे कविता किया करते थे। इन फुटकर कवियो मे निम्नलिखित विशेप उल्लेखनीय है—

(१) विद्याधर—यह कन्नौज के कोई कवि थे। इनकी रचनाएँ तो उपलब्ध नही है, किन्तु प्राकृत पिंगल-सूत्र मे इनके कुछ पद सग्रहीत है। इनका समय रामचन्द्र शुक्ल ने १३वी शताब्दी निश्चित किया है।

(२) सारगधर—यह आयुर्वेद के तो विद्वान् थे ही, इन्होने सारग पद्धति नाम का एक सुभापित-सग्रह भी लिखा था। कुछ लोग वीरगाथाकालीन ग्रन्थ हम्मीर रासो को भी इन्ही का लिखा हुआ मानते है।

(३) विद्यापति—इन्होने 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' नाम की दो पुस्तके लिखी। यह अपभ्रंश भापा मे हैं। इनकी हिन्दी-पदावलियो की चर्चा आगे की जायेगी।

वीरगाथा काल

इसके नाम के सम्वन्ध मे मतभेद है। कुछ लोग इसको चारण काल कहते हैं तथा कुछ लोग इमे आदिकाल के अन्तर्गत मानते है, और इसकी रचनाओ को देशभापा काल के अन्तर्गत लेते है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने सन्धिकाल से पृथक् इसे एक स्वतन्त्र काल ही माना है। मैं इसे आदिकाल के अन्तर्गत ही मानता हूँ।

भापा—वीरगाथाकालीन रचनाएँ किस भापा मे लिखी गई हैं, इस सम्वन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है। रामचन्द्र शुक्ल इस काल की रचनाओ को अपभ्रंश-मिश्रित राजस्थानी मे लिखी हुई मानते है। इसको इन्होने देश-भापा का नाम दिया है। डा० रामकुमार वर्मा ने वीरगाथाकालीन रचनाओ को डिंगल भापा मे लिखा हुआ माना है। यहाँ पर थोडा सा विवाद है। प० मोतीलाल मेनारिया ने अपने 'राजस्थानी भापा के साहित्य' मे डिंगल भापा का प्रयोग सवसे पहले जोधपुर के महाकवि वाँकीदास मे माना है। इनका कहना है कि वाँकीदास ने सवसे पहले डिंगल शव्द का प्रयोग किया है। वाँकी दास का समय १८७१ के आस-पास माना जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वे डिंगल भापा की उत्पत्ति १९वी शताव्दी मे मानते हैं। किन्तु, डॉ० ऐल० पी० टेसीटरी इस मत से सहमत नही है। उन्होने डिंगल भापा की उत्पत्ति वारहवी-तेरहवी शताव्दी मे ही मानी है। वारहवी शताव्दी से लेकर पन्द्रहवी शताव्दी की डिंगल भापा को उन्होने अर्वाचीन डिंगल कहा है। सम्भवत मोतीलाल मेनारिया, डॉ० टेसीटरी के मत से प्रभावित हुए और वाद को उन्होने भी डिंगल की उत्पत्ति वारहवी-तेरहवी शताव्दी मे ही मानी है। इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने 'डिंगल मे वीर रस' नामक अपनी रचना मे सभी कवियो को जो वारहवी शताव्दी से लेकर उन्नीसवी शताव्दी तक हुए हैं, स्थान दिया है। सम्भवत डा०

रामकुमार वर्मा ने भी इसी आधार पर वीरगाथा-काल की समस्त रचनाओ की भाषा डिंगल ही मानी है।

डिंगल के सम्बन्ध में विविध मत—डिंगल शब्द बहुत प्राचीन नही है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख सवत १८७१ मे लिखे गए "कुकवि बत्तीसी" नामक ग्रन्थ मे मिलता है। उसके बाद के ग्रन्थो मे यह शब्द बार-बार प्रयुक्त हुआ है। इसकी उत्पत्ति कैसे हुई, इस सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है। उस मतभेद का यहाँ पर सक्षेप मे सकेत कर देना अनुचित न होगा।

(१) **ऐल० पी० टैसीटरी का मत**—डॉ० ऐल० पी० टैसीटरी के मतानुसार डिंगल शब्द गँवारू भाषा के लिए प्रयुक्त होता था। यह नाम पिंगल के विरोध मे विकसित हुआ है। पिंगल साहित्यिक ब्रजभाषा के लिए प्रयुक्त होता था, और डिंगल असाहित्यिक राजस्थानी और मारवाडी भाषा के लिए प्रयुक्त होने लगा। मध्ययुगीन राजा-महाराजा लोग अधिक पढे-लिखे न थे। वे साहित्यिक भाषा से परिचित न होने के कारण डिंगल के ही रसिक थे। यह मत कोरा आनुमानिक है और किन्ही पुष्ट आधारो पर आधारित नही है। अतएव स्वीकार नही किया जा सकता।

(२) **हरप्रसाद शास्त्री का मत**—इनका मत है कि पहले डिंगल का नाम डगल था। बाद मे पिंगल शब्द से तुक मिलाने के लिए डिंगल कर दिया गया। 'डगल' शब्द का अर्थ होता है 'उजाड़ मरुभूमि।' डिंगल उजाड़ मरुभूमि या राजस्थान की भाषा का वाचक बन गया।

शास्त्री जी के मत का आधार चौदहवी शताब्दी का एक अपूर्ण छन्द मालूम होता है। उसकी सम्भवत एक ही पक्ति उनके देखने मे आई थी। अब उसकी दूसरी पक्ति भी प्राप्त है। वह छन्द इस प्रकार है—

"दीसँ जगल डगल जेय जल बगला चाहैं।
अणहू ता गल दिए गला हूँता गल काढै॥"

इस छन्द से स्पष्ट प्रकट है कि डगल से डिंगल का कोई सम्बन्ध नही है।

(३) **गजराज ओझा**—इनका मत है कि 'ड' वर्ण-प्रधान भाषा को ही डिंगल भाषा कहा गया है। राजस्थानी और मारवाडी मे 'ड' वर्ण की प्रधानता पाई जाती है। इसीलिए उन्हें डिंगल भाषा कहते है।

(४) **नरोत्तमदास स्वामी का मत**—इनकी धारणा है कि डिंगल उस भाषा को कहते है जो गले से डमरू की ध्वनि के समान गुँजित होती है। वे 'डिं' का अर्थ 'डमरू' और 'गल' का अर्थ 'गला' लेकर उपर्युक्त धारणा को पहुँचे है। किन्तु यह तर्क बहुत लचर है और किसी अश मे ग्राह्य नही होता।

(५) **श्री उदयराज**—आपने एक नया ही अनुमान भिडाया। ये 'डग' का अर्थ 'पख' और 'ल' का अर्थ लिए हुए करते है। डिंगल शब्द की उत्पत्ति इन दोनो के योग से मानते हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार डिंगल का अर्थ हुआ 'उडने वाली भाषा'। इस अर्थ का रूपकात्मक अर्थ लेकर वे डिंगल भाषा से उस भाषा का अर्थ करते हैं जो दिन-प्रतिदिन के व्यवहार मे सुगमता से आती है।

(६) **मोतीलाल मेनारिया का मत**—आपका कहना है कि डिंगल शब्द डीगल' से बिगडकर बना है। उनका कहना है कि यह विकृति कुछ ग्रियर्सन आदि अग्रेज हिन्दी लेखक के भ्रान्तिपूर्ण प्रयोगो से हुई थी। उनका कहना है कि डीगल शब्द 'डीग' शब्द मे 'ल' प्रत्यय जोडने से बना है। इसका अर्थ है 'डीग से युक्त' या 'अतिरनजापूर्ण भाषा'। इसी को कालान्तर मे डिंगल कहा जाने लगा। राजस्थानी के चारण काव्य मे अतिरजना और अत्युक्ति की प्रधानता रही है। इसी प्रधानता के कारण इस चारण काव्य को ही डीगल कहा जाने लगा है।

मुझे ये सभी मत अग्राह्य प्रतीत होते हैं। मेरी अपनी धारणा है कि डिंगल शब्द डगल का बिगडा हुआ रूप है। डगल शब्द सस्कृत मे डम (शब्द करना) धातु मे अलच् प्रत्यय जोडने से ठीक उसी प्रकार बना है जिस प्रकार मड् धातु मे 'अलच' प्रत्यय जोडने से 'मगल' शब्द बना है। डिंगल शब्द का अर्थ है—वह भाषा जिसके उच्चारण मे ध्वनि या आवाज अधिक कठोर होती है। ऐसी भाषा राजस्थानी है।

वीरगाथाकालीन परिस्थितियाँ—कोई भी युग अपने युग की परिस्थितियो से प्रभावित हुए बिना नही रह सकता। इस दृष्टि से उन समस्त परिस्थितियो पर भी विचार करना आवश्यक है, जिनके फलस्वरूप वीरगाथाकाल या चारण-काल का जन्म हुआ।

महाराजा हर्ष (६४७) के पश्चात् देश मे केन्द्रीय शासन लुप्त हो गया। राजपूतो ने पृथक्-पृथक् राज्य स्थापित किए। उनमे कन्नौज, गुजरात, मालवा, ग्वालियर, महोबा, दिल्ली और अजमेर प्रमुख थे। इन राजाओ मे परस्पर सघर्ष बना रहता था। अपने-अपने प्रभुत्व के विस्तार की कामना से ये लोग लडा करते थे। कभी-कभी तो इनके पारस्परिक युद्धो का कारण कोरा शौर्य-प्रदर्शन मात्र होता था। शौर्य-प्रदर्शन के लिए यह लोग सुन्दर राजकुमारी को खोजा करते थे। उसे प्राप्त करने के बहाने वे युद्ध मोल लिया करते थे। शौर्य और सौन्दर्य इस युग के वीरो के प्रमुख उपास्य थे। उस युग मे चारणो का बोल-बाला था। प्रत्येक रजवाडे मे शत्-शत् भाट हुआ करते थे। ये सब अपने-अपने आश्रयदाताओ का अतिरजना-पूर्ण वर्णन करते थे।

मुसलमानो के आक्रमण आरम्भ हो गए थे। वे हिन्दू धर्म के मूलाधार मूर्ति पूजा, ब्राह्मण-प्रतिष्ठा, वर्ण-व्यवस्था और गो-पूजा का मूलोच्छेदन करने मे लगे थे। राजपूत राजा व्यष्टि रूप से इनके इन कुप्रयत्नो का सामना करते थे किन्तु एक राष्ट्र के प्रयत्न के आगे एक व्यक्ति के प्रयत्न का कई मूल्य नही होता। परिणाम यह हुआ कि धर्म की भावना गौण हो चली।

वीरगाथा-कालीन परम्परा—वीरगाथाकालीन परम्परा का सम्बन्ध सस्कृत साहित्य से है। भट्ट नारायण के वेणी सहार मे वीर रस की अच्छी अभिव्यक्ति मिलती है। इसके पश्चात् हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन मे ही १,३०० श्लोक उदाहरण स्वरूप दिए हैं। इन सभी श्लोको मे वीर रस तथा शृगार रस की प्रधानता है। इनके 'कुमारपाल चरित्र' मे भी, जो एक अपभ्रश काव्य है, वीर-गाथाकालीन प्रवृत्तियो के दर्शन होते हैं। यही परम्परा वीरगाथाकाल के रूप मे

विकसित हुई। हेमचन्द्र के बहुत से श्लोको का वीरगाथाकालीन कवियो ने छाया-नुवाद सा कर दिया है। वीरगाथाकाल के प्रारम्भ मे सात कवियो का उल्लेख प्राय इतिहासकारो ने किया है। इनमे पुष्प, दलपति, भुआल, अकरम, फैज, साईंदान तथा मोहनलाल प्रमुख है। मोहनलाल की अप्रामाणिकता तो सिद्ध हो चुकी है। अन्य कवियो की रचनाएँ प्राप्त नही हो सकी हैं। केवल दलपति का 'दलपति विजय' प्राप्त है। इस युग के कवियो ने अधिकतर रासो नामक ग्रन्थ लिखे थे। अत हम रासो शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार कर लेना चाहते हैं।

रासो शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे विविध विद्वानो की सम्मतियाँ

रासो शब्द की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न विद्वानो ने भिन्न-भिन्न प्रकार से दी है। कुछ प्रसिद्ध विद्वानो की दी हुई व्युत्पत्तियाँ इस प्रकार हैं—

गार्सी द तासी का मत—इस फ्रासीसी विद्वान् ने 'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति 'राजसूय' शब्द से मानी है। उसके मतानुसार सभी राजा लोग राजसूय यज्ञ करने के अभ्यासी थे। उनके कारण लोग अपने-अपने राजाओ का जिन ग्रन्थो मे यशो-गान करते थे, उन्हें लोग राजसूय या रासो कहने लगे। किन्तु यह मत समीचीन नही प्रतीत होता।

महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री का मत—इन्होने इसकी व्युत्पत्ति राज-यज्ञ से मानी है। किन्तु समझ मे नही आता कि राजयज्ञ का अपभ्रष्ट रूप रासो कैसे बनेगा।

डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल—इन्होने रासो शब्द का उद्भव रहस्य शब्द से बताया है।

कविराज श्यामलदान जो का भी यही मत है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—इन्होने इस शब्द की व्युत्पत्ति 'रसायण' शब्द से सिद्ध करने की चेष्टा की है। रसायण शब्द वीसलदेव रासो मे बार-बार प्रयुक्त हुआ है। इसीलिए उन्होंने यह अनुमान लगाया है।

नरोत्तमदास तथा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—रासो शब्द को यह दोनो विद्वान् 'रासक' शब्द का अपभ्रंश मानते है। आचार्य हजारीप्रसादजी ने अपनी "हिन्दी साहित्य का आदिकाल" नामक रचना मे रासक शब्द से किस प्रकार रासो शब्द व्युत्पन्न हुआ, इस बात पर विस्तार से विचार किया है। उन्होंने लिखा है— "जिस प्रकार विलास नाम देकर चरित-काव्य लिखे गए, रूपक नाम देकर चरित काव्य लिखे गए, प्रकाश नाम देकर चरित-काव्य लिखे गए, उसी प्रकार रासो या रासक नाम देकर भी चरित काव्य लिखे जाने लगे।" आपने लिखा है कि रासक के लिए 'रास' शब्द का प्रयोग भी होता है। रास का ही आगे चलकर रासो हो गया। उसका विकास-क्रम इस प्रकार होगा—रास-रासक-रासउ-रासौ-रासो। नरोत्तमदास स्वामी का मत द्विवेदीजी से थोडा भिन्न है। उनके मतानुसार रास शब्द प्रेम-प्रधान रचनाओ के लिए प्रयुक्त होता था। रास का ही आगे चलकर रासो हो गया और वह वीर-रस-प्रधान रचनाओ के लिए प्रयुक्त होने लगा।

रासो ग्रन्थ

खुमान रासो—इसका रचना काल ८१३ से ८४३ तक है। इसमे खुमान द्वितीय का वर्णन है। ऐसा जान पडता है कि यह ग्रन्थ लगभग ८०० वर्षों की परम्पराएँ सग्रहीत किए हुए है। क्योंकि इसमे महाराणा प्रताप तक का उल्लेख पाया जाता है। इसलिए इसे हम प्रामाणिक नही मान सकते।

बीसलदेव रासो—यह ग्रन्थ भी वीरगाथा काल का ही है। इसकी तिथि के सम्बन्ध मे बडा मतभेद है। इसमे एक पक्ति है—"बारह सौ बहोत्तरा मझार" जिसके ग्राधार पर विद्वानो ने इसकी तिथि निर्धारित की है। मिश्रबन्धुओ ने 'बारह सौ बहोत्तरा मझार' का अर्थ बारह सौ बीस लिया है। श्यामसुन्दर दास, लाला सीताराम आदि ने इसका अर्थ १२०२ लिया है। रामचन्द्र शुक्ल ने १२१२ लिया है। गजराज ओझा ने एक प्राचीन प्रति के आधार पर इसका समय ग्यारहवी शताब्दी का मध्यकाल निश्चित किया है। डॉ० रामकुमार वर्मा भी इस मत से सहमत है। अगरचन्द नाहटा इसे तेरहवी शताब्दी से भी बाद की रचना मानते हैं। इसमे राजा भोज की पुत्री राजमती और बीसलदेव साभर की प्रणय-कथा है। इसमे चार खण्ड हैं। २०० चरण है। प्रथम मे राजमती और बीसलदेव की प्रेमोत्पत्ति और विवाह की कथा वर्णित है। दूसरे मे कलिग युद्ध के लिए बीसलदेव का प्रस्थान। तीसरे मे राजमती का विरह-वर्णन। चतुर्थ मे राजा भोज का अपनी कन्या के लौटा लाने का वर्णन है। कथा की दृष्टि से यह ग्रन्थ विशेष महत्वपूर्ण नही है। इसमे १७वी शताब्दी तक की बाते पाई जाती है। यद्यपि यह गद्य-गीत है, फिर भी सर्वत्र प्रबन्धत्व की प्रवृत्ति दिखाई पडती है।

पृथ्वीराज रासो—पृथ्वीराज रासो हिन्दी का प्रथम विकसनशील महाकाव्य है। (इसका महाकाव्यत्व देखिए, हिन्दी के महाकाव्य के प्रसग मे इसी ग्रन्थ मे।) रासो की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे विद्वानो के कई वर्ग दिखाई पडते हैं—

(१) **प्रामाणिक माननेवाले विद्वानों का वर्ग**—इस वर्ग के प्रमुख समर्थक है—तासी, कर्नल टाड, मोहनलाल, विष्णुलाल पाण्ड्या, श्यामसुन्दरदास, मिश्रबन्धु, राव मोहनसिंह, मथुराप्रसाद दीक्षित, राधाकृष्ण दास, हरप्रसाद शास्त्री।

(२) **अप्रामाणिक मानने वाले विद्वानों का वर्ग**—इस वर्ग के मुखिया श्यामलदान मुरारीदान, डॉ० बूलर, गौरीशकर हीराचन्द ओझा, शुक्ल, मुन्शी देवी प्रसाद, डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० ग्रियर्सन, प्रो० शीरानी।

(३) चन्द कवि ने रासो लिखा था किन्तु वह मूल रूप मे नही प्राप्त है। इस मत के प्रतिपादक विद्वानो मे मुनि जिन विजय, अगरचन्द नाहटा, सुनीतकुमार चटर्जी, डॉ० दशरथ ओझा, मणिराम रगा प्रमुख हैं।

(४) चन्द पृथ्वीराज का समकालीन कवि था। किन्तु उसने रासो की रचना नही की। कुछ लोग इस मत के पक्ष मे भी हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि रासो प्रामाणिकता और अप्रमाणिकता को

लेकर वड़ा मतभेद है। यहाँ पर इस मतभेद को लेकर हम विषय विस्तार नही करना चाहते। इस पर किसी और स्थल पर विचार करेंगे।

पृथ्वीराज विजय—जयानक—इस ग्रन्थ की खोज से 'पृथ्वीराज रासो' की अप्रामाणिकता सिद्ध की जा सकी है। इसकी उपलब्धि बूलर साहब को काश्मीर मे हुई थी। प्राचीन सस्कृत विद्वान् जयरथ ने इसका सकेत अपनी टीका मे किया है। इससे इसकी प्रामाणिकता असदिग्ध है। दूसरे इसकी घटनाएँ इतिहास मे मिलती हैं। अतएव यह ग्रन्थ प्रामाणिक है और पृथ्वीराज रासो इसी के आधार पर लिखा जान पडता है। जिसके स्वरूप मे परिवर्द्धन और परिमार्जन किया गया।

इसके वाद दो ऐसे ग्रन्थो का उल्लेख "राठौरा री ख्यात" में मिलता है जो अभी तक उपलब्ध नही हो सके हैं। भट्ट केदार का 'जयचन्द प्रकाश', मधुकर कवि का 'जस चन्द्रिका' भी कुछ उल्लेखनीय है। उत्तरी भारत का सबसे उल्लेखनीय लोकप्रिय ग्रन्थ 'आल्हखड' है। इसका सर्वप्रथम सम्पादन चार्ल्स इलियट ने १८६५ के आस-पास किया था। इसके बाद कुछ खण्ड के अनुवाद डॉ० ग्रियर्सन ने किए थे। वाटरफील्ड ने इसका सम्पूर्ण अग्रेजी अनुवाद किया है। इनका कथन है कि आल्ह-खण्ड पृथ्वीराज रासो के महोवे खण्ड का विस्तृत रूपान्तर है। डॉ० ग्रियर्सन इससे सहमत नही है। वह इसे एक स्वतन्त्र ग्रन्थ मानते हैं। उनके मतानुसार रासो से इसका कोई सम्बन्ध नही है। यह ग्रन्थ अपने आरम्भिक और प्रामाणिक रूप मे नही मिलता। भाषा इसकी आधुनिक है किन्तु ओज और वेग के विचार से यह वीर-गाथाकालीन रचना है।

विजयपाल रासो—नरपति नाल्ह लिखित यह वीरगाथाकालीन ग्रन्थ है। इसमे करौली नरेश का वर्णन किया गया है।

इसके पश्चात् कुछ छोटी-छोटी ग्रन्थ रचनाएँ भी उपलब्ध होती हैं। जिसमे शारगधर का 'हम्मीर रासो' और जयचन्द का 'हम्मीर महाकाव्य' उल्लेखनीय है। शृगार रस का अच्छा परिपाक हुआ है। साथ ही साथ इसमे ओजपूर्ण चित्र भी मिलते हैं। राजस्थानीय डिंगल भाषा मे बहुत सी ऐसी रचनाएँ प्राप्त होती हैं जो या तो गद्य है या गद्य-पद्य मिश्रित रूप मे है। ऐसी रचनाओ मे वातख्यात दास्तान और इतिहास बहुत प्रसिद्ध है। जिसमे राजस्थानी गद्य के अच्छे नमूने देखे जा सकते हैं।

इस काल की प्रवृत्तियाँ सक्षेप मे इस प्रकार हैं—

वीरगाथाकालीन प्रवृत्तियाँ

इस काल की प्रवृत्तियाँ सक्षेप मे इस प्रकार हैं—

(१) अधिकतर यह रचनाएँ नर काव्य हैं। इनमे किसी राजा के शौर्य या किसी राजकुमारी के स्वयवर अथवा उसके अपहरण आदि का ही वर्णन मिलता है। इनके विषय इतिहास से ही लिए गए हैं, किन्तु फिर भी वे इतिहास से मेल नही खाते। इसके तीन कारण हैं।

(क) प्रथम तो चारण लोग अपने आश्रयदाताओ की प्रशसा अत्यन्त अति-

-रजित रूप मे किया करते थे। अतिरजना के आवेग मे प्राय सत्य का गला घोट दिया करते थे।

(ख) दूसरा कारण यह था कि उस समय प्रामाणिक लिपिवद्ध इतिहास अनुपलब्ध थे। इस दशा मे यह लोग अनुमान से ही अपने आश्रयदाताओ के पूर्वजो की वीरता का वर्णन किया करते थे।

(ग) तीसरा कारण है कि सस्कृत से जो परम्परा इन्हे प्राप्त हुई थी वह भी अधिकतर स्तुति रुप मे ही थी। भोज के दरबार मे खडे होकर प्रशसा करने वाले चारण ही इनके पूवज थे। इन कवियो का लक्ष्य एक ओर तो काव्यशास्त्र के वँधे हुए नियमो के आधार पर कविता करना और एक-एक कविता पर एक-एक लाख रुपया प्राप्त करना होता था तथा दूसरी ओर अपने-अपने आश्रय-दाताओ की रुचि को परितुष्ट करना भी था। किन्तु भोज-कालीन कवियो मे और चारण-कालीन कवियो मे महान् अन्तर था। भोज का युग शान्ति का युग था इस-लिए उनकी कविताओ मे कला की प्रतिष्ठा रहती थी। किन्तु चारणकाल मे राजनीतिक अस्त-व्यस्तता के कारण कलावाद अपनी अन्तिम साँसें भर रहा था। चारणकालीन कवियो का लक्ष्य कला के लिए नही, उपयोगिता के लिए था। इसी कारण उसका शृगार भी रीतिकालीन वर्णन से भिन्न है। इसमे एक विभिन्न अनुभूति है, जो पुरुष को पुरुषत्व की ओर उत्तेजित करती है।

(२) इस काल के कवियो की दूसरी विशेपता उनकी कल्पना की प्रचुरता थी। किसी भी राजा के कृत्यो का वर्णन करते समय यह लोग कल्पना से अधिक काम लेते थे, यथार्थ से कम। इसी के फलस्वरूप जहाँ इनकी रचनाओ मे कुछ गुण है वहाँ कुछ दोषो का भी समावेश हो गया है। उन दोपो मे से दो दोष प्रधान हैं।

(क) विस्तार भय, और

(ख) वस्तु परिगणन की प्रवृत्ति।

यह लोग जहाँ दो-चार सच्चे युद्धो का वर्णन करते थे वहाँ दो-चार झूठे युद्धो का भी। और उसमे विविध कल्पनाओ से काम लिया करते थे। इनमे कथा-वस्तु के विभाजन और सतुलन आदि पर बिलकुल भी ध्यान नही दिया गया है। महाकाव्यो मे शास्त्रानुसार सन्धि एव सन्ध्यङ्गो की यथास्थान योजना होनी चाहिए। इस दृष्टि से यह रासो ग्रन्थ महाकाव्य नही कहे जा सकते। इसमे कथावस्तु के अगो के कलात्मक योजना पर कहीं भी ध्यान नही दिया गया है। इस युग के रसात्मक एव इति-वृत्तात्मक वस्तुओ के सामजस्य मे भी सतुलन नही दिखाई पडता। भाव-व्यजना की दृष्टि से इन्हे इतना सफल नही कह सकते जितना उत्साहप्रदर्शन की दृष्टि से। यद्यपि उत्साह वीर रस का स्थायीभाव है फिर भी उत्साह से सम्बद्ध विभिन्न अगो की योजना इनमे नही मिलती। इसका कारण यह था कि यह चारण लोग परम्परा के पूर्ण उपासक थे। वीर रस के वर्णन मे भी इन्होने वीर रस के स्थान पर परम्परा का पालन किया है। यही कारण है इनकी भावव्यजना पर आघात पहुँचा है। इनमे हमे स्वाभाविक अलकारो की योजना तो मिलती है, किन्तु अभि-व्यक्ति की विविध कलापूर्ण शैलियो के दर्शन नही होते। अलकार भी उनमे अधिकतर

चे ही मिलते हैं जो इन्हे अपनी मौखिक परम्परा से प्राप्त हुए थे.। रूप वर्णन में रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है। इन कवियो ने परम्परागत रूपकातिशयोक्ति के सभी उपमानो को ज्यो का त्यो आत्मसात् करने की चेष्टा की है। पृथ्वीराज रासो मे पद्मावती के रूप वर्णन मे जिस रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग है वह परम्परा भुक्त ही है।

इन कवियो मे भाषा सम्बन्धी सौष्ठव बिलकुल नही मिलता। इनकी भाषा को हम साहित्यिक भाषा नही मान सकते। 'षट्भाषा पुरान च कुरान कथित मया' से यह बात भली प्रकार स्पष्ट हो जाती है। रासो की भाषा देखने से पता चलता है कि इसमे राजस्थानी, डिंगल, उर्दू, फारसी, पजाबी आदि अनेक भाषाओ के रूप मिलते है। इनमे व्याकरण सम्बन्धी दोष भी अधिक मात्रा मे हैं। बीसल देव रासो की भाषा मे प्रान्तीय एव स्थानगत विशेषताएँ बहुत प्राप्त होती है। रामचन्द्र शुक्ल और हीराचन्द ओझा ने इसकी भाषा की कटु आलोचना की है, और उसे असाहित्यिक सिद्ध किया है। आल्ह खण्ड की भाषा तो बिलकुल आधुनिक है। उस पर राजस्थानी, बुन्देलखण्डी आदि न मालूम कितनी भाषाओ का प्रभाव है। इस प्रकार भाषा की दृष्टि से ये ग्रन्थ साहित्यिक नही कहे जा सकते हैं।

इसमे अधिकतर अपभ्रंश के छन्दों का प्रयोग किया गया था। हिन्दी के छन्दो का विकास न तो उस समय हुआ ही था और न कवियो की उस ओर रुचि ही थी। केवल कवित्त-सवैया आदि छन्द ही ऐसे थे जिसका प्रयोग किया जाता था। इन कवियो ने अधिकतर दोहा, सवैया, कवित्त, पाघड़ी आदि छन्दो मे ही अपनी रचनाएँ लिखी हैं। इस प्रकार सक्षेप मे हम कह सकते है कि वीरगाथा-युग मे साहित्यिकता एव कलात्मकता का विकास नही हुआ था। परम्परागत रूढि-पालन करने मे ही कवि लोग अपना चरम साफल्य समझते थे। केवल कुछ स्थल ही ऐसे मिलते हैं जिनका निर्माण कवियो ने सम्भवत युद्ध-क्षेत्र मे किया होगा। ऐसे स्थलो पर कही-कही इन कवियो की प्रतिभा की अलौकिकता के अच्छे दर्शन मिलते हैं। परम्परा से विमुक्त होकर यह मौलिकता और प्रतिभा भक्ति-काल मे अपने सुन्दरतम रूप मे अभिव्यक्त हुई थी।

वीरगाथाकालीन रचनाओं मे रस—इन रचनाओ मे अधिकतर शृगार और वीर—दो ही रसो की निष्पत्ति की गई है। बीसलदेव रासो मे तो शृगार की ही प्रधानता है। वीर रस केवल नाम मात्र के लिए है। पृथ्वीराज रासो मे भी सयोग और वियोग के ही चित्र अधिक है। सौन्दर्य-चित्रण भी स्थान-स्थान पर किया गया है। इन रचनाओ मे वर्णित शृगार रीतिकालीन शृगार से भिन्न है। रीतिकालीन शृगार अधिकतर वासना की परम्परागत अभिव्यक्ति के रूप मे व्यक्त हुआ है। हृदय की वास्तविक मधुमयी अनुभूतियाँ यदि कही अपने सहज रूप मे प्रकट हो सकी है तो रासो ग्रन्थों मे ही। इन ग्रन्थो मे वर्णित शृगार मे पौरुष है। उसे हम पुरुषो का शृगार कह सकते हैं। किन्तु रीतिकालीन शृगार मे एक अकर्मण्यता-स्त्रैणता भरी हुई है। इसे कापुरुषो की वासना कहना चाहिए।

भक्तिकाल की सामान्य भूमिका

भक्तिकाल

हिन्दी साहित्य मे १३५० के पश्चात् एक भयकर क्रान्ति उत्पन्न हुई। इस क्रान्ति की कारणभूत अनेक राजनीतिक, धार्मिक, सास्कृतिक और साहित्यिक परिस्थितियाँ थी। यहाँ पर उन परिस्थितियो का सकेत कर देना अनुपयुक्त न होगा।

राजनीतिक परिस्थितियाँ—तुग़लक वश के सिंहासनारूढ होने पर भारत की राजनीति में बहुत से परिवर्तन दिखलाई दिए। मुहम्मद तुगलक इतिहास मे एक पागल बादशाह माना जाता है। राजधानी-परिवर्तन, देवगिरि की चढाई आदि कुछ उसके ऐसे कुकृत्य थे जिनसे सारी जनता त्रस्त हो गई थी। मुहम्मद तुगलक के बाद फीरोजशाह सिंहासनारूढ हुआ। राजपूतनी के गर्भ से सम्भूत यह यवन-कुमार स्वभाव से ही क्रूर अत्याचारी और धर्मान्ध था। कहते हैं कि उसने एक ब्राह्मण को केवल इसीलिए जीवित जलवा दिया था कि उसने अपने धर्म को इस्लाम के समान ही पवित्र और आदरणीय कहने का साहस किया था। फीरोजशाह ने हिन्दुओ के साथ इतने अधिक अत्याचार किए थे कि उनका वर्णन कठिन है।

तुगलक वश के बाद लोदी वश का शासन-काल आया। इसका प्रसिद्ध बादशाह सिकन्दर लोदी फीरोजशाह से भी अधिक नृशस था। इण्डियन इस्लाम नामक पुस्तक मे टिटस ने लिखा है कि इसने एक-एक दिन मे हजारो की सख्या मे निरीह हिन्दुओ की हत्या की थी। इसी बीच मे तैमूर का भारत पर आक्रमण हुआ। तैमूर ने भारत को अच्छी प्रकार लूटने के उपरान्त नृशस जन-हत्या भी की थी। इतिहासकारो का कहना है कि तैमूर का एक-एक सिपाही भारत से लौटते समय सौ-सौ हिन्दू स्त्री बच्चो को गुलाम बनाकर ले गया था। ऐसी आतकपूर्ण परिस्थितियो के बीच हिन्दुओ का शौर्य और साहस सदा के लिए सो गया। जनता मे न तो कोई उत्साह ही रह गया और न दुराचार से बचने का कोई उपाय ही।

सामाजिक परिस्थितियाँ—भक्तिकाल की प्रारम्भिक सामाजिक स्थितियो पर विचार करने पर कई बातें स्पष्ट अनुभूत होती हैं। यहाँ पर उनमे से कुछ का निर्देश किया जा रहा है—

पहली बात वर्ण-व्यवस्था का सुदृढ होना है। यो तो वर्ण-व्यवस्था की स्थापना के चिन्ह हमे वैदिक-काल से ही दिखलाई पडते है किन्तु स्मृति काल मे यह और भी दृढ हो गई थी। मुसलमानो के आने पर इस वर्ण-व्यवस्था ने और भी भयकर रूप धारण कर लिया। परिणाम यह हुआ कि समाज मे छूआछूत, छोटे-बडे की भावना बहुत अधिक प्रतिष्ठित हो चली। पुरोहितवाद का प्राधान्य हो चला। ये पुरोहित अनेक प्रकार की आडम्बरप्रधान प्रथाओं और व्यवस्थाओ का प्रचार कर साधारण जनता को ठगा करते थे। परिणामस्वरूप सच्चे धर्म के स्थान पर धर्माडम्बरो, धर्माभासो, कुप्रथाओ की बाढ-सी आ गई थी। इधर यवन समाज मे छल-कपट, व्यभिचार, द्यूत-क्रीड़ा आदि का बोल बाला था। व्यभिचार का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि फीरोजशाह तुगलक खाँ के हरम मे प्रत्येक देश और प्रत्येक जाति की हजारो स्त्रियाँ थी। उस समय की स्थिति का वर्णन करते हुए एक

इतिहासकार ने लिखा है कि बाल-व्यभिचार अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। सुन्दर बालक और बालिकाएँ खुल्लम-खुल्ला बाजार मे बिका करते थे। जालसाजी की भी अनेक कहानियाँ इतिहास मे भरी पडी हैं। कहते हैं कि काजरशाह ने जालसाजी करके करोडो रुपए पैदा किए थे। मद्य-पान, द्यूत-क्रीडा तो उस समय की साधारण बातें थी। हिन्दू समाज मे बाल-विवाह, विधवा-विवाह, सती-प्रथा आदि कुप्रथाएँ विशेष रूप से प्रचलित थी। पर्दा-प्रथा दृढ होती गई। इस प्रकार की सामाजिक स्थितियो मे सुधारक सन्तो का पैदा होना अनिवार्य था।

धार्मिक परिस्थितियाँ—भक्ति-काल के उदय होने की पूर्व की धार्मिक परिस्थितियो पर विचार करते समय हमें चार धाराएँ स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं—

(१) सिद्धो, नाथो आदि की धारा।
(२) इस्लामी और सूफी धारा।
(३) शास्त्रज्ञ आचार्यों का उदय और वैष्णव धर्म।
(४) सन्तो की परम्परा।

(१) **सिद्धो, नाथो आदि की धारा**—भारत वर्ष मे सातवी शताब्दी से सिद्धो की परम्परा विकसित हुई थी। यह सिद्ध सख्या मे चौरासी थे। इनका सम्बन्ध बौद्ध धर्म की उपशाखाओ—मन्त्रयान, तन्त्रयान, सहजयान, वज्रयान आदि से था। ये सिद्ध उत्तर मध्य काल तक अर्थात १२५७ तक वर्तमान थे। यह अधिकतर वाममार्गीय थे। मद्य, मास आदि पाँच मकारो को यह अपना धार्मिक लक्षण मानते थे। शाक्त तन्त्रो के प्रभाव से इनमे धर्म के नाम पर घोर व्यभिचार फैला हुआ था। इन सिद्धो की कुछ विशेषताएँ थी। हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा पर इन विशेषताओ का प्रभाव प्रत्यक्ष दिखलाई पडता है। किन्तु इनकी साधना का सबसे काला पक्ष व्यभिचार था। कुछ सात्विक सन्तो मे इनकी साधना के प्रति प्रतिक्रिया जागृत हुई। यह प्रतिक्रिया पहले तो नाथपन्थ के रूप मे दिखाई दी, बाद को हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा के रूप मे विकसित हुई।

नाथपथ—वामाचारी सिद्ध मत की प्रतिक्रिया के रूप मे इस पथ का उदय हुआ था। गोरखनाथ इसके प्रधान प्रवर्तक माने जाते हैं। इन्होने तामसिक सिद्ध-साधना को सात्विक स्वरूप दिया। नाथपथ मे वामाचारी साधना के स्थान पर शुद्ध हठयोगिक साधना की प्रतिष्ठा की गई। एक व्यवस्थित दर्शन का विकास हुआ। खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति भी विकसित हुई। सन्ध्या भाषा, जो कि सिद्धो मे प्रचलित थी, नाथपथियो मे ही विविध पारिभाषिक शब्दो के साथ प्रचलित रही। हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा पर इस नाथपथ का भी प्रभाव दिखाई पडता है। पीछे इसका सकेत किया जा चुका है।

(२) **इस्लामी और सूफीधारा**—इधर यवन लोग इस्लाम के प्रचार मे सलग्न थे। किन्तु यह प्रचार तलवार के बल पर हो रहा था। हृदय और बुद्धि के बल पर नही। सुलेमान नदवी साहब ने अपनी पुस्तक 'अरब और भारत के सम्बन्ध' मे अपनी एक कहानी दी है। कहते हैं खलीफा हारूँ रशीद के समय मे सिन्ध के एक राजा ने अपने एक बौद्ध पण्डित के कहने पर खलीफा को लिख भेजा

कि आप लोग धर्म तलवार के बल से फैलाते हैं तर्क से नही। अगर आपका धर्म वैज्ञानिक हो तो आप अपने मुल्ला साहब को शास्त्रार्थ के लिए भेज दें। खलीफा ने एक आलिम मुल्ला को भेजा। कहते हैं कि वह मौलवी तर्क मे हार गया। सम्भवत इस घटना के पश्चात् इस्लाम मे बुद्धिवादिता का आरोप किया जाने लगा। और अलगज्जाली ने इस्लाम में तार्किकता और बुद्धिवादिता की प्रतिष्ठा की। हृदय पक्ष के विकास के रूप में इस्लाम की एक सूफीधारा का विकास हुआ। सूफी लोग सत हुआ करते थे।

सूफी शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से दी जाती है। 'सूफ' सफेद कपडे को कहते हैं। जो लोग सफेद कपडा पहनकर सीधा-सादा जीवन व्यतीत करते थे उन्हें 'सूफी' कहते थे।

'सूफ' मस्जिदो के पतले चौंतरे को भी कहते थे। कहते है कि जो फकीर दिन भर भिक्षा माँगने के पश्चात् इन्ही चौतरो पर सो जाते थे, इसी से उन्हे सूफी कहने लगे। यह सूफी दो प्रकार के होते है—वाशरा और वेशरा। 'वाशरा' उनको कहते थे जो कुरान की शरायतो का पालन करते हुए भी साधना के हृदय-पक्ष मे विश्वास करते थे। अधिकाश सूफी वाशरा ही थे। वे सूफी, जो इस्लाम की शरायतो और तर्कों मे विश्वास नही करते थे, 'वेशरा' कहलाते थे। सूफी साधना भावना-प्रधान होती है। यह लोग भाव-जगत मे, प्रेममय जगत मे, प्रियतम की अनुभूति करते हैं। इनमे एक विस्तृत साधना-पद्धति का भी विकास हुआ। यह साधनाएँ भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो मे भिन्न-भिन्न रूप मे प्रस्फुटित हुई थी। भारतीय सूफियो के चिश्ती सम्प्रदाय, कादरी सम्प्रदाय रोहरावर्दी सम्प्रदाय और नक्शवन्दी सम्प्रदाय—यह चार सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं। साधारणतया यह लोग साधना के चार अंग मानते है—

(१) शरीयत, (२) तरीकत, (३) हकीकत, (४) मार्फत।

प्रियतम के मिलने के लिए ये हाल या भावातिरेक की स्थिति को आवश्यक मानते थे।

जब तलवार से इस्लाम का पूर्ण प्रचार न हो सका तो सतो ने भावभूमि पर उसकी प्रतिष्ठा करके हृदय की रागात्मक वृत्ति के सहारे उसका प्रचार करना शुरू कर दिया। हिन्दी की सूफीधारा पर इन सूफी सतो का विशेष प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

(३) **शास्त्रज्ञ आचार्यों का उदय**—शकराचार्य का उदय भारत की एक महान् घटना है। विश्व के तीन महान् विद्वानो मे शकराचार्य सर्वोपरि माने जाते हैं। इनका उदय आठवी शताब्दी के आस-पास माना जाता है। यह अद्वैतवाद के प्रधान प्रवर्तक थे। अद्वैतवाद का मूलभूत सिद्धान्त इस प्रकार निर्देशित किया गया है—

"श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तम् ग्रथकोटिभि।
सत्य ब्रह्म जगत मिथ्या ब्रह्मोजीवैव ना पर.।"

अर्थात् ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है। ब्रह्म और जगत मे कोई भेद नहीं। शकराचार्य ज्ञान मे विश्वास करते थे। भक्ति मे उनका विश्वास कम था। यह अद्वैत दर्शन का तात्विक पक्ष कहा जा सकता है। व्यावहारिकता के अभाव के कारण इसकी प्रतिक्रिया के रूप मे ऐसी दर्शन-पद्धतियाँ उदय हुई जिनमे तात्विकता और व्यावहारिकता दोनो का सुन्दर समन्वय किया गया था। इन सभी पद्धतियो मे ज्ञान के स्थान पर भक्ति को स्थान दिया गया था। सक्षेप मे वे इस प्रकार है—

(क) रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद,
(ख) मध्वाचार्य का द्वैतवाद,
(ग) निम्बकाचार्य का द्वैताद्वैतवाद,
(घ) चैतन्य का अचिन्त्य भेदाभेदवाद, तथा
(ङ) वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैतवाद।

रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद (श्री सम्प्रदाय)—रामानुज का जन्म सम्वत् १०७४ मे मद्रास मे हुआ था। इनके तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। वेदार्थ सग्रह, श्री भाष्य और गीता भाष्य। यह सिद्धान्त मे शकराचार्य के विरोधी थे। यह तीन पदार्थ मानते थे—अचित्, चित् और ब्रह्म। अचित् का तात्पर्य है जड जगत, चित् का जीव, इन दोनो से विशिष्ट शक्ति को परब्रह्म कहते है। इसीलिए यह चित् अचित् विशिष्टवादी कहलाते है।

मध्वाचार्य का द्वैतवाद (ब्रह्म सम्प्रदाय)—इनका जन्म स० १३१४ मे मगलोर मे हुआ था। यह द्वैतवाद के प्रवर्तक थे। इन्होंने अपने सिद्धान्त अधिकतर भागवत् पुराण से लिये हैं। इनके मतानुसार विष्णु ही अविनाशी ब्रह्म है। जीव ब्रह्म से ही उत्पन्न हैं। ब्रह्म स्वतन्त्र है, जीव परतन्त्र है।

विष्णुस्वामी (रुद्र सम्प्रदाय)—सम्भवत यह दक्षिण के निवासी थे। इनका आविर्भाव काल सन् १३२० माना जाता है। यह एक प्रकार से मध्वाचार्य के अनुयायी माने जाते हैं। यह कहा जाता है कि इन्होने अद्वैतवाद को माया से रहित मानकर शुद्ध ब्रह्म का प्रतिपादन किया था। जिनका अनुमरण आगे जाकर महाप्रभु वल्लभाचार्य ने किया। विष्णुस्वामी ने कृष्ण को अपना आराध्य माना है। पर साथ ही राधा को भी भक्ति मे स्थान दिया है। इन्होने गीता, वेदान्त सूत्र और उपनिपदो पर भाष्य लिखे है।

निम्बकाचार्य का द्वैताद्वैतवाद (हस सम्प्रदाय या सनकादि सम्प्रदाय)—यह बारहवीं शताव्दो मे आविर्भूत हुए थे। यह तैलगू प्रदेश से आकर वृन्दावन मे वस गए थे। यह सूर्य के अवतार माने जाते है। जयदेव इनके शिष्य थे। इनका कहना है कि ब्रह्म जीव से भिन्न भी है और अभिन्न भी है। इसीलिए इन्हें भेदाभेदवादी कहते हैं।

चैतन्य का अचिन्त्य भेदाभेदवाद—चैतन्य मत पर निम्वार्क और वल्लभ का प्रभाव मालूम पड़ता है। इन्होने अचिन्त्य भेदाभेदवाद का प्रवर्तन किया था। इनके मतानुमार ब्रह्म सगुण और सविशेप है। जीव सेवक और भगवान सेव्य है।

रामानन्दी सम्प्रदाय—रामानन्द रामानुज की शिष्य परम्परा मे थे। इनके

सम्प्रदाय के सिद्धान्तो की अभी तक खोजपूर्ण विवेचना नही हो सकी। किन्तु इतना निश्चित है कि रामानुज के सिद्धान्तो से इनके सिद्धान्त थोडा भिन्न थे। उन्होने अपनी साधना मे योग को भी महत्त्व दिया था, जात-पाँत व्यवस्था मे भी अधिक विश्वास नही रखते थे।

मध्यकाल के वैष्णव सम्प्रदाय

संख्या	दैवी आचार्य	लौकिक आचार्य	सम्प्रदाय का नाम	उपासना का भाव	सिद्धान्त	आचार	विशेष कवि
१	लक्ष्मीजी	रामानुजाचार्य	श्री	दास्य	विशिष्टाद्वैत	विष्णु भगवान्	रामानन्द और उनके शिष्य श्री भट्ट
२	सनकसनातन सनन्दन सन्तकुमार	निम्बादित्य	हंस	सख्य	द्वैताद्वैत	राधा-कृष्ण	हितहरिवंशदास सखी सम्प्रदाय राधावल्लभी | व्यासजी | ध्रुवदास
३	ब्रह्माजी	मध्वाचार्य श्रीकृष्ण चैतन्य १४८५-१५३३ १-रूपसनातन २-जीव गो०	ब्रह्म	माधुर्य	द्वैत	राधा-कृष्ण	नामकीर्तन का प्राधान्य जयदेव विद्यापति चण्डीदास
४	महादेवजी	विष्णुस्वामी वल्लभाचार्य	रुद्र	वात्सल्य	शुद्धाद्वैत	बाल-कृष्ण	वल्लभाचार्य अष्टछाप रसखान

(४) **संतों की परम्परा**—भारत वर्ष मे वैदिक काल से ही सत होते आए हैं। सतसगति और सत इनको हिन्दू धर्म मे वहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। मध्य काल मे भक्तो और सतो की एक लम्बी-चौडी परम्परा विकसित हुई थी। भक्तो की परम्परा अलवार भक्तो से उदित माननी चाहिए। सतो की परम्परा का प्रवर्तन ज्ञानदेव और नामदेव से माना जा सकता है। आगे चल करके हिन्दी मे इन्ही के पद-चिह्नो पर निर्गुण काव्याधारा का विकास हुआ। निर्गुण धारा के कवियो ने सन्तो, भक्तो, योगियो, ज्ञानियो सभी की महत्त्वपूर्ण बातें ग्रहण की थी। किन्तु उन पर सवसे अधिक प्रभाव नामदेव, ज्ञानदेव आदि सतो का था।

सास्कृतिक परिस्थितियाँ—सभ्यता और सस्कृति के अन्तर्गत धर्म, दर्शन, सामाजिक परिस्थितियाँ तथा राजनैतिक और आर्थिक सभी बातें स्थूल रूप से आती है। सस्कृति का सम्बन्ध सस्कारो से होता है। सस्कार मन वुद्धि चित् और आत्मा

के गुण होते हैं। जिस जाति की सस्कृति जितनी पवित्र और उदात्त होती है वह जाति उतनी ही महान् होती है। मध्यकाल मे भारतीय सस्कृति का ह्रास हो रहा था। सदाचारप्रियता आचरण-प्रवणता, विनय-भाव, स्वाध्याय आदि के प्रति उपेक्षा भाव बढता जा रहा था। यवन लोग विजयी जाति के रूप मे प्रतिष्ठित हुए थे। अतएव उनमे दर्प, अहकार, विलासिता और उद्दण्डता आदि विकार बढ गए थे। उनकी दृष्टि अत्यधिक भौतिक थी। इधर हिन्दुओ मे निराशा फैल रही थी। विजित जाति होने के कारण उनके हाथ-पैर ढीले पड गए थे। विलासिता और भौतिकता के न तो इन्हें साधन ही उपलब्ध थे और न उनके उपभोग की आज्ञा ही थी। ऐसी स्थिति मे उनमे से विचार-प्रधान लोगो की प्रवृत्ति आध्यात्मिकता की ओर बढी। इसी आध्यात्मिकता का विकास सन्तो मे दिखाई पड़ता है। इसके पश्चात् अकबर के शासन-काल में एक नवीन क्रान्तिकारी परिवर्तन दिखाई पड़ा। राजनीतिक शान्ति और सन्तोष के फलस्वरूप हिन्दुओ मे भी विलासिता बढी। उधर सगुण भक्तिवाद के प्रचार से कृष्ण के रूप मे उन्हे एक आड सी मिल गई। कुछ सन्त तो सच्चे भक्त थे। जो भगवान् के मधुमय रूप मे तन्मय रहना चाहते थे। कुछ विलासप्रिय थे जो राधा और कन्हाई के सुमरिन के बहाने अपनी विलास-भावनाओ की अभिव्यक्ति करना चाहते थे। यह विलासिता की प्रवृत्ति इतनी बढी कि मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम के रूप मे भी लम्पटता का आरोप किया गया। इसका अनुमान निम्नलिखित उदाहरण से लगाया जा सकता है—

"नीवी करसत बरजति प्यारी
रस लम्पट सम्पुट कर जोरत पद परसत पुनि लै बलिहारी"

इसी वासना का विकास हमे कृष्ण भक्ति परम्परा के विकृत रूप रीतिकाल मे दिखाई पड़ता है।

साहित्यिक परिस्थितियाँ—हिन्दी साहित्य का मध्ययुग में कोई रूप निश्चित नही हो पाया था। वीरगाथाकाल के वीर रस प्रधान लम्बे-लम्बे महाकाव्यो और गीतिकाव्य ही उसकी एक मात्र निधि थे। इसमे भी साहित्यिकता को महत्त्व न देकर वर्णना और रस को महत्त्व दिया गया था। इनमे परम्परागत रूपक और उपमानो का पिष्टपेषण तो दिखाई पडता है, किन्तु साहित्यिकता की वह मनोरम और उच्च भूमि नही लक्षित होती जिसके आधार पर कहा जा सके कि हिन्दी साहित्य बहुत सम्पन्न था। खुसरो ने खड़ी-मिश्रित हिन्दी मे पहेलियाँ, मुकरियाँ, कोषग्रथ आदि लिखे थे। साहित्य के विविध स्वरूपो का विकास प्रारम्भिक युग मे नही हुआ। भक्ति युग मे आकर यद्यपि गद्य का विकास तो अधिक नहीं हुआ, किन्तु पद्य और विशेषकर गीत और मुक्तककाव्य का अच्छा विकास हुआ। प्रबन्ध के रूप मे सूफियो के प्रेम-काव्य हिन्दी की अनुपम निधि कहे जा सकते हैं। सगुण भक्तिधाराओ पर भारतीय काव्यशास्त्र एव दर्शनो आदि का भी पूरा प्रभाव पड़ा था।

निर्गुण काव्यधारा की परम्परा—निर्गुण काव्यधारा की परम्परा के मूलस्रोत का तो अभी तक ठीक निश्चय नही हो सका है, किन्तु अधिकतर विद्वान् नामदेव को इस धारा का आदि-कवि मानते हैं। डॉ० वर्मा, बड्थ्वाल आदि विद्वान्

नामदेव से भी प्रथम जयदेव को निर्गुण मत के अन्दर सिद्ध करते है। इसका कारण यह है कि ग्रन्थ साहब मे जिन सोलह कवियो का उल्लेख किया गया है उन सब मे जयदेव ही सर्व प्राचीन है। हमारी समझ मे जयदेव को निर्गुण काव्यधारा का भी नही कहा जा सकता। इनका गीत-गोविन्द इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि वे सगुणवादी थे, निर्गुणवादी नही। अतएव निर्गुण काव्यधारा के प्रवर्तक नामदेव ही माने जायेंगे। नामदेव के पश्चात् त्रिलोचन सदन और बेनी के नाम आते है। त्रिलोचन को बहुत से विद्वान् नामदेव से भी पूर्व का मानते हैं।

निर्गुण काव्यधारा का पूर्ण विकास स्वामी रामानन्द के शिष्यो मे दिखाई पडा। स्वामी रामानन्द रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा मे थे। रामानुजाचार्य विशिष्टाद्वैतवादी आचार्य थे। इनकी ही शिष्य-परम्परा मे राघवानन्द हुए थे, जिन्हे विद्वान् लोग रामानन्द का गुरु मानते है। राघवानन्द के सम्बन्ध मे डॉ० बडथ्वाल का मत है कि वे एक ओर तो रामानुज की दार्शनिक परम्परा के अनुयायी थे दूसरी ओर नाथपथी साधना के उच्चकोटि के साधक। रामानन्द को अपने गुरु से दोनो विचारधाराएँ प्राप्त हुई होगी। बाद मे इन विचारधाराओ का विकास उनके शिष्यो मे हुआ। रामानुजाचार्य और उनकी निर्गुणवादी शिष्य-परम्परा को निम्न चार्ट मे देख सकते है—
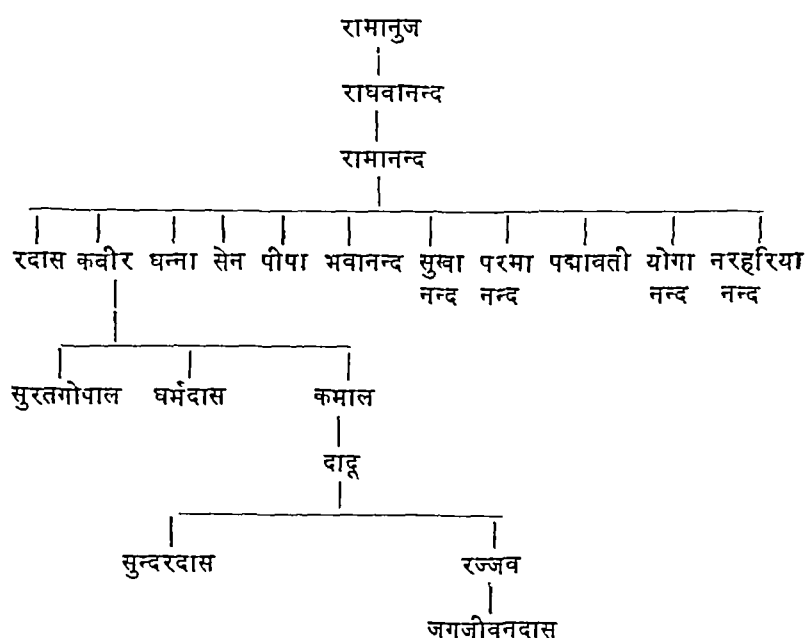
बहुत से सन्त अपना स्वतन्त्र पथ लेकर उदित हुए। इनमे मलूकदास अग्रगण्य हैं। इनके गुरु के सम्बन्ध मे बडा मतभेद है। इन्होने कही पर भी अपने गुरु का निर्देश नही किया है। डॉ० बडथ्वाल तथा कुछ अन्य विद्वानो के आधार पर जिन्दासाहब

को इनका गुरु मानते है। किन्तु अधिकाश विद्वान् इस मत से सहमत नहीं है। मलूकदास के अतिरिक्त अपना स्वतन्त्र दृष्टिकोण लेकर खडे होने वाले सन्तो मे नानक बहुत प्रसिद्ध है। यद्यपि नानक पर नामदेव और कबीर का प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई पड़ता है, किन्तु उनकी विचारधारा का अध्ययन करने पर यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि वे स्वतन्त्र विचारधारा व मत के प्रवर्त्तक थे। नानक की सैद्धान्तिक विचारधाराओ का अनुसरण करने वालो मे शिवदयाल, प्राणनाथ और दीन दरवेश थे। यह समस्त सन्त डॉ० बडथ्वाल के अनुसार विशिष्टाद्वैतवादी थे। रामानन्द की शिष्य-परम्परा मे होने वाले कवियो को इन्होने अद्वैतवादी माना है। डॉ० बडथ्वाल के मतानुसार उपर्युक्त सन्त मलूकदास के अनुयायी थे, क्योकि मलूकदास को वे अद्वैतवादी मानते हैं। नानक को भेदाभेदवादी और शिवदयाल दीनदरिया वेश को इन्होंने विशिष्टाद्वैतवादी कहा है। इस प्रकार डॉ० बडथ्वाल ने निर्गुण काव्यधारा को तीन भागो मे बाँटा है—

(१) अद्वैतवादी सन्त —कबीरदास आदि।
(२) भेदाभेदवादी सन्त —नानक।
(३) विशिष्टाद्वैतवादी सन्त —शिवदयाल आदि।

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने अपने मेडिवलमिस्टीसिज्म, मे मध्यकालीन सन्तो को दो भागो मे विभाजित किया है—

(१) पुरातनवादी
(२) स्वतन्त्रवादी—कबीर, दादू, नानक आदि।

आधुनिक निर्गुण सन्तो को उन्होने दूसरी कोटि मे रखा है। कबीर, नानक, दादू आदि इस श्रेणी के मुखिया है। हाल मे प्रकाशित परशुराम चतुर्वेदी रचित 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' नामक ग्रन्थ मे निर्गुण सन्तो का विभाजन बहुत कुछ पथो के आधार पर किया हुआ जान पडता है।

निर्गुणकाव्यधारा की प्रवृत्तियाँ

विशेषताएँ—निर्गुण काव्यधारा के कवियो की विषय सम्बन्धी विशेषताओ को स्पष्ट करते हुए डॉ० रामकुमार वर्मा ने उनकी रचनाओ को दो भागो मे विभक्त किया है—

(१) सामाजिक और (२) आध्यात्मिक।

हमारी समझ मे इन निर्गुण कवियो की रचनाएँ विषय की दृष्टि से तीन भागो मे विभक्त होनी चाहिए—

(१) सामाजिक, (२) आध्यात्मिक, तथा (३) साधनात्मक।

निर्गुण परम्परा के प्राय सभी कवियो मे विषय की दृष्टि से प्राय बहुत सी बातें समान मिलती है, जिनको हम इस प्रकार निर्दिष्ट कर सकते है।

(१) यह सभी कवि साहित्य की किसी शास्त्रीय परम्परा को लेकर नही चले हैं।

(२) इनका लक्ष्य या तो पूर्ववर्ती धर्माचार्यो के खण्डन कर अपने सिद्धान्तों का मण्डन करना था, अथवा विविध आडम्बरो का उपहास एव निन्दा करना।

अच्छे-अच्छे विद्वान् भ्रमित हो गए है। उदाहरण के लिए कबीर को लिया जा सकता है। बहुत से विद्वान् इन्हे भेदाभेदवादी मानते है। भंडारकर ने इन्हें द्वैताद्वैतवादी माना है। परन्तु साधारणतया यह अद्वैतवादी ही माने जाते है। डॉ० फर्कुहर ने इन्हे विशिष्टाद्वैतवादी सिद्ध किया है। वास्तव में यह इनमें से किसी भी पद्धति के अनुयायी नही थे। इनमे से अधिकाश सन्त अद्वैतवादी ही थे। किन्तु उनका अद्वैतवाद अपनी व्यक्तिगत विशेषताओ को लेकर चला था। फिर भी सुविधा की दृष्टि से डॉ० बडथ्वाल-कृत पद्धति को हम मानते हैं। उसका सकेत ऊपर किया जा चुका है। इन सन्त कवियो ने दर्शन-क्षेत्र मे एक क्रान्ति उत्पन्न करके एक नवीन दर्शन-पद्धति को जन्म देने की चेष्टा की थी। मध्यकाल धर्म की दृष्टि से अधकार युग कहा जा सकता है। इस अधकार युग मे सर्वत्र बाह्याचार मिथ्याचार आदि का ही बोलबाला था। सत् के नाम पर असत् की प्रतिष्ठा थी धर्म के नाम पर धर्माभासो का प्रचार था। यह स्थिति हिन्दू और मुसलमानो दोनों के धार्मिक क्षेत्रो मे दिखाई दे रही थी। इन सन्त कवियो मे इसी धार्मिक स्थिति की प्रतिक्रिया जागृत हुई। यह प्रतिक्रिया इतनी प्रवेगपूर्ण रूप मे उदय हुई कि क्रान्ति का प्रतिरूप बन गई। कबीर आदि सन्तो ने इसका सकेत किया है। कबीर लिखते हैं—

"पण्डित मुल्ला जो लिख दिया, छाँडि चले हम कुछ न लिया।"

इसी के फलस्वरूप इन निर्गुणवादी सन्त कवियो ने धर्मक्षेत्र मे बहुत सुधार किए है। यह सुधार निम्नलिखित है—

(१) बाह्याचारो को प्रश्रय न देना। मूर्ति-पूजा का खण्डन करना, विरोध। तीर्थाटन तथा अन्य वैधी साधना का विरोध।

(२) धर्म मे बुद्धिवादिता को स्थान देना।

(३) वैयक्तिक शारीरिक कष्ट साधना के महत्त्व को कम करना।

(४) साधना-क्षेत्र मे भी इन्होने क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रस्तुत किए थे अधिकाश सन्त तो निर्गुण परम्परा के पूर्ण अनुयायी थे। किन्तु इनमे से प्रतिभाशाली सन्तो ने साधना सम्बन्धी पृथक्-पृथक् मार्ग प्रवर्तित किए। इनमे से नानक, दादू, जगजीवनदास प्रमुख है। इन सन्तो ने अपने-अपने पथ चलाए है। किन्तु इन सभी सन्तो मे साधना एव धर्म सम्बन्धी बडी समानता है। यह सब आस्तिक थे सभी की साधना पद्धति मे हठयोग, योग, ज्ञान, भक्ति और वैराग्य का सुन्दर समन्वय हुआ था। अन्तर केवल इतना ही था कि किसी ने किसी एक तत्त्व को अधिक महत्त्व दिया था और किसी ने दूसरे को। इनकी धर्म-साधना मे हमे एक बात और समान दिखाई पडती है। इन सभी ने नाथपथ, तन्त्र मत और सिद्ध-मत के प्राय विविध पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग किया है, जिससे उनकी धर्म-साधना गुह्य और रहस्यात्मक हो गई थी। रामचन्द्र शुक्ल ने इनके ऊपर एक दोषारोपण किया है। उनका कथन है कि यह सन्त लोग हृदयशून्य अन्तस्साधना पर जोर देते थे हमारी समझ मे उनका यह दोषारोपण सब पर लागू नही होता। कुछ ऐसे अवश्य थे जिन्होने साधना मे ज्ञान, योग, वैराग्य को ही प्राधान्य दिया था, जिनके कारण

ही उनकी विशेषता बन गई थी। किन्तु इनमें से अधिकांश भक्त थे। उनकी भक्ति भी प्रेमलक्षणारागानुगा थी। कबीर ने सर्वत्र नारदी भक्ति का उपदेश दिया है। नारदी भक्ति प्रेम-प्रधाना है। "सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा" धर्म और साधना के क्षेत्र मे इन्होने एक और बडा काम किया था। वह था सदाचार को अधिक महत्त्व देना। पूर्वमध्यकाल मे अनाचार अपनी पराकाष्ठा को पहुँच चुका था। इन सन्तो के प्रयास से ही इसका दमन हुआ था। इन सभी सन्तो मे एक विचित्र सात्विकता और वासनाहीनता मिलती है, जिसके आधार पर बहुत से आलोचक इन्हे शुष्क और नीरस कहते है। वास्तव मे इनके रस को समझने के लिए प्रथम वासना का त्याग करना पडेगा।

भवभूति ने वाणी को, या दूसरे शब्दो मे महाकाव्य को, आत्मा की कला कहा है। यजुर्वेद मे भी "कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भू" कह कर कवि के महान् आदर्श की ओर सकेत किया गया है। यह सन्त लोग इसी दृष्टि से महाकवि कहे जा सकते हैं। इनमे काव्य के बाह्य उपादानो को यदि ढूँढने की चेष्टा करेंगे तो निराश होना पडेगा।

सामाजिक कार्य—इन सन्त कवियो की कुछ आलोचको ने कटु आलोचना की है। सद्गुरुशरण अवस्थी ने "सन्तो ने हमारे लिए क्या किया" नामक लेख मे इन सन्तो को पूर्ण निवृत्तिमार्गी सिद्ध कर समाज के लिए अभिशाप रूप कहा है। किन्तु अगर ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाय तो हमे स्वीकार करना पडेगा कि इन सन्तो ने हमारे समाज का बहुत बडा उपकार किया है। इन्होने समाज मे प्रतिष्ठित कुरीतियो, तथा कुप्रथाओ का खण्डन करके नवीन बुद्धिवादी, क्रातिवादी विचारधारा का प्रवर्तन किया था। इन्होंने बाह्याचारो का उसके अग और उपागो सहित खण्डन किया है। मूर्तिपूजा, तीर्थाटन आदि इन सन्तो को रुचिकर नहीं प्रतीत होते थे। प्राचीन या मध्यकालीन भारत मे धर्म के नाम पर घोर अनाचार फैला हुआ था। एक ओर तो सिद्ध लोग अपनी वाममार्गी साधना का वीभत्स रूप जनता मे फैला ही रहे थे, दूसरी ओर दक्षिणी भारत मे देव-दासी-प्रथा भयकर रूप धारण करती जा रही थी। मध्यकालीन विदेशी यात्रियो ने इस प्रथा का अपने विवरण मे उल्लेख किया है। एक यात्री ने लिखा है कि एक-एक मन्दिर मे सहस्रो की सख्या मे देव-दासियाँ रहा करती थीं। इन देवदासियो के कारण ठाकुर जी के नाम पर घोर अनाचार होता था। इन सन्त कवियो ने इसीलिए मूर्ति-पूजा और मन्दिर-स्थापना आदि का विरोध प्रारम्भ कर दिया होगा। दूसरा सुधार था वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था करना। इससे पूर्व भारत मे वर्णाश्रम धर्म ने भयकर रूप धारण कर लिया था। यहाँ तक कहा जाता है कि यदि शूद्र की छाया भी ब्राह्मण पर पड जाती थी तो गगा-स्नान कर उसे पवित्र होना पड़ता था। इस प्रकार का घोर पाखण्ड फैला हुआ था। समाज-क्षेत्र मे इन सन्त कवियो ने ही सर्वप्रथम बुद्धिवादिता, चिन्ता और क्रान्ति की चिंगारी प्रज्वलित की थी। इन्होने उन निम्न स्तर के लोगो को भी उपदेश दिया था जो सदा से अन्धानुसरण करते आए थ। इससे साधारण जनता मे भी सामाजिक और धार्मिक जागृति उत्पन्न हो गई। इसी के परिणाम-

स्वरूप सन्त सुधारवादियो की एक लम्बी परम्परा सी बँध गई। उन सन्तो ने समाज को परिष्कृत करने मे बहुत हाथ बँटाया था। इन सन्तो ने एक और बहुत बडा कार्य किया था। वह था निम्न स्तर के लोगो को एक विचार धारा मे बाँधना। धार्मिक, सामाजिक, नैतिक—इन सभी दृष्टियो से उन लोगो को इतना ऊपर उठाने की चेष्टा की कि वे अपना एक स्वतन्त्र पथ बनाकर रह सकें। इसके परिणामस्वरूप लाखो हिन्दू मुसलमान होने से बच गए। यदि यह सन्त न हुए होते तो आज अछूत नामक सभी हिन्दू मुसलमान ही दिखाई देते।

भाषा-शैली अभिव्यक्ति और साहित्यिकता—मध्यकालीन सन्त अपनी अभिव्यक्ति के लिए बहुत प्रसिद्ध है। भारत मे कही यदि सच्चा रहस्यवाद प्राप्त होता है तो वह इन्ही सन्त-कवियो मे। इस रहस्यवाद का स्वरूप सूफी मत से प्रभावित होते हुए भी पूर्ण भारतीय है। इसमे आत्ममूलक एक विचित्र साहित्यिकता भरी हुई है, जो हमे भारत के किसी अन्य रहस्यवादी में नही मिलती। इन्होने अपनी रचनाएँ अधिकतर राग-रागिनियो, साखी इत्यादि मे लिखी है। शुक्ल जी ने लिखा है कि इनकी उपदेशात्मक रचनाएँ प्राय खडी बोली मे है और इनकी भक्ति-परक अनुभूतियो की अभिव्यक्ति पूर्वी मगही भाषा मे है। जहाँ तक साहित्यिकता का सम्बन्ध है सन्त लोग पारिभाषिक अर्थ मे कवि नही कहे जा सकते। वास्तव मे इन्हें हम अलौकिक साहित्यिक कह सकते हैं। इनमे साहित्य का मूल प्राण वर्तमान है। इनमे बाह्य आडम्बर नही है।

हिन्दी मे प्रेम काव्यधारा

देश मे यवन लोगो के प्रतिष्ठित होने पर लोगो की रुचि भी परिवर्तित हो गई निर्गुणवादी नीरस कवियो की प्रतिक्रिया के रूप मे सूफी सन्त सामने आए। उन्होंने साधना का जो स्वरूप सामने रखा वह उपदेशात्मक और प्रत्यक्ष न होकर सकेतात्मक था। उपदेश सुनते-सुनते जनता ऊब गई थी। उसे ऐसे साहित्य की आवश्यकता थी, जो उपदेशात्मक के साथ-साथ लोकरजनात्मक भी हो सके। इन सूफी कवियो ने ऐसे ही साहित्य की रचना की थी।

निर्गुणवादी सन्तो की रचनाएँ अधिकतर मुक्तक थी। उनमे उलटवासियाँ रूपक, अन्योक्तियाँ या उपदेश प्रधान उक्तियाँ ही सर्वत्र पाई जाती हैं। इन सूफी कवियो मे निर्गुण सम्प्रदाय के प्रति जो प्रतिक्रिया उदित हुई उसी के फलस्वरूप उन्होंने प्रेम-पद्धति का निर्माण किया।

जब दो जातियो का परस्पर मिलन होता है तो उनमे उनकी सस्कृति, सभ्यता और साहित्य का भी सम्मिलन होता है। दोनो ही जातियो के कवि इस कार्य को करने का बीडा उठाते हैं। जिस दिन से हिन्दू और मुसलमान इन दोनो जातियो का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित होना आरम्भ हुआ उसी दिन से प्रेम-परम्परा प्रवर्तित हुई।

इस्लाम के जिस सूफी सम्प्रदाय का उदय यवन देशो मे पाँचवी और छठी शताब्दी मे हुआ था, उसके विविध सम्प्रदाय भारत मे १२वी शताब्दी मे प्रवेश

करने लगे। इन सम्प्रदायो मे चिश्ती सम्प्रदाय, सोहरावर्दी सम्प्रदाय, कादिरी नक्श-बन्दी, आदि सम्प्रदाय प्रसिद्ध थे। इन विविध पथो के सन्तो ने स्थान-स्थान पर अपनी गद्दियाँ स्थापित कीं, और भारत के कोने-कोने मे सूफी भावना का प्रचार करने लगे। सूफी मत भारतीय अद्वैतवाद के वहुत समीप है। उसकी प्रेममूला साधना भारतीय भक्ति के मार्ग से मेल खाती है। हिन्दू और मुसलमान दोनो जातियो के मिलन के लिए यही प्रशस्त आधार-भूमि ली गई। इसीलिए दोनो वर्गों के सन्तो ने इन्ही भावनाओ के सहारे मिलाने का प्रयत्न किया। सूफी मत मे प्रेम और सौन्दर्य का अधिक महत्त्व है। साहित्य वास्तव में प्रेम और सौन्दर्य की ही अभिव्यक्ति है। यही कारण है कि इन सन्तो मे हमे उच्चकोटि के साहित्य की मधुरता और सार्थकता मिलती है।

बहुत से ऐसे मुसलमान भी थे जिनका लक्ष्य इस्लाम धम का प्रचार करना था। यह अधिकतर वाशरा सूफी कहलाते थे। यह लोग सूफी धर्म की आड में इस्लाम का प्रचार करते थे। जायमी इसी कोटि के सूफी थे।

भारत मे कथाओ की परम्परा आदि-काल से प्रचलित थी। महाभारत मे नलदमयन्ती उपाख्यान मे ऐसी ही एक प्रेम-कथा का वर्णन है। इसके अतिरिक्त महा-भारत मे और भी अनेक कथाएँ मिलती है। यही लोक-कथाओ के रूप मे भारत के कोने-कोने मे प्रचलित हो गई थी। इन सूफी सन्तो ने इन प्रेम-कथाओ को लेकर जैनो की दोहे-चौपाई वाली शैली मे प्रेम-कथाएँ लिखी। इसमे उनका एक लक्ष्य और भी था। वह यह कि वह भारत के कोने-कोने मे यह सदेश फैला देना चाहते थे कि इस्लाम केवल तलवार के वल पर ही विजयी नही हुआ है, इसमे सहृदयता, कोमलता आदि की भी अच्छी प्रतिष्ठा है। इस प्रकार उन्होने अपनी जाति के सम्वन्ध मे प्रचलित भ्राति का निवारण करके अपने सम्वन्ध मे भारतीयो के हृदय मे कोमल भावना जागृत की। इसमें एक राजनैतिक लक्ष्य भी निहित दिखाई पड़ता है। कोई भी राजा केवल तलवार के वल पर शासन नही कर सकता। उसके हृदय मे प्रजा के लिए सहृदयता भी आवश्यक है। इन सूफी कवियो मे इन मुसलमान वादशाहो की सत्ता के दृढ करने के हेतु यही पृष्ठभूमि तैयार की थी।

इन सूफी कवियो का एक और भी लक्ष्य था। वह अपनी विपक्षिनी जाति को एक सदेश भी देना चाहते थे। उन्हें भय था कि कही उनकी विजयी जाति लौकिक सुखो मे फँसकर अलौकिक तत्त्व को विलकुल भुला ही न दे। इसीलिए उन्होने लौकिक कहानियो मे उच्चकोटि की आध्यात्मिकता और अलौकिकता की प्रतिष्ठा की है।

सूफी परम्परा—सूफी प्रेमाख्यानो की परम्परा यद्यपि काफी प्राचीन है, किन्तु हमे अभी वहुत से प्राचीन ग्रन्थो का पता नही लग सका है। सवसे पहली रचना नूरक और चन्दा की प्रेम-कहानी 'चन्द्रावन' नामक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ यद्यपि अभी तक प्राप्त नही हो सका है, फिर भी इसका विवरण हमें कादिर वदायूँनी के इतिहास ग्रन्थ 'मुत्तखिव उतवारीख' मे मिल जाता है। उसका उल्लेख इस प्रकार है—

'किताव चन्दावन', जो हिन्दवी भाषा मे एक मसनवी है, जिसमे नूरक व चन्दा नामक प्रेमी और प्रेमिका का वर्णन है। कथा वास्तव मे अनुभवपूर्ण है। मौलाना दाऊद ने इस कथा को सूफी प्रेम कथा का रूप दिया है। यह कथा किसी समय बहुत लोकप्रिय थी। शेख तकीउद्दीन वायजरब्बानी इस कथा से बहुत प्रभावित थे। वे प्राय इसके कुछ प्रारम्भिक पद उच्च स्तर मे गाया करते थे। श्रोताओ पर उसका बहुत बडा प्रभाव पडता था। जब लोगो ने शेख से उस कथा के प्रभाव का कारण पूछा तब उन्होने उत्तर दिया कि यह कथा दैवी सत्यता से भरी हुई है। इस प्रेम-कथा का रचना काल स० १४२७ वताया जाता है।

दूसरी रचना, जिसका सकेत शुक्लजी ने अपने इतिहास मे किया है, ईश्वरदास की 'सत्यवती की कथा' है। यह कथा एक प्रकार से पौराणिक है। उसमे दो राजकुमारियो का त्यागमय प्रेम प्रदर्शित किया गया है। एक राजकुमार वन मे भटकते हुए एक सुन्दर सरोवर को देखकर वहाँ पहुँच जाता है। वही पर उसे सत्यवती नामक कुमारी दिखाई देती है। वे दोनो ही परस्पर प्रेमासक्त हो जाते है। किन्तु राजकुमार के अधिक स्वतन्त्र हो जाने पर राजकुमारी उसे कोढी होने का श्राप देती है। वाद मे अपने पिता की आज्ञा से पुन स्वस्थ कर लेती है। इस प्रकार दोनो प्रेम-पूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं।

तीसरी रचना शेख रिजमुल्ला मुस्तवी, जिनका हिन्दी उपनाम रजन् है, 'प्रेम-वनजोग निरजन' है। इसका रचना-काल १५८१ स० माना जाता है। यह ग्रन्थ भी अप्राप्य है। मुसलमान इतिहासकारो के इतिहास मे इसका भी उल्लेख किया गया है।

जायसी ने प्रेमकाव्यधारा की परम्परा का उल्लेख करते हुए अपने 'पद्मावत' मे लिखा है—

"विक्रम धसा प्रेम के वारा, सपनावति कह गयऊ पतारा।
मधूपाछ मुग्धावति लागी, गगन पूर होइगा वैरागी॥
राजकुवर कचन पुर गयऊ, मिरगावति कह जोगी भयऊ।
प्रेमावति कह सुरसरिसाधा, ऊषा लागि अनिरुद्ध जस साधा॥"

'मृगावति' का रचना-काल १५५० माना जाता है। इसके लेखक कुतबन है। इसमे चन्द्रगिरि के राजकुमार और कचनपुर की राजकुमारी की प्रेम-कथा का वर्णन है। 'मधुमालती' का रचनाकाल १५४५ है। इसमे कनसेर के राजा की पुत्री मधुमालती की कथा है। यह ग्रन्थ पहले अनुपलब्ध था। इसकी केवल एक प्रति रामपुर राजकीय पुस्तकालय मे उपलब्ध हुई है।

सूफी प्रेमाश्रयी धारा की प्रवृत्तियाँ—जैसा कि ऊपर सकेत कर चुके हैं यह रचनाएँ वर्ण्य विषय की दृष्टि से तीन प्रकार की हैं—

(1) **सूफी मुसलमानो द्वारा लिखित प्रेम-गाथाएँ**—यह भारत मे प्रचलित प्रेमविशिष्ट लोककथाओ को लेकर चली है।

(२) हिन्दुओं द्वारा लिखित प्रेम-गाथाएँ—यह पौराणिक ढग की हैं। इनमें सूफी प्रेम-गाथाओ के समान किसी प्रकार का अध्यात्मिक पक्ष ध्वनित नही किया गया है।

(३) वे रचनाएँ जिनका सृजन दक्षिण मे शिया मुसलमानो द्वारा हुआ है। यह शिया मुसलमान अधिकतर सूफी ही थे। इसलिए इनमे सूफियो की प्रेमपीर के साथ-साथ मरसिए की करुणा भी मिली हुई है। यह रचनाएँ उत्तरी भारत की सूफी रचनाओ की कोटि की नही है। इनका सम्बन्ध भारतीय लोक-कथाओ से कम और यवन-समाज मे प्रचलित कथाओ से अधिक है। यूसूफ और जुलेखा की कहानी से हिन्दू समाज परिचित नही है। यही कारण है कि इन दक्षिणी मुसलमान कवियो की कथाएँ हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र मे उतनी ख्याति प्राप्त नही कर सकी जितनी ख्याति इन उत्तरी सूफी-रचनाओ को मिली है।

इन सूफी कवियो ने अधिकतर प्रबन्ध-काव्य लिखे हैं। यह काव्य भारतीय महाकाव्य शैली और फारसी मसनवियो की शैली के मिश्रण से बने हैं। इन्हे हम एक नवीन ढग के महाकाव्य कह सकते हैं। जैनो के चरित-काव्यो से यह थोडे मिलते-जुलते हैं। जैनो के चरित-काव्य भी दोहा-चौपाई मे लिखे गये हैं। इनमे प्रबन्धत्व की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है। सूफियो की यह प्रेम-गाथाएँ श्रृगार रस-प्रधान हैं। किन्तु इनका श्रृगार रीतिकालीन कवियो के श्रृगार से भिन्न है। इनमे मन्सूर हल्लाज के इश्क, इब्नसिना के हुस्न और भक्तो की भक्ति—इन तीनो का सम्मिश्रण है। यही कारण है कि इनके श्रृगार मे कुछ स्थलो को छोडकर वह निर्जीविता और उत्कट वासना नही मिलती जो रीतिकालीन कवियो मे विद्यमान है। इनके श्रृगार पर फारसी सूफी कवियो का पूरा-पूरा प्रभाव है। इसलिए उनकी प्रेमाभिव्यक्ति अधिक प्रवेगपूर्ण है। सूफी प्रेम मे विरह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि इन कवियो के श्रृगार मे वियोग की अपेक्षा संयोग की अभिव्यक्ति अधिक मिलती है। वियोग की भारतीय और फारसी सभी शास्त्रीय अन्तर्दशाओ का चित्रण तो उन्होने किया ही था, किन्तु इनके अतिरिक्त भी उनमे बहुत सी आध्यात्मिक विरह की अवस्थाओं और अनुभूतियो की वर्णना भी मिलती है।

यद्यपि सूफी कवियो ने अपनी गाथाओ को अन्योक्ति-रूप देने की चेष्टा की है, किन्तु फिर भी वे सफल अन्योक्ति न होकर समासोक्ति मे परिणत हो गई हैं। इस प्रकार इनकी रचनाएँ अन्योक्ति और समासोक्ति मिश्रित शैली का सुन्दर रूप है। अन्योक्तियो और समासोक्तियो के कारण इनकी प्रेम-गाथाएँ बहुत अधिक मार्मिक, सजीव और प्रभावोत्पादक हो गई है। लौकिक वर्णन मे अलौकिकता का सकेत पाकर हमारे हृदय मे आध्यात्मिकता का उदय होता है। यही कारण है कि इसकी वाणी मे वह अक्षय रस-धारा प्रवहमान है जिसकी अनुभूति लौकिक होते हुए भी अनिर्वचनीय और अलौकिक है। यह काव्य लौकिकतावादी और अलौकिकतावादी दोनो प्रकार के व्यक्तियो को प्रभावित करता है। यही कारण है कि सूफी कवि इतने अधिक लोकप्रिय हो सके है।

सूफियो की विचारधारा मे एक विचित्र रहस्य-भावना भरी हुई है। हिन्दी के प्रम-गाथाकार सूफी ही थे। अत इनमे स्वाभाविक और मनोरम रहस्याभिव्यक्ति पाई जाती है जो सौन्दर्यवाद और प्रेमवाद से अधिक प्रभावित होने के कारण हठयोगी रहस्याभिव्यक्ति से कही अधिक मधुर और प्रभावोत्पादक प्रतीत होती है।

प्रेम-गाथाओ मे हमे कल्पना और काव्यत्व यह दोनो ही अपने मधुरतम रूप मे मिलते है। इन कवियो की कल्पना अन्य कवियो की कल्पना से थोडी भिन्न थी। अन्य कवियो मे प्रतिभा कल्पना का रूप धारण कर लेती है। इन कवियो की कल्पना प्रतिभा का रूप न होकर भावना का अभिनव प्रकटीकरण है। इनकी समस्त कल्पनाएँ प्रतिमाजनित चमत्कारमूलक न होकर भावना और अनुभूतिप्रधान है। इन कवियो की साहित्यिकता और काव्यत्व भी अन्य कवियो की साहित्यिकता और काव्यत्व से भिन्न है। इन सत-कवियो ने किसी भी देश के साहित्य का साग अध्ययन नही किया था। यह लोग अधिकतर वहुश्रुत भावुक थे। इसीलिए जायसी ने अपने को पण्डितो का पछलगा कहा है। साधारणतया काव्यशास्त्र की दृष्टि से छन्द, अलकार, गुण और रस आदि को महत्त्व दिया जाता है। इन कवियो ने इन सव के विपय मे सुन-सुना कर कुछ ज्ञान प्राप्त कर लिया था। किन्तु अपनी भावातिरेकता के कारण वह उनका प्रयत्नपूर्वक नियोजन नही कर सके। उनमे साहित्यिकता अपनी पराकाष्ठा पर मिलती है। किन्तु उसका उदय और विकास पाण्डित्य के सहारे नहीं हुआ है। वह उनकी सहजानुभूति और भावना का सरस परिणाम है। इन लोगो ने काव्य मे सच्चे आनन्द और माधुर्य की प्रतिष्ठा की है। यह आनन्द और माधुर्य लौकिक भी है और अलौकिक भी। लोग अपनी भावनानुकूल उनका रसास्वादन करते है।

इन सूफी-कवियो का एक लक्ष्य और भी था। यह लोग अधिकतर वाशरा सूफी थे। वाशरा सूफी कुरान की शरायत मे विश्वास करते थे। यही कारण है कि इनके प्रेम-काव्यो मे इस्लाम और उनकी शरायतो का स्थान-स्थान पर महत्त्व प्रतिपादित मिलता है। जायसी की निम्नलिखित उक्ति मे इस्लाम सम्मत आखिरत के दिन का वर्णन देखिए—

गुन अवगुन विधि पूछव, होइहि लेख और जोख।
वह विनउव आगे होइ, करव जगत कर मोख॥

ऐसी उक्तियाँ जायसी मे सर्वत्र मिलती है। इन लोगो ने अपने धर्म का मण्डन भर ही नही किया था किन्तु वहुत सी हिन्दू धर्म की वातो का मधुर और सकेतात्मक शैली मे खण्डन भी किया था। जायसी की निम्न उक्ति से यह स्पष्ट है—

"पाहन सेवा कहा पसीजा। ओद न होई जो जनम भर भीजा॥"

सूफी प्रेम-काव्य अवधी भापा मे है। इनकी प्रारम्भिक लिपि सम्भवत उर्दू रही है। अत हिन्दी लिपि मे लिखी जाने पर भापा सम्वन्धी वहुत सी अशुद्धियाँ मिलती हैं। किन्तु फिर भी इतना तो सभी स्वीकार करते है कि भापा का जो स्वाभाविक रूप इन कवियो मे विकसित हुआ वह भारत की जनता के वहुत समीप

था। इन कवियो मे बहुत मे ऐसे शब्दो का प्रयोग मिलता है जो अवध के गाँवो में ही प्रचलित थे। साहित्य मे इनका प्रयोग सबसे पहले सूफी कवियो ने किया था। इनकी भाषा पर थोडा सा प्राचीन प्रभाव है। अवधी का प्राचीनतम रूप यदि कही देखने को मिलता है तो इनकी ही रचनाओ मे मिलता है।

इन सूफी कवियो की एक प्रवृत्ति बहुत अधिक स्पष्ट है। वह प्रवृत्ति है प्रेम की। मसनवियो मे प्राय किसी प्रणय चित्र या घटना का वर्णन किया जाता था। उनके यहाँ सम्बन्ध-निर्वाह को अधिक महत्त्व नही दिया जाता था। सूफियो मे भी यही बात मिलती है। वह जिम वस्तु का वर्णन करते हैं अत्यन्त विस्तार से करते हैं। इस वर्णन मे सश्लिष्टता का समावेश कम और कोरी वस्तु परिगणन वृत्ति का चमत्कार अधिक रहता है। इनमे से बहुत से सूफी कवियो ने आध्यात्म ग्रन्थ लिखने की भी चेष्टा की है। इन ग्रन्थो मे काव्य के सहारे सूफी सिद्धान्तो का वेदान्त के साथ सुन्दर समन्वय किया गया है। जायसी का 'अखरावट' ऐसा ही ग्रन्थ है।

ये कवि बहुत पढे-लिखे न थे। इसलिए उनमे एक हीनता की भावना काम कर रही थी। इस भावना के फलस्वरूप ही उन्होने अपनी बहुज्ञता प्रदर्शन का प्रयत्न किया था। उन्होने कही योगशास्त्र का वर्णन, कही ज्योतिष की बातो का परिगणन, कही दार्शनिक सिद्धान्तो का निरूपण और कही पौराणिक कहानियो का सकेत करके अपनी बहुज्ञता प्रदर्शित की है। इससे प्रबन्धत्व और काव्यत्व को धक्का पहुँचा है।

राम काव्य-धारा

परम्परा—वैदिक साहित्य मे केवल कुछ उपनिषदो मे राम का नाम आया है। किन्तु जिन उपनिषदो मे राम का नाम आया है उनकी प्रामाणिकता और समय दोनो ही सदिग्ध है। राम की चर्चा करने वाले कुछ ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

रामतापनीय उपनिषद्—इसके आधार पर विद्वानो ने राम-भावना को प्राचीन सिद्ध करने का प्रयास किया है। किन्तु यह बहुत अर्वाचीन है क्योकि किसी भी ग्रन्थ मे इसका उल्लेख नही मिलता। इसे वैष्णव उपनिषदो मे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। वे १०वी शताब्दी की रचनाएँ है। राम-भावना का सर्वप्रथम विकास हमे वाल्मीकि रामायण मे मिलता है। राम-भावना के विकास से सम्बन्धित प्रमुख धार्मिक ग्रन्थ सक्षेप मे इस प्रकार हैं—

(१) **वाल्मीकि रामायण**—इसमे राम को महापुरुष के रूप मे माना है।
(२) **महाभारत की अणुगीता**—पौराणिक महापुरुष के रूप मे माना है।
(३) **योगवाशिष्ठ**—राम के योगी रूप का वर्णन है।
(४) **मानव-धर्मशास्त्र**—अवतारी राम का वर्णन है।
(५) **विष्णुपुराण**—अवतारी राम का वर्णन है।
(६) **उत्तरराम तापनीयोपनिषद्**—आदर्श मर्यादापुरुषोत्तम राम की चर्चा है।
(७) **रामार्चन पद्धति**—राम नामक देवता का वर्णन है।

(८) अगस्त सुतीक्ष्ण सहिता—भगवान् के रूप मे राम का उल्लेख किया गया है।

(६) आध्यात्म रामायण—भक्ति के आराध्य राम का वर्णन है।

स्थूल रूप से इन धार्मिक ग्रन्थो मे राम-भावना का विकास हुआ।

सस्कृत के साहित्यिक ग्रन्थों मे राम-परम्परा के प्रमुख ग्रन्य—(१) रघुवश, (२) भट्टि काव्य, (३) जानकी-हरण, (४) रामचरित, (५) रामायण मजरी, (६) उत्तर रामचरित, (७) रामपाल चरित, (८) राघव पाण्डवीय, (६) राघव-नैषधीय, (१०) राघवीय-यादवीय-पाण्डवीय, (११) हनुमन्नाटक तथा (१२) प्रसन्न-राघवनाटक।

हिन्दी में राम-परम्परा उसके प्रमुख कवि—(१) स्वयम्भू, (२) मुनीलाल (रामप्रकाश), (३) केशवदास, (४) भूपति, (५) तुलसीदास, (६) स्वामी अग्रदास, (७) नाभादास, (८) सेनापति, (६) हृदयराम, (१०) प्राणचन्द चौहान, (११) बलदास, (१२) लालदास, (१३) प्रियदास, तथा (१४) विश्वनाथ।

राम काव्य-धारा की प्रवृत्तियाँ—राम काव्य-धारा का विकास सूफियो की शृगारमयी प्रवृत्ति तथा निर्गुण कवियो की अटपटी वाणी की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। इस धारा के कवि एक ओर तो सूफियो की अमर्यादित प्रेमधारा को मर्यादित करना चाहते थे, दूसरी ओर निर्गुण कवियो का खण्डन कर सगुणवाद की प्रतिष्ठा करने की इच्छा रखते थे। तुलसी की इन पक्तियो में निर्गुणियो के निर्गुण का देखिए किस प्रकार खण्डन किया गया है—

> **"अन्तरजामीहु ते बड बाहरजामी राम जो नाम लिए ते।**
> **पैंज परे प्रहलादहु के प्रकटे प्रभु पाहन ते न हिए ते॥"**

शृगार-प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया के रूप मे राम काव्य-धारा के कवियो मे मर्यादा-प्रियता अधिक बढी। इससे साहित्य का बडा उपकार हुआ। जन-रुचि परिष्कृत हो चली।

यद्यपि इस धारा के कवियो मे प्रबन्ध और गीत दोनो ही प्रकार की रचना करने की प्रवृत्ति थी, किन्तु इनकी गीत रचनाएँ राम से सम्बन्धित होने के कारण स्वय ही प्रबन्ध-काव्य हो गई है। अतएव इनकी प्रधान वृत्ति प्रबन्धत्व की है। केवल सेनापति, केशवदास आदि कवियो मे हमे रीतिकाल के बढते प्रभाव के कारण प्रबन्धत्व का अभाव मिलता है। किन्तु इन्होने प्रचलित राम-कथा को ही लिया है, जिससे उनकी कृतियाँ गीत न रहकर प्रबन्ध मे परिणत हो गई हैं। सेनापति को श्लेष का प्रभाव उपर्युक्त रीति-परम्परा के ग्रन्थो से मिला था। इन्होने एक ओर तो, रीतिकालीन प्रवृत्तियो को ध्वनित करने की चेष्टा की है, दूसरी ओर राम-कथा को वर्णित करने की।

इन कवियो ने मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम के चरित्र को अपना वर्ण्य विषय बनाया। इन्होने उसकी शील, शक्ति की सौन्दर्यमयी और मधुर झाँकी देखी जिससे उनकी रचनाओ मे उसी की प्रतिच्छाया वर्त्तमान है। ब्रह्म की तीनो विभूतियो का जो सन्तुलन इन कवियो मे दिखाई पडता है वह अन्यत्र नही। इसलिए इनकी रचनाएँ हिन्दी साहित्य की सर्वाधिक व्यवस्थित रचनाएँ मानी जाती है।

इन कवियो ने भगवान् के लोक-रजक रूप के साथ-साथ उनके लोक-रक्षक स्वरूप पर भी विशेष बल दिया था। ऐसा करके वे एक ओर तो निर्गुणवादियो से अलग हो गए, दूसरी ओर सूफी प्रेम-गाथाओ के कवियो से भी। निर्गुण धारा, सूफी धारा तथा कृष्णधारा के कवि एक प्रकार से एकान्तिक, साधक और कवि थे। वे केवल साधुमत का ही पालन करते थे और ससार से प्रायः उदासीन रहते थे। इन कवियो ने सर्वप्रथम प्रत्यक्ष रूप से समाज को भगवान् के लोकरक्षक रूप की मधुर, पर शौर्यमयी झाँकी दिखाकर निराश जनता मे आशा का सचार किया था। ऐसा करने के कारण प्रवृत्ति-मार्ग के सर्वोच्च कवि कहे जा सकते हैं।

हिन्दी साहित्य मे राम-धारा ही एक ऐसी धारा है जिसका सीधा सम्बन्ध भारत के विस्तृत धार्मिक साहित्य से है। तुलसी ने 'नानापुराण निगमागम सम्मत' कहकर इसी बात की ओर सकेत किया है। यही कारण है कि इन कवियो मे हमे अत्यन्त व्यवस्थित विचारधारा के दर्शन होते हैं।

इन कवियो की सबसे प्रमुख विशेषता समन्वय-साधना है। जिस युग मे यह हुए थे वह व्यक्तिवादी युग था। यही कारण है कि इन्हें समाज को एक शृखला मे बाँधने के लिए मधुर समन्वय को लेकर चलना पड़ा था। उनकी समन्वय-साधना साहित्य मे, दर्शन मे, समाज मे—सर्वत्र दिखाई पडती है।

राम काव्य-धारा साहित्य की सर्वश्रेष्ठ धारा कही जा सकती है। इसी धारा मे प्रचलित साहित्य की समस्त शैलियाँ अपने चरम सौन्दर्य मे मिलती हैं। इसी प्रकार सभी काव्य-भाषाओ पर भी इन कवियो का अधिकार दिखलाई पडता है।

सेनापति, केशव आदि दो-एक कवियो को छोडकर अन्य सभी कवियो मे हमे एक विचित्र सरलता, स्पष्टवादिता और मजुलता दिखाई पडती है। यह काव्य-धारा ऐसी है जिसमे साहित्य के नव रसो का परिपाक हुआ है। इस धारा में हृदय पक्ष और काव्य पक्ष—दोनो की चरमाभिव्यक्ति दिखाई पडती है।

ये प्रथम कवि है जिन्होने साहित्य का जीवन और जनता से समुचित सामजस्य स्थापित किया था। इनका साहित्य सही रूप मे जीवन के लिए होता हुआ भी कला की अनुपम निधि है। विश्व-साहित्य मे ऐसे कम कवि मिलेंगे जिनमे मानव-कल्याण की विधायक सामग्री की चरम अभिव्यक्ति के साथ-साथ कला और साहित्य का भी पूर्ण सौन्दर्य दिखाई पडे।

साहित्य मे काव्य की विविध परिभाषाएँ प्रचलित रही है। इन कवियो ने काव्य का वह रूप सामने रखा है जो उन समस्त परिभाषाओ के अनुरूप होते हुए भी एक अनिर्वचनीय तत्त्व से विशिष्ट है। इसी के कारण वह महान् है। आनन्दवर्धन ने महाकवि की विशेपता दिखाते हुए लिखा है—

"प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्वस्ति वाणीसु महाकवीनाम्।
एतद् प्रसिद्धा वयवातिरिक्तभाभातिलावण्य मिवागनासु ॥"

इस दृष्टि से राम काव्य-धारा के कवि सफल कहे जा सकते है। उनके प्रतिनिधि कवि तुलसीदास मे यह सबसे बड़ी विशेपता है कि उनके ग्रन्थो को चाहे कितनी बार

पढा जावे, तृप्ति नही होती है। इस अतृप्ति का कारण यहा अनिर्वचनीयता है। इसी कारण वह इतने अधिक लोकप्रिय है।

इन कवियो ने अपनी रचनाएँ अधिकतर अवधी भाषा मे लिखी हैं। इनके प्रिय छन्द दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया, छप्पय आदि रहे हैं। केवल अग्रदास ने कुण्डलिया छन्दो का प्रयोग किया है। उनकी 'कुण्डलिया-रामायण' प्रसिद्ध हैं। भाषा-सौष्ठव जितना इनमे मिलता है, उतना अन्यत्र कही नही उपलब्ध।

दक्षिण में विठोबा भक्ति-धारा—डॉ० रामकुमार वर्मा का मत है कि दक्षिण मे विठोबा भक्ति-धारा भी राम काव्य-धारा से अधिक सम्बन्धित है। हमारी समझ मे उसे एक स्वतन्त्र धारा ही मानना चाहिए। यह ठीक है कि उन्होने राम काव्य-धारा से ही राम का नाम ग्रहण किया है, किन्तु उनके उपास्य राम सगुणवादियो के राम से थोडा भिन्न है। यह लोग भक्ति मे सगुण और निर्गुण दोनो को समान महत्त्व देते थे। सगुणवादी अधिकतर भगवान के सगुण रूप मे ही विश्वास करते हैं। कुछ विठोबाजी को विष्णु का स्वरूप मानते है, और कुछ उन्हे विष्णु की प्रतिमूर्ति। डॉ० भण्डारकर प्रथम मत के समर्थक है। शैव आचार्य उन्हे शिव की प्रतिमूर्ति सिद्ध करने की चेष्टा कर रहे हैं। यह लोग साधना मे निर्गुणियो से मिलते-जुलते हैं। ये अन्तस्साधना पर ही अधिक जोर देते है। सगुणवादियो को इससे विरोध था। रहस्य-भावना की प्रवृत्ति इनमे भी थी। सगुणवादियो को इससे घृणा थी। इनकी रचनाएँ साखी, शब्द, दोहरा आदि मे लिखी है। सगुणवादी इसके विरुद्ध थे। तुलसी ने 'साखी सबदी दोहरा' आदि लिखकर यह प्रकट भी किया है। इन सभी कारणो से हम इस धारा को राम काव्य-धारा के अन्तर्गत नही ले सकते। इसका प्रवर्तन प्रधान रूप से सन्त तुकाराम से समझना चाहिए। ज्ञानेश्वर, नामदेव आदि इसी परम्परा के प्रसिद्ध सन्त है। नामदेव पजाब मे आकर वस गए थे। उनके स्मारक के रूप मे पजाब मे आज भी नामियाना तालाब है। उनकी विचारधारा का प्रभाव गुरु नानक पर विशेष रूप से पडा था। जो कुछ भी हो, इन्हीं सन्त-कवियो ने एक साथ ही दक्षिण, गुजरात और पजाब मे वैष्णव विचारधारा फैलाने की सफल चेष्टा की थी, गुजरात के नरसी भगत इन्ही के विचारो से प्रभावित हुए थे। इस प्रकार दक्षिण की विठोबा-धारा सगुण और निर्गुण का सगम स्वरूप कही जा सकती है। इसमे कुछ निर्गुण धारा की प्रवृत्तियाँ है, और कुछ सगुण धारा की।

कृष्ण काव्य-धारा

ऋग्वेद मे ही हमे कृष्ण नाम के दो व्यक्तियो का उल्लेख मिलता है। एक कृष्ण तो अनादि गो-पालक है, दूसरे कोई ऋषि है। इन्होने कई सूक्त वनाए थे। इसके अतिरिक्त यजुर्वेद मे भी एक कृष्ण का वर्णन मिलता है उन्होने केसी नामक दैत्य का वध किया था। इसके वाद छान्दोग्योपनिषद मे एक कृष्ण का उल्लेख है। यह घोर अगिरस के शिष्य थे। पुनश्च वैयाकरण पाणिनी, कात्यायन, पतजलि आदि के ग्रन्थो मे भी कृष्ण के पर्याय वासुदेवक शब्द का प्रयोग मिलता है।

ऐतिहासिक राजा रासदेव के वासुदेव हुए। डॉ० भण्डारकर आदि विद्वानो ने उन्हे सात्वत क्षत्रिय जाति का सिद्ध करने की चेष्टा की है। महाभारत में कृष्ण का विस्तार से वर्णन मिलता है। महाभारत के कृष्ण के सम्बन्ध मे थोडा मतभेद है। एक पाश्चात्य विद्वान् का कथन है कि महाभारत मे प्रतिष्ठित कृष्ण केवल महापुरुष मात्र हैं। किन्तु डॉ० कीथ का कहना है कि यह महाभारत मे ही देवत्व को प्राप्त हो गए थे। ३०० ई० पूर्व की शताब्दी मे आने वाले मेगास्थनीज तथा इसके पूर्व हेलियोडोटस नामक यात्रियो ने मथुरा मे कृष्णोपासना देखी थी। इसके पश्चात् कृष्ण-भावना का विकास हमे कुछ उपनिषदो मे भी दिखाई पडा। इनमे नृसिहोपनिषद्, गोपालोपनिषद् और गोपालतापनीयोपनिषद् वहुत प्रसिद्ध है। यह उपनिषद वहुत प्राचीन नही है। इनमे से अधिकाश ८वी शताब्दी के पश्चात् के ही माने जाते है। वलराम का निर्देश हमे सर्वप्रथम नृसिहोपनिषद् मे मिलता है। इसके पश्चात् कृष्ण-भावना का विकास पुराण-ग्रन्थो मे वडे विस्तार के साथ हुआ। इन पुराणो मे महाभारत के अतिरिक्त अग्निपुराण, वायुपुराण, हरिवश-पुराण आदि विशेष उल्लेखनीय है।

राधा का विकास-क्रम—राधा के विकास-क्रम पर शशि भूषणदास गुप्ता ने अपनी डी० फिल्० का निवन्ध लिखा है। इन्ही के आधार पर सक्षेप में राधा के उदय और विकास पर प्रकाश डाला जा रहा है।

ज्योतिष तत्त्व के रूप मे राधा-कृष्ण की स्वरूप व्याख्या—वहुत से विद्वानो की धारणा है कि राधा और कृष्ण की आधार-भूमि ज्योतिष है। कृष्ण विष्णु के अवतार माने जाते है, और विष्णु सूर्य के प्रतिरूप हैं। राधा विशाखा नक्षत्र का दूसरा नाम है। अथर्व वेद में 'राधे विशाखे' का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। कृष्ण-लीला नक्षत्र-लोक की लीलाओ का अवतरण मात्र है। राधा के तारक रूप का वर्णन रूप गोस्वामी के 'ललित माधव' नामक ग्रन्थ मे इस प्रकार मिलता है— 'दनुज दमन भगवान् कृष्ण के हृदयाकाश मे जो राधा नामक एक चारुतारा है, उसी की जय हो'। कहने का अभिप्राय यह है कि कुछ विद्वानो के मतानुसार राधा-कृष्ण-धारणा का विकास ज्योतिष के आधार पर हुआ है।

पुराणो मे राधा का उल्लेख

भागवत में राधा—यद्यपि भागवत मे राधा का कही पर भी स्पष्ट उल्लेख नही मिलता। फिर भी विद्वानो ने उसमे उनका सकेत ढूँढ निकाला है। भागवत मे ऐसी गोपी का उल्लेख किया गया है जो भगवान् मे अनन्य भाव से अनुरक्त थी। किन्तु उसका नाम नही दिया है। उसके सम्वन्ध मे लिखा है कि "इस स्त्री द्वारा निश्चय ही कृष्ण की अनन्य आराधना की गई है। इसीलिए गोविन्द हमे छोड़कर इसे इस निराली जगह मे ले आए हैं।"[1] विद्वानो का कहना है कि यह गुप्त सखी कोई नही राधा ही है और "अनया आराधितो" से यही वात व्यजित होती है।

---

१. अनयाराधितो नून भगवान् हरिरीश्वर।
मन्नोविहाय गोविन्द प्रीतोयामनयद्रह॥

पद्म पुराण—पद्म पुराण मे राधा का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—

"यथाराधा प्रिया विष्णोस्तस्याकुण्डेप्रिये तथा।
सर्वगोपीषु सैवेका विष्णोरत्यन्तवल्लभा॥"

इस श्लोक मे राधा का स्पष्ट उल्लेख है। इसमे उन्हे विष्णु-प्रिया बताय
गया है। कृष्ण विष्णु का अवतार थे। अत वह कृष्ण की प्रिया हुई।

मार्कण्डेय चण्डी—इसमे भी राधा का वर्णन देवी रूप मे मिलता है—

"प्राणाधिष्ठात्री या देवी राधा रूपा च सा मुने।"

नारद पचरात्र—इस ग्रन्थ मे राधा को कृष्ण का वामागी कहा गया है—

"श्रीकृष्ण रसिया राधा यद्वामांशेन सम्भवा।"

मत्स्यपुराण—राधा की चर्चा एक स्थल पर इस पुराण में भी मिलती है—

"रुक्मणी द्वारावत्यातु राधा वृन्दावने वने।"

वायुपुराण—इस पुराण मे भी राधा की चर्चा मिलती है—

"राधा विलास रसिके कृष्णाख्यं पुरुषं परम्।"

वराह पुराण—इस पुराणकार ने भी राधा का उल्लेख किया है—

"तत्र राधा समाश्लिष्यकृष्णभक्तिष्टकारणम्।"

ब्रह्मवैवर्त पुराण—राधा कृष्ण की लीला का सबसे विस्तृत और रोच
वर्णन हमे ब्रह्मवैवर्त पुराण मे मिलता है। किन्तु ब्रह्मवैवर्त पुराण की प्रामाणिकत
सदिग्ध है।

इनके अतिरिक्त रूप गोस्वामी, जीवगोस्वामी कविराज गोस्वामी आ
ने राधा के विकास-क्रम पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। उन लोगो ने श्रुति
स्मृति, तन्त्रादि ग्रन्थो से सामग्री जुटाकर राधा की प्राचीनता और प्रमाणिकत
सिद्ध करने का प्रयास किया है।

रूप गोस्वामी ने अपने उज्ज्वलमणि के राधा-प्रकरण मे कहा है कि—
'गोपालोत्तरतापनी' मे राधा गान्धर्वी नाम से विश्रुता है।

एक परिशिष्ट मे राधा माधव के साथ उदित है। तन्त्र की कथा व
उल्लेख करके जीवगोस्वामी ने कहा है—"हलादिनी जो महाशक्ति है, सब शवि
वरीयसी है—वही राधा तत्सार भाव रूपा है।" तन्त्र मे यह बात ही प्रतिष्ठित है
जीवगोस्वामी और कृष्णदास कविराज ने वृहद् गौतमीय तन्त्र से भी राधा के बा
मे एक श्लोक ढूंढ निकाला है। जीवगोस्वामी ने ब्रह्म-सहिता की टीका मे सम्मं
हन तन्त्र से भी राधा के सम्बन्ध मे एक श्लोक ढूंढ निकाला है।

इस धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त राधा का उल्लेख हमे लौकिक साहित्य
भी मिलता है। उसका सक्षिप्त निर्देश इस प्रकार किया जा सकता है।

गाह सतसई—हाल सातवाहन ने 'गाथा सप्तशती' (गाह सतसई) नाम
एक मुक्तक सग्रह तैयार किया था। वह रचना पहली शताब्दी के आस-पास व

बताई जाती है। इस ग्रन्थ मे एक स्थल पर राधा का सकेत भी मिलता है। वह पद इस प्रकार है—

"मुहमारुएणतेकहण गोरअ्र राहिआए अवरणेन्तो।
एताण वलवांण अण्णाण विगोरअहरसि ॥"

अर्थात् हे कृष्ण ! तुम मुख मारुत के द्वारा राधिका के मुँह मे लगे गोरज का अपनयन करके इन दूसरी नारियो के गौरव का अपहरण कर रहे हो।

पंचतन्त्र—राधा का उल्लेख पचतन्त्र मे भी मिलता है। यह ग्रन्थ वहुत प्राचीन है।

भट्ट नारायण का वेणी संहार—इस नाटक के नान्दी श्लोक मे कालिन्दी के जल मे रास के समय केलिकुपिता अश्रुमयी राधिका और उनके पति कृष्ण द्वारा किए गए अनुनय का उल्लेख मिलता है। भट्ट नारायण आठवी सदी के पहले के कवि हैं। अत स्पष्ट है कि आठवी शती मे ही राधा का विकास हो गया था।

ध्वन्यालोक में राधा-कृष्ण—ध्वन्यालोककार ने एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है। उसमे राधा का "राधा रह साक्षिणाम्" कहकर स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

अन्य साहित्यिक ग्रन्थ—उपर्युक्त ग्रन्थो के अतिरिक्त त्रिविक्रम भट्ट रचित नलचम्पू, दशवी शताब्दी के कवीन्द्र वचन समुच्चय, भोजराज के सरस्वती-कठाभरण हेमचन्द्र के काव्यानुशासन, सदूक्ति कर्णामृत, दसवी सदी के भोज्जल कविकृत राधा विप्रलम्भ नामक नाटक, शारदा-तनय के भाव-प्रकाशन मे उल्लिखित रामा राधा नाम नाटक, कवि कर्णकूट रचित अलकार कौस्तुभ मे राधा सम्वन्धी कन्दर्प मजरी नामक नाटक, नाटक लक्षण कोप मे निर्दिष्ट राधा नामक वीथी आदि अनेक ऐसे प्राचीन ग्रन्थ हैं जिनमे पता चलता है कि राधा और माधव की प्रेम-कथा का प्रचार साहित्य-क्षेत्र मे छठी शताब्दी के पूर्व तक मे था।

परवर्ती राधा-कृष्ण सम्वन्धी साहित्य मे गीत-गोविन्द, लीला शुक विल्वमगल, कृष्ण कर्णामृत, उपामति, लक्ष्मणसेन के पुत्र केशवसेन के लिखे पद, आचार्य गोपक के पद, शतानन्द कवि के तथा चण्डीदास चैतन्य महाप्रभु के राधा-कृष्ण सम्वन्धी पद विशेष उल्लेखनीय हैं।

कृष्ण और राधा के उपर्युक्त क्रम-विकास के अध्ययन करने पर पता चलता है कि लौकिक और धार्मिक साहित्य मे राधा और कृष्ण का विकास ठीक उसी रूप मे हुआ जिस प्रकार प्राचीन साहित्य मे शिव-पार्वती, नारायण-लक्ष्मी, ब्रह्मा-ब्रह्माणी आदि युग्मो का इतिहास मिलता है। हिन्दी साहित्य को राधा-कृष्ण के विकास की यह लम्वी-चौडी परम्परा प्राप्त हुई थी। इसी पृष्ठभूमि पर राधा और कृष्ण की प्रेम-लीलाओ का विकास हुआ है।

सस्कृत-साहित्य मे कृष्ण-परम्परा का विकास यदि हम गाथा सप्तशती से माने, जिसमे राधा-कृष्ण का समावेश हुआ है, तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है

कि प्रथम शताब्दी के आस-पास साहित्य मे कृष्ण-भावना की प्रतिष्ठा की जाने लगी थी। किन्तु उस ग्रन्थ मे केवल राधा का ही वर्णन मिलता है, कृष्ण का नही। केवल आभीर जाति के एक शृगारी नायक के दर्शन होते है। सम्भव है बाद मे यही कृष्ण हो गये हो। हमारी समझ मे सस्कृत-साहित्य मे सबसे प्रथम ग्रन्थ भास का 'बाल-चरित्र नाटक' है। इसमे कृष्ण की बाल-लीलाओ का वर्णन किया गया है। इसी समय के आस-पास, लगभग १५० ई० के समीप लिखे गए 'केसवत' नामक एक नाटक का उपलब्ध है। इसमे कृष्ण का स्पष्ट उल्लेख तो नही है, किन्तु कृष्ण सम्बन्धी लीलाओ का सकेत अवश्य है।

सस्कृत मे कृष्ण-काव्य से सम्बन्धित सर्वप्रथम महाकाव्य 'शिशुपाल वध' है। इसमे यद्यपि कृष्ण की कथा को प्राधान्य न देकर शिशुपाल की कथा को ही अधिक महत्त्व दिया गया है, किन्तु कृष्ण की अवतारणा इसमे आदर के साथ की गई है। इसके पश्चात् कुछ और ग्रन्थ लिखे गए। इनमे 'कृष्णकर्णामृत' बहुत प्रसिद्ध है। इसमे कृष्ण-भक्ति सम्बन्धित भावो की अभिव्यक्ति मिलती है। कृष्ण काव्य-धारा का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'गीत-गोविन्द' जयदेव-रचित है। गीत-गोविन्द मे कृष्ण और राधा का शृगार-परक रूप चित्रित किया गया है। इसके पश्चात् रूप गोस्वामी की पदावलियाँ भी आती है। यह भी जयदेव के अनुसरण पर लिखी गई जान पडती है। इनका ही अनुसरण समस्त परवर्ती कृष्ण-काव्यधारा के कवियो ने किया। हिन्दी मे कृष्ण-काव्यधारा के आदि-कवि उमापति और विद्यापति ही माने जा सकते है।

सस्कृत मे कृष्ण काव्य-धारा को प्रभावित करने वाले उपादान

(अ) **धार्मिक ग्रन्थ—(१) सहिताए और उनकी देनें**—(क) सामवेद (सगीत)। (ख) ऋग्वेद (कृष्ण-भावना)। (ग) यजुर्वेद (कृष्ण-भावना)।

(२) **उपनिषद्**—(क) इसके बाद उपनिषदो मे सर्वाधिक प्रभाव नृसिहोपनिषद् है। इसमे बलराम की चर्चा आई है।

(ख) **छान्दोग्योपनिषद्**—इसमे कृष्ण का वर्णन है।

(३) **पुराण ग्रन्थ**—महापुराण अर्थात् भागवत, हरिवश पुराण, अग्नि पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण, वायु पुराण आदि मे कृष्ण की चर्चा मिलती है।

(४) **भक्ति के शास्त्रीय ग्रन्थो का प्रभाव**—इसमे नारद का भक्ति-सूत्र, शाण्डिल्य का भक्ति-सूत्र, भक्ति रसामृत-सिंधु, देवी मीमासा आदि मे भी कृष्ण भावना मिलती है।

(आ) **संस्कृत के गीत साहित्य का प्रभाव**—

(१) **कालिदास आदि-कवियों के श्रेष्ठ गीत-काव्य।**

(२) **स्तोत्र साहित्य**—आश्चर्य की बात है कि सस्कृत के सभी साहित्य-कारो ने इसकी उपेक्षा की है। किन्तु कृष्ण काव्य-धारा सस्कृत के स्तोत्र साहित्य से बहुत प्रभावित है।

(३) सप्तशतियाँ, शतक और पचाशिकाएँ—सप्तशतियो के अन्तर्गत 'गाथा-सप्तशती', 'आर्या-सप्तशती' आते है।

शतको के अन्तर्गत 'अमरु शतक' और 'भर्तृहरि शतक' आते है।

पचाशिकाओ के अन्तर्गत 'चौर पचाशिका', 'चडी कुच पचाशिका' आदि विशेष उल्लेखनीय है। इन सबका प्रभाव कृष्ण काव्य-धारा पर पडा है।

(इ) संस्कृत साहित्य के काम साहित्य का प्रभाव—यद्यपि इसका प्रत्यक्ष प्रभावती दिखाई नही पडता, किन्तु इनकी नकल करने वाले अधिक है। रीतिकाल पर इसका प्रभाव सर्वाधिक पडा है।

(ई) सस्कृत का भक्ति साहित्य—सस्कृत मे भक्ति-परक-साहित्य की बहुलता है। उपनिषदो मे ज्ञान के साथ-साथ भक्ति को भी महत्त्व दिया गया है। सूत्र-साहित्य मे इसका अच्छा विकास दिखाई पड़ता है। नारद भक्ति-सूत्र मे बहुत से भक्ति के आचार्यों के नाम दिए गए हैं। किन्तु आजकल उनमे से दो-एक आचार्यों के ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं। भक्ति मार्ग से सम्बन्धित रचनाओ मे महाभारत का नारायणोपाख्यान भागवत्, भगवद्गीता, अगिरा का दैवी रस-सूत्र, शाण्डिल्य का भक्ति-सूत्र, नारद का भक्ति-सूत्र, रामानुज के भाष्य तथा कुछ वैष्णव आगम ग्रन्थ आते है। इन ग्रन्थों मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ नारद भक्ति-सूत्र हैं। मध्यकालीन सत या भक्त इनसे बहुत अधिक प्रभावित थे। कबीर, जो निर्गुण सम्प्रदाय के प्रतिनिधि माने जाते हैं, नारदीय-भक्ति के ही व्याख्याता थे।

"भगति नारदी हृदय न आई, काछ कूछ तन दीना।"

वैष्णव धर्म मे भक्ति को प्रेम-विशिष्ट माना गया है। नारद ने "सात्वस्मिन परम प्रेम रूपा भक्ति", शाण्डिल्य ने "सा परानुरक्तिरश्विरे" कहकर भक्ति की प्रेम-विशिष्टता ही व्यक्त की है। रामानुजाचार्य ने भी स्नेहपूर्वक किए गए भगवान् के अनुध्यान को ही भक्ति कहा है। वल्लभाचार्य के प्रभाव से नारद की प्रेम-विशिष्टा भक्ति का विकास-लीला-भक्ति के रूप मे हुआ। "लीलाया प्रयोजनत्वात्" कहकर उन्होने भक्ति के प्रयोजन को भगवान् की लीला का श्रवण, दर्शन और मनन के रूप मे ही ध्वनित किया है। इस लीला-भक्ति का प्रभाव सगुण भक्ति-धारा पर विशेष रूप से दिखाई पड़ता है।

(उ) संस्कृत के काव्य ग्रन्थों का प्रभाव—मध्यकालीन भक्ति-साहित्य प्रधान रूप से दो धाराओ मे विकसित हुआ—(१) प्रबन्ध, और (२) गीत। इनमे से प्रबन्ध-धारा के कवि, और विशेपकर उसके प्रतिनिधि कवि, सर्वशास्त्र पारगत विद्वान थे। काव्यशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तो का उनके काव्यो मे बडे विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। अतएव इसके ज्ञान के लिए उन्होने अपने पूर्ववर्ती कवियो के महाकाव्यो, साहित्य के शास्त्रीय ग्रन्थो तथा आचार्यो के काव्यशास्त्रो का थोडा-बहुत अध्ययन अवश्य किया होगा। तुलसी का रामचरितमानस शास्त्र की कसौटी पर कसा हुआ सच्चा महाकाव्य है। यह बात ही इस बात की पुष्टि करती है कि तुलसी ने सस्कृत के साहित्य का विधिवत् अध्ययन किया था। रामायण पर अनर्घ राघव, हनुमन्नाटक,

वाल्मीकि रामायण, पद्म पुराण, अध्यात्म रामायण आदि ग्रन्थो का पूर्ण प्रभाव लक्षित होता है। इससे स्पष्ट होता है कि प्रबन्ध-काव्य लिखने वाले महाकवियो ने सस्कृत के राम-कथा-परक साहित्य का अध्ययन करने के पश्चात् काव्य-रचना की थी। ऐसा भी अनुभव होता है कि उन्होने अपने पूर्ववर्ती बहुत से साहित्यिक ग्रन्थो की कल्पनाओ और चित्रो को भी अपनाया है।

उनके उपमान और उत्प्रेक्षाएँ तो कवि-परम्परागत है ही। उनमे पाई जाने वाली बहुत सी कवि-प्रसिद्धियाँ प्राचीन काव्य-ग्रन्थो से ही ली गई हैं।

सस्कृत की कृष्ण-काव्य-धारा मे गीत-काव्य-धारा की बडी प्रतिष्ठा रही है। गीति-काव्य की परम्परा सस्कृत मे बहुत प्राचीन है। इसका आदि-ग्रन्थ सामवेद कहा जा सकता है। इसके पश्चात् सस्कृत के गीत और रीति-काव्य का अच्छा प्रचार हुआ, और इस विकास का पर्यवसान पद्यावली-साहित्य मे दिखाई दिया। रूप गोस्वामी की पद्यावलियाँ गीति-काव्य की सुन्दर रचनाएँ है। गीत गोविन्द ने भी गीत-परम्परा को समृद्ध किया है। इन्ही दो ग्रन्थो के अनुकरण पर हिन्दी की कृष्ण गीति-काव्य-धारा विकसित हुई जान पडती है। यद्यपि पद्यावली-परम्परा का उदय उमापति से माना जाना चाहिए किन्तु इस कवि के सम्बन्ध मे अभी खोज नही हुई है। अतएव हिन्दी गीति-काव्य परम्परा के प्रथम ज्ञात कवि विद्यापति ही कहे जा सकते हैं। कृष्ण काव्य-धारा पर विद्यापति का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है।

(ऊ) **पुराणों का प्रभाव**—कृष्ण काव्य-धारा पर पुराणो का भी प्रभाव दिखाई देता है। भागवत् महापुराण तो इस धारा के कवियों का मूल प्राण ही है। कृष्ण-लीला एक प्रकार से भागवत् की ही देन है। भागवत् के अतिरिक्त अग्नि पुराण, ब्रह्मवैवर्त्त पुराण, वायु पुराण आदि का भी प्रभाव इन कवियो पर स्पष्ट देखा जा सकता है। इन पुराणो के समान ही लिखे गए बहुत से आधुनिक उपनिषदो ने भी इस धारा को प्रभावित किया। इनमे नृसिंहोपनिषद्, गोपालतापनीयोपनिषद् सर्वप्रमुख है।

(ए) **संस्कृत के दर्शन-साहित्य का प्रभाव**—कृष्ण काव्य-धारा को भारतीय दर्शनशास्त्र ने बहुत अधिक प्रभावित किया है। मध्य काल मे बहुत से आचार्यो द्वारा प्रवर्त्तित विविध दर्शन-पद्धतियो ने सम्प्रदायो का रूप धारण कर लिया था। कृष्ण काव्य-धारा की विविध परम्पराएँ इन्ही से सम्बन्धित हैं।

कृष्ण काव्य-धारा की विविध परम्पराएँ और उनके कवि

परम्परा	कवि
(१) सनकादि सम्प्रदाय	श्री भट्ट और हित हरिवशदास
(२) सखी सम्प्रदाय	श्री व्यास और ध्रुवदास
(३) रुद्र सम्प्रदाय	कन्होवाजी और ध्रुवदास
(४) वल्लभाचार्य सम्प्रदाय	अष्टछाप के कवि

(५) टट्टी सम्प्रदाय	स्वामी हरिदास
(६) मध्वाचार्य का ब्रह्म सम्प्रदाय	जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास
(७) चैतन्य का गौरीय सम्प्रदाय	रूप सनातन, जीव गोस्वामी
(८) प्रेममार्गी सम्प्रदाय	मीरा और फुटकर कवि।

अष्टछाप के कवि और उनकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ

कृष्ण काव्य-धारा का प्रयोग सामान्यतया अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय के लिए होता है, क्योकि कृष्णोपासको की यही धारा सर्वप्रमुख रही है। इसे मैं कृष्ण काव्य-धारा की प्रतिनिधि धारा मानता हूँ। अत इसी की प्रवृत्तियो का सक्षेप मे उल्लेख करूँगा।

अष्टछाप की स्थापना और कवि—स्वामी वल्लभाचार्यजी की प्रेरणा से श्रीनाथजी के मन्दिर मे कीर्त्तन के लिए आठ कृष्ण-भक्त गायको की नियुक्ति की गई थी। इनमे से चार आचार्यजी के शिष्य थे और चार उनके पुत्र विट्ठलनाथजी के शिष्य थे। विट्ठलनाथजी ने इन्ही आठ पर अपने आशीर्वाद की छाप लगाई थी। इसी लिए ये कवि अष्टछाप के कवि कहलाए। इन आठो के नाम क्रमश सूरदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास, कृष्णदास, नन्ददास, चतुर्भुजदास, गोविन्दस्वामी और छीतस्वामी हैं। चौरासी वैष्णवो की वार्त्ता के अनुसार "वाणी तो सब अष्टछाप की समान है।"

वर्ण्य-विषय—इन सब कवियो ने श्रीकृष्ण काव्य-लीलाओ को ही अपनी वाणी का उपास्य बनाया था। सूर ने सम्पूर्ण भागवत् की कथा को पद्यबद्ध करने का प्रयास किया था, किन्तु उनकी वृत्ति भगवान् की बाल्यकालीन और यौवनकालीन लीलाओ के वर्णन मे ही अधिक रमी थी। नन्ददास ने अपने को कृष्ण की प्रणय-लीलाओ के ही कुछ मार्मिक प्रसगो को लेकर अपनी रचनाएँ लिखी हैं। अन्य ६ कवियो ने भी कृष्ण-लीला के रोचक और भावपूर्ण प्रसगो को लेकर ही अपनी वाणी को कृतार्थ किया है। इस प्रकार अष्टछाप के कवियो की वर्ण्य निधि मूलत कृष्ण-लीला थी।

गीत-शैली—अष्टछाप के कवियो ने कृष्ण-लीला का कीर्तन गीत-शैली मे किया है। गेय पदो मे रसात्मक प्रसगो के भावपूर्ण चित्र प्रस्तुत करना ही इनके गीत-काव्य का लक्ष्य रहा है। इनके पदो मे हम भावुकता और वाग्विदग्धता का सुन्दर समन्वय मिलता है। अष्टछाप के इन कवियो के गीत-काव्य की प्रधान विशेषता सगीतात्मकता है। सूर के सम्बन्ध मे लिखे गए आचार्य शुक्ल के निम्नलिखित शब्द सम्पूर्ण अष्टछाप के कवियो पर लागू होते हैं। "सूर की रचना जयदेव और विद्यापति के गीत-काव्यो की शैली पर है, जिसमे स्वर और लय के सौन्दर्य का भी रस-परिपाक मे बहुत कुछ योग रहता है। सूरदास मे कोई राग या रागिनी छूटी न होगी। इससे वह सगीत प्रेमियो के लिए बड़ा भारी खजाना है।" यह कहने मे सकोच नहीं है कि यह कवि केवल कवि ही नही, उच्चकोटि के गायक भी थे। यह बात निम्नलिखित उद्धरणो से प्रमाणित है।

"दिन दस लेहु गोविन्द गाई।"—इत्यादि,—सूरदास
"भाई हो हम गोविन्द के गुन गाऊँ।"—कुम्भनदास
"मेरे तो गिरधर ही गुन गान।"—कृष्णदास

इन उद्धरणो से प्रकट है कि इनका लक्ष्य भगवद् लीला का गान करना भी था।

रस—अष्टछाप के कवियो में हमे वात्सल्य, शृगार या भक्ति एव शान्त रस का सुन्दर परिपाक दिखाई पडता है। इन चारो रसो का शायद ही कोई अग या स्वरूप ऐसा रह गया हो जिसका मार्मिक उद्घाटन इन रसिक भक्तो ने न किया हो।

उपासना भाव—इस सम्प्रदाय के भक्तो की उपासना-पद्धति मधुर भाव-प्रधान थी। मधुर भाव के अतिरिक्त इन कवियो मे हमे सख्य भाव की भी प्रधानता मिलती है। इन दोनो ही भावो की अभिव्यक्ति मे किसी प्रकार की मर्यादा को महत्त्व नही दिया गया है। परमानन्ददास के निम्नलिखित शब्द अष्टछाप के कवियो की उपासना-पद्धति का प्रतिनिधित्व करते हैं—

"मैं तो प्रीति श्याम सो कीन्हीं।
कोऊ निन्दौ कोऊ बन्दौ, अब तौ यह धरि दीनी॥"—परमानन्द

भाषा—अष्टछाप के कवियो की भाषा स्वाभाविक चलती हुई सरस ब्रज-भापा है। काव्योद्रेक से इसमे कही-कही सस्कृत के शब्दो का प्रयोग भी मिल जाता है, किन्तु वे सस्कृत-प्रधान भाषा लिखने मे अपना गौरव नही समझते थे। इनकी भाषा स्वाभाविक और अप्रयत्नज, अलकारो के औचित्यपूर्ण प्रयोगो के कारण स्वर्ण सुगन्ध का उदाहरण प्रस्तुत करती है। इतना होते हुए भी यह कहने मे कोई सकोच नही है कि ये कवि बहुत पढे-लिखे, साहित्य और भाषा शास्त्र के पारगत विद्वान् नही थे। अत उनमे कहीं-कहीं अव्यवस्थित वाक्य-रचना और शब्दो की अनावश्यक कुरूप तोड-मरोड की प्रवृत्ति भी दिखाई पडती है। इनकी भाषा मे कुछ व्याकरणिक दोष भी पाए जाते हैं। इनकी प्रचुरता सूर जैसे महाकवि मे भी मिलती है। उदाहरण के लिए हम सूर के सूल, राहत आदि शब्दो को ले सकते है। सूल शब्द का प्रयोग उन्होने कही स्त्रीलिंग मे, और कही पर पुल्लिग मे किया है। राहत शब्द रहत के लिए प्रयुक्त किया गया है। इस प्रकार के सैकडो उदाहरण दिये जा सकते हैं।

दार्शनिक पक्ष—अष्टछाप के कवि दार्शनिक दृष्टि से बल्लभाचार्य के शुद्धा-द्वैत के अनुयायी थे। आचार्य शकर को अद्वैतवाद के साथ माया की कल्पना करनी पड़ी थी। आचार्य बल्लभ ने उससे माया का वहिष्कार कर उसे शुद्ध कर दिया। उन्होने ब्रह्म की आविर्भाव और तिरोभाव शक्ति के सहारे ब्रह्म' जीव और जगत का निरूपण किया था। इनका कहना था कि ब्रह्म की तीन शक्तियाँ प्रधान हैं—सत्, चित् और आनन्द। ब्रह्म मे इन तीनो का आविर्भाव रहता है। जीव मे सत् और चित् का आविर्भाव और आनन्द का तिरोभाव रहता है तथा जगत् मे केवल सत् का आविर्भाव और चित् और आनन्द का तिरोभाव रहता है। उस परमात्मा की उच्चतम् स्वरूप सगुण कृष्ण रूप है। यह रूप

गो-लोक मे रहता है। व्रज मे वह अपनी समस्त शक्तियो और विभूतियो सहित अवतार लेता है। भक्तो का उद्देश्य उन कृष्ण की पुष्टि या अनुग्रह प्राप्त करना है। उस अनुग्रह की प्राप्ति के लिए एक विस्तृत सेवा-मार्ग का विधान किया गया। यह सेवा-मार्ग ही पुष्टिमार्ग के नाम से प्रसिद्ध है। यह शुद्धाद्वैतवाद का व्यवहार पक्ष है। अष्टछाप के कवियो ने शुद्धाद्वैत के दोनो पक्षो को अपने पूर्ण रूप मे स्वीकार किया है।

काव्यत्व—अष्टछाप के कवियो की वाणी मे हमे स्वाभाविक साहित्यिकता का सुन्दरतम् रूप मिलता है। इन कवियो की काव्यगत विशेषताओ का यदि सक्षेप मे निर्देश करना चाहे तो कहेगे कि परम सहृदय और भावुक कवियो ने भावना, कल्पना, और वक्रता तीनो को अपनी वाणी मे विकास के चरम सौन्दर्य तक पहुँचा दिया था। भावनामूलक सरसता, कल्पनामूलक चित्रात्मकता और मानव-मन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म वृत्तियो को तिलमिला देने वाली वचन-वक्रता की विविध भगिमाओ के साथ ऐसा समन्वित सौन्दर्य उद्घाटित किया है, जैसा कि शायद ही किसी विश्व कवि ने किया हो। अपनी इसी विशिष्टता के कारण इस धारा के कवि ससार के महान् कवियो मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान निर्धारित कर सकते है।

कृष्ण काव्य-धारा का परवर्ती साहित्य पर प्रभाव

(१) सात्विक भक्ति के स्थान पर वल्लभाचार्य ने मर्यादा-विहीन लीला भक्ति की स्थापना की थी। आचार्यजी के द्वारा मर्यादा की उपेक्षा की जाने के कारण परवर्ती कवियो ने भक्ति के स्थान पर मर्यादा-विहीन शृगार करना आरम्भ कर दिया। इसीलिए रीतिकाल का उदय हुआ।

(२) वल्लभाचार्य के प्रभाव से भक्ति मे ऐश्वर्य और समृद्धि तथा महन्तवाद का प्रवर्त्तन हुआ। महन्तवाद का आदर्श 'केसर की चक्कियाँ चले है' बन गया। इसका परिणाम यह हुआ कि वैष्णव वैभव मुगल वैभव से मिलकर शृगार का सृजन करने लगा।

(३) लीला भक्ति के अधिक विकास के कारण अर्थ का स्थान अनर्थ ने ले लिया। लीला के स्थान पर राधा और कृष्ण की नग्न क्रीड़ाएँ चित्रित की जाने लगी। साधारण कवियो ने उन्हे और भी वीभत्स रूप दिया।

(४) कृष्ण काव्य-धारा के कवियो मे जीवन के विविध अगो को समेटने की कामना बनी हुई थी। यद्यपि वे राम काव्य-धारा के कवियो के समान सफल नही हुए, किन्तु उनका लक्ष्य भगवान् के लोकरजक स्वरूप की प्रतिष्ठा करना ही था। इस लोकरजक रूप का परवर्ती कवियो ने बडा दुरुपयोग किया और घोर शृगार की अवतारणा की गई। जीवन के अन्य समस्त पक्ष भुला दिए गये। परिणाम यह हुआ कि दृष्टिकोण सकुचित होकर अमौलिक बन गया। परम्परा-पालन के रूप मे इनका लक्ष्य शृगार-चित्रण ही रह गया।

(५) मनुष्य सदा से अपनी काम-वासनाओ को किसी आवरण मे छिपाने की चेष्टा करता आया है। रीतिकालीन कवियो ने अपनी वासनाओ को राधा कृष्ण

स्वाभाविक सम्पर्क बढता जा रहा था। इसके फलस्वरूप भारतीय धार्मिक विचार धारा, कला एव व्यक्तित्व से पूर्णतया प्रभावित हुई। रीतिकालीन कविता पर य प्रभाव प्रत्यक्ष लक्षित होता है।

(ख) शाहजहाँ के समय मे देश मे सर्वत्र वैभव और ऐश्वर्य का ही प्रभुत और प्रसार था। कला अपने भव्य रूप मे विकसित हो रही थी। इसका प्रभा रीतिकालीन कविता पर बहुत स्वस्थ पडा। कला का बहुमुखी विकास प्रारम्भ हुआ। किन्तु थोडे ही दिनो मे औरगजेब के विद्वेषपूर्ण कर्कश व्यक्तित्व ने कला के कोमल कलेवर पर ऐसा कुठाराघात किया कि वह सदा के लिए कुरूप हो गई।

(ग) **नैतिक स्थिति**—इस युग की नैतिक स्थिति बहुत खराब थी। उसक कुछ चित्रण तुलसीदास ने अपने कलियुग वर्णन मे किया है। उस समय के नैतिक पतन का पता हमे इतिहास ग्रन्थो से लगता है। मुगल राजकुमार जहाँदार ख बारह वर्ष की अवस्था से ही बाजारो मे घूम-घूम कर स्त्रियो को छेडने लगा था इतिहासकारो ने लिखा है कि उसकी एक रक्षिता उसके ऊपर इतना अधिक शासन करती थी कि वह उसे खुले दरबार मे सामन्तो के सामने गालियाँ देती थी। इस स्त्री का नाम लालकुँवर था। मिर्जा तवक्कुल के कारनामो से इतिहास काला है। मुसलमानो तक ही यह नैतिक पतन सीमित नही था। मुगल सम्राटो की नकल करने वाले भी इसी प्रकार स्त्रैण हो चले थे। मारवाड नरेश विजयसिह की पासवनी नामक वेश्या लालकुँवर की ही तरह उन्हे दरबार मे अपमानित कर सकती थी। मुगल राजमहल की दशा और भी अधिक खराब थी। एक-एक बादशाह के महल मे दो-दो सहस्र स्त्रियाँ रहती थी। एक व्यक्ति के लिए इन समस्त स्त्रियो की देखभाल करना असम्भव था। परिणामस्वरूप घोर व्यभिचार फैला। मुसलमानो की कुछ सामाजिक प्रथाएँ भी नैतिक पतन का कारण थी। जैसे विवाह मे केवल दूध का बचाव। यह सर्वाधिक व्यभिचार की उत्तरदायिनी प्रथा है। एक ही घर मे एक पिता की दो स्त्रियो की सतानें परस्पर प्रणय अभिसार किया करती थी। इसका प्रभाव थोडा-बहुत हिन्दुओ पर भी पडा। राजमहल मे ऐश्वर्य और विभूति लोटी-लोटी फिरती थी। ललित विलासिता निस्सकोच भाव से नग्न हो उठी। उस समय के अमीरो और रईसो का लक्ष्य केवल विलास के मसालो को एकत्र करना था। पद्माकर ने अपने इस पद मे तत्कालीन विलासिता का अच्छा चित्रण किया है—

"गुल गुली गिल मे, गलीचा है, कहे पद्माकर त्यो गजक है,"
"गिजा है, सजी लज है, सुरा है, सुराही है, और प्याला है।"

"शिशर के पाल को न व्यापत कसाला तिन्हें
जिनके यह सब अधीन एते उदित मसाला है।
तान तुक वाला है, विनोद के रसाला है,
सुवाला है, दुशाला है, विशाला चित्रशाला है।"

(घ) **धार्मिक स्थिति**—देश मे वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग की विविध गद्दियाँ स्थापित हो चुकी थी। वल्लभाचार्य ने पुष्टि मार्ग मे भक्ति की मर्यादा को अनावश्यक

बतलाया है। मर्यादा की इस उपेक्षा के कारण पुष्टिमार्गीय भक्तो मे वासना का प्रचार बढा। महन्तो का लक्ष्य बहुत सी गोपियों को एकत्रित करके उनके साथ कृष्ण बनकर अभिसार करना था। मन्दिरो मे ऐश्वर्य एव भोग-विलास की सामग्रियाँ उपस्थित की गईं। कृष्ण के नाम पर व्यभिचार फैला। देवदासी और मुरलिका प्रथा मे इस घोर धार्मिक व्यभिचार को बल दिया। दूसरी ओर कृष्ण-भक्ति से सम्बन्धित अन्य उपशाखाएँ भी इन्ही के अनुकरण पर विकसित होने लगी। उनमे भी व्यभिचार बढा। परिणाम यह हुआ कि कवि लोग भक्ति को भुलाकर भगवान् की आड मे वासना की तृप्ति करने लगे। राधा कन्हाई सुमरन के बहाने बीभत्स वासनात्मक प्रवृत्तियो का नग्न नृत्य होने लगा।

शंकराचार्य से लेकर बल्लभाचार्य तक जो भी दार्शनिक परम्पराएँ प्रवर्तित हुईं थी वे सब क्षीण हो गईं। उनमे विद्वानो की रुचि न रही। सिद्धान्तो के स्थानों पर नायिका के अगो का वर्णन होने लगा। आचार्य रूप गोस्वामी ने भक्ति में बड़ी कुशलता से समस्त नायिक भेद फिट कर दिया है। इस प्रकार धर्म और दर्शन क्षेत्र में भी विलासिता अँगड़ाई भरने लगी।

(ङ) साहित्य—सत कवियो के प्रयास से हिन्दी साहित्य का अच्छा विकास हुआ। उन्होने भावो के परिष्कृत स्वरूप को जितना अधिक महत्त्व दिया उतना भाषा-सौष्ठव को नही। भाषा के विकास की बडी आवश्यकता थी। रीतिकाल मे इस अभाव की पूर्ति हुई। इधर हिन्दी मे कविता लिखने वाले कुछ ऐसे कवि भी हुए जो सस्कृत के प्रकाण्ड पडित थे। केशव की गर्वोक्ति तो लोक-प्रसिद्ध है ही। इसी प्रकार और भी बहुत से कवि हुए जो सस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। इनके प्रयास से रीतिकाल मे संस्कृत के काव्य-शास्त्र और शृगार साहित्य की अच्छी अवतारणा हुई। संस्कृत मे आचार्य लोग प्रायः कवि और आचार्य दोनों हुआ करते थे। हिन्दी कवियो ने सस्कृत की इस प्रवृत्ति को यथावत ग्रहण किया। वे भी आचार्य और कवि दोनो एक साथ ही बनाना चाहते थे, किन्तु अधिकाश रीतिकालीन कवि आचार्य बनने के अधिकारी नही थे। इसका फल यह हुआ कि वे न तो आचार्य ही बन सके और न कवि ही। सस्कृत के सूत्र साहित्य, काम साहित्य काव्य-शास्त्रीय साहित्य तथा शतक साहित्य का रीतिकालीन हिन्दी साहित्य पर बहुत प्रभाव पडा। केशव आदि कवि तो कादम्बरी, वासवदत्ता आदि प्राचीन कवियो की उक्तियों का ही पिष्टपेषण करते रहे थे। इधर साहित्य-लोक से हटकर केवल कुछ राजाओ व सामन्तो के राज-दरबार मे ही केन्द्रित हो गया। राज-दरबार की सारी मनोवृत्तियाँ समस्त शिष्टाचार सम्पूर्ण विलासिता साहित्य मे प्रतिष्ठित हो गई। रीतिकालीन साहित्य इसीलिए बहुत ही सकुचित, रूढिगत्, और व्यक्तित्व-विहीन हो गया। कवियो का लक्ष्य कविता के लिए कविता करना नही था। वे अधिकतर धन के लिए और अपने आश्रयदाताओ की तुष्टि के लिए ही कविता करते थे। यही कारण है कि उनके काव्य मे वैयक्तिक अनुभूतियो की अभिव्यक्ति नही हो पाई है।

रीतिकाल का शास्त्रीय आधार

ऊपर हम सकेत कर चुके हैं कि रीतिकाल में सस्कृत का काव्य-शास्त्र अपनी सम्पूर्णता मे अवतरित किया गया था। सस्कृत काव्य-शास्त्र मे समय-समय पर विविध साहित्यिक वाद उदय होते रहे है यह वाद सम्प्रदायो के रूप मे विकसित हुए थे। इनमे निम्नलिखित सम्प्रदाय बहुत प्रसिद्ध हैं।

(१) रस सम्प्रदाय, (२) अलकार सम्प्रदाय, (३) ध्वनि सम्प्रदाय, (४) वक्रोक्ति सम्प्रदाय, (५) रीति सम्प्रदाय, तथा (६) औचित्य सम्प्रदाय।

कला का स्वरूप

रीतियुग अपनी कला-प्रियता के लिए प्रसिद्ध है। मुगल बादशाह विशेषकर शाहजहाँ और अकबर बहुत ही कलाप्रिय थे। अकबर के समय मे कवि और सगीतज्ञो की प्रतिष्ठा की अधिकता थी। शाहजहाँ को काव्य और सगीत से उतना प्रेम नहीं था जितना स्थापत्य-कला से। जहाँगीर अपनी चित्रकला-प्रियता के लिए प्रसिद्ध हैं औरगजेब के समय मे समस्त कलाओ को निर्दयतापूर्वक कुचल दिया गया। मृतकावस्था को प्राप्त कला मे पुनः जीवन फूँकने का श्रेय मुहम्मदशाह रगीले को है उसके समय मे अच्छे-अच्छे सगीतज्ञ और कलाकार हुए। शाहजहाँ और जहाँगीर के समय को रीतिकालीन कविता मे थोडी मौलिकता भी थी किन्तु औरगजेब के समय मे कविता बिलकुल निर्जीव हो गई है। औरगजेब के कठोर व्यक्तित्व ने वीर काव्य-धारा को जरूर उकसाने की चेष्टा की। सच तो यह है कि उस समय जो वीर रस पूर्ण कविताएँ लिखी गईं वे शृगारी कविताओ से कही अधिक मौलिक हैं। बाद के यवन राजा कोरे रसिक और विलासी थे। काव्य-कला से उन्हे विशेष प्रेम न था इसका परिणाम यह हुआ कि उनकी वृत्ति केवल नायिका-भेद वर्णन में ही रम सकी। यही कारण है कि परवर्ती रीतिकालीन साहित्यप्रधान रूप से नायिकाभेद का परिगणन-मात्र है। उसे अलकारो की मधुमयी मोहक मजूषा रम सकी कहा जा सकता है। हम ऊपर बता चुके हैं कि यवन बादशाहो के हरम मे, दो-दो हजार रमणियाँ थीं। इनमे से वृद्धाएँ दूती-कृत्य करती थी। युवतियो में अपने सौन्दर्य सम्बन्धी प्रदर्शन की होड लगी रहती थी, इससे वासक सज्जाओ को सीधी प्रेरणा मिली होगी। यवन राजमहल मे होने वाले परकीयाभिसार का साहित्य मे विविध अभिसारिकाओ के रूप मे अवतरण हुआ। इन तमाम परिस्थितियो का प्रभाव रीतिकालीन-साहित्य पर प्राय प्रत्यक्ष परिलक्षित होता है।

रीतिकालीन परम्पराएँ

रीतिकालीन-साहित्य को परम्परा की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गों मे विभाजित कर सकते है—

(१) अलकारवादी वर्ग।

(२) अलकार और रस तथा अन्य अगो को लेकर चलनेवाला वर्ग।

(३) वीर रस और रीतिधारा दोनो का मिश्रण करनेवाला वर्ग।

(४) प्रबन्ध रचना करनेवाला वर्ग।
(५) भक्ति भावना को लेकर चलनेवाला वर्ग।
(६) नीति रचना करनेवाला वर्ग।

(१) **अलकारवादी वर्ग**— सस्कृत साहित्य मे बहुत दिनो तक अलकारवादियो का बोलबाला रहा। "अलकार रहिता विधवेव भारती" का आदर्श लेकर चलने वाले कवि अलकार और अलकार्य का भेद भूल गये। हिन्दी मे इस वर्ग के प्रमुख मुखिया केशवदास हैं। केशव, दण्डी, रुटयक, वामन, उद्भट् आदि प्राचीन अलंकार-वादी आचार्यों के अनुयायी थे। केशव की इस परम्परा का अनुसरण हिन्दी साहित्य मे बहुत कम किया गया है। इसीलिए शुक्लजी ने केशव की गणना भक्तिकाल के फुटकर कवियो मे की है, रीतिकाल मे नही।

(२) **अलकार, रस तथा अन्य अंगों को लेकर चलनेवाला वर्ग**—दूसरे वर्ग के प्रमुख प्रवर्तक चिन्तामणि त्रिपाठी हैं। यह कोरे अलकारवादी नही थे। यह रस, अलकार, नायिका-भेद आदि काव्य-शास्त्र के विविध अगो को लेकर चले थे। उन्हे हम मम्मट का अनुयायी कह सकते है। मम्मट ने भी रस, अलकार, ध्वनि आदि सभी का विवेचन किया है।

इनके प्रमुख रीतिग्रन्थ तीन थे—'काव्य-विवेक, 'कविकुल कल्पतरु' और 'काव्य प्रकाश'। इन्होने छन्दशास्त्र पर भी एक पुस्तक लिखी थी। चिन्तामणि त्रिपाठी की परम्परा का अनुसरण उनके परवर्ती अनेक कवियो ने किया। उनमे से बिहारी, देव, मतिराम, पद्माकर, भिखारीदास, रसलीन बहुत प्रसिद्ध हैं। बिहारी और मतिराम ने अपनी सतसइयो की रचना करके सस्कृत की सतसइयो की परम्परा को पुनर्जीवित करने की चेष्टा की। किन्तु इनके पश्चात् मौलिक सतसइयाँ नही लिखी गईं। सभी अनुकरणमात्र थी। भिखारीदास लक्ष्य-लक्षण ग्रन्थ लिखनेवालो मे अग्रगण्य है। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि सस्कृत के बहुत से आचार्यों की यह प्रवृत्ति थी कि वे काव्यशास्त्र के सिद्धान्तो का उल्लेख कर उनके लिए स्वय उदाहरण रचते थे। हिन्दी के कवियो ने इस परम्परा का अनुसरण किया। केशव आदि दो एक विद्वान् कवियो को छोडकर अधिकाश रीतिकालीन कवि सस्कृत काव्य-शास्त्र के मर्मज्ञ नही थे। अत वे या तो मिथ्या मौलिकता का प्रदर्शन करते थे या फिर सस्कृत ग्रन्थो का छायानुवाद करते थे। कभी-कभी वे साहित्यिक चोरी भी करते थे जैसे देव का छल नामक सचारी। वह नया नही है। रस-तरगिणी से लिया गया है। इसी तरह से लोक-प्रसिद्ध भूषण का "भाविक छन्द" भी नया नही है। दास जी की अतिशयोक्तियाँ भी चुराई हुई हैं। इन आचार्यो का विवेचन भी उतना सूक्ष्म नही है जैसा कि एक आचार्य से आशा की जाती है।

(३) **वीर रस और रीतिधारा को मिश्रित करनेवाले वर्ग** के प्रमुख कवि भूषण माने जाते हैं। उन्होने शृगार के स्थान पर वीर का रसराजत्व दिखाया है। यह राष्ट्रीय कवि कहे जाते हैं। इन्होने लक्ष्य ग्रन्थो को भी लिखा है। इनके प्रमुख

ग्रन्थ 'शिवाबावनी', 'छत्रसाल', 'शिवराजभूषण', 'भूषण हजारा' आदि हैं। इन्ही के वर्ग मे हम पद्माकर को भी ले सकते हैं। इन्होने 'हिम्मत बहादुर' नामक पुस्तक लिखी है।

(४) इस युग मे प्रबन्धत्व की प्रवृत्ति भी परिलक्षित हुई। किन्तु जो प्रबन्ध-ग्रन्थ पाये जाते है वे प्रबन्धत्व की दृष्टि से असफल है जैसे केशव की 'रामचन्द्रिका' पद्माकर का 'रामरसायन', ब्रजवासीदास का 'ब्रजविलास' आदि।

(५) इसी युग मे कुछ भक्ति-परक ग्रन्थ भी लिखे गये। इन ग्रन्थो मे राधा और कृष्ण की ही चर्चा है। यद्यपि कि राधा कन्हाई सुमिरन के बहाने इस युग के हर एक कवि ने ही रस धारा बहाई थी किन्तु कुछ कवि शुद्ध भक्त कवि भी थे जैसे हित वृन्दावनदास और जनकराज किशोरीशरण आदि।

(६) नीति सम्बन्धी धारा भी उल्लेखनीय है। इस धारा के प्रमुख कवि गिरधर, वैताल और घाघ आदि हैं।

रीतिकालीन प्रवृत्तियाँ

(१) **रीतिकाल के काव्य का रूपावरण**—रीतिकाल की रचनाएँ अधिकतर मुक्त है। प्रबन्ध-रचनाओ का एक प्रकार से अभाव ही है। जो थोडे-बहुत प्रबन्ध-काव्य लिखे गए थे वे कला की दृष्टि से असफल समझे जाते है।

(२) **लक्ष्य-लक्षण ग्रन्थ और आचार्यत्व**—रीतियुग की सर्वप्रधान प्रवृत्ति लक्ष्य-लक्षण ग्रन्थो की है। रीतियुग के कवि लोग आचार्य और कवि दोनो ही बनना चाहते थे। किन्तु वे दोनो मे से कुछ भी न बन सके। अत हम उनको सफल आचार्य व सफल कवि दोनो मे से कुछ भी नही कह सकते। आचार्यत्व की दृष्टि से रीति-कालीन कवियो की असफलता के निम्नलिखित कारण है—

(क) इन्होने अधिकतर सस्कृत साहित्य का चलता-फिरता ज्ञान प्राप्त किया था। केशव आदि दो-एक कवियो को छोडकर अन्य कवि दो-एक ग्रन्थो के बल पर ही आचार्यत्व का दावा करते थे और झूठी मौलिकताओ का प्रदर्शन किया करते थे। उदाहरणार्थ हम देव को ले सकते है।

देव आदि कवियो की झूठी मौलिकता प्रदर्शन वृत्ति

रस—देव ने रस का विस्तार से विवेचन किया है। इन्होने उसके लौकिक और अलौकिक दो भेद किए है। अन्तिम को तीन प्रकार का माना है। इसी प्रकार भक्ति के भी इन्होने तीन भेद किए हैं—

(१) प्रेम भक्ति, (२) शुद्ध भक्ति, तथा (३) शुद्ध प्रेम।

किन्तु यह भेद देव के मौलिक नही है। डॉ० नगेन्द्र ने इन्हें रस तरगिणी से प्रभावित माना है।

भाव—देव ने छल नामक एक नए सचारी की भी कल्पना की है। यह

मौलिक नही है। रस तरगिणी से ग्रहीत है। देव के अतिरिक्त दास ने हावो की सख्या मे वृद्धि की है। इनमे से कुछ हाव तो साहित्य-दर्पण मे वर्णित नायिका के कृति साध्य अलकार के रूप मात्र है। इसके अतिरिक्त हिन्दी के आचार्यों ने विश्वनाथ द्वारा वर्णित परकीया के दो भेदो के ६ भेद कर डाले है। इनमे भी कोई नवीनता नही है। यह भेद भी रस तरगिणी के आधार पर किए गए है। इसी प्रकार अलकार-क्षेत्र मे भी झूठी मौलिकता दिखाने की चेष्टा की गई है। कही-कही तो वे अलकारो का सही लक्षण भी नही दे पाए है। लक्षण के अतिरिक्त उदाहरण भी प्राय: गलत मिलते है, जैसे केशव द्वारा प्रदत्त विपरीतोपमा के एकाध भेद, जो उनकी अपनी कल्पना है, उपमा ही नही बन पाए है। इन कवियो ने कभी-कभी सस्कृत के आचार्यों से अलकार को ग्रहण कर उनका नाम बदल दिया है, जैसे, उनका भाविक छवि नामक अलकार सस्कृत मे वर्णित भाविक का ही रूपान्तर है। इस प्रकार स्पष्ट है कि हिन्दी रीतिकालीन कवियो ने आचार्यत्व का प्रदर्शन करने की कामना से साहित्यशास्त्र के विविध अगो के निरूपण मे बड़ी गड़बड़ी की है। इन्हे हम सच्चा आचार्य नही कह सकते।

(ख) रीतिकालीन कवियो को सस्कृत साहित्य का जो स्वरूप दिखाई पड़ा था वह उनके युग का ही था, उनके पूर्व होने वाले पाण्डित्यपूर्ण युग का नही। उनके युग मे होने वाले साहित्य के आचार्यों ने सूक्ष्म विवेचन, विश्लेषण तथा चिन्तन की वह विशेषता नही दिखाई पडती जो पूर्ववर्ती आचार्यों मे थी।

इस युग के प्रमुख ग्रन्थ कुवलयानन्द रस तरगिणी, रस मजरी आदि ही थे। इन ग्रन्थो मे मौलिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन नही मिलता। इनका लक्ष्य सक्षिप्त और सरल शैली मे विविध अगोपागो का वर्णन करना था। इन्ही के अनुकरण पर रीतिकालीन कवियो ने भी सूक्ष्म-विवेचन तथा खडन-मडन की प्रवृत्ति की उपेक्षा कर केवल अगो और उपागो के परिगणन की प्रवृत्ति को प्रश्रय दिया। परिगणन कार्य मे भी इन्होंने जितना महत्त्व बाह्य स्वरूप को दिया, उतना वास्तविक स्वरूप निरूपण को नही। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण रीतिकालीन नायिका भेद वर्णन है।

हिन्दी में नायिकाओ के जितने भेद मिलते है सस्कृत साहित्य मे उसके आधे भी नही। परन्तु हिन्दी के कवि नायिकाओ के वास्तविक स्वरूप का वर्णन नही कर सके है। कामशास्त्र मे दिए गए जाति भेद का विश्वनाथ ने सकेत भर किया था। केशव और देव ने उनके आधार पर अनेक उदाहरणो को प्रस्तुत कर उनका सम्यक विस्तार किया।

(ग) सस्कृत साहित्य का रीतिकाल समाप्त होते-होते टीका-टिप्पणियो का युग उदय हुआ। सस्कृत काव्यशास्त्र के विविध अगो पर विविध टीकाकारो ने अपने-अपने ढग पर टीकाएँ लिखी है। इसका परिणाम यह हुआ कि एक ही अग को भिन्न-भिन्न विद्वानो ने भिन्न-भिन्न ढग से समझाने की चेष्टा की है। इसके उदाहरणस्वरूप रस सूत्र की व्याख्या ली जा सकती है। डॉ० नगेन्द्र ने बहुत ही सही लिखा है कि "इन व्याख्याओ को पढ़कर कोई भी व्यक्ति सिद्धान्त विशेष के

ग्रन्थो मे शृगार रस के अग-प्रत्यगो का विस्तार से विवेचन किया गया है।

तीसरी शैली चन्द्रालोक एव कुवलयानन्द की है। कर्नेश का 'श्रुति भूपण' उसी शैली का था तथा जसवन्तसिह का 'भाषा-भूपण' भी इसी शैली मे लिखे गए ग्रन्थ है। इस शैली के लिखे गये ग्रन्थो मे सरल और सक्षिप्त ढग से काव्यागो का निरूपण किया गया है।

रीति-काल मे शैली की दृष्टि से एक चौथी शैली के ग्रन्थ भी मिलते हैं। इनमे मतिराम का 'ललित ललाम', भूषण का 'शिवराज भूपण' आदि प्रमुख हैं। इन ग्रन्थो में आचार्यत्व और अलकार-निरूपण को बहुत अधिक महत्त्व नही दिया गया है। यह ग्रन्थ बहुत कुछ लेखक की वैयक्तिक अनुभूतियो से प्रभावित है।

रीतिकाल मे एक पाँचवी शैली का निरूपण भी मिलता है। वह है चित्र-काव्य की। सेनापति आदि कुछ कवियो ने सुन्दर चित्र-काव्य भी लिखे हैं।

(७) भाषा—रीतिकाल मे भाषा का अच्छा विकास हुआ। उसमे भाव प्रमाणता, कोमलता और सजीवता आदि सभी बातो का समावेश हुआ। उसकी अभिव्यजना शक्ति भी बढी। परन्तु फिर भी इस काल की भाषा मे दोप प्रत्यक्ष दिखाई देते हे। व्याकरण की दृष्टि से रीतिकालीन भाषा दोषपूर्ण है। रीतिकालीन कवियो ने शब्दो को तोडने और मरोडने का भी प्रयत्न किया था। भाषा मे उर्दू और फारसी की रवानगी आई है। कभी-कभी इन उर्दू और फारसी के शब्दो को हिन्दी रूप दिया गया है। कुछ लोगो की भाषा पर उर्दू की 'इश्क' की शायरी की भापा की गहरी छाप दिखाई देती है। रसनिधि का 'रत्न हजारा' ऐसा ही ग्रन्थ है।

(८) दोष—रीतिकाल मे पुनरुक्ति दोष बहुत अधिक देखा जाता है। सभी कवियो ने वे ही नायिका-भेद, वही उपमान बार-बार मे थोडे-बहुत अन्तर के साथ दुहराये हैं।

(९) अभाव—रीतियुग मे नाटक और प्रबन्ध-काव्यो को लिखने की प्रवृत्ति विकसित नही हो पाई। नाटक तो बिलकुल ही नही लिखे गए। पद्य के विविध विधानो की भी उपेक्षा की गई। मौलिकता और नवीनता का भी इन कवियो मे सर्वत्र अभाव दिखाई पडता है।

(१०) छन्द—इन कवियो ने अधिकतर दोहा, सवैया, कवित्त आदि छन्दो मे ही अपनी रचनाएँ लिखी हैं। यह छन्द मुक्तक काव्य के लिए उपयुक्त भी थे।

आधुनिक हिन्दी कविता का विकास-क्रम

आधुनिक हिन्दी कविता ब्रज और खडी दोनो भाषाओ में मिलती है। ब्रज-भापा की गति बहुत मथर रही है और अब तो लुप्तप्राय हो चली है। वर्तमान-युग मे खडी बोली कविता का ही प्रचार और प्रसार है।

ब्रजभापा की आधुनिक कविता का सक्षिप्त विकास

पुराने ढग के ब्रजभापा के कवियो मे महाराज रघुराजसिह, राजा लक्ष्मण सिंह, नवनीत चौवे आदि प्रमुख हैं। इन्हे मैं रीतिकालीन परम्परा के ही कवि मानता

हैं। पण्डित प्रतापनारायणजी समस्या-पूर्ति और शृगारिक ढग की कविता बहुत अच्छी करते थे। उपाध्याय बद्रीनारायणजी अपनी कजली और धौली के लिए साहित्यिकों मे अब तक प्रसिद्ध है। पण्डित अबिकादत्त व्यास भी समस्या-पूर्ति की ढग की कविताओ मे ही रुचि रखते थे। हरिऔधजी ने भी पहले पुराने ढग की ब्रजभाषा की कविताएँ ही लिखी थी। श्रीधर पाठक ने भी कुछ कविताएँ ब्रजभाषा मे लिखी थी। किन्तु उधर उनकी रुचि जम न सकी। आधुनिक ब्रजभाषा कवियो मे सबमे महत्त्वपूर्ण स्थान बाबू जगन्नाथप्रसाद रत्नाकर का है। इनकी प्रारम्भिक रचना 'हिण्डोला' है। इसके अतिरिक्त रत्नाकर की 'गगावतरण' और 'उद्धवशतक' नामक रचनाएँ हिन्दी साहित्य की अनुपम विभूति है। इनकी जैसी सूझ और सरसता ब्रज-भाषा के प्राचीन कवियो तक मे नही मिलती। श्री वियोगी हरि जी भी ब्रजभाषा के अनन्य भक्त है। उन्होने ब्रजभूमि, ब्रजभाषा और ब्रजपति की आराधना करना ही अपना लक्ष्य बना रखा है। 'प्रेमशतक', 'प्रेमपथिक', और 'प्रेमाजलि' इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ है। इनकी 'वीर सतसई' को तो विशेष सम्मान मिला है। ब्रजभाषा की आधुनिक रचनाओ मे 'दुलारे दोहावली' का भी एक विशिष्ट स्थान है। आपको अपनी इस रचना पर टीकमगढ राज्य से २०० रु० का पुरस्कार मिला था। रामनाथ ज्योतिषी ने 'रामचन्द्रोदय' नामक काव्य लिखा है। इस पर उन्हे देव पुरस्कार प्राप्त हुआ है। इन कवियो के अतिरिक्त नाथूरामशकर शर्मा, लाला भगवानदीन आदि के नाम भी उल्लेखनीय है। इन्होंने भी ब्रजभाषा मे सुन्दर रचनाएँ लिखी थी।

आधुनिक खडी बोली हिन्दी कविता का विकास-क्रम

भारत मे अग्रेजी सत्ता के स्थापन के साथ-साथ हिन्दी कविता के क्षेत्र मे प्रगति के चिह्न दिखाई दिए। रीतिकालीन उमस से घुटते हुए कवि उसके कटघरे से बाहर निकलकर हवा मे साँस लेने के लिए तडप उठे। परिवर्त्तित परिस्थितियो ने उन्हें स्वच्छन्द विहार के लिए प्रेरणा प्रदान की। जिसके परिणामस्वरूप भारतीय कविता के प्रागण मे स्वच्छन्दतावाद नामक शिशु का जन्म हुआ। भारतेन्दु और उनके सहयोगियो की प्रतिभा से परिपालित होकर वह पनपने लगा। श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, मैथिलीशरण गुप्त आदि के सवर्धन मे वह पुष्टता को प्राप्त हुआ। छायावाद के सुकुमार प्रवर्त्तको ने उसमे तारुण्य का सचार किया। उस तारुण्य का विकास प्रगतिवाद के रूप मे हुआ और वह पूर्ण यौवन को प्राप्त हो गया। प्रयोगवादी युग मे आकर वह त्वर और उच्छृंखल हो उठा। निराला की प्रतिभा ने उसमे विचित्र निरालापन पैदा कर दिया, जिसको मर्यादित करने का प्रयास पन्त ने मानववाद की प्रतिष्ठा करके किया। इस स्वच्छन्दतावाद की सबसे प्रमुख विशेषता उसकी राष्ट्रीयता थी। यह राष्ट्रीयता शैशव से लेकर आज तक किसी न किसी रूप मे अभिव्यक्त होती रही है। समय-समय पर वह सास्कृतिक आदर्शो का अधिष्ठात्त भी बनता आया है। इतना सब होते हुए भी उसकी गतिविधि सदैव अनियन्त्रित

रही। उसकी रूपरेखा देश-काल के अनुरूप परिवर्तित होती रही और आज भी परिवर्तित हो रही है। उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यह है कि आधुनिक हिन्दी कविता मे निम्नलिखित प्रमुख धाराओ का उदय और विकास हुआ।

(१) राष्ट्रीय धारा, (२) रहस्यवादी और छायावादी धारा, (३) प्रगतिवादी धारा, (४) प्रयोगवादी धारा, तथा (५) नवीनतम प्रवृत्तियाँ।

(१) राष्ट्रीय धारा—हिन्दी की राष्ट्रीय कविता की धारा का उद्भव भारत मे ब्रिटिश सत्ता के बीजारोपण के साथ-साथ हो चला था। किन्तु तत्कालीन कविता और कवि तथा कला और कलाकार उसके महत्त्व को नही पहचान सके। परिणाम यह हुआ कि वह लोक-गीतो मे ही अपने को अभिव्यक्ति कर धीरे-धीरे पनपने लगी। सन् ५७ के भारतीय सिपाही विद्रोह ने इस लोक-गीतो में बहती हुई राष्ट्रीय भावना को एक नई चेतना प्रदान की और उसकी उस युग में विविधमुखी अभिव्यक्ति हुई। सन् ५७ का राष्ट्रीय गीत, जो राष्ट्रीय झण्डे की वन्दना के अवसर पर गाया जाता था, तत्कालीन राष्ट्रीय भावना का सुन्दर प्रतीक है। वह गीत इस प्रकार है—

"हम हैं इसके मालिक, हिन्दुस्तान हमारा।
पाक वतन है कौम का, जन्नत से भी प्यारा॥
यह है हमारी मिल्कियत, हिन्दुस्तान हमारा।
इसकी रूहानियत से, रोशन है जग न्यारा॥
कितना कदीम, कितना नईम, सब दुनियाँ से न्यारा।
करती है जरखेज जिसे, गगो जमन की धारा॥
ऊपर बर्फीला पर्वत पहरेदार हमारा॥
नीचे साहिल पर बजता सागर का नक्कारा।
इसकी खानें उगल रही हैं सोना हीरा पारा॥
इसकी शाने-शौकत का दुनियाँ मे जयकारा॥
आया फिरगी दूर से, ऐसा मतर मारा।
लूटा दोनों हाथों से, प्यारा वतन हमारा॥
आज शहीदों ने है तुमको अहले वतन ललकारा।
तोडो गुलामी की जजीरें, बरसाओ अंगारा॥
हिन्दु मुसलमान सिख हमारा भाई भाई प्यारा।
यह है आजादी का झडा, इसे सलाम हमारा॥

सिपाही विद्रोह के पश्चात् भारतीय राष्ट्रीय भावना विविध लोक-गीतों के रूप मे फूट निकली। विविध प्रान्तीय भाषाओ मे स्थानीय राष्ट्रीय वीरो के शौर्य गीत जनता की जिह्वा पर अब भी सुरक्षित मिलते हैं।

हिन्दी साहित्य मे राष्ट्रीय भावना का प्रथम स्फुरण हमे भारतेन्दु बाबू मे मिलता है। उनकी निम्नलिखित पक्तियो ने जडो के हृदय मे प्रसुप्त राष्ट्रीय भावना को जागृत कर दिया।

"आवहु सब मिलि रोवहु भारत भाई।
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई॥"

भारतेन्दु के समसामयिक प्रतापनारायण मिश्र की वाणी मे भी हमे राष्ट्रीय भावना की जागृति का संकेत मिलता है। उनकी निम्नलिखित घोषणा उनकी राष्ट्रीय भावना का ही द्योतक है—

"सब मिल बोलो एक जबान, हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान।"

भारतेन्दु के अन्य सहयोगियो मे भी हमे राष्ट्रीय भावना के यत्र-तत्र दर्शन हो ही जाते हैं।

भारतेन्दु-युग के पश्चात् राष्ट्रीयधारा मे एक नई मोड़ दिखाई दी। उसका श्रेय लोकमान्य तिलक को दिया जा सकता है। उनकी प्रेरणा से उसमे क्रान्ति की हल्की-हल्की चिगारियाँ दिखाई देने लगी। इन चिगारियो का पूर्ण प्रस्फुटन हो भी नही पाया था कि भारतीय राजनीति ने अहिंसा के पुजारी महात्मा गाधी का पदार्पण हो गया। उनके अलौकिक व्यक्तित्व की छाप भारत की राजनैतिक, सास्कृतिक, धार्मिक सभी दिशाओ मे स्पष्ट रूप से प्रतिविम्बित हो गई। उनके इस व्यापक व्यक्तित्व का प्रभाव हिन्दी कविता पर भी पडा और उसने एक नई करवट ली। वह करवट थी गाधीवादी विचारधारा की। इसमे कोई सन्देह नही कि गाधीजी के प्रभाव से वह क्रान्ति-भावना, जो तिलक का अवलम्ब पाकर उद्दीप्त हो रही थी, थोडी मद पड़ गई। किन्तु कुछ ही दिन वाद सरदार भगतसिह, चन्द्रशेखर आजाद जैसे क्रान्तिकारी युवको का आश्रय पाकर वह फिर विस्फुटित होने लगी। नेताजी के महत्त्वपूर्ण उदय और विकास ने उसको पूर्ण वल प्रदान किया और वह गाधीवादी धारा के सदृश ही दृढता के साथ विकसित होने लगी। इस प्रकार हम देखते है कि हिन्दी कविता की राष्ट्रीय भावना की दो स्पष्ट धाराएँ हैं। एक गाधी-वादी और दूसरी क्रान्तिवादी—

गाधीवादी धारा—भगवान् वुद्ध के वाद सम्भवत गाधी के सदृश व्यक्तित्व वाला और दूसरा महापुरुष भारत भूमि पर अवतरित नही हुआ। यदि हम उन्हें भगवान् वुद्ध का अवतार मान लें तव भी अनुपयुक्त न होगा। क्योकि दोनो के लक्ष्य और सिद्धान्त लगभग समान ही हैं। सच तो यह है कि गाधीजी ने वुद्ध विचार धारा को ही युग के अनुरूप मौलिक रूप मे प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। गाधीजी की विचारधारा के प्राणभूत तत्त्व तीन हैं।

(१) सत्याग्रह, (२) अहिंसा, तथा (३) हिन्दू-मुस्लिम एकता।

इनसे सम्वन्धित सभी कविताएँ गाधीवादी राष्ट्रीय कविताओ की श्रेणी मे रखी जायेंगी। इस गाधीवादी राष्ट्रीय धारा के प्रधान कवि निम्नलिखित है—

मैथिलीशरण गुप्त—गाधीवादी विचारधारा का सर्वप्रथम प्रतिध्वनन हमे मैथिलीशरण मे मिलता है। उनके 'अनघ' मे हमे अहिंसावाद, लोक-सेवा अदि गाधी-वादी सिद्धान्तो की सुन्दर अभिव्यक्ति मिलती है। 'हिन्दू' और 'सिद्धराज' मे हमे हिन्दू-मुस्लिम एकता का सदेश मिलता है। वह 'हिन्दू' मे लिखते है—

"हिन्दू मुसलमान दोनो अब छोडे वह विग्रह की नीति।"

इसी प्रकार 'सिद्धराज' मे भी एक स्थल पर लिखा है—

"भारत माता का वह मन्दिर, नाता भाई भाई का,
समझे माँ की प्रसव वेदना, वही लाल है माई का।"

इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर लिखा है—

"अब धर्म के नाम पर कलह भली नहीं।"

मैथिलीशरण गुप्त ने हमे सत्याग्रह की भावना का भी पोषण मिलता है। बारडोली के सत्याग्रह के अवसर पर लिखी गई उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ चिरस्मरणीय रहेगी।

"ओ विश्वस्त बारडोली ओ भारत की थरमापोली,
नहीं नहीं फिर भी सशस्त्र थी ग्रीक सैनिको की वह टोली।
उठी नहीं तू जोकि बुरा है उसे नष्ट कर देने को,
तुली हुई है किन्तु बुरे को स्वंय भला कर लेने को।"

सियारामशरण गुप्त—मैथिलीशरण गुप्त के अनुज सियारामशरण भी अपने अग्रज के सदृश ही गाधीवादी कवि हैं। उनकी 'नोआखाली' और 'जयहिन्द' शीर्षक कविताएँ लोक-प्रसिद्ध है। इनमे अहिंसा और शान्ति की भावनाओ को ही सर्वत्र प्रश्रय दिया गया है। कवि प्रतिहिंसा की भावना के सदैव विरोध मे रहा है। नोआखाली के हत्याकाण्ड की प्रतिक्रिया के रूप मे उद्भूत बिहार के हत्याकाण्ड के सम्बन्ध मे कवि ने लिखा है—

"बोधि तीर्थ तू द्रोहानल में यह ईंधन मत डाल।"

माखनलाल चतुर्वेदी—गाधीवादी विचारधारा के पोषको मे माखनलाल चतुर्वेदी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गाधी के सदृश यह भी आत्म-बलिदान मे विश्वास करते थे। इनकी 'पुष्प की अभिलाषा' शीर्षक कविता मे इनके राष्ट्रीय भावो का स्वरूप बहुत स्पष्ट है। आत्म-बलिदान को यह कितना महत्त्व देते थे, यह बात उनकी निम्नलिखित पक्तियो से स्पष्ट प्रकट है—

"सूली का पथ ही सीखा हूँ, सुविधा सदा बचाता आया।
मैं बलि-पथ का अंगारा हूँ, जीवन-ज्वाल जगाता आया॥"

सुमित्रानन्दन पन्त—पन्त जी की 'ग्राम्या' और 'खादी के फूल' शीर्षक रचनाओ मे हमे गाधीवादी विचारधारा के स्पष्ट दर्शन होते है। महात्मा गाधी के सम्बन्ध मे श्रद्धात्मक विचार प्रकट करते हुए वे लिखते हैं—

"प्रथम अहिंसक मानव बन कर, तुम आए हिंस धरा पर।
मनुज बुद्धि को मनुज हृदय के, स्पर्शो से सस्कृत कर॥
निबल प्रेम को भाव गगन मे, निर्मम धरती पर धर।
जन-जीवन के बाहु पाश में, तुम बाँध गए दृढतर॥
द्वेष घृणा के कटु प्रहार सहकर करुणा के प्रेमोत्तर।
मनुज सहस्र के गर्त विधान को, बदल गए हिंसा हर॥"

सोहनलाल द्विवेदी—इनके 'सेगांव का सन्त' और 'वासवदत्ता' शीर्षक रचनाओं मे गाधीवादी विचारधारा की सम्यक् अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती है। गांधीवादी विचारधारा से अनुप्राणित उनका यह गीत बहुत ही मधुर प्रतीत होता है—

"वन्दना के इन स्वरो में
एक स्वर मेरा मिलालो।
वन्दनी माँ को न भूलो
राग मे तुम न भूलो
अर्चना के रत्नकरण में
एक कण मेरा मिला लो।
वन्दना के इन स्वरों में
एक स्वर मेरा मिला लो।
हों जहाँ बलि शीश अगरिणत
एक सिर मेरा मिला लो।
वन्दना के इन स्वरों में
एक स्वर मेरा मिला लो॥"

अहिंसात्मक युद्ध के लिए कवि कवि की एक ललकार भी दर्शनीय है—

"न हाथ एक शस्त्र हो
न हाथ एक अस्त्र हो
न अन्न वीर वस्त्र हो
हटो नहीं, हटो नहीं, हटो नहीं।"

दिनकर—दिनकर यद्यपि क्रान्ति के कवि है, किन्तु उनकी क्रान्ति कही-कहीं गाधीवादी विचारधारा से प्रभावित हो गई है। वे व्यक्ति के लिए तो धर्म, तप, करुणा, क्षमा आदि उदार वृत्तियो को गाधीजी के सदृश ही आवश्यक समझते थे। किन्तु समुदाय के लिए वे युद्ध करना ही श्रेयस्कर मानते थे।

उपर्युक्त ढग की गाधीवादी सिद्धान्तो को लेकर चलने वाली कविताओं के अतिरिक्त हमे हिन्दी मे और भी कई प्रकार से राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति मिलती है। जैसे मातृभूमि के दैवीकरण के रूप मे, मातृभूमि की वदना के रूप मे, मातृभूमि की महिमा के रूप मे।

मातृभूमि के दैवीकरण के रूप में—हिन्दी कवियो ने मातृभूमि का दैवीकरण तीन रूपो मे किया है—(क) विराट स्वरूप का दैवीकरण, (ख) उसके सामान्य रूप का दैवीकरण, तथा (ग) आरती शैली मे दैवीकृत रूप का वर्णन। प्रथम कोटि के उदाहरण मैथिलीशरण गुप्त और प्रसाद आदि कवियो मे बहुत मिलते हैं। गुप्त जी का निम्नलिखित गीत विशेष प्रसिद्ध है—

"नीलाम्बर परिधान हरित सुन्दर हैं
सूर्य चन्द्र मेखला रत्नाकर है॥" इत्यादि

दूसरी कोटि के गीतो मे मातृभूमि को देवी के रूप मे कल्पित किया गया है और स्तोत्रो के रूप मे उनकी वन्दना की गई है। श्रीधर पाठक के बहुत से गीत इसी शैली मे लिखे गए हैं। तीसरी कोटि के दैवीकरण सम्बन्धी गीत आरती शैली के दिखाई पडते है। इनकी ताल, लय और स्वर-लहरी बिलकुल आरती के ढग पर हुआ करती है।

अतीत के गौरव-गान के रूप म—इस प्रवृत्ति का उदय भारतेन्दु-युग मे ही हो चला था। 'भारत-दुर्दशा' में अतीत के गौरव-गान की प्रवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित होती है। मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती मे अतीत का गौरव-गान ही गाया गया है। रामचरित उपाध्याय और रामनरेश त्रिपाठी के कुछ गीतो मे भी हमे अतीत के गौरव-गान की प्रवृत्ति स्पष्ट दिखलाई पडती है।

सामान्य वन्दना के रूप में—बहुत सी राष्ट्रीय रचनाएँ राष्ट्र महिमा के वर्णन से सम्बन्धित है। पन्त की 'ज्योतिभूमि जय भारत देश', प्रसाद का 'अरुण वह मधु-मय देश हमारा' शीर्षक रचनाएँ इसी कोटि की हैं। गाधीवादी विचारधारा की अभिव्यक्ति हमे कुछ प्रबन्ध-काव्यो अथवा महाकाव्यो मे भी मिलती है। 'साकेत सन्त', 'आर्यावर्त्त कुरुक्षेत्र', 'कृष्णायन', 'जय काश्मीर', 'जन नायक' तथा 'महामानव' आदि महाकाव्यो मे हमे गाधीवादी विचारधारा और राष्ट्र-वर्णन के बहुत से उदाहरण मिलते है। यहाँ पर स्थानाभाव के कारण उन सब का निर्देश नही किया जा सकता।

आज के कवि भी गाधीजी की वर्षगाँठ आदि के अवसर पर गाधीवादी राष्ट्रीय भावना को पुनर्जीवित करते रहते हैं। गाधीजी की वर्षगाँठ के अवसर पर लिखी गई पद्मसिह शर्मा कमलेश की निम्नलिखित पक्तियाँ इसका प्रमाण है—

"ओ भारत के भाग्य विधाता !
ओ जन-जन के जीवन दाता !
ओ पीडित दलितों के त्राता !
ओ करुणा के सिन्धु ॥
अहिसा का व्रत लेने वाले,
सत्यप्रीति की न्याय नीति,
श्रद्धा सयत शुभ प्रतीति की,
प्रज्वलित मशाल लेकर कर में,
पशुता के तम से आच्छादित,
जग-पथ को आलोकित करने वाले,
इस स्वतन्त्र भारत भारत में
आज तुम्हारी वर्ष गाँठ है।

हिन्दी साहित्य की क्रान्तिवादी धारा—हिन्दी के राष्ट्रीय कवियो का एक वर्ग क्रान्ति का सदेश देने में अनवरत प्रयास करता आया है। इस वर्ग के प्रमुख कवि निराला, सुभद्राकुमारी चौहान, सोहनलाल द्विवेदी, उदयशकर भट्ट, नवीन,

श्यामनारायण पाण्डेय, दिनकर, अचल, भरत व्यास, सुधीन्द्र, श्यामलाल पार्षद, कमल साहित्यालकार, ईश कुमार।

निराला—निरालाजी मूलत दर्शन और रहस्यवाद के निराले कवि हैं, किन्तु उनकी आत्मा राष्ट्रीय चेतना-विहीन नही है। उन्होंने अपनी कविताओ मे बहुत से स्थलो पर जागरण का सन्देश दिया है। उनकी 'जागो फिर एक बार' शीर्षक कविता काफी ओजपूर्ण है। 'जयसिह के प्रति' तथा 'शिवाजी के प्रति' शीर्षक कविताएँ भी कम क्रान्तिपूर्ण नही हैं। हिन्दी मे क्रान्तिवादी धारा का बीजारोपण करने वाले कवियो मे आप अग्रगण्य हैं।

सुभद्राकुमारी चौहान—सुभद्राकुमारी चौहान की 'झाँसी की रानी' शीर्षक रचना इतनी ओजपूर्ण है कि उससे क्रान्ति की चिनगारियाँ निकलने लगी हे। निम्न प्रकार की पंक्तियाँ पढकर किसका रक्त नही खौल उठता है।

"हर बोला बुन्देलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥"

सोहनलाल द्विवेदी—सोहनलाल द्विवेदी गाधीवादी राष्ट्रीय धारा के एक महान् कवि हैं। किन्तु उनकी वाणी मे बहुत स्थलो पर क्रान्तिमय ओज भाव की धार्मिक अभिव्यक्ति भी मिलती है। एक उदाहरण से कथन की सार्थकता प्रकट हो जायगी—

"न हाथ एक अस्त्र हो,
न हाथ एक शस्त्र हो,
न अन्त वीर वस्त्र हो,
हटो नहीं, हटो नहीं।

उदयशकर भट्ट—आप मूलत. नाटककार हैं, किन्तु आपने कुछ क्रान्त्योदीपक कविताएँ भी लिखी हैं। एक उदाहरण इस प्रकार है—

"गरजे बादल से आजादी
बिजली में स्वर आजादी का।
× ×
हम आजादी के दीवाने
परतन्त्र रहेंगे कभी नहीं।"

नवीन—नवीनजी वैसे तो प्रेम और सौन्दर्य के कवि हैं, किन्तु उनकी आत्मा राष्ट्रीय रग से रगी हुई है। राष्ट्रीय रग से रगी हुई उनकी आत्मा कभी-कभी क्रान्ति का आवाहान करने के लिए तडप उठी है। उनका 'विप्लव गान' शीर्षक कविता इस दृष्टि मे बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसकी कुछ पक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ,
जिससे उथल-पुथल मच जाए।
एक हिलोर इधर से आए,
एक लहर उधर से आए,

प्राणों के लाले पड जाएँ
त्राहि ! त्राहि ! रव नभ मे छाए ॥"

आपकी कविताओ मे इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते है।

श्यामनारायण पाण्डेय—सुभद्राकुमारी चौहान के सदृश श्यामनारायण पाण्डेय ने भी इतनी ओजपूर्ण कविताएँ रची हुई हैं कि उनसे क्रान्ति की चिनगारियाँ निकलने लगी हैं। उनकी 'हल्दी घाटी' और 'जौहर' दोनो मे क्रान्ति की ज्वाला धधक रही है। उनके उद्धरण जन-जन की जिह्वा पर ताण्डव करते रहते हैं। अत यहाँ पर उनके उदाहरण नही दिए जा रहे है।

दिनकर—दिनकर को मै क्रान्ति का अग्रदूत मानता हूँ। उनकी वाणी मे एक क्षत्रिय का प्रबल ओज है। देखिए दो पक्तियो मे ही कितना बल है—

"सुनूँ क्या सिन्धु मैं गर्जन तुम्हारा,
स्वय युग-धर्म की हुँकार हूँ मैं।"

उनका 'कुरुक्षेत्र' नाम का काव्य ओजपूर्ण उदाहरणो से भरा पडा है। उनकी 'मेरे नगपति मेरे विशाल' शीर्षक कविता भी क्रान्ति का सदेश वहन किए हुए है।

अञ्चल—अञ्चल मूलत शृगार और विलास के तरुण कवि हैं, किन्तु उनकी वृत्ति मधुर और कोमल रूपो मे ही अधिक रमी है। किन्तु क्रान्ति देवी के वीर रूप की भी वे उपेक्षा नही कर सके। यही कारण है कि उन्होने जिस तन्मयता से शृगार की कविताएँ लिखी हैं, उसी लगन के साथ क्रान्ति का डका भी पीटा है।

भरत व्यास—यद्यपि आपने हिन्दी मे अधिक कविताएँ नही लिखी हैं, किन्तु जो लिखी है वे अपने ओजपूर्ण होने के कारण बहुत लोकप्रिय हो गई हैं। एक उदाहरण इस प्रकार है—

"आसमान ने देखा दो टुकडे होते पर न फटा वह।
अरे हिमालय नाक कटी पर पाव इंच भी नहीं कटा तू ॥" इत्यादि

इसी प्रकार की ओजपूर्ण इनकी अन्य कविताएँ है।

सुधीन्द्र—क्रान्तिपूर्ण कविता लिखनेवालो मे कविवर सुधीन्द्र का नाम अग्रगण्य है। उनकी 'जलियानवाला बाग' शीर्षक कविता अपनी क्रान्ति एव ओज के कारण बहुत लोकप्रिय रही है।

कमल साहित्यालकार—सौन्दर्य-प्रिय कमलजी बहुमुखी प्रतिभा के सरस कवि हैं। आप एक विस्तृत साहित्य के स्रष्टा है। दो दर्जन के आस-पास पुस्तकें मेरे देखने मे आई है। आपने काव्य, नाटक, उपन्यास, आलोचना आदि सभी क्षेत्रो को अपनी प्रतिभा से चमत्कृत करने का प्रयास किया है। आपकी राष्ट्रीय रचनाएँ भी बहुत ओजपूर्ण और प्रभावोत्पादक हैं। प्रसिद्ध 'क्रान्ति-दीप' नामक रचना मे आपकी राष्ट्रीय कविताएँ ही सग्रहीत है। इसकी कुछ कविताएँ बहुत ही क्रान्तिपूर्ण और ओजस्विनी हैं। दो-तीन पक्तियाँ उदाहरण रूप मे दे देना अनुपयुक्त न होगा—

"आगे कदम बढा तुझे राणा की कसम है।
देना न कभी पीठ मराठे की रसम है।
कोई नहीं जो साथ तो ईश्वर तो है तेरा।"

श्यामलाल पार्षद—आपने अनेक राष्ट्रीय कविताओ का प्रणयन किया है, किन्तु आपको ख्याति प्रदान करने का श्रेय आपकी 'झंडा ऊँचा रहे हमारा' शीर्षक कविता को हो। यह कविता किसी समय बच्चे-बच्चे के मुँह पर थी। इस राष्ट्रीय गान के अतिरिक्त शायद ही कोई राष्ट्रीय रचना इतनी अधिक लोकप्रिय हुई हो।

ईशकुमार—आपकी राष्ट्रीय कविताओ मे ओज की मात्रा बहुत अधिक है। एक उदाहरण है—

"कौन चुनौती देता है रे सागर के उस पार से?
अरे हिमालय हिल न सकेगा कहना यों ललकार कर॥
झेल सकोगे नहीं वार तुम भारत की तलवार के।
गोरापन सब खो जाएगा काले की फुफकार से॥"

उपर्युक्त कवियो के अतिरिक्त और भी अनेक कवियो ने इस धारा का पोषण किया है। क्रान्ति भाव की अभिव्यक्ति हमे चित्रपट के गीतो मे भी मिलती है।

एक गीत के कुछ अश उद्धृत कर देना अनुचित न होगा—

"दूर हटो ए दुनिया वालो हिन्दुस्तान हमारा है।
जो भीख माँगने से घर-घर,
आजादी मिलती हो दर-दर।
लानत ऐसी आजादी पर,
ओ वीरो की सतान!
देश को तीरों से सींची।"

हिन्दी कविता में नव-निर्माण का सदेश देने वाली विचारधारा—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद मे ही हिन्दी की राष्ट्रीय कविताओ का स्वर बदलने लगा। गाधीवादी और क्रान्तिवादी विचारो का प्रचार करने के स्थान पर वह नव-निर्माण का सदेश देने मे ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझने लगी है। नव-निर्माण का सदेश वहन करने वाले कवियो ने सर्वप्रथम स्वतन्त्रता के शुभागमन का स्वागत किया और जन-जागृति का सदेश दिया। कमल साहित्यालकार लिखते हैं—

"आज जागृत द्वारा तेरे हँस रहा है दिवस माली।
देश आँगन में अरे उसने सुनहली किरण डाली॥
माँगने तुझ से अनिद्रित और जागृति दान आया,
सो रहा रे मूर्ख तुझ पर हँस रही तव मूक छाया॥" —क्रान्ति-दीप

इसी प्रकार सोहनलाल द्विवेदी ने लिखा है—

"लो स्वतन्त्रता की अरुण उषा है लगी क्षितिज पर मुसकाने,
जो सपने थे जीवन के वे लगे सत्य बन इठलाने।

तृण-तृण मे आज नया उत्सव,
मगलमय नव शृंगार लिए ॥

इतना कहने के बाद कवि कहता है—

"अब सृजन करो अपने मन का भव
ले वैभव के सुख साधन !"

इसी प्रकार का उद्बोधन कमल साहित्यालकार ने किया है—

"नव-निर्माण करो हे।
इस भूतल को स्वर्ग बना दो, मानव कुल के भाग्य जगा दो।
अधकारमय जीव पुरातन, कलुष दासता दूर भगा दो।
जग को साहस बल सहचर दे अपना त्राण करो हे।
नव-निर्माण करो हे।

कवियो और नेताओ की प्रेरणा से इस प्रकार के उद्घोषणो के फलस्वरूप मुरझाई हुई धरती तो हरी हो गई किन्तु मानव-मन को हरी करने वाली नैतिक चेतना की जागृति नही हुई। रामावतार त्यागी लिखते हैं—

"मुरझाई हुई धरती हरी हुई।
रीती गगरिया भरी हुई,
अम्बर पर बौराई बदली,
झूले पर लहराई कजली।
जो मेरे मन पर लहराया,
वह गीत अभी तक अनगाया।"

नेहरू तथा सन्त विनोबा ने मानव-मन की नैतिक चेतना को हरा करने के साधन भी ढूँढ निकाले हैं। वे साधन थे पचशील तथा सर्वोदय के। बस फिर क्या था, कवियो ने अपने गीतो मे उसका गौरव गान शुरू कर दिया। सुमित्राकुमारी सिन्हा लिखती हैं—

"वर्षगाँठ है मुक्ति-दूत की,
सुखश्री मिल आरती उतारो।
पचशील फूलों की माला,
विश्व-शान्ति का पट पहनाओ।
सर्वोदय का मुकुट शीश पर,
लोक-प्रीति की गध बसाओ।

इसी प्रकार आज का कवि पुकार रहा है—

"शान्ति चाहिए शान्ति चाहिए रजत आकाश चाहिए,
मानव हो मानव वह महत प्रकाश चाहिए ॥—पत

यह शान्ति तब तक सम्भव नही है जब तक नेह की नई किरण मे मन के दीप नही जलाए जाते। उदीयमान कवि शान्तिस्वरूप लिखते है—

"इन माटी के दीपों की दीवाली कितने दिन।
दीप जगाने हैं तो मन जीवन के दीप जगा
नेह की नई किरन बिखरा।"

मानव इस प्रकार के उद्बोधनो से प्रभावित होकर रामराज्य की स्थापना में सलग्न हो गया है। जिसके फलस्वरूप निराशा का अधकार दूर हो गया है। और नव आशा का सचार हो चला है—

"हट गई हैं व्योम से अब कालव्याली सी घटाएँ।
कोटि कंठो से तुम्हारे राम के गीत गाएँ।" —क्रान्ति-दीप

छायावाद

द्विवेदीकालीन इतिवृत्तात्मक हिन्दी कविता की प्रतिक्रिया के रूप मे छायावाद का उदय हुआ। प्रसाद, पन्त, निराला आदि महाकवियो की छत्रछाया मे वह अपने विकास की पराकाष्ठा पर पहुँच गया। इसका उदय और विकास काल स्थूल रूप से १९१० से लेकर १९३७ के बीच माना जा सकता है।

छायावाद के स्वरूप तथा उसकी परिभाषा के सम्बन्ध मे विद्वानो में मतभेद है। यहाँ पर कुछ प्रसिद्ध विद्वानो के दृष्टिकोणो का स्पष्टीकरण कर देना चाहते है। सबसे प्रसिद्ध मत आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का है। उन्होने छायावाद को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों मे समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ मे, जहाँ उसका सम्बन्ध काव्य वस्तु से होता है, अर्थात् जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा मे प्रेम की अनेक प्रकार की व्यजना करता है। रहस्यवाद के अन्तर्भूत रचनाएँ पहुँचे हुए पुराने सन्तो या साधको की उस वाणी के अनुकरण पर होती है, जो तुरीयावस्था या समाधि-दशा मे नाना रूपको के रूप में उपलब्ध आध्यात्मिक ज्ञान का आभास देती हुई मानी जाती थी। इस रूपात्मक आभास को यूरोप मे छाया फैन्टासमा कहते थे। इसी से बगाल मे ब्रह्म समाज के बीच उक्त वाणी के अनुकरण पर जो आध्यात्मिक गीत या भजन बनते थे, वे छायावाद कहलाने लगे। धीरे-धीरे यह शब्द धार्मिक क्षेत्र से वहाँ के साहित्य-क्षेत्र मे आया। फिर रवीन्द्र बाबू की धूम मचने पर हिन्दी के साहित्य-क्षेत्र मे भी प्रकट हुआ।" उपर्युक्त उद्धरण के आधार पर स्पष्ट कहा जा सकता है कि शुक्लजी छायावाद शब्द को दो अर्थो मे ग्रहण करते थे, एक रहस्यवाद के अर्थ मे, और दूसरे काव्य-शैली या पद्धति विशेष के व्यापक अर्थ मे। उन्होने अन्य स्थलो पर छायावाद शब्द का प्रयोग कही रहस्यवाद के पर्याय के रूप मे किया है और कही काव्य शैली के अर्थ मे। एक स्थल पर उन्होने लिखा है—"यह (छायावाद) काव्यगत रहस्यवाद के लिए गृहीत दार्शनिक सिद्धान्त का द्योतक शब्द है।" इसी प्रकार छायावाद को काव्य-शैली के अर्थ मे प्रयुक्त करते हुए वे लिखते हैं—"छायावाद शब्द का दूसरा प्रयोग काव्य-शैली या पद्धति विशेष के व्यापक अर्थ मे है। सन् १८८५ में रहस्यवादी कवियो का एक दल

खड़ा हुआ जो प्रतीकवादी कहलाया। वे अपनी रचनाओं में प्रस्तुत के स्थान पर अधिकतर अप्रस्तुत को लेकर चलते थे। इसी से उनकी शैली की ओर लक्ष्य करके प्रतीकवाद शब्द का व्यवहार होने लगा। आध्यात्मिक या ईश्वर प्रेम सम्बन्धी कविताओं के अतिरिक्त और सब प्रकार की कविताओं के लिए भी प्रतीक शैली की ओर वहाँ प्रवृत्ति रही। हिन्दी में छायावाद शब्द का जो व्यापक अर्थ में—रहस्यवादी रचनाओं के अतिरिक्त और प्रकार की रचनाओं के सम्बन्ध में भी—ग्रहण हुआ, वह इसी प्रतीक शैली के अर्थ में। छायावाद का सामान्यतया अर्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन। इस शैली के भीतर किसी वस्तु या विषय का वर्णन किया जा सकता है। इस प्रकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद के उभयात्मक स्वरूप को अच्छी प्रकार से समझाने की चेष्टा की है। किन्तु उनके मत में एक बात स्पष्ट नहीं हो पाई है। वह यह कि जब छायावाद कहीं रहस्यवाद का पर्यायवाची बनकर प्रयुक्त हुआ तो फिर रहस्यवाद के लिए इस नये अभिधान की आवश्यकता ही क्या थी। जब हमारा कार्य रहस्यवाद शब्द से बराबर चलता आया था तो फिर उसके पर्याय के रूप में छायावाद का नया शब्द प्रयुक्त करना कहाँ तक औचित्यपूर्ण है। हमारी समझ में छायावाद शुद्ध रहस्यवाद का पर्यायवाची नहीं माना जा सकता। उसे हम अधिक से अधिक रहस्यवाद का विकसित और परिष्कृत रूप कह सकते हैं। जहाँ तक दूसरे अर्थ की बात है, उस सम्बन्ध में भी हमें आपत्ति है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि छायावाद के स्वरूप से अपरिचित लोग कोरे शैलीगत चमत्कार के लिए भी छायावाद शब्द का प्रयोग करने लगे थे। किन्तु इस प्रकार का प्रयोग भ्रान्तिमूलक था। आचार्यों के द्वारा छायावाद शब्द का वह समुचित अर्थ स्वीकार नहीं किया जा सकता। कोरे शैलीगत चमत्कार के लिए हम विकृत छायावाद शब्द का प्रयोग कर सकते हैं। उसे हमारी समझ में छायावाद का अभिधान नहीं दिया जाना चाहिए।

छायावाद के सम्बन्ध में प्रसादजी का मत भी विचारणीय है। उन्होंने शुक्लजी से भी अधिक दूर की कौड़ी फेंकने की चेष्टा की है। उन्होंने उसका प्रयोग "अर्थ की वक्रता से आने वाली छाया या कान्ति" के अर्थ में किया है। इसके लिए उन्हें प्राचीन छाया या विच्छित्ति सम्प्रदाय की खोज करनी पड़ी थी। हमारी समझ में छायावाद का उदय छाया या विच्छित्ति की प्रेरणा से नहीं माना जा सकता। इस शब्द का विकास किन्हीं विशेष परिस्थितियों में स्वतन्त्र रूप से हुआ था। जिस समय इसका विकास हुआ था उस समय लोग भारतीय काव्यशास्त्र के छाया या विच्छित्ति नामक तत्त्व से परिचित भी नहीं थे। सामान्य विद्वानों के लिए वह आज भी बिलकुल नवीन वस्तु है।

छायावाद के सम्बन्ध में रामकुमार वर्मा का अपना दृष्टिकोण अलग है। उनके मतानुसार छायावाद रहस्यवाद की वह अन्तिम परमानन्दमय दशा है जहाँ आत्मा-परमात्मा में भेद नहीं रहता, तद्रूपता आ जाती है। परमात्मा की छाया आत्मा में पड़ने लगती है और आत्मा की छाया परमात्मा में। यही छायावाद है।

छायावाद की यह व्याख्या भी हमे स्वीकार नही है। वास्तव मे छायावाद और रहस्य-वाद के मौलिक अन्तरो में एक यह भी है कि रहस्यवाद अद्वैतमूलक होता है और छायावाद द्वैतमूलक। छायावाद मे आत्म या परमात्म तत्त्व के अतिरिक्त प्रकृति तत्त्व का स्वतन्त्र अस्तित्व रहता है। जीव इसी प्रकृति तत्त्व के माध्यम से उसकी झाँकी देखता है या फिर उस प्रकृति के दर्पण मे अपना प्रतिविम्ब देखकर मुग्ध हुआ करता है। इस प्रकार छायावाद को हम प्रकृति रूपी दर्पण पर प्रतिविम्बित होने वाली आत्मा परमात्मा, जीव या जगत्-गत छाया की कल्पनाप्रधान एव कलामय अभि-व्यक्ति कह सकते है। रहस्यवाद का स्वरूप इससे भिन्न होता है। रहस्यवाद मे प्रकृति दर्पण न होकर स्वय साधक होती है। उसमे जीव ही नही सम्पूर्ण प्रकृति भी उस अद्वैत से पूर्ण भावात्मक तादात्म्य के लिए तडपती चित्रित की जाती है। वास्तव में जीव और जगत् की उस परमात्मा के प्रति आत्म-समर्पण की भावना का भावात्मक इतिहास ही रहस्यवाद है। रहस्यवाद और छायावाद के अन्तर को यदि हम दार्श-निक शब्दो मे स्पष्ट करना चाहे तो पहले को हम विवर्तवाद के समकक्ष रखेगे और दूसरे को प्रतिविम्बवाद के अनुरूप मानेंगे। जो भी हो, छायावाद रहस्यवाद से सिद्धान्त, रूप और साधना सभी दृष्टियो से भिन्न होते हुए भी उसी का एक परि-वर्तित और विकसित रूप है। महादेवी वर्मा ने "छायावाद तत्त्वत प्रकृति के बीच जीवन का उद्गीत है", तथा पन्तजी ने "क्योकि उसके प्राकृतिक चित्रणो मे कवि की अपनी भावनाओ के सौन्दर्य की छाया है" लिखकर हमारी परिभाषा की अधिक स्वीकृति की है। यह दोनो जीव और जगत् के प्रतिविम्ब की बात कह के ही विरत हो गए है। किन्तु छायावाद प्रकृति रूपी दर्पण पर पडने वाली जीवन और जीव की छाया की ही कल्पनामय कलात्मक अभिव्यक्ति भर नही है, वह उस पर पडे हुए अध्यात्म के प्रतिविम्ब का प्रतीकात्मक एव लाक्षणिक रूप भी है। यहाँ पर प्रश्न उठ सकता है कि छायावाद अभिधान का प्रवर्त्तन कैसे हुआ। इस सम्बन्ध मे हमारा यही कहना है कि जिस समय रवीन्द्र बाबू ने उपनिषदिक रहस्यवाद को प्रकृति के माध्यम से कला और कल्पना के सहारे अभिव्यक्त करना प्रारम्भ कर दिया तो लोग उसे प्राचीन रहस्यवाद की छाया कहने के अभिप्राय से उसे छायावाद कहने लगे। 'रवीन्द्र बाबू को रहस्यवाद के इस परिवर्तित स्वरूप को ग्रहण करने की प्रेरणा भारतीय और पाश्चात्य दोनो साहित्य और दर्शनो से मिली थी। उन्होने औपनिष-दिक रहस्यवाद को पाश्चात्य प्रकृतिवाद, प्रतीकवाद, कलावाद, कल्पनावाद, चित्र-भाषावाद, अभिव्यंजनावाद आदि के माध्यम से अभिव्यक्त करने का प्रयास किया। छायावाद का प्राण भारतीय है और उसका शरीर पाश्चात्य।

प्रारम्भ में लोगो ने रवीन्द्र बाबू के अनुकरण की चेष्टा की। वे उनके छाया-वाद के स्वरूप के प्राण को नहीं समझ सके। वे उसके बाह्य शरीर को ही देखकर केवल कलागत, प्रतीकगत, शैलीगत, अभिव्यंजनागत, चमत्कारो की योजना मे ही छायावाद की इतिश्री समझने लगे। कुछ नौसिखिये कवि उनसे भी आगे बढे। वे काव्य-शैली के विविध वादों की अस्पष्ट अभिव्यक्ति को ही छायावाद कहने लगे। इन

भ्रान्ति ने हिन्दी काव्य क्षेत्र मे नकली छायावाद का प्रवर्तन कर दिया। लोग शैली मे अभिव्यक्त उक्तियो को छायावाद कहने लगे। इस प्रकार हिन्दी मे छायावाद दो अर्थों मे ग्रहण किया गया—विविध पाश्चात्य वादो के माध्यम से प्रकृति के आश्रय अभिव्यक्ति रहस्य-भावना के अर्थ मे तथा अस्पष्ट शैली मे अस्पष्ट भावो की अभिव्यक्ति के अर्थ मे। पहला रूप असली छायावाद का है और दूसरा नकली छायावाद का।

छायावाद की इतनी विवेचना करने के पश्चात् अब मै उसकी प्रमुख प्रवृत्तियो का उल्लेख करूँगा। छायावाद की प्रमुख प्रवृत्तियो का विवेचन सक्षेप मे इस प्रकार है—

आध्यात्मिकता—छायावाद भारत के भावात्मक रहस्यवाद का विविध पाश्चात्य साहित्यिक वादो के माध्यम से तथा प्रकृति के आश्रत्व से अभिव्यक्त होने वाला अभिनव रूपान्तर है। भारत के भावात्मक रहस्यवाद की आधारभूमि आध्यात्मिकता रही है। अत छायावाद की पृष्ठभूमि का भी आध्यात्मिक होना आवश्यक होता है। यही कारण है कि सच्ची छायावादी रचना की कोई दार्शनिक पृष्ठभूमि अवश्य होती है। उसकी शाश्वता और प्राणवत्ता का कारण उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि है। 'कामायनी' के इतने अधिक महत्त्व का कारण उसकी कोरी शैली नही, वरन् उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि है। 'आँसू' कोरा विरह-काव्य नहीं है, उसके मूल मे जीवन की शक्ति और शिव के प्रति अनन्य आत्म-समर्पण भरा पड़ा है। महादेवी की विरहानुभूति मे नारद की विरहासक्ति क्रियमाण है। निराला का सारा प्रयास जीव और ब्रह्म की एकता प्रतिपादन मे दिखाई पडता है। जिस छायावादी कविता के मूल मे कोई दार्शनिक सिद्धान्त नही रहता, उसे छायावाद की नकल ही समझना चाहिए।

रहस्य-भावना का आरोप—सच्चे छायावाद मे रहस्य-भावना का आरोप अवश्य रहता है। रहस्य-भावना उस रहस्यमय की अनुभूति को कहते है। छायावाद मे उस रहस्यमय की अनुभूति का किसी न किसी रूप मे प्रतिष्ठित होना बड़ा आवश्यक होता है। रहस्यमय की अनुभूति की प्रतिष्ठा कई प्रकार से हो सकती है।

आध्यात्मिक प्रश्न के रूप—रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति कभी प्रश्नात्मक रूप में भी होती है। ऋग्वेद के नारदीय सूक्त मे इसी शैली मे रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति मिलती है। पत की 'मौन निमन्त्रण' शीर्षक कविता इसी शैली मे लिखी गई है।

"स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब ससार,
चकित रहता शिशु सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार,
विचरते हैं जब स्वप्न अजान,
न जाने नक्षत्रों से कौन
निमन्त्रण देता मुझको मौन ?"—आधुनिक कवि, पृ० ३०

परमात्मा और प्रकृति मे एक्यानुभूति के रूप—छायावादी कविता मे साधक परमात्मा और प्रकृति की रहस्यमयी एक्यानुभूति भी करता है। देखिए 'आँसू' की निम्नलिखित पंक्तियो मे साधक ने प्रकृति की विराट् भावना का पुरुष पर आरोप करते हुए दोनो की एक्यानुभूति की व्यञ्जना की है—

"बिजली माला पहने फिरे,
मुसक्याता-सा आँगन में,
हाँ कौन बरस जाता था
रस बूँद हमारे मन में ?" —आँसू १८, १६

यहाँ पर विराट् पुरुष की कल्पना की गई है और प्रकृति को उसका आभूषण बताकर उससे तादात्म्य स्थापित किया गया है।

परमात्मा के रहस्यपूर्ण वर्णनों के रूप में—छायावादी कवियो ने कला, कल्पना, प्रतीकात्मकता के आवरण मे ढाँककर उस परम सत्ता का मधुर वर्णन प्रस्तुत किया है। 'आँसू' में प्रसाद ने लिखा है—

"शशि मुख पर घूँघट डाले,
आँचल मे दीप छिपाए,
जीवन की गोधूली में,
कौतूहल से तुम आए। —आँसू

आस्तिकता छायावाद की भी सबसे प्रमुख विशेषता है। 'कामायनी' का कवि उस आस्तिकता की व्यञ्जना करते हुए—

"हे विराट, हे विश्व देव !
तुम हो कुछ ऐसा होता भान,
धीर, गम्भीर स्वर से युत,
यही कर रहा सागर गान।" —कामायनी

आत्मा-परमात्मा के मिलन भाव की कलात्मक व्यञ्जना—

"परिचय राका जलनिधि का,
जैसे होता हिमकर से।
ऊपर से किरणें आतीं।
मिलती हैं गले लहर से।" —आँसू, पृ० १२

यहाँ पर राका शुद्धात्मा और जलनिधि परमात्मा का प्रतीक है। इन प्रतीकों के सहारे कवि ने आत्मा-परमात्मा के मिलन भाव की रहस्यात्मक ढंग से व्यञ्जना की है।

कला की प्रधानता—छायावाद रहस्य-भावना की प्रकृति के आश्रय से होने वाली कलामयी अभिव्यक्ति है। छायावादी युग कलावादी युग था। उस युग में हृदय के भावो की निष्कपट अभिव्यक्ति को नहीं, वरन् उसके वाह्याडम्बर को ही विशेष महत्त्व दिया जाने लगा था। इस युग मे वाह्याडम्बर का माप-दण्ड रीति-

कालीन माप-दण्ड से सर्वथा भिन्न था। आज की कविता कलात्मकता, प्रतीक योजना, लाक्षणिक प्रयोग, मानवीकरण आदि के नियोजन मे मानी जाती है। उदाहरण के लिए पन्त का निम्नलिखित उदाहरण दे सकते हैं—

"खैंच ऐंचीला भ्रू सुर चाप
शैल की सुधि यों बारम्बार
हिला हरियाली का सुदुकूल
झूला झरनों का झलमल हार
जलद पट से दिखला मुखचन्द्र
पलक पल-पल चपला के मार
भग्न उर पर भूधर सा हाय
सुमुखी धर देती है साकार।"

यहाँ पर कवि ने मानवीकरण के सहारे मुग्धा कलहान्तरिता का चित्र खींचा है। प्रकृति के विराट् स्वरूप वर्णन से एक रहस्यात्मकता आ गई है। स्मरण अलकार ने स्वर्ण सुगन्ध सयोग उत्पन्न कर दिया है। प्रतीको की उचित योजना ने उक्ति मे आध्यात्मिकता की प्रतिष्ठा कर दी है। यहाँ प्रकृति माया और शैल ब्रह्म के प्रतीक रूप मे प्रयुक्त हुए है। इन्ही सब कारणो से यह छायावाद का सुन्दर उदाहरण है।

प्रकृति का आश्रयत्व—छायावादी कवि अपनी भावनाओ को प्रगट करने के लिए प्राय प्रकृति का आश्रय लेता है। वह प्रतीक भी अधिकतर प्रकृति से चुनता है। इससे एक ओर तो उक्ति मे रमणीयता आ जाती है। दूसरी ओर उसे अपनी कला और आध्यात्मिकता के प्रदर्शन का अच्छा अवसर मिल जाता है। प्रकृति का आश्रय छायावादी कवियो ने प्राकृतिक अनेक प्रकार से अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। अपनी प्रेमिका के स्वरूप को देखिए किस प्रकार प्रकृति के विराट रूप मे कल्पित कर अपनी अभिव्यक्ति को मधुर, कला और कल्पनापूर्ण बनाने मे समर्थ हुआ है—

"तडित सा सुमुखि! तुम्हारा ध्यान,
प्रभा के पलक मार उर चीर,
गूढ गर्जन कर जब गम्भीर,
मुझे करता है अधिक अधीर
जुगनऊँ से उड मेरे प्राण,
खोजते हैं तब तुम्हें निदान।"

इसी प्रकार अपनी मानव-स्थितियो पर कल्पना और कला के सहारे प्रकृति के विराट रूप का आरोपण कर छायावादी कवियो ने उसे बहुत ही आकर्षक बना दिया है।

कल्पना का प्रचुर प्रयोग—जिस प्रकार दर्शन अध्यात्म तत्त्व का बुद्धिमूलक निरूपण है, रहस्यवाद उसकी भावात्मक प्रतिक्रिया है, उसी प्रकार छायावाद

उसकी कल्पनात्मक अभिव्यक्ति है। छायावाद मे कवि कल्पना के सहारे प्रकृति के नाना रूपों का आरोप मानव की सुकोमल भावनाओ पर करता है। इसके उदाहरण ऊपर आ चुके है। कभी-कभी तो छायावादी कवि कर्कश एव असुन्दर चित्रो को अपनी कला और कल्पना के सहारे सुन्दरतम और मधुरतम बना देता है। उदाहरण के लिए हम 'कामायनी' की निम्नलिखित पक्तियाँ ले सकते हैं—

"सिन्धु सेज पर धरा वधू,
अब तनिक संकुचित बैठी सी।
प्रलय निशा की हलचल स्मृति मे
मान किए सी ऐंठी सी।"

कभी-कभी तो कल्पना के प्रयोग से कवि बडी तीव्रतम व्यञ्जनाओ मे समर्थ होता है। 'कामायनी' का एक उद्धरण है—

"जब कामना सिन्धु तट आई,
ले सन्ध्या का तारा दीप,
फाड़ सुनहली साड़ी उसकी,
हँसती तू क्यों अरी प्रतीप।"

उपर्युक्त पक्तियो मे साधक के हृदय की मनोवैज्ञानिक व्याख्या कल्पना-नियोजित प्रतीको के सहारे की गई है। कहने का अभिप्राय यह है कि छायावादी कविता मे प्राण प्रतिष्ठा करने का श्रेय कवि की कलित कल्पना का रहता है।

चित्रभाषा-वादी अभिव्यक्ति—हिन्दी के छायावादी कवि पर पाश्चात्य चित्रभाषावाद का भी गहरा प्रभाव पड़ा है। चित्रभाषावाद का अर्थ होता है भाषा के चित्रात्मक वर्णनो के सहारे रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति करना। पन्त पर पाश्चात्य चित्रभाषावाद का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक दिखाई पड़ता है। उनका 'परिवर्तन' शीर्षक कविता से एक उदाहरण देखिए—

"अहे वासुकि सहस्र फना!
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिन्ह निरन्तर,
छोड रहे हैं जग के विक्षत वक्षस्थल पर।
शत-शत फेनोच्छ्वसित, स्फीतकार भयंकर,
घुमा रहे हैं जगती का घनाकार जगती का अम्बर।
मृत्यु तुम्हारा गरल दन्त कचुक कल्पान्तर
अखिल विश्व ही विवर
वक्र कुण्डल,
दिग् मण्डल।"

'खैंच ऐचीला भूसुर चाप' वाला उदाहरण इसके अन्तर्गत आ सकता है।

निराशा और करुणा की प्रवृत्ति—जिस प्रकार रहस्यवाद मे विरहानुभूति को महत्त्व दिया जाता है, उसी प्रकार छायावादी कवि की अनुभूति निराशा और

करुणा से आप्लावित रहती है। वह कविता की उत्पत्ति इस करुण भावना से ही मानता है। पन्त की निम्नलिखित पक्तियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं—

"वियोगी होगा पहिला कवि।
आह से उपजा होगा गान,
उमड कर आँखों से चुपचाप,
वही होगी कविता अनजान।"

कवि विरह-वेदना को वरदान स्वरूप समझता है। पन्त लिखते है—

"विरह है अथवा वरदान,
कल्पना में जीता, सिसकता गान है।
शून्य आहों मे सुरीले छन्द हैं।
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है!"

विरह-भाव की अभिव्यक्ति छायावाद मे लगभग उसी रूप मे मिलती है जिस रूप में रहस्यवाद मे उसकी उपलब्धि होती है। रहस्यवाद मे सर्वत्र विराट विरह की चर्चा मिलती है। जायसी ने लिखा है—

"विरह की आगि सूर जरि काँपा।
रातिउ दिवस जरै ओहि तापा॥
और सब नखत तराई जरहीं।
टूटहि लूक धरति मटट परहीं॥" इत्यादि

उपर्युक्त पक्तियो मे कवि ने पद्मावती के विरह का विश्व-व्यापार का विराट चित्रण किया है। इसी से मिलता-जुलता 'आँसू' का निम्नलिखित वर्णन है—

"ये सब स्फुलिंग हैं मेरी
इस ज्वालामयी जलन के,
कुछ शेष चिन्ह हैं केवल
मेरे उस महामिलन के।"

इस महाविरह की अवस्था मे साधक को पूर्व-स्मृतियाँ बार-बार आकर गुदगुदाती हैं। 'आँसू' मे प्रसाद ने लिखा है—

"मकरन्द गध माला सी,
वह स्मृति मदमाती आती।
इस हृदय विपन की कलिका,
जिसके रस मे मुसक्याती।"

मानव की आध्यात्मिक वेदना सुख की खोज मे विश्व भर मे चक्कर काट कर लौट आती है। किन्तु इस विश्व मे उसे कही भी विश्राम नही मिलता। विश्राम मिले भी कैसे, आध्यात्मिक बुभुक्षा की तृप्ति अध्यात्मस्वरूप परमात्मा के दर्शन से ही हो सकती है। परमात्मा के दर्शन इस ससार मे कही नही मिलते। 'आँसू' मे प्रसाद ने इसी भाव की व्यजना करते हुए लिखा है—

"वेदना विकल फिर आई,
मेरी चौदहो भुवन में,
सुख कहीं न दिया दिखाई,
विश्राम कहाँ जीवन में।" —आँसू

परिणाम यह होता है कि साधक-रूपी कवि का हृदय चिर-वेदना से भर जाता है। प्रसाद ने उसकी अभिव्यक्ति करते हुए लिखा है—

"इस करुणा-कलित हृदय में,
अब विकल रागनी बजती,
क्यों हाहाकार स्वरो में,
वेदना असीन गरजती।"—आसू

छायावादी कविता मे इसी प्रकार और भी अनेक प्रकार से करुणा और निराशा की भावना की अभिव्यक्ति मिलती है।

शैलीगत लाक्षणिकता और प्रतीकात्मकता—छाया की सबसे प्रमुख विशेषता उसकी शैलीगत लाक्षणिकता और प्रतीकात्मकता है। लाक्षणिक शैली के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

"जलधि लहरियों की अँगड़ाई वार-बार जाती सोने।"

× × ×

"सवल तरगाघातों से उस क्रुद्ध सिघु के विचलन सी॥"

पहली पक्ति मे विरोधमूलक लक्षणा है।

दूसरी पक्ति मे विशेषण विपर्ययजनित लक्षणा है। इसी प्रकार और भी अनेक प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग मिलते है।

छायावादी शैली की प्राणभूत विशेषता प्रतीकात्मता है। कवि प्रतीको की योजना के सहारे आध्यात्मिक, रहस्यात्मक व्यजनाओ मे समर्थ होता है इसीलिए वह सर्वत्र प्रतीको का आश्रय लेता है। कही-कही प्रतीक-योजना से उक्ति का अर्थ गौरव बहुत अधिक बढ जाता है। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित उदाहरण ले सकते हैं—

"जब कामना सिधु-तट आई,
ले सन्ध्या का तारा दीप।
फाड सुनहली साडी हँसती,
तू क्या अरी प्रलीप ?"

यहाँ पर सिन्धु, सन्ध्या, तारा, दीप, सुनहली साडी, क्रमश. हृदय, आशा का सचार तथा आशा आदि के प्रतीक है। इसी प्रकार और भी अनेक प्रकार से प्रतीक योजना की जाती है।

साकेतिकता की प्रधानता—छायावादी कविता मे हमे साकेतिकता की छटा भी मिलती है। अध्यात्म-बोध की अभिव्यक्ति नही की जा सकती इसीलिए कवि को बार-बार कल्पनामूलक साकेतिकता का आश्रय लेना पड़ता है। कवि साकेतिकता

के लिए यह, वह, उस, क्या, कौन, कैसे आदि विविध सकेतवाचक और प्रश्नवाचक सर्वनामो का प्रयोग करता है। यह और वह का उदाहरण देखिए—

"वह हंसी और यह आंसू,
घुलने दे मिल जाने दे,
बरसात नई होने दे,
कलियों को खिल जाने दे।"

इस प्रकार की साकेतिकता से समस्त छायावादी काव्यधारा भरी पडी . .
स्थानाभाव से यहाँ अधिक उदाहरण नही दिए जा रहे हैं।

छायावादी कवि की सौंदर्य-साधना—छायावादी कवि की सबसे प्रमुख विशेषता उसकी सौन्दर्य-बोध की प्रवृत्ति है। छायावाद मे हमे प्रेम और सौन्दर्य की सुकोमल भावनाओ, रहस्यात्मकता और आध्यात्मिकता की हल्की पुट की अभिव्यक्ति कल्पना और कला के माध्यम द्वारा मिलती है। उनकी प्रेमानुभूति मे एक अलौकिक तड़पन दिखाई पड़ती है। इस तडपन का कारण साधक की तीव्र सौन्दर्यानुभूति है। कवि प्रसाद कहते हैं—

"बाडव-ज्वाला सोती थी,
इस प्रणय सिन्धु के तल मे,
प्यासी मछली सी आंखें,
थीं विकल रूप के जल में।"

उस सौन्दर्य की अनुभूति कवि अनवरत रूप से करता रहता है

"मैं अपलक इन नयनों से,
निरखा करता उस छवि को,
प्रतिमा डाली भर लाता,
करता दान सुकवि को।"

वह अनिर्वचनीय और अलौकिक रूप उसकी आंखो मे बसा हुआ है—

"प्रतिमा मे सजीवता सी,
बस गई सुछवि आंखों में,
थी एक लकीर हृदय में,
जो अलग रही लाखों में।"

इसी प्रकार के शत-शत वर्णन छायावादी कविता मे भरे पडे है। उनकी आलोचना किसी समय स्वतन्त्र रूप से की जायगी। यहाँ पर केवल इतना ही कहना अभीष्ट है कि छायावादी कविता मे हमे रहस्यवाद की प्रणयानुभूति और सौन्दर्यानुभूति की तीव्रतम अभिव्यक्ति मिलती है। अन्तर केवल इतना ही है कि रहस्यवाद की सौन्दर्यानुभूति और प्रणयानुभूति की अभिव्यक्ति निष्कपट और निर्बाध होती है जब कि छायावादी की अभिव्यक्ति कला और कल्पना के सांचे मे ढलकर निकलने के कारण परतन्त्र रहती है।

यही दोनो मे अन्तर है। हिन्दी के आधुनिक कवियो मे शुद्ध रहस्यवाद के दर्शन नही होते। उसकी रहस्य-भावना सदैव कला और कल्पना के आश्रय से अभिव्यक्त हुई है। मै आधुनिक कवियो मे से किसी को भी शुद्ध रहस्यवादी नही मानता।

प्रगतिवाद

हिन्दी कविता-क्षेत्र मे प्रगतिवाद की बड़ी धूम रही है। प्रगतिवाद का सामान्य अर्थ है विकसन का सिद्धान्त। इस सामान्य अर्थ की दृष्टि से हम उस साहित्य को प्रगतिवादी साहित्य कहेंगे जो विकासोन्मुख हो। इस परिभाषा के आधार पर हिन्दी का अधिकाश साहित्य प्रगतिवादी साहित्य कहलाने का अधिकारी हो जाएगा। वास्तव मे आधुनिक काव्य-क्षेत्र मे प्रगतिवाद का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ मे किया गया है। सन् १९३६ के आस-पास से हमारे काव्य ने जो नई दिशा ग्रहण की थी उसका विवेचन आगे चलकर आलोचको ने प्रगतिवाद के अभिधान से किया। इस अभिधान का आधार उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्द की अध्यक्षता मे स्थापित किया गया लेखक-सघ था। इस लेखक-सघ की स्थापना सन् १९३६ मे हुई थी। सन् १९३५ में प्रगतिवादी लेखक-सघ की स्थापना यूरोप मे जैनेवा मे की गई थी। रौलर, जीव, हक्सले, गोर्की आदि ने इस लेखक-सघ की स्थापना मे बड़ा योग दिया था। हिन्दी के प्रगतिवादी लेखक-सघ की स्थापना बहुत कुछ उसी के अनुकरण पर हुई थी।

पृष्ठभूमि और प्रेरणाएँ—ऐतिहासिक दृष्टि से प्रगतिवाद का उदय छायावाद की प्रतिक्रिया के रूप मे हुआ। इस प्रतिक्रिया को जन्म देने वाली बहुत सी राजनीतिक, साहित्यिक, सास्कृतिक और दार्शनिक परिस्थितियाँ थी। सन् १९३५-३६ के आस-पास गाधी विचाराधारा देश को व्यापक रूप से प्रभावित कर रही थी। उनकी इस विचारधारा को लेकर बहुत से कवि सत्याग्रह, अहिंसा आदि के सिद्धान्तो का डका पीट रहे थे। किन्तु कुछ लेखक गाधीवाद के कुछ सिद्धान्तो को लेकर उनको कार्ल मार्क्स की विचारधारा में, जिसका उस समय बहुत अधिक प्रभुत्व बढ रहा था, साँचे मे ढालने का असफल प्रयास कर रहे थे। प्रगतिवाद ऐसे ही साहित्यिक प्रयास-कर्त्ताओ की देन है। उस समय पाश्चात्य साहित्य-क्षेत्र मे फ्रायड के नग्न वासनावाद, जिसे कुछ लोग यथार्थवाद भी कहते हैं, कैल्डवेल के समाजवाद, गोर्की के कल्पनावाद और यथार्थवाद तथा लैनिन के साम्यवाद की भी अच्छी प्रतिष्ठा थी। इनके अतिरिक्त और भी कई विचारधाराएँ क्रमश बल पा रही थी। तत्कालीन पाश्चात्य और भारतीय—दोनो प्रगतिवादी लेखको ने अपने समय की इन प्रवृत्तियो से प्रेरणा प्राप्त की। प्रगतिवाद का रूप सँवारने में इन प्रवृत्तियो का बहुत बड़ा हाथ है। प्रगतिवादी युग मे झूठी काल्पनिकता एव पलायन की प्रवृत्ति के विरोध का स्वर प्रतिध्वनित हो रहा था। उस युग का कवि अपने युग के कवियों से बार-बार आकाश से पृथ्वी पर उतर आने का आग्रह कर रहा था—

"इस धरती की बात करो प्रिय मत अम्बर की ओर निहारो।"

वह नवयुग कवियो के कानो मे जगने की शख-ध्वनि कर रहा था। दिनकर की निम्न पक्तियो मे इसी की प्रतिध्वनि है—

"नवयुग शखध्वनि जगा रही तू जाग जाग मेरे विशाल।"

इस जागृति की कामना से प्रेरित होकर कवि जगत के जीर्ण-पत्र के शीघ्र झरने की कामना करने लगा—

"द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र।"

प्रगतिवाद की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

प्रगतिवाद की कुछ अपनी प्रवृत्तियाँ है। उनका सक्षेप मे इस प्रकार निर्देश कर सकते है—

सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति की प्रवृत्ति—प्रगतिवादी कवि परिवर्तन और क्रान्ति का पुजारी था। उसकी धारणा थी कि पुरानी कला वा साहित्य से सडाँध आने लगती है, इसलिए कुछ दिनो तक चलने वाली प्रवृत्तियो का बहिष्कार करके नूतन प्रवृत्तियो का आविष्कार करना चाहिए। हो सकता है उसे अपनी इस परिवर्तन की प्रकृति के लिए टेनीसन की उस पक्ति से प्रेरणा मिली हो जिसके अनुसार नवीन परम्पराओ के विकास के लिए प्राचीन परम्पराओ को ध्वस कर देना वह प्रवृत्ति का नियम समझता था। चाऊ एन लाई ने भी 'प्यूपिल्स न्यू लिट्रेचर' नामक रचना मे इसी भाव का प्रतिध्वनन किया है। उसका भी विश्वास था कि प्राचीन कला और साहित्य चाहे आकर्षक ही क्यो न लगें, किन्तु उनके अन्तर से एक सडाँध उठती है। पत की 'परिवर्तन' शीर्षक कविता मे प्रगतिवाद की परिवर्तन प्रिय प्रकृति की ही छाया ढूँढी जा सकती है। सुधीन्द्र की 'प्रलय की वीणा' शीर्षक कविता मे भी इसी प्रगतिवादी परिवर्तन का आग्रह किया गया है।

प्रगतिवादी कवि केवल परिवर्तन ही नही चाहता, वह क्रान्ति का भी भक्त था। सामाजिक, आर्थिक और आध्यात्मिक—सभी क्षेत्रो मे वह साम्यमूलक बौद्धिक क्रान्ति का समर्थक था। प्रगतिवादी कवि क्रान्तिकुमारी को जगाते हुए कहता है—

"उठ वीरों की भावरगिनी दलितों के दल की चिंगारी।
युग मर्दित यौवन की ज्वाला जाग जाग री क्रान्ति कुमारी॥"

वह क्रान्ति के माध्यम से नवजीवन का सचार करना चाहता था। नरेन्द्र की ओजपूर्ण पक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"आओ हथकडियाँ तडकादूँ जागो रे नत शिर बन्दी।
उन निर्जीव शून्य साँसों मे आज फूँक दूँ लो नव-जीवन।
भरदूँ उनमे तूफानों को अगणित भूचालों का कम्पन।
प्रलयवाहिनी स्वतन्त्र हों तेरी मेरी साँसें बन्दी।"

प्रगतिवादी क्रान्तिकर्त्ता प्राचीन रूढियो और परम्पराओ के मूलोच्छेदन मे ही अपना गौरव समझता था। यहाँ तक कि ईश्वर के सम्बन्ध मे नई धारणा स्थापित करना चाहता था—

"ईश्वर को मरने दो हे मरने दो,
वह फिर जी उठेगा ईश्वर को मरने दो।
वह क्षण-क्षण मरता जी उठता
ईश्वर को नव स्वरूप धरने दो।"—पन्त

प्रगतिवादी इस उपर्युक्त ढग की क्रान्ति की प्रेरणा रूस की क्रान्ति प्रतीत होती है। प्रगतिवादी कवि रूस से इतना अधिक प्रभावित हुए थे कि वे भारत में रहकर उसकी व्यवस्था, उसके नेता और उसकी विशेषताओ के गुणगान में ही अपना गौरव समझने लगे थे। शिवमगलसिंह सुमन की—

"चली जारही बढ़ती लाल सेना,
मास्को अब दूर नहीं है।"

'लाल झडा' आदि कविताएँ इसका पुष्ट प्रमाण हैं। महामानव स्टालिन के नाम पर भी कवियो ने अपनी कवित्व शक्ति की इतिश्री करदी। मैं इस प्रकार के कवियो को नकली और गद्दार समझता हूँ। जो खाते भारत का रहे और गाते रशिया का रहे। हिन्दी कविता इस प्रकार की रचनाओ से निश्चय ही कलकित हो गई है।

साम्राज्यवाद का विरोध—प्रगतिवाद की एक प्रवृत्ति साम्राज्यवाद के विरोध की भी थी। प्रगतिशील लेखक-सघ के घोषणा-पत्र में स्पष्ट लिखा गया था कि प्रगतिशील साहित्य सदा साम्राज्य-विरोधी होता है। इसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर नरेन्द्र ने लिखा है—

"पेट काटकर महल बना है दुनिया के मजदूरों का।"

दिनकर की निम्नलिखित पक्तियाँ भी इसी प्रवृत्ति का प्रतिबिम्बन कर रही हैं—

"वैभव की दीवानी दिल्ली, कृषक मेघ की रानी दिल्ली।"

वर्ग-सघर्ष का चित्रण—प्रगतिवाद की सबसे बड़ी विशेषता वर्ग-संघर्ष के स्वरूप का निर्देश करना है। अपनी इस प्रवृत्ति की प्रेरणा उसे कार्ल मार्क्स की विचारधारा से मिली थी। कार्ल मार्क्स की विचारधारा का प्राणभूत सिद्धान्त वर्ग-सघर्ष और आर्थिक साम्यवाद थे। प्रगतिवादी कवियो ने इन दोनो सिद्धान्तो की जी खोल कर अपने-अपने ढग पर अभिव्यक्ति की। प्रगतिवादी कवि पाश्चात्य विचारधाराओ से अन्धे होकर प्रभावित हो रहे थे। राल्फ फाक्स ने 'नावल एण्ड दी पीपल' मे लिखा था कि मार्क्सवादी विचारधारा अपनाए बिना साहित्यकार को उस सत्य की प्राप्ति नहीं होती जो उसके लिए आवश्यक है। फाक साहब के इस एकपक्षीय और दूषित सिद्धान्त का प्रगतिवादी कवियो ने ब्रह्मवाक्य के सदृश अनुगमन किया, जिसके फलस्वरूप हिन्दी कविता मे प्रगतिवाद के नाम पर कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तो की पुनरुद्धरणी की जाने लगी। वास्तव में प्रगतिवादी कवियो ने ऐसा करके हिन्दी कविता का बहुत बड़ा अपकार किया। कविता अपने देश, काल और व्यक्तियो की

सस्कृति का प्रतिबिम्ब हुआ करती है। देश की सास्कृतिक विचारधारा से विच्छिन्न होकर कविता विधवा हो जाती है। प्रगतिवादी कविता ऐसी ही विधवा कविता है। जो भी हो, हमारे प्रगतिवादी कवियो ने एक कार्य तो अवश्य किया। वह यह कि सहानुभूति-विहीन वर्ग सघर्ष के बौद्धिक वर्णनो से साहित्य को अवश्य भर दिया। वर्ग-सघर्ष के दो-चार उदाहरण दे देना अनुपयुक्त न होगा। दिनकर लिखते हैं—

"स्वानों को मिलता दूध दही बच्चे भूखे तडपाते हैं।
मिल मालिक तेल फुलेलो पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं॥"

इसी प्रकार अचल के 'सर्वहारा' से निम्नलिखित एक उदाहरण दिया जा सकता है—

"और यही परिवार खडा है भूखे शिशु अकुलाती माता।
बच्चे से जिसको केवल पैदा कर देने का नाता॥"

कही-कही पर वर्ग-सघर्ष की विडम्बना का इन कवियो ने अच्छा चित्र उपस्थित किया है। देखिए 'हाहाकार' शीर्षक कविता मे दिनकर लिखते है—

"देख कलेजा फाड रहे कृषक आज शोणित की धारे।
और उठी जातीं उन पर ही वैभव की ऊँची दीवारें॥"

इन कवियो ने शोषित वर्ग के चित्रण मे अपनी कवित्व-शक्ति का अच्छा उपयोग किया था। शोषित वर्गों में भी इनकी वृत्ति मजदूर, किसान और नारी के दयनीय चित्रो के उद्घाटन में ही लगी थी। कृषक समाज का एक दृश्य नरेन्द्र की 'प्रभात फेरी' में इस प्रकार दिया गया है—

"यहाँ बिलखते लाल देखलो और निरक्षर युवक कुमार।
वचित व्यथित युवतियाँ देखो कुम्हलातीं कलियाँ सुकुमार॥"

इसी प्रकार निराला ने 'वह तोडती पत्थर' शीर्षक कविता मे—एक मजदूरिन का दयनीय पर यथार्थ चित्र अकित किया है। इसी प्रकार पतिता नारी की दुर्दशा का भी उल्लेख प्रगतिवादी कवियो मे मिलता है। अचल लिखते हैं—

"पख कटे जिसके प्राणो के,
मूक रुदन सदियो से जारी।
पति की काम-वासना की नाली,
बच्चे जनना जिसका सबल।"

ऊपर दिए गए अनेकानेक उदाहरणो से स्पष्ट है प्रगतिवादियो को शोषित वर्ग के प्रति गहरी सहानुभूति है। किन्तु मुझे यह कहने मे सकोच नही है कि सहानुभूति है बौद्धिक ही, कवियो के हृदय से निकली हुई सच्ची पुकार नही है। तभी प्रगतिवादी कवियो तक को अपनी कमी दबी जुबान मजूर करनी पडी है। अचल के निम्नलिखित कथन मे उसी की व्यजना है। 'लाल चूनर' की भूमिका मे उन्होने लिखा है—"जन-बल की दुर्दम शक्तियो का लौकिक सत्य या

असत्य से संघर्ष जब तक काव्य के मूलाधारों से दृढ और पारस्परिक विकास नही स्थापित कर लेता तब तक मेरी समझ मे सच्चे प्रगति काव्य की रचना नहीं होती।" दिनकर ने 'रसवती' की भूमिका मे यही बात कुछ अधिक स्पष्ट शब्दो मे उद्घोषित की है—"प्रगति शब्द मे जो नया अर्थ ठूँसा गया है, उसके फलस्वरूप हल और फावडे कविता के सर्वोच्च विषय सिद्ध किए जा रहे हैं, और वातावरण ऐसा बनता जा रहा है कि जीवन की गहराइयो मे उतरने वाले कवि सिर उठाकर न चल सके।"

वर्तमान समस्याओ पर विचार—प्रगतिवाद का लक्ष्य वर्तमान समस्याओ पर विचार करना भी है। प्रगतिवादी कवि कहता है—

> **"आओ लोक समस्याओं पर मिलकर करें विवेचन।**
> **विश्व सभ्यता के मुख पर पडा हुआ अवगुण्ठन॥"**

किन्तु कवियो की सहज और स्वाभाविक प्रवृत्ति इस दिशा मे नही हुई। वे मार्क्सवाद, यौन यथार्थवाद आदि के चक्कर मे इतना अधिक फँस गए है कि हिन्दी के कविता-क्षेत्र मे घुटन उत्पन्न हो गई। कितना अच्छा होता कि प्रगतिवादी निरपेक्ष और स्वस्थ भाव से इस दिशा मे प्रवृत्त होते।

प्रचार का माध्यम—प्रगतिवादी कविता का लक्ष्य प्रसार-कार्य भी था। इस दृष्टि से मैं उसे लेनिन से प्रभावित मान सकता हूँ। लेनिन ने अपनी 'आन आर्ट एण्ड लिटरेचर' नामक रचना मे लिखा है कि साहित्य प्रचार का शक्तिशाली माध्यम है। नरेन्द्र शर्मा इस दिशा मे लेनिन के सच्चे अनुयायी हैं। किन्तु अच्छा हुआ दिनकर की स्वस्थ दृष्टि ने इस सिद्धान्त का खोखलापन पहचान लिया। 'मिट्टी की ओर' मे उन्होने स्पष्ट घोषणा की है कि "साहित्य जब एक प्रचार का माध्यम बन जाता है तो उसमे साहित्यिकता नही रहती।" आचार्य हजारीप्रसादजी ने भी 'हमारी साहित्यिक समस्याएँ' मे इस बात को कुछ अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है—"साहित्य का लक्ष्य साहित्य को संवेदनशील बनाना है, सिद्धान्तो को रटाना नही।"

यथार्थवादिता—प्रगतिवाद आदर्शवाद के गगनचुम्बी साहित्य-शिखर से दूर यथार्थ की कठोर भूमिका पर टिका हुआ है। मुझे यह कहने में संकोच नही है कि प्रगतिवादी कवियो ने यथार्थवाद की आड मे अपनी वासनापूर्ण कुरुचियो की निर्बाध अभिव्यक्ति की है। जहाँ तक यथार्थवाद नीति और सामाजिकता का गला नही घोटता, वहाँ तक वह सह्य हो सकता है। किन्तु उसके आगे वह घृणित हो जाता है। साहित्य मे उसको स्थान देना साहित्य को अपवित्र करना है। प्रगतिवादियो ने यथार्थवाद के नाम पर साहित्य मे बहुत नाक-थूक इकट्ठा कर लिया है। यौन सम्बन्धी चित्र तो अभद्रता की पराकाष्ठा पर पहुँच गए है। प्रगतिवादी ही इतना निर्लज्ज मानव है जो ऐसे चित्र सामने रखता है—

> "आधा शिशु बाहर था आधा अन्दर।"

कुरुचिपूर्ण वर्णनो के लिए अचल की 'सावन की मदभरी रात' नरेन्द्र की 'आज न सोने दूँगी बालम' आदि कविताएँ देखी जा सकती है। प्रगतिवादियो की दृष्टि मे रसाभास ऐसी कोई वस्तु नही। उनका रति का कोई स्टैण्डर्ड ही नही है। प्रगतिवादी कवि 'वदरि और नवरगि' को छोड़कर मटर के दाने पर ही आ गया है। मटर के दाने पर हाथ रखते ही वेचारे के शरीर मे बिजली दौड़ती है। पता नही वह अपना गृहस्थ जीवन कैसे निभाते होगे—

"हाथ मटर के दानों पर जा
जगा देते हैं एक सनसनी
बिजली दौड जाती है एक झनझनी।"

पन्त आदि कवियो ने यथार्थ के सुन्दर और रमणीय चित्र खीचे हैं। उनकी ग्राम युवति का चित्र देखिए—

"उन्मद यौवन से उभर
घटा सी नव प्रसाद की सुन्दर
अति श्याम करण
श्लथ मद चरण
इठलाती आती ग्राम युवति
वह गजगति
सर्प डगर पर।"

इस प्रकार के रसोद्रेककारी चित्र प्रगतिवादी साहित्य मे कम है। दद्र वासना के व्रण को कुरेदने वाले चित्र अधिक मिलते हैं। ऐसे गन्दे चित्रो से प्रगतिवाद को गहरा धक्का पहुँचा है।

प्रगतिवादियो की कुरुचि कही-कही तो यहाँ तक पगला उठी है कि वे कही-कही गाली-गलौज पर उतर आये है। एक साहब पूँजीपतियो के विशेषण जोड़ते हुए लिखते है—

"लुच्चे दुच्चे उल्लू के बच्चे पूँजीपति।"

इस प्रकार के साहित्य मे मनचले गुण्डे के लिए अच्छा मसाला मिल जाता है। इस दृष्टि से प्रगतिवादियो की प्रगति अवश्य दाद देने योग्य है।

साम्राज्य-विरोध की भावना—प्रगतिवादी लेखक-सघ ने एक घोषणा-पत्र निकाला था। उसमे लिखा था—"प्रगतिशील साहित्य सदा साम्राज्य-विरोधी होता है।" समझ मे नही आता इस प्रकार के नियम प्रगतिशील विद्वानो ने कहाँ से ढूँढ निकाले है। यहाँ तक वात सरलता से स्वीकार की जा सकती है कि प्रगतिशील साहित्य सदा आतताइयो और अत्याचारियो के प्रति आवाज बुलन्द करता है, किन्तु इसके आगे कोई सिद्धान्त घोषित कर अपनी सुबुद्धि का ढिंढोरा पीटना है।

सांस्कृतिक समस्याएँ—कुछ प्रगतिवादियो ने सकीर्ण वातावरण से उठकर सस्कृति के क्षेत्र मे आँखें खोलने की चेष्टा की है। पन्तजी लिखते हैं—

"राजनीति का प्रश्न नहीं है
आज जगत के सम्मुख,
आज बृहत् सांस्कृतिक समस्या
जगत के निकट उपस्थित।"

किन्तु इन सांस्कृतिक समस्याओ तक पन्त और दिनकर जैसे चोटी के कवियो को छोडकर और किसी की दृष्टि नही जा सकती। काश कि इस दिशा में हमारे नौसिखिए कवि भी अग्रसर होते तो शायद प्रगतिवाद के क्षेत्र मे इतना कूडा-करकट इकट्ठा न होता। कुछ कवियो ने विदेशी संस्कृतियो के लाल चित्र सामने रखने की चेष्टा की, किन्तु हमारी संस्कृति के सुनहले चित्रो के आगे वे वैसे ही लगते हैं जैसे सूर्य के आगे दीपक।

प्रगतिवादी कविता में रस—प्रगतिवादी कविता मे रस ढूँढने वालो को निराश ही होना पड़ेगा। पन्त, निराला आदि दो एक पुराने खेवे के कवियो को छोड़कर अन्य कवियो मे रस धारा के स्थान पर रस बूँद भी नही मिलेगी। हाँ, रसवती आदि नाम अवश्य मिल जायेंगे। रसाभास आदि के उदाहरण ढूँढने वालों को इस साहित्य मे कोई कष्ट नहीं होगा। इस धारा के कवियो का लक्ष्य हमारी सोई कुरुचिपूर्ण वासना को नग्नातिनग्न रूप मे सामने रखना है। ऐसे नग्न वर्णनों से साधारण कोटि के युवको का क्षणिक अवसादन-प्रसादन अवश्य हो जाता है। हृदय मुग्ध किसी का नही होता।

सच्चा साहित्य वही होता है जो हमे रस-मग्न कर सके। इसके लिए शास्त्रीय ढंग से रस की निष्पत्ति करना ही आवश्यक नही होता। उसके विधान के सैकडो रूप और प्रकार हो सकते है। सच्चे प्रगतिवादी कवि उन्हे ही ढूँढ निकालते हैं। रस-मग्न करने के अनेक प्रकारो मे एक प्रकार है किसी इन्द्रिय-विशेष के मोहक विषयो के जीते-जागते चित्रो द्वारा उस इन्द्रिय को इतना अधिक रसाभिभूत कर देना कि अन्य इन्द्रियो की अनुभूतियाँ विस्मृत हो जायें और भाव-विभोरता की अवस्था उदय होकर एक प्रकार का साधारणीकरण कर दे।

प्रगतिवादी साहित्य बहुत निम्नकोटि की रसानुभूति की अवस्था उत्पन्न करता है। रसानुभूति की मैं चार कोटियाँ मानता हूँ। उन्हीं के आधार पर रसानुभवकर्ताओ के भी चार प्रकार होते हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) लम्पट,
(२) रसिक,
(३) सहृदय, तथा
(४) आत्मानन्दी।

इन चार कोटियो का अनुभव हमे सिनेमा-गृह मे होता है। चित्र के प्रसंग में बहुत से ऐसे स्थल आते है जहाँ लम्पटो की (जो इक्के तांगे वालो की श्रेणी के होते हैं) रसानुभूति का बांध तोडकर फूट निकलती है और पैसा फेंकने लगते है। उन्हें आत्म-बोध नही रहता। दूसरी कोटि के वे रसानुभवकर्त्ता हैं जिन्हें रसिक

कहता हूँ। बहुत से सामान्य लोग मधुर चित्रो को देखकर एक दूसरे को छेडने लगते है। उस समय वे भावमग्न रहते हैं। तीसरे वे सहृदय व्यक्ति होते है जो अपने अनुरूप रसानुभूति के प्रसगो को देखकर भावमग्न हो जाते है। रसानुभूति की चौथी कोटि आत्मानन्दी की होती है। आत्मानन्दी रसिक शान्त और भक्ति सम्बन्धा चित्रो मे इतना लीन हो जाते हैं कि उन्हें आत्म-बोध ही नही रह जाता। यह रसानुभूति की उच्चतम अवस्था है। जिस साहित्य मे उपर्युक्त कोटियो मे से जितने ऊँचे स्तर की रसानुभूति तक ले जाने की क्षमता होगी वह साहित्य उतना ही महान् होगा। भक्तिकालीन साहित्य मे हमे आत्मानन्दी की कोटि की रसानुभूति मिलती हैं। इसीलिए हिन्दी साहित्य मे उस युग के साहित्य का इतना बडा महत्त्व है। इसके विपरीत रीतिकालीन साहित्य मे रसिको की कोटि की रसाभिव्यक्ति हुई थी। छायावाद मे सहृदयो की कोटि की रसानुभूति की अभिव्यक्ति मिलती है। प्रगतिवाद मे हमे लम्पटो की कोटि की रसानुभूति होती है। इसीलिए प्रगतिवादी साहित्य अधिक प्रभावोत्पादक और स्थायी नही हो सकेगा, ऐसी मेरी धारणा है। वास्तव मे साहित्यकार को श्रेष्ठतम कोटि की रस दशा को अपने काव्य मे लाने की चेष्टा करनी चाहिए तभी उसका साहित्य उच्चकोटि का और स्थायी हो सकता है।

अलकार—प्रगतिवादी साहित्य मे अलकारो को महत्त्व नही दिया गया है। उसका लक्ष्य जन-विचारो का धारण करना है, अलकारो को वहन करना नही। पन्त लिखते है—

> "तुम वहन कर सको जन कन मेरे विचार,
> वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलकार।"

इसी प्रकार नरेन्द्र शर्मा ने घोषणा की है—

> "ये अलकार—
> वह भार-मोह के बन्धन हैं
> दे तोड उन्हें"

डॉ० रामविलास ने तो यहाँ तक लिखा है कि अलकार समाज-हितैषी साहित्य को जन्म नही दे सकते (देखिए प्रगति और परम्परा)। मैं प्रगतिवादियो से इस दिशा मे केवल इसी अर्थ मे सहमत हूँ कि प्रगतिवादी कवि को अपनी कविता को प्रयत्नज और अनावश्यक अलकारो से नही लादना चाहिए। किन्तु अभिव्यक्ति और वाणी मे वह सहज चमत्कार होना चाहिए जो सहज अलकारो के द्वारा उद्भूत होता है। पन्त आदि की प्रगतिवादी रचनाओ मे हमे सहज अलकारो की स्वाभाविक योजना मिलती है। इसीलिए उनकी कविताओ मे वह रमणीयता पाते है जो अन्य प्रगतिवादी कवियो मे नही उपलब्ध होती है। उदाहरण रूप उनकी 'ग्राम-युवती' शीर्षक कविता ली जा सकती है। सहज उपमा सुन्दर का उदाहरण देखिए—

> "उन्मद यौवन उभर
> घटा सी नव-प्रसाद से सुन्दर

अति श्याम वरण
श्लथ भेद चरण
इठलाती आती ग्राम युवति
वह गजगति
सर्प डगर पर।"

पन्त की उपर्युक्त पंक्तियो पर इस बात का ज्वलत प्रमाण है। साहित्य प्रगतिवादी होते हुए भी साहित्यिकता से विभूषित हो सकता है।

छन्द—प्रगतिवादी कवि जिस प्रकार आचार, नीति, अलकार, रसात्मकता आदि के वन्धनो से मुक्त रहना चाहते है, वैसे ही छन्द के कठोर वन्धनो को भी तोड डालना चाहते हैं। उन्होने स्वतत्र छन्दो की योजना की है और नए से नए ढग से लिखने का प्रयास किया है। भाषा सम्वन्धी दृष्टिकोण इनका अपना अलग है। वे भाषा मे प्रसाद, प्रवाह और सरल प्रयोगो के अधिक अनुयायी है। भाषा को किसी प्रकार के चमत्कारो से लादना वे प्रगतिवादी सिद्धान्त के विरुद्ध समझते हैं। इसमे कोई सन्देह नही है कि इन कवियो ने जनसाधारण की भाषा में साहित्य की अभिव्यक्ति कर साहित्य का वडा कल्याण किया है।

प्रसिद्ध प्रगतिवादी कवि—प्रगतिवादी कविताओ की रचना करने वाले कवियो मे गुप्त, निराला, पन्त, नरेन्द्र शर्मा, अचल, दिनकर, वच्चन, राहुल, यशपाल, रामविलास, शिवदानसिंह, रागेय राघव, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, उदयशकर भट्ट, शिवमगलसिंह सुमन, नागार्जुन, महेन्द्र भटनागर, शमशेर वहादुर आदि विशेष उल्लेखनीय है।

प्रयोगवाद

सन् १९४३ के आस-पास कुछ तरुण कवियो ने हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र मे नए-नए वादो की अवतारणा करने का प्रयास किया। ऐसे तरुण कवियो मे अज्ञेयजी अग्रगण्य है। इस नए वाद को उन्होने कोई उपयुक्त नाम के अभाव में प्रयोगवाद का अभिधान दे दिया। अज्ञेयजी के सम्पादकत्व मे 'तार-सप्तक' नामक कविता-सग्रह दो भागो मे प्रकाशित हुआ। दोनो भागो मे १४ कवियो की नवीनतम रचनाएँ सग्रहीत की गयी हैं। इन कवियो मे गजानन, माधव, मुक्ति-वोध, रामविलास शर्मा, भारतभूषण, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, नेमिचन्द्र आदि उल्लेखनीय हैं।

उन कवियो की रचनाओ के साथ-साथ उनके सम्बन्ध मे उनके दृष्टिकोण भी दिए गए हैं। इस ढग की कुछ कविताएँ 'प्रतीक' नामक पत्रिका मे भी प्रकाशित हुई थी। आगे चलकर इस प्रयोगवादी कविता के कई सग्रह प्रकाशित हुए। उनमे प्रयोगवादी कविताओ की रचनाओ को नई कविता का अभिधान दिया गया है। इस प्रकार के नई कविता के सग्रहों मे 'कविता' शीर्षक सग्रह विशेष उल्लेखनीय है। अज्ञेयजी ने इस नई कविता से सम्वन्धित 'भग्न-दूत', 'चिन्ता', 'इत्यलम्', 'हरी घास पर क्षण भर' तथा 'वावरा अहेरी' आदि कई सग्रह प्रकाशित किए। रामधारीसिंह 'दिनकर'

के 'इतिहास के आँसू', 'धूप और धुआँ' आदि सग्रह मे हमे प्रयोगवादी नई कविताएँ ही मिलती हैं। प्रयोगवादी कवियो मे गिरिजाकुमार माथुर का नाम भी उल्लेखनीय है। उनके 'नाश और निर्माण', 'धूप के धान', 'मजीर' नामक सग्रह मे बहुत सी प्रयोगवादी कविताएँ सग्रहीत है। उदयशकर भट्ट के 'यथार्थ और कल्पना' तथा 'युग-दीप' आदि सग्रहो मे उनकी प्रयोगवादी कविताएँ सग्रहीत है।

इनके अतिरिक्त नई कविता-क्षेत्र मे शिवमगलसिंह सुमन का 'पर आँखे नही भरी', नागार्जुन का 'युग-धारा', त्रिलोचन का 'धरती के फूल', केदारनाथ अग्रवाल के 'युग की गगा' और 'नीद का बादल', जगदीश गुप्त के 'नाव के पाँव', गगाप्रसाद पाण्डेय का 'नवीना', धर्मवीर भारती का 'अधा युग', क्षेम के 'जीवन तरी', 'नीलम ज्योति' और 'सघर्ष', शम्भूनाथसिंह का 'दिव्यालोक', रमानाथ अवस्थी का 'आग और पराग', नीरज का 'विभावरी', तरुण के 'प्रथम किरण', 'हिमाचला', तथा कमल साहित्यालकार के 'विपची', 'नए गीत' और 'नया स्वर्ग' आदि काव्य-सग्रहो मे अनेक कविताएँ ऐसी है जो प्रयोगवादी नई कविता के अन्तर्गत आती हैं, और उसकी प्रवृत्तियो का स्पष्टीकरण करती है।

प्रेरणा और पृष्ठभूमि—प्रयोगवादी नई कविता का उदय अपने युग की नवीन परिस्थितियो की प्रेरणा से हुआ था। वह युग महायुद्ध का युग था। सम्पूर्ण समाज की चेतना झनझना रही थी। उसकी नैतिकता को अनैतिकता झकझोर रही थी। साहित्य और कला का गला घोटा जा रहा था। किसी को गम्भीर साहित्य के पढने की न तो फुर्सत ही थी और न रुचि ही। ऐसी ही विषम परिस्थितियों मे कविता की क्रान्तिप्रिय और खुल्खल प्रतिभा ने घासलेटी साहित्य का प्रवर्त्तन प्रयोगवाद के नाम से किया। अच्छा हुआ इस धारा मे आगे चलकर 'दिनकर', उदयशकर भट्ट आदि कवियो के प्रयास से 'नई कविता' की कुछ उदात्त और गम्भीर प्रवृत्तियो का उदय हुआ और वह सद्कविता के रूप मे विकसित हुई।

हिन्दी की प्रयोगवादी कविता को नई अग्रेजी कविता से भी प्रेरणा मिली होगी। १६वी शताब्दी मे फ्रास मे कुछ कवि हुए थे, जिनमे बोदलीयर, मालार्यो, वर्लेन, प्रस्त आदि बहुत प्रसिद्ध है। उनकी कविता में कुछ नवीन प्रवृत्तियो का उदय हुआ था। इन प्रवृत्तियो ने नई हिन्दी कविता को प्रभावित किया।

यहाँ पर एक प्रश्न उठ खडा होता है। वह यह कि क्या प्रयोगवाद कोई नया वाद है। इसका उत्तर अज्ञेयजी ने ही दे दिया है। उन्होने लिखा है—

"प्रयोगवादी कवि किसी एक स्कूल के नही है। अभी राही है, राही नही राह के अन्वेषी।" बात ठीक है। प्रयोगवाद का उदय प्रयोग के रूप मे हुआ था, निश्चित सिद्धान्त और विचार या भावधारा के रूप मे नही। प्रयोग धीरे-धीरे किसी निश्चित स्वरूप पर ले जाते है। यही हाल प्रयोगवादी कविता का हुआ। उसका प्रारम्भ हुआ अपनी-अपनी ढफली और अपना-अपना राग लेकर, किन्तु उसका विकास एक सुव्यवस्थित विचारधारा और भावधारा के रूप मे हुआ, जिसे अब नई कविता कहने

लगे हैं। दूसरे शब्दो मे यो कह सकता हूँ कि वर्तमान हिन्दी कविता के अविकसित आधुनिकतम रूप को 'प्रयोगवाद' और उसके सुव्यवस्थित रूप को 'नई कविता' कहा जाता है।

प्रयोगवादी कविता की प्रमुख प्रवृत्ति—जब प्रयोगवादी कवि अपनी-अपनी डफली अपना-अपना राग लेकर लक्ष्यहीन होकर काव्य-क्षेत्र मे दौड लगाने लगे तब लक्ष्यहीन मनमाने ढग की कविता को प्रयोगवादी कविता कहा गया। "उनमे मतैक्य नही है। सभी महत्त्वपूर्ण विपयो पर उनकी राय अलग-अलग है"—इस कथन में पूर्ण सार्थकता है। प्रभाकर माचवे की कविता मे उदाहरणो की प्रधानता है। गिरिजा-कुमार माथुर की कविता मे सगीत की प्रधानता है। इसी प्रकार प्रत्येक प्रयोगवादी कवि की अपनी-अपनी प्रवृत्ति अलग-अलग है। इस विशृखलता के कारण को स्पष्ट करते हुए एक प्रयोगवादी आलोचक ने ही लिखा है—प्रयोगवादी कवि किसी एक स्कूल के राही नही है। अभी राही राही ही नही राह के अन्वेपी है।

प्रयोगवादी कविता मे वचपना भी वहुत है। रामविलास शर्मा की कविता का एक उदाहरण है—

"हाथी घोडा पालकी, जै कन्हैया लाल की।
हिन्दू हिन्दुस्तान की, जै हिटलर भगवान की॥"

फ्रायड के यौनवाद से प्रयोगवादी प्रभावित हुए विना नही रह सके। उनकी सौन्दर्यानुभूति यौन-मूलक अधिक है, स्वस्थ कम। उनके उपमान उनके प्रतीकार्थ भी यौन-भावना प्रधान ही हैं। मुझे यह कहने मे सकोच नही कि प्रयोगवादी कवियो की सवेदना फ्रायडियन अधिक है। अज्ञेय की दो पक्तियाँ—

"ठहर ठहर आततायी! जरा सुनले।
मेरे क्रुद्ध वीर्य की पुकार आज सुन जा।"

प्रारम्भिक प्रयोगवादी कविता मे रूमानी भावो और चित्र की भी प्रधानता रही है। उदाहरण के लिए नरेन्द्र शर्मा की 'प्रवासी के गीत' की कविताएँ ले सकते है। रूमानीपन से प्रभावित एक गीत के कुछ अश इस प्रकार हैं—

"तुम्हें याद है क्या उस दिन की
नए कोट के वटन होल मे
हँस कर प्रिय लगा दी थी जब
वह गुलाव की लाल कली,
फिर कुछ शरनाकर साहस कर
वोली थी तुम, इसको यो ही
खेल समझ कर फेंक न देना
है यह प्रेम भेंट पहली॥"

प्रयोगवादी कवि ने शैली-क्षेत्र मे अनेक नए-नए प्रयोग किए हैं। इन लोगों ने लोक-गीतो, उर्दू छन्दो आदि के विविध रूपो मे अपनी कविता को ढालने का

प्रयास भी किया है। शैली-क्षेत्र मे ही विराम वैचित्र्य भी आता है। इन्होने प्रयोग-वैचित्र्य प्रदर्शित करने के लिए कही सीधी लकीरें लगाई, कही तिरछी लकीरो का प्रयोग किया है। कही छोटे टाइप और कही बडे टाइप की छटा दिखाई पड़ती है। कही-कही तो अधूरे वाक्यो द्वारा ही अभिव्यक्ति को नई चेतना देने की चेष्टा की है।

प्रयोगवादी कवियो ने भाव, भाषा, रूप और शैली—सभी क्षेत्रो मे नए प्रयोग कर नवीनता लाने की चेष्टा की है। नई कविता की धारा बौद्धिक अधिक है, उसमे ससार की भौतिक समृद्धि को सत्य मानकर उसी के बल पर जीवन को सुखी बनाने का प्रयास किया गया है। इसके लिए उसने मार्क्सवाद से प्रेरणा ग्रहण की है। इस प्रभाव के कारण ही नन्ददुलारे बाजपेयी ने इसे अभारतीय तक कह डाला है। किन्तु इस प्रकार के कथनो को मैं अनर्गल मानता हूँ। उनके जैसे सम्भ्रान्त आलोचको को इस प्रकार के अतिवादी कथनो से सदैव बचने का प्रयास करना चाहिए। सोचने की बात है, जो वस्तु भारत मे भारतीयो द्वारा उत्पन्न की गई है उसे अभारतीय कैसे कहा जा सकता है। अगर कहना ही चाहें तो प्रयोगवाद की प्रेरणा और पृष्ठभूमि को अभारतीय कह सकते है।

प्रयोगवादी कवियो में हमे प्रयोगो की नवीनता मिलती है। प्रयोगो की नवीनता कही-कही विशृखल रूप मे विकसित हो गई है, जिसका फल यह हुआ कि कुछ प्रयोग अशास्त्रीय भी हो गए। डॉ० प्रेमनारायण ने इस प्रकार के प्रयोगो की विशेष निन्दा की है। किन्तु जिसकी कविता का लक्ष्य ही नए प्रयोग करना है वह शास्त्र का अनुसरण कहाँ तक कर सकती है। यह तो स्वय सोचने की बात है।

प्रयोगवादियो ने छन्द-क्षेत्र मे नए सफल प्रयास किए हैं। उर्दू की गजल और रुबाइयो की हिन्दी काव्य-क्षेत्र में सफल अवतारणा हुई है। गजल का एक उदाहरण देखिए—

> "खोल दो द्वार अब प्रेयसी प्राप्त का,
> मुक्त हो बन्दी अभी दिन-रात का।
> जानता हूँ किस लिए बिखरा तिमिर,
> क्योंकि खिलता था हृदय जलजात का।"—नई कविता, पृष्ठ ५८२

इसी प्रकार अँग्रेजी के ओड, सानेट, वैलेड आदि छन्दो के प्रयोग किए गए हैं। मुक्त-छन्द दिशा मे भी अनेक नए प्रयोग किये गए है। गिरिजाकुमार माथुर ने 'नाश और निर्माण' की कुछ कविताओ मे नए छन्दो का प्रयोग किया है। इसी सग्रह की 'उजियाला' शीर्षक कविता में भी नए ढँग के छन्द का प्रयोग है। इसमें परम्परागत व्यञ्जन तुकान्तो के स्थान पर स्वर-ध्वनियो के सहारे छन्द का प्रभाव प्रकट किया गया है। इसी प्रकार कविता में बहुत से लोक-गीतो की तर्जों का अनुसरण किया गया है। सच तो यह है कि प्रयोगवाद का सबसे महत्त्वपूर्ण आकर्षण नए-नए छन्दो के प्रयोग में रहा है।

भाषा मे प्रयोगो को नवीनता लाने का चेष्टा की गई है। उदाहरण के लिए गिरिजाकुमार माथुर के 'हेमती पूनो' से एक उदाहरण देखिए—

"चाँद हेमंती
हवा बहुत कटीली
चाँदनी फैली हुई है।
ओस नीली
चाँदनी डूबी हवा सुधि गध लाती।"

'याद के हिम-वक्ष से आँचल उडाता'—प्रयोगवादी शिल्प का उपयुक्त उद्धरण अच्छा उदाहरण है। इसी प्रकार प्रतीक-योजना-क्षेत्र मे भी नए-नए प्रयोग किए गए हैं। उदाहरण के रूप मे 'न्यूयार्क मे भ्रमण' शीर्षक कविता ले सकते हैं। उसमें नए प्रतीको के सुन्दर उदाहरण मिलते है। आजकल प्रतीक-योजना करने मे भी कवि लोग बेलगाम हो गए है। अब उसमे वसन्त मधुमास के स्थान पर जूते, चप्पल और कुत्ते प्रतीक बनने लगे हैं।

कविता लिखने की शैली के भी प्रयोग किए गए। मामूली भाव इस प्रकार बनाकर लिखा जाने लगा कि वे गैरमामूली लगने लगें, जैसे राजेन्द्रकिशोरजी 'अलविदा' मे कहते हैं—

"आ
आ
आ
 ओ
मेरे पास आ री
घड़ी भर के लिए सही
 मुझ पी
 जी
मेरी कल्पना मेरी कल्पना, मेरी वासना
 पी
 जी।"

इस प्रकार विराम चिन्हो का ऐसे-ऐसे ढग से प्रयोग किया गया है कि मालूम होता है कवि महोदय ने कोई नई शैली खोज निकाली है। किन्तु होती है वह केवल नवीनता की धुन मे जगने वाली उनकी कार्टूनी सूझ।

प्रयोगवादी कविता की सबसे प्रमुख विशेषता है गद्यात्मकता। बहुत सी कविताओ को पढकर यह पता ही नही चलता कि यह क्या है, गद्य-काव्य है या कविता है। यह उदाहरण देखिए—

"उनको क्या होगा
जिन्होंने मुझ से कोई भी नाता नहीं जोडा।
 मुर्दा है"

वे इतिहास मे नहीं आएँगे
मेरा क्या
मैं तो एक लहर सा आया हूँ
कुछ दिनों के लिए अपना एक प्रश्न चिह्न
छोड कर लौट जाऊँगा ।"

—'स्थितिया, अनुभव तथा अन्य कविताएँ' शीर्षक कविता-सग्रह

प्रकृति-वर्णन के प्रति प्रयोगवादी कवियो का भी लगाव लगा हुआ है । कमल साहित्यालकार की कविताओ में हमे प्रकृति-वर्णन का वडा ही भव्य रूप मिलता है । उनके 'सगिनी', 'क्रान्ति-दीप', 'नया स्वर्ग', 'आगे बढो', 'तिलाजलि', 'विपची' और 'नए गीत' नामक काव्य-सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं । आजकल वे 'चिरसुन्दर नित नूतन' नामक काव्य की रचना कर रहे है । उसमे काश्मीर, नैनीताल, मसूरी के दृश्यो का सजीव चित्र चित्रित किया जा रहा है । उसका प्रकृति-वर्णन निष्प्राण मान होकर मुखरित-सा प्रतीत होता है । एक उदाहरण है—

"झरनों का झर झर करता जल
नदियो में है शान्त बह रहा
समतल भू से ऊपर उठ
गिरि गौरव हूँ मै, मैं रुक कह रहा
सगिनी से ।"

वात जहाँ तक नए प्रयोगो की थी वहाँ तक तो प्रयोगवाद नाम थोड़ा सार्थक प्रतीत हुआ, किन्तु जव उन प्रयोगो के अन्तराल मे सुव्यवस्थित नई प्रवृत्तियाँ जगने लगी तो फिर प्रयोगवाद नाम निरर्थक और अनुपयुक्त प्रतीत होने लगा । परिणाम यह हुआ कि उसके लिए नए अभिधान की खोज होने लगी । अज्ञेय के इस कथन ने 'प्रयोग कोई वाद नही है और हमे प्रयोगवादी कहना उतना ही निरर्थक है, जितना हमे कवितावादी कहना'—नए अभिघान को खोज निकालने की चेष्टा की । किन्तु एक तो वर्तमान कविता की प्रवृत्तियो से पूर्ण परिचित न होने के कारण, दूसरे उसकी प्रवृत्तियो के सुस्पष्ट न होने के कारण कोई उपयुक्त अभिधान न मिल सका । अन्त मे हैरान होकर नई कविता को नई कविता कहा जाने लगा । मेरी समझ मे यह अभिघान वहुत भ्रामक है । वर्तमान युग की नई कविताओ की प्रवृत्तियो का अध्ययन कर उसे उसकी सवसे प्रमुख प्रवृत्ति प्रयत्नज नवीनता के आधार पर मै उसे 'प्रयत्नज नवीनता वाली वर्तमान काव्यधारा' कहना उपयुक्त समझता हूँ । प्रयत्नज नवीनता के अन्तर्गत जो कुछ भी आ सकता है वह सव नई कविता मे वर्तमान है । रूप, आकार और शैली सम्वन्धी नए-नए प्रयोग नए-नए पाश्चात्य वादो को ढग से व्यक्त करना, विराम-चिन्हो के विचित्र और कौतूहलोत्पादक प्रयोगो ने नवीनता लाना, छन्दो के नए विधानो को नए ढग से उतारने के नफन और असफल प्रयान, सगीतात्मकता के आरोपण के अभिनव प्रयास,

पूर्ववर्ती छायावादी प्रवृत्तियो को नए रूपो मे ढालने के प्रयास, प्रयत्नपूर्वक लाए गये उपमान और प्रतीको की योजना आदि-आदि इन सबकी योजना के मूल मे भावना कम और बुद्धि अधिक रहती है। जान-बूझ कर किए गए प्रयत्नो मे बुद्धि अधिक जागरूक रहती है, भावना-प्रेरित प्रयास तो मानसिक आवेग का परिणाम होते हैं। आज के युग की सबसे बड़ी विशेपता है मानव-भावना के स्थान पर बुद्धि को जागृत करना। बुद्धि की अति जागरूकता ने ही आज के कवि को भी आलोचक बना दिया है, और उसे गद्य मे कविता लिखने को वाध्य कर दिया है। विज्ञान के प्रति प्रचार ने उसकी भावुकता को और भी अधिक कुण्ठित कर दिया है, जिसका परिणाम यह हुआ कि वह कवि के स्थान पर विश्लेपक बन गया है। कुछ ने पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक बनने की चेष्टा की है। दर्शन के क्षेत्र मे भी प्रयत्नज नवीनता लाने की धुन मे मस्त कवियो मे बर्नार्ड शा, फ्रायड, एडलर आदि पाश्चात्य दार्शनिको से प्रेरणा प्राप्त की है। यह सब उसने अपने ज्ञान की नवीनता प्रदर्शित करने के लिए किया है। इन सबका परिणाम यह हुआ कि इस कविता मे नवीनता तो आई, किन्तु नैसर्गिक रमणीयता नही आ सकी। उसके शरीर की गठन मे नई चेतना आई, उसमे नव-प्राण का सचार नही हुआ। इसके लिए आज के कवियो को मानवतावाद के नए धरातल खोजने पडेगे जो उन्हे भावमग्न करने मे समर्थ हो सके, उसकी सच्ची काव्यात्मा को मुखरित करने मे समर्थ हो। जिस मानवतावाद का विकास किया जाय उसकी आधारभूमि भारतीय सस्कृति और राष्ट्र-विकास की चेतना होनी चाहिए। सन्तोप का विषय है कि पत, उदयशकर भट्ट, नीरज, गिरिजाकुमार माथुर आदि इस दिशा मे अग्रसर हो रहे हैं। पत का 'मानवतावाद', अरविन्द के मानवतावाद से प्रेरित होने के कारण सर्वथा श्लाघनीय है। उदयशकर भट्ट के 'यथार्थ और कल्पना' तथा 'युगदीप' नामक सग्रह मे जिस मानवतावादी दृष्टिकोण का विकास हुआ है वह भी स्वस्थ प्रतीत होता है। उनकी आस्था नए छन्दो, नए प्रयोगो, विराम-चिन्हो की नई योजना पर न होकर नए जीवन पर ही है। नए समाज की कल्पना कर उनकी वाणी ने अपने को गौरवान्वित किया है। कमल साहित्यालकार का नाम भी इस दृष्टि से नही भुलाया जा सकता। उनका 'नया स्वर्ग', 'आगे बढो', 'विपची' और 'नए गीत' शीर्षक सग्रहो मे बहुत कुछ विकासोन्मुख मानवतावादी कविताओ का ही सग्रह है। इन कवियो के अतिरिक्त इस दिशा मे और भी कुछ तरुण कवि अग्रसर हो रहे है। नीरज की 'दर्द दिया है' सग्रह की कविताएँ आशा बँधा रही है।

नए मानवतावाद के विकास के साथ कवियों को प्रेपणीयता और खोजने पड़ेंगे और भापा की पुरानी व्यजना-शक्ति का भी आश्रय लेना पडेगा, रूप और अभिव्यक्ति को स्वस्थ बनाना पडेगा, तभी वर्तमान कविता-कामिनी का मुख दैदीप्यमान हो सकेगा।

: २ :

नाटक

नाटक, नाट्य और रूपक व ड्रामा

सस्कृत मे नाटक शब्द का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ मे होता है। हिन्दी में जिस अर्थ मे इसका प्रयोग प्रचलित है उस अर्थ को द्योतित करने के लिए सस्कृत मे 'रूपक', 'रूप्य' और 'नाट्य' शब्दो का प्रयोग किया जाता है।

रूपक शब्द 'रूप' धातु मे 'ण्वुल' प्रत्यय जोडने से बना है। रूपक या रूप शब्द का प्रयोग नाट्य के अर्थ मे बहुत प्राचीन काल से होता आया है। नाट्य शास्त्र मे अनेक स्थलो पर दशरूप शब्द का प्रयोग नाट्य की दस विधाओ के अर्थ मे किया गया है। नाट्य-शास्त्र का समय ईसवी पूर्व पहली शताब्दी से लेकर तीसरी शताब्दी ईसवी के बीच मे निश्चित किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि रूपक शब्द का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से होता आया है।

रूपक के लिए सस्कृत मे नाट्य शब्द का प्रयोग भी किया गया है। नाट्य शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है। 'नाट्य-दर्पण' के रचयिता रामचन्द्र के मतानुसार यह शब्द 'नाट्य' धातु से व्युत्पन्न हुआ। आचार्य पाणिनि का मत इससे भिन्न है। वे नाट्य की उत्पत्ति 'नट्' धातु से मानते है। 'नट् धातु' के सम्बन्ध मे भी विद्वानो मे बडा मतभेद है। वेवर साहब ने 'नट्' धातु को 'नृत्त' का प्राकृत रूप माना है। मोनियर विलियम्स ने अपने कोष मे इसी मत का समर्थन किया है। कुछ दूसरे विद्वानो ने अनुमान भिडाया है कि 'नट्' धातु 'नृत्त' का प्राकृत रूप तो नही है किन्तु इसका जन्म नृत्त की अपेक्षा बहुत बाद मे हुआ था। किन्तु इस मत का खण्डन मै सप्रमाण कर चुका हूँ। (देखिए सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ मे सस्कृत नाट्य-शास्त्र मे रूपक का स्वरूप तथा भेद-प्रभेद शीर्षक निबन्ध।) वास्तव मे नाट्य शब्द 'नट्' धातु से ही बना है। 'नट्' धातु मे नृत्त के अर्थ के साथ-साथ अभिनय का अर्थ भी सम्बद्ध है। भरतमुनि ने नाट्य शब्द को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि सम्पूर्ण ससार के भावो का अनुकीर्तन ही नाट्य है। इसी को और अधिक स्पष्ट करते हुए दशरूपककार ने लिखा है 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्'। उसकी व्याख्या करते हुए धनिक ने लिखा है—

"काव्य मे नायक की जो धीरोदात्त इत्यादि अवस्थाएँ बतलाई गई है उनकी एकरूपता जब नट अभिनय के द्वारा प्राप्त कर लेता है तब वही एकरूपता की प्राप्ति 'नाट्य' कहलाती है। यह अभिनय चार प्रकार का होता है—वाचिक,

आंगिक, सात्विक और आहार्य। वचनो के द्वारा जो अभिनय किया जाता है उसे 'वाचिक' कहते हैं। भुजाक्षेप इत्यादि अगो का अभिनय 'आंगिक' अभिनय कहलाता है। स्तम्भ, स्वेद इत्यादि सात्विक भावो के अभिनय को 'सात्विक' अभिनय कहते हैं और वेश, रचना इत्यादि के द्वारा जो अभिनय किया जाता है उसे 'आहार्य' अभिनय कहते हैं।"

नाट्य और रूपक यद्यपि पर्यायवाची बताए गए हैं, किन्तु मेरी समझ मे दोनो मे सूक्ष्म भेद है। नाट्य मे केवल अनुकृति को महत्त्व दिया गया है, रूपारोपण को नही। रूपक मे अनुकृति के साथ-साथ रूप के आरोप पर भी बल दिया गया है। अतएव मै नाटक के लिए रूपक शब्द का प्रयोग नाट्य की अपेक्षा अधिक उपयुक्त समझता हूँ। सम्भवत सस्कृत के नाट्यशास्त्रीय आचार्यों ने भी नाट्य की अपेक्षा रूपक का ही शब्द प्रयोग अधिक किया है।

अग्रेजी मे नाटक के लिए 'ड्रामा' शब्द का प्रयोग किया जाता है। ड्रामा शब्द का ग्रीक मे सक्रियता अर्थ होता है। एश्लेड्यूक्स ने अपने इगलिश ड्रामा नामक ग्रन्थ मे स्पष्ट लिखा है कि—

अर्थात् ड्रामा शब्द ग्रीक मे सक्रियता का वाचक होता है। ड्रामा शब्द की व्युत्पत्ति से भारतीय और पाश्चात्य नाटको के मौलिक अन्तर का स्पष्टीकरण भी हो गया। भारत मे अनुकरण और अभिनय को नाटक का प्रमुख तत्त्व माना जाता है और पाश्चात्य देशो मे सक्रियता को इसका प्रमुख उपादान ध्वनित किया गया है।

नाट्य, नृत्त और नृत्य

नाट्यशास्त्र के ग्रन्थो मे प्राय इन तीनो की चर्चा मिलती है। किन्तु इस चर्चा का श्रेय दशरूपककार को ही है, क्योकि दशरूपक के पूर्व के ग्रन्थो मे इन पर कही भी शास्त्रीय ढग से विवेचन नही किया गया है। नाट्यशास्त्र मे यह विषय स्पर्श करके छोड दिया गया है। उसके शास्त्रीय विवेचन की उपेक्षा की गई है। दश-रूपक के अनुकरण पर धनजय और धनिक के परवर्ती आचार्यों ने इस विषय का अच्छा विवेचन किया है। इन आचार्यों में भावप्रकाश के रचयिता शारदातनय, प्रतापरुद्रदेव, यशोभूषण के प्रणेता विद्यानाथ, सगीत रत्नाकर के प्रणेता नि शक शारङ्गदेव आदि प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त साहित्य-दर्पण, नाट्य-दर्पण, सिद्धान्त-कौमुदी आदि ग्रन्थो मे भी इस विषय पर प्रकाश डाला गया है।

नाट्य के स्वरूप को धनजय और धनिक दोनो ने ही विस्तार से समझाने की चेष्टा की है। उन दोनो के मतानुसार नाट्य मे निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं—

(१) नाट्य मे नायको की धीरोदात्तादि अवस्थाओ का और उनकी वेश-रचना आदि का अनुकरण प्रधान रहता है।

(२) उसमे अगो के सचालन की विविध कलाएँ भी दिखाई पडती हैं।

(३) नाट्य को रूपक भी कहते है, क्योकि यह देखा जाता है। इसकी यह चाक्षुष प्रत्यक्षता इसकी तीसरी विशेषता है।

(४) नाट्य रसाश्रित होता है।

(५) सात्विक अभिनय की बहुलता होती है।

(६) नाट्य मे वाक्यार्थ का अभिनय होता है।

नृत्य—यह शब्द 'नृतीगात्रविक्षेपे' इस धातु मे 'क्यप्' प्रत्यय लगकर सम्पन्न हुआ है। नृत्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए दशरूपककार ने लिखा हैं—

"अन्यम्दावाश्रय नृत्यम्"

इस कारिका की टीका मे धनिक ने नृत्य की निम्नलिखित विशेपताएँ ध्वनित की है—

(१) नृत्य मे भावो का अनुकरण प्रधान रहता है।

(२) इसमे आगिक अभिनय की ही प्रधानता रहती है।

(३) नृत्य मे पदार्थ का अभिनय रहता है।

नाट्य और नृत्य की तुलना

नाट्य और नृत्य दोनो आपस मे इतने मिलते-जुलते है कि लोगो को भ्रम हो जाता है कि दोनो एक ही वस्तु है। किन्तु दोनो कुछ बातो मे समान होते हुए भी एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न होते है।

समानताएँ—(१) नाट्य और नृत्य दोनो मे ही अगो का कलात्मक ढग से सचालन करना पड़ता है।

(२) नाट्य और नृत्य दोनो ही अनुकरणात्मक होते है। एक मे अवस्थाओ का अनुकरण किया जाता है, दूसरे मे भावो का।

अन्तर—(१) नाट्य रसाश्रित होता है। रस के अग होते हैं—विभाव, अनुभाव, सचारी इत्यादि। विभाव के भी दो प्रधान पक्ष होते है—आलम्वन और उद्दीपन। नाट्य मे इन सभी का अनुकरण किया जाता है। इसके अतिरिक्त नाट्य मे वाक्य का अभिनय प्रधान रहता है। रस निष्पत्ति के लिए विभाव इत्यादि का सयोग अनिवार्य होता है। विभाव इत्यादि का परिणाम सर्वदा पदार्थ के अधीन हुआ करता है। उन पदार्थों से जो वाक्यार्थ वनता है वही रस-निष्पत्ति का हेतु हुआ करता है। इस प्रकार नाट्य मे वाक्यार्थ का अभिनय करते हुए रस का आश्रय लिया जाता है। इसके विपरीत नृत्य भावाश्रित होता है। उसमे केवल भावो का अनुकरणात्मक प्रदर्शन किया जाता है। इसीलिए नाट्य मे कथोपकथन भी पाये जाते हैं। किन्तु नृत्य मे इनकी अपेक्षा नही होती है।

(२) नृत्य मे केवल आगिक अभिनय की प्रधानता रहती है। किन्तु नाट्य मे आगिक अभिनय के साथ-साथ सात्विक अभिनय को भी विशेप महत्त्व दिया जाता है।

(३) नृत्य मे काव्य का सम्वन्ध नही होता, और उसमे कोई सुनने की

बात भी नहीं होती। इसीलिए प्राय लोग कहा करते है कि नृत्य केवल देखने की वस्तु है। किन्तु नाट्य मे देखने के साथ-साथ कुछ सुनने की सामग्री भी होती है। यह दोनों मे मौलिक भेद है।

(४) नृत्य मे पदार्थ का अभिनय प्रस्तुत किया जाता है। इसके विपरीत नाट्य मे वाक्य के अभिनय को प्रधानता दी जाती है।

नृत्य और नृत्त का तुलनात्मक विवेचन

अब थोडा सा विचार नृत्य और नृत्त के स्वरूपो पर तुलनात्मक ढग से कर लेना चाहिए। यो तो नृत्य और नृत्त दोनो ही शब्द नृत् नाम एक ही धातु से बने हैं। किन्तु दोनो के स्वरूपो मे परस्पर बडा अन्तर है। नृत्य का स्वरूप हम ऊपर स्पष्ट कर चुके है। यहाँ पर नृत्त के स्वरूप पर थोड़ा सा प्रकाश डाल देना चाहते है। नृत्य को स्पष्ट करते हुए दशरूपककार मे लिखा है—

"नृत्त ताल लयाश्रयम्"

अर्थात् नृत्य उसे कहते हैं जो ताल और लय के आश्रित हो। नृत्त मे ताल और लय के अनुरूप गात्र विक्षेपरण किया जाता है।

नृत्य और नृत्त की तुलना

समानताएँ—(१) अगो का विक्षेप दोनो मे ही अपेक्षित समझा जाता है।

(२) दोनो ही नाटक के अभिनय की सफलता मे सहायक होते हैं। नृत्य अवान्तर पदार्थों के अभिनय को परिष्कृत करता है। यह बात धनिक के 'नृत्यस्य-क्वचिदवान्तर पदार्थाभियेन' से प्रकट है। नृत्य से अभिनय की शोभा बढती है। 'नृत्यस्य च शोभा हेतुत्वेन' से प्रकट है।

अन्तर—(१) नृत्य मे अग-विक्षेप क्रिया-भावो के सहारे सचरित होती है। नृत्य मे वह ताल और लय के सहारे सचरित होती है।

(२) नृत्य मे पदार्थ का अभिनय होता है। किन्तु नृत्त मे किसी बात का अभिनय नही किया जाता है।

(३) नृत्य को लोग देवो द्वारा आविष्कृत मानते हैं इसलिए सार्वभौमिक वस्तु है। किन्तु नृत्त स्थानीय वस्तु होती है। उसका भिन्न-भिन्न स्थानो मे भिन्न-भिन्न रूपो मे विकास होता है। इसीलिए पहले को मार्ग और दूसरे को देशी कहते है।

(४) नृत्य भावाभिनय मे सहायक समझा जाता है। नृत्त केवल सौन्दर्य का विधायक मात्र होता है।

सक्षेप मे दशरूपककार के मतानुसार नाट्य और नृत्त तथा नृत्य और नृत्त मे यही अन्तर है।

भारतीय नाटको पर विदेशी प्रभाव माननेवालो के भ्रम का निराकरण

नाटको के उद्भव और विकास पर विचार करने से पूर्व हम एक बहुत बडे भ्रम का निराकरण कर देना चाहते हैं। बहुत से विदेशी विद्वानो ने, जिनमें वेबर,

विंडिश आदि प्रमुख हैं, यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि भारतीय नाट्य-कला का उद्भव और विकास ग्रीक नाट्य-कला से अनुप्रेरित और प्रभावित है। किन्तु यह मत सर्वथा पक्षपातपूर्ण और निराधार है। यहाँ पर सक्षेप मे उस पर विचार कर लेना आवश्यक है।

वैंबर साहब का मत—वैंबर साहब ने सस्कृत नाट्य-कला के उदय और विकास को ग्रीक नाट्य-कला से प्रभावित सिद्ध किया है। उसका कहना है कि प्राचीन काल मे ग्रीक और वैक्टिया के राजाओ से पजाब के राजाओ का घनिष्ट सम्बन्ध था। इस सम्बन्ध के फलस्वरूप ही भारतीय नाट्य-कला ग्रीक नाट्य-कला से प्रभावित हुई थी। वैंबर साहब के इस मत को दृढ भूमिका पर प्रस्थापित करने का श्रेय विंडिश नामक विद्वान को दिया जाता है।

विंडिश साहब का मत—विंडिश साहब ने अनेक तर्कों और प्रमाणो से यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ३४० से लेकर २६० ई० शताब्दी पूर्व मे प्रचलित न्यू एटिक कमेडीज़ ने भारतीय नाट्य-कला की रूप-रेखा सँभाली थी। अपने मत की पुष्टि मे उसमे निम्नलिखित तर्क दिए हैं—

विंडिश का पहला तर्क—उसका कहना है कि भारतीय नाटको के अको की विकास-कला, सब पात्रो के चले जाने के बाद पटाक्षेप का विधान, तथा नाटको मे पाँच अको के होने का नियम ग्रीक नाटको से ही ग्रहण किए गए है।

इस तर्क का खण्डन—वैंबर और विंडिश के इस तर्क का खण्डन कीथ महोदय ने किया है। उनका कहना है कि भारतीय नाटको मे कथावस्तु और अको का विभाजन कार्य के आधार पर किया जाता है। ग्रीक और रोम के नाटको मे यह बात नही पाई जाती है। अतएव विंडिश का उपर्युक्त तर्क सारहीन है।

विंडिश का दूसरा तर्क—उसने लिखा है कि ग्रीक और भारतीय नाटको मे हमे दृश्य मे स्वगतोक्ति पात्रो के अन्दर आने व बाहर जाने आदि से सम्बन्धित जो नियम मिलते है उनकी पारस्परिक समता इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि भारतीय नाट्य-कला ग्रीक नाट्य-कला से प्रभावित हुई थी।

दूसरे तर्क का खण्डन—कीथ ने विंडिश के इस तर्क का भी खण्डन किया है। उसका कहना है कि समान परिस्थितियो मे विकसित दो भिन्न नाट्य-परम्पराओ मे समान बातो का मिलना स्वाभाविक होता है। अतएव इसमे किसी एक पर दूसरे का प्रभाव नही सिद्ध किया जा सकता है।

विंडिश का तीसरा तर्क—विंडिश ने भारतीय नाट्य-कला मे प्रयुक्त कुछ ग्रीक ढग के शब्दो को लेकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि भारतीय नाट्य-कला मे वे शब्द ग्रीक नाट्य-कला से आए थे। ऐसे शब्दो मे एक शब्द 'जवनिका' है।

तीसरे तर्क का खण्डन—मैं जवनिका' शब्द के आधार पर भारतीय नाट्य-कला पर ग्रीक नाट्य-कला का प्रभाव स्वीकार करने के लिए तैयार नही हूँ, क्योकि जवनिका शब्द हमारे सस्कृत के हलायुध कोष मे स्पष्ट रूप से मिलता है। उस कोष मे स्पष्ट लिखा है 'जवनिका प्रतिसीरीस्यात्', अर्थात् जवनिका पर्दे को कहते हैं।

इस प्रकार हम इस तीसरे तर्क के आधार पर भी संस्कृत नाट्य-कला पर ग्रीक नाट्य-कला का प्रभाव नही स्वीकार कर सकते ।

विंडिश का चौथा तर्क—विंडिश साहब ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि जिस प्रकार ग्रीक और रोम की कॉमेडीज मे प्रणय-कथाओ की प्रधानता थी, उसी प्रकार संस्कृत नाटको मे भी प्रणय-कथाओ की प्रधानता है ।

चौथे तर्क का खण्डन—विंडिश का चौथा तर्क भी सारपूर्ण नही है । प्रणय भाव प्राणी मात्र का सबसे प्रधान मनोराग है । यदि सभी देशो के साहित्य मे उसको महत्त्व दिया गया हो तो इसमे आश्चर्य की क्या बात है । शाश्वत मनोभावो के वर्णनो के आधार पर हम दो साहित्यो के बीच मे पारस्परिक प्रभाव प्रक्रिया को स्वीकार नही कर सकते ।

विंडिश का पाँचवाँ तर्क—विंडिश का कहना है कि अभिज्ञान शाकुन्तलम् मे अभिज्ञान सम्बन्धी घटना की कल्पना ग्रीक नाटको के प्रभाव से की गई ।

पाँचवें तर्क का खण्डन—हमे विंडिश साहब का यह पाँचवाँ तर्क भी स्वीकार नही । संसार के सभी देशो और जातियो के प्रेमी और प्रेमिकाएँ प्रेम को चिरस्थायी बनाने के लिए प्रणय सम्बन्धी अभिज्ञान चिह्नो का परस्पर परिवर्तन करते रहे हैं । भारतीय नाट्य-कला पर ग्रीक नाट्य-कला का प्रभाव दिखाने के लिए इस प्रकार के शाश्वत नियम सर्वथा असमर्थ है ।

विंडिश का छठा तर्क—विंडिश ने 'मृच्छकटिक' का उदाहरण देते हुए यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि उसकी रचना ग्रीक कॉमेडियो के अनुकरण पर हुई थी । उनका कहना है कि मृच्छकटिक का नामकरण भी ग्रीक कॉमेडियो के नामो के ढग पर हुआ है । ग्रीक कॉमेडियो मे लिटिल पाट, छोटा बर्तन, बड़ी गाडी, जैसे नाटको के नाम मिलते है । उसने यह भी तर्क प्रस्तुत किया है कि जिस प्रकार ग्रीक नाटको मे प्रणय तथा राजनीतिक परिस्थितियो को मिलाकर चित्रित करने का नियम था, उसी ढग पर 'मृच्छकटिक' मे भी प्रणय-कथा और राजनीतिक परिस्थितियाँ सकलित करके रखी गई । इनके अतिरिक्त उसने मृच्छकटिक की और भी कई बातो की तुलना ग्रीक नाटको की बातो से की है और उनके आधार पर ही यह स्पष्ट रूप से सिद्ध करने की चेष्टा की है कि भारतीय नाट्य-कला ग्रीक नाट्य-कला से बहुत प्रभावित हुई थी ।

छठे तर्क का खण्डन—विंडिश के इस तर्क के खण्डन मे हमारा यह कहना है कि मृच्छकटिक संस्कृत का प्रतिनिधि नाटक नही है । केवल एक ही नाटक मे कुछ ग्रीक नाटको के तत्त्वो की समानता देखकर हम यह कदापि स्वीकार नही कर सकते कि भारतीय नाट्य-कला ग्रीक नाट्य-कला से प्रभावित होकर विकसित हुई थी । अतएव विंडिश और वेबर आदि के मत निस्सार है ।

संस्कृत नाट्य-कला पर शक लोगो का प्रभाव स्वीकार करना

प्रो० लेवी ने संस्कृत नाट्य-कला पर ग्रीक प्रभाव वाले मतो को अस्वीकार कर अपने शक प्रभाव वाले मत का प्रतिपादन किया । उसने यह सिद्ध करने की चेष्टा

की है कि सस्कृत नाटको की उत्पत्ति मे शक लोग बहुत सहायक हुए थे। उसका कहना है कि सस्कृत भाषा साहित्य भाषा के रूप मे लगभग पहली शताब्दी के आस-पास विकसित होने लगी थी। अपने इस मत के प्रमाण मे उसने रुद्रदमन के शिलालेख का सकेत किया है। रुद्रदमन का शिलालेख साहित्यिक सस्कृत का प्राचीनतम उपलब्ध उदाहरण है। इसका समय १५० ई० माना जाता है। इससे उसने यह निष्कर्ष निकाला है कि सस्कृत नाटको का विकास शक क्षत्रपो की छत्र-छाया मे जिनकी राजधानी उज्जैनी थी, हुआ था। उसका कहना है कि सस्कृत के कई बडे-बडे नाटककार उज्जैनी मे ही हुए थे।

लेवी के मत का खण्डन—हम लेवी के इस मत से सहमत नही है कि साहित्यिक सस्कृत का विकास पहली शताब्दी के आस-पास आरम्भ हुआ था। अश्वघोषक के नाटको और काव्यो की उपलब्धि से उसका मत स्वयमेव खण्डित हो जाता है। अश्वघोष के नाटक और काव्य इस बात को स्पष्ट प्रमाणित करते है कि साहित्यिक सस्कृत का विकास कम से कम चौथी शताब्दी पूर्व ही हो चला था। यदि ऐसा न होता तो अश्वघोष की भाषा इतनी प्राजल और प्रवाहयुक्त न होती। उस प्राजलता और प्रवाहात्मकता को प्राप्त करने मे साहित्यिक सस्कृत को तीन-चार सौ वर्ष अवश्य लग गए होगे। अतएव हम सस्कृत नाट्य-कला के विकास मे शको का प्रभाव भी नही स्वीकार कर सकते।

नाटको का उत्पत्ति सम्बन्धी मत

नाटको की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे हमे दो प्रकार के मत मिलते है—(१) धार्मिक तथा (२) लौकिक।

धार्मिक उत्पत्ति सम्बन्धी मत—धार्मिक उत्पत्ति से सम्बन्धित मत भी दो कोटि के है—

(क) दैवी उत्पत्ति सम्बन्धी मत, तथा

(ख) वेद और रामायणादि पर आधारित मत।

(क) **दैवी उत्पत्ति सम्बन्धी मत**—नाट्य-शास्त्र मे आचार्य भरतमुनि ने नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे एक दैवी कथा का उल्लेख किया है। उस कथा के अनुसार एक अनाध्याय के दिन आचार्य भरत जब अपने शिष्यो के साथ सध्यादि से निवृत्त होकर बैठे हुए थे तभी अत्रि आदि मुनियो ने उनसे आकर नाट्यवेद सम्बन्धी प्रश्न किया—

"नाट्य वेद कथ ब्रह्मन् उत्पन्न. कस्यवाकृते।
कत्यगकिम्प्रमाणश्च प्रयोगश्चास्य कीदृश.॥"

अर्थात् भगवन् हमे बताइये कि नाट्यवेद की उत्पत्ति किस प्रकार और किसके लिए हुई, कौन-कौन से उसके अग है? क्या उसके प्रमाण है और किस प्रकार उसका प्रयोग किया जाता है?

इस प्रश्न के उत्तर मे भरत मुनि ने निम्नलिखित कथा सुनाई—

सतयुग के स्वयम्भू मनवन्तर बीत जाने पर त्रेता युग का वैवस्वत मनवन्तर

प्रारम्भ हुआ। जनता मे सतोगुण के स्थान पर रजोगुण की प्रधानता होने लगी। उस समय इन्द्रादि देवताओ ने ब्रह्माजी के पास जाकर प्रार्थना की कि हे महाराज, हम ऐसा खेल देखना चाहते है जो देखा भी जा सके, और सुना भी जा सके। तथा जिसकी उपयोगिता शूद्र जाति के लिए भी हो। ब्रह्मा जी ने उनकी प्रार्थना सुन ली। चारो वेदो के तत्त्वो को लेकर उन्होने पचम वेद की रचना कर डाली। उन्होने ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस तत्त्व लेकर नाट्य-वेद का प्रणयन कर डाला।

"जग्राह पाठ ऋग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥"

नाट्य-वेद की रचना करके ब्रह्माजी ने उसे महर्षि भरत को सौप दिया। महर्षि भरत के सौ पुत्र थे। उन्होने अपने पुत्रो मे नाट्य-वेद के विभिन्न अगो को विभाजित कर दिया। उस नाट्य-वेद के लिए आचार्य ने पहले भारतीय सात्वती तथा आरभटी नामक वृत्तियो की रचना की। वाद मे वृहस्पति के अनुरोध से उन्हे कैशिकी वृत्ति भी रचनी पड़ी। कैशिकी वृत्ति के अभिनय के लिए उन्हे स्त्रियो की आवश्यकता पडी। तव ब्रह्माजी ने उन्हें मजुलाकेशी, सुकेशी आदि अप्सरायें दी, साथ ही कुछ वाद्य-यन्त्र आदि भी भेजे। नाट्य-वेद के सगीत-पक्ष की सफलता के लिए नारद तथा कुछ गन्धर्व लोग नियुक्त किए गए।"

इस प्रकार नाट्यशास्त्र मे इस मत का वडे विस्तार से उल्लेख किया गया है।

वेद, रामायणादि पर आधारित धार्मिक मत—इस प्रकार के निम्नलिखित मत प्रसिद्ध हैं—

(१) मैक्समूलर का वैदिक सलाप सम्वन्धी मत।
(२) लेवी का वैदिक सगीत सम्वन्धी मत।
(३) वानशोडर का नृत्य और सलाप सम्वन्धी मत।
(४) हरटैल का सलाप सम्वन्धी मत।
(५) विंडिश ओल्डन वर्ग और पिशेल के गद्य सम्वन्धी मत।
(६) ग्लेडनर का वैदिक वैलड सम्वन्धी मत।
(७) हरप्रसाद शास्त्री का इन्द्रध्वज वाला मत।
(८) हिलेब्रा का वैदिक मन्त्रो के उच्चारण से सम्वन्धित मत।
(९) ब्लोक का शैव धर्म मे नाटको की उत्पत्ति वताने वाला मत।
(१०) विण्टरनिट्स का कृष्णधारा के विकास से नाटको की उत्पत्ति सिद्ध करने वाला मत।
(११) कीथ का रामायण-महाभारत आदि मे सम्वन्धित मत।
(१२) स्कीट का छाया नाटको वाला मत।

(१) **मैक्समूलर का वैदिक सलाप सम्वन्धी मत**—मैक्समूलर ने ऋग्वेद के एक स्थल की व्याख्या करते हुए लिखा है कि मरुत् आदि देवताओ की वलि के

अवसर पर एक पुरोहित मरुत् बनता था, दूसरा इन्द्र। दोनो अभिनयात्मक ढग से बलि-प्रक्रिया प्रदर्शित करते थे। उसका यह भी कहना है कि बलि या अग्निहोत्री आदि के अवसर पर होता लोग अभिनयात्मिक ढग से मन्त्रो का उच्चारण करते थे और विविध देवताओ का अनुकरण करते हुए सलाप करते थे। आगे चलकर नाटको का उदय इन्ही वैदिक सलापो और अभिनयो से हुआ।

(२) **लैवी का मत**—लैवी साहब ने मैक्समूलर के मत का समर्थन करते हुए उसका थोडा परिष्कार और विकास किया है। उन्होने अपने 'ले थेटर इण्डियन' नामक ग्रन्थ मे यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ऋग्वेद मे अभिनय और अनुकरण तथा सलाप के तत्त्व विकसित हो चुके थे। सामवेद मे नृत्य और गीत तत्त्वो का विकास हुआ। उसका कहना है कि वैदिक काल मे नृत्य और गीत-प्रधान बहुत से धार्मिक ढग के अभिनय होते थे। आगे चलकर इन्ही अभिनयो से नाटकीय तत्त्वो का विकास हुआ।

(३) **वानशोडर साहब का मत**—इन्होने भी मैक्समूलर और लैवी के मत का ही विस्तार किया है। अपनी 'मिस्टीरियम एण्ड मिनस' नामक रचना मे इन्होने प्रमाणित कर दिया है कि भारतीय नाटको का विकास वैदिककालीन नृत्य, गीत, सोमपान, स्वगतोक्तियो और सलापो से हुआ।

(४) **हर्टेल का मत**—इन्होने मैक्समूलर, लैवी तथा शोडर के सिद्धान्तो का समर्थन और विस्तार ही किया है। इनका कहना है कि वैदिक सलाप यूरोप के मिस्ट्री प्लेज़ के सदृश होते थे। इन्ही सलापो से नाटको का विकास हुआ है। उसने यह भी सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वेद का सुपर्ण अध्याय एक प्रकार का नाटक ही है। उसने यह भी अनुमान किया है कि वर्तमानकालीन यात्राएँ प्राचीन नाटको का ही प्रतिरूप है।

(५) **विडिश ओल्डन वर्ग और पिशेल का मत**—इन तीनो विद्वानो ने मिलकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ऋग्वेदिक ऋचाओ के साथ-साथ गद्य भी था जो समय के प्रवाह मे पडकर अब लुप्त हो गया। उनका कहना है कि नाटको मे हमे जो गद्य पद्य के मिश्रण की परम्परा मिलती है वह पूर्ण वैदिक है। इनका अनुमान है कि ऋग्वेद एक प्रकार का वृहद् नाटक ही था। नाटको की परम्परा ऋग्वेद से ही निकली है।

(६) **प्रो० ग्लेडनर का मत**—पहले ये विडिश ओल्डनवर्ग और पिशेल के अनुयायी ही थे। बाद मे इन्होने अपना स्वतन्त्र मत प्रवर्तित किया था। इनका विश्वास है कि वैदिक ऋचाएँ एक प्रकार के वीर-गीत है। इन वीर-गीतो का प्राचीनतम रूप नाटकीय ढग का था। भारतीय नाटको का विकास उन्ही के अनुकरण पर हुआ है।

(७) **हरप्रसाद शास्त्री का मत**—इन्होने 'जर्नल आफ दी एशियाटिक सोसाइटी आफ बगाल' मे नाटको की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे एक लेख लिखकर यह सिद्ध किया है कि सस्कृत नाटको का विकास वैदिक इन्द्रध्वज उत्सव से हुआ है। होपकिन्स

नामक अंग्रेज विद्वान ने इनके मत का समर्थन करते हुए और अधिक विस्तार किया है।

(८) हिलेब्रा साहब का मत—हिलेब्रा साहब का मत हरप्रसाद शास्त्री के मत से बहुत मिलता-जुलता है। इन्होने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि भारत मे धार्मिक उत्सवो के अवसर पर भिन्न-भिन्न देवताओ के अभिनय किए जाते थे। उन अभिनयो मे उच्चारण सम्बन्धी भेद रखा जाता था। इस उच्चारण सम्बन्धी भेद के आधार पर ही नाटको का विकास हुआ।

(९) ब्लोक महोदय का मत—इन्होने भारतीय नाटको का उद्भव और विकास शैव धर्म से सिद्ध करने की चेष्टा की है। इनका अनुमान है कि प्राचीन काल मे शैव लोग शिव और पार्वती का रूप धारण करके अभिनय किया करते थे। उन्ही अभिनयो से ये भारतीय नाटको के उद्भव को प्रभावित मानते हैं। इन्होने अपने मत को विस्तार से समझाने की चेष्टा नही की इसलिए वह बहुत स्पष्ट नही है।

(१०) विण्टरनिट्ज साहब का मत—इन्होने 'इन्फ्लूएन्स आफ कृष्ण कल्ट्स आन दी ओरिजन आफ ड्रामा' नामक एक महत्त्वपूर्ण लेख लिखा है। इसमे इन्होने अनेक तर्कों के साथ यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि नाटको का उदय कृष्ण-धारणा के उदय के साथ-साथ हुआ है। रासलीला प्राचीन नाटको का ही प्रतिरूप है।

(११) कीथ का मत—कीथ ने अपने 'सस्कृत ड्रामा' नामक ग्रन्थ मे उपर्युक्त सभी मतो के प्रति अपना उपेक्षा भाव प्रकट किया है। उसकी अपनी धारणा यह है कि नाटको का विकास और उद्भव रामायण और महाभारत के अभिनयात्मक पाठ से हुआ है। उसका कहना है कि महाभारत मे जहाँ कही भी नट या नर्तक शब्द मिलते है वहाँ उनका अर्थ अनुकर्त्ता या अभिनय करने वाला ही है। उसने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि दूसरी शताब्दी के हरिवशपुराण मे पूर्ण और सफल नाटको का उल्लेख आया है। उसने अपने मत की पुष्टि मे साँची के एक शिला-चित्र का प्रमाण भी दिया है, जिसमे कत्थक लोग नृत्य और सगीत के साथ-साथ रामायण का पाठ करते हुए भी चित्रित किए गये है। उसका अनुमान है कि भारत या भरत शब्द महाभारत के पाठ करने वालो के लिए ही प्रयुक्त होता था। उसने भाट शब्द को भरत शब्द से ही निकला हुआ सिद्ध किया है। इसी प्रकार कुशीलव शब्द की व्युत्पत्ति भी उसने रामायण के कुश और लव के आधार पर बताई है।

(१२) स्कीट साहब का मत—स्कीट महोदय ने अपने 'मलायन मैजिक प्लेज' नामक ग्रन्थ मे यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि जावा के छाया नाटक धार्मिक थे। उन्ही से नाटको का विकास हुआ है। इसलिए नाटको की उत्पत्ति धार्मिक मानी जायगी।

(१३) दास गुप्ता साहब का मत—समस्त मतो की आलोचना करते हुए दास गुप्ता साहब ने अपने 'हिस्ट्री आफ क्लेसिकल लिट्रेचर' नामक ग्रन्थ मे नाटको की वैदिक उत्पत्ति सम्बन्धी मतो पर कुठाराघात किया। अपने मत के पोषण

मे उन्होने तर्क दिया है कि वेद मे कही भी नट या नाटक शब्द का प्रयोग नही हुआ है।

(१४) **समस्त मतों की समीक्षा**—उपर्युक्त नाटकोद्भव सम्बन्धी विविध मतो की समीक्षा करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सभी मतो मे कुछ न कुछ सार है। हमारी समझ मे नाटको का जन्म ऋग्वैदिक काल मे ही हो चला था। उस युग मे प्रचलित होताओ के मन्त्रोच्चारण के शैली इन्द्रमरुत् आदि के अनुकरणात्मक अभिनय तथा यम-यमी, पुरुरवा, उर्वशी जैसे सवाद आदि तत्त्व नाटको की वैदिक उत्पत्ति के सकेतक हैं। दास गुप्ता और डे आदि विद्वानो का यह कहना कि ऋग्वेद मे कही पर भी नट शब्द का प्रयोग नही हुआ है, अनुसधानपूर्ण नही है। ऋग्वेद मे हमे नट धातु का प्रयोग दो-तीन स्थलो पर मिलता है। उनमे हमे अभिनय का अर्थ भी सम्बद्ध प्रतीत होता है।—(देखिए लेखक का 'सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ' मे 'सस्कृत नाट्य-शास्त्र मे रूपक का स्वरूप तथा उसके भेद-प्रभेद' शीर्षक लेख।) इस प्रकार हमारी समझ मे नाटको का उद्भव ऋग्वैदिक काल से ही हो चला था। किन्तु उसके कलात्मक रूप का विकास बहुत बाद मे हुआ। आचार्य भरत मुनि भी नाटको का उदय चारो वेदो से ही मानते थे। उन्होने स्पष्ट लिखा है—

"जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥"

नाटको की लौकिक उत्पत्ति सम्बन्धी विविध मत

नाटको की लौकिक उत्पत्ति के सम्बन्ध मे भी कई मत मिलते है। वे इस प्रकार हैं—

(१) लौकिक स्वांगो से नाटको की उत्पत्ति बताने वाला प्रो० हिलेब्रा और कार्नो का मत।

(२) पिशेल साहब का कठपुतलियो वाला मत।

(३) ल्यूडर साहब का छाया-नाटको वाला मत।

(४) रिजवे साहब का मत।

(१) **प्रो० कार्नो और हिलेब्रा का मत**—प्रो० कार्नो और हिलेब्रा ने नाटकों की उत्पत्ति लौकिक स्वांगो से सिद्ध करने की चेष्टा की है। उनका कहना है कि रामायण, महाभारत आदि मे नट और नाटको आदि की जो चर्चा मिलती है वह स्वांगो से ही सम्बन्धित है। हिलेब्रा साहब ने अपने मत के पोषण मे एक तर्क और दिया है। वे कहते है कि भारतीय नाटको की प्रसादात्मकता तथा विदूषक जैसे पात्रो का अनिवार्य रूप से नियोजन नाटको की लौकिक उत्पत्ति के ही सकेतक है। प्राचीन लौकिक जीवन की उल्लासप्रियता नाटको की लौकिक उत्पत्ति की ही सूचक है। प्रो० कार्नो का कहना है कि प्राचीन स्वांगो का आगे चलकर धार्मिकीकरण हुआ और वे यात्राओ के रूप मे विकसित हो गए।

(२) **पिशेल साहब का मत**—पिशेल ने भारतीय नाटको की उत्पत्ति कठपुतलियो के खेल से मानी है। उनका कहना है कि नाटको का उदय कठपुतलियो के खेल के अनुकरण पर ही हुआ है। कठपुतलियो की चर्चा 'कथासरित्सागर' जैसे प्राचीन ग्रन्थो तक मे आई है। वे अपने मत के प्रमाण मे सूत्रधार शब्द को उद्धृत करते है। जिस प्रकार कठपुतलियो का नियामक सूत्रधार कहलाता था उसी प्रकार अभिनय के नियामक को सूत्रधार कहा जाता है। सूत्रधार सम्बन्धी यह साम्य स्पष्ट प्रमाणित करता है कि नाटको की उत्पत्ति कठपुतलियो से हुई थी।

(३) **रिजवे साहब का मृतक वीर-पूजा वाला मत**—रिजवे साहब ने अपना दूसरा ही मत प्रस्तुत किया है। वे मृतक-वीर पूजाओ के आधार पर नाटको की उत्पत्ति सिद्ध करते है। उनका कहना है कि यह प्रवृत्ति सभी देशो मे रही है कि प्रत्येक जाति अपने मृतक वीरो के स्मरण मे उनकी मृत्यु-तिथि पर उनके वीर-कार्यो का अभिनयात्मक ढग से प्रदर्शन करती है। इनकी धारणा है कि इस प्रकार के पदर्शनो से ही धीरे-धीरे नाटकीय् तत्त्वो का विकास होता गया।

(४) **ल्यूडर साहब का मत**—ल्यूडर साहब ने नाटको की उत्पत्ति छाया-चित्रो से सिद्ध की है। कार्नो ने इनके मत का कुछ अशो मे समर्थन किया है। उनका कहना है कि अशोक के शिलालेखो मे रूप शब्द का प्रयोग हमे छाया-चित्र के अर्थ मे मिलता है। उनका यह भी कहना है कि भारतीय नाटको मे नेपथ्य का होना भी भारतीय नाटको की उत्पत्ति छाया नाटको से ही प्रमाणित करता है। छाया-चित्र-पर्दे के पीछे से ही प्रदर्शित किए जाते थे। नेपथ्य की धारणा इसी का अवशिष्ट रूप है। इन्होने यह भी सिद्ध किया है कि सस्कृत मे 'दूतागद' आदि कुछ छायानाटको के उल्लेख भी मिलते है।

(५) **उपर्युक्त मतों की समीक्षा**—उपर्युक्त लौकिक मतो का अध्ययन करने पर हमे ऐसा प्रतीत होता है कि उनमे कोई सार नही। वे कोरे कल्पना-मूलक है। जहाँ तक हिलेब्रा के मत का सम्बन्ध है, वह भ्रान्तिपूर्ण है। हमारे यहाँ नाटको को जो प्रतिष्ठा दी गई है उसके देखते हुए स्वाँगो, नाटकोत्पत्ति आदि से, जिनको शिक्षित और सभ्य भारतीय बहुत आदर की दृष्टि से नही देखते है, नही मानी जा सकती।'

सामञ्जस्यवादी मत—कुछ आधुनिक विद्वानो ने धार्मिक और लौकिक मतो मे सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की है। ऐसे विद्वानों मे एम० एन० दास गुप्ता और एस० के० डे आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्होने 'हिस्ट्री आफ क्लेसिकल लिट्रेचर, वा० १' मे यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि नाटक-कला के दो रूप थे—एक धार्मिक और दूसरा लौकिक। इनका तर्क है कि पाणिनी ने शिलालिन और कृशाश्व नामक जिन दो नाट्याचार्यो का उल्लेख किया है वे सभवत धार्मिक और लौकिक इन दो धाराओ के विद्वान् थे। किन्तु वे स्वय अपने मत के सम्बन्ध मे सदिग्ध है। उन्होने अपने मत के पोषण मे एक तर्क और दिया है। उनका कहना है कि नाट्य एक कला है। हमारे यहाँ कला का धार्मिक और लौकिक दोनो दृष्टियो से महत्त्व बताया गया है। इन्होने अपने मत के पोषण मे एक तर्क और दिया है।

इनका कहना है कि वात्स्यायन के कामसूत्र मे एक स्थल पर लिखा है कि किन्ही निश्चित अवसरो पर मदिरो से कुशीलव अभिनय करने के लिए बुलाए जाते थे। इस प्रकार के अभिनय को प्रेक्षणक कहते थे। वात्स्यायन के इस उल्लेख से प्रकट होता है कि प्राचीन काल में नाटको का प्रारम्भिक रूप धार्मिक ही था। बाद मे उसका लौकिकीकरण हुआ है। उनका यह तर्क वास्तव मे धार्मिक उत्पत्ति का ही द्योतक है। हम इनसे पूर्णतया सहमत नही हैं। हमारी अपनी धारणा है कि नाटकों की उत्पत्ति विविध वैदिक तत्वो के सग्रह से हुई थी। भरतमुनि ने 'जग्राह पाठ ऋग्वेदात्' लिखकर हमारे मत की ही भूमिका प्रतिष्ठित की थी।

नाटको की प्राचीनता

भारतीय नाटक बहुत प्राचीन हैं। उनको विदेशी नाट्य-कला से प्रभावित मानना हमारी समझ मे ठीक नही है। यदि हम भरत मुनि वाली पौराणिक कथा मे विश्वास न भी करें तो भी अनेक अन्य ऐतिहासिक प्रमाणो से नाट्य-वेद की प्राचीनता प्रकट होती है।

वैदिक साहित्य मे नाटक के तत्त्व—हमे वैदिक साहित्य मे नाटको के सभी तत्त्व किसी न किसी रूप मे उपलब्ध होते है। यहाँ तक कि नट् धातु का प्रयोग भी कई स्थलो पर मिलता है। नाट्य शब्द इसी नट् धातु से बना है। अतएव हम यह कह सकते हैं कि वेदो मे नाटको के स्पष्ट बीजाणु वर्तमान थे। भरत मुनि ने 'जग्राह पाठ ऋग्वेदात्' लिखकर यही बात प्रमाणित की है।

रामायण और महाभारत—रामायण और महाभारत की मौखिक परम्परा चार-पाँच ई० शताब्दी पूर्व मे प्रचलित थी। वह लिपिबद्ध बाद मे हुई। रामायण मे एक स्थल पर स्पष्ट लिखा है—

"नट नर्तक सघानाम् गायकानाम् च गायताम्।
यत कर्णसुखावाच शुश्राव जनत तत॥"

अर्थात् नट् नर्तको के सघ और गायको के समूह श्रुति मधुर वाणी से जनता का मनोरजन किया करते थे। इस श्लोक मे नट् शब्द का प्रयोग स्पष्ट प्रमाणित करता है कि रामायण युग मे नाट्य-कला की अच्छी प्रतिष्ठा थी। रामायण के सदृश महाभारत मे भी हमे नट् और शैलूप शब्द का प्रयोग मिलता है। महाभारत मे इन शब्दो का प्रयोग नाट्य शास्त्र की प्राचीनता का ही सूचक है।

हरिवश पुराण—हरिवश पुराण की प्राचीनता निर्विवाद रूप से स्वीकार की गई है। इसके ९१ से लेकर ९७ अध्याय मे नाटक खेले जाने का सकेत है। इसमे एक स्थल पर लिखा है कि वज्रनाथ नामक दैत्य का वध करने के लिए यादवो ने कपट वेश धारण करके उसकी पुरी मे जाकर रामायण नाटक का अभिनय किया। इसी पुराण मे एक दूसरे स्थल पर 'कौवेर रम्भाभिसार' नामक नाटक के खेले जाने की चर्चा भी मिलती है। इन सब प्रमाणो से नाटको की प्राचीनता स्पष्ट प्रकट होती है।

जैन साहित्य—भद्रबाहु स्वामी ने अपने कल्पसूत्र मे एक ऐसे जड़ नाटक की का उल्लेख किया है जो नटो का नाटक देखने जाया करता था। उसके । इस उसने नटो का नाटक देखने के लिए मना किया तो उसने उत्तर दिया, महाराजली नटो का नही, नटियों का नाटक भी देखता हूँ। इस कल्पसूत्र का समय ३०० ई० पूर माना जाता है।

बौद्ध साहित्य—नाटकों के अस्तित्व के संकेत हमे प्राचीनतम बौद्ध साहित्य मे भी मिलते है। अवदाशतक मे कौशल्या नामक एक नर्तकी का उल्लेख मिलता है। उसकी समाज मे वड़ी प्रतिष्ठा थी। उसने बुद्ध के नाटक का सफल अभिनय किया था।

बौद्धो के 'ललितविस्तर' नामक प्राचीन ग्रन्थ मे एक स्थल पर लिखा हुआ है कि भगवान् बुद्ध को अपने बाल्य-काल मे नाट्य की भी शिक्षा दी गई थी। बौद्धो के विनयपिटक ग्रन्थ मे अश्वजित और पुनर्वसु नामक दो भिक्षुओं के नाटक देखने और नर्तकी से सभाषण करने के अपराध मे निर्वासित किए जाने की कथा भी दी हुई है। सुरगजा रियासत में एक नाट्यशाला का पता लगा है जिसे सुतनुका नामक किसी बौद्ध महिला ने बुद्ध के अभिनय के लिए बनवाई थी। इसका समय ई० शताब्दी पूर्व निश्चित किया जाता है।

पाणिनी—पाणिनी ने शिलालिन और कृशाश्व नामक दो नाट्याचार्यों का उल्लेख किया है और यह भी ध्वनित किया है कि उन्होने दो नट सूत्र लिखे थे (पा० ४।३।११०)। हम लैवी और कीथ के इस मत से कि यह दोनो शब्द आचार्यों के नाम न होकर व्यग मात्र हैं, सहमत नही हैं। यह स्पष्ट रूप से दो नाट्याचार्यों के ही नाम हैं। इससे प्रकट है कि पाणिनी के समय तक नाट्यशास्त्र का सम्यक् विकास हो चुका था, और उस पर सूत्र लिखे जा चुके थे।

पतजली—पतजली ने कसवध और वलिबधन नामक दो नाटको का उल्लेख किया है (महाभाष्य ३।१।२६)। इन नाटको के सम्बन्ध मे वेवर साहब का अनुमान है कि ये पुत्तलिका रूप मे अभिनीत होते थे। ल्यूडर साहब ने कल्पना की है कि इनका मूक अभिनय किया जाता था। इनके अभिनय मे सवाद आदि नही रहते थे। इस प्रकार के अनुमानो को मै कोरी कल्पना मात्र मानता हूँ। मेरी समझ मे ये दोनो पूर्ण और सफल नाटक थे, जिनका समाज मे यदा-कदा अभिनय होता रहता था।

कौटिल्य—कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे हमे एक स्थल पर यह लिखा हुआ मिलता है कि राज्य की तरफ से बहुत से नृत्य-नाट्य और नृत्त आदि सिखाने के लिए शिक्षक नियुक्त थे। इससे भी स्पष्ट प्रकट होता है कि कौटिल्य के समय मे नाट्य-कला का बहुत अधिक प्रचार था। अपनी परिपक्वावस्था मे पहुँचने के लिए उसे पाँच-छ सौ वर्ष अवश्य लगे होगे। निश्चय ही भारतीय नाट्य-कला बहुत प्राचीन है।

वात्स्यायन—वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र मे एक स्थल पर लिखा है कि कुछ लौकिक उत्सवो के अवसर पर कुशीलव लोग मदिरो मे अभिनय के लिए बुलाए जाते थे। इस प्रकार के अभिनय को प्रेक्षणक कहते थे।

निष्कर्ष—उपर्युक्त प्रमाणो के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय नाट्य-कला बहुत प्राचीन है। इस पर विदेशियो का प्रभाव मानना सर्वथा अनुचित है।

भारतीय नाट्य-तत्व

भारतीय नाट्य तत्वो के सम्बन्ध मे भ्रान्ति—भारतीय नाट्य-तत्त्वो के सम्बन्ध मे बडे-बडे विद्वानो को भी भ्रान्ति है। इस भ्रान्ति का कारण दशरूपक का 'वस्तुनेता रसस्तेषाम् भेदक.' सूत्र है। इस सूत्र के आधार पर विद्वान भारतीयो ने नाटक के वस्तु, नेता और रस—यही तीन तत्त्व माने हैं। किन्तु उपर्युक्त सूत्र का यह अर्थ कदापि नही है कि नाटक के केवल वस्तु, नेता और रस यही तीन तत्त्व होते हैं। वास्तव मे इस कारिका मे केवल विविध रूपको के भेद स्थापित करने वाले तत्त्वो का उल्लेख किया गया है। नाटक के मूलभूत तत्त्वो का नही। वस्तु, नेता और रस ये भेदक तत्त्व है सम तत्त्व नही। भारतीय दृष्टि से इन तीन तत्त्वो के अतिरिक्त सभी रूपको मे समान रूप से कुछ और भी तत्त्व माने जाते हैं। उनमे सबसे प्रमुख तत्त्व अभिनय है, इस तत्त्व की व्यजना नाट्य की परिभाषाओ से स्पष्ट प्रतीत होती हैं। दशरूपककार ने नाट्य की परिभाषा देते हुए लिखा है—

"अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्।"

अर्थात् विविध अवस्थाओ की अनुकृति को नाट्य कहते है। यह अवस्था की अनुकृति केवल कार्य-कलापो की अनुकृति नही होती है। इसमे इसलिए रूप का आरोप भी किया जाता था। "रूपकम् तत् समारोपात्" लिखकर दशरूपककार ने इसी बात की व्यजना की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत मे केवल अवस्थाओ की अनुकृति पर ही बल नही दिया गया है, वरन् 'रूप या वेष' की अनुकृति को भी आवश्यक ठहराया गया है। रूप और वेष के साथ किया गया अवस्थाओ का अनुकरण ही अभिनय कहलाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय दृश्य-काव्य का प्राण अभिनय तत्त्व है।

अभिनय के अतिरिक्त भारतीय दृश्य-काव्य का दूसरा प्रधान सम तत्त्व वृत्ति है। नाट्य-शास्त्र मे इन्हे 'नाट्य मातर' कहा गया है। अभिनव गुप्त और रामचन्द्र आदि आचार्यो ने भी वृत्तियो के मातृत्व को स्वीकार किया है। वृत्तियाँ क्या हैं इसको स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है—"काव्या मनसाचेष्टा इव सह वैचित्र्येण वृत्तय"—अर्थात् नाटक और काव्य के नायक और पात्रो के कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार वैचित्र्य को वृत्ति कहते हैं। जीवन के इन वृत्ति-रूप व्यापार

विशेषो से जब कवि या नाटककार का हृदय सकुलित होता है तभी वह नाटक की रचना मे प्रवृत्त होता है। इसीलिए वृत्तियो को 'नाट्य मातर' कहा गया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सम्पूर्ण दृश्य-काव्यो मे समान रूप से पायी जाने वाली दूसरी विशेषता वृत्ति ही है। इस प्रकार जब हम वस्तु, नेता और रस—इन तीन भेदक तत्वो को उपर्युक्त अभिनय और वृत्ति तत्वो से मिला देते हैं तो भारतीय नाट्य के पाँच तत्त्व हो जाते हैं। उनका विवेचन हम निम्नलिखित क्रम से करेंगे—

(१) कथावस्तु, (२) नेता, (३) रस, (४) अभिनय, तथा (५) वृत्ति।

वस्तु तत्त्व—नाटक के स्थूल कथानक को 'वस्तु' कहते हैं। नाटक की कथा—वस्तु का विस्तार-क्षेत्र बड़ा व्यापक है। नाटक मे लोक की अवस्थाओं का अनुकरण किया जाता है। लोक की अवस्थाएँ विविध रूपिणी होती हैं। किन्तु उनके दो रूप बहुत प्रत्यक्ष रहते हैं—(१) सुखात्मक, (२) दुखात्मक। नाटक मे दोनो ही रूपो के चित्रण को समान रूप से महत्त्व दिया जाता है। नाटक की कथावस्तु की व्यापकता का सकेत हमे नाट्यशास्त्र के निम्नलिखित उद्धरणो से होता है—

"एतद् रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियासु च।
सर्वोपदेशजनन नाट्यमेतद् भविष्यति॥"

× × ×

"अवस्थायातु लोकस्य सुख दु ख समुद्भवा।
नाना पुरुष सचारा नाटके सम्भवेदिह॥"

× × ×

"सर्वभावै· सर्वरसै सर्वकर्म प्रवृत्तिभि।
नानावस्थानन्तरोपेतं नाटक सविधीयते॥"

कथावस्तु के दो प्रमुख भेद—भारतीय नाट्यशास्त्र मे कथावस्तु दो प्रकार की मानी गई है—(१) आधिकारिक तथा (२) प्रासगिक। नाट्यशास्त्र और साहित्य-दर्पण मे इनका वर्णन क्रमश इस प्रकार किया गया है—

"इतिवृत्तं द्विधा चैव बुधस्तु परिवर्तयेत।
आधिकारिकमेक स्यात्प्रासगिकमथापरम्॥
कवे· प्रयत्नान्नेतृणा युक्ताना विन्ध्यपाश्रयात्।
कल्प्यते यत्फलप्राप्ति· समुत्कर्षात्फलस्यतु॥
कारणात्फल योगस्य वृत्तं स्यादाधिकारिकम्॥"

× × ×

"इदं पुनर्वस्तु बुधैर्द्विविध परिकल्प्यते।
आधिकारिकमेकं स्यात्प्रसगिकमथापरम्॥
अधिकार· फले स्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभु।
तस्येतिवृत्ति कविभिराधिकारिकमुच्यते॥"

आधिकारिक कथावस्तु—उपर्युक्त श्लोको मे आधिकारिक कथावस्तु पर प्रकाश डाला गया है। दशरूपककार ने उसके रूप को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है—

"अधिकार फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभु ।
तन्नि वृत्तमभिव्यापि वृत्त स्यादाधि कारिकम् ॥"

अर्थात् अधिकार का अर्थ होता है फल का स्वामित्व। फल के स्वामी को अधिकारी कहा जाता है। उससे अभिव्याप्ति कथावस्तु को आधिकारिक कथावस्तु कहते है। जैसे रामायण मे राम की कथा आधिकारिक कथा है।

प्रासगिक कथावस्तु—प्रासगिक कथावस्तु के लिए नाट्यशास्त्र मे आनुषगिक कथावस्तु का अभिधान प्रयुक्त किया गया है। उसकी परिभाषा देते हुए उसमे लिखा है—

"परोपकरणार्थन्तु कीर्तयते ह्यानुषगिकम् ।"

दशरूपककार ने इसी बात को दूसरे ढग से लिखा है—

"प्रासगिकम् परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसगत ।"

साहित्य-दर्पण की भी परिभाषा उपर्युक्त परिभाषाओ से मिलती-जुलती प्रतीत होती है—

"अस्योपकरणार्थं तु प्रासगिक मिति इष्यते ।"

उपर्युक्त तीनो परिभाषाओ के अनुसार प्रासगिक या आनुषगिक कथा उसको कहते हैं जो आधिकारिक कथा की पोषिका और सहायिका होती है ; जैसे, रामायण मे सुग्रीव की कथा अथवा विराध की कथा। यह दोनो ही कथाएँ आधिकारिक कथा को वल प्रदान करने के लिए नियोजित की गई हैं।

प्रासगिक कथा के भेद—प्रासगिक कथा के दो भेद माने गए है—(१) पताका तथा (२) प्रकरी।

पताका—पताका की परिभाषा देते हुए भरत मुनि ने लिखा है—

"यद्वृत्त हि परार्थ स्याद् प्रधानस्योपकारकम् ।
प्रधान वच्च कल्पयेत् सा पताकेति कीर्तिता ॥"

साहित्य-दर्पणकार ने भी प्रसागिक कथा के 'पताका' और 'प्रकरी' यही दो भेद स्वीकार किए है। उसने पताका की परिभाषा देते हुए लिखा है—

"व्यापि प्रासगिकम् वृत्तमताकेत्यिभिधीयते ।"

अर्थात प्रासगिक वृत्त मे अधिक दूर तक व्याप्त रहने वाली कथा को पताका' कहते हैं। धनिक ने भी पताका की ऐसी ही परिभाषा दी है। उसने लिखा है—

"दूर यदनुवर्तते प्रासगिक सा पताका ।"

अर्थात् मुख्य कथा का दूर तक साथ देने वाली प्रासगिक कथा को पताका कहते हैं। उदाहरण के लिए हम रामायण मे सुग्रीव की कथा ले सकते हैं।

प्रकरी—दशरूपककार ने प्रकरी की परिभाषा वहुत सक्षेप मे देते हुए लिखा है—

"प्रकरी च प्रदेश भाक् ।"

नाट्यशास्त्र मे इस भाव को अधिक विस्तार के साथ रखा गया है—

"फल सकल्प्यते सद्भि' परार्थ यस्य केवलम् ।
अनुबधेन हीनस्य प्रकरीं ता विनिर्दिशेत् ॥"

साहित्य-दर्पणकार ने भी प्रकरी की परिभाषा बहुत कुछ दशरूपककार और नाट्यशास्त्रकार के ढग पर दी है—

"प्रासगिक प्रदेशस्य चरित प्रकरी भवेत् ।"

इन समस्त परिभाषाओ के आधार पर 'प्रकरी' उस कथा को कह सकते हैं जो मुख्य कथा के बहुत कम अश मे व्याप्त रहती है। जैसे रामायण मे श्रवण और विराध की कथाएँ।

पताकास्थानक—प्रासगिक कथाओ का विवेचन करते समय ही दशरूपककार ने पताकास्थानक के रूप को भी स्पष्ट करने की चेष्टा की है, क्योकि प्राय लोगो को पताका और पताकास्थानक मे भ्रम हो जाया करता है। पताकास्थानक की परिभाषा देते हुए दशरूपककार ने लिखा है—

"प्रस्तुतागन्तु भावस्य वस्तु नोऽन्योक्ति सूचकम् ।
पताकास्थानक तुल्य संविधान विशेषणम् ॥"

अर्थात् पताकास्थानक प्रस्तुत या आगे आने वाली वस्त्वश की सूचना देता है। धनिक ने अपनी टीका मे इसे और भी स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उसने लिखा है —

"प्राकरणिकस्य भाविनोर्थस्य सूचिक रूपं पताकावत् भवतीति पताकास्थानकम् ॥"

अर्थात् जो वस्तुवश भावी कथाश की ठीक उसी प्रकार सूचना देता है जिस प्रकार पताका राजा के आने की सूचना देती है। उसी को पताकास्थानक कहते हैं।

पताकास्थानक के भेद—दशरूपककार ने पताकास्थानक के दो भेद माने हैं। एक तुल्य सविधान और दूसरा तुल्यविशेषण।

तुल्यसविधान पताकास्थानक—इस कोटि के पताकास्थानक मे प्रासगिक कथा और मुख्य कथा की तुल्य वृत्तता अन्योक्ति के द्वारा प्रकट की जाती है।

यहाँ पर अन्योक्ति शब्द का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में न होकर यौगिक अर्थ मे हुआ है। इस कोटि के पताकास्थानक के उदाहरण मे दशरूपकार ने रत्नावली का निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

"यातो स्मिपद्म नयने समयो ममैव सुप्ता सयैव भवती प्रतिबोधनीय ।
प्रत्यायनामयमितीव सेरारुहिण्या सूर्यो स्तसस्तकनिविष्ट कर. करोति ॥"

अस्ताचल के मस्तक पर अपनी किरणो को निविष्ट करने वाला यह सूर्य मानो यह कहकर कमलिनि को आश्वस्त कर रहा है कि हे पद्मनयने, मैंने प्रस्थान कर दिया है, यह मेरे जाने का समय ही है। जब तुम सो जाओगी तो मुझे ही आकर तुम को जगाना पड़ेगा।

यहाँ पर सूर्य का प्रस्थान और पुन कमलिनी सम्मिलन एक घटना है।

जिसके द्वारा राजा और सागरिका के भावी सम्मिलन की सूचना दी गई है। इस प्रकार इतिवृत्ति के द्वारा भावी वस्तु को सूचित करने के कारण यहाँ पर अन्योक्ति नामक पताकास्थानक है।

तुल्यविशेषण पताकास्थानक—यह वह पताकास्थानक है जिसमे मुख्य कथा और प्रासगिक कथा की तुल्य वृत्तता विशेषणो और समासोक्ति अलकारो के द्वारा ध्वनित की जाती है। दशरूपककार ने इसका निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

"उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुर रुच प्रारब्ध क्षणात।
आयास श्वसनोद्गमं रविलैरातन्वतीयात्मन' ॥
आद्योद्यानलतामिमा समदना नारीमिवान्या ध्रुवम्।
पश्यन् कोपविपाटलद्युति मुख देव्या करिष्याम्यहम् ॥"

आज जब मैं इस उद्यान-लता को प्रेमपूर्वक देखूँगा तो निस्सन्देह देवी वासवदत्ता का मुख कोप के कारण विशेष रूप से पाटल लालवर्ण का हो जाएगा। उस समय देवी को इतना ही क्रोध उत्पन्न होगा। मानो मैं किसी पर-स्त्री को देख रहा होऊँ। लता उस समय उद्दाम उत्कलिका वाली होगी जिस प्रकार कोई कामिनी उद्दाम उत्कलिका बढी हुई उत्कण्ठावाली होती है। उसकी कान्ति उस समय खिली हुई कलियो के कारण विशेष रूप से पाण्डुर वर्ण की हो गई होगी, जैसे कोई कामिनी प्रेम से प्रभावित होने के कारण विशेष रूप पाण्डुर वर्ण की हो जाती है। उस लता मे उस समय जृम्भा विकास का प्रारम्भ हो गया होगा जिस प्रकार नायिका प्रेम की थकावट से जमुहाने लगती है। निरन्तर श्वसन वायु के उद्दाम से वह लता उस समय अपने आयास को विस्तारित कर रही होगी, अर्थात् वायु के वेग से झूम रही होगी। जिस प्रकार कोई कामिनी निरन्तर चलने वाली अपनी श्वास वायु के द्वारा अपने आन्तरिक आयास को प्रकट किया करती है। वह लता उस समय मदन नाम के वृक्ष से युक्त होगी जिस प्रकार नायिका मदन कामदेव से युक्त होती है। आशय यह है कि वह लता उस समय ऐसी प्रतीत हो रही होगी जैसे कोई अनुरागिणी नायिका हो। जिस प्रकार नायिका के अनुरागिणी-पर-स्त्री को प्रेमपूर्वक देखने से नायक की पत्नी कुपित हो जाती है। नाट्यशास्त्र और साहित्य-दर्पण मे पताकास्थानक के चार भेद बतलाए गए हैं। उनका कोई विशेष नामकरण नही किया गया। अधिकतर दशरूपक के ही भेद मान्य समझे जाते हैं, अतएव विस्तार-भय से यहाँ पर हम नाट्यशास्त्र और साहित्य-दर्पण के पताकास्थानक के भेदो की चर्चा नही करना चाहते।

अर्थ-प्रकृतियाँ—अर्थ-प्रकृति के स्वरूप का निर्देश करते हुए लिखा है—

"इतिवृत्ते यथावस्था पन्चारम्भादिका स्मृता।
अर्थ प्रकृतय· पन्च तथा बीजादिका अपि ॥
बीज बिन्दु पताका च प्रकरी कार्यमेव च।
अर्थप्रकृतय पन्च ज्ञात्वा योज्या यथाविधि ॥"

—भरत नाट्य-शास्त्र १९, २०, २१

अर्थात् जिस प्रकार नाटकीय कथावस्तु प्रारम्भ, प्रयत्न, प्रात्याशा, नियताप्ति और फलागम इन पाँच अवस्थाओ मे विभक्त रहती है, उसी प्रकार वह पाँच अर्थ-प्रकृतियो मे भी विभाजित रहती है, जिनके नाम वीज, विन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य हैं। अर्थ-प्रकृति के स्वरूप का स्पष्टीकरण दशरूप मे भी किया गया है। उसमें लिखा है

"अर्थप्रकृतया. प्रयोजन सिद्ध हेतवा.।"

अर्थात् अर्थ-प्रकृति कथावस्तु के उन विभागो को कहते है—जो नाटक के प्रयोजन फल अथवा लक्ष्य की गतिविधि के सूचक होते हैं।

अर्थ-प्रकृतियो के भेद—अर्थ-प्रकृतियो के पाँच भेद होते हैं। वीज, विन्दु, पताका, प्रकरणी और काव्य। साहित्य-दर्पणकार और नाट्यशास्त्रकार को भी यह पाँच अर्थ प्रकृतियाँ ही मान्य हैं। उन्होने लिखा है—

"वीज विन्दु पताकाश्च प्रकरी काव्यमेव च।
अर्थप्रकृतय पंच ज्ञात्वा योज्या यथाविधि॥"

—नाट्यशास्त्र २१, २२ साहित्यदर्पण ६४, ६५

वीज—दशरूपक के टीकाकार धनिक ने वीज के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"स्तोकोदिष्ट कार्यसाधक।"

अर्थात् वीज थोडे ही शब्दो मे कहे गए फल को विकास की ओर ले जाने वाले साधन को कहते हैं। साधन विविध प्रकार से विस्तृत होता है। धनिक ने लिखा भी है—

"पुरस्तात अनेकंप्रकारं विस्तारी भवति।"

इस प्रकार वीज मुख्य फल के हेतु का वह कथा भाग होता है जो क्रमश विस्तृत होता है, किन्तु प्रारम्भ मे जिसका कथन केवल थोडे से ही शब्दो मे किया जाता है—

सस्कृत मे वीज के उदाहरण के रूप मे रत्नावली नाटिका के प्रथम अक के छठे व ७वें श्लोक देखे जा सकते हैं। हिन्दी मे हम स्कन्दगुप्त का उदाहरण दे सकते हैं। इस नाटक मे वीज अर्थ-प्रकृति का सकेत प्रथम अक के उस स्थल पर दिखाई पड़ता है जहाँ स्कन्दगुप्त पर्णदत्त से कहता है, अधिकार का उपयोग करूँ।वह भी किस लिए?" इसके उत्तर मे पर्णदत्त कहता है, "किस लिए, त्रस्त प्रजा की रक्षा के लिए शिशुओ को हँसाने के लिए सतीत्व के सम्मान के लिए। देवता, ब्राह्मण, गऊ की मर्यादा मे विश्वास के लिए। आतक के प्रकृति को आश्वासन देने के लिए आपको अधिकारो का उपयोग करना होगा।"

विन्दु—विन्दु की परिभाषा देते हुए दशरूपककार ने लिखा है—

"अवन्तरार्थ विच्छेदे विन्दुर्च्छेद कारणम्।"

अर्थात् जब मुख्य कथा के प्रभाव के कारण अवान्तरकथा क्षीण होने लगती

है तब उस क्षीण होती हुई कथा को पुनर्जीवित करने वाले फल का हेतु बिन्दु कहलाता है। धनिक ने बिन्दु नाम की सार्थकता प्रकट करते हुए लिखा है—

"जले तैल बिन्दुवत प्रसारत्वात् ।"

अर्थात् जैसे तेल की बिन्दु जल मे फैल जाती है वैसे ही बिन्दु भी प्रसारित होती है। नाट्य-दर्पणकार ने इसी बात को माली के रूपक से स्पष्ट करने की चेष्टा की है। जिस प्रकार बीजारोपण के बाद माली उसको विकसित करने के लिए जल-बिन्दु निक्षेप करता है वैसे ही फल का बीजारोपण करने के पश्चात् नाटककार बिन्दु के द्वारा उसको विकसित करने का प्रयास करता है। दोनो के कथन का अभिप्राय एक ही है। वास्तव मे बिन्दु उस समस्त कथावस्तु भाग मे माना जाना चाहिए जो फल की प्राप्तिजनित सघर्ष से सम्बन्धित हो। बीज की अवस्था सस्कृत की रत्नावलि नाटिका मे प्रथम अक के २३वें श्लोक के आस-पास दिखाई पडती है। हिन्दी मे इसका निर्देश स्कन्दगुप्त मे सरलता से किया जा सकता है। स्कन्दगुप्त मे बिन्दु की अवस्था प्रथम अक के अन्तिम दृश्य से प्रारम्भ होती है। और इसका विस्तार तृतीय अक के प्रथम दृश्य तक दिखाई पड़ता है।

पताका—इसकी व्याख्या हम पीछे प्रासगिक कथा के भेद मे कर चुके है। स्कन्दगुप्त मे हम बन्धुवर्मा के प्रसग को पताका के ही रूप मे स्वीकार करते है। क्योकि बन्धुवर्मा का वहाँ कोई अपना स्वतन्त्र लक्ष्य दिखाई नही पडता। वह स्कन्दगुप्त के लक्ष्य प्राप्ति मे सहायक ही सिद्ध होता है।

प्रकरी—इसके स्वरूप की व्याख्या भी पीछे प्रासगिक कथा के प्रसग मे की जा चुकी है। यहाँ पर उसका उदाहरण देकर ही बात समाप्त कर देना चाहते हैं। स्कन्दगुप्त मे शर्वनाग धातु से मातृगुप्त आदि की कथाएँ प्रकरी के रूप मे ही प्रयुक्त हुई हैं।

कार्य—दशरूपककार ने कार्य की व्याख्या स्वतन्त्र रूप से नही की। इसके स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास साहित्य-दर्पण और नाट्य-दर्पण नामक ग्रन्थो मे किया गया है। साहित्य-दर्पणकार ने लिखा है—

"अपेक्षित तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धन ।
समापन तु यत्सद्धयै तत्कार्यमिति सयतम् ॥" साहित्य-दर्पण, ६६

अर्थात् जिसके लिए सब उपायो का आरम्भ किया जाय और जिसकी सिद्धि के लिए सब सामग्री इकट्ठी की जाय तो वह कार्य है। जैसे स्कन्दगुप्त मे कार्य की स्थिति उस समय से प्रारम्भ होती है जहाँ से विरोधी दल का नेता भट्टार्क यह निश्चित करता है कि सब कुछ भूलकर स्कन्दगुप्त की छत्रछाया मे राष्ट्र का उद्धार करूँगा। स्कन्दगुप्त स्कन्द के सामने घुटने टेककर "श्री विक्रमादित्य की जय हो जैसी आज्ञा होगी वैसा ही करूँगा।" कार्य की यह स्थिति उस स्थान पर पूर्ण होती है जहाँ स्कन्दगुप्त खिंगिल को परास्त कर पुरुगुप्त के रक्त का टीका लगाता है।

कार्यावस्था—नाट्यशास्त्र मे अवस्था मे शब्द का प्रयोग नाटक मे उपनिबद्ध नायक के व्यक्तित्व के विकास क्रम का वाचक ध्वनित किया गया है। दशरूपककार

ने कार्यावस्थाएँ उन्हे माना है जो नायक के द्वारा प्रवर्तित कार्य का क्रमिक विकास चित्रित करती है। कार्यावस्थाएँ भी पाँच बताई गई है। प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा नियताप्ति और फलागम। भरत मुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र मे भी यही पाँच अस्वथाएँ बतलाई हैं।

प्रारम्भ—इस अवस्था के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए दशरूपकार ने लिखा है—

"औत्सुक्य मात्रमारम्भ फललाभाय भूयसे ।"

अर्थात् आरम्भ वह अवस्था है जहाँ नायक की तीव्र इच्छा किसी फल-प्राप्ति के लिए व्यक्त होती है। धनिक ने निम्नलिखित शब्दो मे उसे और भी सुन्दर ढग से समझाने की चेष्टा की—

"इद अहम् सम्पादयामि इत्यध्यवसाय मात्रमारम्भ इत्युच्यते ।"

अर्थात् नायक जब 'मैं यह कार्य करूँगा', ऐसी इच्छा प्रकट करता है तभी कार्य का आरम्भ माना जाता है। साहित्य-दर्पणकार ने भी आरम्भ का स्वरूप दश-रूपककार के ढग पर ही स्पष्ट किया है।

"भवेदारम्भ औत्सुक्य यन्मुख्य फलसिद्धये।"

अर्थात् मुख्य फल की सिद्धि के हेतु नायक की उत्सुकता जिस स्थल से व्यक्त होती है वही से आरम्भ की अवस्था का सूत्रपात माना जाता है। भरतमुनि ने भी आरम्भ की परिभाषा उपर्युक्त ढग पर ही दी है। वे लिखते हैं—

"औत्सुक्य मात्र वन्धुस्तु यद्वीजस्य निवध्यते महत फलयोगस्य स खल्वारम्भ इष्यते।"

हिन्दी मे आरम्भ की अवस्था का निर्देश स्कन्दगुप्त नाटक मे किया जा सकता है। इसकी प्रतिष्ठा प्रथम अक मे ही मिलती है। वीज के अवस्था के वाद मे ही जब पर्णदत्त स्कन्दगुप्त को उसके कर्त्तव्य का बोध करा देता है, और स्कन्दगुप्त अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए उत्सुक होने लगता है, वहीं से आरम्भ की अवस्था का श्रीगणेश होता हैं।

प्रयत्न की अवस्था—प्रयत्न के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए दशरूपककार ने लिखा है—

"प्रयत्नस्तु तद्प्राप्तौ व्यापारो इति त्वयन्वित:।"

अर्थात् जब कार्य-जनित फल की प्राप्ति मे विलम्ब-सा मालूम होता है, उस विलम्ब को दूर करने के लिए जिन प्रयत्नो की योजना की जाती है उनकी स्थिति को प्रयत्न की अवस्था कहते है। धनिक ने इस वात को और भी अधिक स्पष्ट निम्नलिखित शब्दो में कर दिया है—

"तस्य फलस्याप्राप्तातदुपाययोजनादि रूप चेष्टा विशेष. प्रयत्न ।"

अर्थात् जब कार्य के फल की प्राप्ति नही होती तो उसे प्राप्त करने आदि के जो उपाय होते है उसी को 'प्रयत्न' कहते है। उदाहरण के लिए हम स्कन्दगुप्त में

प्रयत्नावस्था का श्रीगणेश द्वितीय अक मे निर्दिष्ट कर सकते है। यह प्रयत्नावस्था नाटक मे द्विमुख दिखाई पडती है। साध्य के साधन मे दो विघ्न प्रत्यक्ष हैं। एक गृह-कलह से सम्बन्धित और दूसरा विदेशी आक्रमण-कार्यों से। इन दोनो के निराकरण का सारा इतिहास प्रयत्नावस्था के अन्तर्गत ही आवेगा।

प्राप्त्याशा—प्राप्त्याशा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए दशरूपककार ने लिखा है—

"उपायापाय शकाभ्या प्रावयाशा प्राप्ति सम्भवा।"

अर्थात् जब वाछित फल प्राप्ति की सम्भावना पहले तो किन्ही अवरोधो के कारण सदिग्ध होती है, किन्तु बाद मे उन अवरोधो के निराकरण के कारण प्रत्याशित होने लगती है उसी स्थल पर प्राप्त्याशा का उदय माना जाता है। स्कन्दगुप्त नाटक मे प्राप्त्याशा का सकेत उस स्थल पर दिखाई पडता है जहाँ देवसेना समुद्रगुप्त को अपना राज्य अर्पित करके स्कन्दगुप्त के लक्ष्य साधन में सहायक होती है। इस स्थिति का प्रसार उस स्थल तक प्रतीत होता है जहाँ पर स्कन्दगुप्त देवसेना की रक्षा और उद्धार करता है।

नियताप्ति—विघ्नो की अनुपस्थिति के कारण फल प्राप्ति का निश्चय होना ही नियताप्ति है। साहित्य-दर्पणकार ने—

"अपनयाभावत प्राप्ति नियताप्तिस्तुनिश्चिता।"

लिखकर यही बात व्यजित की है। स्कन्दगुप्त मे नियताप्ति की स्थिति उस समय समझनी चाहिए जहाँ पर विरोधी दल का नेता भट्टार्क की मनोवृत्ति मे परिवर्तित आता है। और वह स्कन्दगुप्त की आज्ञा पर चलने को प्रस्तुत हो जाता है।

फलागम—आर्यावर्त का विदेशियो के आक्रमण से मुक्त होकर स्कन्द के हाथो मे आ जाना और स्कन्दगुप्त के द्वारा पुरुगुप्त का अभिशेचन ही वास्तव मे नाटक के फल है।

सन्धियाँ—सस्कृत नाट्य-रचना मे सन्धिपचक का बडा महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। सन्धि की परिभाषा देते हुए धनजय ने लिखा है—

"अतरैकार्थ सम्बन्ध सधिरेकान्वय सन्धि।"

अर्थात् कथावस्तु के अगो को अन्वित करने वाली—स्थिति को 'सन्धि' कहते हैं। धनिक ने सन्धि की परिभाषा को निम्नलिखित ढग से समझाने की चेष्टा की है—

"एकेण प्रयोजनेनान्वितानाम् कथाशानाम् अवान्तरार्थ प्रयोजन सम्बन्ध सन्धि।"

अर्थात् एक प्रयोजन से सम्बन्धित कथावस्तु को दूसरे प्रयोजन से सम्बन्धित कथावस्तु के अश से सम्बद्ध करने वाली विशेषता को सन्धि कहते है। धनजय के अनुसार सन्धियाँ सख्या मे पाँच हैं—

"मख प्रतिमुख गर्भ सावमर्षोपसगति।"

नाट्यशास्त्र मे इनको और अधिक स्पष्ट शब्दो मे लिखा गया है।

"मुख प्रतिमुखं चैव गर्भो विमर्शयेवच" तथा "निर्वहण चेति नाटके पच सध्या.।"

अर्थात् नाटक मे मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्प और निर्वहण नामक पाँच सन्धियो की योजना की जाती है।

मुख सन्धि—धनञ्जय ने इसकी परिभाषा देते हुए लिखा है—

"मुख बीज समुत्पत्ति नानार्थरस सम्भव.
अगानि द्वादश तस्य बीजारम्भ समन्वयात्।"

अर्थात् मुख सन्धि नाटक के वृत्त का वह स्थल है जहाँ से विविध उपकथाओ, रसो और वस्तुओ की उद्भावना होती है। अभिनय-भारती टीका में इसके स्वरूप पर और भी अधिक सुन्दरता मे प्रकाश डाला गया है—

"प्रारम्भोपयोगी यावानर्थराशि प्रसक्तानुप्रसक्तया विचित्रास्वाद आपतित: तावान मुखसन्धि तदभिवायी च रूपकैकदेश ।"

—अभिनव-भारती, तृतीय भाग, पृ० २३

अर्थात् मुख सन्धि का अभिप्राय रस और भावप्रधान रस अर्थराशि से है जिससे किसी रूपक का उपक्रम किया जाता है। उसी आधार पर रूपक के उस भाग को, जिसमे वह अर्थराशि प्रतिष्ठित रहती है, 'मुख सन्धि' कहा जाने लगा। मुख-सन्धि का नाटक मे वही स्थान होता है जो नैयायिको के यहाँ साध्यनिर्देश या प्रतिज्ञा का होता है। सन्धियो के उदाहरण के लिए हम प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त नाटक' को ले सकते है। 'चन्द्रगुप्त' मे मुख सन्धि चन्द्रगुप्त के उद्धार सकल्प से आरम्भ होकर प्रथम अक के आठवे दृश्य तक मानी जाती है।

प्रतिमुख सन्धि—इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए दशरूपककार ने लिखा है—

"लक्ष्यालक्ष्यतयो उदभेद. तस्य प्रतिमुख भवेत्।"

अर्थात् कथा का वह अश जहाँ पर बीज थोडा लक्ष्य हो, और थोडा अलक्ष्य हो, प्रतिमुख सन्धि से सम्बन्धित माना जाता है। यह प्रतिमुख सन्धि बिन्दु और प्रयत्न के बीच की स्थिति कही जाती है। 'चन्द्रगुप्त' मे प्रतिमुख सन्धि का उदय प्रथम अंक के आठवें दृश्य से लेकर उस स्थल तक माना गया है जहाँ सिकन्दर भारत-वर्ष से लौट जाता है।

गर्भ सन्धि—इस सन्धि की परिभाषा देते हुए धनजय ने लिखा है—

"गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्य अन्वेषणम्।"

अर्थात् गर्भसन्धि वह स्थल है जहाँ प्रतिमुख सन्धि मे किंचित् प्रकाशित हुए बीज का बार-बार आविर्भाव, तिरोभाव तथा अन्वेषण होता रहता है। इस सन्धि मे प्राप्त्याशा और पताका के मध्य की स्थिति मानी जाती है। अधिक स्पष्ट करना चाहे तो कह सकते है "जैसे नैयायिको को उदाहरण देने मे सतर्क होना पडता है वैसे ही नाटककारो को भी गर्भसन्धि की रचना मे नायक और प्रतिनायक परस्पर द्वंद्व और इस द्वंद्व मे आशा और निराशा के अन्तर्द्वन्द्व के प्रकाशन करने मे और नाटक लक्ष्य की ओर अग्रसर होने मे पर्याप्त रूप से सतर्क होना पड़ता है। बिना इसके

नाटक के नाटकाभास मे बदल जाने का डर बराबर बना रहता है। 'चन्द्रगुप्त' में गर्भसन्धि का उदय उस स्थल से माना जाता है जहाँ सिकन्दर भारतवर्ष से लौट जाता है। जहाँ तक द्विविधा की स्थिति बनी रहती है वहाँ तक गर्भसन्धि ही मानी जायगी। यह द्विविधा की स्थिति नन्द की मृत्यु और चन्द्रगुप्त की राज्या प्राप्ति तक चलती है।

विमर्ष सन्धि—दशरूपककार ने इसी को अवमर्ष सन्धि कहा है। उसकी परिभाषा देते हुए उसने लिखा है—

"क्रोधेनावमृषेंद्यत्र व्यसनात् वा विलोभनात्
गर्भ निर्भिन्न बीजार्थ सो अवमर्षो अगसग्रह ॥"

अर्थात् गर्भसन्धि की अपेक्षा विमर्ष सन्धि मे बीज का अधिक विस्तार होकर उसमे फलोन्मुखता आती है। किन्तु यह फलोन्मुखता शाप, क्रोध, विपत्ति आदि से बाधित भी रहती है। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते है कि अवमर्ष सन्धि मे गर्भसन्धि की अपेक्षा फल-प्राप्ति की आशा का सचार कुछ अधिक हो चलता है।

निर्वहण अथवा उपसघृति—इसकी परिभाषा देते हुए दशरूपककार ने लिखा है—

"बीजवन्तो मुखाद्यर्था. विप्रकीर्णा यथायथम् ।
ऐकार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहण हितत् ॥"

अर्थात् जहाँ पर बीज से सम्बन्ध रखने वाले मुख सन्धि इत्यादि स्थान-स्थान पर बिखरे हुए अर्थसमुदाय उपसघृत कर दिए जाते है, अर्थात् एक प्रयोजन की सिद्धि के लिए समेट लिये जाते है, तब उसे 'निर्वहण सन्धि' कहते है। निर्वहण सन्धि अन्तिम सन्धि है। इसमे बीज का परिणमन फल के रूप मे होता है। इसीलिए कार्यावस्थाओ मे फलागम और अर्थ-प्रकृतियो मे कार्य के सयोग से निर्वहण सन्धि का आविर्भाव बतलाया गया है। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते है कि निर्वहण सन्धि पूरे नाटक का उपसंहार होती है। समस्त अर्थ, जो कि विभिन्न प्रयोजनो से इधर-उधर बिखर जाते है, इस निर्वहण सन्धि मे जाकर उपसघृत होकर वास्तविक फल के सिद्ध करने मे योग-दान करते हैं। उदाहरण के लिए हम चन्द्रगुप्त मे निर्वहण सन्धि का समावेश उस स्थल से मानते है जहाँ से ससैन्य आम्भीक के माधवो से मिल जाने पर और रावण ऐसे प्रतिद्वदी की मित्रता प्राप्त होने पर अन्य सब विघ्न शान्त हो जाते हैं।

संध्यग—सस्कृत के नाट्यशास्त्र के ग्रन्थो मे उपर्युक्त प्रत्येक सन्धि के कई-कई सध्यग बताए गए हैं। मुख सन्धि के १२ सध्यग माने गए हैं। उनके नाम क्रमश उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोभन, युक्ति, प्राप्ति, समाधान, विघान, परिभावना, उद्भेद, भेद और कारण हैं। प्रतिमुख सन्धि के तेरह भेदो की चर्चा की गई है। वे क्रमश विलास, परिसर्प, विभूत, शम, नर्म, नर्मयुक्ति, प्रगमन, निरोध, पर्युपासन, पुष्प, उपन्यास, वज्र और वर्णसघात है। गर्भ सन्धि के भी १२ भेद बताए गए हैं। उनके नाम क्रमश उभूताहरण, मार्ग रूप उदाहरण, क्रम, सग्रह, अनुमान, अधिबल,

तोटक, उद्वेग, सभ्रम और आक्षेप है। अवमर्ष सन्धि के तेरह अगों का उल्लेख किया गया है। उनके नाम अपवाद, सकेत, विद्रव, द्रव, शक्ति, द्युति, प्रसंग, छलन, व्यवसाय, विरोधन, प्ररोचना, विचलन और आदान हैं। निर्वहण सन्धि के चौदह भेद बताए गये है। दशरूपककार के अनुसार उनके नाम सन्धि, विमोद, ग्रथन, निर्णय, परिभाषण, प्रसाद, आनन्द, समय, कृति, भाषण, पूर्वभाव, उपगूहन, काव्य-सहार प्रशस्ति हैं। यह सब मिलाकर चौंसठ संध्यग होते है। इनके अतिरिक्त कुछ उपसन्धियो और सध्यतरो की भी वर्णना की गई है जिसमे एक विस्तृत वस्तु-विभाजन-क्रम का पता चलता है। इन सन्धियो और सध्यगो के नियोजनो के प्रयोजनो पर प्रकाश डालते हुए दशरूपककार ने लिखा है—

"इष्टस्यार्थस्यरचना गोप्य गुप्ति प्रकाशनम्।
राग प्रयोगस्याश्चर्य वृत्तान्तस्यानुपक्षयः॥"

अर्थात् सध्यगो के प्रयोजन छ होते हैं। (१) इष्टअर्थ की रचना, (२) छिपाने योग्य वस्तु का उपगोहन, (३) प्रकाशित करने योग्य वस्तु का प्रकाशन, (४) अभिनय के सम्बन्ध मे दर्शको का अनुराग जागृत करना, (५) अभिनय को चमत्कारपूर्ण बनाना, तथा (६) वृत्तान्त का उपक्षय न होने देना।

कथोपकथन की दृष्टि से वस्तु-विभाजन—दशरूपककार ने नाटकीय कथावस्तु का विभाजन कथोपकथन की दृष्टि से भी किया है। इस दृष्टि से कथावस्तु तीन प्रकार की मानी गई है—

(१) श्रव्य, जिसे सब लोग सुनते है।
(२) अश्रव्य, जिसे लोग सुन नही पाते हैं।
(३) नियत श्राव्य, जिसे केवल एक-आध आदमी ही सुन सके।

इस नियत श्राव्य के भी दो भेद होते हैं—

(क) अपवारित—जहाँ सामने विद्यमान पात्र की ओर से मुख मोडकर किसी रहस्यमय बात का उसमे छिपाकर कटाक्ष किया जाय वहाँ 'अपवारित' नामक नियत श्राव्य पाया जाता है।

(ख) जनान्तिक—जहाँ दो अधिक पात्रो की बात के प्रसग मे अनामिका को छोडकर बाकी तीन अगुलियो की ओट मे गुप्त सभाषण किया जाता है, वहाँ जनान्तिक नामक नियत श्राव्य होता है।

आकाश-भाषित—उपर्युक्त तीन प्रकार की कथावस्तु के अतिरिक्त एक आकाश-भाषित तत्त्व भी होता है। जब पात्र आकाश की ओर देखता हुआ कुछ सुनने का उपक्रम करता है और स्वय प्रश्नो को दुहराता है और स्वय ही प्रश्नो का उत्तर भी दे देता है, तब उसे 'आकाश-भाषित' कहते हैं।

इस प्रकार दशरूपककार की दृष्टि से वस्तु-विभाजन का क्रम स्पष्ट हो जाता है।

कुछ विद्वानो ने आधार की दृष्टि मे भी नाटकीय कथावस्तु के विभाजन किए हैं। वे क्रमश. प्रसिद्ध, उत्पाद्य और मिश्र माने जाते हैं। प्रसिद्ध कथावस्तु के

अन्तर्गत समस्त लोकप्रसिद्ध ऐतिहासिक एव पौराणिक कथाएँ ली जायँगी। उत्पाद्य कथावस्तु काल्पनिक होता है। मिश्र कथावस्तु मे कल्पना और इतिहास दोनो का समिश्रण पाया जाता है।

वस्तु-विभाग—वस्तु के दशरूपककार ने स्थूल रूप से दो विभाग एक दूसरे प्रकर से किए हैं—

(१) सूच्य, (२) दृश्य।

सूच्य की परिभाषा देते हुए लिखा है—

> **"नीरसो ऽनुचितस्तत्र ससूच्यो विस्तर ।**
> **दृश्यस्तु मधुरोदात्त रसभाव निरन्तर ॥"**

अर्थात् कथा का वह अश, जो नीरस है, अनुचित है, वह ससूच्य होता है। अर्थात् उसका अप्रत्यक्ष रूप से सकेत किया जाता है। कथा का मधुर, उदात्त और भावपूर्ण अश स्टेज पर विस्तार से, जो प्रत्यक्ष दिखाया जाता है उसे कथा का दृश्य अश कहते हैं।

सूच्यप्रतिपादन के प्रकार—दशरूपककार ने सूच्य प्रतिपादन के निम्नलिखित पाँच प्रकार बतलाए हैं।

> **"विष्कम्भक चूलिकांकस्यअकावतार प्रवेशकै ।"**

विष्कम्भक—दशरूपककार ने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है—

> **"वृत्वीर्तष्य भागानां कथाशानाम् निदर्शक ।**
> **सक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भो मध्य पात्र प्रयोजित ॥"**

अर्थात् जब कि भूत या भावी कथाश अत्यन्त सक्षेप मे साधारण या मध्य पात्रो के द्वारा सकेत किये जाते है तो उसे 'विष्कम्भक' कहते हैं। यह विष्कम्भक दो प्रकार का बताया गया है—(१) शुद्ध और (२) सकीर्ण।

> **"एकानेक कृतश्शुद्ध सकीर्णो नीच मध्यमै ।"**

अर्थात् शुद्ध विष्कम्भक वह होता है जो एक या कई मध्य पात्रो के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। इसके विपरीत सकीर्ण वह होता है जो किन्ही नीच पात्रो के द्वारा प्रदर्शित किए जाते है।

प्रवेशक—जब—

> **"तद्देवानुदात्तोक्त्या नीच पात्र प्रयोजितः ।**
> **प्रवेशो अंकों द्वयस्यान्त शेषार्थस्योपसूचकः ॥"**

अर्थात् जब कथा का भूत या भावी अश नीच भाषा मे नीच पात्रो के द्वारा दो अको के बीच मे दिखाया जाता है, तो उसे 'प्रवेशक' कहते हैं।

विष्कम्भक और प्रवेशक मे अन्तर—दोनो के अन्तर को समझने के लिए यहाँ पर नाट्य-शास्त्र और साहित्य-दर्पण को उद्धृत करना आवश्यक है—

नाट्यशास्त्र मे विष्कम्भक की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

"मध्य पुरुष नियोज्यो नाटक मुख सधिवस्तु संचार ।
विष्कम्भकस्तु सस्कृत पुरोहितामात्यकचुकीभि ॥"

प्रवेशक की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"प्राकृत भाषाचार प्रवेशको नाम विज्ञेय ।"

अर्थात् प्रवेशक नाटक की मुखसन्धि मे पाया जाने वाला मध्य पात्रो द्वारा प्रमुख्य कथाश होता है ।

साहित्य-दर्पण मे विष्कम्भक और प्रवेशक का अन्तर प्रवेशक के ही अन्दर स्पष्ट कर दिया गया है—

"प्रवेशको ऽनुदात्तोक्तया नीच पात्र प्रयोजित ।
अकस्यन्तर विज्ञेय शेष विष्कम्भके यथा ॥"

अर्थात् प्रवेशक मे नीच पात्रो के द्वारा अनुदात्त उक्तियाँ कही जाती है । यह दो अको के बीच मे प्रयुक्त होता है । इसमे शेष बातें विष्कम्भक की तरह होती है ।

(३) चूलिका—जब यवनिका के पीछे से पात्र किसी बात का सकेत करते है तब वहाँ पर चूलिका नामक सूच्य की स्थिति मानी जाती है ।

"अन्तर्जवनिकासस्थै चूलिकार्थस्य सूचना ।"

(४) अकास्य—दशरूपककार ने अकास्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"अकान्तपात्रैरकास्य छिन्नांकस्यार्थ सूचनात् ।"

अकास्य या अक मुख कथा के उस अश को कहते है जिसका अभिनय अकात पात्रो द्वारा, वे पात्र जो कि अक के अन्त मे अभिनय करते है, किया जाता है , तथा जिसके सहारे आगे के अक मे होने वाली बात की सूचना दी जाती है, तथा जो थोडा सा छिन्न सा प्रतीत होता है ।

अकावतार

"अकावतारस्दतकान्ते पातो ऽस्यक विभागत ।"

जब पहले अक की कथा दूसरे अक तक बिना किसी परिवर्तन के बराबर चलती रहती है । अकावतार को धनिक ने निम्नलिखित शब्दो मे स्पष्ट करने की चेष्टा की है—

"यत्र प्रविष्ट मात्रेण सूचनमेव पूर्वाक विच्छिन्नार्थ तथैवाकान्तरमापतति प्रवेशक विष्कम्भकादिशून्यम् स अक ।"

अर्थात् जब पात्र मच पर आकर बिना किसी प्रारम्भिक सूचना के अभिनय करना आरम्भ करते है और वहाँ पर प्रवेशक तथा विष्कम्भक की योजना नहीं की जाती है तब उसे 'अकावतार' कहते है । इसमे कथाश की सूचना पहले वाले अंक के प्रसग से मिल जाती है ।

अकास्य तथा अंकावतार मे भेद—साहित्य-दर्पण के रचयिता विश्वनाथ ने अकावतार और अकास्य के लक्षण इस प्रकार दिए हैं कि दोनों मे भेद करना कठिन

हो जाता है। सम्भवत इन दोनो मे भेद बनाए रखने की आवश्यकता के लिए ही अकास्य का नाम अक मुख प्रयुक्त किया है। अकास्य और अकावतार मे बहुत थोडा सा भेद है। अकास्य मे तो आगे के अक की बातो का सकेत मात्र किया जाता है, किन्तु अकावतार मे पहले अक के पात्र दूसरे मे फिर लाये जाते है। उन्ही के अभिनय के सहारे कार्य अग्रसर होता है। दशरूपककार के अकास्य और विश्वनाथ के अकास्य मे भी थोडा सा अन्तर दिखाई पडता है। अकास्य मे केवल आगे की कथा सूचित की जाती है, किन्तु अकमुख मे सम्पूर्ण नाटक की कथा ध्वनित मिलती है।

नाट्य के अनुरोध के कारण नाटकीय कथावस्तु के दशरूपककार ने तीन भेद फिर किए है। वे इस प्रकार है—

(१) श्राव्य, (२) अश्राव्य, तथा (३) नियत श्राव्य।

जिसे सब लोग सरलता से सुन लेते है उसे 'श्राव्य' कहते है, और जिसे सब लोग सरलता से नही सुन सकते उसे 'अश्राव्य' कहते हैं। 'नियत श्राव्य' दो प्रकार का माना जाता है—

१—अपवारित (चुपचाप बात कह देना) २—जनान्तिक (विशेष मुद्रा के साथ बात कहना)। सक्षेप मे वस्तु विन्यासक्रम यही है।

(२) नेता—दूसरा प्रमुख नाट्य तत्त्व नेता के अभिधान से प्रसिद्ध है। नेता का अर्थ होता है नायक। सामान्यतया यह पात्रो का वाचक है। भारतीय परम्परा के अनुसार नेता पद का अधिकारी वही व्यक्ति होता है, जिसमे कुछ निम्नलिखित विशिष्ट गुण होते हैं—

"नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्ष प्रियवदः
रक्त लोक सुचिरवाग्मी रूढवश स्थिरो युवा।
वुद्धयुत्साह स्मृतिप्रज्ञा कलामान् समन्वित।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिक॥"

अर्थात् नेता को विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियवादी, प्रवृत्तिमार्गी, पवित्र, वाणी-निपुण, उच्चवशवाला, स्थिर स्वभाववाला और युवा होना चाहिए। उसमे वुद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रज्ञा, कला आदि स्वाभाविक गुण होने चाहिएँ। उसमे शूरता, दृढता, तेज, शास्त्रज्ञता, धार्मिकता आदि गुणो की अवस्थिति भी आवश्यक होती है।

नायक के चार भेद बताए गए है—

"भेदै चतुर्धा ललितशान्तोदात्तोद्धतैरयम्।"

अर्थात् धीर ललित, धीर प्रशान्त, धीरोदात्त और धीरोद्धत। धीरोदात्त नायक मे आठ पुरुषोचित गुणो या अलकारो की अवस्थिति आवश्यक बताई गई है। उनके नाम क्रमश शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, धैर्य, तेजस्, लालित्य और औदार्य है।

नायक के सहायक पुरुष-पात्र भी होते है, जैसे पीठमर्द, विदूपक और विट आदि। कभी-कभी एक प्रतिनायक भी रहता है। पीठमर्द प्रासगिक कथा का नायक

होता है। यह आधिकारिक कथा के नायक की अपेक्षा हेय गुण वाला होता है और सदैव उसकी सहायता मे तत्पर रहता है। विदूषक भी नायक का सहचर होता है। वह नायक की प्रणय-व्यापार आदि मे सहायता करता है। खिन्नता और निर्वेद की अवस्थाओ मे उसका मनोरजन भी करता है। विट भी विदूषक के समकक्ष पात्र होता है। वह किसी कला का विशेषज्ञ भी होता है। अपनी उस कला की सहायता से नायक का अनुरजन करने मे समर्थ होता है।

नायक के सदृश नायिका को भी उदात्त गुण सम्पन्न होना चाहिए। उसमे सत्ताईस अलकार होने चाहिएँ। इन सब की चर्चा हम शास्त्रीय समीक्षा के प्रथम भाग मे शृगार रस के प्रसग मे विस्तार से कर चुके है। नायिका-भेद आदि पर भी वहाँ पर स्पष्ट शब्दो मे निरूपण किया जा चुका है। अतएव यहाँ पर इस विषय का विस्तार नही किया जा रहा है।

रस तत्त्व—नाटक का प्राणभूत तत्त्व रस माना गया है। इस रस के सम्बन्ध मे हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग मे रस सम्प्रदाय के प्रसग मे विस्तार से विचार कर चुके है। वहाँ पर रस सूत्र की व्याख्याओ पर थोडा कम प्रकाश डाला गया है। अतएव इस विषय को यहाँ पर अधिक स्पष्ट कर देना चाहते है। भारत का प्रसिद्ध रससूत्र—"विभावानुभाव व्यभिचारी सयोगात् रस निष्पत्ति" है। इस सूत्र की व्याख्या अनेक आचार्यों ने की है। मम्मट ने अपने काव्य-प्रकाश मे प्रमुख चार आचार्यों के सिद्धान्तो का निरूपण किया है। लोचनटीका मे इन चारो के अतिरिक्त कुछ और मतो की भी चर्चा की गई है। रस गगाधर मे रस-निष्पत्ति सम्बन्धी ग्यारह व्याख्याओ का उल्लेख मिलता है। यहाँ पर हम काव्य-प्रकाश मे उल्लिखित प्रमुख चार आचार्यों के मतो की मीमासा करेंगे। उन मतो की मीमासा करने से पहले थोडा सा स्पष्टीकरण स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और सचारियो आदि का भी कर देना चाहते हैं।

जगत की प्रतिक्रिया के स्वरूप प्रत्येक मानव के हृदय मे कुछ सस्कार या वासनाएँ उत्पन्न होती है। योग-सूत्र मे इन वासनाओ या सस्कारो को अनादि कहकर उनकी सार्वकालिकता और सार्वभौमिकता व्यजित की है। उसमे लिखा है—

"तासामनादित्वचाच्चिषो नित्यत्वात्।"—योगसूत्र ४-६

इस प्रकार की नित्य वासनाओ का अनुसन्धान साहित्यिक लोग प्राचीन काल से करते आये हैं। भरत मुनि ने चार वासनाओ की चर्चा की है। मम्मट ने इस प्रकार की आठ वासनाओ का उल्लेख किया है। जितनी वासनाओ का अनुसन्धान किया जा रहा है, रसो की सख्या उतनी ही बढती जा रही है। इसका कारण यह है कि रस का आधार यही वासनाएँ होती हैं। साहित्य मे उन्हें 'स्थायी भाव' की सज्ञा दी जाती है।

स्थायी भाव के अतिरिक्त विभावो का स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। जो सामग्री स्थायी भावो को उद्बुद्ध करती है या आश्रय प्रदान करती है, उसे 'विभाव' कहते हैं। साहित्य-दर्पणकार ने इनका वर्णन इस प्रकार किया है—

"रत्याद्युद्बोधका लोके विभावा काव्यनाट्ययो ।
आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥"

अर्थात् रत्यादि स्थायी भावो के उद्बोधक तत्त्व-काव्य और नाटक मे 'विभाव' कहलाते है । वे आलम्बन और उद्दीपन भेद से दो प्रकार के कहे गए हैं । आलम्बन नायक आदि होते है, जिनका अवलम्बन लेकर रस का उद्गम होते हैं । उद्दीपन रस को उद्दीप्त करने वाले तत्त्व होते है । आलम्बन की चेष्टाएँ और देश-काल आदि सब उद्दीपन के अन्तर्गत ही आते हैं ।

स्थायी भाव की अभिव्यक्ति करने वाले विकार 'अनुभाव' कहलाते है । साहित्य-दर्पणकार ने उनकी परिभाषा इस प्रकार दी है—

"उद्बुद्ध कारणै स्वैर्बहिर्भाव प्रकाशयन् ।
लोके य कार्यरूप सोऽनुभाव काव्यनाट्ययो ॥"

—साहित्य-दर्पण ३-१३५

अर्थात् लोक मे विभावादि कारणो से उत्पन्न होने वाले एव उसका प्रकाशन करने वाले कार्यरूप विकारो को काव्य और नाटक मे अनुभाव कहते हैं ।

इन अनुभावो के अन्तर्गत ही आठ सात्विको का उल्लेख भी किया गया है । दशरूपककार ने रस की निष्पत्ति मे इन सात्विको को भी महत्त्व दिया है । सात्विकों का नामोल्लेख साहित्य-दर्पण मे इस प्रकार किया गया है—

"स्तम्भ स्वेदो रोमांच स्वरभगो वेपथु ।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्विका स्मृता ॥—सा० द० ३-१३५

अर्थात् स्तम्भ, स्वेद, रोमाच, स्वर-भग, कम्प, वैवर्ण्य और प्रलय आदि आठ सात्विक होते है ।

रस की निष्पत्ति मे व्यभिचारी भावो का भी योग बताया गया है । जो क्षणिक भाव स्थायी भावो के परिपोषक होते है, उन्हे 'सचारी भाव' कहते हैं । उन्ही को 'व्यभिचारी भाव' भी कहते हैं क्योकि एक ही सचारी कई रसो मे व्यभिचरित होता है । इन सचारियो की सख्या तेंतीस बताई गई है । उनके नाम क्रमश, निर्वेद, ग्लानि, शका, असूया, धृति, जडता, हर्ष, दैन्य, चिन्ता, ईर्ष्या, अवमर्ष, गर्व, स्मृति, श्रम, आलस्य, मोह, क्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, वितर्क, त्रास, मरण, उन्माद, व्याधि, मति, उग्रता, अवहित्थ, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, प्रबोध, औत्सुक्य ।

विभावादि की इतनी चर्चा के बाद अब हम गद्य सम्बन्धी प्रमुख चार मतो की व्याख्या कर रहे है—

भट्ट लोललट्ट का रसोत्पत्तिवाद

भट्ट लोललट्ट के उत्पत्तिवाद की चर्चा काव्य-प्रकाश, ध्वन्यालोक की लोचन टीका तथा नाट्य-शास्त्र की अभिनव-भारती टीका मे की गई है । भट्ट लोललट्ट ने रस-सूत्र के निष्पत्ति शब्द का अर्थ उत्पत्ति और सयोग शब्द का अर्थ उत्पाद्य-उत्पादक

सम्बन्ध लिया है। अभिनव-भारती मे इस मत का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

"तेन स्थाय्येव (रत्यादिरेव) विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः।" स्थायी भावत्वनुपचित.। प्रविभावादि व्यापारात स्वयमसन्न च सुतरामेपचया भावे प्रतीत, कल्प। स चोभयोरपि मुख्यया वृत्या रामादावनुकार्यों, अनुकर्त्तरि च नटे रामादिरूपतानुसन्धानबलादिति।" —अभिनव-भारती, पृष्ठ २७४

मम्मट ने इस मत को कुछ थोडा सा हेर-फेर करके दूसरे शब्दो मे रखने की चेष्टा की है। मम्मट की वृत्ति मे शेष बातें तो वे ही है जो अभिनव-भारती मे कही गई है। केवल एक अन्तर है। उन्होने 'नर्तकेपि प्रतीयमानो रस' लिखकर अभिनव-भारती से अपना भेद प्रकट किया है। प्रतीयमान शब्द ध्वनिवादियो का है। ध्वन्यालोक मे 'प्रतीयमान पुनरन्यदेव' आदि लिखकर इस शब्द का प्रयोग ध्वनि के अर्थ मे किया गया है। मम्मट के द्वारा भट्ट लोललट्ट के उत्पत्तिवाद के प्रसग मे रस शब्द का प्रयोग किया जाना बहुत औचित्यपूर्ण नही है। इससे केवल इतना अवश्य व्यजित होता है कि वे उत्पत्तिवाद की अपेक्षा अभिनव के अभिव्यक्तिवाद के पक्ष मे अधिक थे। मम्मट की वृत्ति और अभिनव-भारती की व्याख्याओ मे एक शब्द और विवादग्रस्त है। वह है 'तद्रूपतानुसधान'। इसमे अनुसधान शब्द की व्याख्या भिन्न-भिन्न विद्वानो ने भिन्न-भिन्न रूपो मे की है। काव्य-प्रकाश के विवरण टीकाकार ने इसका अर्थ 'नर्तके तत्काल रामत्वाभिमान' अर्थात् नर्तक या नट मे अनुकरण कुशलता से 'मैं राम हूँ' इस प्रकार के अभिमान को जागृत किया है। उद्योत टीकाकार ने अनुसधान का अर्थ आरोप लिया है। उनका यह अर्थ सस्कृत विद्वानो मे कुछ अधिक प्रचलित और मान्य रहा है। इसीलिए रसोत्पत्तिवाद को कुछ लोग 'रसारोपवाद' भी कहते हैं। डॉ० के० सी० पाण्डे ने अनुसंधान शब्द के सम्बन्ध मे नया अनुसधान किया है। वे उसका अर्थ शैव-दर्शन के अनुरूप करते हैं। उनका कहना है कि 'अनुसधान' का अर्थ 'योजना' लिया जाना चाहिए। अपने इस अर्थ के पोषण मे उन्होने ईश्वर प्रत्यभिज्ञाकारिका का प्रमाण भी दिया है। सत्यव्रत सिह ने उनका ही आधार लेते हुए अनुसधान का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए लिखा है—"अनुसधान का यहाँ जो वास्तविक अभिप्राय है वह यह है कि नट का यह अनुभव कि पहले जो मैं नट था वही अब 'मैं राम हूँ' (अशुद्धानुसधान) और इसके बाद 'मैं राम हूँ' (शुद्धानुसधान) अनुसधान का यही अभिप्राय आचार्य अभिनवगुप्त का अभिप्राय है। इस सम्बन्ध मे मेरा विनम्र निवेदन है कि अभिनवगुप्त ने यदि इसका अर्थ अपने दर्शन के अनुरूप करने की चेष्टा की थी तो वह अनुचित था। बात यह है कि भट्ट लोललट्ट शैव-दर्शन से परिचित नहीं थे और उन्होने अनुसधान शब्दो का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ मे शैव-दर्शन के अनुरूप नही किया है। वे वेदान्तानुयायी थे और आरोप तथा भ्रम के सिद्धान्तो मे विश्वास करते थे। अतएव उन्होने उसका अर्थ आरोप ही लिया होगा। मेरी समझ मे भी उद्योतकार ने इसका रामत्वारोप अर्थ ठीक ही किया है।

सिद्धान्त का स्वरूप—मम्मट ने भट्ट लोललट्ट के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—विभावो से जो उत्पन्न और उद्दीप्त होकर जाता है तथा अनुभावो से गम्य-गमक भाव रूप सम्बन्ध से प्रतीति योग्य होकर तथा व्यभिचारी भावो के सहारे पोष्य-पोषक सम्बन्ध भाव से जो पुष्टता को प्राप्त होता है, तब वास्तविक सम्बन्ध से नाटक मे राम, सीता आदि के रूप धारण करने वाले अनुकर्त्ता के द्वारा, जब अनुकर्त्ता की रूपानुसधान कुशलता से सामाजिक उसमे अनुकार्य का आरोप कर लेता है, तो उसे एक प्रकार के चमत्कार का अनुभव होता है। उस चमत्कार को ही 'रस' कहते है। इनके मत मे विभावादि के अनुकरण से नट मे रस की उत्पत्ति बताई गई है। विभावादिको को उन्होने कारण माना है और रत्यादि रूप स्थायी भावो को कार्य माना है। विभावादि से रस की उत्पत्ति मानने के कारण ही इस सिद्धान्त को उत्पत्तिवाद कहते है। सामाजिक नट की अनुकरण-कुशलता के कारण उसमे रस का अनुसधान कर लेता है। (यह अनुसधान या आरोप सामाजिक की दृष्टि से तो आरोप है, और नट की दृष्टि से उत्पत्ति है। इसीलिए इस सिद्धान्त को आरोपवाद और उत्पत्तिवाद दोनो ही अभिधान दिये जाते है।)

रस की स्थिति—भट्ट लोललट्ट के मतानुसार रस की स्थिति मुख्य रूप से अनुकार्य मे होती है। किन्तु नट की अनुसधान-कुशलता से वह उसमे उत्पन्न हो जाता है। किन्तु यह उत्पत्ति वास्तविक न होकर भ्रान्ति रूप है। यह भ्रान्ति रज्जु सर्पवत् कही गई है। सामाजिक अनुकर्त्ता मे उसकी रूपानुसधान कुशलता से रस की रज्जु-सर्पवत् भ्रान्ति कर लेता है। यह भ्रान्ति आरोपमूलक है। इसका अर्थ यह हुआ कि नट मे रस वास्तविक रूप मे नही उत्पन्न होता। उसकी उत्पत्ति केवल आरोपित मात्र होती है। यहाँ पर एक बात और स्मरण रखने की है। वह यह कि भट्ट लोललट्ट रस को अन्य आचार्यों की भाँति अनुभूति रूप न मानकर वस्तु रूप मानते थे। क्योकि उत्पत्ति वस्तु की होती है, अनुभूति क नही और आरोप प्रतिक्रिया से भी वस्तु का ही भ्रम होता है, अनुभूति का नही। सक्षेप मे भट्ट लोललट्ट का रस सम्बन्ध यही सिद्धान्त है।

रसोत्पत्तिवाद की आलोचना—भट्ट लोललट्ट के मत मे कुछ दोष हैं। जिनके कारण वह प्रारम्भ से ही कटु आलोचना का विषय बना रहा है। इनके विपक्षी लोग इस सिद्धान्त के विरोध में अनेक तर्क देते रहे हैं। कुछ प्रमुख तर्क इस प्रकार है—

(१) अभिनवगुप्त के अनुयायियो का कहना है कि भट्ट लोललट्ट की व्याख्या से ऐसा प्रकट होता है कि रस की उत्पत्ति के लिए विभावादि का प्रत्यक्ष होना आवश्यक नही है। क्योकि सामाजिक तो नट मे रस का आरोप भर करता है। अनुकार्य तो उस समय प्रत्यक्ष होते नही है। ऐसी अवस्था मे रस की उत्पत्ति हास्यास्पद ही कही जायगी। कारण के प्रत्यक्ष न होने पर कार्य कैसे प्रत्यक्ष हो सकता है।

(२) भट्ट लोललट्ट ने रस को परगत या मुख्य रूप से अनुकार्यगत और गौण रूप से अनुकर्तागत कहा है। सामाजिक उनकी दृष्टि मे तटस्थ ही रहता है।

फिर यह समझ मे नही आता कि जो तटस्थ है, वह रसास्वादन कैसे करेगा। अगर यह कहे कि रसास्वादन भ्रान्ति से हो जाता है तो भी हास्यास्पद है। प्रयत्नज भ्रान्ति तो क्षणिक होती है। मूल तत्त्व के अनुसधान के बाद उसका निराकरण हो जाता है। यहाँ पर अनुकर्त्ता को जानते हुए भी सामाजिक अथवा सहृदय नट मे रस की भ्रान्ति या आरोप करता है। भ्रान्ति और आरोप से सुखानुभूति नही हो सकती।

(३) शकुक ने भट्ट लोललट्ट के मत पर और भी कई आक्षेप किये है। उनका एक आक्षेप है कि भट्ट लोललट्ट ने विभावादि रूप कारण सामग्री से रत्यादि रूप स्थायी भाव की रस रूप मे उत्पत्ति मानी है। अर्थात् उन्होने विभाव और रस आदि मे उत्पादक-उत्पाद्य सम्बन्ध माना है। इसका अर्थ यह हुआ कि विभावादि कारणो का जितना अधिकाधिक सयोजन किया जावेगा, रसोत्पत्ति की मात्रा उतनी ही अधिक होगी। किन्तु ऐसा नही हो सकता। रस अखण्ड और अद्वैत रूप है। उसमे मात्रा भेद नही माना जा सकता। अत रसोत्पत्तिवाद दोषपूर्ण है।

(४) भट्ट लोललट्ट के विरोधियो का एक और भी तर्क है। वे कहते है कि यदि हम रत्यादि रूप स्थायी भाव के साथ विभावादि के सम्बन्ध मे रस अर्थात् उद्दीप्त रत्यादि रूप स्थायी भावो की प्रतीति मानेगे तो भरत का रस सूत्र ही असगत प्रतीत होने लगेगा। क्योकि रस सूत्र मे स्थायी भाव का उल्लेख नही किया गया है।

(५) भट्ट लोललट्ट के विरोध मे शकुक ने एक और तर्क दिया है। उनका कहना है कि नाट्याचार्य भरत का यदि रस निष्पत्ति से रसोत्पत्ति का तात्पर्य होता तो फिर हास्य, शृगार आदि मे सम्बन्धित विविध सरणियाँ स्वीकार न की गई होती। हास्य के स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित आदि तथा शृगार की दशकाम दशाओ का रसोत्पत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर कोई समाधान नही दिखाई पडता। क्योकि हास्य या रति स्थायी तो केवल एक ही होगा फिर उसके भेद कहाँ से आवेंगे। और भेद प्रत्यक्ष है, उन्हे अस्वीकार भी नही किया जा सकता। अतएव हमे रसोत्पत्तिवाद के सिद्धान्त को त्यागकर रसानुमिति-वाद ही स्वीकार करना पडेगा। रसानुमितिवाद स्वीकार कर लेने के बाद अनुमान-कर्ता भेद से अनुमिति की विविध सरणियाँ भी स्वीकार की जा सकती हैं। हास्य के विविध भेद और शृगार की विविध काम-दशाएँ वास्तव मे अनुमानकर्ता भेद से ही विभिन्न रूपो मे अनुमित की जाती हैं।

(६) भट्ट लोललट्ट के विरोधी एक तर्क और प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि यदि भाव उद्दीप्त होकर रस दशा को प्राप्त होते है तो फिर करुण आदि रसो को अस्वीकार करना पडेगा क्योकि करुण का स्थायी भाव शोक अपनी उद्दीप्तावस्था मे ही अनुभूत होता है, बाद मे वह शान्त हो जाता है। उस शान्तावस्था मे वह पहले से सत् रूप नही प्रतीत होता और भट्ट लोललट्ट के मतानुसार रस वस्तु तत्त्व है और वह पहले से ही अनुकार्य मे रहता है। करुण रस के सम्बन्ध मे पहले से शोक भाव विद्यमान् माना जा सकता है किन्तु वह रस रूप नही होता। दुखात्मक शोक-भाव से आनन्दात्मक रस की उत्पत्ति मानना दर्शन के

कारण-कार्य सम्बन्ध के विरोध मे है। अतएव दुख रूप शोक की आनन्द रूप मे अनुमिति की जा सकती है।

शकुक का अनुमितिवाद

भट्ट लोललट्ट के रसोत्पत्तिवाद की सूक्ष्म आलोचना करके नैयायिक आचार्य शकुक ने भरत के रससूत्र की व्याख्या अपने ढग पर की है। उन्होने निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति और सयोग का अर्थ अनुमाप्य-अनुमापक सम्बन्ध किया है। अर्थात् वे रस को अनुमाप्य और विभावादि को अनुमापक मानते थे। मम्मट की वृत्ति मे आये हुए अनुसधान शब्द का अर्थ उन्होने "कवि अभीप्सित अर्थ की प्रत्यक्ष योजना" (**कवि विवक्षितार्थस्य साक्षाद्विकरणम्**) किया है। वृत्ति मे प्रयुक्त 'कृत्रिम' शब्द भ्रम सिद्धान्त की ओर सकेत कर रहा है।

सिद्धान्त का स्वरूप—मम्मट के शब्दो मे शकुक का मत इस प्रकार है[1]—

'देखने वाले को अभिनय करने वाले नट मे 'यह राम है' ऐसी प्रतीति चित्रलिखित घोडे मे 'यह घोडा है' इस प्रतीति की भाँति होती है। यह प्रतीति 'राम ही यह है' (नट राम से भिन्न और कोई नही है) 'यही राम है' (अर्थात् नट से भिन्न और किसी मे रामत्व नही है), ऐसे सम्यक् ज्ञान से 'यह राम नही है' इस ज्ञान द्वारा पीछे से बाधित होने वाले मिथ्या ज्ञान से 'राम यह है' इस प्रकार के भ्रमात्मक ज्ञान से 'यह राम है अथवा नही है' इस प्रकार के उभय कोटि सश्रित ज्ञान से 'यह राम के सदृश है' ऐसे सादृश्य ज्ञान से विलक्षण चित्र तुरगादिन् न्याय ज्ञान के सदृश होती है।"

विविध प्रकार के काव्य सम्बन्धी वाक्यो की अर्थ-प्रतीति के बल से नट अभिनय की शिक्षा तथा अभ्यास द्वारा अपने कार्य को भली भाँति प्रदर्शित करके प्रस्तुत करता है। उस नट के द्वारा प्रकट किए गए कारण, कार्य और सहचारी भाव, जो नाट्य-शास्त्र मे विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के पारिभाषिक नाम से अभिहित किए गए हैं, कृत्रिम होने पर भी मिथ्या नही भासित होते हैं। इन्ही के सयोग से रस गम्य-गमक भाव रूप से अनुमित होता है। और वस्तु की सुन्दरता के कारण समास्वादन के योग्य भी हो जाता है। सामाजिक इसका अनुमान कर लेता है। परन्तु रस अनुमान से भिन्न होकर स्थायी के सहारे चित्त मे अभिनिविष्ट होता है। यह जो स्थायी आदि भाव है वह नट मे न होते हुए भी दर्शक वृन्द की वासना द्वारा चर्वित होते है। इसी भाव का नाम रस है।

१—रामोऽयम् अयमेव राम इति न रामो यमित्यौत्तरकालिके बाधे रामो यमिति राम स्याद्वा न वा यमिति राममदृशो यमिति च सम्यङ्मिथ्यासशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन रामो यमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे।

इत्यादिकाव्यानुसन्धानबलाच्छिक्षाभ्यासनिर्वर्तितस्वकार्यप्रकटनेन च नटेनैव प्रकाशित कारणकार्यसहकारिभि कृत्रिमैरपि तथा नभिमन्यमानैर्विभावादिशब्दव्यपदेश्यै सयोगाद् गम्यगमकभावरूपाद् अनुमीयमानो, ऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षण स्थायित्वेन सम्भाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकाना वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्रीशकुक।

उपर्युक्त व्याख्या को यदि मनोयोग के साथ अध्ययन किया जावे तो स्पष्ट अनुभव होगा कि जिस प्रकार कुहरे से ढके हुए स्थान मे धुएँ के न होने पर भी धूम्र ज्ञान से अग्नि की सिद्धि अनुमित की जाती है, वैसे ही नट द्वारा चतुराई से यह विभावादि मेरे ही हैं, ऐसा प्रगटित होने पर अनुपस्थित भी विभावादि के साथ जो रति भाव है, उसकी अनुमिति दर्शक की पूर्व-वासना के सहारे हो जाती है। वही रति अपने सौन्दर्य के वल से सामाजिको के लिए आस्वाद का आनन्द देती हुई चमत्कार को उत्पन्न करती है। यही रसानुमितिवाद के सिद्धान्त का सार है।

रस की स्थिति—इस सिद्धान्त के अनुसार रस की स्थिति मूलरूप मे अनुकार्य मे ही होती है गौण रूप से वह सामाजिक की वासना मे रहता है। अनुकर्त्ता मे केवल स्थायी भाव होता है, रस नही। यह स्थायी भाव भी वास्तविक न होकर अनुकृत होता है।

नट के द्वारा इस अनुकृत किए गए स्थायी भाव को दर्शक विभावादि सचारी आदि हेतुओ के सहारे रस रूप मे ठीक उसी प्रकार अनुमित कर लेता है, जिस प्रकार कोई धूम्र रूपी हेतु के सहारे अग्नि का अनुमान कर लेता है। इस अनुमान मे दर्शक की वासना अधिक सहायक होती है। इस वासना के सहारे ही दर्शक नट के द्वारा अनुकृत स्थायी भाव का विभावादि हेतुओ के सहारे रस रूप मे अनुमान करता है।

इस सिद्धान्त की विशेषताएँ—इस सिद्धान्त के अनुसार रस दो प्रकार के तत्त्वो मे मिलकर वना हुआ प्रतीत होता है—(१) भ्रम रूप और (२) अनुमान रूप। विभावादि तो भ्रम रूप हैं क्योकि वह वास्तविक नही होते। वे नट के अपने कौशल के कारण अनुकृत मात्र होते हैं। फिर अनुकृत विभावो को देखकर ही दर्शक रस का अनुमान कर लेता है। यह अनुमान ठीक उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार धुएँ को देखकर अग्नि का अनुमान कर लिया जाता है।

शकुक का कथन है कि रस सूत्र के प्रवर्त्तक भरत मुनि ने स्थायी का नामोल्लेख नही किया है। इसका कारण सम्भवत यही है कि स्थायी भाव वास्तविक नही होता। वह केवल अनुकृत मात्र होता है। वाद मे उसका अनुमान कर लिया जाता है। इस सिद्धान्त मे जिस अनुमान का कथन है वह भ्रान्ति रूप है। इस भ्रान्ति रूप अनुमान को स्पष्ट करने के लिए शकुक ने लोक-प्रसिद्ध चार प्रकार के ज्ञानो से विलक्षण एक चित्रतुरगादि न्याय ज्ञान की कल्पना की है। यह न्याय, सम्यक् ज्ञान, मिथ्या ज्ञान, भ्रमात्मक ज्ञान और सादृश्य ज्ञान से विलक्षण होता है। उनकी भ्रान्ति-पूर्ण अनुमिति का आधार यही चित्र, तुरगादि न्याय ज्ञान है।

उपर्युक्त विवेचन मे स्पष्ट है कि शकुक का अनुमितिवाद प्रश्रय न्याय, भ्रम-सिद्धान्त, अनुमिति सिद्धान्त, शिल्प शास्त्रादि आदि कई वातो से प्रभावित है।

शकुक के मत की आलोचना—आचार्य शकुक का मत भी अपनी कई दुर्वलताओ के कारण कटु आलोचना का विपय रहा है। इनके मत के कुछ प्रमुख दोप इस प्रकार है—

(१) अनुमितिवाद का सबसे बडा दोष यह है कि उसमे सब कुछ कल्पित और कृत्रिम है। उन्होने रस को भी अनुमिति का विषय बनाया है। इस अनुमिति का पक्ष है नट रूप राम, लिंग हैं अनुभावादि, किन्तु यह सब कृत्रिम हैं, वास्तविक नही है। अत उससे जो स्थायी भाव रूप सिद्धि होती है, वह भी कृत्रिम ही हुई। समझ मे नही आता कि कृत्रिम रस को आस्वादन का विषय कैसे माना जा सकेगा। यदि यह कह दें कि वह आस्वाद का नही अनुमिति का विषय है, तो यह और भी असगत है। उस अवस्था मे रस को रसत्वहीन मानना पडेगा, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अग्नि को उष्णत्वहीन माना जाय। वैसे भी न्याय का प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि चमत्कार का कारण प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, अनुमिति ज्ञान नही। यदि हम रस को केवल अनुमिति ज्ञान मानेंगे तो फिर उसमे किसी चमत्कार की अवस्थिति नही मनी जावेगी। चमत्कार के अभाव मे रस नीरस रह जावेगा।

(२) अनुमान और मिथ्यानुकरण के सिद्धान्त एक साथ नही रखे जा सकते।

(३) चित्रतुरगादि न्याय ज्ञान की कल्पना हास्यास्पद है। उससे केवल बच्चे बहल सकते है, सुविज्ञ सहृदय सामाजिक नही।

भट्टनायक का भुक्तिवाद

भट्टनायक ने शकुक के अनुमितिवाद की कृत्रिमता के अनौचित्य को समझ कर भुक्तिवाद के सिद्धान्त के अवतारणा की है। इस मत का विवेचन हमे काव्य-प्रकाश की वृत्ति, ध्वन्यालोक की लोचन टीका तथा नाट्य-शास्त्र की अभिनव भारती टीका मे मिलता है। लोचनकार ने कुछ अधिक स्पष्ट शब्दो मे उसकी व्याख्या की है।

भट्टनायक ने पहले तो अपने विरोधियो के मतो का खण्डन किया है। यह खण्डन काव्य-प्रकाश के शब्दो मे "न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन वा रस प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते" तथा लोचन टीका के शब्दो मे 'तेन न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते काव्य रस" है। इन शब्दो का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—भट्टनायक कहते है कि यदि रस परगत अर्थात् अनुकार्यगत या अनुकर्त्तागत स्वीकार करें, जैसा कि भट्टलोललट्ट ने किया है तो उस दशा मे सामाजिक तटस्थ रट जायगा। जब सामाजिक तटस्थ रख जायगा तो फिर रसानुभूति किसे होगी। इसके विपरीत यदि उसकी स्थिति स्वगत अर्थात् सामाजिक मे मानें तो भी ठीक नही है क्योकि उसकी उत्पत्ति सीतादि विभावो से होती है। वह सीतादि राम के प्रति तो विभाव रूप हो सकते है, सामाजिक के प्रति नही। यदि यह कहा जाय कि साधारणीकरण व्यापार से सीता और रामादि का व्यक्तित्व निराकृत कर उन्हे सामान्य कान्तादि का रूप प्रदान कर दिया जाये तो भी ठीक नही है क्योकि देवतादि के विभावादि होने पर उनके प्रति हमारी जो पूज्य बुद्धि होगी वह साधारणीकरण मे बाधक हो जायगी और साधारणीकरण न हो सकेगा। अगर यह कहे कि स्वकान्तादि के स्मरण से सीतादि मे भी रसानुभूति हो जायगी तो यह भी ठीक नही है क्योकि सभी सामाजिक कान्तावान नही होगे। इस प्रकार स्पष्ट है कि रस की स्थिति और

उत्पत्ति न तो परगत मानी जा सकती है और न स्वगत ही। इसी प्रकार रस की अभिव्यक्ति भी न तो परगत ही और न स्वगत ही स्वीकार की जा सकती है। अभिव्यक्ति स्वीकार करने मे और भी अडचनें है। अभिव्यक्ति उसी अर्थ की होती है जो पूर्वसिद्ध है। रस की पूर्वसिद्धि स्वीकार नही की जा सकती। वह एक अनुभव की स्थिति है और उसको पूर्व मे सत् रूप नहीं स्वीकार कर सकते। अतः रस की अभिव्यक्ति का प्रश्न ही नही उठता। यदि यह कहा जाय कि रस सामाजिक के हृदय मे पूर्व वासना के रूप मे विद्यमान रहता है, उसी की अभिव्यक्ति हो जाती है। इसके विरोध मे यह कहा जा सकता है कि अभिव्यजक पदार्थों मे उत्तम, मध्यम और अधम आदि का तारतम्य भी होता है, किन्तु रसाभिव्यजक सामग्री मे यह तारतम्य नही होता। अत: रसाभिव्यक्ति का प्रश्न ही नही उठता। इस प्रकार भट्ट-नायक ने विस्तार से सिद्ध कर दिया है कि रस की स्वगत या परगत किसी भी रूप मे न तो प्रतीति होती है और न अभिव्यक्ति ही होती है।

सिद्धान्त पक्ष—इसके सिद्धान्त की मौलिकता दो नवीन शक्तियो की कल्पना मे है। आपने अभिधा के अतिरिक्त भावकत्व और भोजकत्व नामक दो नवीन काव्य शक्तियो की कल्पना की है। यहाँ पर प्रश्न उठ सकता है कि क्या केवल अभिधा से कार्य नही चल सकता था जो दो नवीन शक्तियो की कल्पना करनी पडी है। इसके उत्तर में भट्टनायक का कहना है कि यदि केवल अभिधा व्यापार ही माना जावेगा तो श्लेषादि अलकारों और तन्त्रादिशास्त्र न्याय मे कोई भेद न होगा। वास्तव मे श्लेषादि अलकारादि मे एक चमत्कार होता है जिसकी अभिव्यक्ति अभिधा व्यापार नहीं कर सकता। अभिधा व्यापार तो केवल तन्त्र-शास्त्र न्याय से कई अर्थ भर निर्दिष्ट करके रह जायगा। उसके चमत्कार का वोध अभिधा नहीं करा सकती। उसके लिए भावकत्व नामक नवीन व्यापार की कल्पना करनी पडी है। इस व्यापार से ही चमत्कार का वोध होता है। यह भावकत्व व्यापार अभिधा के सदृश अर्थ के प्रति न होकर इसके प्रति होता है। इसकी दूसरी सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि वह विभावादि का साधारणीकरण करता है। साधारणीकरण करने के बाद भावकत्व व्यापार की शक्ति क्षीण हो जाती है। वह साधारणीकृत विभावादि के द्वारा भक्ति रस के वोध कराने मे समर्थ नही होती। अत भट्टनायक को भोजकत्व की कल्पना करनी पड़ी। इस भोजकत्व व्यापार के सहारे ही रस का भोग निष्पन्न होता है। यह भोग स्मृति, अनुभव और अनुमिति तीनो प्रकार के ज्ञान से विलक्षण होता है। भट्टनायक के मत का यही सार है।

रस की स्थिति—भट्टनायक रस की स्थिति न तो अनुकर्त्तादि मे ही मानते हैं और न सामाजिक मे ही। यह शकुक के समान सामाजिक की पूर्वगत वासना मे भी विश्वास नही करते। इनके मतानुसार भावकत्व व्यापार के सहारे विभावादि का साधारणीकरण होता है। बाद मे स्थायी भाव का भी साधारणीकरण हो जाता है। यही साधारणीकृत स्थायी भाव सामाजिक के द्वारा भोजकत्व शक्ति के सहारे उपभुक्त किया जाता है। इस प्रकार इनके मत मे प्रमाता और प्रमेय दोनो का ही साधारणीकरण बताया गया है। इनके मतानुसार रस की स्थिति दर्शक मे पहले से विद्यमान नही रहती है।

इनके रस सिद्धान्त की प्रमुख विशेषताएँ—इनके मत मे तीन शक्तियाँ स्वीकार की गई हैं—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। अभिधा के सहारे शब्द के अर्थ का सकेत ग्रहण किया जाता है। भावकत्व शक्ति प्रमाता और प्रमेय इन दोनो को वाह्य लौकिक बन्धनो से मुक्त करने मे सफल होती है। इस विनिमुक्तिकरण को साधारणीकरण कहते हैं। भोजकत्व शक्ति के सहारे प्रमाता और प्रमेय रजोगुण और तमोगुण से मुक्त होकर सतोगुण के आधिक्य का अनुभव करते हैं। उसी समय सत्वोद्रेक से आनन्द दशा की प्राप्ति होती है। सामाजिक भोजकत्व शक्ति के द्वारा इसी आनन्द का भोग करता है। इस प्रकार इनके मतानुसार साधारणीकृत प्रमेय। स्थायी भाव और प्रमाता को सत्वो के आधिक्य से उत्पन्न होने वाले आनन्द की रस रूप मे भुक्ति होती है। इस प्रकार भट्टनायक ने काव्यार्थ के रसास्वादन के मूल मे तीन व्यापार माने है—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। इनमे पहले का सम्बन्ध अर्थ से, दूसरे का रस से और तीसरे का सहृदय से वताया गया है।

रस सूत्र और मम्मट की वृत्ति के कुछ शब्दो का स्पष्टीकरण—उपर्युक्त विवेचन को अधिक स्पष्ट रूप मे प्रकट करने के लिए हम रससूत्र और मम्मट की वृत्ति के कुछ शब्दो की व्याख्या भी कर देना चाहते हैं।[1] रससूत्र के निष्पत्ति शब्दो का अर्थ भट्टनायक ने भुक्ति लिया है, और सयोग शब्द का अर्थ भोज्य भोजक भाव सम्बन्ध। मम्मट की वृत्ति में प्रयुक्त ताटस्थ्येन शब्द से भट्टनायक ने भट्ट लोललट्ट के मत का खण्डन किया है। भट्ट लोललट्ट रस को अनुकार्य या अनुकर्त्तागत मानते थे। उस दशा मे सामाजिक तटस्थ ही रह जाता है। भट्टनायक का तर्क है कि सामाजिक को रसानुभूति हुए बिना रस-दशा पूर्ण नही होती। अतएव भट्ट लोललट्ट का मत ग्राह्य नही है। वृत्ति मे आये हुए 'नात्मगतत्वेन' शब्द से मम्मट ने शकुक के मत का खण्डन किया है। शकुक रस की स्थिति दर्शक मे वासना के रूप मे मानते थे। उस वासना के सहारे ही वह रस का अनुमान करता है। मम्मट का मतवाद है कि रस की स्थिति यदि दर्शक मे स्वीकार कर ली जावेगी तो उत्पत्ति और अनुमान का प्रश्न नही उठता। जो वस्तु पहले से ही विद्यमान है, उसके अनुमान की आवश्यकता नही अभिव्यक्ति की आवश्यकता मानी जा सकती है। इसके अतिरिक्त अनुमान के लिए एक कारण से और भी स्थान नही रहता है। वह कारण है रामादि का वर्त्तमान न रहना। उनके वर्त्तमान न रहने पर उनकी रति फिर किस प्रकार से मानी जावेगी। यदि नट वर्त्तमानता का अनुमान भी कर लिया जावे तो भी प्रत्यक्ष न होने के कारण चमत्कारजनक नही होगी। "भोगेन भुज्यते" का अर्थ है भोग नामक व्यापार से उपभुक्त किया जाना। इस भोग की मम्मट ने ५ विशेषताएँ वताई हैं। (१) सत्वोद्रेक रूप है, अर्थात् तमोगुण और रजोगुण का निराकरण करके सतोगुण की प्रधानता स्थापित करने वाला है। (२) प्रकाशरूपता—वह भोग

---

१. न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रस प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते अपितु काव्ये।
नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमान स्थायी सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्वेन भोगेन भुज्यते इति भट्टनायक।

नामक व्यापार साधारणीकृत स्थायी भाव को प्रकाश रूप मे ज्योतित करता है। (३) आनन्द—उस प्रकाश से आनन्द की उत्पत्ति होती है। (४) सम्वित्ति—वह प्रकाशमय आनन्द ज्ञानस्वरूप ही होता है। (५) विश्रान्ति—अन्य लौकिक ज्ञानो को तिरोहित करने वाली स्थिति है। सक्षेप मे भट्टनायक का मत यही है।

भट्टनायक के मत की आलोचना—अभिनवगुप्त आदि आचार्यो ने भट्टनायक के भुक्तिवाद का खण्डन किया है। उनका कहना है कि साख्य और योगादि दर्शनो के आधार पर सिद्ध है कि आनन्द और भोग तत्व एक साथ नही रह सकते। भट्टनायक ने भोग मे ही आनन्द की प्राप्ति बताई है। अतएव भुक्तिवाद का सिद्धान्त दोषपूर्ण है।

(२) अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के भावकत्व और भोजकत्व नाम व्यापारो के प्रति भी मतभेद प्रकट किया है। उनका कहना है कि भावकत्व और भोजकत्व की कल्पना अप्रामाणिक और निराधार है। काव्य के व्यजना व्यापार द्वारा गुण, अलकार आदि के औचित्य से रस की सिद्धि हो जाती है। उनके मतानुसार काव्य साधक है, रस साध्य है और व्यजना व्यापार साधन है। भावकत्व और भोजकत्व इन दोनो का कार्य व्यजना-शक्ति के विभावन और अभिव्यजन व्यापारो से सिद्ध हो जाता है।

इतना विरोध करते हुए भी अभिनवगुप्त का रसाभिव्यक्तिवाद रस भुक्तिवाद से बहुत प्रभावित है।

अभिनवगुप्त का रसाभिव्यक्तिवाद

अभिनवगुप्त को अपने रसाभिव्यक्तिवाद की प्रेरणा भट्टनायक के भुक्तिवाद मे मिली थी। सच बात तो यह है कि भट्टनायक की मान्यताओ को ही अभिनवगुप्त ने अधिक युक्तियुक्त ढग मे स्पष्ट शब्दो मे अपने ढग पर प्रस्तुत करने की चेष्टा की है और अपने मत को सब प्रकार से प्रामाणिक बनाने का प्रयास किया है। भट्टनायक से प्रेरित होते हुए भी अभिनवगुप्त की कुछ अपनी विशेषताएँ है। वे सक्षेप मे इस प्रकार है—

(१) रसानुभूति—रसानुभूति केवल प्रत्यक्षानुभूति मात्र नही है अपितु वह साधारणीकरण के सहारे हुआ करती है। किन्तु अभिनवगुप्त का साधारणीकरण भट्टनायक के साधारणीकरण से भिन्न है। भट्ट नायक ने प्रमाता और प्रमेय के साधारणीकरण पर विशेष बल दिया है। किन्तु अभिनवगुप्त ने दर्शक और अनुकार्य के तादात्म्य भाव को ही साधारणीकरण का प्रमुख कार्य माना है।

(२) भट्टनायक ने साधारणीकरण भावकत्व व्यापार के द्वारा माना है। किन्तु अभिनवगुप्त ने साधारणीकरण अभिव्यंजना के विभावन व्यापार द्वारा माना है।

(३) अभिनवगुप्त का मत है कि रसानुभूति प्रक्रिया प्रत्यक्षानुभूति और स्मृत्यानुभूति से नितान्त भिन्न है। इसका कारण वह मनोवैज्ञानिक बतलाते है। भट्टनायक के समान वह भोजकत्व व्यापार मे विश्वास नही करते।

(४) अभिनवगुप्त के मत की सबसे प्रमुख विशेषता सामाजिक की पूर्व वासना की कल्पना मे है जो विभावादि के सहारे रस रूप मे अभिव्यक्त हो जाती है। अभिनवगुप्त के मतानुसार रसानुभूति के योग्य सामाजिक मे निम्नलिखित गुण अवश्य होने चाहिए—

१. **रसकत्व**—अभिनवगुप्त ने सामाजिक मे रसानुभूति के लिए रसकत्व का होना बडा आवश्यक माना है। यह बात उनकी निम्नलिखित पक्ति से स्पष्ट है—

"लोके प्रमदादिभि स्थाय्यनुमाने अभ्यासपाटवताम्"

अर्थात् रस की अभिव्यक्ति उन्ही रसिको मे हो सकती है जो लौकिक व्यवहार मे प्रमदा, उद्यान, कटाक्ष, निवद आदि के द्वारा रति आदि स्थायी भावो के अनुमान करने के अभ्यास से अभ्यस्त हैं।

२. **सहृदयता**—रसकत्व के अतिरिक्त रसानुभूति के लिए सहृदयता की आवश्यकता होती है। यह बात मम्मट के 'सकल सहृदय सम्वादभावा' वाक्याश से प्रकट है।

३ **प्रतिभा या कल्पना-शक्ति**—रसिक हृदय मे प्रतिभा का होना भी आवश्यक है। ध्वन्यालोक की टीका मे प्रतिभा शब्द का स्पष्ट प्रयोग किया गया है। म ाट ने प्रतिभा का प्रयोग न करके 'प्रमातृभाववशोन्मिषित' वाक्याश का प्रयोग करके प्रतिभा का ही द्योतन किया है।

४ **बौद्धिक पृष्ठभूमि**—सामाजिक मे एक प्रकार की बौद्धिक पृष्ठभूमि भी होनी चाहिए। मम्मट ने इस बात का सकेत वासनात्मतया स्थित शब्दो से किया है। अर्थात् रस की अभिव्यक्ति के लिए सामाजिक मे एक पूर्व वासनामूलक पृष्ठभूमि भी वर्त्तमान होनी चाहिए। जब यह पृष्ठभूमि तैयार होगी तभी रस की अभिव्यक्ति सरलता से हो सकेगी।

५. **चर्व्यमाणत्व की प्रवृत्ति**—मम्मट ने सामाजिक मे चर्व्यमाणता की प्रवृत्ति का होना भी आवश्यक माना है। डा० के० सी० पाण्डे ने इसके लिए कन्टैमप्लेटिव हैबिट अथवा चिन्तनशील प्रवृत्ति शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रक्रिया के सहारे धीरे-धीरे रस की उसी प्रकार अनुभूति होती है जिस प्रकार पशु धीरे-धीरे जुगाली करके शुष्क तृण को रस रूप मे परिणत कर लेते है।

६. **मन की निर्द्वन्द्वावस्था**—सामाजिक रस की अनुभूति एक विशेष प्रकार की मानसिक निर्द्वन्द्वावस्था मे ही कर सकता है। मम्मट ने इस स्थिति का सकेत 'विगलितपरमित प्रमातृभाव वशोन्मिषित वेद्यान्तर सम्पर्क-शून्या परमित भावेन प्रमात्रा' शब्दो से किया है। इसका अर्थ है स्थायी आदि यद्यपि किसी निश्चित ज्ञाता में ही स्थित रहते हैं, किन्तु इस ज्ञाता या सामाजिक का वैयक्तिक पक्ष तिरोहित हो जाता है और विभावादि का साधारण रूप मे ज्ञान होने पर किसी निश्चित ज्ञान का ध्यान नही रहता।

साधारणीकरण की शक्ति—सामाजिक को उपर्युक्त दशा तक पहुँचाने वाली एक शक्ति साधारणीकरण की भी होती है। उसका सकेत मम्मट ने अपनी

वृत्ति मे 'साधारणोपायवलात्' लिखकर किया है। टीकाकार ने साधारणोपायबलात् का अर्थ करते हुए लिखा है—'साधारण व्यक्तिविशेषमवधित्वेन अप्रतीयमान स उपाय' अर्थात् व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध को प्रकट करने वाले उपाय रूप विभाव आदि। इस प्रकार मम्मट ने रस की अभिव्यक्ति के स्थानभूत सामाजिक मे उपर्युक्त विशेषताओ का होना आवश्यक ध्वनित किया है।

अभिनवगुप्त के अनुसार रस का स्वरूप—अभिनवगुप्त ने काव्य रस को अलौकिक माना है। इस अलौकिकत्व की प्रतिष्ठा निम्नलिखित ढग पर की गई है—

"काव्ये नाट्ये च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण विभावनादिव्यापारत्वाद लौकिकाविभावादि।"

इस वाक्याश मे अभिनवगुप्त ने यह दिखलाया है कि लौकिक विभावादि काव्य में किस प्रकार अलौकिक हो जाते हैं। उनका मत है कि व्यजना वृत्ति का एक विभावन व्यापार होता है जिसके सहारे लौकिक विभाव आदि काव्य और नाटको मे विभावादि होकर अलौकिक हो जाते हैं। अलौकिक विभावादि से ही अलौकिक रस की उत्पत्ति होती है।

"शब्दव्यवहार्यमिवैते शत्रोरेवैते तटस्थस्यैवैते न ममैवैते न शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवैते इति सम्बन्धविशेषस्वीकार परिहार नियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्त —

ससार मे हमे तीन प्रकार के भाव दिखाई पडते है। ममत्व-प्रधान, परत्व-प्रधान और ताटस्थ्य-प्रधान। यह तीनो भाव व्यक्ति से सम्बन्धित होते हैं और लौकिक है। विभावन व्यापार से विभावादि के यह तीनो प्रकार के सम्बन्ध नष्ट हो जाते है। इसका फल यह होता है कि काव्य नाटको मे विभावादि के द्वारा प्रदर्शित रति, स्थायीभाव, जो रस रूप मे व्यक्त होता है, दुष्यन्त आदि मे व्यक्तिगत न रहकर अनेक श्रोताओ मे दृष्टाओ के द्वारा एक साथ आस्वादनीय बन जाता है। अपरिमित होने के कारण यह रस अलौकिक हो जाता है।

'स च न कार्य। विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसंगात्। नापि ज्ञाप्य सिद्धस्य तस्यासम्भवात्। अपितु विभावादिभिर्व्यजितश्चवर्णीय। कारकज्ञापकाभ्यामन्यत् क्व दृष्टमिति चेत् न क्वचिन्द दृष्टमित्यसौ किकत्वसिद्धेर्भूषणमेतन्नदूषणम—

इस पक्ति मे मम्मट ने यह सिद्ध किया है कि रस न तो ज्ञाप्य है और न कार्य है। लौकिक जितनी वस्तुएँ होती है वे या तो ज्ञाप्य होती है और या कार्य। चूँकि रस न तो ज्ञाप्य है और न कार्य, इसलिए वह अलौकिक है।

रस के कार्य न होने के कारण—रस को कार्य नहीं कहा जा सकता क्योकि प्रत्येक कार्य कारण के नष्ट होने पर भी विद्यमान रहता है यथा कुम्हार और चक्र आदि के नष्ट हो जाने पर भी घट विद्यमान रहता है। यदि रस को कार्य माना जाय तो यह भी अपने विभावादि कारणो के अभाव मे विद्यमान रहना चाहिए। किन्तु ऐसा नही होता। अतएव रस कार्य नही है। यदि विभावादि को कार्य और रस को कारण माना जाय तो रस की प्रतीति के समय विभावादिकों की प्रतीति नहीं होनी चाहिए। किन्तु रस और विभावादि समूहालम्बनात्मक हैं। इसका आशय है कि अनेक वस्तुओ का एक साथ प्रतीत होना। रस विभावादि की प्रतीति भी

इसी प्रकार होती है। इसलिए उसे समूहालम्बनात्मक प्रतीति कहते है। इसमे कार्य कारण भाव नही माना जा सकता। अतएव इस आधार पर भी रस कार्य नही कहा जा सकता।

रस को ज्ञाप्य न मानने के कारण—ज्ञाप्य वही हो सकता है जो ज्ञापक हेतु के आने पर प्रत्यक्ष हो जावे। यथा पहले से विद्यमान घट अपने ज्ञापक हेतु दीपक या प्रकाश के आने पर स्वत प्रकट हो जाता है। किन्तु रस पहले से विद्यमान नहीं रहता। उसका अनुभव तो तभी होता है जब विभाव, अनुभाव और सचारी भावों का सयोग होता है। अत रस ज्ञाप्य नही है।

इसी प्रसग मे एक और शका का समाधान कर देना भी आवश्यक है। साधारणतया रस को विभावादि का कार्य माना जाता है। यह क्यो ? इसके उत्तर मे अभिनवगुप्त का कहना है कि केवल व्यवहार पक्ष मे रस को विभावादि का कार्य कहा जा सकता है। तात्त्विक दृष्टि से यह असत्य है। वास्तव मे रस की अभिव्यक्ति चर्वणा के साथ होती है।

इस प्रकार रस न तो ज्ञाप्य है और न कार्य ही है। इसीलिए वह अलौकिक कहा जाता है।

(३) **लौकिक प्रत्यक्षादि**—रस को अलौकिक कहने का एक कारण और है। लौकिक पदार्थ जितने भी वर्तमान है, उनका ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुभावादि प्रमाणो से हो जाता है किन्तु रस इन सब प्रकार के प्रमाणो से परे है। अतएव वह अलौकिक है।

"चर्वणानिष्पत्या तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम्"—इससे पहले की पक्ति मे मम्मट रस के अलौकिक तत्त्व को स्पष्ट करने के लिए यह कह चुके है कि वह कार्य नही है किन्तु यहाँ पर वे उसे कार्य कह रहे हैं। इसका क्या समाधान है। इस प्रश्न को स्पष्ट करते हुए मम्मट ने लिखा है कि पहले चर्वणा होती है फिर रस-निष्पत्ति होती है। इस दृष्टि से रस कार्य कहा जा सकता है और किसी दृष्टि से नही।

"लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञानवेद्यान्तरसस्पर्शरहितस्वात्ममात्रपर्यवसितपरिमितेतरयोगिसवेदनविलक्षणलोकोत्तरस्वसंवेदनगोचर इति प्रत्तयो ऽप्यभिधीयताम्।

ऊपर मम्मट यह कह आये है कि रस ज्ञाप्य नही होता किन्तु यहाँ पर वे उसे ज्ञाप्य बतला रहे है। उनका कहना है कि ससार में तीन प्रकार के ज्ञान देखे जाते हैं—(१) लौकिक ज्ञान जिनकी सिद्धि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणो से होती है। (२) यौगिक ज्ञान जिनकी अनुभूति प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो के द्वारा नही हो सकती। (३) आत्मज्ञान, यह उपर्युक्त ज्ञानो से भी विलक्षण और अनिर्वचनीय होता है। रस की अनुभूति या ज्ञान उपर्युक्त तीनो प्रकार के ज्ञानो से विलक्षण होने के कारण तो अलौकिक कहा गया है। किन्तु सहृदय द्वारा अनुभवगम्य होने के कारण ज्ञाप्य भी कहा जाता है। वास्ताव मे रस की यही विशेपता है कि वह

अलौकिक होते हुए भी ज्ञाप्य और कार्य है। इतना कहने पर भी मम्मट फिर इस बात पर ही बल देते हैं कि रस वास्तव मे अलौकिक तत्त्व है। वह अगर एक दृष्टि से ज्ञाप्य और कार्य नही कहा जा सकता तो दूसरी दृष्टि से ज्ञाप्य और कार्य कहा भी जा सकता है। इन्ही कारणो से उसकी अलौकिकता अनिर्वचनीय मानी गयी है।

"तद्ग्राहक च न निर्विकल्पक विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात्। नापि सविकल्पक चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसवेदनसिद्धत्वात् उभयाभावस्वरूपस्य चोभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति न तु विरोधमिति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादा।"

यहाँ पर मम्मट ने रस की अलौकिकता और अनिर्वचनीयता सिद्ध करने के लिए यह दिखाने का प्रयास किया है कि रसानुभूति या रसज्ञान, ज्ञान के दोनो स्वरूपो अर्थात् निर्विकल्पक और सविकल्पक दोनो का विषय नही है। वे कहते हैं कि वह निर्विकल्पक ज्ञान का विषय इसलिए नही है कि उसमे नाम, रूप, जाति आदि किसी विशेष प्रकार के आकार-प्रकार का प्रतिबिम्ब अनुभूत नही होता जब कि रस मे शृगार, हास्य, करुणा आदि की विशेष रूपो मे अनुभूति होती है। उसे सविकल्पक ज्ञान का विषय भी नही कह सकते क्योकि उसके विषय घट, पट आदि शब्दो से अभिहित किये जाने वाले लौकिक पदार्थ होते हैं। रस की अभिव्यक्ति शब्दो मे नही की जा सकती। तभी तो सन्त कवियो ने उसे गूँगे का गुड कहा है। रस की केवल अनुभूति होती है। उसकी चर्वणा की जाती है। इससे प्रकट है कि रसानुभूति स्वसम्वेद्य विषय है। रसानुभूति मे किसी प्रकार के रूप आकार आदि का ज्ञान नही रहता। अत स्पष्ट है कि ज्ञानान्तर के अभाव मे रसास्वादन की स्थिति मे नाम, रूपादि की चर्चा न होने के कारण सविकल्पक ज्ञान की सम्भावना भी क्षीण हो जाती है। अत रस सविकल्पक ज्ञान और निर्विकल्पक ज्ञान दोनो से परे हैं। इसीलिए मम्मट ने उसे उभयात्मक कहकर उसकी अलौकिकता और अनिर्वचनीयता ही व्यजित की है और साथ ही साथ उसे दोनो का विषय भी ध्वनित किया है। उभय अभाव स्वरूप और उभयात्मकत्व व्यक्तिगत सम्बन्ध हटाकर रसास्वादन कराने वाला तत्त्व साधारणीकरण व्यापार है। अभिनवगुप्त और मम्मट का मत वाद है कि जिस प्रकार कि मिट्टी के कोरे पात्र मे मिट्टी की सुगध पहले से ही अव्यक्त रूप मे विद्यमान रहती है तथा जल पाकर तत्काल प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार सामाजिको मे रति भावादि की वासना पहले से ही अव्यक्त रूप मे वर्तमान रहती है। वह काव्य नाट्य आदि के विभावादि के सयोग से अभिव्यक्त हो जाती है। दूसरे शब्दो मे यो कह सकते है कि रति आदि स्थायी भावो का अनुभव होने लगता है। यह अनुभूति ही रस की अभिव्यक्ति या निष्पत्ति है।

यह तो हुई रस की चर्चा। भारतीय नाट्य तत्वों मे वृत्तियाँ भी आती है। इनका विवेचन प्रथम भाग मे विस्तार से कर चुके हैं अत यहाँ पिष्टपेषण नहीं करना चाहते। पचम तत्त्व अभिनेयता पर आगे विचार करेंगे।

पाश्चात्य नाट्य-कला के सिद्धान्त

पाश्चात्य देशो मे यूनान सबसे पहला देश है जिसमे नाटय-कला पर सूक्ष्मता

से विचार किया गया था। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू ने अपने 'पोयटिक्स' नामक ग्रन्थ मे नाट्य-कला का भी अच्छा विवेचन किया है। उसने नाटक दो प्रकार के माने है—ट्रेजडी तथा कॉमेडी। इन दोनो के उसने अलग-अलग सिद्धान्त निर्धारित किये है।

ट्रेजडी के सिद्धान्त—अरस्तू के अनुसार, सफल ट्रेजडी मे निम्नलिखित विशेषताएँ होती है—

(१) इसका नायक कोई उदात्त गुण सम्पन्न कोई महापुरुष होता है।

(२) कथावस्तु का सगठन समुचित रूप से किया जाता है। इसके लिए कार्यान्विति के सिद्धान्त पर विशेष दृष्टि रखनी पडती है। उसके अनुसार नाटक की समस्त घटनाएँ कार्य-कारण सूत्र से एक मे सम्बद्ध रहनी चाहिए।

(३) नाटक का आरम्भ और अन्त रोचक और नाटकीय होना चाहिए।

कॉमेडी के सिद्धान्त—अरस्तू के अनुसार कॉमेडी मे निम्नलिखित बातें होनी चाहिए—

(१) उसमे निम्न प्रकार के चरित्रो की अवतारणा की जानी चाहिए।

(२) उसमे जीवन के गम्भीर विषयो का विवेचन नही होना चाहिए।

अरस्तु के ट्रेजडी और कॉमेडी शीर्षक नाट्य-भेद तथा उनसे सम्बन्धित सिद्धान्त आगे चलकर विस्तृत रूप से विवेचित किये गये आजकल अग्रेजी नाट्य-शास्त्र मे जिन तत्वो का विवेचन मिलता है उनका आधार ये नाट्य-सिद्धान्त ही हैं। उनका विवेचन करने से पूर्व यहाँ पर हम अरस्तू के बाद के कुछ और प्राचीन आचार्यों के मतो का सकेत कर देना चाहते है।

रोमन आचार्य हुरेश के नाट्य-सिद्धान्त—रोमन आचार्य हुरेश का उदय लगभग अरस्तू के तीन सौ वर्ष बाद हुआ था। उसका लिखा हुआ 'दी अपीलस टु दी पिसोस' नामक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। उसके इसी ग्रन्थ मे नाट्य-सिद्धान्तो का उल्लेख मिलता है। उसके प्रसिद्ध नाट्य-सिद्धान्त इस प्रकार है—

(१) नाटककार को चरित्र-निर्माण मे जनता की परम्परागत भावनाओ की रक्षा और निर्वाह करना चाहिए।

(२) कुछ निषिद्ध और वीभत्स बातें रगमच पर नही दिखाई जानी चाहिएँ।

(३) नाटक मे केवल पाँच अक होने चाहिएँ।

(४) देवताओ आदि को रगमच पर नही दिखाना चाहिए।

(५) शेप सिद्धान्त यूनानी नाट्य-शास्त्र के पालन करने चाहिएँ।

अरस्तु और हुरेश के उपर्युक्त सिद्धान्तो की आधारभूमि पर शेक्सपियर और मोलियर आदि नाटककारो के मौलिक सिद्धान्तो का विकास हुआ। उन सब सिद्धान्तो को प्रकाश मे रखकर वर्त्तमान नाट्याचार्यों ने पाश्चात्य नाट्य के निम्नलिखित ६ तत्त्व बतलाये है—

(१) वस्तु, (२) चरित्र-चित्रण, (३) सवाद या कथोपकथन, (४) गीत, (५) अभिनेयता, तथा (६) भाषा और शैली।

कुछ लोग देश-काल शीर्षक एक तत्त्व और स्वीकार करते है। इसके अतिरिक्त कुछ लोग उसकी अभिव्यक्ति संवादो के प्रसग मे ही समेटने की चेष्टा करते हैं। हमारी समझ मे ७ तत्त्व मानना ही अधिक उपयुक्त है।

(१) वस्तु – अरस्तु ने नाटक मे वस्तु को चरित्र-चित्रण से भी अधिक महत्त्व दिया है। उसका दृढ मत है कि चरित्र-चित्रण के बिना नाटक बन सकता है, किन्तु वस्तु के बिना नाटक की रचना नही हो सकती। वस्तु नाटक की आधारभूमि है। उसके मतानुसार नाटकीय कथावस्तु स्वतन्त्र तथा निरपेक्ष होती है, किन्तु उसका स्वरूप और विस्तार नियमो से नियन्त्रित रहता है। उसका दृढ मत है कि कथावस्तु में आदि, मध्य और अन्त तीनो तत्त्व स्पष्ट रहने चाहिएँ। उसके अनुसार कथावस्तु का विन्यास ४ तत्त्वो मे होना चाहिए—

(१) प्रस्तावना, (२) उपसंहार, (३) अक, तथा (४) अवक।

अरस्तू के मतानुसार कथावस्तु मे घटना सकलन का होना बडा आवश्यक है। सकलन का अर्थ है कि समस्त गौण कथाओ का आधिकारिक कथा से सम्बद्ध होगा। अरस्तू के मतानुसार नाटकीय कथावस्तु में प्रासगिक कथाओ की भरमार नही होनी चाहिए। नाटकीय कथावस्तु मे अधिकतर जीवन के चमत्कारपूर्ण और भावमय चित्र ही सकलित किये जाने चाहिएँ। इसी भावना से प्रेरित होकर प्रत्यभिज्ञान के दृश्यो को नाटकीय कथावस्तु मे स्थान दिया जाता है। स्थिति परिवर्तन के दृश्य भी अधिकतर इसी कारण से लाये जाते है। स्थिति परिवर्तन के दृश्यो से नाटक मे करुण और भय के भावो की सृष्टि होती है। नाटको मे आकस्मिक प्रभाव वैषम्य को भी बहुत महत्त्व दिया जाता है। इस प्रकार अरस्तू ने नाटकीय कथावस्तु के सम्बन्ध मे विस्तार से विचार किया था। उसने केवल घटना-सकलन के सिद्धान्त का ही निरूपण किया था। आगे चलकर ग्रीस मे सकलन-त्रय के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। इस पर हम आगे विचार करेंगे।

आधुनिक नाट्याचार्यो ने, जिनमे हडसन विशेष उल्लेखनीय है, नाटकीय कथावस्तु का विन्यास ६ अगो मे माना है—

(१) एक्सपोजीशन अथवा प्रस्तावना, (२) इनीशियल इमीडेण्ट अर्थात् प्रारम्भिक घटना, (३) राइजिंग एक्शन, अथवा विकासोन्मुख क्रिया-व्यापार, (४) क्राइमिस या 'चरम सीमा, (५) डिनूमा या निगति, तथा (६) कैटस्ट्राफी या दुर्घटना।

व्याख्या अथवा एक्सपोजीशन—पाश्चात्य नाट्य-कला की दृष्टि से इस स्थल पर कार्य की रूपरेखा का सकेत किया जाता है। नाटक की प्रमुख समस्या भी अपने आवृत्त रूप मे और कभी अनावृत रूप मे इसी स्थल पर व्यजित हो जाती है।

प्रारम्भिक सघर्षमय घटनाएँ—यह वह स्थल है जहाँ पर नाटककार क्रिया-व्यापार को आगे बढाने के लिए किसी ऐसी घटना का नियोजन करता है, जिसके कारण बाह्य और आन्तरिक सघर्षो का श्रीगणेश हो जाता है।

क्रिया-व्यापार का विकास—सघर्षमय घटना के बाद क्रिया-व्यापार स्वतन्त्र रूप से विकसित होकर चरम सीमा की ओर अग्रसर होने लगता है।

चरम-सीमा—जहाँ पर सघर्ष अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है उसी को 'चरम सीमा' कहते हैं। इस स्थिति मे पाठक या दर्शक का हृदय स्तम्भित होने लगता है। उसकी सवेदना अपनी अन्तिम सीमा तक पहुँचने लगती हैं और उसकी उत्सुकता अधीर होने लगती है।

डिनूमा या निगति—चरम सीमा के बाद क्रिया-व्यापार की गति बदल जाती है और वह एक विचित्र मन्थरता को प्राप्त कर लेती है। कार्य की सफलता के कुछ चिह्न भी दिखाई पडने लगते हैं।

कैटेस्ट्रोफी—यह वह स्थिति है जहाँ पर कार्य अपनी पूर्णता पर पहुँच कर सहसा अवरुद्ध हो जाता है। इस प्रकार पाश्चात्य नाट्य शास्त्र मे वस्तु का विभाजन-क्रम स्पष्ट किया गया है।

सकलन त्रय—अरस्तू ने अपने काव्य-शास्त्र मे कार्य-सकलन पर विशेष बल दिया है। उसके कार्य-सकलन की पूर्णता के लिए स्थान सकलन और समय सकलन भी कुछ अश मे अपेक्षित थे। यद्यपि उसने समय और देश सकलनो की प्रत्यक्ष चर्चा नही की है, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप मे उनकी भी वर्णना उसमे मिलती है।

कार्य सकलन—कार्य-सकलन से अरस्तू का अभिप्राय यह था कि नाटक में केवल उन्ही घटनाओ और कार्यों का वर्णन किया जाना चाहिए जो प्रमुख घटना की पोषिका हो। कार्य के आदि मध्य और अन्त पूर्ण-रूपेण समन्वित होने चाहिएँ। इस समन्विति सिद्धान्त को लौविल ने शरीर के दृष्टान्त से स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उसने लिखा है जिस प्रकार शरीर के सभी अग एक ही सम्पूर्ण देह के पोषक होते है इसी प्रकार नाटक की समस्त घटनाएँ और क्रियाएँ प्रमुख क्रिया-व्यापार की पोषिका होती है।

अरस्तू ने नाटक की कथावस्तु के विस्तार मे कार्य-सकलन की अभिव्यक्ति दो रूपो मे बताई है—(१) घटनाओ के कार्य-कारण सम्बन्ध के निर्वाह के रूप मे, तथा (२) घटनाओ के एक लक्ष्य की पूर्ति के सहायक रूप मे।

स्थान-सकलन—स्थान-सकलन की यद्यपि स्पष्ट चर्चा अरस्तू ने नही की है किन्तु अप्रत्यक्ष रूप मे उसकी चर्चा उसमे हो गई है। इस सकलन के अनुसार नाटककार को अपने क्रिया-व्यापार किसी ऐसे स्थान मे नियोजित नही करने चाहिएँ जहाँ पर निर्दिष्ट समय मे नाटक के सभी पात्र अपने व्यापारो के प्रदर्शन मे समर्थ हो। इसके लिए प्राय एक ही नगर मे सभी पात्रो को किसी न किसी कार्यवश लाकर एकत्रित करने की प्रथा रही है। स्थान-सकलन की पराकाष्ठा उस समय समझी जाती है जब नाटककार एक ही कमरे मे समस्त पात्रो तथा सम्पूर्ण क्रिया-व्यापारो को एकत्रित कर देता है।

समय-सकलन—अरस्तू ने समय-संकलन की भी चर्चा की थी। उसके मतानुसार नाटक की घटना सूर्य के एक सक्रमण मात्र के समय के अन्तर्गत ही सीमित रहनी चाहिए। सूर्य के सक्रमण काल के सम्बन्ध मे विद्वानों मे मतभेद रहा है। कुछ विद्वान् उसका अर्थ १२ घण्टे, कुछ २४ घण्टे और कुछ ३० घण्टे तक लेते हैं।

है। एक समकक्षता या समानान्तरता की युक्ति और दूसरी सापेक्षता की युक्ति। कथावस्तु मे कभी तो पात्रो, घटनाओ आदि की चर्चा समानान्तर शैली मे की जाती है और कभी सापेक्षिक शैली का अनुसरण किया जाता है। इन युक्तियो की योजना से कथावस्तु और चरित्र-चित्रण का स्वरूप अधिक स्पष्ट हो जाता है।

चरित्र-चित्रण—वस्तु के बाद पाश्चात्य दृष्टि से दूसरा नाटकीय तत्त्व चरित्र-चित्रण उल्लेखनीय है। हडसन ने चरित्र-चित्रण के महत्त्व पर बल देते हुए लिखा है कि किसी भी नाट्य-कला का सबसे महत्त्वपूर्ण और चिरन्तन तत्त्व चरित्र-चित्रण ही होता है। चरित्र-चित्रण आजकल के नाटको का प्राण है। चरित्र-चित्रण कला का इस युग मे सम्यक् विकास हुआ। उसकी अनेक शैलियाँ हैं। उसकी अनेक विशेषताओ पर प्रकाश डाला गया है उनको स्पष्टतर करने के लिए अनेक युक्तियो की कल्पना की गई है, जैसे नाटकीय विषमता आदि। इन सब का यहाँ पर विस्तार मे विवेचन नही किया जा सकता नहीं तो ग्रन्थ का कलेवर और भी अधिक बढ जावेगा। किन्तु चरित्र-चित्रण की दृष्टि से एक सिद्धान्त विशेष उल्लेखनीय है—वह है व्यक्ति वैचित्र्यवाद का सिद्धान्त। वर्तमान नाट्य-कला के क्षेत्र मे इसकी बहुत धूम है। इस सिद्धान्त को लेकर पाश्चात्य साहित्य मे बहुत अनर्थ भी हुआ है। कवियो को अपनी रचनाओ में विचित्र सृष्टि रचने की एक धुन-सी सवार हो गई थी, जिसके फलस्वरूप पाश्चात्य साहित्य में अप्राकृतिक मनोविज्ञान के सैकडो उदाहरणो की अवतारणा हो गई। नाट्य-क्षेत्र मे इस वाद ने अरस्तू के विरेचन के सिद्धान्त को परास्त करके अपना पूर्ण आधिपत्य जमा लिया। नाटककार ऐसे चरित्रो की सृष्टि करने लगे जिनके शील से भावो का विरेचन न होकर केवल क्षणिक अवसादन और प्रमादन करके ही रह जाने लगा। निश्चय ही इससे पाश्चात्य नाट्य-कला को गहरी क्षति पहुँची है। इधर कुछ दिनो से पाश्चात्य नाटककार इस सिद्धान्त से उदासीन हो चले है और मनोविज्ञान के प्राकृतिक स्वरूपो की खोज मे अधिक दिखलाई पडने लगे है। यद्यपि उनकी यह खोज केवल वासना-क्षेत्र मे ही सीमित होने के कारण एकागी है, किन्तु फिर भी आगे स्वस्थ विकास के चिन्ह दिखाई पड़ रहे हैं।

चरित्र-चित्रण की शैलियाँ—नाटको मे चरित्र-चित्रण की कई शैलियाँ दिखाई पडती हैं—

(१) वर्णनात्मक शैली—इस कोटि की शैली मे प्राय पात्र एक दूसरे के गुणो और विशेषताओ का वर्णन करते दिखाये जाते हैं। कला की दृष्टि से यह शैली बहुत हेय होती है। श्रेष्ठ नाटककार इसका अनुगमन नहीं करते।

(२) नाटकीय शैली—इस शैली मे नाटककार लोग चरित्र को स्पष्टतर करने के लिए बहुत सी युक्तियो का उपयोग करते हैं। उनमे निम्नलिखित युक्तियाँ विशेष उल्लेखनीय है—

(१) स्वगत-भाषण, (२) रगमच निर्देश, (३) वातावरण निर्माण, (४) सापेक्षित चरित्र के पात्रो की अवतारणा, (५) नाटक की नाटकीय

विषमता आदि युक्तियो की योजना तथा (६) क्रिया-व्यापार की चरित्र व्यजकता।

संवाद—पाश्चात्य नाट्य-कला का तीसरा प्रमुख तत्त्व सवाद है। सवादो का महत्त्व कथा-विकास तथा चरित्र-चित्रण दोनो दृष्टियो से है। सवादो मे यदि निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं तो वे सफल समझे जाते है—

(१) देश, पात्र और परिस्थिति की अनुकूलता, (२) वाग्वैदग्ध्य, (३) सक्षिप्तता, (४) त्वरा बुद्धिमूलकता, (५) सजीवता, (६) रसात्मकता और चमत्कारात्मकता, (७) तर्कसगतता, (८) पूर्वापर सम्बद्धता, (९) सार्थकता तथा (१०) भाषा-शैलीगत सरलता अथवा प्रसाद गुण सम्पन्नता।

गीत—नाटको मे गीतो की योजना भी आवश्यक समझी जाती है। इनका उसमे कई दृष्टियो से बडा उपयोग होता है—

(१) वे परिस्थितिजन्य अथवा घटनामूलक नीरसता का निराकरण करते हैं।

(२) भूतकाल की घटनाओ का, जिनका वर्णन नाटक मे नही किया जा सकता है, सकेत करके स्पष्ट कर देते है। उदाहरण के लिए हम स्कन्दगुप्त का निम्नलिखित गीत ले सकते है—

"ससृति के सुन्दरतम क्षण यो ही भूल नहीं जाना।
उच्छृखलता थी अपनी कह कर मत मन बहराना॥" इत्यादि

इस गीत से मातृगुप्त और मालिनी की पूर्व-प्रणय कथा का सकेत किया गया है जिसमे नाटक मे उल्लेख नही हो पाया।

(३) गीत नाटकीय कथावस्तु की एकसूत्रता बनाए रखने मे भी सहायक होते हैं।

(४) कथावस्तु के विस्तार मे सहायक होना—सफल नाटककार गीतो की योजना इस प्रकार करते है कि वे कथावस्तु के विस्तार मे सहायक हो सकें। हिन्दी मे इस कोटि के गीतो की योजना करने मे प्रसाद बहुत प्रसिद्ध है। उनके नाटको मे हमे बहुत से ऐसे गीत मिलते है जो अस्पष्ट कथा को स्पष्ट करते चलते हैं। उदाहरणत. हम स्कन्दगुप्त ससृति के सुन्दरतम का क्षण, गीत ले सकते हैं।

(५) परिस्थिति तथा वातावरण के निर्माण मे सहायक होना—सफल नाटककार अपने गीतो की योजना से परिस्थिति और वातावरण का निर्माण करके, नाटक को स्वाभाविकता प्रदान करते है। यदि नाटककार को किसी कारुण दृश्य का वर्णन करना है तो उसे चाहिए कि वह पहले एक कोमल करुण गीत की योजना कर दे। उदाहरण के लिए हम प्रसाद के स्कन्दगुप्त का निम्नलिखित गीत ले सकते हैं —

"न छेडना उस अतीत स्मृति के
खिंचे हुए बीन तार कोकिल—

करुण रागिनी तडप उठेगी
सुना न ऐसी पुकार कोकिल ।"

यह गीत एक शान्त, निस्तब्ध और कोमल करुण वातावरण के निर्माण मे सफल हुआ है। आगे आने वाली गम्भीर घटनाओ के लिए इसने समुचित पीठिका तैयार कर दी।

(६) पात्रों की मनोदशाओं के विश्लेषण में सहायक भूत गीत—सफल नाटककार अपने गीतो मे पात्रो की मनोदशाओ का, उनकी चारित्रिक विशेपताओ का भी व्यजनात्मक शैली मे सकेत करते चलते है। उदाहरण के लिए हम स्कन्दगुप्त का निम्नलिखित गीत ले सकते हैं—

"आह वेदना मिली विदाई।
मैंने भ्रमवश जीवन संचित
मधुकरियों की भीख लुटाई।"

इस गीत मे पात्र ने अपनी मनोदशा का अच्छा विश्लेपण किया है। इससे उसका चरित्र स्पष्टतर हो गया है।

(७) काव्यत्व और साहित्यिकता की अभिवृद्धि के हेतु—गीतो से नाटक में काव्यत्व का सचार कुछ अधिक होने लगता है। किन्तु यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि गीतो की योजना जब देश, काल और परिस्थिति के अनुकूल होगी और उनमे किसी गम्भीर तथ्य की प्रतिष्ठा होगी तभी वे उपयुक्त प्रतीत होंगे और नाटक का साहित्यिक सौन्दर्य बढा सकेंगे।

(८) पात्रों के परिचय मे सहायक-भूत गीत—सफल नाटककार गीतो की योजना कभी-कभी पात्रो के परिचय-विधान के हेतु भी किया करते है। उदाहरण के लिए हम 'चन्द्रगुप्त' का निम्नलिखित गीत ले सकते है—

"तुम कनक किरण के अन्तराल मे
लुक छिप कर चलते क्यो ?"—इत्यादि

यह गीत सुवासिनी ने गाया है। उसके चपल और उच्छृखल जीवन का अच्छा परिचायक है। गीत के ही सहारे कवि ने आगे चलकर उसके हृदय की कोमलता, लज्जाशीलता और प्रणय-विह्वलता का सकेत किया है। वह गीत इस प्रकार है—

"हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो
मौन बने रहते हो क्यो ?"

(९) नाटक की अभिनेयता मे सहायक भूत गीत—नाटककार कभी-कभी गीतो की योजना अभिनेयता की रक्षा और निर्वाह के लिए भी किया करते हैं। उदाहरण के लिए हम 'चन्द्रगुप्त' नाटक के प्रथम अक का दूसरा गीत, जो राक्षस द्वारा प्रस्तुत किया है, ले सकते हैं। इस गीत के सहारे राक्षस ने अपनी मानवती प्रेमिका सुवासिनी को नाटकीय ढग से मनाने की चेष्टा की है। यह नाटक की अभिनेयता और नाटकीयता की अभिवृद्धि मे बहुत सहायक हुआ है।

विषमता आदि युक्तियो की योजना तथा
व्यजकता ।

सवाद—पाश्चात्य नाट्य-कला का तीस
का महत्त्व कथा-विकास तथा चरित्र-चित्रण दे
निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं तो वे सफल स

(१) देश, पात्र और परिस्थिति की
सक्षिप्तता, (४) त्वरा बुद्धिमूलकता, (५)
चमत्कारात्मकता, (७) तर्कसगतता, (८) पृ
(१०) भाषा-शैलीगत सरलता अथवा प्रसाद

गीत—नाटको मे गीतो की योजना
उसमे कई दृष्टियो से बडा उपयोग होता है—

(१) वे परिस्थितिजन्य अथवा
करते है ।

(२) भूतकाल की घटनाओ का,
सकता है, सकेत करके स्पष्ट कर देते हैं ।
निम्नलिखित गीत ले सकते है—

"ससृति के सुन्दरतम क्षण र
उच्छृखलता थी अपनी कह

इस गीत से मातृगुप्त और मालिनी
है जिसमे नाटक मे उल्लेख नही हो पाया ।

(३) गीत नाटकीय कथावस्तु की
होते हैं ।

(४) कथावस्तु के विस्तार मे सहा
योजना इस प्रकार करते है कि वे कथाव
हिन्दी मे इस कोटि के गीतो की योजना
नाटको मे हमे बहुत से ऐसे गीत मिलते हैं
हैं । उदाहरणत हम स्कन्दगुप्त ससृति के सु

(५) परिस्थिति तथा वातावरण
नाटककार अपने गीतो की योजना से परिस्
नाटक को स्वाभाविकता प्रदान करते है ।
दृश्य का वर्णन करना है तो उसे चाहिए
को योजना कर दे । उदाहरण के लिए हम
गीत ले सकते हैं —

"न छेडना उस अत
खिंचे हुए वीन

देश-काल—नाटक मे देश-काल के चित्रण का भी अपना एक विशेष महत्त्व होता है। देश-काल का चित्रण नाटको मे स्वाभाविकता, सजीवता और औचित्य की प्रतिष्ठा करने मे समर्थ होते हैं। देश-काल के अन्तर्गत नाटक मे चित्रित युग विशेष सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक आदि विविध परिस्थितियो पर विचार किया जाना चाहिए। इन परिस्थितियो का विश्लेषण करके हम नाटक के वास्तविक स्वरूप को समझ सकते हैं। साथ ही उसका ऐतिहासिक महत्त्व भी स्पष्ट हो जाता है। कवि की कुशलता भी इसी मे होती है कि वह कथावस्तु से सम्बन्धित युग की अवतारणा नाटक मे स्वाभाविकता के साथ कर सके। ऐतिहासिक नाटककार का दायित्व तो इस दृष्टि से और भी अधिक होता है। हिन्दी मे प्रसाद इस दृष्टि से सफल नाटककार कहे जा सकते है। उनके नाटको मे हमें कथावस्तु से सम्बन्वित युग की मार्मिक, सही और स्पष्ट झाँकी मिलती है।

अभिनेयता

अभिनेयता नाटक की प्राणभूत विशेषता है। वास्तव मे नाटक को नाटकत्व प्रदान करने का श्रेय इसी को है। इसीलिए इसके लिए नाटकीयता शब्द का प्रयोग भी पर्याय के रूप मे किया जाता है। नाटकीयता की दृष्टि से आजकल के नाटक प्राचीन नाटको की अपेक्षा बहुत पिछडे हुए हैं।

अभिनय की व्युत्पत्ति—अभिनय शब्द अभिपूर्वक 'नी' धातु से बना है। अभिनय का अर्थ होता है सम्मुख ले जाना। नाट्यशास्त्र मे अभिनय को स्पष्ट करते हुए लिखा है, रूपक के प्रयोग, शाखा भाषण के पूर्व या कथोपकथन के समय पात्र का करावर्तन, अग सिर, हाथ, कटि आदि की भगिमाएँ, उपाङ्ग पलक नासिका आदि की चेष्टा से युक्त जो प्रक्रिया कवि भावो को सामाजिक के सम्मुख रखता है उसे अभिनय कहते है (ना शा० ८/६/७।) विश्वनाथ ने 'भवेदभिनयोऽवस्थानुकार' लिखा है।

अभिनय की भट्ट तौत आचार्य द्वारा दी गई परिभाषा भी महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने लिखा है जो कला सामाजिक का ध्यान इस सीमा तक आकृष्ट करले कि अन्य विषयो का उसे ध्यान भी न रहे, उसे अभिनय कला कहेंगे।

अभिनय की उपर्युक्त परिभाषाओ से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि भारत मे अभिनय की सबसे प्रमुख विशेषता है सामाजिको के चित्त को पूर्णतया आकृष्ट कर लेना। सामाजिक के चित्ताकर्षण की प्रक्रिया चतुर्मुखी हो सकती है। इसीलिए अभिनय चार प्रकार के बताए गए है—आगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक। विविध अगो की प्रक्षेपण प्रक्रिया को आगिक और गीत प्रबन्धादि के पाठ को वाचिक, भूषणादि की साज-सज्जा को आहार्य और खेद, स्तम्भ, रोमाचादि को सात्विक अभिनय कहते हैं। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि जिन नाटको मे सामाजिक के चित्ताकर्षण उपर्युक्त चतुर्विधि सामग्री होती है उसी को अभिनेय नाटक कहते है।

ऊपर सामाजिक के चित्ताकर्षण की जिस चतुर्विध प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। वह प्राचीन कोटि के नाटको के सम्बन्ध मे ही अधिक लागू होती है नवीन

(१०) **कवि की मनोवृत्तियों के उद्घाटन में गीतो की सामर्थ्य**—कवि के गीत कवि की अन्तरात्मा के प्रतीक हुआ करते है। नाटको मे प्रयुक्त गीतो का यदि अध्ययन किया जाय तो नाटककार का रूप सरलता से स्पष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिए हम प्रसाद को ही ले सकते है। प्रसाद की सौन्दर्यानुभूति और उनकी कोमल प्रणय-भावना लाज का घूँघट काढे हुए सर्वत्र दिखाई पडती है।

"हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो
मौन बने रहते हो क्यों ?"

तथा

"निकल मत बाहर दुर्बल आह
लगेगा तुझे हँसी का शीत।"

आदि गीत उनकी उपर्युक्त मनोवृत्तियो के ही द्योतक है। प्रसाद प्रणय और सौन्दर्य के ही सुकुमार कवि नही थे, उनके विशाल हृदय के कण-कण मे राष्ट्रीयता की सबल भावना भी प्रतिध्वनित रहती थी। उनके हृदय की सुचेष्टा की झाँकी भी उनके गीतो मे मिल जाती है। उदाहरण के लिए हम 'चन्द्रगुप्त' मे कार्नेलिया के द्वारा गाया हुआ यह गीत ले सकते हैं—

"अरुण यह मधुमय देश हमारा" इत्यादि

अन्तर्द्वन्द्व की व्यञ्जना मे सहायकभूत गीत—अन्तर्द्वन्द्व आधुनिक नाटको का प्राणभूत तत्त्व है। कवि लोग अपने गीतो मे नाटको की अन्तर्द्वन्द्व की झाँकी सरलता से सजा सकते है। गीत पात्रो के मनोविश्लेषण का सुन्दर दर्पण होते हैं।

अपने हृदय का अन्तर्द्वन्द्व गीतो में सरलता से प्रतिबिम्बित हो सकता है। यह नाटककार की कला होती है कि वह गीतो के माध्यम से अन्तर्द्वन्द्व को प्रकट कर दे। उदाहरण के लिए हम 'चन्द्रगुप्त' का निम्नलिखित गीत ले सकते है—

"निकल मत बाहर दुर्बल आह
लगेगा तुझे हँसी का शीत।"

इसमे राक्षस की प्रणय-भावना जनित मनोरम अन्तर्द्वन्द्व व्यजित किया गया है। इसी प्रकार का उदाहरण 'चन्द्रगुप्त' का निम्नलिखित गीत भी है

"मधुप कब एक कली का" इत्यादि

इस गीत मे मालविका ने 'चन्द्रगुप्त' के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की झलक दिखाने की चेष्टा की है। साथ ही उसके प्रेमी-जीवन के वाह्य रूप की अभिव्यक्ति भी कर दी है।

इस प्रकार हम देखते है कि नाटक मे गीतो की योजना यदि सफलतापूर्वक की जाय तो वह उमके सौन्दर्य और नाटकीयता की विधायिका होगी। मगर गीतो की सफल योजना तभी हो सकती है जब नाटककार पूर्ण कलाकार हो। इस दृष्टि से हिन्दी मे प्रसाद का स्थान महत्त्वपूर्ण है।

देश-काल—नाटक मे देश-काल के चित्रण का भी अपना एक विशेष महत्त्व होता है। देश-काल का चित्रण नाटको मे स्वाभाविकता, सजीवता और औचित्य की प्रतिष्ठा करने मे समर्थ होते हैं। देश-काल के अन्तर्गत नाटक मे चित्रित युग विशेष सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक आदि विविध परिस्थितियो पर विचार किया जाना चाहिए। इन परिस्थितियो का विश्लेषण करके हम नाटक के वास्तविक स्वरूप को समझ सकते हैं। साथ ही उसका ऐतिहासिक महत्त्व भी स्पष्ट हो जाता है। कवि की कुशलता भी इसी मे होती है कि वह कथावस्तु से सम्बन्धित युग की अवतारणा नाटक मे स्वाभाविकता के साथ कर सके। ऐतिहासिक नाटककार का दायित्व तो इस दृष्टि से और भी अधिक होता है। हिन्दी मे प्रसाद इस दृष्टि से सफल नाटककार कहे जा सकते हैं। उनके नाटको मे हमें कथावस्तु से सम्बन्धित युग की मार्मिक, सही और स्पष्ट झाँकी मिलती है।

अभिनेयता

अभिनेयता नाटक की प्राणभूत विशेषता है। वास्तव मे नाटक को नाटकत्व प्रदान करने का श्रेय इसी को है। इसीलिए इसके लिए नाटकीयता शब्द का प्रयोग भी पर्याय के रूप मे किया जाता है। नाटकीयता की दृष्टि से आजकल के नाटक प्राचीन नाटको की अपेक्षा बहुत पिछडे हुए हैं।

अभिनय की व्युत्पत्ति—अभिनय शब्द अभिपूर्वक 'नी' धातु से बना है। अभिनय का अर्थ होता है सम्मुख ले जाना। नाट्यशास्त्र मे अभिनय को स्पष्ट करते हुए लिखा है, रूपक के प्रयोग, शाखा भाषण के पूर्व या कथोपकथन के समय पात्र का करावर्तन, अग सिर, हाथ, कटि आदि की भगिमाएँ, उपाङ्ग पलक नासिका आदि की चेष्टा से युक्त जो प्रक्रिया कवि भावो को सामाजिक के सम्मुख रखता है उसे अभिनय कहते है (ना शा० ८/६/७।) विश्वनाथ ने 'भवेदभिनयोऽवस्थानुकार' लिखा है।

अभिनय की भट्ट तौत आचार्य द्वारा दी गई परिभाषा भी महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने लिखा है जो कला सामाजिक का ध्यान इस सीमा तक आकृष्ट करले कि अन्य विषयो का उसे ध्यान भी न रहे, उसे अभिनय कला कहेंगे।

अभिनय की उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि भारत में अभिनय की सबसे प्रमुख विशेषता है सामाजिको के चित्त को पूर्णतया आकृष्ट कर लेना। सामाजिक के चित्ताकर्षण की प्रक्रिया चतुर्मुखी हो सकती है। इसीलिए अभिनय चार प्रकार के बताए गए है—आगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक। विविध अगो की प्रक्षेपण प्रक्रिया को आगिक और गीत प्रबन्धादि के पाठ को वाचिक, भूषणादि की साज-सज्जा को आहार्य और स्वेद, स्तम्भ, रोमाचादि को सात्विक अभिनय कहते हैं। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि जिन नाटको मे सामाजिक के चित्ताकर्षण उपर्युक्त चतुर्विधि सामग्री होती है उसी को अभिनेय नाटक कहते है।

ऊपर सामाजिक के चित्ताकर्षण की जिस चतुर्विध प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। वह प्राचीन कोटि के नाटको के सम्बन्ध मे ही अधिक लागू होती है नवीन

कोटि के नाटक के सम्बन्ध मे कम । आज हिन्दी का नाट्क भरतकालीन नाटको से बहुत सी बातो मे विलक्षरण हो गया है । पाश्चात्य नाट्य-कला ने उसकी रूपरेखा ही बदल दी है । यही कारण है कि आज अभिनेयता की मान्यताएँ भी बदल गई है । सच्चे अभिनेय नाटक मे निम्नलिखित बातो पर विचार करना चाहिए—

नाटक रचना सम्बन्धी विचारणीय बातें—

(१) नाटक का रूप और आकार,
(२) दृश्यो और अको के विभाजन मे सतुलन,
(३) रस और साधारणीकरण की निष्पत्ति,
(४) क्रिया-व्यापार का प्रवेग और प्रवाह,
(५) अनुभावो तथा सात्विक भावो का निर्देशन,
(६) कथोपकथनो का सौष्ठव,
(७) नृत्य और गीत,
(८) भाव, भाषा और साहित्यिकता, और
(९) वर्ज्य दृश्यो का प्रदर्शन ।

रंग शिल्प सम्बन्धी विशेषताएँ—

(१०) उपर्युक्त आलेखन,
(११) अलकरण और परिधान, तथा
(१२) प्रकाश की व्यवस्था ।

(१) नाटक का रूप और आकार— नाटक का सामान्य अर्थ होता है अभिनेय रचना । अनभिनेय रचना और अभिनेय रचना मे सबसे बड़ा अन्तर रूप और आकार का होता है । अभिनेय रचना का लक्ष्य रगमच पर उसका चाक्षुष प्रत्यक्षीकरण करना होना है । दर्शक लोग उसे देखकर तृप्ति लाभ करते हैं । इसीलिए उसका दूसरा नाम दृश्य-काव्य भी है । सफल दृश्य-काव्य वही हो सकता है , जिसे दर्शक एक बैठक मे सरलता से देख सके । एक बैठक मे दर्शक अधिक से अधिक तीन-चार घटे तक बैठ सकता है । इसके बाद सरस से सरस रचना भी दर्शक को असह्य प्रतीत होने लगती है । इसका अर्थ यह हुआ कि अभिनेय नाटक का रूपाकार अधिक से अधिक इतना बडा होना चाहिए कि सरलता से तीन-चार घटो के अन्दर ही अभिनीत किया जा सके ।

तीन-चार घटे मे वही नाटक अभिनीत हो सकता है जो अधिक से अधिक २०० पृष्ठो मे हो । अक भी पाँच से अधिक नही होने चाहिएँ । प्रत्येक अक मे दृश्यों की सख्या भी तीन से अधिक न हो । दृश्य भी ऐसा ही जो १० से १२ मिनिट के अन्दर ही अन्दर सरलता से प्रदर्शित किया जा सके । इससे बडे रूपाकार के नाटक अभिनेय के अयोग्य होते है । हाँ, इनसे छोटे नाटक अधिक सफलता से अभिनीत हो सकते हैं ।

दृश्यो और अको के विभाजन मे सन्तुलन—अभिनेय नाटक लिखने वाले

नाटककार को नाटक के दृश्यो और अको के विभाजन के सन्तुलन पर ध्यान देना चाहिए। नाटको के अको और दृश्यो का क्रम इस प्रकार रखा जाना चाहिए कि दर्शक का जी न ऊबे और नाटक की रोचकता बनी रहे। अको और दृश्यों का क्रम वस्तु-विन्यास के अनुरूप रहना चाहिए। फल-प्राप्ति हो जाने के आस-पास या कार्य के चरम सीमा के आस-पास अक और दृश्य बडे हो सकते हैं किन्तु बाद मे अक और दृश्य दोनो छोटे हो जाने चाहिएँ। इनके बाद के अक और दृश्य यदि बडे रखे जायेंगे तो नाटक बोझिल हो जायगा, और दर्शको का मन ऊब जायगा। अत नाटक-रचना करते समय दृश्यो और अको के नियोजन मे सन्तुलन रखना चाहिए।

दृश्यों की सजावट—अभिनेय नाटको मे दृश्यो की सजावट दृश्य के अनुरूप होनी चाहिए। जैसे मान लीजिए कि मध्यवर्गीय सगीत प्रिय नायिका का कमरा दिखाना है तो उसमें उसी के अनुरूप सजावट दिखाई जायगी। साधारण सोफा सेट, मेज पर एक और रेडियो सेट तथा एक कोने में सितार व तबले आदि दिखाए जाने चाहिएँ। इसी प्रकार दृश्यो की सजावट मे सदैव औचित्य और अनुरूपता का ध्यान रखना चाहिए।

रस और साधारणीकरण—नाटक दृश्य काव्य है। उसका लक्ष्य सामाजिको के क्लान्त-श्रान्त मन का रजन करना है। रजन वही काव्य करता है जिसमे रस की अवस्थिति होती है। यही कारण है कि नाटक का प्राण रस कहा गया है। रसानुभूति साधारणीकरण की अवस्था मे ही हो सकती है। यही कारण है अभिनेय नाटको की सफलता साधारणीकरण की पूर्णता पर अवलम्बित रहती है। साधारणीकरण की व्याख्या रस सम्प्रदाय के प्रसग मे की जा चुकी है। साधारणीकरण वस्तु मे रसानुभूति की वह अवस्था है जिसमे दर्शक को ममत्त्व-परत्त्व आदि किसी भी प्रकार के भेद-भाव का बोध नही रहता है वह परत्त्व मे भी पूर्ण ममत्त्व की अप्रत्यक्ष अनुभूति करने लगता है। यही कारण है कि लोक के राम और सीता दर्शक के अपने सम्बन्धी लगने लगते हैं। इसीलिए दर्शक उनके दुख मे दुख और सुख मे सुख अनुभव करने लगता है। यह स्थिति ही साधारणीकरण की अवस्था है। अभिनेय नाटको की सफलता साधारणीकरण की अवस्था के उत्पादन मे है। साधारणीकरण की अवस्था तभी उत्पन्न होती है जब कवि सच्चा भावुक मनोवैज्ञानिक होता है। सच्चा भावुक कवि वही है जिसे जीवन और जगत की मार्मिक परिस्थितियो का बोध हो तथा पर-सवेदना की अपूर्व क्षमता हो। अभिनेय नाटक की रचना मे कवि को और भी अधिक सजग और जागरूक रहना पडता है। वह उसमे अधिकतर ऐसी ही परिस्थितियो की योजना करता है जो मार्मिक और भावपूर्ण हो। कहने का अभिप्राय यह है कि ये जिस नाटक मे जितनी अधिक भावपूर्ण और मार्मिक स्थितियो की योजना की जायगी वह नाटक उतना ही अधिक अभिनेय होगा।

क्रिया-व्यापार का प्रवेग और प्रवाह—पाश्चात्य दृष्टि मे नाटक मे क्रिया-व्यापार का भी विशेष महत्त्व होता है। क्रिया व्यापार शून्य नाटक निकृष्ट नाटक समझा जाता है। क्रिया-व्यापार के प्रवेग और व्यापार पर अभिनेयता की सफलता निर्भर रहती है।

जिस नाटक मे क्रिया-व्यापार का प्रवेग और प्रवाह बना रहता है उसके अभिनय मे एक प्रगति बनी रहती है जिससे दर्शको का जी नही घबडाता है। नाटक में सक्रियता लाने के लिए ऐसी घटनाओ की योजना करनी चाहिए जो सार्थक शृखलाबद्ध और वस्तु के अनुरूप हो।

तार्किक मौलिकता और दरबारी त्वरा वृद्धि से प्रेरित स्वगतोक्ति और सवाद—अभिनेयता की दृष्टि से वह नाटक अधिक सफल होता है जिसकी स्वगतोक्तियाँ और सम्वाद मौलिक, रोचक तथा दरबारी त्वरावृद्धि से प्रेरित हो। इस प्रकार की स्वगतोक्तियो और सम्वादो से एक प्रकार अभिव्यक्तिमूलक चुटीलापन और मार्मिकता आ जाती है जो दर्शको के मन को मुग्ध कर लेती है।

अनुभाव तथा सात्विक भावो का निदर्शन—भारतीय नाट्य-शास्त्र मे अभिनय चार प्रकार का बताया गया है—कायिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक। सात्विक अभिनेय के अन्तर्गत अन्य भावो और सात्विक भावो के प्रदर्शन की वात आती है। इसके प्रदर्शन से अभिनय मे यथार्थता आती है जिससे साधारणीकरण कुछ जल्दी हो जाता है। अत अभिनेय नाटक मे सात्विक और कायिक अनुभवो का स्पष्ट उल्लेख रहता है। रगमच पर उनका प्रदर्शन किया जाता है जिससे अभिनय अधिक स्वाभाविक प्रतीत होने लगता है।

कथोपकथनो का सौष्ठव—नाटक मे कथोपकथन भी रहते हैं। अभिनेय नाटको के कथानक अपनी कुछ अलग विशेषताएँ रखते है। वे प्रसगानुकूल सरल, स्वाभाविक, सक्षिप्त, पात्रानुकूल, कथावस्तु और कार्य को प्रगति प्रदान करने वाले तथा पात्रो के चरित्रो को स्पष्ट करने वाले होते है।

नृत्य और गीतों का सौन्दर्य—दर्शको के मन को अधिक से अधिक आकृष्ट करने का नाम ही अभिनय है। दर्शको के मन को आकृष्ट करने की बहुत वडी क्षमता नृत्यो और गीतो मे होती है। सम्भवत यही कारण है कि सिनेमा फिल्मो में इनकी योजना अनिवार्य रूप से की जाती है। सच तो यह है कि अधिकाश फिल्मो की सफलता गीत और नृत्यो पर निर्भर रहती है। जिन नाटको की कथावस्तु असम्वद्ध, उसके चरित्र-चित्रण अस्पष्ट तथा सम्वाद चमत्कार-रहित होते हैं उनमे गीत और नृत्य ही प्राण फूँक पाते है। इसके अतिरिक्त बडे-वडे नाटको मे जिनमे कई अक और प्रत्येक अक मे कई-कई दृश्य होते है उनमे वहुत से ऐसे स्थल भी आते हैं जहाँ दर्शक का मन ऊव उठता है और वह नाटक छोडकर उठना चाहता है। सफल अभिनेय नाटककार ऐसी परिस्थितयो की पहचान रखता है और ऐसे दुर्वल स्थलो पर चित्ताकर्षक गीत या नृत्य की योजना कर देता है। जिनमे दर्शक का ऊवा हुआ मन फिर से रमने लगना है। किन्तु नृत्य और गीतो की योजना केवल मनोरजनार्थ ही नही की जानी चाहिए। उनकी योजना या तो पृष्ठभूमि के रूप मे की जानी चाहिए या फिर किसी अस्पष्ट वात को स्पष्ट करने के लिए। उनकी कथावस्तु का पूर्ण सम्वद्ध होना वडा आवश्यक होता है। गीत और नृत्य लम्वे कदापि नही होने चाहिएँ नही तो वे स्वयं भार रूप वन जाते है। नाटक के नृत्यो और गीतो को कथावस्तु के विकास मे सहायक होना चाहिए। उनसे पात्रो का चरित्र स्पष्टतर होता

है तो भी अच्छा है। सगीत की योजना पार्श्व से भी की जाती है। संगीत योजना का यह भी एक उपयुक्त ढग है।

भाव, भाषा और साहित्यिकता—अभिनेय नाटको मे भावो का नियोजन इस प्रकार होना चाहिए कि दर्शक उनमे सरलता से तन्मय हो सके। भाव उदात्त और व्यापक होने चाहिएँ। अभिनेय नाटको की भाषा-शली भी सरल, स्वाभाविक, प्रभावपूर्ण, रोचक और प्रवाहपूर्ण होनी चाहिए। उनमे सहज साहित्यिकता भी होनी चाहिए। हाँ, अभिनेय नाटककार को प्रत्यक्ष साहित्यिकता से वचना चाहिए। इसी प्रकार नाटककार को प्रयत्नपूर्वक दार्शनिक सिद्धान्तो की योजना भी नही करनी चाहिए, उनसे नाटक मे दुरूहता और भारीपन आने की सम्भावना रहती है। प्रसाद के नाटको मे यह दोप है जिसमे उनकी अभिनेयता को धक्का पहुँचा है।

वर्ज्य दृश्यों का अप्रदर्शन—हमारे यहाँ नाट्यशास्त्र मे कुछ दृश्य वर्ज्य वताए गए हैं। जैसे किसी का वध दिखाना आलिगन, चुम्वन आदि। अभिनेय नाटको मे इन सवसे वचने की चेष्टा की जानी चाहिए।

रंग सम्बन्धी विशेषताएँ—परिस्थितियो के अनुकूल ध्वनि योजना का भी अभिनेय नाटको मे वहुत वडा महत्त्व है। परिस्थिति के अनुरूप व्यक्ति की टोन भी वदल जाया करती है। अभिनेयता को परिस्थिति के अनुकूल ध्वनियो का उच्चारण करना चाहिए। वह सरलता से ऐसा तभी कर सकता है जव नाटककार ने उनका यथास्थान निर्देश किया हो। आजकल रगमच पर ध्वनि-विस्ताक यन्त्र का उपयोग भी किया जाता है। उसको कहाँ पर हल्का होना चाहिए और कहाँ कठोर इसका वोध होना वहुत आवश्यक होता है। अभिनेय नाटक लिखने वाले को इस वात का भी निर्देश करना चाहिए कि ध्वनि विस्तारक यन्त्र किस प्रकार किस स्थिति पर कहाँ प्रयुक्त किया जाय।

उपर्युक्त आलेखन—रगमच पर नाटक के उपयुक्त आलेखन भी होना चाहिए। यदि कोई धार्मिक नाटक अभिनीत होना हो तो उसके आलेखन मे देवता आदि के चित्र होने चाहिएँ। इसी प्रकार शृगारिक नाटको के आलेखन शृगारिक होने चाहिएँ।

अलकरण और परिधान—नाटक केवल अवस्थाओ की ही अनुकृति नही है। वह वेशभूपा का भी अनुकरण है। देश काल-पात्र और परिस्थिति के अनुरूप अलकारो और परिधानो का प्रयोग करना नाटको को स्वाभाविकता प्रदान करता है। यह स्वाभाविकता अभिनेयता का प्राण है। मान लीजिए कोई वैदिक युग से सम्वन्धित कथानक के नाटक का अभिनय किया जाता है और उस नाटक के पात्रो को सूट-वूट आदि आधुनिक परिधान पहना दिए जायँ तो नाटक की अभिनेयता सफल नही होगी। अत अभिनेय नाटक लिखने वालो को इस ओर भी ध्यान देना चाहिए।

प्रकाश की व्यवस्था—आज के रगमच पर अभिनय की सफलता विद्युत्-प्रकाश की समुचित व्यवस्था पर आधारित रहती है। कही पर प्रकाश मन्द करना पडता है और कहीं तीव्र करना पडता है। कभी-कभी उसे अभिनेय और परिस्थिति के अनुरूप

भिन्न-भिन्न शेड भी देने पडते हैं। सफल अभिनेय नाटककार को प्रकाश की व्यवस्था का भी निर्देश करना चाहिए।

इन सबसे आवश्यक सुयोग्य प्रेक्षक का होना है। नाट्यशास्त्र मे प्रेक्षक की कुछ विशेषताएँ बतायी गई है। उसके अनुसार प्रेक्षक वह है जो चरित्रवान, कुलीन, विद्वान्, यश और सुकृत का इच्छुक, पक्षपात-रहित, वयस्क, नाटक के षट अगो का ज्ञाता, जागरूक सत्यवादी, वासना वेग से प्रभाव विहीन, सगीतज्ञ, अभिनय के प्रसाधनो से परिचित, सवाद की भाषा से भिज्ञ, चार प्रकार के अभिनय का ज्ञाता, व्याकरण, छद-शास्त्र आदि का पडित, धर्मात्मा, भावो और भावनाओ का अनुभवी हो।

सस्कृत नाट्यशास्त्र मे रूपक के भेद-प्रभेद

सस्कृत साहित्य मे हमे दो प्रकार की नाट्य विधाएँ मिलती है—(१) रूपक और (२) उपरूपक। रूपक नाट्य के भेद कहे गए हैं और उपरूपक नृत्य के। रूपको की सख्या के सम्बन्ध मे आचार्यों मे मतभेद है। नाट्य-शास्त्र के दस रूपक गिनाए गए है। नाम क्रमश नाटक, प्रकरण, अक, व्यायोग, भाण, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम और ईहामृग है। उसमे अक के लिए उत्सृष्टाक का अभिधान भी प्रयुक्त किया गया है। इनके अतिरिक्त भरत मुनि ने नाटक और प्रकरण के योग से नाटी की उत्पत्ति बतलाई है। अग्नि पुराण मे हमे रूपक और उपरूपक सम्बन्धी भेद नही दिखाई पडता। उसमे सत्ताइस नाटको का उल्लेख किया गया है। उनमे दस रूपक और सत्रह उपरूपक सन्निविष्ट है। दशरूपककार ने भरत के अनुकरण पर रूपक के दस भेद माने हैं। 'काव्यानुशासन' और 'नाट्य-दर्पण' नामक ग्रन्थो मे रूपको की सख्या दस से बढाकर बारह कर दी गई है। काव्यानुशासनकार ने नाट्य के दस भेदो मे नाटिका और सट्टक दो प्रकार और जोड दिए हैं। नाट्य दर्पण मे हमे सट्टक के स्थान पर प्रकरण का उल्लेख मिलता है। 'भाव प्रकाशम्' मे दशरूपक और नाट्य-शास्त्र मे परिगणित रूपक के दस भेदो को ही मान्यता दी गई है। इस ग्रन्थ मे नाटिका का उद्भव नाटक और प्रकरण के योग से माना गया है। साहित्य-दर्पण मे रूपक के नाट्य-शास्त्र वाले दस भेद ही स्वीकार किए गए हैं। विश्वनाथ ने नाटिका की गणना उपरूपको मे की है। इस प्रकार हम देखते है कि सस्कृत नाट्य-शास्त्र मे रूपको की सख्या के सम्बन्ध मे बडा मतभेद है। किन्तु एक बात बहुत स्पष्ट है, वह यह कि नाट्य-शास्त्र और दशरूपक मे वर्णित रूपको के दस भेद प्राय: सभी को मान्य हैं। अतएव यहाँ पर हम उन्ही दशरूपको का वर्णन करेंगे। उनके नाम नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, वीथी, समवकार, व्यायोग, अक और ईहामृग हैं।

नाटक का नाम रूपको मे सर्वप्रथम लिया जाता है क्योकि प्रकरणादिक **अन्य रूपको के** लक्षण नाटक के आधार पर ही निर्धारित किए गए है। इसके **अतिरिक्त रूपक के प्राणभूत** तत्त्व रस की पूर्ण प्रतिष्ठा भी इसी मे पाई जाती है। **सम्भवत इन्हीं कारणो से किसी ने** 'काव्येषु नाटक श्रेष्ठम्' लिख डाला है। दशरूपककार **धनजय ने नाटक की विशेषताओ का** विश्लेषण दो दृष्टियो से किया है—प्रारम्भिक

विशेषताएँ तथा वैधानिक विशेषताएँ। दशरूपककार ने नाटक के प्रारम्भिक विधानों का वर्णन इस प्रकार किया है—"नाटक में सबसे पहले सूत्रधार के द्वारा पूर्व-रंग का विधान होना चाहिए। सूत्रधार के चले जाने पर उसी के सदृश दूसरे नट के द्वारा स्थापना, आमुख या प्रस्तावना की जानी चाहिए। स्थापक को चाहिए कि दिव्य वस्तु को दिव्य होकर, मर्त्य को मर्त्य होकर तथा मिश्र वस्तु को दोनों में से किसी एक का रूप धारण कर स्थापना का विधान करे। स्थापना वस्तु, बीज, मुख अथवा पात्र इनमें से किसी एक की सूचना देने वाली होनी चाहिए। पुनश्च किसी ऋतु का आश्रय लेकर भारती वृत्ति से सन्निबद्ध रंगस्थल को आमोदित करने वाले श्लोकों का पाठ करे। इस प्रारम्भिक दृश्य में वीथ्यंगों अथवा आमुखांगों की योजना भी की जानी चाहिए। आमुख का विधान करते समय सूत्रधार नटी, मारिष या विदूषक से अपने सलाप के मध्य कथा का संकेत कर देता है। आमुख स्थापना या प्रस्थापना के भी तीन प्रकार होते हैं—इनके नाम क्रमशः कथोद्घात, प्रवृत्तक, प्रयोगातिशय हैं। जहाँ सूत्रधार के इतिवृत्त से सम्बन्धित उसी के वाक्य या अर्थों को लेकर किसी पात्र का प्रवेश कराया जाता है, वहाँ कथोद्घात नामक आमुखांग माना जाता है। प्रवृत्तक वहाँ पर होता है, जहाँ काल की समानता को लेकर श्लेष से किसी पात्र के आगमन की सूचना दी जाती है। प्रयोगातिशय में सूत्रधार इन शब्दों को कहते हुए कि 'यह वह है' किसी पात्र का प्रवेश कराता है। आमुख के यह अंग वीथी के भी अंग माने जाते हैं।

नाटक की कथावस्तु का चुनाव इतिहास से ही किया जाना चाहिए। चुनाव करते समय कवि का कर्तव्य होता है कि वह मूल कथा के उन अंशों का जो रस अथवा नायक के विरोध में पड़ते हैं या तो परिहार कर दे या फिर उनमें आवश्यक परिष्कार कर दे। वस्तु का विन्यास कार्यावस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों और सन्धियों के अनुरूप किया जाना चाहिए। कथा के बीच में विष्कम्भक आदि का भी नियोजन होना चाहिए।

नाटक के नायक का धीरोदात्त गुणों से विशिष्ट होना नितान्त आवश्यक होता है। धनंजय के अनुसार वह प्रतापशाली, कीर्ति की इच्छा करने वाला, वेदत्रयी का ज्ञाता और रक्षक, उच्चवंश वाला कोई राजर्षि अथवा दैवी पुरुष होना चाहिए।

नाटक का प्राण रस होता है। इसमें वीर, शृंगार की अंगीरूप से तथा अन्य रसों की अंगों के रूप में प्रतिष्ठा होनी चाहिए। इसमें निर्वहण सन्धि में अद्भुत रस का होना आवश्यक समझा जाता है।

नाटक में रंगमंच पर कुछ बातों का प्रदर्शन वर्जित माना गया है। प्रमुख वर्जित दृश्य दूर का मार्ग, वध, युद्ध, राज्य और देश-विप्लव, घेरा डालना, भोजन, स्नान, सुरत, अनुलेपन और वस्त्र ग्रहण आदि माने गए हैं। अधिकारी नायक का वध तो रंगमंच पर किसी भी प्रकार नहीं दिखाना चाहिए। आवश्यक का परित्याग भी नहीं करना चाहिए। यदि आवश्यकता पड़ जाय तो दैवकार्य या पितृकार्य आदि वर्जित दृश्य भी दिखाए जा सकते हैं।

नाटक पाँच अंक से दस अंक तक का हो सकता है। पाँच अंकों का नाटक

छोटा कहा जाता है और दस अंको का बडा। एक अंक मे एक ही दिन एक ही प्रयोजन से किए गए कार्यों का प्रदर्शन होना चाहिए। प्रत्येक अंक का नायक से सम्बन्धित होना भी आवश्यक होता है। नायक के अतिरिक्त एक अंक मे दो या तीन पात्र और भी हो सकते हैं। किन्तु इन पात्रो का अंक के अन्त मे निकल जाना आवश्यक होता है। अंक मे पताका-स्थानों का भी समावेश करना चाहिए। इसमे विन्दु की अवस्थिति तथा बीज का परामर्श भी होना चाहिए। संक्षेप मे दशरूपक के अनुसार नाटक के लक्षण यही हैं।

नाट्य-शास्त्र के अन्य ग्रन्थो मे भी नाटक के स्वरूप का विवेचन किया गया है। यहाँ पर हम उन ग्रन्थो मे दी गई नाटक सम्बन्धी उन बातो का संकेत कर देना चाहते हैं जो दशरूपक मे वर्णित विशेषताओं से या तो भिन्न है, या अधिक। नाट्य-शास्त्र मे नायक के लिए 'दिव्याश्रयोपेतम्' का विशेषण प्रयुक्त किया गया है। अभिनवगुप्त ने उसका अर्थ देव पुरुष किया है। काव्यानुशासनकार ने अभिनव गुप्त का खण्डन करते हुए लिखा है कि दिव्याश्रयोपेतम् से आचार्य का अभिप्राय दैवी पुरुष से न था। उन्होने इसका प्रयोग दैवी सहायता के अर्थ मे किया था। नाटक का नायक वास्तव मे मनुष्य ही होना चाहिए। नायिका उर्वशी आदि मनुष्येतर स्त्री भी हो सकती है। नायक की दृष्टि से नाट्यदर्पणकार का मत भी विचारणीय है। उसका कहना है कि नायक का क्षत्रिय होना आवश्यक है। चाहे वह नृपेतर ही क्यो न हो। भाव प्रकाशकार का मत अन्य आचार्यों से भिन्न है। उसने सुबन्धु का आश्रय लेते हुए लिखा है कि नाटक के पाँच भेद होते हैं—पूर्ण प्रशान्त, भास्वर, ललित, समग्र और पूर्ण नाटक। अन्तिम प्रकार का वर्णन करते हुए उसने लिखा है कि उसमे पाँचो सन्धियो की योजना की जाती है। सन्धियो के नाम भी उसमे नए दिए हैं। वे क्रमश न्यास, समुद्भेद, बीजदर्शन और अनुदिष्ट संहार है। इसी प्रकार अन्य नाटक प्रकारो के लक्षण भी इस ग्रन्थ मे अपने ढंग पर गिनाए गए हैं। विस्तार भय से यहाँ पर उन सब का उल्लेख नही किया जा रहा है। नाटक के सम्बन्ध मे साहित्य-दर्पण की भी एक बात उल्लेखनीय है, वह है अंको के क्रम-विन्यास की। उसके अनुसार नाटक के अंको का क्रम-विन्यास गोपुच्छ शैली पर होना चाहिए। क्रमश अंको का छोटा होते जाना ही 'गोपुच्छ शैली' है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटक के सम्बन्ध मे हमे दो परम्पराएँ मिलती है। एक परम्परा भरतमुनि की है और दूसरी सुबन्धु की। भरतमुनि की परम्परा का पोषण अधिकांश आचार्यों ने किया है। सुबन्धु की परम्परा उसके नाट्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ के साथ ही लुप्त हो गई है। "काव्या-नुशासन" नामक ग्रन्थ मे उसका थोडा-बहुत आभास मिलता है। भरतमुनि की परम्परा के अनुरूप संस्कृत मे बहुत से सफल नाटक मिलते है। उदाहरण रूप मे 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' 'उत्तररामचरित' आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

प्रकरण की रूपरेखा नाटक से भिन्न होती है। धनंजय के अनुसार प्रकरण की कथावस्तु कवि-कल्पित होनी चाहिए। उसका नायक मन्त्री, ब्राह्मण या वैश्य भी हो सकता है। उसका धीर प्रशान्त होना भी आवश्यक होता है। उसकी प्रयोजन-सिद्धि आपत्तियो से बाधित चित्रित की जानी चाहिए। उसकी प्रकृति धर्मप्रिय

होनी चाहिए। प्रकरण की नायिकाएँ दो प्रकार की हो सकती हैं : कुलवधू और वेश्या। दोनो की योजना एक साथ भी की जा सकती है। इसी आधार पर धनजय ने प्रकरण के तीन भेद माने हैं, कुलवधू प्रधान, वेश्या प्रधान और उभय प्रधान। शेष बातो मे प्रकरण नाटक के सदृश ही होता है। नाट्य-शास्त्र को प्रकरण सम्बन्धी उपर्युक्त सभी बातें मान्य है। उसमे अको का विधान और कर दिया गया है। उसके अनुसार प्रकरण मे पाँच से दस अक तक हो सकते हैं। नाट्यदर्पणकार ने नायक के सम्बन्ध मे दशरूपक और नाट्य-शास्त्र दोनो से भिन्न मत प्रतिपादित किया है। उसके अनुसार प्रकरण का नायक धीर, प्रशान्त ही नहीं, धीरोदात्त भी हो सकता है। नाट्य-दर्पण मे नायिका के सम्बन्ध मे नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है। उसके अनुसार नायिका नीच जाति की भी हो सकती है। प्रकरण के भेदो के सम्बन्ध मे भी मतभेद है। काव्यानुशासन और नाट्य-दर्पण नामक ग्रन्थो मे प्रकरण के तीन भेदो के स्थान पर सात भेद गिनाए गए है। विस्तार-भय से यहाँ पर उनका उल्लेख नही किया जा रहा है। 'मृच्छकटिक' प्रकरण का सुन्दर उदाहरण माना जाता है।

अब भाण नामक रूपक पर विचार कर लेना चाहते हैं। इसमे विट् (एक कला-पारगत व्यक्ति) द्वारा किसी एक ऐसे धूर्त चरित्र का, जिससे या तो उसका स्वय साक्षात्कार हुआ हो या उसके सम्बन्ध मे उसने किसी दूसरे से सुना हो, वर्णन किया जाता है। यहाँ सम्बोधन, उक्ति, प्रत्युक्ति आदि मे वीर रस द्योतन, शौर्य आदि और शृगार रस सूचक सौभाग्य आदि का सन्निवेश आकाश भाषित से किया जाता है। इसका कारण विट् के अतिरिक्त दूसरे पात्र का न होना है। इसमे अधिकतर भारती वृत्ति का ही आश्रय लिया जाता है। सव्यगो मे युक्त सन्धियो की योजना भी इसकी प्रधान विशेषता है। इसकी वस्तु भी कल्पित होती है। उसमे लास्य के दसो अगो की प्रतिष्ठा भी रहती है। नाट्य-शास्त्र ने धूर्त चरित्र के आधार पर भाण के दो भेद किए हैं—(१) आत्मानुभूतशसी—वह जिसमे नायक अपने अनुभवो का वर्णन करता है और (२) परसश्रय वर्णन विशेष—वह जिसमे दूसरे के अनुभवो का वर्णन किया जाता है। नाट्य-शास्त्र से यह भी ध्वनि निकलती है कि भाण एकांकीरूपक है। काव्यानुशासन मे भाण के सम्बन्ध मे एक बात और कही गई है। उसके अनुसार इसकी रचना साधारण लोगो के लिए हुआ करती है। नाट्य-दर्पण मे भाण के रस पक्ष पर विशेष विचार किया गया है। इसके अनुसार भाण शृगार-रस प्रधान होता है और वीर तथा हास्य गौण होते है। भाव प्रकाशनकार ने उसमे केवल शृगार का होना ही आवश्यक माना है। उसके अनुसार उसमे अन्य रस नही होने चाहिएँ। साहित्य-दर्पण के अनुसार भाण के उदाहरण रूप मे 'लीला मधुर' नामक रचना ली जा सकती है।

प्रहसन भाण से मिलता-जुलता होता है। मिलता-जुलता कहने का आशय यह है कि प्रहसन और भाण दोनो मे वस्तु, सन्धि, सन्ध्यग और लास्य आदि एक जैसे होते है। नाट्य-शास्त्र मे इसके दो भेद माने गए हैं—(१) शुद्ध और (२) सकीर्ण। साहित्य-दर्पणकार ने सकीर्ण प्रहसन मे दो अको का होना बतलाया है।

रसार्णव सुधाकर का मत सबसे अलग है। उसके अनुसार भाण मे दस तत्त्व प्रधान होते है। उनके नाम क्रमश अवगलित, अवस्कन्ध, व्यवहार, विप्रलभ, उपपत्ति, अनृत, विभ्राति, भय, गद्‌गद्‌वाक् और प्रलाप है। यहाँ पर स्थानाभाव के कारण इन सबकी व्याख्या नही हो सकती। इनके लिये मूल ग्रन्थ देखना चाहिए।

दशरूपको मे से एक रूपक डिम भी है। काव्यानुशासन के अनुसार डिम के लिए डिम्ब और विद्रोह नामक शब्द भी प्रयुक्त होते है। डिम का अर्थ होता है सघात, सघात का अर्थ होता है एक तो घात व प्रतिघात और दूसरा समूह। मैं समूहपरक अर्थ लेने के पक्ष मे हूँ। इसमे नायको के क्रिया सघात का प्रदर्शन किया जाता है। इसलिए इसे डिम कहते है। डिम मे प्रस्तावना आदि बातें नाटक के सदृश ही होती है। इसका इतिवृत्त प्रसिद्ध होता है। कैशिकी को छोडकर उस शेष मे सभी वृत्तियाँ उपनिवद्ध रहती हैं। देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और महासर्प आदि इसके नेता होते है। इसमे भूत, प्रेत, पिशाच आदि सोलह अत्यन्त उद्धत पात्र नियोजित किये जाते है। शृगार और हास्य को छोडकर शेष ६ रसो की प्रतिष्ठा होती है। इसमे माया, इन्द्रजाल, सगम, क्रोध, उद्‌भ्राति इत्यादि चेष्टाएँ, सूर्य, चन्द्र, उपराग आदि घटनाएँ प्रदर्शित की जाती है। इसमे चार अक होते है। विमर्श को छोडकर शेष सभी सन्धियाँ भी रहती हैं। नाट्य-शास्त्र मे भी डिम के लगभग यही लक्षण वतलाए गए है। अन्य नाट्याचार्यों ने भी उनका समर्थन किया है। भरतमुनि के अनुसार 'त्रिपुरदाह' नामक नाटक आदर्श डिम का उदाहरण है।

वीथी नामक नाट्य-रूप भी कम प्रसिद्ध नही है। वीथी का अर्थ है मार्ग या पक्ति। इसमे सध्यगो की पक्ति रहती है, इसीलिए इसे वीथी कहा जाता है। इसमे अको की सख्या भाण के समान ही मानी गई है। इसमे शृगार रस का पूर्ण परिपाक न हो सकने के कारण उसकी सूचना दी जाती है। अन्य रसो का स्पर्श भी रहता है। शृगार रस के औचित्य विधान के लिए कैशिकी वृत्ति की योजना की जाती है। इसमे सन्धियो के अग भाण के सदृश ही नियोजित किए जाते है। प्रस्तावना के वतलाए हुए उद्धापक इत्यादि अगो की निवन्धना भी होती है। इसमे पात्र दो से अधिक नही होते। नाट्य-शास्त्र मे भी वीथी के प्राय ये ही सव लक्षण वतलाए गए हैं। उसमे इतना और स्पष्ट कर दिया गया है कि वीथी मे तेरह वीथ्यगो की योजना अवश्य की जानी चाहिए। 'मालविका' नामक रचना वीथी का उदाहरण मानी जाती है।

समवकार भी एक रूपक है। इसमे कई नायको के प्रयोजन एक साथ समवकीर्ण रहते है। इसीलिए इसे समवकार कहते है। नाटक के सदृश इसमे भी आमुख आदि का विधान रहता है। इसका इतिवृत्त पौराणिक देवताओ तथा राक्षसो से सम्बन्धित होता है। विमर्श सन्धि को छोडकर शेष सभी सन्धियो की योजना की जाती है।

वृत्तियो मे कैशिकी का प्रयोग प्रधान रहता है। इसमे धीरोदात्तादि गुण सम्पन्न वारह नायक होते है। उनके फल भी पृथक्-पृथक् होते हैं। इनमे वीर रस की प्रधानता होती है। इसमे अक केवल तीन ही रहते है। तीन कपट, तीन शृगार

और तीन विद्रवो की योजना के कारण समवकार अन्य रूपको से बिलकुल भिन्न होता है। इसमे सन्धियो का नियोजन भी एक विशेष क्रम से किया जाता है। पहले अक मे मुख और प्रतिमुख इन दो सन्धियो से युक्त बारह नाडियो का होना आवश्यक समझा जाता है। दूसरे अक मे चार और तीसरे अक में दो नाडियो की योजना की जाती है। इसमे वीथ्यगो का सन्निवेश भी रहता है। दशरूपक के अनुसार समवकार के लक्षण यही है। दशरूपककार ने नाट्य शास्त्र का ही अनुगमन किया है। अतएव दोनो के लक्षणो मे कोई परस्पर मतभेद नही है। भावप्रकाशम् और साहित्य-दर्पण मे सन्धियो के नियोजन का क्रम कुछ और अधिक स्पष्ट कर दिया गया है। उनके अनुसार पहले मे दो, दूसरे मे तीन और तीसरे मे विमर्श को छोडकर शेष सभी सन्धियो की योजना की जाती है।

व्यायोग उस रूपक को कहते है जिसका इतिवृत्त प्रख्यात हो और नायक धीरोदात्त हो। इसमे गर्भ और विमर्श इन दो सन्धियो को छोडकर शेष तीनो सन्धियो की योजना की जाती है। डिम के सदृश इसमे रस भी प्रदीप्त रहते हैं। इसमे स्त्री निमित्तक सग्राम दिखाने की प्रथा नही है। यह एकाकी रूपक है। इसमे केवल एक दिन की घटनाएँ ही चित्रित की जाती हैं। नाट्य-शास्त्र के अनुसार इसका नायक कोई दैवी पुरुप या राजा होना चाहिए। काव्यानुशासन से यह भी पता चलता है कि इसमे नायिकाएँ नही होती। यदि स्त्री पात्रो को लाना ही चाहे तो दो-एक दासियो की अवतारणा की जा सकती है।

अक नामक रूपक मे कथावस्तु तो प्रख्यात ही होती है, किन्तु कवि अपनी कल्पना से उसको विस्तृत कर देता है। करुण रस की प्रधानता होती है। साधारण वर्ग के पात्र होते है। नायक भी कोई साधारण व्यक्ति ही बनाया जाता है। इसमे स्त्री पात्र भी कई होते है और उन स्त्री पात्रो का उसमे विलाप दिखलाया जाता है।

ईहामृग नामक रूपक की कथावस्तु मिश्र अर्थात् प्रख्यात और कवि-कल्पित दोनो ही होती है। इसमे चार अक और तीन सन्धियाँ होती है। नायक और प्रतिनायक दोनो की कल्पना उसमे की जाती है। एक मनुष्य होता है और दूसरा दैवी पुरुप। दोनो ही व्यक्ति इतिहास-प्रसिद्ध होते है। प्रतिनायक का धीरोदात्त होना आवश्यक होता है। कार्य ज्ञान के उलट-फेर से अनुचित कार्य किया करता है। कभी-कभी न चाहने वाली दिव्य स्त्री के अपहरण इत्यादि के द्वारा चाहने वाले नायक का शृगाराभास भी कुछ-कुछ प्रदर्शित करना चाहिए। किसी बहुत बड़ी उत्तेजना की स्थिति को लाकर किसी बहाने मे युद्ध का टल जाना भी दिखाना चाहिए। महात्मा के वध की स्थिति उत्पन्न करके भी उसका वध न करवाना सफल कलाकार का लक्षण होता है।

सक्षेप मे दशरूपको के लक्षण वर्णित किए गए, अब उपरूपको पर विचार करेंगे।

उपरूपक नृत्य के भेद माने जाते है। इन उपरूपको का वर्णन न तो नाट्य-शास्त्र मे मिलता है और न दशरूपक मे ही। दशरूपक के टीकाकार धनिक ने प्रसगवश केवल सात उपरूपको का निर्देश किया है। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार है—डोम्बी, श्रीगदित, भाण, प्रस्थान, रासक और काव्य। कीथ के अनुसार नाट्य-शास्त्र

मे भी लगभग पन्द्रह उपरूपको का यत्किंचित् परिवर्तन के साथ वर्णन मिलता है। काले का मत भी कीथ से मिलता-जुलता है। उसने लिखा है कि नाट्य-शास्त्र मे हमे बहुत से ऐसे पारिभाषिक शब्द मिलते हैं, जिनका विकास बाद मे रूपको के अभिधान से हो गया है। उपरूपको के नामो का सर्वप्रथम उल्लेख हमे अग्निपुराण मे मिलता है। किन्तु इसमे केवल सत्रह भेदो के नाम ही दिये गए है। इनके स्वरूप की व्याख्या भी नही की गई है। वे क्रमश इस प्रकार है—नाटक, नाटिका, सट्टक, शिल्पक, कर्ण, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, भाणिका, भाणी, गोष्ठी, हल्लीशक, काव्य, श्रीगदित, नाट्यरासक, रासक, उल्लोप्यक और प्रेक्षण। भाव प्रकाशम् मे बीस उपरूपको का उल्लेख किया गया है। उनके नाम है—क्रमश तोटक, नाटिका, गोष्ठी, सलाप, शिल्पक, डोम्बी, श्रीगदति, भाणी, काव्य प्रेक्षणक, सट्टकम्, नाट्यरासकम्, रासक, उल्लोप्यक, हल्लीश, दुर्मल्लिका, मल्लिका, कल्पवल्ली और परिजातक। इनमें से उन्नीस के स्वरूप की व्याख्या तो इस ग्रन्थ मे की गई है। किन्तु सट्टक की व्याख्या करना किसी कारण मे ग्रन्थकार भूल गया है। नाट्य-दर्पण मे केवल चौदह उपरूपक ही मिलते है। उनके नाम क्रमश सट्टक, श्रीगदितम्, दुर्मीलिता, गोष्ठी, हल्लीशक, नर्तनक, प्रेक्षणक, रासक, नाट्यरासक, काव्य भाणक और भाणिका है। साहित्य-दर्पणकार ने केवल अठारह उपरूपक ही माने हैं। आजकल उसी का मत प्रचलित है। उसके द्वारा गिनाए गए उपरूपको के नाम इस प्रकार हैं—नाटिका, तोटक (त्रोतक), गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थानक, उल्लाप्य, काव्य प्रेक्षणकम्, रासकम्, सलापकम्, श्रीगदितम्, शिल्पकम, विलासिका या विनायिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीश और भाणिका। उपरूपक सम्बन्धी उपर्युक्त उल्लेखो को यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो प्रकट होगा कि उपरूपको की सख्या बीस से भी अधिक थी। "भाव-प्रकाशम् मे जो बीस उपरूपक गिनाए गए है, उनमे अग्निपुराण का कर्ण, नाट्य-दर्पण का नर्त्तनक, साहित्य-दर्पण का विलासिका और अभिनवगुप्त द्वारा सकेतित तीनो प्रकार सम्मिलित नही हैं। 'भावप्रकाशम्' की सूची में यदि ये छ और जोड दिए जायें तो उपरूपको की सख्या छब्बीस हो जायगी। विस्तार-भय से यहाँ प्रसिद्ध उपरूपको की स्वरूप व्याख्या ही की जा रही है।

भरतमुनि ने नाटिका का उल्लेख 'नाटी' नाम से किया है। उनके मतानुसार नाटी की उत्पत्ति नाटक और प्रकरण के योग से हुई है। साहित्य-दर्पण मे इसे स्वतन्त्र उपरूपक माना गया है। इसमे स्त्री पात्रो की बहुलता होती है। चार अक होते है और सांग मधुर लास्यो का विधान रहता है। यह शृंगार-प्रधान रचना होती है। इसमें राजा ही नायक हो सकता है। क्रोध, सन्धि और दभ आदि भावो को चित्रण किया जाता है। कोई सुलक्षणा स्त्री इसकी नायिका होती है। अभिनवगुप्त ने भरतमुनि के नाटिका सम्बन्धी लक्षणो की व्याख्या करते हुए लिखा है कि आचार्य के मतानुसार नाटिका मे दो नायिकाएँ होती है। एक स्वकीया 'देवी' होती है, दूसरी कोई उच्च कुल की सुन्दरी होती है। क्रोध, प्रसादन और दम्भादि से देवी (पटरानी) का सकेत किया गया है और 'राग' सभोगदि से दूसरी नायिका का। दशरूपककार ने भरतकृत लक्षणो का ही विस्तार किया है। उसमे लिखा है कि नाटिका मे कथावस्तु तो

नाटक से लेनी चाहिए, और नायक प्रकरण से। अपने लक्षणो से वह शृंगार रस परिपूरित होनी चाहिए। नाटिका एक अक से लेकर चार अक तक की हो सकती है। उसमे स्त्री पात्रो की अधिकता रहती है। कैशिकी वृत्ति का प्रयोग आवश्यक समझा जाता है। इसमे दो नायिकाएँ दिखाई जाती है, एक ज्येष्ठा और दूसरी मुग्धा। ज्येष्ठा नायक की विवाहिता रानी होती है। वह स्वभाव से प्रगल्भ, गम्भीर और मानिनी होती है। नायक उसके अधीन होता है। वह अपनी दूसरी प्रेमिका से (जो कि मुग्धा नायिका होती है) उसकी इच्छा के विना समागम भी नही कर सकता। इसीलिए नायक को मुग्धा नायिका से मिलने मे थोडी कठिनता रहती है। यह मुग्धा नायिका, दिव्य और परमसुन्दरी होती है। वह सगीत आदि कलाओ का अभ्यास करते हुए नायक को हर समय श्रुतिगोचर और दृष्टिगोचर होती रहती है, जिससे नायक का अनुराग उसके प्रति दिन-प्रतिदिन वढता जाता है। भावप्रकाशकार ने नाटिका मे विदूषक का होना भी वतलाया है। सस्कृत साहित्य मे प्रियदर्शिका, विद्धशालभजिका आदि नाटिकाएँ वहुत प्रसिद्ध है। नाटिका के सदृश ही प्रकर्णिका भी होती है। दोनो मे अन्तर केवल इतना है कि नाटिका मे राजकीय प्रणय का वर्णन होता है, और प्रकर्णिका मे व्यापारियो के प्रेम का। प्रकर्णिका के शेष लक्षण नाटिका के सदृश ही होते है।

त्रोटक कुछ आचार्यों के द्वारा नाटक का ही एक भेद माना गया है। जव नाटक मे लौकिक और अलौकिक तत्त्वो का सम्मिश्रण होता है तथा विदूपक का अभाव रहता है तव उसे 'त्रोटक' कहते हैं। साहित्य-दर्पणकार 'भावप्रकाशम्' के लेखक के इस मत से, कि त्रोटक मे विदूषक नही होना चाहिए, सहमत नही है। उनके अनुसार त्रोटक मे विदूपक का होना परमावश्यक होता है। भावप्रकाशकार के अनुसार इसमे नौ अक तक हो सकते हैं। मेनका, नहुष, विक्रमोर्वशीयम् आदि सफल त्रोटक है।

भावप्रकाशकार ने सट्टक को भी नाटक का ही एक प्रकार माना है। नाटक का यह प्रकार नृत्य पर आधारित कहा गया है। इसमे कौशिकी और भारती वृत्तियाँ प्रधान रहती है। सन्धियाँ इसमे नही होती हैं। मागधी, शौरसेनी प्राकृतो का प्रयोग किया जाता है। इसमे अक नही होते है, किन्तु फिर भी यह चार भागो में विभाजित किया जाता है।

भाण और भाणिका ये दोनो उपरूपक परस्पर मिलते-जुलते हैं। दोनो में केवल इतना अन्तर होता है कि एक तो स्वरूप और स्वभाव से उद्धत और दूसरा मसृण होता है। भाण की कथावस्तु हरिहर, भवानी, स्कन्द और प्रमथाधिप से सम्वन्धित होती है। क्रिया-व्यापार का वेग इसमें वडा तीव्र रहता है। इसमें राजा की प्रशस्तियाँ भी रहती हैं और सगीत का प्राधान्य भी रहता है।

भावप्रकाशम् मे 'डोम्बी' का उल्लेख किया गया है इसमे एक अक होता है। कैशिकी वृत्ति होती है, वीर या शृंगार का परिपाक दिखाया जाता है। कुछ लोग डोम्बी को भाणिका का ही दूसरा नाम मानते हैं। अधिकाश आचार्यों ने इन्हे अलग-अलग माना है।

रासक की स्वरूप-व्याख्या भी 'भावप्रकाशम्' मे विस्तार से की गई है। उसके अनुसार उसमे एक अक, सुश्लिष्ट नान्दी, पाँच पात्र, तीन सन्धियाँ, कई भाषाएँ, कैशिकी और भारती वृत्तियाँ सभी वीथ्यग, प्रसिद्ध नायक और नायिकाएँ आदि का होना आवश्यक होता है। भावप्रकाशम् के इन सभी लक्षणो को साहित्य-दर्पणकार ने भी मान्यता दी है।

नाट्यरासक की कुछ अपनी अलग विशेषताएँ होती हैं। साहित्य-दर्पण के अनुसार उसमे एक अक, बहुताल-लय की स्थिति, उदात्त नायक, उपनायक, शृगार और हास्य रसो, वासकसज्जा नायिका और लास्यागो का नियोजन रहता है।

ऊपर हम सट्टक, भाण, भाणिका, डोम्बी, रासक, नाट्यरासक आदि प्रसिद्ध उपरूपको का स्पष्टीकरण कर आये हैं। सस्कृत नाट्य-शास्त्र मे इनके अतिरिक्त गोष्ठी, उल्लाप्य, काव्य, प्रेक्षण, श्रीगदितम्, विलासिका नामक कुछ प्रसिद्ध एकाकी रूपको का उल्लेख भी पाया जाता है। गोष्ठी मे नौ-दस सामान्य पुरुषों और पाँच-छ सामान्य स्त्रियो की भाव-भगिमाएँ चित्रित की जाती है। उल्लाप्य युद्ध-प्रधान होता है। पृष्ठभूमि सगीत इसका प्रमुख लक्षण माना जाता है। काव्य हास्यरस-प्रधान होता है। द्विपादिका, भग्नताल आदि विविध प्रकार की सगीत-विधाओं का इसमे विधान रहता है। प्रेक्षण मे सूत्रधार नही रहता है। नान्दी और प्ररोचना नेपथ्य के पीछे से विहित की जाती है।' श्रीगदित की कथा मे सर्वत्र श्री शब्द का प्रयोग रहता है। कुछ लोगो के अनुसार उसमे श्री को गाते हुए प्रदर्शित किया जाता है। हल्लीश कैशिकी वृत्ति तथा नृत्य और सगीत से सम्पन्न होता है।

प्रस्थानक दो अको का उपरूपक होता है। धनिक के अनुसार यह नृत्य का एक प्रकार मात्र है। इसका नायक कोई दास या हीन व्यक्ति होता है। सलापक मे एक से लेकर चार अक तक होते हैं। शिल्पक रस-प्रधान चार अंको का उपरूपक होता है। दुर्मल्लिका मे भी चार ही अक होते है। इन अको का विधान एक विशेष क्रम से किया जाता है। पहला अक तीन नाडियो का होता है। प्रसिद्ध उपरूपक इतने ही हैं। शेष उपरूपक न तो बहुत प्रसिद्ध ही हैं और न सस्कृत साहित्य मे उनके उदाहरण ही मिलते है। इन कारण से हम यहाँ पर उन सब के स्वरूप की व्याख्या नही कर रहे है।

इस प्रकार हम देखते है कि सस्कृत नाट्य-शास्त्र मे रूपक तथा उनके भेद-प्रभेदो का बडे विस्तार से विवेचन किया गया है। उपर्युक्त भेद-प्रभेदो को देखने के पश्चात् स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय नाट्क-कला एकाकी नही है। वह न तो केवल आदर्श-प्रधान ही है, और न केवल यथार्थ मूलक ही। आदर्श और यथार्थ का सुन्दर समन्वय जितने रमणीय रूप मे हमे दिखाई पड़ता है उतना शायद ही किसी अन्य कला मे दिखाई पडे। उनमे हमे सम्पूर्ण जीवन की, सम्पूर्ण मानवो की हृदय-गाथा प्रतिबिम्बित मिलती है। सच तो यह है कि समृद्धता, स्वाभा-विकता, सजीवता आदि सभी दृष्टियो से विश्व मे वह बेजोड़ है।

संस्कृत का नाट्यशास्त्रीय साहित्य

नाट्यशास्त्र भारतीय साहित्याचार्यों के अध्ययन का प्रमुख विषय रहा है। प्राचीन काल से ही इस पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे जाते रहे हैं। उनका ऐतिहासिक विकास क्रम सक्षेप मे इस प्रकार है।

(१) शिलालिन तथा कृशाश्व—पाणिनि ने अपने व्याकरण मे शिलालिन तथा कृशाश्व आदि आचार्यों द्वारा प्रणीत नाट्य-सूत्रो का उल्लेख किया है। प्रो० हिलेब्रा ने इस चर्चा के आधार पर निश्चित किया है कि दोनो नाट्य-सूत्र नाट्य-शास्त्र की आधारभूमि हैं। किन्तु हिलेब्रा के मत से कीथ सहमत नही प्रतीत होते। उनका कथन है कि यह नट-सूत्र नर्तको तथा स्वाँगकारो से सम्बन्धित थे, नाट्य-कारो से नही। पाणिनि के व्याकरण मे नाटक तथा नाट्यशास्त्र सम्बन्धी और कोई बात नही आई है तथा भरत मुनि ने भी अपने नाट्यशास्त्र मे इन दो आचार्यों की कही भी चर्चा नही की है।

(२) भरत मुनि—भरत मुनि नाट्यशास्त्र और साहित्यशास्त्र दोनो के ही प्रथम आचार्य माने जाते हैं। उनसे पहले के कुछ आचार्यों के नाम भी मिलते है। राजशेखर की 'काव्य-मीमासा' मे 'स्वर्णनाम' तथा 'कुच मार' नामक दो आचार्यों का उल्लेख किया गया है। ये सम्भवत भरत मुनि से पहले हुए थे। इनकी चर्चा वात्सायन के कामसूत्र मे भी की गई है। किन्तु यह सदिग्ध है कि ये दोनो आचार्य साहित्यशास्त्री थे या नाट्यशास्त्री। आचार्य भरत ने एक तीसरे आचार्य का नाट्यशास्त्र के उपदेशक गुरु के रूप मे उल्लेख किया है। उनका नाम उन्होने तुण्ड दिया है। इन्ही तुण्ड को विद्वानो ने नन्दि या नन्दिकेश्वर कहा है। किन्तु इन आचार्यों को प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० एस० के० डे ने अपने 'सस्कृत पोयटिक्स' नामक ग्रन्थ मे कवि-कल्पना मूलक माना है। जो कुछ भी हो इतना तो मानना ही पडेगा कि नाट्य-शास्त्र मे आचार्य भरत ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का सकेत किया है। यह बात नवें अध्याय के १३०वें श्लोक मे अन्य १४४वें श्लोक मे, 'अन्यरैपि उक्तम्' तथा १६१वें श्लोक के 'अन्येतु' शुद्ध शब्दो से प्रकट है।

नाट्यशास्त्र का लेखक—नाट्यशास्त्र के लेखक के सम्बन्ध मे विद्वानों में बड़ा मतभेद है। डॉ० डे तथा काणे का मत है कि विस्तृत नाट्यशास्त्र भरत की कृति नहीं है, वह किसी दूसरे की रचना है। उसने सिद्धान्तो की शिक्षा पाकर कला का प्रयोग करके इसका प्रणयन किया होगा। इसकी पुष्टि मे काणे ने नाट्यशास्त्र के निम्नलिखित दो श्लोक उद्धृत किए है—

"आत्मनोपदेशसिद्ध हि नाट्य प्रोक्त स्वयभुवा
शेष प्रस्तारतन्त्रेण कोलाहलः कथिष्यति
भरताना च वशोय भविष्य च प्रवर्तित
काहेलादिभिरेवं तु वत्सशाण्डिल्यधूर्तितै.।"

इनके अतिरिक्त उन्होने कुछ और भी तर्क दिए है।

(१) 'कुट्टनी मत' मे दामोदर गुप्त ने भरत के साथ कोहल का नामोल्लेख भी किया है।

(२) कोहल रचित एक ग्रन्थ भी प्राप्त हुआ है जिसका नाम 'ताल' है। यह इण्डिया आफिस की लाइब्रेरी मे सुरक्षित है।

(३) 'काव्यानुशासन' नामक ग्रन्थ मे उसके रचयिता हेमचन्द्र कोहल को नाट्यशास्त्र का लेखक बताया है।

(४) रसार्णव सुधाकर नामक ग्रन्थ मे नाट्य-ग्रन्थो के प्रणेता के रूप में शाण्डिल्य, कौटिल्य, दत्तिल और मतग का उल्लेख है। उपर्युक्त तर्क हमारी समझ मे नाट्य-शास्त्र को दूसरे की रचना सिद्ध करने मे पर्याप्त नही है। इसी प्रकार एस० के० डे साहब ने भी नाट्यशास्त्र की ३७वी अध्याय की २८वी कारिका के आधार पर निश्चित किया है कि नाट्यशास्त्र को अपना वर्तमान रूप कोहल नन्दिकेश्वर के द्वारा किए गए परिवर्तनो के पश्चात् उन्ही के किसी शिष्य ने दिया होगा। इस तर्क के अतिरिक्त डे साहब ने कुछ शैली सम्बन्धी तर्क भी प्रस्तुत किए हैं—

(क) नाट्यशास्त्र मे बहुत से प्रक्षिप्त गद्याश मिलते हैं।

(ख) आनुवश्य परम्परा से लिखित श्लोको की अधिकता भी उसमे दिखाई पडती है।

(ग) नाट्यशास्त्र की रचना मे कही पर सूत्र है तो कही पर भाष्य शैली का आश्रय लिया गया है।

(घ) कारिकाएँ सक्रम हैं।

इन कारणो से भी प्रकट होता है कि नाट्यशास्त्र किसी एक व्यक्ति की रचना नही है। कन्हैयालाल पोद्दार ने अपने इतिहास मे इस मत का सशक्त खण्डन किया है। उनका मत इस प्रकार है—

(क) अभिनव-भारती टीका से उद्धरण देकर यह सिद्ध किया जा सकता है कि कोहल का ग्रन्थ नाट्यशास्त्र से भिन्न था।

(ख) आनुवश्य आचार्यों के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि हो सकता है इनके द्वारा उन्होने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मत का उल्लेख किया हो। यह बात 'अन्ये केचित्' शब्दो से प्रकट भी होती है।

(ग) एस० के० डे साहब ने ग्रन्थ समाप्ति के अवसर पर नन्दि-भरत वाक्याश के प्रयोग के आधार पर सिद्ध किया था कि नाट्यशास्त्र केवल भरत की रचना नही है किन्तु नाट्यशास्त्र की अन्तिम अध्याय की समाप्ति 'इतिश्री भारतीय नाट्य-शास्त्र' शब्दो से की गई है। ये शब्द अन्य अध्यायो के अन्त मे भी मिलते हैं। अत. उपर्युक्त तर्क समुचित नही है।

(घ) अभिनव-भारती के टीकाकार ने लिखा है कि—

"तण्डुमुनि शब्दो नन्दिभरतयोरपर नाम्नी।"

तण्डु और मुनि दोनो नन्दि और भरत के पर्यायवाची थे। हमारा अनुमान यह है कि भरत से पहले भी नन्दि या नन्दिकेश्वर का सम्प्रदाय प्रचलित था। भरत मुनि उसी सम्प्रदाय के प्रधान प्रवर्तक हुए। इसीलिए उन्होने कही-कही अपने नाम के साथ अपने सम्प्रदाय का नाम 'नन्दि' भी जोड दिया है। इस आधार पर यह

कहना कि नाट्यशास्त्र केवल उनकी रचना नहीं है बडा भ्रामक है। विनय-भाव से आज भी लेखक लिख डालते हैं कि जो कुछ अच्छा है वह गुरु का है और जो कुछ बुरा है वह हमारा है। इसी विनय-भाव से प्रेरित होकर सम्भवत नाट्यशास्त्र के प्रणेता ने भी अपने गुरु का नाम अन्त मे लिख दिया है। वास्तव मे नाट्यशास्त्र भरत की ही रचना है।

(३) भरत के पुत्र—नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय मे भरत के सौ पुत्रो की चर्चा की गई है। उनमे से कुछ के उद्धरण वाद के नाट्याचारो ने भी दिए हैं। उनमे से विशेष उल्लेखनीय निम्नलिखित हैं—

(क) कोहल—यह सम्भवत नाट्यशास्त्र के कोई बड़े आचार्य थे। नाट्यशास्त्र मे एक स्थल पर लिखा है कि जिन विषयो की चर्चा भरत मुनि ने नही की है उनका स्पष्टीकरण आगे चलकर कोहल करेंगे। अभिनवगुप्त ने तथा कुछ और टीकाकारो ने अपनी टीकाओ मे कुछ उद्धरण भी उद्धृत किए है। उन उद्धरणो से ऐसा प्रकट होता है कि कोहल ने नृत्य, नाट्यशास्त्र, सगीत आदि विषयो पर प्रकाश डाला था।

(ख) दत्तिल—इनके दूसरे नाम सम्भवत दातिल और घूर्तिल भी थे। यह दोनो ही नाम दत्तिल के ही विगडे हुए रूप प्रतीत होते है। अभिनवगुप्त ने इनकी चर्चा दत्तिलाचार्य के अभिधान से की है। इन्होने सम्भवतः नृत्य-गीत आदि पर अपना कोई ग्रन्थ लिखा था जो अब उपलब्ध नही है।

(ग) शाण्डिल्य—इनका नामोल्लेख भी नाट्यशास्त्र मे किया है। इनके सम्बन्ध मे पण्डितो मे प्रवाद है कि इन्होने कोई नाट्यसूत्र लिखा था जो अब लुप्त हो गया है।

(घ) वात्स्य—नाट्यशास्त्र मे इनका भी उल्लेख मिलता है किन्तु इनके सम्बन्ध मे कुछ अधिक नही ज्ञात है। मेरा अनुमान है कि इन्होने नायिका-भेद आदि से सम्बन्धित कोई ग्रन्थ लिखा था जिसका विस्तार आगे चलकर वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र मे किया।

(ङ) सातकरणी—नाट्यशास्त्र में इनका भी नाम मिलता है। इनकी चर्चा पहली शताब्दी के आस-पास के कुछ शिलालेखो मे भी की गई है। अतएव इनका समय पहली शताब्दी के आस-पास सरलता से माना जा सकता है। विद्वानो का अनुमान है कि या तो यह स्वय कोई राजा थे अथवा राजवश से सम्बन्धित थे। बाद के लेखको ने इनके जो उद्धरण दिए हैं उनके आधार पर डॉ० घोष ने अनुमान किया है कि उन्होने भी नाट्यशास्त्र का कोई प्रामाणिक ग्रन्थ लिखा था।

(च) अश्मकुट्ट और नखकुट्ट—यह दोनो ही आचार्य सम्भवत समकालीन थे और किसी एक ही स्थान के निवासी थे। कोई आश्चर्य नहीं कि यह काश्मीर की ही विभूति हो। सागर नन्दिन और विश्वनाथ नामक आचार्यो ने नखकुट्ट का उल्लेख किया है। सागरनन्दिन ने अश्मकुट्ट की भी चर्चा की है। इन्होने भी सम्भवत नाट्यशास्त्र पर ही अपने ग्रन्थ लिखे थे।

(छ) वादरायण अथवा वदरी—सागरनन्दिन ने दो-एक स्थलो पर इनका

भी उल्लेख किया है। उनके उल्लेखो से स्पष्ट प्रकट होता है कि उन्होने भी नाट्य-शास्त्र के किसी ग्रन्थ का प्रणयन किया था।

(४) **सग्रहकार**—अभिनवगुप्त ने एक स्थल पर सग्रहकार का उल्लेख किया है और एक दूसरे स्थल पर सग्रह-ग्रन्थ की चर्चा की है। नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय मे भी एक स्थल पर इस ग्रन्थ का सकेत मिलता है। विद्वानो की धारणा है कि यह कोई ऐसा सग्रह-ग्रन्थ था जिसमे नाट्य विषयक समस्त सामग्री सकलित की गई थी।

(५) **नन्दिकेश्वर**—अभिनवगुप्त और शारदातनय ने नन्दी या नन्दिकेश्वर का उल्लेख किया है। इनके सम्वन्ध मे विद्वानो मे बड़ा मतभेद रहा है। अभिनव-भारती मे एक स्थल पर इनका नामोल्लेख भरत से पहले किया है। इस आधार पर कुछ विद्वानो की धारणा है कि ये भरत मुनि से पहले हुए थे। किन्तु इस वात का कोई पुष्ट प्रमाण नही है। अतएव हमने उन्हे भरत मुनि के बाद मे रखा है। हो सकता है कि वे भरत मुनि के समकालीन कोई आचार्य हो। किन्तु पूर्ण निश्चय के साथ कोई बात नही कही जा सकती। इतना तो निर्विवाद है कि नन्दिकेश्वर भी नाट्य-शास्त्र के कोई प्रसिद्ध आचार्य थे।

(६) **तुबुरू, विशाखिल और चारायण**—प्रथम दो का नामोल्लेख अभिनव-गुप्त ने किया है। चारायण की चर्चा सागरनन्दिन ने की है। यह लोग भी सम्भवत नाट्यशास्त्र के ही आचार्य थे। किन्तु उनके सम्बन्ध मे अव अधिक कुछ ज्ञान नहीं है।

(७) **सदाशिव, पद्मभू, द्रौहिण, व्यास, अंजनेय**—अभिनवगुप्त और शारदा-तनय ने सदाशिव का उल्लेख किया है। पद्मभू, द्रौहिण, व्यास और अजनेय की चर्चा शारदातनय मे मिलती है। इनके केवल नाम मात्र उपलव्ध हैं। इन्होने कौनसे ग्रन्थ लिखे थे, यह कुछ नही ज्ञात है।

(८) **कात्यायन, राहुल और गर्ग**—इन तीनो के नामो का उल्लेख अभिनव-गुप्त ने किया है। कात्यायन के कुछ उद्धरण भी मिलते है। उनके आधार पर यह सरलता से अनुमान लगाया जा सकता है कि उन्होने किसी नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की थी। राहुल का नामोल्लेख भी अभिनवगुप्त की टीका में किया गया है। उम उल्लेख के आधार पर डॉ० घोप ने अनुमान किया है कि वे नाट्यशास्त्र और नृत्तशास्त्र के आचार्य थे।

(९) **शाकली गर्भ और घण्टक**—अभिनवगुप्त ने शाकलीगर्भ और घण्टक नामक आचार्यो की भी चर्चा की है। घण्टक के सम्वन्ध मे डॉ० मनमोहन घोप का कहना है कि वह आचार्य शकुक के समकालीन थे। किन्तु इसके लिए उन्होने कोई पुप्ट प्रमाण नही दिया है। वास्तव मे अव इन दोनो आचार्यों के नाम मात्र शेप हैं।

(१०) **वार्तिककार हर्ष**—अभिनवगुप्त ने एक स्थल पर वार्तिक कृत के नाम से और दूसरे स्थल पर वार्तिक के नाम से और तीसरे स्थल पर शर्प वार्तिक के नाम से कुछ उद्धरण दिए हैं। शारदातनय और सागरनन्दिन ने हर्प अथवा हर्प-विक्रम का उल्लेख किया है। डॉ० मनमोहन घोप का अनुमान है कि यह सभी

अभिधान एक ही व्यक्ति के वाचक हैं। उनका नाम हर्षविक्रम था। उन्होने नाट्यशास्त्र पर कोई ग्रन्थ लिखा था।

(११) मातृगुप्त—सिलवन लेवी के मतानुसार यह नाट्यशास्त्र के एक टीकाकार थे। इनके समय के सम्बन्ध मे कुछ भी ज्ञात नही है। किन्तु इतना निश्चित है कि यह अभिनवगुप्त से पहले हुए थे क्योकि अभिनवगुप्त ने इनका एक स्थल पर उल्लेख किया है। इनका नामोल्लेख सागरनन्दिन ने भी किया है। उसने इनकी गणना अश्मकुट्ट, नखकुट्ट तथा गर्ग आदि प्राचीन आचार्यों के साथ-साथ की है।

(१२) सुवन्धु—शारदातनय ने किसी सुवन्धु नामक नाट्याचार्य का उल्लेख भी किया है। किन्तु यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता है कि नाट्याचार्य सुवन्धु वे ही थे जिन्होने वासवदत्ता नामक श्रेष्ठ गद्यकाव्य की रचना की थी। डॉ॰ मनमोहन घोष का अनुमान है कि नाट्याचार्य सुवन्धु ही गद्यकार सुवन्धु थे। उसका अनुमान है कि वे पाँचवी शताब्दी मे हुए होगे।

(१३) अग्निपुराण—अग्निपुराण के ३३७ से ३४७ अध्याय तक साहित्यशास्त्र का निरूपण किया गया है। अग्निपुराण के समय के सम्बन्ध मे मतभेद हैं। साधारणतया इसका समय ८२५ ई० माना जाता है। अग्निपुराण मे काव्यस्वरूप रस और अलकारो आदि के सम्बन्ध मे अच्छा विवेचन किया गया है। नाट्यशास्त्र का सम्बन्ध रस से है। इसमे ध्वनि और रस का अच्छा विवेचन किया है।

(१४) अभिनवभारती—यह नाट्यशास्त्र की प्रसिद्ध टीका है। इसका रचनाकाल ९७५-१०१५ के आस-पास माना जाता है। इसमे भरत मुनि के सूत्रो को समझाने की चेष्टा की गई है। साथ ही साथ अभिनवगुप्त के नाट्यशास्त्र सम्बन्धी मत भी प्रकट हो गए है। नाट्यशास्त्र को समझने के लिए अभिनवभारती का ज्ञान आवश्यक है।

(१५) नाटक लक्षण रत्नकोष—इसके लेखक सागरनन्दिन नामक आचार्य हैं। इसमे नाट्य के प्रमुख विषयो का विवेचन किया गया है। इसका रचना-काल दशरूपक से कुछ पहले माना जाता है।

(१६) दशरूपक—नाट्यशास्त्र का बहुत ही प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसका नामकरण रूपको के दस भेदो के आधार पर हुआ है। दशरूपक की कारिकाओ के रचयिता आर्य धनजय है। यह मुञ्ज नामक राजा की सभा के पण्डित थे। इनके पिता का नाम विष्णु था। यह वात दशरूपक के प्रकाश ४८६ से प्रकट है। दशरूपक पर धनिक ने, जो इनके भाई थे, एक महत्त्वपूर्ण टीका लिखी है। दशरूपक का रचना-काल ९७४ तक निश्चित किया जा सकता है। दशरूपक मे केवल ३०० कारिकाएँ हैं, जो ४ प्रकाशो मे वँटी हुई है। प्रथम प्रकाश मे धनजय ने मगलाचरण के पश्चात् नाट्य, नृत्त और नृत्य आदि के स्वरूप-विभेद को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। पुन दशरूपको के स्वरूप का विवेचन किया है। इसी प्रकाश मे लेखक ने नाटकीय वस्तु का शास्त्रीय विवेचन किया है। दूसरे प्रकाश मे नायक के अभिधान से नायक-नायिकाओ का वर्णन किया गया है। इसी मे वृत्तियो और उसके अगो का साङ्ग विवेचन भी है। तृतीय में उन व्यावहारिक बातो का निर्देश है जिनसे नाटक

का प्रारम्भ किया जाता है। चतुर्थ मे रस सिद्धान्त का विस्तार से विवेचन किया गया है। सक्षेप मे दशरूपक की यही विवेच्य वस्तु है।

(१७) **शृंगार प्रकाश**—शृंगार प्रकाश महाराज भोज लिखित सुन्दर नाट्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ है। इस महाग्रन्थ का उल्लेख मन्दार मरन्द चम्पू में कृष्ण कवि ने किया है। इसमे ३६ प्रकाश है। १० प्रकाशो मे शब्द की अर्थव्यक्ति कुछ व्याकरण विषय, वृत्ति, दोष, गुण तथा अलकारो की विवेचना की गई है। ११वें मे रस-परिपाक और १२वें मे नाटकादि के लक्षण विवेचित किए गए है। शेष २४ प्रकाशो मे अन्य नाट्य सम्बन्धी बातो का विवेचन किया गया है।

(१८) **काव्यानुशासन—वाग्भट्ट द्वितीय**—इसका रचना-काल १०८४-११७४ तक माना जाता है। काव्यानुशासन सूत्रबद्ध ग्रन्थ है। इसमे ८ अध्याय है। इसमे नायिका-भेद का विशेष रूप से विवेचन किया गया है।

(१९) **नाट्य-दर्पण**—इसके रचयिता कोई रामचन्द्र नामक आचार्य हैं। इनका समय १०९३ से लेकर ११७५ तक माना गया है। इस ग्रन्थ मे पहले नाट्य शब्द की व्युत्पत्ति बतलाई है फिर अन्य आचार्यों के मत भी दिए गए हैं। इन्होने नाट्य शब्द की व्युत्पत्ति नट् धातु से मानी है। इस दृष्टि से इनका अन्य आचार्यों से भेद है। इन्होने रूपको की सख्या १२ मानी है। इन्होने नाटिका और प्रकरणी को भी रूपक ही माना है। दशरूपक और नाट्यशास्त्र में दिए गए सिद्धान्तो मे भी परिवर्तन करने की चेष्टा की गई है। इन्होने कहा है कि नायक का क्षत्रिय होना आवश्यक है राजा होना नही। इसी प्रकार बहुत सी सिद्धान्त सम्बन्धी बातो मे इनका मतभेद है। किन्तु मूलभुत सिद्धान्त वे ही हैं, जो नाट्यशास्त्र और दशरूपक मे दिए गए है।

(२०) **नाटक-मीमांसा**—इसके लेखक आचार्य रुय्यक थे। इनका यह ग्रन्थ अभी तक अनुपलब्ध है।

(२१) **भाव-प्रकाश**—शारदातनय इसके रचयिता है। इनका समय ११७५-१२५० ई० के आस-पास माना जाता है। उनकी यह रचना नाट्यशास्त्र विषयक सामग्री का एक वृहत् सकलन है। इसके विषय मे अपने Types of Sanskrit drama नामक ग्रन्थ मे मनकद ने लिखा है—'It is well known that '*Bhava Prakash*' is compendium on the works of dramaturgy known to Sharda *Tanaya*'। इससे प्रकट है कि नाट्यशास्त्र का यह एक वृहद् ग्रन्थ है। इसमे अन्य आचार्यो के मतो का निसकोच वर्णन किया गया है। भाव-प्रकाश मे पहिले तो नृत्य, नृत्त आदि का विवेचन है। उसके बाद दशरूपको का वर्णन किया गया है। भाव-प्रकाश मे नाट्यशास्त्र के ही दस रूपक माने गए है। इसमे नाटक को बहुत महत्त्व दिया गया है। नाटिका के सम्बन्ध मे लिखा है कि यह नाटिका और प्रकरण का मिश्रित रूप है। इसमे नाट्यशास्त्र के अन्य अगो का भी विस्तार से विवेचन किया गया है। नाटक की सन्धियो के सम्बन्ध मे भाव-प्रकाश मे एक नया प्रतिबन्ध मिलता है। उसके अनुसार प्रथम अक में दो सन्धियाँ और दूसरे शेष अको मे अन्य सन्धियाँ होनी चाहिएँ।

(२२) प्रतापरुद्रीय—यह ग्रन्थ आन्ध्र प्रान्त के राजा काकतीय और राजा यशोभूषण के आश्रित राजा विद्यानाथ ने लिखा है। यह दक्षिण मे अधिक प्रचलित है। इसमे नौ अध्याय है। नाट्य, नायक, काव्य-रस, गुण—दोष, शब्दालकार, अर्थालकार मिश्रालकार आदि विषयो का वर्णन किया गया है। उदाहरणो मे प्रतापरुद्रजी का यशोगान है। इनका समय १२७५-१३२५ ई० तक माना जाता है।

(२३) रसार्णव सुधाकर—रसार्णव सुधाकर के रचयिता आनन्द पण्डित के पुत्र सुगोपाल थे। यह विकट गिरी के राजा थे। इनका समय १३३० के लगभग माना जाता है। इस ग्रन्थ मे रस के साथ-साथ १० रूपको का भी वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ मे नाटक को ही अन्य रूपको का आधार माना गया है। इसमे नायिका-भेद आदि का भी विवेचन किया गया है।

(२४) साहित्य-दर्पण—विश्वनाथ रचित साहित्य-दर्पण मे नाट्य-तत्त्वो का विस्तार से विवेचन किया गया है। इसमे १० परिच्छेद हैं। छठे मे नाटकादि का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसका समय १३००-१३४० तक माना गया है। इसमे वर्णित नाट्यशास्त्र के सिद्धान्त दशरूपक और नाट्यशास्त्र से बहुत मिलते हैं। डॉ० काणे ने साहित्य-दर्पण को नाट्यशास्त्र की त्रयी मे स्थान दिया है। उन्होने लिखा है कि भरत, धनञ्जय और विश्वनाथ ये सस्कृत-नाट्य के तीन सर्व-श्रेष्ठ आचार्य है।'

(२५) संगीत रत्नाकर—इसके रचयिता निश्शक शारगदेव नामक कोई विद्वान् थे। भादवीसहण नामक राजा के यह आश्रित आचार्य थे। इनका समय काणे ने १२१० से लेकर १२४७ ई० तक दिया है। इस ग्रन्थ मे सगीत के साथ-साथ नृत्त, नृत्य, नाट्य, रस, रूपकादि का भी विवेचन किया गया है।

(२६) नाटक चन्द्रिका—इसके लेखक रूप गोस्वामी है। इसका रचना-काल १४७० ई० बताया जाता है।

(२७) नाट्य-सर्वस्व दीपिका—यह एक वृहद् ग्रन्थ है। इसमे ५ स्कन्द और ६,००० श्लोक हैं। ३२ अध्याय हैं। यह ग्रन्थ अभी प्रकाशित नहीं हुआ है। बी० ओ० आर० आई० मे इसका हस्तलिखित प्रति सुरक्षित रखी है। इस ग्रन्थ मे नाट्यशास्त्र के विविध ग्रन्थो का विषय-विवेचन अपने ढग पर किया गया है। इसके लेखक आदि भरत नामक आचार्य बताए जाने हैं।

(२८) रस-कौमुदी—इसके रचयिता कोई श्री कण्ठ नामक विद्वान् हैं। इसमे १० अध्याय हैं। जो पूर्वखण्ड और उत्तरखण्ड मे विभाजित हैं। काणे ने इसका रचना-काल १५६९-१५९६ माना है। यह किसी शत्रुशल्भ नामक राजा के आश्रित विद्वान् थे। इस ग्रन्थ मे विशेष रूप से साहित्य और सगीत का ही विवेचन किया गया है। किन्तु बीच-बीच मे नाट्य-सिद्धान्तो और दशरूपको का भी उल्लेख किया गया है। इनके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र के बहुत से ग्रन्थ अभी अप्रकाशित पडे हुए हैं। बहुत से ऐसे ग्रन्थ हैं जिनकी सूची तक नही बनी है। बहुत से ऐसे ग्रन्थ हैं जिनका सदर्भ अन्य ग्रन्थो मे किया गया है किन्तु अभी तक उपलब्ध नही हैं। इनमे से कुछ प्रमुख ग्रन्थो का उल्लेख यहाँ पर किया जा रहा है।

(२९) **नाटक लक्षण कोष**—सागरनन्दिन इसके लेखक बताए जाते हैं। इसका सम्पादन डॉ० एमडिलन ने किया है। वह १९३४ मे ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस से प्रकाशित हुआ है।

(३०) **नाट्य-प्रतीप**—इसके लेखक राघव भट्ट नामक आचार्य बताए जाते है। यह ग्रन्थ मेरे देखने मे नही आया है।

(३१) **नाट्य-प्रदीप**—सुन्दर मिश्र औजागिरि इसके लेखक बताए जाते है। इसका रचना-काल १६१३ ई० बताया गया है।

(३२) **नाटयालोचन**—त्रिलोचनादित्य इसके लेखक बताए जाते है किन्तु यह ग्रन्थ मेरे देखने मे नही आया है।

(३३) **नाट्यशास्त्र**—इसके लेखक वसन्तराज नामक आचार्य बताए जाते हैं।

(३४) **भरत भाष्य**—अन्य देव इसके रचयिता हैं। यह ग्रन्थ भी मेरे देखने मे नही आया है।

(३५) **नाटकावतार**—इसके लेखक मोहनदास कहे गए है।

(३६) **एकावली**—विद्याधर-रचित यह रचना भी उल्लेखनीय है।

भारतीय रगमच

रगमच शब्द का प्रयोग आजकल बडे व्यापक अर्थ मे किया जाता है। यह केवल अभिनय मच का ही वाचक नही है इससे नाटक और अभिनेयता से सम्बन्धित सभी बातें और वस्तुएँ तथा स्थान, जैसे नाट्य-गृह और उसका स्थापत्य, प्रेक्षागृह और उसमे बैठने की व्यवस्था, नेपथ्य-गृह और उसकी आवश्यक वस्तुएँ, रगमच और उसकी सजावट, रगशीर्ष तथा उसकी आवश्यक सामग्री, मत्तवारिणियाँ और उनकी सजावट, पात्रो की वेशभूषा और रूप वय, रग सूचनाएँ, स्वभाव, कार्य-व्यापार, पात्रो के प्रवेश, प्रस्थान आदि से सम्बन्धित बाते, यवनिका प्रयोग, दृश्य-विधान, सगीत-योजना, वातावरण-चित्रण, घटनाओ के उत्थान-पतन का अकन आदि-आदि अनेकानेक बातो का समष्ट्यात्मक बोध भी होता है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने रगमच के स्वरूप और अर्थ को स्पष्ट करते हुए इस प्रकार लिखा है—

"रगमच का अर्थ केवल स्टेज या अभिनय-स्थान ही नही है। रगमच एक सामाजिक कलात्मक सस्था है जो नाटक और अभिनय के प्रत्येक क्षेत्र मे सम्पूर्ण ज्ञान वितरिक कर सके। राज्य की ओर से या समाज के द्वारा प्रचुर दान से वह सम्पूर्ण हो और विश्वविद्यालय की भाँति विद्यार्थियो को रगमच के ज्ञान मे पूर्णत दीक्षित कर सके।" —"हिन्दी नाटक के सिद्धान्त और नाटक" शीर्षक रचना, पृष्ठ १३६ से उद्धृत

इस प्रकार हम देखते हैं कि रगमच शब्द अपने सकुचित अर्थ मे तो केवल अभिनय-मच का ही वाचक है किन्तु व्यापक अर्थ मे उसका प्रयोग नाटक तथा अभिनय मे सम्बन्धित समस्त स्थानो, वस्तुओ, व्यक्तियो, कला-विधियो आदि के लिए किया जाता है।

प्राचीन भारत मे रगमच की मान्यता—प्राचीन भारत मे जिस प्रकार नाटको को महत्त्व दिया जाता था उसी प्रकार रगमच की भी प्रतिष्ठा थी। इसका प्रमाण यह है कि राजमहलो मे कला-विनोद के साधनो के साथ-साथ प्रेक्षागृह भी होते थे। मालविकाग्नि-मित्र नामक नाटक से पता चलता है कि अग्निमित्र राजा के प्रासाद मे एक प्रेक्षागृह भी था। मालविका उस प्रेक्षागृह मे नृत्य किया करती थी। इसी प्रकार कुछ और प्राचीन नाट्य-मण्डपो का पता लगता है। सुरगुजा रियासत मे एक पहाडो मे कटी हुई विशाल नाट्यशाला पाई गई है। उस नाट्यशाला पर बौद्ध प्रभाव कुछ अधिक दिखाई पड़ता है। इस नाट्यशाला को विद्वान् लोग बहुत प्राचीन बताते है।

प्राचीन भारत के नाट्य-मण्डपों के सम्बन्ध मे प्राचीन साहित्य मे पाये जाने वाले उल्लेख—भारत के प्राचीन साहित्य मे, विशेषकर नाट्यशास्त्रीय साहित्य मे, विविध प्रकार के नाट्य-मण्डपो की स्थापत्य-विधि, सजावट आदि के वर्णन मिलते है। इस प्रकार के बहुत से ग्रन्थो के केवल नाम भर शेष रह गए हैं। केवल दो-चार ग्रन्थ ही ऐसे हैं जो उपलब्ध है, और जिनमे नाट्य-मण्डप के स्थापत्य आदि का विस्तृत वर्णन दिया हुआ है। कुछ प्रमुख ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

भाव-प्रकाश—इस ग्रन्थ के लेखक शारदातनय नामक आचार्य माने जाते हैं। इनका रचना-काल सवत् ११७५ से लेकर १२२५ के आस-पास निश्चित किया गया है। इस ग्रन्थ के दशम अध्याय मे हमे नाट्य-मण्डपो की विस्तृत चर्चा मिलती है। इसमें तीन प्रकार के नाट्य-मण्डपो का उल्लेख मिलता है। वे क्रमश विकृष्ट, चतुरस्र और वृत्ताकार है। ध्यान देने की बात है कि इस ग्रन्थ मे त्र्यस्र नाट्य-मण्डपो का उल्लेख नही किया गया है। उसके स्थान पर एक नये वृत्ताकार नाट्य-मण्डप की निर्माण-विधि पर प्रकाश डाला गया है। इससे प्रकट है कि भारत मे नाट्यशास्त्र के बाद भी रगमच के विकास की ओर लोगो की प्रवृत्ति थी और वे नए प्रकार के नाट्य-मण्डपो के प्रयोग मे प्रयत्नशील थे।

संगीत-रत्नाकर—इस ग्रन्थ मे भी नाट्य-मण्डप की निर्माण-विधि पर प्रकाश डाला गया है। किन्तु इसमें केवल वर्गाकार नाट्य-मण्डप की ही चर्चा है। इस ग्रन्थ के रचयिता कोई नारद नामक आचार्य माने जाते है। हो सकता है कि इस ग्रन्थ की परम्परा नाट्यशास्त्र से पहले की हो। उस परम्परा को किसी ने परम्परा के प्रवर्त्तक नारद के नाम पर लिपिबद्ध करके ग्रन्थ रूप दे दिया हो। जो भी हो इस ग्रन्थ के समय मे ऐसा लगता है कि रगमच की अवस्था कुछ अधिक विकासोन्मुख नही थी।

उपर्युक्त ग्रन्थो मे यद्यपि रगमचो के निर्माण आदि का वर्णन किया गया है किन्तु इनमे दिये गए वर्णन बहुत सी दृष्टियो से अधूरे और सक्षिप्त कहे जा सकते हैं। नाट्य-मण्डपो की विस्तृत स्वरूप-निर्माण-विधि और रगमच से सम्बन्धित सभी आवश्यक बातो पर जितना व्यापक प्रकाश भरत मुनि के नाट्यशास्त्र मे डाला गया है उतना भारत ही क्या ससार के शायद ही किसी ग्रन्थ मे प्रयास किया गया हो।

नाट्यशास्त्र मे नाट्य-मण्डप—भरतमुनि के नाट्यशास्त्र मे हमे नाट्य-मण्डप तथा रगमच से सम्बन्धित बहुत सी बातें मिलती हैं। यहाँ पर उनमे से कुछ का सक्षेप मे उल्लेख किया जा रहा है—

नाट्यशास्त्र मे दिए गए विविध प्रकार के नाट्य-मण्डपों का विवेचन—भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय मे नाट्य-मण्डपो के भेद-आकार और लक्षण तथा पूजन-विधि आदि पर अच्छा प्रकाश डाला है। नाट्य-शास्त्र के इस द्वितीय अध्याय पर डी० आर० मन्कद ने 'Ancient Indian Theatre' मे आलोचनात्मक और तुलनात्मक दृष्टि से अच्छा विवेचन किया है। मन्कद साहब ने लिखा है कि नाट्यशास्त्र तथा उसकी अभिनवभारती टीका से नाट्य-मण्डप के स्वरूप का सही स्पष्टीकरण नही हो पाता। किन्तु यदि मनोयोग के साथ दोनो का अध्ययन करके यदि अपनी बुद्धि का प्रयोग किया जाय तो भरत मुनि का नाट्य-मण्डप सम्बन्धी मत सरलता से समझ मे आ सकता है। यहाँ पर हम नाट्य-मण्डपो या प्रेक्षागृह की रचना-विधि के सम्बन्ध मे भरत मुनि तथा उनके टीकाकार अभिनवगुप्त के मत को ध्यान मे रखते हुए विचार कर रहे हैं। नाट्य-मण्डप के प्रकार का वर्णन करते हुए नाट्य-शास्त्रकार ने लिखा है—

"विकृष्टश्चतुरस्रश्च त्र्यस्रश्चैव हि मण्डप ।
तेषा त्रीणि प्रमाणानि ज्येष्ठ मध्य तथा वरम् ॥"

अर्थात् विश्वकर्मा ने तीन प्रकार के नाट्य-गृहो का निर्माण किया है। वे विकृष्ट, चतुरस्र त्र्यस्र है। इनके भी ज्येष्ठ, मध्यम और अधम अवर तीन रूप हैं। इन नौ नाट्य-मण्डपो को हस्त अथवा दण्ड के नापने से १८ प्रकार के हो जायेंगे। इस कारिका के अर्थ के सम्बन्ध मे विद्वानो मे थोडा मतभेद है।

अभिनवगुप्त ने अपनी टीका मे इस कारिका और अगली कारिका की टीका करते समय नाट्य-मण्डपो के प्रकार के सम्बन्ध मे दो प्रचलित मतो का उल्लेख किया है। पहले मत के अनुसार विकृष्ट, ज्येष्ठ, चतुरस्र ही मध्य है और त्र्यस्र अवर है। दूसरे मत के अनुसार विकृष्ट चतुरस्र और त्र्यस्र के ज्येष्ठ, मध्य और अवर ये तीन भेद होते हैं। मन्कद साहब नौ प्रकार के नाट्य-मण्डप वाले मत के अधिक समर्थक प्रतीत होते है। यहाँ पर हम विप्कृटादि शब्दो के अर्थ को स्पष्ट करते हुए मन्कद साहब के मत का स्पष्टीकरण करेंगे।

विकृष्ट—डॉ० पी० के० आचार्य ने अपने Dictionary of Hindu Architecture मे विकृष्ट का अर्थ वृत्त किया है। किन्तु अभिनवगुप्त विकृष्ट का अर्थ सम्भवत चौकोण मानते थे। इन्होने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"विभागेन कृष्टो न तु चतसृषु दिक्षु समयेन ।"

इसका यही भाव है कि विकृष्ट का अर्थ चार विभाग वाला है। नाट्यशास्त्र में इसका जो रूपाकार दिया गया है वह चतुष्कोणात्मक ही है।

चतुरस्र—इसका प्रयोग वर्ग के अर्थ मे हुआ है। यद्यपि साधारणतया इसका अर्थ चौकोर भी लिया जाता है। किन्तु यहाँ पर उसका अर्थ वर्ग से लिया गया है।

३ त्र्यस्र—इसका अर्थ त्रिकोणात्मक है।

नाट्य-मण्डपों के भेद—नाट्य-मण्डप के प्रकारो का उल्लेख भी उपर्युक्त कारिका मे किया गया है। उसमे नौ प्रकार के मण्डपो का सकेत किया है, वे नवो प्रकार इस प्रकार होगे—

१. विकृष्ट ज्येष्ठ=१०८×६४ ६. चतुरस्र अवर=३२×३२
२. विकृष्ट मध्य=६४×३२ ७. त्र्यस्र ज्येष्ठ=टत्रस्ट मे इनका माप स्पष्ट नही है।
३. विकृष्ट अवर=३२×१६ ८ त्र्यस्र मध्य= ,,
४. चतुरस्र ज्येष्ठ=१०८×१०८ ९ त्र्यस्र अवर= ,,
५ चतुरस्र मध्य=६४×६४

उपर्युक्त जिन मापो का सकेत हमने नाट्य-मण्डपो के सामने किया हैं। उनका सकेत नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय की १०वी कारिका मे किया गया है। वह इस प्रकार है—

"प्रमाणमेषा निर्दिष्टम् हस्त दण्ड समाश्रयम् ।
शत चाष्टौ चतुष्पष्टीर्हस्ताद्वात्रिंश देव पा ॥" २-९-१०

इस प्रकार नौ मण्डपो का अर्थ निकाल लेने पर एक वाधा सामने आती है। वह यह है कि नाट्यशास्त्र के दूसरे स्थलो पर दी गई माप से यह माप ठीक नहीं बैठ सकती। इस दृष्टि से निम्नलिखित कारिकाएँ विचारणीय है—

"चतुष्षष्टी करान्कुर्यात् दीर्घत्वेन नु मण्डपम् ।
द्वात्रिंशेन तु विस्तार मर्त्याना योजये दहि ॥"

किन्तु भरत मुनि ने एक स्थल पर २०।९० तक की कारिकाओ मे नाट्य-मण्डप का जो वर्णन किया है उसका नाम भी उन्होने विकृष्ट ही दिया है। एव 'विकृष्टं, कर्त्तव्य नाट्यवेश्म् प्रयोक्तुभि' किन्तु इस नाट्य-मण्डप की माप उन्होने इस कारिका मे वतलाई है। पूर्ववर्णित कारिका मे नाट्य-मण्डप की माप ६४×३२ हाथ दी गई है। यह मण्डप 'मर्त्याना' यानी मनुष्यो का है। इससे विकृष्ट नाट्य-मण्डप की ओर सकेत हैं और यह माप भी मध्य विकृष्ट की मालूम होती है। क्योकि भरत मुनि ने लिखा हैं—

"प्रेक्षा गृहाणां सर्वेषां तस्मान्मध्यमभिष्यते ।"

अर्थात् प्रेक्षागृहो मे मध्य प्रेक्षागृह श्रेष्ठ होता है। एक दूसरे स्थल पर भरत मुनि ने चतुरस्र की नाप-जोख का फिर उल्लेख किया है। वह इस प्रकार है—

"अत परं प्रवक्ष्यामि चतुरस्र लक्षणम् ।
समन्तस्तु कर्तव्यो हस्तो द्वात्रिंशत् ॥" २-८७ ॥

अर्थात् चतुरस्र नाट्य-मण्डप चारो ओर से ३२ हाथ होनी चाहिए। यह नाप भी ऐसा जान पडता है कि उसने चतुरस्र मध्य की ही दी है। यहाँ पर हमारे पहले वाले कथन से मतभेद पड़ जाता है। हमने चतुरस्र मध्य की नाप चारो ओर से ६४ हाथ मानी है। अव हम इन विरोधी मतो को सुलझाने की चेष्टा करेंगे।

नाट्यशास्त्र में नाट्य-मण्डप—भरतमुनि के नाट्यशास्त्र मे हमे नाट्य-मण्डप तथा रगमच से सम्बन्धित बहुत सी बातें मिलती है। यहाँ पर उनमे से कुछ का सक्षेप मे उल्लेख किया जा रहा है—

नाट्यशास्त्र में दिए गए विविध प्रकार के नाट्य-मण्डपों का विवेचन—भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय मे नाट्य-मण्डपो के भेद-आकार और लक्षण तथा पूजन-विधि आदि पर अच्छा प्रकाश डाला है। नाट्य-शास्त्र के इस द्वितीय अध्याय पर डी० आर० मन्कद ने 'Ancient Indian Theatre' मे आलोचनात्मक और तुलनात्मक दृष्टि से अच्छा विवेचन किया है। मन्कद साहब ने लिखा है कि नाट्यशास्त्र तथा उसकी अभिनवभारती टीका से नाट्य-मण्डप के स्वरूप का सही स्पष्टीकरण नही हो पाता। किन्तु यदि मनोयोग के साथ दोनो का अध्ययन करके यदि अपनी बुद्धि का प्रयोग किया जाय तो भरत मुनि का नाट्य-मण्डप सम्बन्धी मत सरलता से समझ मे आ सकता है। यहाँ पर हम नाट्य-मण्डपो या प्रेक्षागृह की रचना-विधि के सम्बन्ध मे भरत मुनि तथा उनके टीकाकार अभिनवगुप्त के मत को ध्यान मे रखते हुए विचार कर रहे है। नाट्य-मण्डप के प्रकार का वर्णन करते हुए नाट्य-शास्त्रकार ने लिखा है—

"विकृष्टश्चतुरस्रश्च त्र्यस्रश्चैव हि मण्डप ।
तेषा त्रीणि प्रमाणानि ज्येष्ठ मध्य तथा वरम् ॥"

अर्थात् विश्वकर्मा ने तीन प्रकार के नाट्य-गृहो का निर्माण किया है। वे विकृष्ट, चतुरस्र त्रयस्र है। इनके भी ज्येष्ठ, मध्यम और अधम अवर तीन रूप है। इन नौ नाट्य-मण्डपो को हस्त अथवा दण्ड के नापने से १८ प्रकार के हो जायेंगे। इस कारिका के अर्थ के सम्बन्ध मे विद्वानो मे थोडा मतभेद है।

अभिनवगुप्त ने अपनी टीका मे इस कारिका और अगली कारिका की टीका करते समय नाट्य-मण्डपो के प्रकार के सम्बन्ध मे दो प्रचलित मतो का उल्लेख किया है। पहले मत के अनुसार विकृष्ट, ज्येष्ठ चतुरस्र ही मध्य है और त्रयस्र अवर है। दूसरे मत के अनुसार विकृष्ट चतुरस्र और त्रयस्र के ज्येष्ठ, मध्य और अवर ये तीन भेद होते हैं। मन्कद साहब नौ प्रकार के नाट्य-मण्डप वाले मत के अधिक समर्थक प्रतीत होते है। यहाँ पर हम विष्कृटादि शब्दो के अर्थ को स्पष्ट करते हुए मन्कद साहब के मत का स्पष्टीकरण करेंगे।

विकृष्ट—डॉ० पी० के० आचार्य ने अपने Dictionary of Hindu Architecture मे विकृष्ट का अर्थ वृत्त किया है। किन्तु अभिनवगुप्त विकृष्ट का अर्थ सम्भवत चौकोण मानते थे। इन्होने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"विभागेन कृष्टो न तु चतसृषु दिक्षु समयेन।"

इसका यही भाव है कि विकृष्ट का अर्थ चार विभाग वाला है। नाट्यशास्त्र में इसका जो रूपाकार दिया गया है वह चतुष्कोणात्मक ही है।

चतुरस्र—इसका प्रयोग वर्ग के अर्थ मे हुआ है। यद्यपि साधारणतया इसका अर्थ चौकोर भी लिया जाता है। किन्तु यहाँ पर उसका अर्थ वर्ग से लिया गया है।

३ त्र्यस्र—इसका अर्थ त्रिकोणात्मक है ।

नाट्य-मण्डपों के भेद—नाट्य-मण्डप के प्रकारो का उल्लेख भी उपर्युक्त कारिका मे किया गया है । उसमे नौ प्रकार के मण्डपो का सकेत किया है, वे नवों प्रकार इस प्रकार होगे—

१. विकृष्ट ज्येष्ठ=१०८×६४ ६. चतुरस्र अवर=३२×३२
२. विकृष्ट मध्य=६४×३२ ७ त्र्यस्र ज्येष्ठ=टक्स्ट मे इनका माप स्पष्ट नही है ।
३. विकृष्ट अवर=३२×१६ ८ त्र्यस्र मध्य= ,,
४. चतुरस्र ज्येष्ठ=१०८×१०८ ९ त्र्यस्र अवर= ,,
५. चतुरस्र मध्य=६४×६४

उपर्युक्त जिन मापो का सकेत हमने नाट्य-मण्डपो के सामने किया है । उनका सकेत नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय की १०वी कारिका मे किया गया है । वह इस प्रकार है—

"प्रमाणमेषां निर्दिष्टम् हस्त दण्ड समाश्रयम् ।
शत चाष्टौ चतुष्षष्टीर्हस्ताद्वात्रिंश देव पा ॥" २-९-१०

इस प्रकार नौ मण्डपो का अर्थ निकाल लेने पर एक बाधा सामने आती है । वह यह है कि नाट्यशास्त्र के दूसरे स्थलो पर दी गई माप से यह माप ठीक नहीं बैठ सकती । इस दृष्टि से निम्नलिखित कारिकाएँ विचारणीय है—

"चतुष्षष्टी करान्कुर्यात् दीर्घत्वेन तु मण्डपम् ।
द्वात्रिंशेन तु विस्तार मर्त्यानां योजये दहि ॥"

किन्तु भरत मुनि ने एक स्थल पर २०।९० तक की कारिकाओ मे नाट्य-मण्डप का जो वर्णन किया है उसका नाम भी उन्होने विकृष्ट ही दिया है । एव 'विकृष्टं, कर्त्तव्य नाट्यवेश्म् प्रयोक्तुभि ' किन्तु इस नाट्य-मण्डप की माप उन्होने इस कारिका मे बतलाई है । पूर्ववर्णित कारिका मे नाट्य-मण्डप की माप ६४×३२ हाथ दी गई है । यह मण्डप 'मर्त्याना' यानी मनुष्यो का है । इससे विकृष्ट नाट्य-मण्डप की ओर सकेत हैं और यह माप भी मध्य विकृष्ट की मालूम होती है । क्योकि भरत मुनि ने लिखा है—

"प्रेक्षा गृहाणा सर्वेषा तस्मान्मध्यमभिष्यते ।"

अर्थात् प्रेक्षागृहो मे मध्य प्रेक्षागृह श्रेष्ठ होता है । एक दूसरे स्थल पर भरत मुनि ने चतुरस्र की नाप-जोख का फिर उल्लेख किया है । वह इस प्रकार है—

"अत पर प्रवक्ष्यामि चतुरस्र लक्षणम् ।
समन्तस्तु कर्तव्यो हस्तो द्वात्रिंशत्तु ॥" २-८७ ॥

अर्थात् चतुरस्र नाट्य-मण्डप चारो ओर से ३२ हाथ होनी चाहिए । यह नाप भी ऐसा जान पडता है कि उसने चतुरस्र मध्य की ही दी है । यहाँ पर हमारे पहले वाले कथन से मतभेद पड़ जाता है । हमने चतुरस्र मध्य की नाप चारो ओर से ६४ हाथ मानी है । अब हम इन विरोधी मतों को सुलझाने की चेष्टा करेंगे ।

मन्कद साहब ने इस मत के सुलझाने के लिए अपना अनुमान इस प्रकार प्रस्तुत किया है। इनका कथन है कि दो कारिकाओ मे जिन्हे हमने प्रक्षिप्त माना है उनसे यह ध्वनि निकलती है कि विकृष्ट का सम्बन्ध ज्येष्ठ से है। चतुरस्र का सम्बन्ध मध्य से और त्र्यस्र का सम्बन्ध अवर से है। कुछ लोग इस मत के अनुयायी प्रतीत होते है। किन्तु इस उलझन का सुलझाव एक दूसरे प्रकार से भी किया जा सकता है। इस दृष्टि से यह कारिकाएँ उद्धृत की जा सकती है—

"विकृष्टश्चतुरस्रश्च त्र्यस्रश्चैव हि मण्डपः।
तेषा त्रीणि प्रमाणानि ज्येष्ठ मध्य तथा वरम्॥"

× × ×

"प्रमाणमेषा निर्दिष्टं हस्तदण्डसमाश्रयम्।
शत चाष्टं चतुष्षष्टिर्हस्ताद्वात्रिंशच्चेति निश्चितम्॥"

× × ×

"अष्टाधिकं शत ज्येष्ठ चतुष्षष्टिस्तु मध्यमम्।
कनीयस्तु तथा वेश्म हस्ताद्वात्रिंशदिष्यते॥"

इनमे ८वी कारिका से प्रकट होता है कि ज्येष्ठ, मध्य, अवर आदि क्रमशः विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस के उत्कृष्ट मण्डप प्रमाण हैं। नवी कारिका मे उनकी माप इस प्रकार दी है—विकृष्ट ज्येष्ठ की नाप १०८×६४ होनी चाहिए। चतुरस्र मध्य की नाप के सम्बन्ध मे वे लिखते हैं कि चतुरस्र के बनाने मे मध्यम नाप अपनायी जाती है। इससे चतुरस्र ज्येष्ठ ६४×३२, चतुरस्र मध्य ३२×१६ का तथा अवर १६×२८ होता है।

डॉ० राघवन का मत मुझे अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। उनके मतानुसार नाट्य-मण्डप तीन प्रकार के होते है—विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र। इनकी लम्बाई क्रमश १०८, ६४ और ३२ हाथ बताई गई है। इनमे नाट्यशास्त्र के लेखक ने चतुरस्र नाट्य-गृह को सबसे अधिक उपयुक्त और परिपूर्ण बताया है। उन्होने इसी के ज्येष्ठ रूप का विस्तार से उल्लेख किया है। उसका वर्णन उन्होने मनुष्यो के नाट्य-मण्डप के अभिधान से किया है।

मनुष्यो के योग्य नाट्य-मण्डप के लक्षण

पृथ्वी—जहाँ भी नाट्यशाला बनानी हो तो पहले पृथ्वी की परीक्षा करनी चाहिए। नाट्यशाला के बनाने की भूमि 'समा स्थिरा कठिना कृष्णा या गौरी' होना चाहिए। उस भूमि को पहले साफ करवाकर हल चलवाना चाहिए। वृक्षो की जडें खुदवा डालनी चाहिएँ। इस प्रकार शुद्ध की गई भूमि पर नाट्य-मण्डप की दीवारो के चिन्ह खींच देने चाहिएँ।

नाट्य-मण्डप के शिलान्यास का क्षेत्र—नाट्य-मण्डप के शिलान्यास के लिए उत्तरा-फाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तरा भाद्रपदा, विशाखा, रेवती, हस्त, पुष्य और अनुराधा नक्षत्र श्रेष्ठ माने गए है।

शिलान्यास की डोरी—शिलान्यास की डोरी के लिए कपास, नर्मा, सनई की छाल, या मूँज की बढी दृढ श्वेत वर्ण की डोरी बनानी चाहिए। यदि डोरी

बीच मे से टूट जाय तो नाट्य-मण्डप के स्वामी की मृत्यु हो जाती है। यदि तीसरा भाग टूट जाय तो जनता का विरोध होता है। यदि चौथे भाग से टूट जाय तो नाट्य-प्रयोक्ता का नाश होता है। यदि नापते-नापते हाथ से छूट जाय तो हानि होती है। इसलिए वडी सावधानी से डोरी पकड़नी चाहिए और खीचने के समय पुण्याह-वाचन और ब्राह्मणो को भोजन भी कराना चाहिए। नीव डालते समय शख-ध्वनि, नगाडे आदि वाद्य-यन्त्रों का वादन भी कराना चाहिए। नीव डालते समय पाखण्डी, सन्यासी, विकलाग आदि अनिष्ट साधको को दूर करना चाहिए।

नाट्य-मण्डप के विविध अगों की रूपरेखा—इस सम्वन्ध मे भरतमुनि ने इस प्रकार लिखा है—

"चतुष्षष्टिं करान् कृत्वा द्विधा कुर्यात पुनश्चतान् ।
पृष्ठतो यो भवेद्भागो द्विधा भूतो भवेच्च स ।
तस्यार्द्धेन विभागेन रंगशीर्ष प्रयोजयेत् ॥
पश्चिमे तु पुनर्भागे नेपथ्य गृहमादिशेत ।
विभज्य भागान् विधिवत् यथावदनुपूर्वश. ॥"

अर्थात् शिलान्यास करते समय रगशाला के विविध अगो का विन्यास इस प्रकार करना चाहिए। पहले चौंसठ हाथ लम्बा भाग नाप लेना चाहिए। फिर इसके दो भाग करने चाहिएँ। इसके पहले आधे भाग मे प्रेक्षागृह और पिछले आधे भाग मे नेपथ्य-गृह वनाना चाहिए। अभिनवगुप्त ने उपर्युक्त कारिकाओ का अर्थ करते हुए लिखा है—

"चतुष्षष्ठि हस्त दैर्घ्याद्विस्ताराच्च ।"

द्वात्रिंशत्करं क्षेत्र गृहीत्वा मध्ये सूत्रं विस्तारेण दद्यात्। तत्र यत्प्रयोक्तुः पृष्ठतो भविष्यति तदेव पृष्ठम्। तस्य मध्ये विस्तारेण सूत्र दद्यात्। तत षोडश हस्तो द्वौ भागो भवत। पृष्ठगत भावमर्द्धेन विभज्याष्ट हस्त रगशिर इपविशतां पात्राणां चान्तस्थानां नाट्यमण्डपस्य ह्युत्तानसुप्तवदवस्थितस्य रंगपीठ मुख्यं तदष्टहस्त शिर। तत्पृष्ठे तु दैर्घ्याद्धि षोडश हस्त नेपथ्य गृह भवति विस्तारातु द्वात्रिंशत्करमेव। ननु नैपथ्यादिक च तत्र गृह्यते पश्चिमे पेति। तत्र रगपीठं विस्तारत षोडश दैर्घ्यतस्त्वष्ट हस्ता इति केचित्। अन्ये त्वेतदेव विपर्यासयन्ति सर्वथा तावद्रगपीठस्यापि विकृष्टत्वं विधेयमिति तात्पर्यम्। यद्वक्ष्यते रगे विकृष्टो भरते न कार्य। १२, १६ इत्यादि।

अर्थात् जैसा हम ऊपर वता चुके है यह तो स्पष्ट है कि ६४ हाथ लम्बा भूमि-खण्ड लेना चाहिए। उसको दो भागो मे विभाजित करना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि उसमे ३२-३२ हाथ के दो भाग वन जायँगे। फिर पीछे पश्चिम वाले हिस्से मे नेपथ्य वनाना चाहिए। आगे वाले भाग मे रगशीर्ष वनाना चाहिए। यहाँ पर कारिका मे प्रयुक्त पृष्ठतो और पश्चिम शब्द विचारणीय है। पृष्ठतो का अर्थ अभिनवगुप्त ने पात्रो के पीछे के भाग से लिया है। यह भाग ३२×३२ होगा। इसी प्रकार पात्रो के आगे का भाग भी ३२×३२ होगा। पात्रो के पीछे वाले भाग के फिर दो हिस्से करे जाने चाहिएँ। यह भाग क्रमशः १६×३२—१६×

३२ होगे । अभिनवगुप्त के द्वारा पहला पृष्ठगत भाग कहा गया है। दूसरा पश्चिममगत-। उनका कहना है कि १६ × ३२ वाला पहला भाग पुन दो भागो में बाँटा जाना चाहिए और यह दोनो भाग ८ × ३२ के होगे । यही पर रगशीर्ष बनना चाहिए। इसके पीछे १६ × ३२ का नेपथ्य बनाना चाहिए । इस प्रकार स्पष्ट है कि पहले नेपथ्य होगा और उसके ठीक सामने ८ × ३२ का रगशीर्ष होगा। उसके सामने ८ × १६ का रगपीठ होगा। कारिका मे इस रगपीठ की चर्चा नही की गई है। किन्तु अभिनवगुप्त ने इसका उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त ने यह भी लिखा है कि कुछ विद्वानो के अनुसार रगपीठ १६ हाथ लम्बा और ८ हाथ चौडा होता है। किन्तु दूसरे मत वाले यह कहते हैं कि ८ हाथ लम्बा और १६ हाथ चौडा होना चाहिए। अभिनवगुप्त पहले मत के समर्थक है। इत मत के अनुसार नाट्य-मण्डप के सामने का भाग इस प्रकार विभाजित हो जाता है कि मध्य मे रगपीठ, जिसकी नाप १६ × ८ हाथ, दोनो ओर दो मत वारिणी, जिनकी नाप ८-८ हो बन सकें किन्तु मन्कद साहब के मतानुसार मत्तवारिणी १२ × ८ की होगी और रगपीठ ८ × १६ का होगा। इस मत के अनुसार रगपीठ का ८ × ८ का भाग प्रेक्षागृह के बाहर होगा।

अधिक स्पष्ट शब्दो मे नाट्य-मण्डप की निर्माण-विधि नाट्यशास्त्र के वर्णनानुरूप इस प्रकार होगी—एक ६४ हाथ लम्बा और ३२ हाथ चौडा भूखण्ड लेना चाहिए। फिर लम्बाई को दो भागो मे बाँट देना चाहिए। इस प्रकार ३२-३२ हाथ के दो वर्ग बन जायँगे। अगला वर्ग प्रेक्षागृह हो जायगा। पिछले वर्ग की लम्बाई को फिर दो भागो मे बाँटेंगे। यह दोनो भाग क्रमश १६ × ३२ हाथ के होगे। इनमे से पिछला भाग नेपथ्य-गृह बनाया जायगा। शेष बचे हुए अगले भाग को फिर दो भागो मे बाँटेगे। जिसके फलस्वरूप ३२ × ८ के दो भाग हो जावेगे। फिर इन दो भागो मे से पिछले भाग के मध्य मे ८ × ८ का रगशीर्ष बनाया जायगा और अगले भाग में १६ × ८ का रगपीठ निर्मित होगा। इसके दोनो ओर ८ वर्ग की मत्तवारिणियाँ होगी । रगशीर्ष के दोनो ओर १२ × ८ और १२ × ८ के बरामदे होगें। इन बरामदो से नेपथ्य-गृह मे जाने के लिए द्वार होगे। प्रेक्षागृह मे तीन और द्वार होगे। रगपीठ की ओर कोई द्वार नही होगा। उपर्युक्त वर्णन के अनुसार भरत मुनि द्वारा वर्णित नाट्य-मण्डप का स्वरूप अगले पृष्ठ पर दिया गया है।

इस प्रकार नीव पड जाने के बाद दीवारें खडी की जानी चाहिएँ। भीतें बना चुकने पर अच्छे नक्षत्र योग और करण का विचार करके रोहिणी या श्रवण नक्षत्र मे खम्भे खडे करने चाहिएँ। प्रात सूर्योदय हो चुकने पर ऐसे श्रेष्ठ आचार्यों के द्वारा खम्भो की स्थापना करानी चाहिए जो तीन दिन और तीन रात तक निराहार व्रत रह चुके हो। इन खम्भो के सम्बन्ध मे अभिनवगुप्त ने लिखा है कि दो खम्भे बाहर की तरफ बनाने चाहिएँ। यह क्रमश ८ हाथ की दूरी पर होने चाहिएँ। और शेष दो खम्भे रगपीठ के मैदान मे होने चाहिएँ। वे इस प्रकार हो कि दोनो ही दोनो दीवारो से ८ हाथ दूर हो साथ ही परस्पर भी ८ हाथ दूर हो। इस प्रकार जो मत्तवारिणी बनेगी ८ × ८ वर्ग हाथ की होगी। अभिनवगुप्त के शब्दो को यहाँ उद्धृत कर देना अनुचित न होगा—

३२

६ नेपथ्य-गृह १६

८ | ८ × १२ मत्तवारिणी | ८ × ८ रगशीर्ष | १२ × ८ मत्तवारिणी | ८ ३२

६४

८ | ८ × ८ मत्तवारिणी | १६ × ८ रगपीठ | ८ × ८ मत्तवारिणी | ८

३२ प्रेक्षागृह ३२

३२ वर्ग हाथ

३२
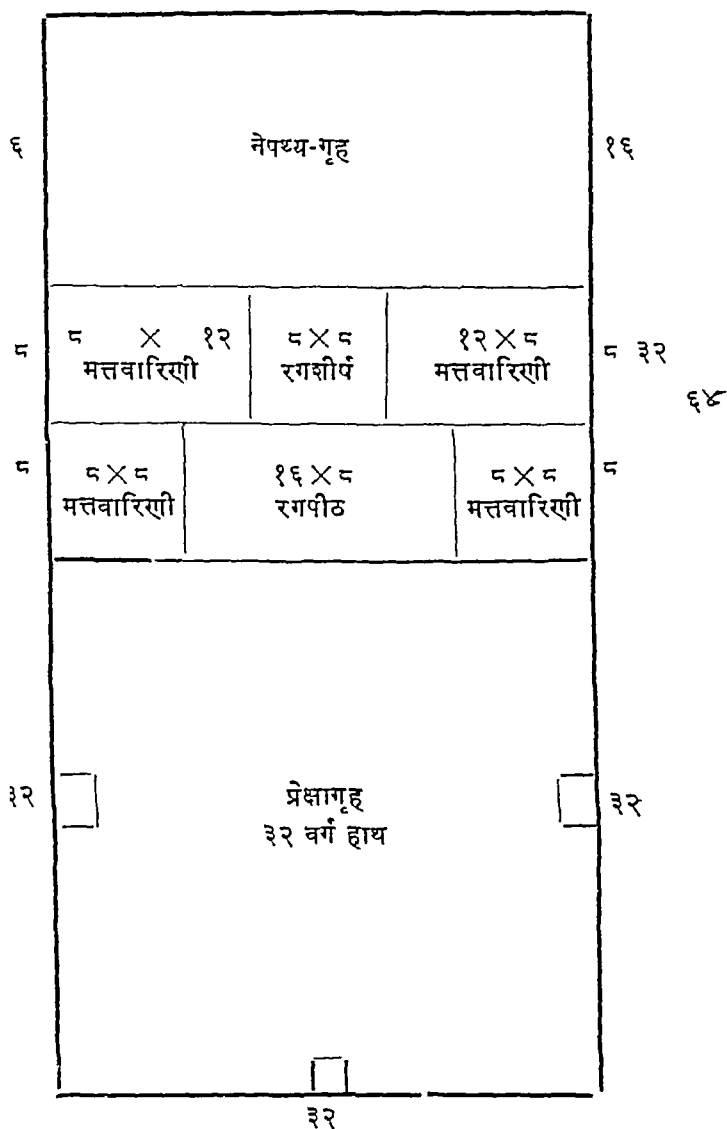
भरत मुनि द्वारा वर्णित नाट्य-मण्डप का स्वरूप

"स्तम्भाश्चत्वारो वहिर्मण्डपान्निष्कासन कृत्वा ध्रियन्ते मण्डप क्षेत्रादे वहिस्तेन भित्तिच्छेदावधौ स्तम्भ द्वयं ततोऽपि बर्हिर्भित्तेरष्ट हस्तान्तर स्तम्भापेक्षयाऽप्यष्टहस्तान्तरं स्तम्भ द्वियमित्येवम् इत्यष्टविस्तारा समचतुरश्चा मत्तवारिणी भवति।"

स्तम्भ निर्माण के पश्चात् मत्तवारिणी वनानी चाहिए। मत्तवारिणी के सम्बन्ध मे नाट्यशास्त्र में इस प्रकार लिखा है—

"रगपीठस्य पार्श्वे तु कर्त्तव्या मत्तवारिणी ।
चतुस्तम्भ समायुक्ता रगपीठ प्रमाणत ॥२॥"
"अध्यर्ध हस्तोत्सेधेन कर्तव्या मत्तवारिणी ।
उत्सेधेन तयोस्तुल्यं कर्तव्य रगमडपम् ॥२॥"

अर्थात् रगपीठ के पीछे चार खम्भो पर रगपीठ से लगभग आधे हाथ ऊँची अम्वारी या मत्तवारिणी बनानी चाहिए । और रगपीठ तथा मत्तवारिणी दोनो की ऊँचाई के बराबर रगमण्डल बनाना चाहिए । अभिनवगुप्त ने इन श्लोको की टीका इस प्रकार की है—

"अन्येषा हस्तमानोऽत्र यथा रगपीठापेक्षया च सार्ध हस्त परिमाण उच्छ्राय कार्यो मत्तावाख्या तयोरिनी द्विवचन क्षापक त यावानुत्सेधस्तावान् रगपीठस्य । तेन वध्रमूभागापेक्षया सार्ध हस्त प्रमाणोन्नत रगपीठामिती श्रयुक्तम् भवति । तेन मत्तवाख्यालोके नात्यर्थ रंगपीठस्य बुष्प्रेक्षता एवच्चोत्से धेनत्येक वचनेने सूचितम् । अन्यथोत्सेधाम्यामित्युच्चते ।"

उपर्युक्त दूसरी कारिका मे रगमण्डप शब्द स्पष्ट नही है । पता नहीं रग-मण्डप से रगपीठ का अर्थ लिया गया है अथवा रगभूमि का । अभिनवगुप्त ने अपनी टीका मे इसके दो अर्थ किए है । एक अर्थ के अनुसार मत्तवारिणी डेढ हाथ रगपीठ से ऊँची होनी चाहिए । दूसरे अर्थ के अनुसार रगपीठ और मत्तवारिणी की ऊँचाई एक ही होनी चाहिए । अभिनवगुप्त और मन्कद साहब दोनो ही दूसरे मत के पक्ष मे है । यहाँ पर एक बात और स्पष्ट कर देनी है यद्यपि उसका सम्वन्ध मत्तवारिणी मे नही है । वह यह कि विकृष्ट मध्यमण्डप मे रगशीर्ष रगपीठ की अपेक्षा ऊँचा होना चाहिए । किन्तु चतुरस्र मध्य मे दोनो एक ऊँचाई के हो सकते है ।

यहाँ पर रगशीर्ष और रगपीठ के सम्बन्ध पर विचार होना जरूरी है । मन्कद साहब का कथन है कि रगशीर्ष और रगपीठ के बीच मे कोई दीवार न होकर पर्दा होता था । रगशीर्ष के निर्माण के सम्वन्ध में लिखा है कि वह छ लकडियो से निर्मित की जानी चाहिए । अभिनवगुप्त ने इस वात को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि नेपथ्य-गृह और रगशीर्ष की सामान्य दीवार पर परस्पर आठ हाथ की दूरी पर दो खम्भे खडे किये जाने चाहिएँ । इसके वाद उसी के वरावर दो खम्भे और भी वनाने चाहिएँ जो चौदह हाथ की दूरी पर हो । इस प्रकार यह खम्भे चार हो जायेंगे और नीचे-ऊपर की धन्नियाँ ६ हो जायेंगी । इस वात को अधिक स्पष्ट करना चाहे तो यो कह सकते है कि नेपथ्य के सामने की दीवारो मे एक सजी हुई लकडी की ८ हाथ लम्बी धन्नी होनी चाहिये । फिर दो खम्भे और होने चाहिएँ जो कि परस्पर ४ हाथ की दूरी पर हो । इन चारो खम्भो पर ६ धन्नियाँ रखी जायेंगी । इसको सन्दूक कहते है । इसे विविध प्रकार से सजाना चाहिए । "षड दारुक समन्वित" रगशीर्ष के निर्माण के पश्चात् "कार्य द्वारद्वय चात्र नेपथ्य गृहकस्य तु" अर्थात् यहाँ पर दो द्वार प्रवेश करने के लिए तथा निर्गमन करने के लिए वनाने चाहिएँ । नेपथ्य-गृह की भूमि काली मिट्टी मे भर देनी चाहिए । हल चलाकर उसकी

रोड़ी, घास-पात और ककड़ी निकाल देनी चाहिए। हल में केवल अडुवा वैल जोतने चाहिएँ। वहाँ के काम करने वाले अग-दोष से हीन हो। मिट्टी ढोने मे नये टोकरे का प्रयोग किया जाना चाहिए। इस प्रकार सावधानी से रगपीठ वनाना चाहिए। वह न कछुए की पीठ जैसा ऊँचा और न मछली की पीठ जैसा ढलवाँ ही होता है। वास्तव मे दर्पण-तल के समान समतल रगपीठ ही श्रेष्ठ समझा जाता है। इस रगपीठ पर भी रत्न सजाने चाहिएँ। चतुरो को उसमे पूर्व मे वज्र, दक्षिण में वैदूर्य, पश्चिम मे स्फटिक और उत्तर मे हीरा और मध्य मे मूँगे सजाने चाहिएँ। इस प्रकार रगशीर्ष समाप्त करके लकडी का काम करना चाहिए। लकडी का काम समाप्त करके भीतर का काम शुरू करना चाहिए। स्तम्भ, खूँटी, झरोखा और कोना कभी भी द्वार के सामने या द्वार की ओर ढलने वाले नही वनाने चाहिएँ।

बैठने की व्यवस्था—भरत के मतानुसार प्रेक्षागृह मे वैठने की व्यवस्था सोपानाकृति की होनी चाहिए। सोपान पृथ्वी से लगभग डेढ हाथ लम्वे होने चाहिएँ।

द्विभूमि की समस्या—नाट्यशास्त्र के मतानुसार नाट्य-मण्डप द्विभूमिक होना चाहिए। द्विभूमि से क्या तात्पर्य है यह स्पष्ट नही है। भिन्न-भिन्न विद्वानो के मत भी इसी सम्वन्ध मे पृथक्-पृथक् है। एक मत के अनुसार द्विभूमि शब्द का प्रयोग रगपीठ के ऊँचे और नीचे भाग के लिए किया गया है। दूसरे मत के अनुसार मत्तवारिणी के चारो ओर एक दूसरी दीवार होनी चाहिए जिस प्रकार कुछ मन्दिरो मे दो दीवारें होती हैं और वीच मे एक वृत्ताकार मार्ग होता है। इस मत वालो का कहना है कि इन्ही दो दीवारो के लिए द्विभूमि शब्द का प्रयोग किया गया है। अभिनवगुप्त का मत इन सवसे भिन्न है। उनके मतानुसार रगपीठ के उस स्थल से, जहाँ दर्शको की मचिकाएँ प्रारम्भ होती है, वाहर निकलने के द्वार तक दो भूमियाँ अर्थात् चवूतरियाँ वनानी चाहिएँ। पहली भूमि की ऊँचाई रगपीठ के वरावर होनी चाहिए जिस पर अभिजात कुल के सम्मानित नागरिक वैठ सकें और दूसरी चवूतरी उससे नीची होनी चाहिए जिस पर निम्न वर्ग के लोगो के वैठने का विधान हो। हमे अभिनवगुप्त का मत ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

नाट्य-धर्मी—नाट्य-धर्मी से हमारा तात्पर्य वेश-भूषा, सजावट, चित्रकारी आदि अन्य रगमचीय सामग्री से है। भरत के नाट्यशास्त्र मे इन सव पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। रगमच की सजावट आदि की भी चर्चा की गई है। ध्वनि विज्ञान की ओर भी दृष्टि रखी गई है। उसमे निर्वात नाट्य-मण्डप वनाने की सलाह दी गई है जिससे कि गाने-वजाने वालो के सगीत और स्वर की गम्भीरता वनी रहे। इसी प्रकार रगमच सम्वन्धी अन्य वातो पर भी प्रकाश डाला गया है। उन सवके अध्ययन के लिए स्वतन्त्र ग्रन्थ की आवश्यकता है। अतएव यहाँ पर हम विस्तार नहीं कर रहे हैं।

चतुरस्र नाट्य-गृह—चतुरस्र नाट्य-मण्डप चारो ओर से ३२ हाथ लम्वा होना चाहिए। विकृष्ट के सम्वन्व मे जो-जो वातें वतलाई गई हैं, उन सव वातो का पालन चतुरस्र के सम्वन्ध मे भी करना चाहिए। रगपीठ पर १० स्तम्भ होने चाहिएँ जो

कि मण्डप का भार सहन कर सकें। अभिनवगुप्त का कहना है कि समस्त क्षेत्र जो कि ३२×३२ का है, वह लम्बाई और चौडाई मे विभक्त किया जाना चाहिए। उसे ८ हिस्सो मे बाँटना चाहिए। इस प्रकार उसमे ६४ खाने हो जायेंगे। प्रत्येक ४×४ हाथ का होगा। मध्य मे चार खानो का रगपीठ बनाना चाहिए। उसके पीछे १२×३२ का क्षेत्र शेष रह जायगा। उसमे ४×३२ का रगशीर्ष बनाना चाहिए, जो ६ घन्नियो का हो। उसके पीछे ८×३२ का नेपथ्य-गृह बनाया जा सकता है। इनमे चार खम्भे तो रगपीठ के चार कोनो पर बनाने चाहिएँ। इसके बाद एक अग्निकोण से चार हाथ की दूरी पर बनाया जाना चाहिए, जो कि दक्षिण की ओर हो। दूसरा कोण चार-पाँच हाथ की दूरी पर बनाया जाना चाहिए। यह भी दक्षिण की ओर ही होगा। इसी तरह से उत्तर-पूर्व आदि मे भी बनाने चाहिएँ। यह सब मिलाकर १० होने चाहिएँ। इन खम्भो के ऊपर सीढी की आकृति वाले आसन प्रेक्षको के बैठने के लिए ईंट और लकड़ी से बनाने चाहिएँ। आसन इस प्रकार बनाने चाहिएँ कि वे एक हाथ पृथ्वी से ऊँचे रहें। पिछले आसन अगले आसनो से कुछ अधिक ऊँचे उठे होने चाहिएँ, जिससे रगपीठ भली भाँति दिखाई पडे। जिस प्रकार खम्भे बनाने का विधान बताया गया है, उस प्रकार उन-उन दिशाओ मे ६ और दृढ खम्भे लगाने चाहिएँ, जिससे नाट्य-मण्डप खडा रह सके। उसके ऊपर आठ और खम्भे लगा देने चाहिएँ और फिर आठ हाथ ऊँचा रगपीठ बनाया जाय। उसमे आवश्यक खम्भो की व्यवस्था रहनी चाहिए। खम्भो के अतिरिक्त ऐसी टाँडो का प्रयोग भी किया जाना चाहिए जिसमे पुतलियाँ खडी हो। पुनश्च प्रयोक्ताओ को नेपथ्य-गृह बनवाना चाहिए। नेपथ्य-गृह का एक द्वार रगपीठ मे होना चाहिए। यह रगपीठ आठ हाथ लम्बा होता है। पुनश्च मत्तवारिणी बनानी चाहिए। रगपीठ चौकोर समतल वेदिका के रूप मे बनी होती है। चारो ओर खम्भे होते हैं। सक्षेप मे नाट्यशास्त्र के अनुसार चतुरस्र नाट्य-मण्डप का यही रूप विधान है।

त्र्यस्र नाट्य-मण्डप—त्र्यस्र नाट्य-गृह का निर्माण त्रिकोण के रूप मे किया जाता है। इस त्रिकोण के बीच के कोने मे रगपीठ बनाया जाता है। इस कोण मे एक द्वार रगपीठ मे प्रवेश करने के लिए बनाना चाहिए और दूसरा रगपीठ के पीछे से निर्मित होना चाहिए। शेष सब विधान पूर्ववत् ही है।

हिन्दी रगमच

हिन्दी रगमच विविध राजनीतिक, साहित्यिक एव सास्कृतिक कारणो से अभी तक अपनी परिपक्वावस्था को नही पहुँच सका है। इस दिशा में हमे अभी बहुत प्रयत्न करना है।

हिन्दी रगमच के हमे दो रूप दिखाई पडते है। (१) लोक-नाट्य साहित्य को प्रस्तुत करने वाले रगमच और (२) साहित्यिक नाटको को प्रस्तुत करने वाले रगमच।

लोक-नाट्य-साहित्य को प्रस्तुत करने वाले रगमच—लोक-नाट्य साहित्य को

प्रस्तुत करने वाले रंगमच दो भागो मे विभाजित किए जा सकते हैं। उत्तरी भारत के लोक-नाट्य सम्वन्वी रगमच तथा दक्षिणी भारत के लोक-नाट्य सम्बन्धी रंगमच।

उत्तरी भारत के लोक-नाट्य सम्बन्धी रगमच—उत्तरी भारत के लोक-नाट्य सम्वन्वी रगमच हमे निम्नलिखित रूपो मे मिलते हैं—

(१) रामलीला का रगमच।
(२) यात्रा सम्वन्वी जन-नाटको का रगमच।
(३) रास-लीलाओ का रगमच।
(४) कठपुतलियो का रगमच।
(५) ललित महाराष्ट्र का रगमच।
(६) गुजरात का हवाई जन-नाट्य का रगमच।

रामलीला का रगमंच—रामलीला का अभिनय उत्तरी भारत के कोने-कोने मे होता है। रामलीला अभिनय को मैं लोक-नाट्य का ही एक रूप मानता हूँ। रामलीला अभिनय की कई प्रणालियाँ देखने मे आती है। कुछ स्थानो पर रामलीला अभिनय के लिए दो रगमच तैयार किए जाते है। एक मच पर राम और उनके पक्ष के लोगो का अभिनय प्रदर्शित किया जाता है और दूसरे रगमच पर रावण और उसके पक्ष के लोगो के क्रिया-कलाप दिखाए जाते हैं। दोनो पक्षो के अभिनय नाटकीय शैली पर प्रदर्शित किए जाते हैं। दोनो रगमचो की सजावट, दोनो पक्ष के लोगो की वेश-भूषा और रूप-रग भी भिन्न-भिन्न रखे जाते हैं। दोनो मचो के बीच के भाग मे युद्धादि के लिए स्थान छोड दिया जाता है। दर्शक लोग अधिकतर मचो के दोनो तरफ बैठते हैं। इस रगमच मे हमे कला का उतना विकसित रूप नही दिखाई देता जितना साहित्यिक नाटको के रगमच के लिए आवश्यक है। फिर भी खुले आकाश के रगमच का यह एक सुन्दर उदाहरण है। इस रगमच को हम इस प्रकार निर्दिष्ट कर सकते है।

राम पक्ष का रगमच

दर्शक | | दर्शक

रावण पक्ष का रगमच

यात्रा सम्वन्धी रगमंच—वगाल, विहार, उडीसा आदि प्रान्तो मे यात्राओ का अधिक प्रचार था। इन यात्राओ मे भक्त लोग, जिस देवता की यात्रा होती थी, उस

देवता के क्रिया-कलापो का भावपूर्ण अभिनय करते हुए देवता के रथ को नगर के चारो ओर घुमाते फिरते थे। चल-रगमच का यह एक अच्छा उदाहरण है। प्रचारार्थ इस प्रकार के रगमच को अच्छे प्रकार से विकसित किया जा सकता है। इन यात्राओ मे यद्यपि किसी विशेष रगमच का निर्माण नही किया जाता था किन्तु नाटक के सदृश एक निर्देशक अवश्य होता था। उस निर्देशक के निर्देशो के अनुकूल ही भक्त लोग अभिनय करते थे। यही इस नाट्य-रगमच की विशेषता है।

रास-लीलाएँ—मथुरा मे रास-लीलाओ का वहुत प्रचार है। रास-लीला भी जन-नाट्य का एक रूप है। उसमे राधा-कृष्ण तथा गोपिकाओ आदि की प्रणय-लीला का अभिनय हुआ करता है। इस नाट्य रूप का उदय आचार्य वल्लभ के समय मे हुआ था। तब से वह नित्य नये विकास को प्राप्त होता जा रहा है। अब सिनेमा आदि के अधिक प्रचार से रास-लीला रगमच को करा धक्का पहुँचा है। फिर भी रसिक भक्त लोग उमे जीवित बनाए रखने का निरन्तर प्रयास करते रहते हैं। रास-लीला का रगमच अपनी अलग विशेषताएँ रखता है। इसका अभिनय करने वाली वहुत सी मण्डलियाँ है जो रगमच की सामग्री को लिये स्थान-स्थान पर फिरा करती है और अभिनय-स्थल पर आवश्यकतानुरूप एक सादा सा रगमच तैयार कर लेती है। यह भी चल-रगमच का ही एक रूप है।

कठपुतलियो का रगमच—भारत मे कठपुतलियो के अभिनय का प्रचार बहुत प्राचीन काल से है। इनके अभिनय की चर्चा महाभारत तक मे मिलती है। गुप्त वनवास काल मे अर्जुन ने जव उत्तरा को पढाने का कार्य स्वीकार किया था तो उन्हें अपनी शिष्या के अनुरोध पर पुत्तलिका का अभिनय दिखाना पडा था। कथासरित्सागर मे भी एक स्थान पर पुत्तलिका अभिनय की चर्चा आई है। उसमे लिखा है—मायासुर की कन्या के पास वोलने, नाचने और उड़ने वाली पुत्तलिकाएँ थी जिनका समय-समय पर अभिनय हुआ करता था।

पुत्तलिका नाट्य रूप भारत मे आज भी पाया जाता है। पुत्तलिका के माध्यम से एक पूरा नाट्य अभिनीत करने की परम्परा है। विविध पुत्तलिकाएँ विविध पात्रो का अभिनय करती हैं और किसी घटना विशेष का चित्र प्रस्तुत करती है। आजकल जो पुत्तलिकाओ का अभिनय प्रचलित है, उसमे सबसे पहले अभिनय की सूचना देने वाली एक पुत्तलिका आती है जिसके गले मे ढोलक पडी रहती है। वह ढोलक वजाकर अभिनय की सूचना देती है। फिर रगमच पर आकर मेहतर झाड़ू लगाता है, और भिश्ती पानी छिडकता है। भिन्न-भिन्न पात्रो के स्थान निश्चित किये जाते है और अन्य नाट्यो की भाँति सम्पूर्ण घटनाओ के माध्यम से पुत्तलिकाओ का सूत्रधार प्रदर्शित करता है। पुत्तलिकाओ के अभिनय के लिए एक छोटा सा रगमच भी तैयार किया जाता है। उसकी अपनी सजावट होती है, उसका अपना अलग रूप होता है। पुत्तलिका रगमच वास्तविक रगमच का सक्षिप्त सस्करण है। इससे यह प्रकट होता है कि भारत मे अभिनय और रगमच के प्रति लोगो में कितनी श्रद्धा थी।

भवाई जन-नाटकों का रगमच—गुजरात मे भवाई जन-नाटको का रूप

प्रचलित है। इन भवाई जन-नाटको की प्रवृत्ति धार्मिक अधिक है और लौकिक कम। इनमे सबसे पहले गणपति का आगमन होता है। बाद मे कथा प्रस्तुत की जाती है। इसका भी अपना एक प्रकार का रगमच है। इसे धार्मिक रगमच काउदा हरण माना जा सकता है।

उपर्युक्त जन-नाट्य रगमचो के अतिरिक्त उत्तर भारत मे और भी विविध प्रकार के जन-नाट्य मण्डप देखे जाते हैं, जो स्थान-भेद से भिन्न-भिन्न रूपो मे प्रचलित है। यहाँ पर हमारा लक्ष्य सब का लेखा देना नही है। हम केवल इतना ही कहना चाहते है कि भारत के लोक-नाट्यो का रगमच विविध रूपो मे विविध प्रकार से विकसित हुआ है। उनकी एक लम्बी-चौडी परम्परा प्राप्त है।

दक्षिण भारत के जन-नाट्य रगमच—जिस प्रकार उत्तर भारत मे अनेक प्रकार के जन-नाट्य रगमच पाये जाते हैं, उसी प्रकार दक्षिणी भारत मे भी विविध प्रकार के जन-नाट्य रगमच पाये जाते हैं। इनका उल्लेख 'दि थ्येटर आफ दी हिन्दूज' नामक ग्रन्थ मे किया गया है। अनुसन्धित्सु इस ग्रन्थ को देख सकते हैं। यहाँ पर हम उन समस्त नाट्य रगमचों का उल्लेख करना आवश्यक नही समझते।

उपर्युक्त विवरणो के आधार पर स्पष्ट प्रकट है कि सम्पूर्ण भारत मे जन-नाट्य रगमचो का किसी समय अच्छा प्रचार था।

जन-नाट्य रगमचो के अतिरिक्त भारत मे एक पूर्ण और सर्वा ग साहित्यिक रगमच भी था जिसका विस्तृत निर्देश भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र मे किया है। इस रगमच पर सस्कृत नाटकों का अभिनय किया जाता था। सस्कृत के प्रारम्भिक नाटक अभिनेय अधिक थे श्रव्य कम। किन्तु धीरे-धीरे अभिनेयता की प्रवृत्ति कम होने लगी और नाटक महाकाव्य का रूप धारण करने लगे। 'उत्तर रामचरित' मे काव्य का आनन्द अधिक है, नाटक का कम। सस्कृत के इन नाटको का प्रभाव हिन्दी पर भी पड़ा। यही कारण है कि मध्य युग मे हिन्दी मे जो मौलिक या अनुवादित नाटक लिखे गये वे नाटक न होकर काव्य कहलाने के ही अधिकारी हैं। नाटक तो वे केवल नाम मात्र के हैं। ऐसे नाटको मे 'रामायण महानाटक', 'हनुमन्नाटक' आदि विशेष उल्लेखनीय है।

हिन्दी रगमच के विकास मे राजनीतिक परिस्थितियो ने भी बाधा उत्पन्न की। मध्य युग मे यवनो का आधिपत्य बढ गया था। यवन लोग नाटक आदि के विरोधी थे। अतएव उनके आश्रय में रहने वाले हिन्दू लोगो मे भी नाटक के प्रति अरुचि पैदा हो गई। इसके अतिरिक्त राजनीतिक परिस्थितियाँ कुछ ऐसी थीं जिसमें किसी भी प्रकार की प्रबन्ध रचना के लिए अवकाश न था। नाटक भी एक प्रबन्ध रूप है। जब काव्य-क्षेत्र मे ही प्रबन्ध नहीं रचे गये तो फिर नाटको की रचना का प्रश्न ही क्या उठता। जब नाटक ही नही लिखे गये तो फिर रगमच के विकास की बात भी कैसे उठ सकती थी। यही कारण है कि मध्य युग मे हिन्दी का अपना कोई रंगमच नही था।

आधुनिक काल मे हिन्दी रगमंच का उदय और विकास

हिन्दी के साहित्यिक रगमच की स्थापना करने का श्रेय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी को है। स्थापना के पश्चात् लडखडाता हुआ वह अपने विकास के मार्ग की ओर अग्रसर होने लगा। और आज भी अपने विकास की नई दिशाएँ खोजने मे आकुल है। आधुनिक काल के हिन्दी रगमच को हम ऐतिहासिक दृष्टि से निम्नलिखित कालो मे बाँट सकते हैं—

(१) भारतेन्दुयुगीन रगमच।
(२) द्विवेदीकालीन रगमच।
(३) प्रसाद-युग मे रगमच की अवस्था।
(४) रामकुमार वर्मा और रगमच।
(५) वर्त्तमानकालीन प्रयत्न।

भारतेन्दुयुगीन रगमच—हम अभी ऊपर कह चुके है कि हिन्दी के साहित्यिक रगमच की स्थापना करने का श्रेय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी को है। किन्तु उन्होने यह कार्य किन परिस्थितियो मे किया था इसका स्पष्टीकरण आवश्यक है। भारतेन्दु काल के पूर्व हमे हिन्दी मे दो प्रकार के रगमच मिलते हैं—(१) जन-नाट्य रगमच, (२) पारसी रगमच। जन-नाट्य रगमचो की चर्चा हम ऊपर कर आए हैं। यहाँ पर हम पारसी रगमच के सम्बन्ध मे दो-चार शब्द कह देना चाहते है।

पारसी रगमच—भारत मे अग्रेजो के आगमन से सभी दिशाओ मे एक नई जागृति दिखाई दी। अग्रेजी साहित्य और विचारधारा मे हिन्दी साहित्य और विचारधारा को सर्वतोभावेन प्रभावित किया। इगलैंड मे नाटको का बडा सम्मान था और उनके यहाँ एक परिपक्व रगमच भी था। अग्रेजी रगमच से आकर्षित होकर कुछ पारसियो ने भारत मे नाट्य-मण्डलियो की स्थापना की। ऐसी नाट्य-मण्डलियो मे 'अलफ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी', 'न्यू अलफ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी', 'कारन्थियन विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी,' तथा 'एलेक्जेण्ड्रिया थियेट्रिकल कम्पनी' विशेष प्रसिद्ध थी। इनकी स्थापना १८७० से लेकर १६२० के बीच मे हुई थी। इन थियेट्रिकल कम्पनियो का लक्ष्य व्यावसायिक अधिक था। यह लोग निम्न रुचि की परितुष्टि करने वाले सामान्य कोटि के नाटको का अभिनय किया करते थे। इनके द्वारा अभिनीत किये जाने वाले प्रसिद्ध नाटको के नाम 'खूनी खजर', 'खूबसूरत औरत', 'पजाब मेल' आदि हैं। इन पारसी कम्पनियो के अभिनय या तो केवल क्षणिक रजन मात्र करते थे या मनुष्य की निम्न वृत्तियो को उत्तेजित भर करके रह जाते थे। इनके हाथो पडकर हमारे बहुत से उच्चकोटि के नाटको की भी दुर्दशा होने लगी थी। कहते है कि भारतेन्दुजी एक बार डा० थीबो को लेकर शकुन्तला का अभिनय देखने के लिए एक थियेट्रिकल कम्पनी मे गए। वहाँ पर भारतीय नाटको की महान् नायिका शकुन्तला को 'पतली कमर बल खाय' जैसे भौंडे गाने और उसी के अनुकूल अभिनय करते देखकर, उनकी साहित्यिक रुचि को इतना गहरा धक्का पहुँचा कि वे हाल छोडकर उठ आए। उस दिन उन्होने एक परिमार्जित रुचि के अनुकूल नाट्य-मण्डली का निर्माण किया। प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनाथ भट्ट

आदि उनके बहुत से सहयोगियो ने उनके इस सद्प्रयास में योगदान दिया। इस प्रकार पहली साहित्यिक नाट्य-मण्डली की स्थापना हुई और उसने अपनी परिष्कृत रुचि के अनुरूप एक रगमच का निर्माण किया जिस पर भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियो के नाटको का सफल अभिनय हुआ। इस साहित्यिक नाट्य-मण्डली की देखा-देखी बनारस मे एक दूसरी नाट्य-मण्डली स्थापित की गई किन्तु भारतेन्दु नाट्य-मण्डली के आगे वह न चल सकी। भारतेन्दुजी ने जिस रगमच की स्थापना की थी, उसका स्वरूप बहुत कुछ बगला रगमच से प्रभावित था।

भारत मे सबसे पहले पाश्चात्य रगमच बगाल मे स्थापित हुआ था। इस रगमच के सस्थापक हेरोसिन लेबे डेफ नामक एक रूसी कलाकार थे। इस रगमच पर पहला बगला नाटक अभिनय हुआ था। यह घटना १७८५ की है। यह रगमच बहुत कुछ पाश्चात्य रुचि से पभावित था। सामान्य बगाली जनता इसको अपना न सकी। फलस्वरूप यह थोडे दिन बाद ही समाप्त हो गया। किन्तु इस रगमच ने बगालियो को भारतीय ढग के रगमच स्थापित करने की प्रबल प्रेरणा प्रदान की, जिसके फलस्वरूप बगाल में समय-समय पर बहुत से रगमचो की स्थापना होती रही जिनके अभिनय के योग्य नाटक भी लिखे जाते रहे। अभिनेय नाटको की परम्परा को जन्म देने का श्रेय बगाल को ही है।

भारतेन्दु को बगला का यह विकसित रगमच विरासत मे मिला था। उन्होने इससे प्रेरणा प्राप्त करके ही अपने भारतेन्दु रगमच की स्थापना की थी। भारतेन्दु रगमच ने हिन्दी समाज मे एक नई चेतना पैदा की जिसके फलस्वरूप कई बडे नगरो मे साहित्यिक-रुचि के हिन्दी रगमचो का निर्माण किया गया। ऐसे नगरो मे बलिया, प्रयाग, कानपुर, मेरठ आदि विशेप उल्लेखनीय है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु के प्रयास से हिन्दी मे पहला साहित्यिक रगमच स्थापित हुआ था। भारतेन्दु जी के बाद भी उनके सहयोगी भारतेन्दु रगमच को जीवित रखने का प्रयास करते रहे। प्रयाग के कांग्रेस अधिवेशन मे बद्रीनारायण चौधरी ने 'भारत-सौभाग्य' नामक नाटक का अभिनय किया था। इसी प्रकार राधाकृष्णदासजी का 'प्रताप' नामक नाटक भी इसी अवसर पर अभिनीत हुआ था। किन्तु भारतेन्दु रगमच आगे अधिक विकास को प्राप्त न हो सका बल्कि द्विवेदीजी के प्रभाव से वह शिथिल ही पड़ा चला।

द्विवेदी-युग—द्विवेदी-युग मे नाटक क्षेत्र मे निष्क्रियता फैलने लगी। भारतेन्दु के प्रयास से जिस नाटकीय रगमच की स्थापना हुई थी, वह शिथिल पड़ गया। इसका परिणाम यह हुआ कि पारसी रगमच को पुनर्विकास का अच्छा अवसर मिल गया। भारतेन्दुजी के प्रभाव से पारसी रगमच की शृगारी अभिरुचि का परिष्कार अवश्य हुआ किन्तु उसके कला रूप मे प्रौढता नही आई। इस समय कुछ नये नाटककार हुए जिन्होंने पारसी रगमच के लिए पहले की अपेक्षा अच्छे नाटको को लिखने का प्रयास किया। ऐसे नाट्य लेखको मे राधेश्याम कथावाचक, आग़ा हश्र कश्मीरी, नारायण प्रसाद बेताब विशेप प्रसिद्ध हैं। इनके नाटको मे थोड़ी-बहुत साहित्यिकता भी पाई जाती है।

प्रसाद-युग—प्रसाद युग मे आकर जनता की साहित्यिक अभिरुचि मे निश्चय ही बडा परिष्कार हुआ, जिसके फलस्वरूप पारसी रगमच निष्प्राण हो चला। सिनेमा के उदय और प्रचार ने पारसी रगमच को समाप्त ही कर डाला। इतना होते हुए भी इस युग मे भी साहित्यिक रगमच के पुनर्जीवन के चिह्न नही दिखाई दिए। इसका कारण स्वय प्रसादजी थे। प्रसादजी नाटको के लिए अभिनेयता को आवश्यक नही मानते थे। उन्होने लिखा भी है—"रगमच के सम्बन्ध मे यह भारी भ्रम है कि नाटक रगमच के लिए लिखे जावें।" काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध—प्रसादजी के इस दृष्टिकोण ने हिन्दी में पाठ्य-नाटको की परम्परा प्रवर्त्तित की। इस परम्परा के प्रमुख प्रवर्तक वे स्वय थे और उससे पोषक सद्गुरुशरण अवस्थी हुए। उन्होने प्रसादजी से भी आगे वढकर घोषणा की—"उसकी (नाटक की) सार्थकता साहित्य-देवता की स्थापना पर अधिक है, अभिनय अनुकूलता पर उतनी नही है। यदि किसी एकाकी नाटक में जीवन की ऊँची गतिविधि के साश-साथ कला का पूर्ण स्वरूप और मच्चे साहित्य की सारी आकाक्षाएँ विद्यमान है, तो कोई समालोचक इसलिए उसका अनादर न करेगा कि वह अनभिनेय नही। और नाटककार रगमच की एकागी विशेषताओ से अनभिज्ञ है। (मुद्रिका की भूमिका, पृष्ठ १३) इस प्रकार की घोषणाओ से छोटे-छोटे नाटककार प्रभावित हुए और हिन्दी मे अनभिनेय नाटको का ढेर लगने लगा। इसका फल यह हुआ कि रगमच का महत्त्व पूर्णतया विस्मृत हो गया। मेरी समझ मे जो लोग नाटक को अनभिनेय मानते है, वे उसके स्वरूप से परिचित नही है। वास्तव मे उसी काव्य को नाटक कहने लगते हैं जो अभिनेय होता है। जो कुछ अभिनेय है वही नाटक है, और जो अभिनेय नही है वह नाटक की कोटि मे कदापि नही आ सकता। अपने जीवन के उत्तर काल मे स्वय प्रसादजी ने इस सत्य का अनुभव किया था। और वे नाटको को अभिनेय वनाने का प्रच्छन्न प्रयत्न करने लगे थे। उनका अन्तिम नाटक 'ध्रुव-स्वामिनि' अपने पूर्ववर्ती नाटको की अपेक्षा कही अधिक अभिनेय है। इस नाटक को दृष्टि मे रखकर ही डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा को इस प्रकार का निर्णय देने का साहस हुआ था—'ध्रुव-स्वामिनि' जैसे पूर्ण अभिनेय रूपक रचने की क्षमता जिसमे विद्यमान थी, उसके यथार्थ नाटककार होने मे किसी का सशय करना निरास्पद है। "(प्रसाद के नाटको का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० २९६) इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रसाद के आलोचक भी उन्हे नाटककार कहने का साहस उनके अभिनेय नाटकों के कारण ही कर सके थे। वास्तव मे वात है भी यही। जो कुछ अभिनेय है, वही नाटक या रूपक है। नाटक और रूपक की जितनी व्याख्याएँ की गई हैं, उन सवमे भी अभिनेयता को ही उसका प्राण ध्वनित किया गया है। (इनकी व्याख्याओ के लिए देखिए डॉ० गोपीनाथ तिवारी लिखित 'रगमच और हिन्दी नाटक' साहित्य सन्देश, भाग १६, अक २, पृष्ठ ५८, तथा डॉ० त्रिगुणायत लिखित 'नाटक तथा उसके प्रभेद'—सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ) भारतीय विद्वान् ही नही पाश्चात्य विद्वान् भी अभिनेयता को ड्रामा का सवसे आवश्यक अग मानते थे। ऐथले ड्यूक्स ने अपनी 'ड्रामा' नामक ग्रन्थ मे स्पष्ट लिखा है—"अर्थात् नाटक अभिनेयता के वल पर ही

जीवित रहते हैं। अत अभिनेयता ही नाटको का प्राणभूत तत्त्व होता है। आज के कुछ हिन्दी नाटककार इस सत्य का अनुभव करने लगे हैं। ऐसे नाटककारो मे डॉ० रामकुमार वर्मा का नाम अग्रगण्य है।

डॉ० रामकुमार वर्मा और रंगमच—डॉ० रामकुमार वर्मा वर्त्तमान युग के पहले नाटककार हैं, जिन्होने प्रसाद और अवस्थी के इस दृष्टिकोण पर कि नाटक अनभिनेय भी हो सकते हैं, कुठाराघात कर नाटक और रगमच मे अन्योन्याश्रय भाव सम्बन्ध स्थापित किया है। उन्होने 'हिन्दी नाटक के सिद्धान्त और नाटक' शीर्षक रचना में पृष्ठ १३६ पर स्पष्ट रूप से लिखा है—"मैं नाटको का महत्त्व उपन्यास की भाँति पढ लेने तक नही वरन् सार्वजनिक रूप से उसके अभिनय मे मानता हूँ।" उनके इस दृष्टिकोण का मूर्तिमान रूप उनके एकाकी हैं। उनकी रचना सव प्रकार से रगमच को दृष्टि मे रखकर की गई है। उनके अभिनेय एकाकियो मे रगमच के सफल अभिनेयत्त्व का सदैव ध्यान रखा गया है। "सवादो की रूपरेखा एकमात्र मनोविज्ञान द्वारा खीची गई है। एक ही दृश्य में घटनाओ का उत्थान और पतन, कौतूहलजनक आवेगो का चरम सीमा मे विस्फोट, पात्रो के मनोविकारो का क्रमिक परिवर्त्तन और उसकी नियताप्ति 'वादल की मृत्यु' को छोड़कर डॉ० रामकुमार वर्मा के सभी नाटको मे मिलते है" —हिन्दी एकाकी उद्भव और विकास, पृष्ठ ३५२

डॉ० वर्मा सदृश अश्कजी नाटको का रगमच से घनिष्ठ सम्वन्ध मानते है। 'स्वर्ग की झलक' की भूमिका मे "मेरा अपना विचार तथा अनुभव है कि रगमच को स्फूर्ति प्रदान करने का सवसे अच्छा साधन यह है कि ऐसे नाटक लिखे जायँ जो रगमच पर सुगमता से खेले जा सकें।" —हिन्दी एकाकी उद्भव और विकास से उद्धृत

अश्कजी ने अपने नाटको को अधिक से अधिक अभिनेय वनाने की चेष्टा की है। 'इनके एकाकियो मे दृश्य-विधान, स्टेज इफेक्ट तथा पात्रो की वेश-भूषा, रूप-वय, स्वभाव, कार्य-व्यापार आदि के पूरे-पूरे विवरण दिए गए हैं। रंग-सूचनाएँ विस्तृत एव व्यापक है, जिनमे निर्देशक को सुविधाएँ प्राप्त हो जाती है। सवादो, कार्य-व्यापार और वस्तुओ को नाटक मे गति देने के लिए प्रतीकात्मक या सकेतात्मक ढग से प्रयोग किया गया है, जिनसे नाटककार मे इच्छानुसार नाटकीय प्रभाव पडता है। रगमचीय सफलता के कारण ही गत तीन वर्षों मे अश्क ने राजस्थान, मध्य भारत, मध्य प्रदेश, मद्रास, विहार और पजाव के विभिन्न नगरो मे अपने एकाकियो का अकेले दम प्रदर्शन करके न केवल सहस्रो का मनोरजन किया वलिक अमेचर रगमच को वड़ा वना दिया। निर्देशक, अभिनेताओं और लेखक के सहयोग मे अश्क को पूरा विश्वास है।" —'नाटक-कार अश्क, पृष्ठ ५३' से एकाकी नाटक में उद्धृत

रगमच और नाटक में अविच्छिन्न सम्वन्ध मानने वाले नाटककारो मे सेठ गोविन्ददास का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। वे नाटको मे रगमंचीयता और साहित्यिकता दोनो के पक्षपाती हैं। उन्होंने लिखा है—"जो नाटक पढने योग्य होते हुए भी रग-मच पर खेले जा सकें और साथ ही साहित्यिक दृष्टि से भी उच्चकोटि के हो वे अच्छे हैं।" —'नाट्य-कला मीमासा' पृष्ठ १४ से 'हिन्दी एकाकी . उद्भव और विकास मे उद्धृत, पृष्ठ ३५८

सेठजी ने रगमच सम्बन्धी जिन बातो पर अधिक ध्यान दिया है वह है—दृश्यो की व्यवस्था, पात्रो की वेश-भूषा, पात्रो के प्रवेश और प्रस्थान आदि। उन्होने पर्दों पर उपक्रम और उपसहार लिखने की परिपाटी भी चलाई है। उनका कहना है कि दर्शक को नाटक का आरम्भ और अन्त सूचित करने के लिए पर्दों प उपक्रम और उपसहार लिख देने चाहिए। उन्होने एक सुझाव और दिया है उनकी समझ मे सिनेमा और नाटको के सम्मिश्रण से अभिनय प्रस्तुत करना चाहिए अभी उनके इस सुझाव का प्रयोग किया जा सका है।

रगमच को दृष्टि मे रखकर चलने वाले नाटककारो मे लक्ष्मीनारायण मिश्र का नाम भी उल्लेखनीय है। अपने नाटको को अभिनेय बनाने के विचार से उन्हो नाटक-रचना मे कुछ परिवर्त्तन किए हैं। "न तो अनेक पात्रो की योजना है, कविता-पाठ, अनावश्यक पट-परिवर्तन, गजल शेर वाली पद्धति सगीत व झूठ भावुकता का अनुचित सम्मिश्रण ही है। उनके नाटको मे विस्तार भी इतना है कि विभिन्न देश-काल, व्यवस्था अथवा घटनाओ की क्लिष्टता हो। इव्सन की भाँ मिश्रजी ने हिन्दी रगमच को सरल और आडम्बर-विहीन बनाया है।"

—हिन्दी एकाकी, पृष्ठ ३५

नाटक और रगमच का घनिष्ठ सम्बन्ध मानने वाले कलाकारों उदयशकर भट्ट का नाम भी उल्लेखनीय है। उनके सम्बन्ध मे रामचरण महेन्द्र लिखा है—"उनका विश्वास है कि रूस की तरह हमारे देश मे भी समाज कं रूढियो, दुराग्रहो, मूढताओ को दूर करने का एक मात्र साधन रगमच ही होगा।"

—भट्ट लिखित 'समस्या का अन्त' की भूमिका से हिन्दी एकाकी में उल्लिखित, पृष्ठ ३५

इनके नाटको की अभिनेयता की सफलता का उल्लेख करते हुए उसी लेख ने लिखा है—"उनके एकाकियो मे दृश्य परिवर्त्तन बार-बार नही होता। कम से क दृश्यो का समावेश है। कम से कम पर्दे उठाए या गिराए जाते हैं। सकलन त्रय का भी निर्वाह ऐसी अकृत्रिम, अक्षुण्णता से हुआ है कि इनमे से किसी एका के सफल निर्वाह मे विशेष कठिनाई नही हो सकती।" —वही, पृष्ठ ३५

नाटक को अधिक से अधिक अभिनेय बनाने वाले नाटककारो मे हरिकृष्ण प्रेमी का भी स्थान श्लाघनीय है। इनके कई नाटक लाहौर मे अभिनीत हुए हैं अन्य अभिनेय नाटक लिखने वाले कलाकारो मे भगवतीचरण वर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी सत्येन्द्र शरत, डॉ० सुधीन्द्र आदि के नाम भी लिये जा सकते हैं। इन्होने अधिकत एकाकी ही लिखे हैं, किन्तु उन्होने सदैव रगमच को ध्यान मे रखा है।

हिन्दी रगमच के विकास के वर्त्तमानकालीन प्रयत्न

वर्त्तमान काल मे उपर्युक्त साहित्यिक रगमच के अतिरिक्त और भी द प्रकार के रगमचो को विकसित करने का प्रयास चल रहा है। इस प्रयास के प्रेर श्री जगदीशचन्द्र माथुर हैं। उन्होने कोणार्क की भूमिका मे तीन प्रकार के रगमच के अग्रोन्मुखी विकास का आग्रह किया है। उन्होने लिखा है—"मेरे विचार से (१ यंवादी अमेचर रगमच, (२) प्राचीन नाट्य-परम्परा से प्रेरित किन्तु आधुनि

व्यावसायिक साधनो से सम्पन्न नागरिक रगमच, और (३) परिमार्जित और सशोधित रूप से देहाती रंगमच। इन्ही तीन शैलियो मे भावी हिन्दी रगमच की रूपरेखा सन्निहित है।" मेरी अपनी धारणा इनसे भिन्न है। मैं समझता हूँ कि रगमच के साग और कलापूर्ण विकास के लिए आज के युग मे राजकीय सहयोग की आवश्यकता है। राजकीय सहयोग से नगर-नगर और गाँव-गाँव मे सिनेमाओ की भाँति प्रेक्षा-गृहो का निर्माण होना चाहिए और राजकीय विभाग के निपुण कलाकारो के द्वारा अभिनय की कला सिखाई जानी चाहिए। इसके लिए यदि स्कूलो मे अभिनय कला-नामक एक स्वतन्त्र विषय निर्धारित कर दिया जाय तो और भी अच्छा है। इससे गाँव-गाँव मे सुदीक्षित अभिनेता मिलने लगेगे। प्रेक्षागृह, उचित निर्देशक तथा अभिनेता लोग सरलता से गाँव-गाँव मे मिलने लगेंगे तो रगमच का जब तक उपयोग होगा तभी सामान्य जनता की रुचि रगमच के प्रति आकृष्ट होगी। इस प्रकार के रगमचो के माध्यम से सरकार प्रचार-कार्य भी अच्छी प्रकार कर सकती है। सूचना विभाग द्वारा इनका व्यय वहन किया जा सकता है। सरकारी रगमचो को तीन श्रेणियो मे विकसित करना चाहिए। (१) लोक नाट्य के रगमचो के रूप मे, (२) उपदेशार्थ निर्मित रगमचो के रूप मे, (३) साहित्यिक रगमच के रूप मे। अभिनेताओ के भी तीन वर्ग कर दिए जाने चाहिए। राजकीय प्रेरणा और प्रयास से जब रगमच का यान्त्रिक रूप विकसित हो जायगा तो फिर समाज श्रेष्ठ कलाकार उसका समुचित विकास कर लेंगे।

पृथ्वी थियेटर्स—आजकल हिन्दी रगमच के विकास मे पृथ्वी थियेटर्स बहुत योग दे रहा है। इसके सयोजक और नियामक लब्ध प्रतिष्ठ अभिनेता पृथ्वीराज कपूर हैं। आप नगर-नगर मे घूम-घूम कर अपनी अभिनय-कला का प्रदर्शन करते है। उनके प्रयत्न से रगमच का स्वरूप स्पष्ट होता जाता है।

साहित्यकार ससद् द्वारा आयोजित ताकुला साहित्य-शिविर मे प्रस्तावित रगवाणी—महादेवी वर्मा की प्रेरणा से साहित्य ससद् प्रयाग ने १९५५ में एक 'साहित्य शिविर' की व्यवस्था की थी। यह शिविर नैनीताल के पास ताकुला नामक स्थान पर २० मई से पहली जुलाई तक रहा था। इस शिविर मे हिन्दी रगमच के विकास की एक योजना भी बनाई गई थी। वह योजना रगवाणी के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसकी अध्यक्षता मराठी रगमच के महर्षि मामा वरेरकर ने स्वीकार की थी। सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा, श्री दिनकर, श्री वृन्दावनलाल वर्मा आदि इसके उन्नायक सदस्य बने। इस अवसर पर कलाकारो ने हिन्दी रगमच के भावी रूप के सम्बन्ध मे घोषणा की थी—"राष्ट्रीय रगमच के विषय मे हम साहित्यकारो की स्पष्ट धारणा है कि वह किसी भी व्यक्ति, किसी भी शासन-सत्ता, किसी भी राज-नीतिक दल या किसी भी व्यापारी की महत्वाकाक्षा मात्र या धनोपार्जन मात्र का साधन न होकर राष्ट्र की समस्त विकासोन्मुख सास्कृतिक परम्पराओ को समन्वित करता हुआ उच्चतम साहित्यिक सवेदनाओ को साक्षर तथा निरक्षर जनता तक पहुँचाकर उदार मानवीय स्तर पर उनके कल्याण एव विकास मे सहायक होता है।"

इसमे कोई सन्देह नही कि इस शिविर में जो योजना बनाई गई थी वह

वहुत अच्छी थी, किन्तु बिना पैसे के कोई योजना साकार रूप में परिणत नही हो सकती। यही कारण है कि आज तक वह कार्यरूप मे परिणत न हो सकी।

नाट्य ऐकेडेमी—हमे यह कहने मे सन्तोष है कि सरकार ने यह अनुभव किया है कि उसके सहयोग के बिना हिन्दी रगमच का विकास नही हो सकता। अत उसने दिल्ली मे 'सगीत नाट्य ऐकेडेमी' की स्थापना की है। उसका अपना रगमच है। सुयोग्य कलाकार उसके विकास और उन्नयन के लिए रखे गये हैं। समय-समय पर उसमे सगीत और नाट्य आयोजित किए जाते है। महत्वपूर्ण कार्य करने वाले कलाकारो को सरकार की ओर से पुरस्कार और सम्मान भी प्रदान किए जाते है। इस प्रकार के राजकीय प्रयत्न से हमारे रगमच के विकास की अच्छी आशा बँध रही है। अच्छा होता कि सरकार कम से कम प्रत्येक जिले मे इस प्रकार की ऐकेडेमीज़ खोल देती। जो भी हो, हिन्दी के रगमच का भविष्य स्वर्णिम है।

शेक्सपीरियन रगमच की हिन्दी अवतारणा का प्रयास—हरिवशराय बच्चन के प्रयास से हिन्दी मे शेक्सपीरियन रगमच का हिन्दी सस्करण तैयार किया जा रहा है। उन्होने हाल मे ही मैकवेथ का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत भी किया। उसमे उन्हे अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। सरकार ने १५ हजार रुपए की सहायता प्रदान कर उसको उन्नत करने का प्रयास किया है।

हिन्दी नाटको का सक्षिप्त विकास-क्रम

पृष्ठभूमि—हिन्दी नाटको की पृष्ठभूमि के प्रमुख स्तम्भ दो है—

(१) सस्कृत नाटक।

(२) लोक नाटक।

सस्कृत नाटक—सस्कृत मे नाटको की अविच्छिन्न परम्परा भास और कालिदास के समय से मिलती है। उससे पूर्व के नाटक आज उपलब्ध नही हैं। फिर भी उनके नामोल्लेख आदि के सम्बन्ध मे थोड़ी सी चर्चा कर देना आवश्यक समझता हूँ।

महाभारत—नाटको के नामो का स्पष्ट उल्लेख हमे सर्वप्रथम महाभारत में मिलता है। उसमे निम्नलिखित दो नाटको की चर्चा की गई है—

(१) रामायण नाटक, और

(२) कौवेररम्भाभिसार नाटक।

इन दोनो नाटको का विवरण महाभारत के हरवश पर्व, अध्याय ९१ से ९७ तक मे मिलता है।

पाणिनि—पाणिनि मे हमे 'शिलालिन' और 'कृशाश्व' नामक नाट्याचार्यो की चर्चा मिलती है। इस आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि उसके समय तक नाटक-साहित्य का इतना विकास हो गया था कि उनके शास्त्र ग्रन्थ वन गए थे। किन्तु कीथ महोदय इस मत के विरोध मे हैं। उनकी धारणा है कि पाणिनि के समय तक नाटको का विकास नही हो पाया था। उनकी धारणा है कि नट-

सूत्रकारों का सम्बन्ध 'पुत्तलिका नृत्यो' से था। किन्तु यह मत पक्षपातपूर्ण प्रतीत होता है।

अर्थशास्त्र—कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे भी हमे 'कुशीलवो' की चर्चा मिलती है। उनसे यह भी पता चलता है कि नागरिको को प्रेक्षणक (नाटक) भी दिखाए जाते थे।

पतञ्जलि—पतञ्जलि के महाभाष्य मे भी हमे 'कस-वध' और 'वलि-बन्धन' नामक दो नाटको की चर्चा मिलती है।

अश्वघोष—सस्कृत के सर्वप्रथम उपलब्ध नाटक 'शारि पुत्र प्रकरण' 'अन्यापदेशी रूपक' तथा 'गणिका रूपक' हैं। ये तीनो ही नाटक खण्डित अवस्था मे मिले है।

भास—अश्वघोष के बाद सस्कृत के प्रसिद्धतम नाटककार भास आते हैं। भास के आजकल तेरह नाटक उपलब्ध हैं। उनके नाम क्रमश —(१) प्रतिमा, (२) अभिषेक, (३) पञ्चरात्र, (४) मध्यम व्यायोग, (५) दूतवाक्य, (६) दूत घटोत्कच, (७) कर्ण भार, (८) उरुभग, (६) बाल चरित, (१०) स्वप्नवासवदत्तम्, (११) *प्रतिज्ञा योगधरायण,* (१२) अविमारक तथा (१३) दरिद्र चारुदत्त।

इनमें से प्रथम दो की कथावस्तु रामायण से, अन्य सात की महाभारत से तथा शेष ५ की लोक-कथाओ आदि से ली गई है। इस प्रकार इनके नाम पर एक विस्तृत नाटक साहित्य उपलब्ध है। इनकी शैली और वैधानिकता परवर्ती नाटककारों से थोड़ी भिन्न है।

कालिदास—सस्कृत साहित्य के श्रेष्ठतम नाटककार कालिदास की लिखी हुई तीन रचनाएँ उपलब्ध है, मालविकाग्निमित्र , विक्रमोर्वशीयम, अभिज्ञान शाकुन्तल। अभिज्ञान शाकुन्तल कवि की अन्तिम कृति है। प्रथम दो कृतियो के सम्बन्ध मे विवाद है। कुछ लोग पहले को ही पहली रचना मानते हैं, और कुछ दूसरी को पहली रचना मानते है।

शूद्रक—कालिदास के बाद सस्कृत नाटककारो मे शूद्रक का नाम लिया जाता है। इनका 'मच्छकटिक' सस्कृत साहित्य मे अपने ढग का अकेला नाटक है। यह सामाजिक कोटि का प्रकरण है, जिसकी समाप्ति दस अको मे हुई है। कला और वर्ण्य-विषय की दृष्टि से यह नाटक अग्रेजी नाटको के अधिक समीप है, भारतीय नाटकों के कम।

हर्ष—ऊपर जिन नाटककारो की चर्चा की गई है वे अधिकतर स्वतन्त्र वृत्ति के थे। उनमे हमे भरत के अन्धानुगमन की प्रवृत्ति परिलक्षित नही होती। भरत के नाट्य-सिद्धान्तो के अनुरूप नाटक रचना करने वाले मुखिया महाराज हर्ष है। उनके नाम से तीन नाटक उपलब्ध हैं—प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द। प्रथम दो रूपक भेदो की दृष्टि से नाटिका हैं और तीसरा नाटक।

भट्टनायक—भरत के नाट्य-सिद्धान्तो को सामने रखकर लिखे गए नाटको में भट्ट नारायण का 'वेणी' विशेष उल्लेखनीय है। इस नाटक की कथावस्तु महाभारत से ली गई है। यह ६ अको का नाटक है। इनके सम्बन्ध मे डॉ० डे

महोदय ने कहा है, "यह कहा जा सकता है कि यद्यपि भट्ट नारायण की यह कृति निम्न कोटि का नाटक है, तथापि उसके नाटक मे सुन्दर कविता विद्यमान है, किन्तु कविता मे भी नाटक की ही तरह भट्ट नारायण की सशक्त कृति को विकृत बनाने वाला तत्त्व यह है कि उसकी शैली अत्यधिक कृत्रिम तथा अतुकांत है, और बुरी तरह अलकृत होना उत्तम काव्य या नाटक मे मेल नही खाता।"

विशाखदत्त—'मुद्राराक्षस' के रचयिता मे नियमो के अन्धानुसरण की प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया दिखाई दी। इस नाटक मे वैधानिक दृष्टि से हमे एक सुन्दर मौलिकता और विशिष्टता के दर्शन होते हैं।

भवभूति—भवभूति सस्कृत के एक महान् नाटककार है। बहुत से विद्वान् तो उन्हे कालिदास से भी आगे बढा हुआ बताते है। उनके लिखे हुए तीन नाटक उपलब्ध है—उत्तर रामचरित, मालती माधव और महावीर चरित। मालती माधव रूपक भेद की दृष्टि से प्रकरण है। इसमे दस अक हैं। उसमे प्रणय-कथा के वर्णन मे कवि इतना अधिक रम गया है कि वर्णन मे शिथिलता आ गई है। महावीर चरित मे यह शिथिलता अपेक्षाकृत कुछ कम है। विद्वानो की धारणा है कि राम की कथा को लेकर लिखे गए सस्कृत नाटको मे 'महावीर चरित' का स्थान महत्त्वपूर्ण है। उत्तर 'राम चरित' का तो सस्कृत नाटको मे श्रेष्ठता की दृष्टि से दूसरा नम्बर है। मै तो उसे कई दृष्टियो से अभिज्ञान शकुन्तल से भी उत्तम समझता हूँ।

ह्रास युग—भवभूति के बाद सस्कृत नाटको का ह्रास युग प्रारम्भ हो गया। इस युग मे सख्या की दृष्टि से अनेक नाटक लिखे गए, किन्तु विधान की दृष्टि से वे महत्त्वहीन है। इस युग के नाटक और नाटककारो मे जैन साधु रामचन्द्र तथा उसके लिखे हुए 'शताधिक नाटक', मुरारि का 'अनर्घराघव', राजशेखर कृत 'बाल रामायण', जयदेव कृत, 'प्रसन्न राघव', श्री कृष्ण मिश्र का 'प्रबोध चन्द्रोदय', कर्ण-पुर का 'चेतना चन्द्रोदय', शखधर का 'लटकभेलक', महाचार्य रचिता 'अमर मगल" आदि अनेक नाटक रचे गए है, किन्तु कला की दृष्टि से हैं ये सब निष्प्राण है। धीरे-धीरे सस्कृत नाटको की धारा पूर्णरूपेण निर्जीव हो गई है।

हिन्दी को पृष्ठभूमि के रूप मे सस्कृत नाटको की निष्प्राण परम्परा मिली थी। उसने हिन्दी नाटको के उद्भव और विकास को कोई विशेष बल नही प्रदान किया। इतना अवश्य है कि कुछ उत्तम नाटको ने अवश्य प्रेरणा दी थी, जिनके अनुकरण पर हिन्दी मे कुछ नाटक लिखे भी गए, किन्तु वह परम्परा विकसित नही हो पाई।

लोक-नाटक—सामान्य जनता के मनोविनोद प्रमुख साधन नाटक होते है। ये जन-नाटक साहित्यिक नाटक को प्रभावित करते रहते है। इसका कारण यह है कि नाटक का एक लक्ष्य रञ्जन भी है। लोक-नाटको मे जन-रञ्जन का जो स्वरूप होता है वह सामान्य जनता को अधिक ग्राह्य होता है।

साहित्यिक नाटककारो की भी यह इच्छा रहती है कि उनके नाटक भी अधिक से अधिक लोक-रञ्जक हो। अपने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वे जन-नाटको की बहुत सी बातें ग्रहण करते है।

प्रत्येक देश में जन-नाटकों के किसी न किसी रूप का सदैव ही विकास पाया जाता है। भारत मे जन-नाटको के अनेक रूप दिखाई पड़ते है। कुछ प्रसिद्ध जन-नाटको के नाम डॉ० ओझा ने इस प्रकार बताए हैं—

(१) बगाल मे यात्रा तथा कीर्तनिया नाटक।

(२) बिहार मे विदेसिया नाटक।

(३) अवधी, पूर्वी, हिन्दी, व्रज तथा खड़ी बोली मे रास, नौटंकी स्वाँग, भाँड आदि।

(४) राजस्थानी मे रास, झूमर, ढोला मारू, आदि।

(५) गुजराती मे भवाई।

(६) महाराष्ट्री मे लडिते और तमाशा।

(७) तमिल मे भगवत मेल।

यहाँ पर इन सब के स्वरूप का स्पष्टीकरण थोड़ा कठिन है। इनके लिए सेठ गोविन्ददास अभिनय ग्रन्थ, पृ० ४७० देखिए।

साहित्य से इनका विशेष सम्बन्ध न होने के कारण इनके स्वरूप विवेचन आवश्यक भी नहीं। पर मुझे इतना ही कहना अभिप्रेत है कि हिन्दी नाटको का पृष्ठभूमि मे लोक-नाटक भी थे। इनसे नाटको के उद्भव और विकास ने थोडी-बहुत प्रेरणा ही ली थी।

हिन्दी नाटकों का उद्भव

डॉ० दशरथ ओझा ने हिन्दी नाटको की परम्परा का उदय १३वी शताब्दी के 'सदेश रासक' से माना है और उसका प्रारम्भिक विकास मैथिली नाटको के रूप मे सिद्ध करने का प्रयास किया है। मैथिली नाटको की खोज का श्रेय डॉ० हरप्रसाद शास्त्री तथा डॉ० बाग्ची को है। इन विद्वानो की खोज का आश्रय लेकर डॉ० जयकान्त मिश्र ने तो यहाँ तक लिख डाला है कि १६वी शताब्दी मे हिन्दी नाटक मैथिली भाषा मे पूर्ण विकास को प्राप्त हो गई थी।[1] डॉ० मिश्र के उपर्युक्त निष्कर्ष से मै आशिक रूप मे ही सहमत हूँ, पूर्ण रूप मे नही। इसमे कोई सदेह नही कि आधुनिक मैथिली हिन्दी की ही एक शाखा है, किन्तु प्राचीन मैथिली मेरी समझ मे बगला और नेपाली के अधिक समीप थी। मेरी समझ मे प्राचीन मैथिली नाटको का बगला के आदिम नाटक कहना अधिक उपयुक्त नही प्रतीत होता है। पर इतना तो मैं भी स्वीकार करता हूँ कि इन मैथिली नाटको ने हिन्दी नाटको को प्रेरणा अवश्य प्रदान की थी।[2] मैथिली भाषा मे नेपाल से प्राप्त नाटक में निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं—

(१) विद्या-मिलाप—इसके सम्बन्ध मे कहते हैं कि यह मैथिली का सबसे पहला नाटक है, इसका अभिनय विश्वमल्ल (१५४३३) के शासन-काल मे हुआ था। इससे प्रभावित होकर सम्भवत हरिश्चन्द्र ने 'विद्या-सुन्दर' नाटक लिखा था।

---

१. देखिए—ए हिस्ट्री ऑफ मैथिली लिटरेचर—जयकान्त मिश्र।

२ इन नाटकों के लिए नेपाल भाषा नाटक डॉ० बाग्ची लिखित रचना देखिए।

(२) **मुदित केवलवाच**—इसके लेखक महाराज त्रिभुवन मल्ल थे। इनके लिखे हुए 'हर गौरी विवाह' और 'कु ज बिहारी नाटक' भी मिलते हैं।

(३) **जगत प्रकाश मल्ल**—इन्होने ६ नाटको की रचना की थी जिनमे विशेष ख्याति 'मदन चरित्' और 'ऊषा हरण' की है।

सुमतिजित मित्रमल्ल—इन्होने भी आठ नाटक लिखे। इनमे 'मदालसा हरण' 'ऊषा हरण' 'नव दुर्गा' नाटक बहुत प्रसिद्ध है।

दामोदर कवि लिखित—'हरिश्चन्द नृत्यक' नाटक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन मैथिली मे, जो मेरी समझ मे नेपाली और बंगला की ओर अधिक झुकी हुई है, सुन्दर नाटक लिखे जा रहे थे। पर इतना तो मुझे भी स्वीकार करने मे सकोच नही कि हिन्दी नाटको की सफल पृष्ठभूमि १६वी शताब्दी मे ही मैथिली नाटको के रूप मे तैयार हो गई थी।

हरिश्चन्द्र के पूर्व के हिन्दी नाटक

हरिश्चन्द्र के पूर्व हिन्दी मे हमे निम्नलिखित नाटक मिलते हैं।

(१) **रामायण महानाटक**—इसकी रचना सवत् १६६७ विक्रमी मे हुई थी।

(२) **हनुमन्नाटक**—इसके रचयिता कवि हृदयराम है। इसका रचना-काल १६८० वि० है। इसकी रचना सस्कृत के हनुमन्नाटक के अनुकरण पर हुई है। किन्तु वर्ण्य-विपय उससे वहुत साम्य नही रखता।

(३) **देव-माया प्रपच**—देव-लिखित यह पद्य नाटक ६ अको का नाटक है। इसे हम गीति-नाट्य का वृहद् रूप मान सकते है।

(४) **समय-सार**—इसके लेखक वनारसीदास नामक कवि है। इसकी रचना १६९३ मे आगरे मे हुई थी।

(५) **चण्डी चरित**—इसके लेखक सिख गुरू गोविन्दसिंह थे। यह वीर रस प्रधान नाटक है।

(६) **मोह पराजय**—इसके लेखक यशपाल नामक कोई कवि थे। इसकी रचना भी प्रवोध-चन्द्रोदय की शैली पर हुई है।

(७) **चैतन्य चन्द्रोदय**—इसकी रचना कवि कर्णपूर ने की थी।

अन्य प्रतीक नाटक—इसके अतिरिक्त अन्य प्रतीक नाटको की रचना भी हुई। इसमे भूदेव शुक्ल लिखित 'धर्म विजय', वेद कवि रचित 'विद्या परिणाम', गोकुलनाथ रचित 'अमृतादेय', श्री मामराज दीक्षित प्रणीत 'श्री दामा चरित' विशेप उल्लेखनीय है। इनकी रचना अधिकतर १७वी शताब्दी मे हुई थी।

उपर्युक्त प्रतीक नाटको के साथ कुछ अनुवादित नाटको की परम्परा भी चली। इनका श्री गणेश कविवर नेवाज ने किया।

शकुन्तला नाटक—कविवर नेवाज ने कालिदास के शकुन्तला नाटक का अनुवाद सवत् १७२७ मे किया। समस्त अनुवाद दोहा-चौपाई मे है।

सभासार नाटक—इसके लेखक श्री रघुराम नागर हैं। इसका रचना-काल

संवत् १८९९ बताया जाता है। इसकी एक प्रति उदयपुर के सरस्वती मन्दिर में सुरक्षित है।

कर्णा भरण—इसके लेखक कृष्ण जीवन लछीराम नामक कोई व्यक्ति हैं। इसका रचना-काल सवत् १७७२ के आस-पास बताया जाता है।

भारतेन्दु के पूर्व के उपर्युक्त नाटकों की नाटकीयता के सम्बन्ध मे विद्वानो में मतभेद है। कुछ विद्वान इन्हें नाटक मानते ही नही हैं। इसके विपरीत कुछ इन्हे नाटक मानने के पक्ष मे है। प्रथम कोटि के मत के प्रवर्तक डॉ० सोमनाथ गुप्त हैं, और द्वितीय कोटि के मत के अनुयायी डॉ० दशरथ ओझा है। मेरी अपनी धारणा है कि यह है नाटक ही। इनकी रचना उस युग में हुई थी जब लोग गद्य की अपेक्षा पद्य मे बोलना पसन्द करते थे। यह बात हिन्दी तथा अंग्रेजी दोनो भाषाओ के नाटको के सम्बन्ध मे लागू होती है। ३०० वर्ष पूर्व के जितने अंग्रेजी नाटक हैं वे सब पद्य मे ही लिखे मिलते हैं। यदि हम उपर्युक्त हिन्दी नाटको को नाटक नहीं मानेंगे तो फिर शेक्सपियर के नाटक भी नाटक नही कहे जायेंगे।

सस्कृत शैली के भारतेन्दु के पूर्व के नाटककार—भारतेन्दु के पूर्व के संस्कृत नाट्यशास्त्र की शैली मे लिखे गए हिन्दी नाटको मे निम्नलिखित नाटक विशेष विचारणीय हैं।

आनन्द रघुनन्दन—इसके लेखक रीवा के महाराजा विश्वनाथ सिंह हैं। यह पहला हिन्दी नाटक है जिसमे ब्रज भाषा का प्रयोग किया गया है। यह नाटक सात अंको मे है। इसमे तुलसीकृत मानस की कथा को नाटक के रूप मे ढाला गया है।

नहुष नाटक—इसके लेखक भारतेन्दुजी के पिता गोपालचन्द्जी थे। इसकी एक प्रति कांकरौली राज्य मे मिल गई है। इसकी शैली कुछ अंश मे आनन्द रघुनन्दन से मिलती-जुलती है। किन्तु इसमे सबसे प्रमुख विशेषताएँ इसकी अपनी कुछ मौलिकताएँ है। एक मौलिकता यह है कि पात्र के प्रवेश करते ही नाटककार एक छोटे पद्य मे इस पात्र की विशेषताएँ व्यंजित कर देता है। इस प्रकार की नवीनतायें चाहे नाटकीयता मे बाधक मालूम हो, किन्तु एक बात अवश्य प्रगट करती है कि गोपालचन्दजी की प्रतिभा मे मौलिकता की जो प्रतिष्ठा थी, वही मौलिकता हरिश्चन्द्र मे मुखरित हो उठी।

शकुन्तला का अनुवाद—सवत् १९२० मे राजा लक्ष्मणसिंह ने शकुन्तला का अनुवाद गद्य मे किया। इस प्रणाली ने लोगो को बहुत प्रभावित किया।

प्रबोध चन्द्रोदय का अनुवाद—राजा लक्ष्मण सिंह के अनुकरण पर राजा जसवन्तसिंह ने प्रबोध चन्द्रोदय का अनुवाद किया। वह भी बहुत सफल अनुवाद है।

भारतेन्दु तथा उनके समकालीन नाटककार

भारतेन्दु के नाटक—भारतेन्दु के लिखे हुए निम्नलिखित नाटक बताए जाते हैं—(१) मुद्रा राक्षस, (२) सत्य हरिश्चन्द्र, (३) विद्या सुन्दर, (४) अंधेर नगरी, (५) विषस्य विषमौषधम्, (६) सती प्रताप, (७) चन्द्रावली, (८) माधुरी, (९) पाखण्ड विडम्बन, (१०) नव मल्लिका, (११) दुर्लभ बन्धु, (१२) प्रेमयोगिनी,

(१३) जैसा काम वैसा परिणाम, (१४) कर्पूर मजरी, (१५) नील देवी, (१६) भारत-दुर्दशा, (१७) भारत जननी, (१८) धनजय विजय, (१९) वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, तथा (२०) रत्नावली।

बाबू ब्रजरत्नदास ने 'भारतेन्दु नाटकावली' मे केवल १७ ग्रन्थो का सकलन किया है। माधुरी, नव मल्लिका, जैसा काम वैसा परिणाम—इन तीन रचनाओं को उसमे स्थान नही मिल पाया है। इधर रत्नावली के सम्बन्ध मे डॉ० दशरथ ओझा सन्दिग्ध है।[1] स्वय भारतेन्दुजी ने 'रत्नावली' को अपना नाटक नही माना है, मेरी समझ मे उसे प्रामाणिक नही मानना चाहिए। उपर्युक्त रचनाओ मे 'माधुरी' की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे विवाद है। ब्रजरत्नदासजी ने इसे अप्रामाणिक समझकर अपने सकलन मे स्थान नही दिया है। किन्तु खड्गविलास प्रेस से उसका प्रकाशन हुआ है और भारतेन्दुजी ने उसे स्वरचित बताया भी है। अत मै भी उसे प्रामाणिक मानता हूँ। 'नव मल्लिका' की प्रति भी अनुपलब्ध है। 'जैसा काम वैसा परिणाम' नामक रचना को भी भारतेन्दुजी ने स्वरचित बताया है। मैं उनके कथन को अकाट्य समझता हूँ। इनके अतिरिक्त रामदीनसिंह ने भारतेन्दु विरचित दो नाटकों का और उल्लेख किया है। उनके नाम क्रमश 'पुष्प पारिजात' और 'गौर चन्द्रोदय' है। एक 'प्रवास' नामक नाटक का भी उल्लेख बाबू ब्रजरत्नदास ने किया है। किन्तु उपर्युक्त रचनाएँ उपलब्ध नही है।

डा० ओझा के अनुसार भारतेन्दुजी को विरासत के रूप मे पांच नाटकीय शैलियां मिली थी—व्रज मे रास-लीला की, राम-लीला की, यात्रा, नाटक, स्वांग तथा आनन्द रघुनन्दन नाटक की। इन सब का प्रभाव हरिश्चन्द्र की नाट्य-कला पर पडा था। उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ रीतिकालीन शैली मे लिखी गई हैं। बाद की रचनाओ मे नई प्रवृत्तियो की झाँकी मिलती है। सच तो यह है कि भारतेन्दु का उदय प्राचीन और नवीन की सन्धि-वेला में हुआ था। उन्होने दोनो को प्रकाश दिया है, और अपनी प्रतिभा के प्रकाश से दोनो को मिलाकर एक कर दिया है।

भारतेन्दु मण्डल के नाटककार—भारतेन्दुजी ने नाटक स्वय तो रचे ही थे, अपने मित्रो से भी लिखवाए थे। इस प्रकार नाटककारो का एक अच्छा-खासा मण्डल तैयार कर लिया था। उस मण्डल के प्रमुख नाटककार और नाटक इस प्रकार है—

लाला श्री निवासदास—इन्होने चार नाटक लिखे थे—(१) प्रह्लाद चरित, (२) तप्त सवरण, (३) रणधीर प्रेम मोहनी, तथा (४) सयोगिता स्वयम्वर। लालाजी की मृत्यु भी भारतेन्दु के दो वर्ष बाद हो गई थी। भारतेन्दु मण्डल के इन्दु स्वय हरिश्चन्द्र और सर्वाधिक जाज्वल्यमान नक्षत्र लाला श्रीनिवासदास थे। उस मण्डल के अन्य ज्योतिष्मान नक्षत्रो को काल की दृष्टि से डा० दशरथ ओझा ने चार भागो मे बांटा है—

(१) सवत् १९१३ से १९५१।

---

१. देखिए हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, पृ० १९५।

(२) सवत् १६२२ से १६६४।
(३) सवत् १६०१ से १६७१।
(४) सवत् १६१२ से १६७६।

संवत् १६१३ से १६५१ वि० के बीच का समय—इस युग के प्रमुख प्रतिनिधि नाटककार प्रतापनारायण मिश्र हैं। इन्होंने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का अनुवाद कर उसे 'सगीत शाकुन्तल' का अभिधान दिया था। यह गीति-नाट्य के ढग पर लिखा गया है। इनका दूसरा नाटक 'कलि कौतुक' है। इनके अतिरिक्त 'कलि प्रभाव' और 'जुआरी खुआरी', 'हठी हमीर' आदि इनके लिखे हुए अन्य नाटक हैं।

संवत् १६५० से १६६० वि० तक का युग—इस युग के प्रतिनिधि नाटककार राधाकृष्णदास थे। इन्होने 'दुखनी बाला' एकाकी लिखा था। इसके अतिरिक्त इनके लिखे हुए 'महाराणी पद्मावती', 'महाराणा प्रताप' और 'धर्मालाप' नाटक भी बताए जाते है। इन नाटको मे भारतीय सस्कृति के परिष्कार की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। यह पहले नाटककार थे जिनमे हमे चरित्र-चित्रण की सफलता के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। भाषा की स्वाभाविकता की रक्षा की ओर भी उनका विशेष ध्यान था।

संवत् १६६० से १६७० वि० तक का युग—इस युग के प्रतिनिधि नाटककार बालकृष्ण भट्ट कहे जाते है। इनके लिखे हुए १५ नाटक बताए जाते हैं, किन्तु इनके नाटक दो कोटियो मे विभाजित किए जा सकते हैं—मौलिक और अनूदित। इनके मौलिक नाटको मे 'दमयन्ती स्वयंवर', 'वेणी-सहार', 'जैसा काम वैसा परिणाम' आदि विशेष प्रसिद्ध है। अनूदित नाटको मे 'पद्मावती' और 'शर्मिष्ठा' प्रसिद्ध हैं। ये अनुवाद माइकेल मधुसूदनदत्त के मूल नाटकों का है। इनके लिखे हुए निम्नलिखित नाटक और बताए जाते है। चन्द्रसेन, मृच्छ-कटिक, किरातार्जुनीयम, पृथु चरित, शिशुपाल-बध, नल-दमयन्ती, शिक्षा-दान, आचार-विडम्बना, नई रोशनी का विष, इत्यादि इत्यादि।

सवत् १६७० से १६८० वि० तक का युग—इस युग के प्रतिनिधि नाटककार राधाचरण गोस्वामी बताये जाते हैं। इनके लिखे हुए आठ नाटक कहे गए है। 'सती चन्द्रावली', 'अमरसिंह राठौर', बुढे मुँह मुहासे', 'तन मन धन गोसाई जी के अर्पण' और 'भग तरग' की विशेष ख्याति है।

कुछ अन्य नाटक और नाटककार—उपर्युक्त नाटको के अतिरिक्त भारतेन्दु-मण्डल से सम्बन्ध रखने वाले कुछ अन्य नाटक और नाटककार हुए हैं, कुछ का नामोल्लेख कर देना अनुचित न होगा।

(१) देवकीनन्दनजी के 'सीता-हरण' और 'रामलीला'।
(२) बलदेव जी का 'रामलीला-विजय'।
(३) बन्दी दीन का 'सीता-हरण'।
(४) ज्वालाप्रसाद मिश्र का 'सीता-बनवास'।
(५) वामनाचार्य गिरि का 'वारिदनाथ बध व्यायोग'।
(६) अम्बिकादत्त व्यास की 'ललिता'।

इनके अतिरिक्त अन्य विषयो को लेकर भी विविध प्रकार के नाटको का प्रणयन हुआ। डॉ० दशरथ ओझा ने उनका विषय विभाग करते हुए इस प्रकार नामोल्लेख किया है।

कृष्ण-लीला से सम्बन्धित नाटक—इस कोटि के नाटको मे कृष्ण-सुदामा, रुक्मिणी हरण, ऊपा हरण, उद्धव वशीठ नाटिका, प्रद्युम्न विजय, रुक्मिणी परिणय, द्रौपदी वस्त्राहरण वहुत प्रसिद्ध है।

महाभारत की कथा को लेकर लिखे गए नाटक—महाभारत तथा पुराणो की कथा लेकर चलने वाले नाटको मे दमयन्ती-स्वयवर, अभिमन्यु-बध, ध्रुव-तपस्या, सावित्री, अञ्जना, सुन्दरी विशेष उल्लेखनीय हैं।

ऐतिहासिक नाटक—ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों मे पद्मावती, महाराणा प्रताप, सयोगिता-स्वयवर, श्री हर्ष, अमरसिंह राठौर के नाम लिये जाते हैं।

राष्ट्रीय नाटक—इस युग मे बहुत से राष्ट्रीय नाटक भी लिखे गए जैसे 'भारतोद्धार', 'भारत-आरत', 'भारत-सौभाग्य', 'वर्तमान दशा', 'देश-दशा', 'भारत-हरण' आदि आदि।

समस्या-नाटक—इस युग के समस्या-नाटको मे बाल-विवाह, साधु-पाखण्ड, अवला विलाप, दु खनी वाला, विधवा विवाह, बहुत प्रसिद्ध हैं।

भारतेन्दु के विद्या सुन्दर नाटक की शैली पर लिखे गए नाटक—भारतेन्दु युग में उनके 'विद्या-सुन्दर' नाटक की अनुकृति पर 'रणधीर प्रेम मोहिनी', 'तप्त-सवरण', 'मदन मजरी', विद्या विलासिनी, 'मयक मजरी', 'मालती वसन्त', 'रूप बसन्त' आदि वहुत नाटक लिखे गए।

हास्य रस के नाटक—इस युग मे हास्य रस के भी वहुत नाटक लिखे गए। उनमे विशेष ख्याति 'एक-एक के तीन-तीन', 'ठगी की चपेट', 'हास्यार्णव', 'कलि-कौतुक', 'चौपट चपेट' आदि की है।

व्यग-प्रधान नाटक—वहुत से नाटककारो ने हास्य के साथ अपने नाटको मे 'व्यग' की पुट देने की चेष्टा की। व्यगो के सहारे समाज-सुधार करने का प्रयास किया गया। इस कोटि के नाटको के रचयिता देवकीनन्दनजी थे। इन्होने 'रक्षा-बन्धन', 'एक-एक के तीन-तीन', 'वेश्या-विलाप', 'कलजुगी जनेऊ' की रचना की। इन सभी नाटको मे हास्य और व्यग के साथ सुधार की भावना भी अग्रणी है।

इस प्रकार हम देखते है कि भारतेन्दु के युग मे विविध विषयो को लेकर नाटक रचे जाने लगे थे। यद्यपि भाषा, शैली और कला की दृष्टि से यह लचर ही थे, किन्तु इन्होंने नाटको की विविध कोटियो की परम्परा को अवश्य जन्म दिया। इसमे कोई सन्देह नही कि भारतेन्दु ने हिन्दी मे एक नई जीवन-शक्ति भर दी थी।

भारतेन्दु युग के अनुवादित नाटक—भारतेन्दु ने जहाँ लेखको को मौलिक नाटक लिखने की प्रेरणा प्रदान की थी वही अन्य भाषाओ के सुन्दर नाटको के अनुवाद करने को भी प्रेरित किया था। इस प्रेरणा के फलस्वरूप वहुत से साहित्य-रसिको ने वहुत से सुन्दर अनुवादित नाटक प्रस्तुत किए।

संस्कृत नाटकों के अनुवाद—सस्कृत नाटको के हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करने वालो मे लाला सीताराम, विश्वनाथ, रामेश्वर भट्ट, ज्वालाप्रसाद मिश्र के नाम अग्रगण्य हैं। लाला सीताराम ने 'उत्तर रामचरित', 'मालती-माधव', 'महावीर चरित्र', 'मालविकाग्नि मित्र', मृच्छकटिक', 'नागानन्द' आदि अनेक सस्कृत नाटको का अनुवाद किया था। दूबेजी ने 'उत्तर रामचरित्र' और 'शकुन्तला' के अनुवाद प्रस्तुत किए। रामेश्वर भट्ट ने 'रत्नावली' का और ज्वालाप्रसाद मिश्र ने 'वेणी-सहार' का उल्था किया।

अग्रेजी नाटकों का अनुवाद—अग्रेजी नाटको का हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत करने वालो मे तोताराम वर्मा, गोपीनाथ पुरोहित, सूर्यप्रसाद मिश्र, मथुराप्रसाद उपाध्याय सुविख्यात हैं। तोतारामजी ने एडिसन के 'केटो' नामक नाटक का अनुवाद किया। पुरोहितजी ने 'ऐज़ यू लाइक इट', 'रोमियो और जुलियट', मथुराप्रसाद उपाध्याय ने 'मेकवेथ' के हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किए।

वंगला नाटको के अनुवाद—वगला से हिन्दी मे रूपान्तर करने वालो में रामकृष्ण वर्मा, उदितनारायण लाल, दीपनारायण आदि के नाम लिए जा सकते है। इनमे रामकृष्ण वर्मा के 'पद्मावती', 'वीर नारी', 'कृष्ण कुमारी' आदि के अच्छे अनुवाद हैं।

द्विवेदीकालीन नाटक साहित्य—द्विवेदी-युग मे हमे दो प्रकार के नाटक मिलते हैं—मौलिक और अनूदित।

मौलिक नाटक—इस युग के मौलिक नाटककारो मे वद्रीनाथ भट्ट, देवीप्रसाद, माखनलाल चतुर्वेदी आदि है। इनमे केवल माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन युद्ध' ही कला की दृष्टि से उल्लेखनीय है। इस युग मे द्विवेदीजी की शुष्क प्रकृति के प्रभाव से नाटको मे सरस धारा के विकास को प्रेरणा नही मिल सकी।

अनुवादित नाटक—इस युग मे कुछ अनूदित नाटक भी प्रकाश मे आए। इन अनुवादो को प्रस्तुत करने वाले विद्वानो मे सीताराम, बी० ए०, सत्यनारायण कवित्तरत्न (सस्कृत), रामकृष्ण वर्मा, गोपालराम, रूपनारायण पाण्डेय उल्लेखनीय हैं। वगला अग्रेजी नाटको के रूपान्तरकार वे ही हैं जो भारतेन्दु-युग मे चल रहे थे, जैसे गोपीनाथ पण्डित आदि। सच बात तो यह है कि भारतेन्दु के द्वारा प्रवर्तित नाटको के प्रणयन की परम्परा द्विवेदी-काल मे आकर मृतप्राय हो गई थी। कोई कभी एकाध नाटक लिख डालता था।

प्रसाद-युग

नाटक रचना मे प्रसादजी का पदार्पण स० १९६८ के आस-पास मानना चाहिए। इन्होने 'सज्जन' नामक नाटक की रचना इसी समय की थी। इससे पूर्व भी आप 'उर्वशी चम्पू लिख चुके थे। 'प्रेमराज' नामक कविता का प्रणयन भी इससे पहले ही हो चुका था। इन रचनाओ के देखने से उन पर हरिश्चन्द्र का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पडता है। इस आधार पर यह स्वीकार करने में संकोच नही होना चाहिए कि प्रसादजी ने भी नाटक लिखने की प्रेरणा भारतेन्दु वावू हरिश्चन्द्र से

प्राप्त की थी। यह प्रेरणा इतनी बलवती थी कि 'सज्जन' की रचना से जो परम्परा प्रवर्तित हुई वह उनके जीवन के अन्त समय तक चलती रही। काल-क्रम से उनकी रचनाओं का विवरण इस प्रकार है।

(१) सज्जन —सन् १९१०-११
(२) कल्याणी-परिणय—सन् १९१२
(३) करुणालय —सन् १९१२
(४) प्रायश्चित —सन् १९१४
(५) राज्यश्री —सन् १९१५
(६) विशाख —सन् १९२१
(७) अजातशत्रु —सन् १९२२
(८) कामना —सन् १९२३-२४
(९) जनमेजय का नाग-यज्ञ—सन् १९२६
(१०) स्कन्दगुप्त —सन् १९२८
(११) एक घूँट —सन् १९३०
(१२) चन्द्रगुप्त —सन् १९३१
(१३) ध्रुव-स्वामिनी —सन् १९३३

कथावस्तु के आधार पर इनको हम चार वर्गों में बाँट सकते हैं—

(१) वैदिक कथानक—करुणालय

(२) पौराणिक—सज्जन तथा जनमेजय का नाग-यज्ञ।

(३) ऐतिहासिक—कल्याणी-परिणय, प्रायश्चित, राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, स्कन्धगुप्त, चन्द्रगुप्त, ध्रुव-स्वामिनी।

(४) प्रतीकात्मक समस्यामूलक—कामना और एक घूँट।

रूपक प्रकार की दृष्टि से ये समस्त रचनाएँ ३ वर्गों मे बाँटी जा सकती हैं—

(१) नाटक—राजश्री, विशाख, अजातशत्रु, जनमेजय का नाग-यज्ञ, ध्रुव-स्वामिनी, स्कन्वगुप्त, चन्द्रगुप्त, कामना।

(२) एकाकी—सज्जन, कल्याणी-परिणय, प्रायश्चित और एक घूँट।

(३) गीति-नाट्य—करुणालय।

वैधानिक विशेषताएँ—प्रसाद-युग मे आते-आते नाटक के शिल्प मे कुछ नवीनताएँ आने लगी। प्रमुख नवीनताओ का निर्देश इस प्रकार किया जाता है।

(१) प्राचीन पद्धति की नान्दी, मगलाचरण, प्रस्तावना आदि की उपेक्षा की जाने लगी।

(२) अको के बीच के स्थान-परिवर्तन या दृश्य-परिवर्तन की कभी गर्भांक शब्द से सूचित की जाने लगी। यह स्मरण रखना चाहिए कि 'गर्भांक' का प्रयोग प्रसाद-युग के कलाकारो ने प्राचीन अर्थ मे न करके नवीन अर्थ मे किया है। प्रसादजी ने तो 'दृश्य' शब्द भी छोड दिया है। स्थान-परिवर्तन या पट-परिवर्तन के स्थलो पर कोई नाम नही रखा।

(३) प्रवेशक और विष्कम्भक का नाम देने वाले दृश्य तो रखे जाते थे, किन्तु उनका नाम निर्देश नही किया जाता था। प्रस्तावना के साथ उद्घात, कथोद्घात आदि भी विन्यस्त नही किए जाते थे।

(४) विदूषको के स्थान पर हँसोड पात्रो की नियोजना की जाने लगी।

(५) शील-वैचित्र्य के साथ रस प्रवृत्ति का सामजस्य।

(६) अभिनय की रोचकता बढाने वाली उद्घातक, कथोद्घातक आदि युक्तियो के नए रूपान्तर सामने रखे जाने लगे।

(७) निषिद्ध दृश्यों को न दिखाने का नियम उपेक्षित होने लगा।

(८) गीतों की योजना नाटक की कथावस्तु चरित्र-चित्रण के विकासार्थ की जाने लगी।

नाट्य विधान-सम्बन्धी उपर्युक्त कुछ परिवर्तनो की ओर प्रवृत्ति रखने पर भी प्रसाद प्राचीन नाटकीय सविधान का मोह भी नही परित्याग कर सके थे।

इसके प्रमाण रूप मे हम निम्नलिखित बातें दे सकते हैं—

(१) नाटको मे प्राचीन कार्यावस्थाओ, अर्थ-प्रकृतियो और सन्धियो का नियोजन किया है।

(२) नाटको मे अन्तर्द्वन्द्व दिखलाने की परम्परा जीवित रक्खी। पश्चिमी नाटको मे तो अन्तर्द्वन्द्व को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। हमारे यहाँ भारत-वर्ष मे भी अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण मिलता है। किन्तु उसका रूप थोडा भिन्न होता है। हमारे यहाँ पात्र के चरित्र मे दो विरोधी गुणो को प्रतिपादित कर अन्तर्द्वन्द्व की कमी पूरी की जाती थी। प्रसाद ने अपने नाटको में पाश्चात्य और भारतीय दोनो प्रकार के अन्तर्द्वन्द्वो का सामजस्य स्थापित किया है।

(३) प्रसाद को प्राचीनता से कितना मोह था, इसका अनुमान उनके नाटकों की कथावस्तु से ही लगाया जा सकता है। 'विशाख' की भूमिका मे उन्होंने लिखा है, मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अश मे से उन प्रकाण्ड अशो को दिग्दर्शन करने की है। जिन्होने हमारी वर्तमान स्थिति को बहुत कुछ बनाने का प्रयत्न किया है, उनके नाटको में हमे इतिहास के विविध युगो के धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक परिस्थितियों के सुन्दर चित्र मिलते है। प्राचीन ऐतिहासिक नाटको मे हमें वर्तमान परिस्थिति की छाया भी मिलती है।

यद्यपि प्रसाद की कथावस्तु प्राचीन और प्रसिद्ध है, किन्तु उन्होने कल्पना के सहारे उसमे नवीनता और मौलिकता लाने की चेष्टा की है। डॉ० जगन्नाथ शर्मा के मतानुसार प्रसाद ने कल्पना का उपयोग दो रूपों मे किया है—पहला तो इतिहास की जो बातें विकीर्ण हो गई है, उन्हें एक सूत्र मे पिरोने के लिए, दूसरा नाटकीय पूर्णता के निमित्त कोई अनैतिहासिक पात्रो की सृष्टि के लिए। प्रसाद के नाटको से परिस्थिति-योजना को भी महत्त्व दिया गया है। डॉ० जगन्नाथ शर्मा के शब्दो मे सविधान सौष्ठव के लिए परिस्थिति-योजना का यथार्थ एव प्रकृत रूप अवश्य होता है।

प्रसादजी 'मधुरेण समापयेत' वाली भारतीय प्रवृत्ति की भी अवहेलना नही कर सके हैं। पाश्चात्य ट्रेजडी के सिद्धान्त की छाया भी उन पर पडी थी। यही कारण है कि इनके कुछ नाटक सुखान्त और दु खान्त के बीच मे खोए हुए प्रतीत होते हैं।

नन्द दुलारे वाजपेयी ने अपनी 'आधुनिक साहित्य' नामक पुस्तक में प्रसाद की नाटकीय विशेषताओ पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—'प्रसादजी के नाटक स्वतन्त्र नाटको की श्रेणी मे आते हैं'। मै उनके इस मत से बिलकुल सहमत नही हूँ। मेरी समझ मे प्रसाद स्वतन्त्रतावादी किसी भी प्रकार नही कहे जा सकते हैं। वे सामजस्यवादी कलाकार थे। उन्हे अलौकिक प्रतिभा प्राप्त थी। इस अलौकिक प्रतिभा के बल पर उन्होने सामजस्य विधान को परम मौलिक रूप दे दिया है जिसके कारण वाजपेयीजी को उनके नाटको को स्वतन्त्र समझने का भ्रम हो गया है।

प्रसाद के समकालीन नाटककार और उनके नाटक

प्रसाद के समकालीन नाटको पर प्रसाद के नाटको का व्यापक प्रभाव नही दिखाई पडता है। इसके दो कारण हैं—

(१) प्रसाद का विशेष प्रतिभा विशिष्ट व्यक्तित्व।

(२) प्रसाद की अध्ययनशीलता और मननशीलता।

प्रसाद के समकालीन नाटको को निम्नलिखित वर्गीकरण द्वारा प्रकट किया जा सकता है—

(१) पौराणिक नाटक—

(क) रामचरित सम्बन्धी नाटक

(अ) दुर्गादत्त पाण्डे कृत 'राम नाटक' (१९२४)
(ब) कुन्दनलाल शाह ,, 'रामलीला नाटक' (१९२७)
(स) ललितप्रसाद द्विवेदी ललित ,, 'सुमति रञ्जन नाटक'।

यह नाटक रामलीला के दृष्टिकोण से लिखे गए हैं।

(ख) कृष्णधारा सम्बन्धी नाटक—

(अ) वियोगी हरि कृत 'छन्दयोगिनी' (१९२३)
(ब) मथुरा दास ,, 'रुकमिणी-परिणय' (१९१७)

(ग) अन्य पौराणिक आख्यान सम्बन्धी नाटक—

(१) मैथिलीशरण	कृत	'तिलोत्तमा', 'चन्द्र हास', 'अनघ'
(२) विशम्भरनाथ वर्मा कौशिक	,,	'भीष्म' (१९१८)
(३) शिवनन्दन मिश्र	,,	'उपा' (१९१८)
(४) द्वारिकाप्रसाद	,,	'अज्ञातवास' (१९२१)
(५) बद्रीनाथ भट्ट	,,	'वेणु चरित' (१९२१)
(६) मिश्रबन्धु	,,	'पूर्व भारत' (१९२२)
		'उत्तर भारत' (१९२३)
(७) सुदर्शन	,,	'अजना' (१९२२)
(८) हरद्वारप्रसाद	कृत	'कुरुवेन' (१९२४)
(९) बलदेवप्रसाद मिश्र	,,	'असत्य सकल्प' (१९२५)
(१०) गोविन्दवल्लभ पन्त	,,	'वरमाला' (१९२५)

(११)	जगन्नाथशरण	कृत	'कुरुक्षेत्र'	(१९२८)
(१२)	गोपाल दामोदर	,,	'दलीप'	(१९२९)
(१३)	कामताप्रसाद गुरु	,,	'सुदर्शन'	(१९३१)

उपर्युक्त नाटककारो मे मैथिलीशरण गुप्त, सुदर्शन और गोविन्दवल्लभ पन्त के नाटक साहित्यिक दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। सभी नाटको मे पौराणिक आख्यान मात्र लेकर समस्या नाटको का रूप दिया गया है, पुरातन को नूतन दृष्टि से देखा गया है।

(२) ऐतिहासिक नाटक—

(१)	सुदर्शन	कृत	'दयानन्द'	(१९१७)
(२)	बलदेव प्रसाद मिश्र	,,	'मीराबाई'	(१९१८)
(३)	बेचन शर्मा	,,	'महात्मा ईसा'	(१९२२)
(४)	चन्द्रराज भंडारी	,,	(१) 'सिद्धार्थ कुमार'	(१९२२)
			(२) 'सम्राट् अशोक'	(१९२२)
(५)	प्रेमचन्द	,,	'कर्बला'	(१९२४)
(६)	बद्रीनाथ भट्ट	,,	'दुर्गावती'	(१९२६)
(७)	लक्ष्मीधर वाजपेयी	,,	'राजकुमार कुन्तल'	(१९२८)
(८)	जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द	,,	'प्रताप-प्रतिज्ञा'	(१९२८)
(९)	कृष्णकुमार	,,	'तुलसीदास'	(१९२९)
(१०)	उदयशंकर भट्ट	,,	(१) चन्द्रकुमार मौर्य	(१९३१)
			(२) 'विक्रमादित्य'	(१९३३)
(११)	गोविन्ददास	,,	'हर्ष'	(१९३५)

इन नाटको मे दयानन्द, मीराबाई, महात्मा ईसा और अबुद्धवामुन साहित्यिक और रगमचीय दोनो दृष्टि से सफल है। उपर्युक्त सभी नाटक ऐतिहासिक होते हुए भी देश-प्रेम-भावना से भरे हुए हैं।

(३) राष्ट्रीय नाटक—

(१)	काशीनाथ वर्मा	कृत	'समय'	(१९१७)
(२)	प्रेमचन्द	,,	'सग्राम'	(१९२२)
(३)	कन्हैयालाल	,,	देश-दशा	(१९२३)
(४)	लक्ष्मणसिंह	,,	'गुलामी का नशा'	(१९२४)

(४) समस्या नाटक—

(१)	गोपाल दामोदर	कृत	'राधा-माधव'	(१९२२)
(२)	जगन्नाथ चतुर्वेदी	,,	'मधुर मिलन'	(१९२३)
(३)	छविनाथ पाण्डेय	,,	'समाज'	(१९२९)
(४)	आनन्दीप्रसाद श्रीवास्तव	,,	'अछूत'	(१९३०)
(५)	जयगोपाल कविराज	,,	'पश्चिमी प्रभाव'	(१९३०)
(६)	घनानन्द बहुगुणा	,,	'समाज'	(१९३०)

(क) पौराणिक—

रामधारा मे सेठ गोविन्ददास का 'कर्त्तव्य', चतुरसेन शास्त्री का 'सीता-राम' एव श्री रामकृष्ण धारा मे उदयशकर भट्ट का 'राधा' और 'किशोरीदास वाजपेयी का 'सुदामा' विशेष प्रसिद्ध हैं।

इस धारा के प्रधान लेखक उदयशकर भट्ट हैं। इनके 'अम्बा' 'सागर-विजय' 'मत्स्यगधा' और 'विश्वामित्र' नाटक प्रसिद्ध हैं।

ऐतिहासिक नाटक—

(१) द्वारकाप्रसाद मौर्य कृत 'हैदरअली'
(२) भगवतीप्रसाद पाथरी ,, 'कालपी'
(३) श्यामकात पाठक ,, 'बुन्देल केसरी'
(४) धनीराम ,, 'वीरागना पन्ना'
(५) चन्द्रगुप्त विद्यालकार ,, 'अशोक' और 'रेवा'
(६) गोविन्दवल्लभ पत ,, 'राजमुकुट', 'अन्त पुर का छिद्र'
(७) गोपालचन्द्र देव ,, 'सरजा शिवाजी'
(८) कैलाशनाथ भटनागर ,, 'कृपाल', 'श्रीवत्स'
(९) उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ,, 'जय-पराजय'
(१०) हरिकृष्ण प्रेमी ,, 'रक्षा-बन्धन', 'शिवा-साधना'

प्रतिशोध, स्वप्न-भग, आहुति, मन्दिर, कुलीनता, शशिगुप्त आदि ऐतिहासिक नाटक सर्वप्रधान है। प्रेम-प्रधान नाटको मे केवल दो नाटक ही प्रसिद्ध हैं—

(१) कमलाकान्त शर्मा कृत 'प्रवासी'।

(२) पतजी कृत 'ज्योत्स्ना'। यह एक सुन्दर नाटक है। इसमे अज्ञान से ज्ञान की अवस्था का मनोवैज्ञानिक विकास है।

राष्ट्रीय प्रेम और समस्या-नाटक

(१) प्रेमसहाय सिह कृत 'नवयुग'
(२) लक्ष्मीनारायण मिश्र ,, 'राजयोग', 'सिन्दूर की होली'
(३) वेचन शर्मा उग्र ,, 'डिक्टेटर', 'चुम्बन', 'आवारा'
(४) गोविन्दवल्लभ पन्त ,, 'अगूर की वेटी'
(५) भगवतीप्रसाद वाजपेयी ,, 'छलना'
(६) सूर्यनारायण शुक्ल ,, 'खेतिहर देश'
(७) वृन्दावनलाल वर्मा ,, 'धीरे-धीरे'
(८) गोविन्ददास ,, 'विकास', 'सेवा-पथ', 'प्रकाश'
(९) पृथ्वीनाथ शर्मा ,, 'दुविधा', 'अपराधी'
(१०) शारदा देवी ,, 'विवाह-मण्डप'
(११) हरिकृष्ण प्रेमी ,, 'छाया-बन्धन'

प्रसादोत्तर काल मे कुछ नए नाट्य-रूपो का विकास हुआ। उनमे निम्न-लिखित उल्लेखनीय है—

(१) एकाकी
(२) गीति नाट्य
(३) स्वोक्ति नाट्य
(४) रेडियो रूपक
(५) फीचर फैन्टैसी
(६) ध्वनि-नाट्य या काव्य-रूपक
(७) ध्वनिगीति-रूपक
(८) रिपोर्ताज
(९) व्यग

यहाँ पर इनका सक्षिप्त विकास-क्रम दिखाया जारहा है।

हिन्दी एकाकियो का स्वरूप और रचना-विधान

हिन्दी एकाकियो के स्वरूप पर प्रकाश डालने का प्रयास अनेकानेक विद्वानो ने किया है। यहाँ पर कुछ प्रमुख विद्वानो की सम्मतियो पर विचार कर लेना अनुचित न होगा।

संस्कृत मे एकांकी और उनकी परिभाषाएँ—सस्कृत मे रूपको और उपरूपको पर बडे विस्तार से विचार किया गया है। संस्कृत काव्य-शास्त्र में वर्णित इन रूपको और उपरूपको मे बहुत से एकाकी भी हैं। सस्कृत के कुछ प्रमुख एकाकियो का विवरण इस प्रकार है—

(१) व्यायोग—व्यायोग एक एकाकी रूपक है। इसमे एक अक के अन्तर्गत ही एक दिन की घटना का वर्णन किया जाता है। इसका कथानक अधिकतर ऐतिहासिक या पौराणिक होता है। इसका नायक कोई राजर्षि या दिव्यगुण-सम्पन्न महापुरुष होता है। इसमे पुरुष पात्रो की अपेक्षा स्त्री पात्र कम होते हैं। इसमे सघर्ष का कारण स्त्री न होकर कोई और विशेष बात होती है। सस्कृत मे भास का 'उरुभग' सफल व्यायोग माना जाता है। हिन्दी मे भारतेन्दु-कृत 'धनजय' सस्कृत शैली मे लिखा हुआ एक सफल व्यायोग है।

(२) भाण—इसमे अक भी एक ही होता है और पात्र भी एक ही। यह पात्र भी कोई विट् होता है, जो अपने तथा किसी अन्य के धूर्ततापूर्ण कृत्यों से हास्य का सृजन करता है। वह किसी कल्पित व्यक्ति को सम्बोधित करके ही अपने क्रिया-कलापो और बातो को उन्मुक्त करता है। उसमे भारतीय वृत्ति की प्रधानता रहती है। कही-कही कैशिकी वृत्ति की भी झलक दिखाई पड़ जाती है। इसमे लास्य के दस अगो का सौन्दर्य भी मिलता है। सस्कृत मे वामनभट्ट रचित 'शृगार भूषण' एक सफल भाण का उदाहरण है। इसके अतिरिक्त रामभद्र दीक्षित रचित 'शृगार-तिलक', शकर प्रणीत 'श्रद्धा तिलक,' वत्सराज लिखित 'कर्पूर चरित' तथा 'लीला मधुकर' नामक भाणो के नाम लिए जा सकते हैं।

(३) प्रहसन—प्रहसन भी हास्य रस प्रधान एक अक का रूपक होता है। इसमें विष्कम्भक का प्रयोग नही किया जाता है। इसमे प्राय आरभटी वृत्ति की योजना रहती है। कभी-कभी वीथी के अगो-प्रत्यगो की भी झाँकी दिखलाई पड़ती है। इसमे हास्य रस की निष्पत्ति के लिए विचित्र वेश-भूषा और विकृत भाव-भगिमाओ और मुद्राओ तथा धूर्त्ततापूर्ण प्रलापो और सलापो की योजना की जाती है। सस्कृत मे हमे कई सुन्दर प्रहसन मिलते हैं। इनमे 'कन्दर्प-केलि', 'धूर्त-चरित्र' के

नाम विशेष रूप से दिए जा सकते हैं। पहला शुद्ध प्रहसन का उदाहरण है, और दूसरा सकीर्ण प्रहसन कहा जाता है।

(४) वीथि—वीथि भी एक ही अक का रूपक है। इसमे भी पात्रो की सख्या दो से अधिक नही होती। इसमे शृगार रस और कैशिकी वृत्ति की प्रधानता रहती है। कोई उत्तम या साधारण कोटि का पुरुष ही इसका नायक होता है। सस्कृत मे 'मालविका' नामक रूपक इसका सुन्दर उदाहरण है।

(५) नाटिका—नाटिका की कथा अधिकतर पौराणिक या कवि-कल्पित होती है। धीर ललित नायक होता है। किसी राजकुमारी से उसका प्रणय दिखाया जाता है। वह उस राजकुमारी से महादेवी से डरता हुआ ही अपने प्रणय का प्रदर्शन करता है। इसमे कभी-कभी अको की सख्या एक से अधिक भी होती है और कभी केवल एक ही अक होता है। 'रत्नावली' इसका सुन्दर उदाहरण है।

(६) गोष्ठी—इसमे भी एक ही अक होता है। इसमे पात्रो की सख्या १० तक हो सकती है। इसमे पुरुषो के साथ-साथ स्त्रियो को भी रखा जा सकता है। यह पात्र साधारण वर्ग के होते है। इसमे गर्भ और विमर्ष सन्धि की योजना नही की जाती। 'रैवत मदनिका' इसका सुन्दर उदाहरण है।

(७) नाट्य रासक—यह एक हास्य-रस प्रधान एकाकी है। इसमे हास्य रस के साथ-साथ शृगार रस की भी योजना की जाती है। इसकी नायिका वासकसज्जा होती है। इसमे मुख और निर्वहण सन्धियो को ही अधिकतर नियोजित किया जाता है। लास्य के दस अगो की झाँकी भी इसमे सँजोयी जा सकती है। 'विलासवती' और 'नर्मवती' सस्कृत के प्रसिद्ध नाट्य रासक है।

(८) उल्लाप्य—इस एकाकी की कथावस्तु प्राय दिव्य होती है। नायक धीरोदात्त होता है। इसमे नायिकाओ की सख्या चार तक हो सकती है। इसमे शृगार, हास्य और करुणा की त्रिवेणी प्रवहमान रहती है। इसमे युद्ध आदि के चित्रो की प्रधानता रहती है। गीतो की भी प्रचुरता पाई जाती है। इसके सवाद प्राय परदे के पीछे से बोले जाते है। 'देवी महादेव' नामक रचना उल्लाप्य का उदाहरण बताई जाती है।

(९) काव्य—इस एकाकी मे हास्य रस की प्रधानता रहती है। गीतो का आधिक्य पाया जाता है। नायक और नायिका दोनो ही धीरोदात्त होते हैं। इसमें मुख, प्रतिमुख और निर्वहण सन्धियो की योजना रहती है। सस्कृत की 'यादवोदय' नामक रचना इसका उदाहरण है।

(१०) श्रीगदित—इस एकाकी की कथावस्तु प्राय पौराणिक या ऐतिहासिक होती है। इसका नायक धीरोदात्त होता है। इसमे भारती वृत्ति की छटा ही सर्वत्र दिखाई पडती है। इस नाटक के बीच-बीच मे बार-बार श्री शब्द का प्रयोग किया जाता है। सम्भवत इसीलिए इसे श्रीगदित कहा गया है। सस्कृत मे 'सुभद्रा हरण' नामक नाटक इसका उदाहरण है।

(११) विलासिका—इस एकाकी का नायक कोई निम्न गुण का व्यक्ति होता है। इसमे बाह्याडम्बर की प्रधानता रहती है।

(१२) प्रकरणिका—इस एकाकी की रचना प्राय. किसी व्यापारी की कथा लेकर की जाती है। उसका किसी सजातीय से प्रणय-भाव दिखाया जाता है। यह शृगार रस-प्रधान होती हैं।

(१३) हल्लीश—यह नारी-पात्र प्रधान एकाकी है। कभी-कभी दस नारी-पात्रो तक की योजना कर दी जाती है, किन्तु पुरुष पात्र एक ही होता है। वह मधुर-भाषी और भाव-प्रवण पुरुष होता है। इसमे कैशिकी वृत्ति की प्रधानता रहती है। इसमे मुख और निर्वहण सन्धियाँ पाई जाती हैं। इसमे सगीत आदि की प्रधानता रहती है। केलि रैवतक नामक रचना इसका उदाहरण है।

(१४) भाणिका—यह भी भाण के सदृश हास्यरस-प्रधान एकाकी है। इसमे नायक और नायिका दोनो की योजना की जाती है। इसका नायक मन्दबुद्धि और धूर्त पुरुष होता है। इसकी नायिका कोई प्रगल्भ रमणी होती है। इसमे भारती और कैशिकी वृत्ति का सौन्दर्य पाया जाता है। मुख और निर्वहण सन्धियाँ भी मिलती हैं। सस्कृत की 'कामदत्ता' नामक रचना इसका उदाहरण है।

(१५) अक—इस एकाकी मे करुण रस की प्रधानता पाई जाती है। अधिकतर स्त्रियो का विलास प्रदर्शित किया जाता है। इसका कथानक प्राय प्रसिद्ध होता है। अधिकतर पराजय, प्रतारणा आदि का चित्रण किया जाता है। इस प्रकार के चित्रण करुण रस की उद्भावना मे सहायक होते है। इसमे भारती वृत्ति पाई जाती है। मुख और निर्वहण सन्धियो की योजना मिलती है। लास्यागो की छटा भी इसके सौन्दर्य की वृद्धि करती हैं।

इस प्रकार हम देखते है कि सस्कृत मे हमे एकाकियो के अनेक प्रकार मिलते हैं। इन प्रकारो की तुलना हम हिन्दी एकाकियों से तो नही कर सकते किन्तु फिर भी हिन्दी एकाकियो के लिए इन्होने पृष्ठभूमि तैयार की थी, यह स्वीकार किए बिना भी हम नही रह सकते।

अग्रेजी मे एकाकियो की स्वरूप-मीमांसा

अग्रेजी मे हमे आधुनिक एकाकी के स्वरूप का विवेचन मिलता है। उसके स्वरूप की मीमासा करने वाले ग्रन्थों मे सिडनी बौक्स लिखित "टैकनीक ऑफ वन ऐक्ट प्ले", परसाइवल विल्डे लिखित "दि कन्सट्रक्शन ऑफ वन ऐक्ट प्ले" वाल्टर पिकर्ड ईटन प्रणीत "चीफ फॉल्ट्स इन राइटिंग वन ऐक्ट प्ले", माइकेल ब्लेक फोर्ट लिखित "दि कन्सट्रक्शन ऑफ वन ऐक्ट प्ले" आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थो मे एकाकी के स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। उनमे दी हुई कुछ प्रसिद्ध परिभाषाओ का उल्लेख यहाँ पर किया जा रहा है।

सिडनी बौक्स द्वारा दी गई एकाकी की परिभाषा—सिडनी बौक्स ने एकाकी के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"The one act form is not one which lends itself easily to much subtelity of characterization. It is essentially concentrated single of purpose, and for this reason imposes thes trictest discipline upon

the play wright who make use of it It should aim at making a single impression, should possess singleness of situation and should concentrate its interest on a single character or a group of characters"

अर्थात् एकाकी का स्वरूप ऐसा नही होता जिसमे चरित्र-चित्रण की सूक्ष्मताओ को महत्त्व दिया जा सके। एकाकी साहित्य की वह नियन्त्रित और सयमित विधा है जिससे एक ही घटना को इस प्रकार अभिव्यक्त किया जाता है कि उसके प्रभाव-ऐक्य से पाठको और दर्शको का मन आकृष्ट और आक्रान्त हो जाय।

पिकर्ड ईटन द्वारा दी गई परिभाषा—पिकर्ड ईटन साहब ने अपने "चीफ फॉल्ट्स इन राइटिंग वन ऐक्ट प्ले" नामक ग्रन्थ मे एकाकी के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

"One act play by its nature and the rigid restrictions of medium has to confine itself to a single episode or situation and this situation in turn has to grow and develop out of itself"

अर्थात् एकाकी की प्रकृति ऐसी होती है कि उसमे नाटककार को किसी विशेष समस्या, किसी विशेष परिस्थिति अथवा घटना का इस प्रकार नियोजन करना पडता है कि वह धीरे-धीरे अपने आप विकसित हो जाये।

उपर्युक्त परिभाषाओ के अतिरिक्त अग्रेजी की और परिभाषाएँ मिलती है। किन्तु विस्तार-भय से यहाँ पर केवल महत्त्वपूर्ण परिभाषाओ की ही चर्चा की गई है।

हिन्दी विद्वानो द्वारा दी गई एकाकी की परिभाषा

इधर प्रसादोत्तर युग मे एकाकी कला का अच्छा विकास हुआ है। अनेक सफल कलाकार उदय हुए है, जिन्होने सुन्दर एकाकी नाटको की रचना की है। इनमे से कुछ कलाकारो ने एकाकी के शास्त्रीय स्वरूप को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इनमे निम्नलिखित विद्वानो के मत विशेष उल्लेखनीय है—

(१) **डॉ० रामकुमार वर्मा**—डॉ० रामकुमार वर्मा ने अपने एकाकी सग्रहो की भूमिका मे एकाकियो के शास्त्रीय स्वरूप पर अच्छा प्रकाश डाला है। उन्होने 'पृथ्वीराज की आँखें" शीर्षक एकाकी की भूमिका मे एकाकी के स्वरूप पर इस प्रकार प्रकाश डाला है—"एकाकी नाटक मे अन्य प्रकार के नाटको से विशेषता होती है। उसमे एक ही घटना होती है और वह घटना नाटकीय कौशल से ही कौतूहल का सचय करते हुए चरम सीमा तक पहुँचती है। उसमे कोई अप्रधान प्रसग नही रहता। एक-एक वाक्य और एक-एक शब्द प्राण की तरह आवश्यक रहते है। पात्र चार या पाँच ही होते है, जिनका सम्बन्ध नाटकीय घटना से पूर्णतया सम्बद्ध रहता है। वहाँ केवल मनोरजन के लिए अनावश्यक पात्र की गु जाइश नही रहती। प्रत्येक व्यक्ति की रूपरेखा पत्थर पर खिची हुई रेखा की भाँति स्पष्ट और गहरी होती है। विस्तार के अभाव मे प्रत्येक घटना कली की भाँति खिलकर पुष्प की भाँति विकसित हो उठती है। उसमे लता के समान फैलने की उच्छृ खलता नही होती। घटना के

प्रत्येक भाग का सम्बन्ध मनुष्य शरीर के हाथ-पैरो के समान है, जिसमे अनुपात विशेष से रचना होकर सौन्दर्य की तृप्ति होती है। कथावस्तु भी स्पष्ट और कौतूहल से युक्त रहती है उसमें वर्णनात्मकता की अपेक्षा अभिनयात्मक तत्त्व की प्रधानता रहती है।

लगभग इन्ही विचारो की अभिव्यक्ति उनके अन्य एकाकी सग्रहो की भूमिका मे भी मिलती है। यदि हम विश्लेषणात्मक शैली मे डॉ० रामकुमार वर्मा के एकाकी स्वरूप की व्याख्या को स्पष्ट करना चाहे तो एकाकी के उनके मतानुसार निम्नलिखित प्रमुख तत्त्व ठहरेंगे।

(१) एकाकी मे किसी एक प्रमुख घटना या परिस्थिति से सम्बन्धित एक सवेदना होनी चाहिए। उस सवेदना का विकास कौतूहलपूर्ण नाटकीय शैली मे होना चाहिए।

(२) एकाकी की आधारभूत घटनाएँ हमारे दिन-प्रतिदिन के जीवन से सम्बन्धित होनी चाहिए। उनकी अभिव्यक्ति यथार्थवाद की ठोस आधार भूमि पर होनी चाहिए।

(३) सघर्प एकाकी का प्राण है। यो तो एकाकियो मे बाह्य और आन्तरिक दोनो प्रकार के सघर्प हो सकते है किन्तु आन्तरिक सघर्ष की योजना से उनका सौन्दर्य अधिक बढ जाता है।

(४) क्रियाशीलता और गतिशीलता एकाकियो की प्रमुख विशेपता है।

(५) एकाकियो मे यथार्थवादी चित्रण आदर्शोन्मुक्त हो तो अच्छा है।

(६) उसमे सकलन त्रय का कठोरता से पालन होना चाहिए।

पं० सद्गुरुशरण अवस्थी का मत—प० सद्गुरुशरण अवस्थी एक सफल एकाकी लेखक है। वे उस समय से एकाकी लिख रहे हैं जब सामान्य हिन्दी कलाकार उसके नाम से भी परिचित नही थे। उन्होने अपने एकाकियों और एकाकी-सग्रहो की भूमिकाओ मे उसके स्वरूप को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है। मुद्रिका नामक एकाकी की भूमिका मे उन्होने एकाकी की व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की है—

"एकाकी नाटक का सुनिश्चित और सुकल्पित एक लक्ष्य होता है। उसमे केवल एक ही घटना परिस्थिति या समस्या प्रबल होती है। कार्य-कारण की घटनावली अथवा कोई गौण परिस्थिति अथवा समस्या के समावेश का उसमे स्थान नहीं होता। एकांकी नाटक के वेग सम्पन्न प्रवाह मे किसी प्रकार के अन्तर्प्रवाह के लिए अवकाश नही होता। वह तो समूचा ही केन्द्रीभूत आकर्षण है। उसके रूप मे उदात्तता और उत्कर्षता सर्वत्र ही बिखरी रहती है। विवरण शैथिल्य उसका घातक है। कथावस्तु, परिस्थिति, व्यक्तित्व इन सबके निर्देशन मे मितव्ययता और चातुरी का जो रूप अच्छे एकाकी नाटको मे मिलता है, वह साहित्य-कला की अद्वितीय निधि है। आकार का केन्द्रीकृत प्रभाव तथा वैयक्तिक और स्थानिक विशेपताओ की केवलता एकाकी नाटको को कही अधिक सुन्दर बना देती है। पुराने नाटको के

the play wright who make use of it It should aim at making a single impression, should possess singleness of situation and should concentrate its interest on a single character or a group of characters"

अर्थात् एकाकी का स्वरूप ऐसा नही होता जिसमे चरित्र-चित्रण की सूक्ष्मताओ को महत्त्व दिया जा सके। एकाकी साहित्य की वह नियन्त्रित और सयमित विधा है जिससे एक ही घटना को इस प्रकार अभिव्यक्त किया जाता है कि उसके प्रभाव-ऐक्य से पाठको और दर्शको का मन आकृष्ट और आक्रान्त हो जाय।

पिकर्ड ईटन द्वारा दी गई परिभाषा—पिकर्ड ईटन साहब ने अपने "चीफ फॉल्ट्स इन राइटिंग वन ऐक्ट प्ले" नामक ग्रन्थ मे एकाकी के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

"One act play by its nature and the rigid restrictions of medium has to confine itself to a single episode or situation and this situation in turn has to grow and develop out of itself"

अर्थात् एकाकी की प्रकृति ऐसी होती है कि उसमे नाटककार को किसी विशेष समस्या, किसी विशेष परिस्थिति अथवा घटना का इस प्रकार नियोजन करना पडता है कि वह धीरे-धीरे अपने आप विकसित हो जाये।

उपर्युक्त परिभाषाओ के अतिरिक्त अग्रेजी की और परिभाषाएँ मिलती है। किन्तु विस्तार-भय से यहाँ पर केवल महत्त्वपूर्ण परिभाषाओ की ही चर्चा की गई है।

हिन्दी विद्वानो द्वारा दी गई एकाकी की परिभाषा

इधर प्रसादोत्तर युग मे एकाकी कला का अच्छा विकास हुआ है। अनेक सफल कलाकार उदय हुए है, जिन्होने सुन्दर एकाकी नाटको की रचना की है। इनमे से कुछ कलाकारो ने एकाकी के शास्त्रीय स्वरूप को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इनमे निम्नलिखित विद्वानो के मत विशेष उल्लेखनीय है—

(१) **डॉ० रामकुमार वर्मा**—डॉ० रामकुमार वर्मा ने अपने एकाकी सग्रहो की भूमिका मे एकाकियो के शास्त्रीय स्वरूप पर अच्छा प्रकाश डाला है। उन्होने 'पृथ्वीराज की आँखें" शीर्षक एकाकी की भूमिका मे एकाकी के स्वरूप पर इस प्रकार प्रकाश डाला है—"एकाकी नाटक मे अन्य प्रकार के नाटको से विशेषता होती है। उसमे एक ही घटना होती है और वह घटना नाटकीय कौशल से ही कौतूहल का सचय करते हुए चरम सीमा तक पहुँचती है। उसमे कोई अप्रधान प्रसग नही रहता। एक-एक वाक्य और एक-एक शब्द प्राण की तरह आवश्यक रहते हैं। पात्र चार या पाँच ही होते है, जिनका सम्बन्ध नाटकीय घटना से पूर्णतया सम्बद्ध रहता है। वहाँ केवल मनोरजन के लिए अनावश्यक पात्र की गुजाइश नही रहती। प्रत्येक व्यक्ति की रूपरेखा पत्थर पर खिंची हुई रेखा की भाँति स्पष्ट और गहरी होती है। विस्तार के अभाव मे प्रत्येक घटना कली की भाँति खिलकर पुष्प की भाँति विकसित हो उठती है। उसमे लता के समान फैलने की उच्छृखलता नही होती। घटना के

प्रत्येक भाग का सम्बन्ध मनुष्य शरीर के हाथ-पैरो के समान है, जिसमे अनुपात विशेष से रचना होकर सौन्दर्य की तृप्ति होती है। कथावस्तु भी स्पष्ट और कौतूहल से युक्त रहती है उसमे वर्णनात्मकता की अपेक्षा अभिनयात्मक तत्त्व की प्रधानता रहती है।

लगभग इन्ही विचारो की अभिव्यक्ति उनके अन्य एकाकी संग्रहों की भूमिका मे भी मिलती है। यदि हम विश्लेषणात्मक शैली मे डॉ० रामकुमार वर्मा के एकाकी स्वरूप की व्याख्या को स्पष्ट करना चाहे तो एकाकी के उनके मतानुसार निम्नलिखित प्रमुख तत्त्व ठहरेंगे।

(१) एकाकी मे किसी एक प्रमुख घटना या परिस्थिति से सम्बन्धित एक सवेदना होनी चाहिए। उस सवेदना का विकास कौतूहलपूर्ण नाटकीय शैली में होना चाहिए ।

(२) एकाकी की आधारभूत घटनाएँ हमारे दिन-प्रतिदिन के जीवन से सम्बन्धित होनी चाहिए। उनकी अभिव्यक्ति यथार्थवाद की ठोस आधार भूमि पर होनी चाहिए।

(३) संघर्ष एकाकी का प्राण है। यो तो एकाकियो मे वाह्य और आन्तरिक दोनो प्रकार के सघर्ष हो सकते हैं किन्तु आन्तरिक सघर्ष की योजना से उनका सौन्दर्य अधिक वढ जाता है।

(४) क्रियाशीलता और गतिशीलता एकाकियो की प्रमुख विशेषता है।

(५) एकाकियो मे यथार्थवादी चित्रण आदर्शोन्मुक्त हो तो अच्छा है।

(६) उसमे सकलन त्रय का कठोरता से पालन होना चाहिए ।

पं० सद्गुरुशरण अवस्थी का मत—प० सद्गुरुशरण अवस्थी एक सफल एकाकी लेखक है। वे उस समय से एकाकी लिख रहे हैं जव सामान्य हिन्दी कलाकार उसके नाम से भी परिचित नही थे। उन्होने अपने एकाकियो और एकाकी-सग्रहो की भूमिकाओ मे उसके स्वरूप को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है। मुद्रिका नामक एकाकी की भूमिका मे उन्होने एकाकी की व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की है—

"एकाकी नाटक का सुनिश्चित और सुकल्पित एक लक्ष्य होता है। उसमें केवल एक ही घटना परिस्थिति या समस्या प्रवल होती है। कार्य-कारण की घटनावली अथवा कोई गौण परिस्थिति अथवा समस्या के समावेश का उसमे स्थान नहीं होता। एकाकी नाटक के वेग सम्पन्न प्रवाह मे किसी प्रकार के अन्तर्प्रवाह के लिए अवकाश नही होता। वह तो समूचा ही केन्द्रीभूत आकर्षण है। उसके रूप मे उदात्तता और उत्कर्षता सर्वत्र ही विखरी रहती है। विवरण शैथिल्य उसका घातक है। कथावस्तु, परिस्थिति, व्यक्तित्व इन सवके निर्देशन मे मितव्ययता और चातुरी का जो रूप अच्छे एकाकी नाटको मे मिलता है, वह साहित्य-कला की अद्वितीय निधि है। आकार का केन्द्रीकृत प्रभाव तथा वैयक्तिक और स्थानिक विशेषताओ की केवलता एकाकी नाटको को कही अधिक सुन्दर वना देती है। पुराने नाटको के

कथानक की मुहावरेबाजी और गति तथा वाक्चातुरी की दरबारी त्वराबुद्धि के स्थान पर तार्किक मौलिकता, निष्पक्ष समीक्षा और विषय प्रतिपादन की निष्ठा आज के एकाकी नाटको मे अधिक आवश्यक है। अभिव्यजना मे भावुकता के स्थान पर मानसिकता पर अधिक बोझ पडना चाहिए। इस प्रकार से वास्तविकता की गाढी पकड मे कला की गति यदि आगे बढेगी तो एकाकी नाटक अच्छा होगा।"

"जीवन की वास्तविकता के एक स्फुलिग को पकडकर एकाकी नाटककार अपने रेखाचित्र अथवा सुकुमार सक्षिप्त मूर्ति द्वारा उसे ऐसा प्रभावपूर्ण बना देता है कि मानवता के समूचे भाव जगत को झँझना देने की उसमे शक्ति आ जाती है।"

"एक बात यह भी समझ लेनी है कि रगमच का नाटको का सम्बन्ध केवल आकार का सम्बन्ध है। नाटको को अनिवार्य रूप से अभिनेय होने के जो पक्षपाती हैं वे साहित्य रसिक न होकर केवल मनोरजन के उपासक हैं। साहित्य के सच्चे पारखी और रगमच के तमाशबीन दर्शको मे बडा अन्तर है। साहित्य के अनेक अगो में एकाकी नाटक भी एक है। उसकी सार्थकता साहित्य-देवता की स्थापना पर अधिक है, अभिनय अनुकूलता पर उतनी नही है। यदि किसी एकाकी नाटक मे जीवन की ऊँची गतिविधि के साथ-साथ कला का पूर्ण स्वरूप और सच्चे साहित्य की सारी आकाक्षाएँ विद्यमान हैं तो कोई सहृदय समालोचक इसलिए उसका अनादर न करेगा कि वह अनभिनेय है और नाटककार रगमच की एकाकी विशेषताओ से अनभिज्ञ है।"

उपर्युक्त उद्धरणो के आधार पर अवस्थीजी के अनुसार एकाकी के निम्न-लिखित तत्त्व ठहरते हैं—

(१) एक सुकल्पित लक्ष्य होना चाहिए।

(२) एक ही घटना, परिस्थिति या समस्या पर विचार होना चाहिए।

(३) प्रवाह और अभिव्यक्ति प्रवेग होना चाहिए।

(४) कथावस्तु, परिस्थिति, अव्यक्तित्व आदि के निदर्शन मे मितव्ययिता होनी चाहिए।

(५) भावुकता से अधिक मानसिकता आवश्यक है।

(६) अभिनेयता एकाकी के लिए अनिवार्य नही हैं।

सेठ गोविन्ददास—सेठजी ने नाट्य-कला मीमासा मे लिखा हैं—

"पूरे नाटक के लिए सकलन-त्रय, जो नाट्य-कला के विकास की दृष्टि से बडा भारी अवरोध है, वही सकलन-त्रय कुछ फेर-फार के साथ एकाकी नाटक के लिए जरूरी चीज है। सकलन-त्रय मे सकलन द्वय अर्थात् नाटक का एक ही समय की घटना तक परिमित रहना तथा एक ही कृत्य के सम्बन्ध मे होना तो एकाकी नाटक के लिए अनिवार्य है। जो यह समझते हैं कि पूरे नाटक और एकाकी नाटक मे भेद केवल, उसकी बड़ाई-छुटाई का है, मेरी दृष्टि से वे भूल करते हैं। एकाकी नाटक छोटे ही हो, यह जरूरी नहीं है। वे बडे भी हो सकते हैं। बडे एकाकी का चाहे रेडियो मे तथा उसी प्रकार के थोडे समय के दूसरे आयोजनो मे उपयोग न हो सके

किन्तु बडे होने पर भी वह एकाकी हो सकता है। एकाकी नाटक में एक से अधिक दृश्य भी हो सकते है। पर यह नहीं हो सकता कि एक दृश्य आज की घटना का हो, दूसरा पन्द्रह दिनो के वाद की घटना का, तीसरा कुछ महीने के पश्चात् का और चौथा कुछ वर्षों के अनन्तर का। यदि किसी एकाकी मे एक से अधिक दृश्य होते हैं तो वे उसी समय की लगातार होने वाली घटनाओ के सम्बन्ध मे हो सकते है। स्थल सकलन जरूरी नही है पर काल सकलन होना ही चाहिए।"

"एक ही विचार (आइडिया) पर एकाकी नाटक की रचना हो सकती है। विचार के विकास के लिए जो सघर्ष अनिवार्य है उस सम्बन्ध के पूरे नाटक मे कई पहलू दिखाए जा सकते है। किन्तु एकाकी मे सिर्फ एक पहलू होता है।"

नाट्य-कला मीमासा पृष्ठ १५ पर उपर्युक्त अवतरणो मे सेठजी ने एकाकी मे निम्नलिखित तत्त्वो पर वल दिया है १—सकलन-द्वय अवश्य होना चाहिए। सकलन-त्रय भी हो सकता है। २—एकाकी नाटक की रचना एक विचार को लेकर ही खड़ी होनी चाहिए।

उपेन्द्रनाथ अश्क—उपेन्द्रनाथ अश्क ने प्रतिनिधि एकाकी की भूमिका मे एकाकी के तत्त्वो की मीमासा की है। उन्होने एकाकी मे तीन तत्त्वो को महत्त्व दिया है।

(१) स्वरूप और समय की लघुता।
(२) अभिनेयता।
(३) रग सकेतो का विस्तृत नियोजन।

नगेन्द्र का मत—डॉ० नगेन्द्र ने भी 'आधुनिक हिन्दी नाटक' नामक रचना मे एकाकी शिल्प विधि पर विचार किया है। उन्होंने एकाकी के निम्नलिखित तत्त्व प्रधान वताए हैं—

(१) एक अक होना चाहिए।
(२) उसमे एक महत्त्वपूर्ण घटना का नियोजन रहता है।
(३) विशेप परिस्थिति अथवा उत्तेजित क्षणो का वर्णन।
(४) सकलन-त्रय का पालन।
(५) प्रभाव और वस्तु का ऐक्य होना।

डॉ० एस० पी० खत्री का मत—हिन्दी एकाकियो के तत्त्वो पर प्रकाश डालने का प्रयास डॉ० खत्री महोदय ने भी किया है। उनका मत इस प्रकार है—

"यदि किसी एकाकी मे अनेक स्थलो, अनेक भावो, अनेक चित्तवृत्तियो का सम्मिश्रण है तो वह एक एकांकी कला के प्रमुख तत्त्वो की रक्षा नही करता और उसमे एकाकी लेखन कला पूर्ण रूप से प्रस्फुटित न हो पाएगी। एकाकी की महत्ता इसी मे है कि वह केवल एक ही भावना अथवा चित्तवृत्ति का उत्तेजनापूर्ण, विस्मय-पूर्ण तथा रोचक प्रदर्शन करे। यदि वह इस आदर्श से गिरता है तो वह किसी दृष्टि से सफल नही हो सकता।

कलाकार को एकाकी मे एक भावना के फलस्वरूप एक ही प्रभाव प्रकट

करने मे सलग्न रहना चाहिए। एक भावना के फलस्वरूप जो प्रभाव प्रकट किया जायगा उसमे दर्शक के हृदय पर गहरा प्रभाव पडेगा। और यदि प्रभाव मे अनेक-रूपता हुई तो एकाकी अपने आदर्श से गिर जायगा। —एकाकी के तत्त्व, पृष्ठ २०३

डॉ० सत्येन्द्र का मत—डॉ० सत्येन्द्र ने 'हिन्दी एकाकी' मे एकाकी के स्वरूप की विस्तृत मीमासा की है। उनके द्वारा निर्दिष्ट प्रमुख तत्त्व इस प्रकार हैं—

(१) उसमे सकलन-त्रय का सफल निर्वाह होना चाहिए।

(२) आरम्भ बहुत छोटा होना चाहिए।

(३) पात्रो मे नायक के साथ प्रतिनायक भी हो तो अच्छा है।

(४) क्रियाशीलता एकाकी का प्राण है। गति के उन्होने दो प्रसाधन माने है—(क) सघर्ष, और (ख) विकास।

(५) समाप्ति पर किसी रहस्य का उद्घाटन होना चाहिए।

(६) एकाकी की कथावस्तु का विभाजन कहानी के सदृश होना चाहिए। उसमे चरमोत्कर्ष का होना आवश्यक होता है।

समस्त मतों की आलोचना और अपना दृष्टिकोण—एकाकी की उपर्युक्त परिभाषाओ का अध्ययन और आलोचना करने से ऐसा अनुभव होता है कि एकाकी के स्वरूप के सम्बन्ध मे विद्वानो मे कई दृष्टियो से मतैक्य नही है। स्थूल रूप से दो वर्ग स्पष्ट दिखाई पडते हैं। (१) अवस्थी वर्ग जो एकाकी का अभिनेय होना आवश्यक नही मानता। (२) दूसरा वह जो उसका अभिनेय नाट्य रूप ही स्वीकार करता है। डॉ० रामकुमार वर्मा इस वर्ग के प्रतिनिधि है। मूलतत्त्वो के सम्बन्ध मे विद्वानो मे बहुत मतभेद नही है।

मेरी समझ मे एकाकी वह लघु नाट्य रूप है जिसमे एक परिस्थिति, एक घटना या एक भावना-जनित सवेदना की अभिव्यक्ति किसी सघर्ष के सहारे, चाहे वह वाह्य हो या आभ्यान्तर, अभिनयात्मक शैली मे इस प्रकार की जाती है कि उसमे प्रभाव-ऐक्य का उद्वोध हो और उस उद्वोध से दर्शक और पाठक दोनो की रागात्मिका वृत्ति तिलमिलाकर तडप उठती है।

विश्लेषणात्मक शैली मे हम एकाकी के तत्त्वो का निर्देश इस प्रकार कर सकते है—

(क) कथावस्तु—(१) कथावस्तु का किसी एक परिस्थिति, घटना या भावना-जनित समवेदना को लेकर चलना आवश्यक है।

(२) वस्तु का विन्यास-क्रम, लघुकथा के सदृश होना चाहिए। उसमे प्रारम्भ, नाटकीय स्थल, द्वन्द्व, चरम सीमा और परिणति का होना आवश्यक होता है।

(३) कथावस्तु का विकास-क्रम कौतूहल और जिज्ञासा का उत्तेजक होना चाहिए।

(४) एकाकी का प्रारम्भ इस प्रकार किया जाना चाहिए कि वह एक दम पाठको या दर्शको के मन को अपने मे समाहित कर ले।

(५) कथावस्तु का कुछ लक्ष्य होना चाहिए। वह किसी भावना या विचार को लेकर खड़ी हो तो और भी अच्छा है।

(६) कथावस्तु मे सघर्ष का होना परमावश्यक होता है। यह सघर्ष यदि आन्तरिक हो तो बहुत अच्छा है।

(७) कथावस्तु सकलन-त्रय या कम से कम सकलन-द्वय से सयमित और समुचित रूप से विन्यस्त होनी चाहिए।

(८) कथावस्तु का अन्त इस प्रकार किया जाना चाहिए कि सम्पूर्ण कथा का प्रभाव ऐक्य पाठक या दर्शक के मन, बुद्धि और रागात्मिका वृत्ति की, सम्पूर्ण चेतना को आक्रान्त कर ले। सफल अन्त मै उसे मानूंगा जिसके द्वारा पाठक या दर्शक पात्रो के सम्पूर्ण जीवन की झाँकी, उनके समस्त क्रिया-कलापो तथा उनके परिणामो को देखने के लिए तड़पड़ाता रह जाय।

(ख) **प्रभाव ऐक्य**—कहानी के सदृश प्रभाव-ऐक्य एकाकियो का भी प्राण भूत तत्त्व है। पाश्चात्य और भारतीय सभी विद्वानो ने इस पर बल दिया है। सिडनी बौक्स ने लिखा है कि एकाकीकार को सदैव ही इसकी रचना करते समय प्रभाव-ऐक्योत्पादन पर ही दृष्टि रखनी चाहिए। "It should aim at making a single impression"

(ग) **दृश्य विधान**—एकाकी मे एक ही दृश्य होना आवश्यक नही होता। अभिनेय एकाकियो मे एक से ५ दृश्य तक हो सकते है। पाठ्य एकाकियो मे दृश्यो की सख्या इनसे भी अधिक हो सकती है किन्तु मैं आदर्श एकाकी मे तीन दृश्यो का होना ही समुचित समझता हूँ।

(घ) **चरित्र-चित्रण**—एकाकी एक प्रकार का नाट्य रूप है। कोई भी नाट्य रूप पात्रो के बिना अग्रसर नही हो सकता। जिस साहित्यिक विधा मे पात्र होगे उसमे उन पात्रो का चरित्र-चित्रण भी रहेगा। वह चाहे अनायास ही हो गया हो। एकाकी मे पात्रो का चरित्र-चित्रण उतने व्यापाक रूप मे सम्भव नही होता जितने व्यापक रूप मे उसके दर्शन सम्पूर्ण नाटक मे होते हैं। किन्तु उसका चरित्र-चित्रण ऐसा स्पष्ट होना चाहिए कि पात्रो के जिन चारित्रिक गुणो की व्यजना की जाय वे बहुत स्पष्ट हो और उसके सम्पूर्ण चरित्र को ध्वनित करने वाले हो।

(च) **कथोपकथन**—कथोपकथन एकाकी का प्राण है। उसमे क्रियाशीलता लाने का श्रेय कथोपकथनो को ही होता है। एकाकी के कथोपकथन सक्षिप्त, औचित्यपूर्ण, व्यजनात्मक और वैदग्ध्य-प्रधान, मनोवैज्ञानिक, देश-काल और परिस्थितियो के अनुरूप होने चाहिएँ।

(छ) **भाषा, शैली अभिव्यक्ति**—एकाकी की अपनी विशेष शैली होती है। उसमे कम से कम शब्दो मे अधिक से अधिक भावो और विचारो की व्यजना करनी पड़ती है। वाल्टर प्रिकार्ड ने ठीक लिखा है—"You have a painfully small number of words with which to acomplish a large effect for

events must ın general be large on stage Therefore every word must count "—*Technıque, Page 54*

अर्थात् एकाकी लेखक को वडे प्रयत्न से थोडे से शब्दो मे अधिक से अधिक प्रभाव उत्पन्न करना पडता है। क्योकि स्टेज पर घटनाओ का इम प्रकार प्रदर्शन होना चाहिए कि वे सक्षिप्त होते हुए भी विस्तृत प्रतीत हो। अत प्रत्येक शब्द नपा-तुला होना चाहिए।

(ज) **अभिनेयता**—मै एकाकी को अभिनेय अधिक और पाठ्य कम मानता हूँ। सच पूछिए तो कहानी और एकाकी मे प्रधान अन्तर पाठ्य और श्रव्य सम्बन्धी ही है। एकाकी की सफलता उसके अभिनय कौशल मे ही सन्निहित रहती है। अभिनेयता की सफलता के लिए वातावरण-निर्माण, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, रग-निर्देश, छाया और प्रकाश के समुचित प्रयोग आदि का होना आवश्यक होता है। इनके अतिरिक्त उसमे वे सब विशेषताएँ होनी चाहिएँ जो किसी श्रव्य काव्य को सफल अभिनेयता प्रदान करती है।

एकाकियो का विकास

हिन्दी एकाकियो को विकास-क्रम की दृष्टि से निम्नलिखित भागो मे वाँटा जा सकता है।

(१) भारतेन्दुकालीन प्राचीन ढग के एकाकी, (२) द्विवेदीकालीन अपरिपक्व एकाकी, (३) प्रसादकालीन एकाकी प्रवृत्तियाँ, और (४) प्रसादोत्तरकालीन कलात्मक एकाकी।

भारतेन्दुयुगीन एकाकी—भारन्तेदुजी ने एकाकी क्षेत्र मे भी सराहनीय कार्य किया था। उन्होने ओपेरा, व्यग्य, गीतिरूपक, नाट्य रासक, भाण आदि अनेक प्रकार के एकाकी रचे थे। उनके अनुवादित एकाकियो मे भारत जननी एक सफल ओपेरा है। इसमे एक अक ही नही, एक ही दृश्य भी है। इनका 'धनजय विजय', कचन कवि रचित एक व्यायोग के आधार पर लिखा हुआ सुन्दर एकाकी है। भारतेन्दुजी के मौलिक एकाकियो मे प्रेमयोगिनी, भारत-दुर्दशा, नीलदेवी, प्रेमजोगनी, माधुरी आदि उल्लेखनीय हैं।

भारतेन्दु-मण्डल के अन्य प्रसिद्ध एकाकी लेखक और एकाकी इस प्रकार है—

(१) लाला श्रीनिवासदास रचित 'प्रह्लाद चरित', (२) वदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' रचित 'प्रयाग रामागमन', (३) राधाचरण गोस्वामी रचित 'भारत मे यवन लोग', 'श्री दामा' इत्यादि, (४) बालकृष्ण भट्ट रचित 'कलिराज की सभा' 'रेल का टिकट', 'बाल विवाह', (५) प्रतापनारायण मिश्र रचित 'कलि कौतुक', (६) काशीनाथ खत्री रचित 'सिन्ध देश की राजकुमारी', 'गुन्नौर की रानी' इत्यादि, (७) राधाकृष्ण दास रचित 'दुखनी बाला', 'धर्मालाप', (८) अम्बिकादत्त व्यास रचित 'कलियुग और घी', (९) अयोध्यासिंह उपाध्याय रचित 'प्रद्युम्न विजय', और (१०) किशोरीलाल गोस्वामी रचित 'चौपट चपेट'।

इस प्रकार और भी एकाकीकारो ने विविध एकाकियो की रचना की। ये

सब थे एकाकी ही किन्तु इनमे नवीन कला विकसित नही हो पाई। इसलिए इन्हें प्राचीन ढग के एकाकी कहने के पक्ष मे हूँ। मैं उन विद्वानों से भी सहमत नही हूँ जो इन्हें एकाकी नही मानते। साथ ही उनसे भी मतैक्य नही रखता जो इन्हें शुद्ध एकाकी मानने के पक्ष मे हैं।

द्विवेदी युग के अपरिपक्व एकाकी—यद्यपि द्विवेदीजी के शुष्क पाडित्यपूर्ण व्यक्तित्व ने रस धारा वहाने वाले नाटको के विकास की धारा अवरुद्ध कर दी थी। किन्तु कुछ कवि लोग पाश्चात्य एकाकियो से थोडा-वहुत प्रभावित होकर एकाकी लिखते चले जा रहे थे। पाश्चात्य एकाकियो से थोडा-वहुत प्रभावित होते हुए भी इनके एकाकियो मे कला-रूप का कोई विकास नही दिखाई पडता था। अत इस युग के एकाकियो को मै अपरिपक्व एकाकी कहने के पक्ष मे हूँ। इस युग के प्रमुख एकाकी और एकाकीकार इस प्रकार है—

(१) सुदर्शन रचित 'राजपूत की हार', 'प्रताप-प्रतिज्ञा', 'आनरेरी मजिस्ट्रेट'।
(२) रामनरेश त्रिपाठी रचित 'स्वप्नो के चित्र', 'दिमागी अय्याशी'।
(३) वदरीनाथ रचित 'लवड घौं घौं'।
(४) उग्र रचित 'चार वेचारे', 'अफजल वध'।

द्विवेदी युग के एकाकियो मे हमे नवीन कला का वीजारोपण मिलता है। उसका विकास हमे प्रसाद युग मे दिखाई पड़ता है।

प्रसादयुगीन एकाकी—प्रसाद का 'एक घूँट' नवीन एकाकियो का पहला अकुर था। डॉ० जगन्नाथ शर्मा ने इसे एकाकी रूपक ही माना है। डॉ० नगेन्द्र ने तो यहाँ तक कह डाला है कि एकाकी की आधुनिक टेकनीक का इस नाटक मे सफल निर्वाह है। मेरी अपनी धारणा है कि एक घूँट आधुनिक एकाकी के पल्लवित पादप का पहला अकुर था जिसमे उसकी कला के सभी लक्षण दिखाई पड़ रहे थे। किन्तु वह था अकुर ही, पल्लव नही। एक घूँट के सभी अकुर फिर दिन-प्रतिदिन पल्लवित होते गये। प्रसाद युग के प्रमुख एकाकी कलाकार और उनके एकाकी इस प्रकार है—

(१) असहयोग और स्वराज्य—उदयशकर भट्ट
(२) एक ही कब्र — ,, ,,
(३) दुर्गा — ,, ,,
(४) वर निर्वाचन — ,, ,,
(५) श्यामा — भुवनेश्वर प्रसाद
(६) एक साधु दीन साम्यवादी— ,, ,,
(७) सवा आठ वजे — ,, ,,
(८) स्ट्राइक — ,, ,,
(९) पृथ्वीराज की आँखें — डॉ रामकुमार वर्मा
(१०) मेरी वाँसुरी — जगदीशचन्द्र माथुर
(११) भोर का तारा — ,, ,,
(१२) कलिंग विजय — ,, ,,

(१३) पापी — उपेन्द्रनाथ अश्क
(१४) लक्ष्मी का स्वागत — " "
(१५) अधिकार का रक्षक — " "

ये हुए प्रसाद युग के प्रमुख एकाकीकारो के प्रसिद्ध एकाकी नाटक। इनके अतिरिक्त और भी अनेक एकाकी कलाकार एकाकी लिखकर एकाकी साहित्य का विकास कर रहे थे।

प्रसादोत्तरकालीन एकाकी—प्रसाद के पश्चात् कुछ दिनो तक एकाकियो के विकास की गति किन्ही राजनीतिक और सामाजिक कारणो से मन्थर पडने लगी किन्तु डॉ० रामकुमार वर्मा, प० सदगुरुशरण अवस्थी और विष्णु प्रभाकर के प्रयत्नो से उसको पुन बल मिला। कलात्मक एकाकियो का विकास अपनी परा-काष्ठा पर पहुँच गया। इस युग के प्रसिद्ध एकाकीकार और उनके एकाकी इस प्रकार है—

भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र—इनकी कला का विकास प्रसाद युग मे ही हो चला था। इन्होने अनेक एकाकी लिखे थे। इनका 'भावा' नामक एकाकी सग्रह सुन्दर है। इनके एकाकी अधिकतर दो प्रकार के है।

(१) वे जो विदेशी प्रभाव से प्रभावित हैं।
(२) वे जो प्रतीकात्मक है।

पहली कोटि के एकाकियो मे 'कठपुतलियाँ' विशेप प्रसिद्ध हैं। इसी कोटि का 'ताँवे के कीडो' नामक एकाकी है। भुवनेश्वर के एकाकियो की एक विशेपता है। उन्होने एकाकी निर्देशो की तरफ विशेष ध्यान रखा है। उनकी कला ने एकाकियो को यथाशक्ति रगमच के अनुकूल वनाने का प्रयास किया था।

डॉ० रामकुमार वर्मा—यद्यपि वर्माजी ने एकाकी लिखना लगभग प्रसाद युग मे ही प्रारम्भ कर दिया था किन्तु उनकी कला का विकास प्रसादोत्तर युग मे हुआ। मै तो प्रसादोत्तर एकाकी काल को डॉ० रामकुमार वर्मा युग कहने का पक्षपाती हूँ। इसका कारण यह है कि उनकी कला ने सम्पूर्ण युग को चमत्कृत कर रखा है और अनेक एकाकीकार उनकी कला का अनुकरण करने मे अपना गौरव समझते है। उनके एकाकियो मे ही सबसे पहले एकाकी-कला का चरम विकास दिखाई पडा। इसलिए आलोचक उनके 'वादल की मृत्यु' नामक एकाकी को हिन्दी का प्रथम एकाकी मानते थे। मेरी भी अपनी धारणा यही है कि कलात्मक एकाकी रचना का श्रीगणेश इसी नाटक से हुआ। डॉ० वर्मा के एकाकी दो कोटि मे बाँटे जा सकते है—(१) रगमचीय एकाकी (२) रेडियो एकाकी।

रगमचीय एकाकी—रगमचीय एकाकियो मे पृथ्वीराज की आँखें, रेशमी टाई, चारू मित्रा, विभूति आदि एकाकी सग्रहो की विशेष ख्याति है। पृथ्वीराज की आँखें शीर्षक सग्रह मे 'चम्पक', 'एकट्रेस', 'मिट्टी का रहस्य', 'वादल का रहस्य', 'दस मिनट' और 'पृथ्वीराज की आँखें' शीर्षक एकाकी सग्रहीत हैं। रेशमी टाई मे पाँच एकाकी सग्रहीत हैं। इनमे परीक्षा की अच्छी ख्याति है इसके अतिरिक्त इसमे 'रूप की वीमारी', '१८ जुलाई की शाम', 'एक तोले अफीम की कीमत' और 'रेशमी टाई'

नामक अन्य चार एकाकी सग्रहीत है। चारु मित्रा मे चार नाटक है—'चारु मित्रा', 'उत्सर्ग', 'रात' और 'अन्धकार' नामक एकाकी सग्रहीत हैं। 'विभूति' नामक सग्रह में शिवाजी, समुन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य आदि पर लिखे गए एकाकी हैं।

(२) डॉ० वर्मा के दूसरे नाटक रेडियो नाटक के रूप मे लिखे गए हैं। इन मे सप्तकिरण, रूपरग, कौमुदी, महोत्सव और रजत-रश्मि नामक सग्रह विशेष उल्लेखनीय हैं।

कला की दृष्टि से डॉ० रामकुमार के एकाकी अपने युग के सर्वश्रेष्ठ नाटक कहे जायेंगे। उनमे काव्यगत एव कथागत रमणीयता के साथ-साथ रगमचीय सफलता और वैधानिक पूर्णता भी मिलती है जो किसी भी नाटककार को नाटक-क्षेत्र मे सर्वोच्च स्थान सरलता से दिला सकती है। निश्चय ही वे हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ एकाकी लेखक है।

सेठ गोविन्ददास—इनके कई एकाकी सग्रह प्रसिद्ध है जैसे स्पर्द्धा, एकादशी, पचभूत, अष्टदल, आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमे लगभग ४० एकाकी सग्रहीत हैं। आपके एकाकी राजनैतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक आदि विविध विषयो पर है। उनके एकाकियो मे रञ्जन तत्त्व अपेक्षाकृत अधिक है। कला की दृष्टि से वे रामकुमार वर्मा की बरावरी नही कर सकते है।

उदयशकर भट्ट—इनके अभिनव एकाकी स्त्री का हृदय, समस्या का अन्त, कालिदास, धूमशिखा नामक एकाकी सग्रह बहुत प्रसिद्ध है। इनमे कालिदास के एकाकियो को डॉ० सत्येन्द्र ने एकाकी मानने से इनकार कर दिया है। इसका कारण यह है कि इसके एकाकियो में गीतमयता की प्रधानता है। इसके अतिरिक्त इनके नाटक विस्तार की दृष्टि से एकाकी की सीमा का अतिक्रमण कर जाते हैं। मैं इन्हे एकाकियो का नया प्रयोग मानता हूँ, जिनमे भट्टजी को सफलता नही मिली। भट्टजी प्रगतिवादी नाटककार हैं, वैधानिक दृष्टि से उनके एकाकी बहुत सफल एकाकी है। मै डॉ० नगेन्द्र के इस कथन से पूर्णतया सहमत हूँ—"भट्टजी के एकाकी टेकनीक की दृष्टि से उनके बडे गद्य नाटको की अपेक्षा अधिक सफल हैं। उनकी इन छोटी सी रचनाओ मे कथा सकोच एव एकाग्रता के आग्रह से कल्पना का विकास कम और नाटकीय सवेदना का स्पन्दन अधिक स्पष्ट हो गया है।" —आधुनिक नाटक—नगेन्द्र

उपेन्द्रनाथ अश्क—आधुनिक एकाकीकारो मे अश्कजी का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इन्होने एकाकी क्षेत्र मे ठोस यथार्थवाद को अवतरित करने का प्रयास किया है। इन्होने अनेक एकाकियो की रचना की है। इनके कुछ प्रसिद्ध एकाकी इस प्रकार है—पापी, लक्ष्मी का स्वागत, क्रासवर्ड पहेली, अधिकार का रक्षक, विवाह के दिन, तूफान से पहले, चरवाहे, चिलमन खिडकी मे भुना चमत्कार, देवताओं की छाया मे, सूखी डाली, घडी, आदिम मार्ग आदि-आदि। यह एकाकी अधिकतर तीन कोटि के हैं—सामाजिक, साकेतिक और मनोवैज्ञानिक। अश्कजी ने एकाकी क्षेत्र मे दो नई देनें दी है—यथार्थवादिता और अभिनेयता। यह दो गुण इस नाटककार मे अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गए है। इन दोनो दृष्टियो से कोई दूसरा एकाकी की बरावरी नही कर सकता।

विष्णु प्रभाकर—मै समझता हूँ जितने एकाकी इन्होने लिखे है उतने किसी दूसरे एकाकीकार ने नही लिखे है। उनके नाटक सामाजिक, राजनीतिक, सास्कृतिक आदि विविध विपयो पर है। उनके एकाकी सही मानो मे अपने युग की सस्कृति के प्रतिनिधि है। उनकी कला और अभिव्यक्ति रेडियो टेकनीक की आश्रित अधिक है।

रामवृक्ष बेनीपुरी—आपके लिखे हुए 'अमर ज्योति', नया समाज', 'नेत्र दान', 'मघमित्रा', 'सिघल विजय', 'सीता की माँ', शीर्पक एकाकी सग्रह प्रकाशित हो चुके है। इनके एकाकी अधिकतर सामाजिक कोटि के है। इनमे वातावरण, निर्माण और चरित्र-चित्रण को विशेप महत्त्व दिया गया है। आपके लिखे हुए दो एकाकी प्रकाशित हो चुके है। उनके नाम क्रमश 'कवि' तथा 'सृष्टि की साँझ', और अन्य 'काव्य नाटक' है। इनकी कला का स्वरूप धीरे-धीरे निखर रहा है। इनमे मानसिकता कम और भावुकता अधिक है।

सुमित्रानन्दन पत—सुकुमार सुकवि पत ने कई एकाकी लिखे है। वे ज्योत्स्ना, रजत शिखर, शिल्पी आदि के नाम से प्रकाशित हुए है। इनमे से कुछ तो गीति-नाट्य है और कुछ एकाकी की सीमा मे आ जाते है।

आ० चतुरसेन शास्त्री—इनके भी कई एकाकी सग्रह प्रकाशित हो चुके है। उनमे अष्टमगल, गाडीव दाह, शमा, राधा-कृष्ण, स्त्रियो का ओज, सीताराम आदि सग्रह विशेष महत्त्व के है। इनके एकाकी अधिकतर पौराणिक कोटि के है। इनमे चरित्र-चित्रण को ही महत्त्व दिया गया है। इनकी आदर्शप्रियता और काव्यात्मकता इनके एकाकियो मे भी झाँका करती है।

श्री जगदीशचन्द्र माथुर—इनके रेडियो एकाकी अधिक प्रसिद्ध है। रेडियो रूपको की कला मे प्राण फूँकने का श्रेय इन्ही को दिया जाता है। इन्होने कुछ सादे एकाकी भी लिखे हैं। इनमे 'भोर का तारा' शीर्पक सग्रह बहुत प्रसिद्ध है।

श्री सद्गुरुशरण अवस्थी—श्रीयुत् अवस्थीजी एकाकी नाटक बहुत पहले से लिखते आ रहे है। आपने दो प्रकार के एकाकी लिखे है—एक प्रतीकात्मक और दूसरे पौराणिक। प्रतीकात्मक एकाकियो मे 'मुद्रिका' का विशेप महत्त्व है। इसके पात्र ही इसकी प्रतीकात्मकता के द्योतक है। पात्रो के नाम है शकुक, ओकार सोह, ईशमूल, योगिराज, आदि आदि। पौराणिक एकाकियो मे अहिल्या, शम्बूक एकलव्य, महाभिनिष्क्रमण विशेष प्रसिद्ध हैं। अवस्थीजी के नाटको मे मानव चिन्तना को सुलगाने की सामग्री अधिक है। उनके नाटक प्रसाद के ढग के साहित्यिक अधिक है, अभिनेय कम। साहित्यिकता और गम्भीरता की दृष्टि से इनका स्थान बेजोड है।

लक्ष्मीनारायण मिश्र—अवस्थीजी के सदृश मिश्रजी ने भी बहुत एकाकी लिखे हैं। उनके एकाकियो मे 'एक दिन', 'कावेरी मे', 'कमल नारी का रग', और 'स्वर्ग मे विप्लव' प्रसिद्ध हैं। इन्हाने भारतीय सस्कृति से लेकर आधुनिक समस्याओ तक को अपने एकाकियो का विषय बनाया है। समस्या एकाकीकारों मे आपका स्थान बहुत प्रति-

ष्ठित है। इनके नाटको मे भी हमे चिन्तना को उकसाने वाली सामग्री बहुत मिलती है।

हरिकृष्ण प्रेमी—आपने नाटको के साथ-साथ कई एकाकी भी लिखे हैं। यह एकाकी 'बादलो के पार', 'मन्दिर', 'स्वर्ण-विहान' आदि शीर्षको से प्रकाशित हो चुके है। इनके एकाकी अधिकतर इनके नाटको के सदृश, सामाजिक और पौराणिक है। इनमे आदर्शवाद की अच्छी झाँकी दिखाई पड़ती है।

रामनरेश त्रिपाठी—पथिक और मिलन के यशस्वी लेखक त्रिपाठीजी ने कुछ एकाकी भी लिखे हैं। यह एकाकी लेखक, बापू और बा शीर्षको से प्रकाशित हो चुके है। इनमे राष्ट्रीय भावना प्रधान है।

वृन्दावनलाल वर्मा—युग के श्रेष्ठ उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा एक सफल एकाकीकार भी है। उनके अभी तक चार सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—(१) जहाँदरशाह, (२) पीलपाँव, (३) सगुन, और (४) लो भाई पचो लो।

भगवतीचरण वर्मा—हिन्दी के सिद्धहस्त कवि और उपन्यासकार वर्माजी एकाकी लिखने मे भी सफल हुए हैं। उनके 'बुझता दीपक' और 'त्रिपथगा' शीर्षक सग्रहो की अच्छी ख्याति है।

डॉ० सुधीन्द्र—डॉ० सुधीन्द्र हिन्दी के उदीयमान कलाकार थे। बेचारे को अकाल मे ही कराल काल ने कवलित कर लिया। इन्होने कई एकाकी लिखे थे। जो दो सग्रहो मे प्रकाशित हुए हैं। उनके नाम हैं (१) राम-रहमान और (२) सगम।

अज्ञेय—प्रयोगवाद के प्रवर्त्तक अज्ञेय, कवि, उपन्यासकार, नाटककार सभी कुछ है। इनका 'नए एकाकी' नाम से एक एकाकी सग्रह प्रकाशित हुआ है। आपने एकाकी क्षेत्र मे नवीन प्रयोग करने की चेष्टा की है। कला का जो रूप इनमे दिखाई पडता है, वह सर्वथा नवीन है।

अन्य कलाकार—इनके अतिरिक्त हिन्दी एकाकी क्षेत्र मे कुछ और कलाकारो ने अपनी प्रतिभा का प्रकाश फैलाने का प्रयास किया है। इनमे लक्ष्मीनारायण लाल, सत्येन्द्र शरत, विश्वम्भर मानव, अरुण, विनोद रस्तोगी, विमला लूथरा, सत्येन्द्र, एस० पी० खत्री, केदारनाथ मिश्र, जयनाथ नलिन, हंसकुमार तिवारी के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं।

एकाकियो के भेद-प्रभेद

आजकल हिन्दी साहित्य मे एकाकियो के अभिनव कला रूपो का विकास हो रहा है। इन कला रूपो मे निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

(१) पद्य एकाकी।

(२) गीति-नाट्य।

(३) रेडियो रूपक।

कुछ विद्वानो ने एकाकी के उपर्युक्त तीन भेदो के अतिरिक्त सुखान्त
दु खान्त एकाकी, प्रहसन, झलकी नामक और भी भेद स्वीकार किए है।
दृष्टि मे उपर्युक्त तीन विभागो के अन्तर्गत ही शेष विभाग आ जाते है।

पद्य एकाकी

सामान्य एकाकियो के अतिरिक्त हिन्दी मे कुछ पद्य-एकाकी भी
हैं। इन एकाकियो मे गद्य के स्थान पर पद्य का प्रयोग किया गया है।
नाट्य इसलिए नही कह सकते कि इनमे सगीतात्मकता, भाव-
भावातिरेकता का अभाव रहता है। पद्य एकाकी लिखने वालो मे
शरण गुप्त, आनन्दी प्रसाद श्रीवास्तव, महेन्द्र भटनागर आदि के
गुप्तजी का 'कृष्णा' पद्य-एकाकी, श्रीवास्तव का 'पार्वती और मी
और भारत-लक्ष्मी', भटनागर लिखित 'खेतिहर', 'खेतो मे' शीर्षक
मे आते है।

गीति-नाट्य

महत्त्व—अग्रेजी मे इसे 'पोयटिक ड्रामा' कहते है।
बहुत महत्त्व है। बहुत से पाश्चात्य आचार्य गीति-नाट्य को
कोटि मानते है। इस सम्बन्ध मे श्री जोन्स साहब के
"The greatest examples of drama are poetic dr
schools of drama are and must ever be schools

स्वरूप—गीति-नाट्य के स्वरूप पर प्रकाश डाल
"गीति-नाट्य को हम न तो काव्य-नाटक कह सकते है
एक प्रकार का ऐसा रूपक है जिसमे अभिनेयता के सा
है। उसमे श्रेष्ठ कविता के सभी गुण होते है। सच्चा
होते, उन पद्यो मे नाटककार की विचार और भाव
नाटकीयता भी होनी चाहिए।"

उपर्युक्त उद्धरण के प्रकाश मे गीति-नाट्य
उल्लेख किया जा सकता है।

वैयक्तिकता की प्रधानता—गीति
हमे अग्रेजी साहित्य मे मिलता है
की प्राणभूत विशेषता अतिशय
नाट्य के कला रूप के प्रसिद्ध
उद्धृत किए जा सकते है—
poetic drama, in which t
from the mass and set him
The Individual is not controlled b
but by some onward law of being
dramatist not to bring his characters near
us the concrete realities of the world but to d

—*Modern I*

इस प्रकार का नाट्य रूप और होता है, जिसे गीति-नाट्य कहते है। गीति-नाट्य मे नाटककार को अपने व्यक्तित्व को सम्पूर्ण समाज से अलग करके जीवन की पृष्ठभूमि मे रखना पडता है। इसकी वैयक्तिकता का नियन्त्रण लेखक के वातावरण से नहीं, उसकी आन्तरिक प्रेरणाओ से होता है। गीति-नाट्यकार की यह प्रधान इच्छा होती है कि वह अपने पात्रों को हमारे समीप न लाए। वह जीवन की ठोस यथार्थताओ की आवश्यकता पर भी वल नही देता, वल्कि वह हमें उनसे उदासीन बनाने का प्रयास करता है। उपर्युक्त उद्धरण मे विद्वान् लेखक ने गीति-नाट्य की प्रमुख विशेपताओ की व्यञ्जना की है। ऊपर जिन प्रमुख विशेपताओ पर बल दिया गया है, उनमे वैयक्तिकता प्रधान है।

भावातिरेकता—वैयक्तिकता के साथ-साथ गीति-नाट्य मे भावातिरेकता का होना भी वडा आवश्यक होता है। सच तो यह है कि भावातिरेकता गीति-नाट्यो की प्राणभूत विशेपता है। भावात्मक क्षणो के चित्रण के लिए ही इस काव्य रूप का विकास हुआ है। भावनाओ के विविध रूपों को विविध छायाओ मे चित्रित करना ही गीति-नाट्य का प्रमुख लक्ष्य है।

चित्रोपमता—प्रत्यक्ष चित्र-योजना के अतिरिक्त ऐन्द्रिक अनुभूतियो के चित्र भी होने चाहिएँ। ध्वन्यात्मक चित्रोपमा भी रखी जा सकती है। इसके उदाहरण के लिए धर्मवीर भारती का 'अन्धा युग' देखा जा सकता है।

मानसिक सघर्ष या अन्तर्द्वन्द्व की प्रधानता होने पर भी बाह्य सघर्षों की योजना भी सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है—गीति-नाट्यो का सम्पूर्ण सौन्दर्य पात्रो के मानसिक सघर्ष या अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण मे होता है। यह एक छोटा सा नाट्य रूप है। उसमे वाह्य सघर्षों के चित्रण के लिए अधिक अवकाश नही होता। नाटक का सौन्दर्य अन्तर्द्वन्द्व मे ही विकसित होता है। किन्तु वाह्य सघर्प की अवहेलना नही की जा सकती क्योंकि मानसिक सघर्प के प्रवर्त्तक कुछ वाह्य संघर्प ही होते है। किन्तु गीति-नाट्यो मे इस प्रकार वाह्य सघर्षों की योजना बडी चतुरता से करनी चाहिए।

अभिव्यक्ति मे नाटकीयता का होना आवश्यक होता है—इस कोटि के काव्य रूप के प्रत्येक कथन मे, चाहे वह स्वगत हो या वार्त्तालाप हो, नाटकीयता का होना अनिवार्य होता है। इसके दृश्य भी नाटकीय ढग से प्रारम्भ हुए हो और और उनका अन्त भी नाटकीय ढग से ही किया गया है। इस दृष्टि से भट्टजी के गीति-नाट्य वहुत सफल है।

अभिनेयता—यह एक नाट्य रूप है, अत इसमे अभिनेयता का होना परमावश्यक होता है। इसके लिए लेखक को दृश्यो की सेटिंग पर विशेप ध्यान रखना चाहिए। इसमे एक अक ही नहीं, कई छोटे अंक हो सकते हैं। धर्मवीर भारती ने 'अन्धायुग' पाँच अको मे लिखा है, किन्तु फिर भी पूर्ण सफल है।

गीति-नाटको की अभिनेयता का प्राण उसका टोन या ध्वनि वैभिन्य है। नाटककार स्वगत या सवादो की योजना भिन्न-भिन्न ध्वनियो मे इस प्रकार करता है कि प्रत्येक पात्र की भावना एव उसकी मनोवैज्ञानिक स्थिति स्पप्ट होती चलती है। इनके स्पष्टीकरण से एक ओर तो नाटक के क्रमिक प्रवाह की सीमा बँध जाती

कुछ विद्वानो ने एकाकी के उपर्युक्त तीन भेदो के अतिरिक्त सुखान्त एकाकी, दुखान्त एकाकी, प्रहसन, झलकी नामक और भी भेद स्वीकार किए है। किन्तु मेरी दृष्टि मे उपर्युक्त तीन विभागो के अन्तर्गत ही शेष विभाग आ जाते है।

पद्य एकाकी

सामान्य एकाकियो के अतिरिक्त हिन्दी मे कुछ पद्य-एकाकी भी लिखे गए हैं। इन एकाकियो मे गद्य के स्थान पर पद्य का प्रयोग किया गया है। इन्हे गीति-नाट्य इसलिए नही कह सकते कि इनमे सगीतात्मकता, भाव-प्रवणता और भावातिरेकता का अभाव रहता है। पद्य एकाकी लिखने वालो मे बाबू सियाराम-शरण गुप्त, आनन्दी प्रसाद श्रीवास्तव, महेन्द्र भटनागर आदि के नाम प्रसिद्ध है। गुप्तजी का 'कृष्णा' पद्य-एकाकी, श्रीवास्तव का 'पार्वती और सीता' तथा 'शिवाजी और भारत-लक्ष्मी', भटनागर लिखित 'खेतिहर', 'खेतो मे' शीर्षक एकाकी इसी कोटि मे आते है।

गीति-नाट्य

महत्त्व—अग्रेजी मे इसे 'पोयटिक ड्रामा' कहते है। अग्रेजी साहित्य मे इसका बहुत महत्त्व है। बहुत से पाश्चात्य आचार्य गीति-नाट्य को ही नाटको की सर्वश्रेष्ठ कोटि मानते है। इस सम्बन्ध मे श्री जोन्स साहब के शब्द उल्लेखनीय है—"The greatest examples of drama are poetic drama and the highest schools of drama are and must ever be schools of poetic drama"

स्वरूप—गीति नाट्य के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए चेंडलर ने लिखा है—"गीति-नाट्य को हम न तो काव्य-नाटक कह सकते है और न ही नाट्य-काव्य। यह एक प्रकार का ऐसा रूपक है जिसमे अभिनेयता के साथ-साथ पद्यात्मकता भी होती है। उसमे श्रेष्ठ कविता के सभी गुण होते हैं। सच्चा गीति-नाट्य केवल पद्य ही नही होते, उन पद्यो मे नाटककार की विचार और भावधारा उमडा करती है। उसमे नाटकीयता भी होनी चाहिए।"

उपर्युक्त उद्धरण के प्रकाश मे गीति-नाट्य की सम्बन्धित विशेषताओ का उल्लेख किया जा सकता है।

वैयक्तिकता की प्रधानता—गीति-नाट्य के कला रूप का सर्वप्रथम विकास हमे अग्रेजी साहित्य मे मिलता है। अग्रेज आचार्यों के अनुसार गीति नाट्य की प्राणभूत विशेपता अतिशय वैयक्तिकता है। इस सम्बन्ध मे गीति-नाट्य के कला रूप के प्रसिद्ध विवेचक सिसिलाथ्योलर के निम्नलिखित शब्द उद्धृत किए जा सकते है—"There is however another kind of drama, poetic drama, in which the dramatist is trying to pluck his individual from the mass and set him against the background of life itself The Individual is not controlled by the necessities of his environment but by some onward law of being It is the wish of the poetic dramatist not to bring his characters near to us not to impress upon us the concrete realities of the world but to distance us from them"

—*Modern Poetic Drama, page 9*

इस प्रकार का नाट्य रूप और होता है, जिसे गीति-नाट्य कहते हैं। गीति-नाट्य मे नाटककार को अपने व्यक्तित्व को सम्पूर्ण समाज से अलग करके जीवन की पृष्ठभूमि मे रखना पडता है। इसकी वैयक्तिकता का नियन्त्रण लेखक के वातावरण से नहीं, उसकी आन्तरिक प्रेरणाओ से होता है। गीति-नाट्यकार की यह प्रधान इच्छा होती है कि वह अपने पात्रो को हमारे समीप न लाए। वह जीवन की ठोस यथार्थताओ की आवश्यकता पर भी वल नही देता, वल्कि वह हमे उनसे उदासीन वनाने का प्रयास करता है। उपर्युक्त उद्धरण मे विद्वान् लेखक ने गीति-नाट्य की प्रमुख विशेषताओ की व्यञ्जना की है। ऊपर जिन प्रमुख विशेषताओ पर वल दिया गया है, उनमे वैयक्तिकता प्रधान है।

भावातिरेकता—वैयक्तिकता के साथ-साथ गीति-नाट्य मे भावातिरेकता का होना भी वड़ा आवश्यक होता है। सच तो यह है कि भावातिरेकता गीति-नाट्यो की प्राणभूत विशेषता है। भावात्मक क्षणो के चित्रण के लिए ही इस काव्य रूप का विकास हुआ है। भावनाओ के विविध रूपो को विविध छायाओ मे चित्रित करना ही गीति-नाट्य का प्रमुख लक्ष्य है।

चित्रोपमता—प्रत्यक्ष चित्र-योजना के अतिरिक्त ऐन्द्रिक अनुभूतियो के चित्र भी होने चाहिएँ। ध्वन्यात्मक चित्रोपमा भी रखी जा सकती है। इसके उदाहरण के लिए धर्मवीर भारती का 'अन्धा युग' देखा जा सकता है।

मानसिक सघर्ष या अन्तर्द्वन्द्व की प्रधानता होने पर भी वाह्य सघर्षो की योजना भी सर्वथा उपेक्षणोय नहीं है—गीति-नाट्यो का सम्पूर्ण सौन्दर्य पात्रो के मानसिक सघर्ष या अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण मे होता है। यह एक छोटा सा नाट्य रूप है। उसमें वाह्य सघर्षों के चित्रण के लिए अधिक अवकाश नहीं होता। नाटक का सौन्दर्य अन्तर्द्वन्द्व मे ही विकसित होता है। किन्तु वाह्य सधर्ष की अवहेलना नहीं की जा सकती क्योंकि मानसिक सघर्ष के प्रवर्त्तक कुछ वाह्य संघर्ष ही होते हैं। किन्तु गीति-नाट्यो मे इस प्रकार वाह्य सघर्षों की योजना वडी चतुरता से करनी चाहिए।

अभिव्यक्ति मे नाटकीयता का होना आवश्यक होता है—इस कोटि के काव्य रूप के प्रत्येक कथन मे, चाहे वह स्वगत हो या वार्त्तालाप हो, नाटकीयता का होना अनिवार्य होता है। इसके दृश्य भी नाटकीय ढग से प्रारम्भ हुए हो और और उनका अन्त भी नाटकीय ढग से ही किया गया है। इस दृष्टि से भट्टजी के गीति-नाट्य वहुत सफल हैं।

अभिनेयता—यह एक नाट्य रूप है, अत इसमे अभिनेयता का होना परमावश्यक होता है। इसके लिए लेखक को दृश्यो की सेटिंग पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। इसमे एक अक ही नही, कई छोटे अक हो सकते हैं। धर्मवीर भारती ने 'अन्धायुग' पाँच अको मे लिखा है, किन्तु फिर भी पूर्ण सफल है।

गीति-नाटको की अभिनेयता का प्राण उसका टोन या ध्वनि वैभिन्य है। नाटककार स्वगत या सवादो की योजना भिन्न-भिन्न ध्वनियों मे इस प्रकार करता है कि प्रत्येक पात्र की भावना एव उसकी मनोवैज्ञानिक स्थिति स्पष्ट होती चलती है। इनके स्पष्टीकरण से एक ओर तो नाटक के क्रमिक प्रवाह की सीमा वँध जाती

है और दूसरी ओर पात्रो का चरित्र निखरता आता है। ध्वनि वैभिन्य का कारण पात्र की मानसिक और वाह्य परिस्थितियाँ होती हैं। परिस्थिति-परिवर्तन के साथ टोन या ध्वनि-परिवर्तन भी होता है। सफल कलाकार का यह कर्तव्य होता है कि वह पात्रो की ऐसी विभिन्न परिस्थितियो तथा ध्वनियो का प्रयोग करता चले जिनसे समाज परम्परा मे परिचित है। गीति-नाट्यकार की सम्पूर्ण सफलता इन्ही की योजना पर निर्भर रहती है।

छन्द, विधान, लय और भाषा—गीति-नाट्य तुकान्त, अतुकान्त और मुक्त सभी प्रकार के छन्दो मे लिखे जा सकते है। किन्तु छन्द-योजना दोनो भावानुकूल चाहिएँ। इसके लिए नाटककार को लय परिवर्तन का भी विशेष ध्यान रखना पडता है। भावगत् सूक्ष्मताएँ गीति-नाट्य मे लय के वैविध्य से व्यक्त की जा सकती हैं। अत इस ओर कलाकार को दत्तचित्त रहना चाहिए। लय का आधार सगीतात्मक प्रवाह होता है। इस प्रवाह मे परिवर्तन करने से ही लय मे परिवर्तन लाए जाते हैं। लय सम्बन्धी यह परिवर्तन गीति-नाट्य का प्राण है।

गीति-नाट्य भाषा मे प्रेषणीयता का होना वड़ा आवश्यक होता है। भाषा स्पष्ट, ध्वन्यात्मक और सव प्रकार की चमत्कारोत्पादक ग्रन्थियो से रहित होनी चाहिए।

काव्यत्व—काव्यत्व गीति-नाट्यो का प्राणभूत तत्त्व है। छोटे गीति-नाट्यो मे तो काव्यत्व की प्रधानता सर्वत्र रह सकती है, किन्तु लम्वे गीति-नाट्यो मे कही-कही थोडी कठिनाई का सामना करना पडता है। लम्वे गीति-नाट्यो मे रसात्मक अर्थों के साथ इतिवृत्तात्मक स्थल भी आ जाते हैं। ऐसी अवस्था मे गीति-नाट्यो मे नाटकीय सुसम्बद्धता का होना और भी अधिक आवश्यक होता है। गीति-नाट्यो मे नाटकीय सुसम्बद्धता से सम्बन्धित काव्यत्व की प्रतिष्ठा होनी चाहिए। नाटकीय सुसम्बद्धता से हमारा अभिप्राय प्रभावान्विति और सुसगठित वस्तु-विन्यास भिन्न-भिन्न मन स्थितियो मे गूँथे गए क्रिया-व्यापारो की एकता से है।

इस प्रकार सक्षेप मे पाठ्य गीति-नाट्यो के सविधान की रूपरेखा यही है।

हिन्दी गीति-नाट्यो का विकास-क्रम

हिन्दी मे बहुत से गीति-नाट्य लिखे गए हैं। यहाँ पर केवल कुछ प्रसिद्ध गीति-नाट्य और उसके लेखको की चर्चा की जा रही है।

प्रसाद—मैं प्रसाद को हिन्दी का प्रथम गीति-नाट्यकार और 'करुणालय' को प्रथम गीति-नाट्य मानता हूँ। इसकी कथा वैदिक साहित्य से ली गई है। यह मात्रिक छन्दो मे लिखा हुआ है। भावमूलक रोचकता और मर्म-स्पर्शिता की दृष्टि से यह रचना अद्वितीय है।

मैथिलीशरण गुप्त—गुप्तजी का 'अनघ' एक गीति-नाट्य है। इसमे पद्यों मे ही कथा को नाटक का सा रूप दिया गया है। कथा राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत है।

निराला—निराला रचित 'पञ्चवटी' शीर्षक गीति-नाट्य भी बहुत

प्रसिद्ध है। इसमे शूर्पनखा की जो कथा दी गई है वह रामायण से बहुत मिलती-जुलती है। कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया गया है। इस गीति-नाट्य मे कवि की कला, भावना और कल्पना मुखरित दिखाई ही पड़ती है। उसकी चिन्तना भी गम्भीर हो उठी है। यह गीति-नाट्य कवित्त-छन्द मे बाँधा गया है। इसका भाव और भाषागत प्रवाह सराहनीय है।

भगवतीचरण वर्मा—भगवतीचरण वर्मा भी एक सफल कलाकार हैं। उनकी कला ने गीति-नाट्य क्षेत्र को भी अछूता नही छोडा है। उनका 'तारा' नामक गीति-नाट्य बहुत सुन्दर है। यह समस्या-प्रधान नाटक है। इसमे पति-पत्नी का प्रेम और ज्ञान के बीच मे भ्रमित होना चित्रित किया गया है। इस गीति-नाट्य का सारा सौन्दर्य उसके अन्तर्द्वन्द्व चित्रण मे दिखाई पडता है। निश्चय ही वर्मा जी का यह गीति-नाट्य हमे बहुत सी बातें सोचने के लिए बाध्य करता है।

उदयशकर भट्ट—गीति-नाट्य लिखने वालो मे उदयशकर भट्ट का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इन्हें कई गीति-नाट्य लिखने का श्रेय प्राप्त है। इनमे मेघदूत, विक्रमोर्वशीय, शकुन्तला, विश्वामित्र, मत्स्यगधा और राधा का स्थान निर्विवाद रूप से महत्त्वपूर्ण है। इनके गीति-नाट्यों मे नाटककार की अपेक्षा कवि अधिक जागरूक है। किन्तु कवि की भूमिका कोरी भावना भर नही है। मनोविज्ञान ने सर्वत्र उसके मार्ग को प्रशस्त किया है।

गिरजाकुमार माथुर—इन्होने भी कई गीति-नाट्य लिखे हैं। इनमे 'इन्दुमती' नाम गीति-नाटिका बहुत मधुर बन पडी है। उसकी रमणीयता मनोमुग्धकारी है।

सिद्धकुमार—गीति-नाट्य रचनाकारो मे आपका नाम भी उल्लेखनीय है। इन्होने 'कवि' नामक सफल गीति-नाट्य लिखा है। यह यथार्थवादी कलाकार है। इनमें कल्पना की सुनहली छटा की प्रतिष्ठा यथार्थ की कठोर भूमि पर की गई है। भविष्य मे यह हिन्दी साहित्य को और भी सुन्दर रचनाएँ भेंट करेंगे, ऐसी मेरी आशा है।

सेठ गोविन्ददास—आपने भी कुछ गीति-नाट्य लिखे हैं। उनमे 'स्नेह और स्वर्ग' नामक गीति-नाट्य की अच्छी ख्याति है।

आरसीप्रसाद सिंह—इन्होंने अभी तक दो गीति-नाट्य लिखे है। उनके नाम हैं—(१) मदनिका तथा (२) धूप-छाँह। दोनों ही कोमल और मधुर भावनाओ से पुलकित हैं।

दिनकर—इनका 'मगध महिमा' गीति-नाट्य बहुत प्रसिद्ध है। इसमे दिनकर का समस्त काव्यत्व मुखरित हो रहा है।

केदारनाथ मिश्र—आपने कई सफल गीति-नाट्य भी लिखे हैं। इनमें 'काल-दहन', 'सवर्त्त', 'स्वर्णोदय' आदि विशेष प्रसिद्ध हैं।

अनिलकुमार—आपके लिखे हुए 'मदन-दहन', 'जय-भारत', 'फाग' आदि प्रसिद्ध गीति-नाट्य हैं।

अन्य कलाकार—इधर गौरीशकर मिश्र (राजा परीक्षित), ऊपादेवी मित्रा (प्रथम छाया), हसकुमार तिवारी (मिलन-यामिनी), प्रफुल्लचन्द्र ओझा (वृन्दावन) आदि कलाकार भी इस दिशा मे सराहनीय कार्य कर रहे हैं।

उदयशकर भट्ट—हिन्दी के गीति-नाट्यो मे भट्टजी के गीति-नाट्यो का श्लाघनीय स्थान है। इनके तीन गीति-नाट्य प्रसिद्ध है—'विश्वामित्र', 'मत्स्यगधा', और 'राधा'।

धर्मवीर भारती—इनका 'अन्धा युग' शीर्षक गीति-नाट्य विशेष उल्लेखनीय है। इसमे इन्होने कुछ मौलिकता लाने की चेष्टा की है। यह पहला गीति-नाट्य है जिसमे एकाकी की प्रवृत्ति का परित्याग दिखाई पडता है। इसमे पांच अक है। छन्द भी मुक्त है।

रेडियो नाटक

नाटक के आधुनिक स्वरूपो मे रेडियो नाटक की विधा सबसे अधिक महत्व-पूर्ण है। नाटक की यह विधा वहुत अर्वाचीन है। रेडियो के प्रचार और प्रसार के साथ-साथ रेडियो नाटक का भी प्रचार और प्रसार बढता जा रहा है। थोडे ही दिनो मे रेडियो नाटक के वैधानिक पक्ष ने कई करवटें ली है। अब भी उसका शास्त्रीय पक्ष स्थिर नही हो पाया है।

शास्त्रीय स्वरूप के विकास की दृष्टि से हम रेडियो नाटक की कला को निम्नलिखित दो युगो मे बाँट सकते है—

(१) स्वतन्त्रता के पूर्व की रेडियो नाट्य-कला, तथा
(२) स्वतन्त्रता के बाद की रेडियो नाट्य-कला।

स्वतन्त्रता के पूर्व के रेडियो नाटकों की विधान-गत विशेषताएँ—स्वतन्त्रता के पूर्व के रेडियो नाटको मे अधिकतर तीन विशेपताएँ पाई जाती थी—

(१) विषय-गत रूढिवादिता,
(२) चमत्कारप्रियता, तथा
(३) भाषा की चटक-मटक।

इनमे कला का रूप बहुत स्थूल था। समस्त नाटक या तो वार्त्तालाप द्वारा प्रदर्शित किया जाता था, या फिर वर्णनात्मकता द्वारा सुनाया जाता था। इनका अन्त अवश्य थोडा नाटकीय होता था। इनमे जो रोचकता होती थी वह बहुत कुछ नाटककार के कथोपकथन की कुशल-योजना पर या फिर सक्षेप मे अधिक से अधिक कहने की शैली पर आश्रित रहती थी।

उस समय के रेडियो नाटको की भाषा चपल, चटकीली हिन्दुस्तानी होती थी। उस समय के रेडियो नाटको की कला का स्वरूप इस प्रकार बहुत स्थूल था।

स्वतन्त्रता के बाद रेडियो नाटक की कला का विकास—स्वतन्त्रता के बाद रेडियो नाटको की कला मे विकास होना प्रारम्भ हुआ। यह विकास बहुमुखी था। पहले कुछ बँधी हुई परम्परा के रूढिवादी विषयो पर नाटक लिखे जाते थे। बाद मे विषयो का विस्तार हुआ। पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक आदि अनेक विषयो पर रेडियो नाटक लिखे जाने लगे। विषय-विस्तार के साथ विधान और कला पक्ष मे भी परिवर्त्तन आए। भाषा का रूप भी बदला, उसमे हिन्दुस्तानी के स्थान पर हिन्दी की प्रतिष्ठा बढी। उसकी कला का रूप निखरा, पर

स्थिर नही हो पाया। इसका कारण प्रयोगवादी कलाकारो का इस क्षेत्र मे प्रवेश था। इस युग की कुछ प्रमुख कलागत विशेषताओं का अध्ययन दो प्रकार से किया जा सकता है—एक तो रेडियो नाटक का अन्य रूपको से भेद दिखलाकर, दूसरे स्वतन्त्र रूप से उसकी प्रवृत्तियो एव शास्त्रीय तत्त्वो की मीमासा करके।

रेडियो नाटक और सामान्य रूपको मे अन्तर

(१) **प्रेषणीयता के माध्यम से सम्बन्धित अन्तर**—सामान्य रूपको मे तथा रेडियो नाटको मे प्रेषणीयता के माध्यम से सम्बन्धित बहुत बडा अन्तर है। सामान्य रूपक चाक्षुप प्रत्यक्ष होने के कारण रेडियो नाटको की अपेक्षा, जो केवल कर्णेन्द्रिय द्वारा ही रसोत्पादन करते हैं, कही अधिक स्वतन्त्र होते हैं। रेडियो नाटको की कला इस दृष्टि से बहुत परतन्त्र कही जायगी। सामान्य कोटि के रूपको मे रसानुभूति दो इन्द्रियाँ करती हैं—एक नेत्र दूसरे श्रवण। दो इन्द्रियो के माध्यम से प्रभाव प्रेषण करने वाला नाट्य रूप केवल एक इन्द्रिय के प्रभाव को प्रेषित करने वाले नाट्य रूप की अपेक्षा निर्विवाद रूप से सरल कहा जायगा। सामान्य रूपको मे नाटककार जहाँ जनता की नेत्रेन्द्रिय को आकृष्ट करने मे अपने को असमर्थ पाता है और उसे यह सन्देह होने लगता है कि कही दर्शक समाज उखड़ न जाए, वहीं वह गीतादि के द्वारा उनका रजन करने लगता है। इसी प्रकार जब श्रव्य तत्त्व की अधिकता के कारण रूपक शुष्क और नीरस मालूम पड़ने लगता है, तब नाटककार तुरन्त नृत्यादि के प्रसग का समावेश कर रूपक की रोचकता को अक्षुण्ण बनाने का प्रयास करता है। किन्तु रेडियो रूपककार को यह सुविधा प्राप्त नही होती। उसे अपने श्रोताओ की श्रवणेन्द्रिय और नेत्रेन्द्रिय दोनो की परितुष्टि ध्वनि के माध्यम से ही करनी पडती है। अत उसे ध्वनि-योजना की कला को विकसित करना पड़ता है। सच तो यह है कि रेडियो नाटककार की सफलता ध्वनि-योजना की कला पर ही आधारित रहती है।

(२) रेडियो-नाटकों मे भी हमे चरित्र-चित्रण मिलता है, किन्तु वह अन्य रूपको मे पाए जाने वाले चरित्र-चित्रण से सर्वथा विलक्षण होता है। रेडियो नाटको मे पात्र कम होते हैं। उनके चरित्र की प्रमुख विशेषताएँ व्यजित की जाती है। पात्रो के चरित्र की बहुत सी विशेषताएँ ध्वनियो के आरोह-अवरोह से प्रगट हो जाती हैं। शेष को परिस्थितियो के शब्द-चित्रो के माध्यम से प्रसारित करना पडता है।

(३) **दृश्यों की लघुता और सक्रियता**—रेडियो-नाटको मे सामान्य रूपको के सदृश विस्तृत रगमच नही प्राप्त होता, और न वातावरण प्रदर्शन के लिए पर्दे आदि ही होते है। ऐसी अवस्था मे रेडियो-नाटककार को वातावरण का वर्णन सक्षिप्त एव व्यजनात्मक शब्दो मे करना पडता है। समय इतना कम होता है कि लम्बे-लम्बे दृश्य भी नही नियोजित किए जा सकते। इन दृश्यो का वातावरण-निर्माण अधिकतर चिर-परिचित ध्वनियो से करना पडता है। रेडियो-नाटको का अभिनय

अवस्थानुकृति पर उतना आश्रित नही होता जितना ध्वनि अनुकृति पर। वास्तव में ध्वनि अनुकृति रेडियो-नाटको की प्राणभूत विशेषता है।

रेडियो रूपको का रचना-विधान

रेडियो नाटको की साहित्यिक विधा नाटको का आधुनिकतम प्रकार है। गत १० वर्षों मे इस नाट्य-रूप का बहुत अधिक विकास हुआ है। प्रतिवर्ष सैकडों रेडियो नाटक लिखे जा रहे हैं। रेडियो-नाट्य-शिल्प अपनी अलग विशेषताएँ रखता है। यहाँ पर सक्षेप मे उन विशेषताओ का उल्लेख कर देना आवश्यक है।

कथावस्तु—रेडियो-नाटको की कथावस्तु जीवन की किसी एक रोचक एव सामान्य परिस्थिति या भावना को लेकर लिखी जाती है। उसमे विषय या घटनाओ की जटिलता का सर्वत्र बहिष्कार किया जाता है। वस्तु का विन्यास इस ढग से होना चाहिए कि प्रमुख घटना ही इतनी रोचक बन जाय कि अवान्तर घटनाओ को जानने की तीव्र उत्सुकता ही जाग्रत न हो।

स्वरूप और आकार—रेडियो-एकाकी को अपना प्रभाव श्रोताओ पर ध्वनि के माध्यम से डालना पडता है। अत. नाटक की कथावस्तु ऐसी होनी चाहिए कि उसकी अभिव्यक्ति ध्वनियो के माध्यम से सरलता से हो सके। जहाँ तक आकार का सम्बन्ध है, रेडियो रूपक ५ मिनट से लेकर २५ मिनट तक के बीच मे अभिनेय होना चाहिए। एक घण्टे तक अभिनीत किए जाने वाले रेडियो रूपक भी होते हैं, किन्तु इस प्रकार के रूपक किसी प्राचीन नाटक, उपन्यास या लोकप्रिय कथा के रेडियो रूपान्तर मात्र होते है। लोगो की रुचि उस कथा मे इस प्रकार समाहित हो जाती है कि वे एक घण्टे तक भी उसे सरलता से सुनते रह जाते है। किन्तु सामान्यतया रेडियो रूपक की लम्बाई ऐसी होनी चाहिए कि वह सरलता से १०-१५ मिनट तक रजन कर सके।

पात्र—रेडियो नाटक मे पात्रो की सख्या कम ही होनी चाहिए। जो पात्र लाए जावें वे इस प्रकार के हो कि उनकी ध्वनि सम्बन्धी विशेषताएँ स्वय स्पष्ट होती चलें। जैसे अगर एकाकी मे पाँच पात्र रखने हैं तो अच्छा हो एक वृद्ध हो, एक युवक हो, एक युवती हो, और एक बालक हो तथा एक नौकर आदि हो। इन सबका भेद उच्चारणो से ही स्पष्ट होता चलेगा। सामान्यतया रेडियो एकाकी में पाँच से अधिक पात्र नही होने चाहिएँ। वह भी इस कोटि के हो कि उनका चरित्र सरलता से ध्वनियो के माध्यम से प्रतिध्वनित किया जा सके।

पात्रो को अधिकतर ऐसी परिस्थिति मे प्रस्तुत करना चाहिए कि उनमें परिस्थितिजन्य स्वर-विकृति आ जाये। यह स्वर-विकृति ध्वनि-नाटको को अधिक सफल बना देती है। इससे श्रोताओ को पात्रो का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भटकना नहीं पडता।

रेडियो-रूपको मे पात्रो के परिचय रग-निर्देश, प्रवेश, प्रस्थान आदि की सूचना सूत्रधारा द्वारा इतनी सक्षिप्त और व्यजनात्मक भाषा मे दिखलानी चाहिए

जिसमे समय भी न लगे और श्रोताओ की समझ मे भी सब कुछ आ जाय। सभी ध्वनि नाटको मे सूत्रधार की आवश्यकता नहीं होती। मेरी समझ में सूत्रधार-विहीन ध्वनि नाटक अधिक सफल होते हैं।

संवाद—रेडियो-नाटक की सफलता, ध्वनि-प्रधान सवादो पर अवलम्बित रहती है। रेडियो-नाटको के सवादो का सौन्दर्य ध्वनियो के उतार-चढाव और उसकी वैयक्तिक विशेषताओ मे रहता है। सवाद सक्षिप्त, सकेतात्मक और प्रभाव-पूर्ण भी होने चाहिएँ। पात्रो की भाव-भगिमा, उनकी मुद्रा आदि की अभिव्यक्ति रेडियो नाटको मे सवादो की ध्वनियो के माध्यम से होती है। यही कारण है कि रेडियो नाटक की पूर्ण सफलता ध्वनि-सकेतो, उनकी वैयक्तिक विकृतियो आदि पर ही अवलम्बित रहती है।

स्वगत कथन—सवादो के सदृश ध्वनि नाटको मे स्वगत भाषणो का भी बड़ा महत्त्व है। रगमच पर उनका महत्त्व उतना नही होता है। उसका कारण उसकी अश्रव्यता है। रेडियो मे ध्वनि-विस्तारण यत्र सूक्ष्मातिसूक्ष्म और हलकी से हलकी ध्वनियो को भी श्रोताओ के लिए श्राव्य बना देता है। स्वगत-कथनो के माध्यम से रेडियो-रूपको की कथा के अस्पष्ट अग सरलता से स्पष्ट हो जाते हैं और ध्वनि-सौष्ठव भी बना रहता है।

सगीत—ध्वनि नाटको मे सगीत का विशेष महत्त्व होता है। सगीत प्रभाव-ऐक्य के सृजन मे बहुत सहायक होते है। अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति भी अधिकतर सगीत के माध्यम से ही स्पष्ट होती है। कुछ कलाकार तो रेडियो पर गद्य-एकाकियो के स्थान पर सगीत-रूपको की सफल योजना करते हुए दिखाई देते हैं। जो भी हो, रेडियो-रूपको का यह एक नया प्रकार है। आजकल इसके सफल प्रयोग किए जा रहे है।

अभिनेयता—ध्वनि-नाटकों की अभिनय-कला रगमचीय नाटको की अभिनय कला से सर्वथा भिन्न होती है। रगमच मे नाटको के अभिनय की सभी सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। रगमंच पर रग-निर्देश, वातावरण चित्रण, वेषभूषा, भावभगिमा और मुद्रा-निर्देशन आदि की सुविधाएँ अभिनय को सरल बना देती हैं। किन्तु रेडियो-रूपको को अभिनय की यह सुविधाएँ नही प्राप्त होतीं। उसकी सहायक केवल ध्वनि-वैचित्र्य-मात्र है। अत रेडियो-रूपक के अभिनेताओ को अपेक्षाकृत अधिक सजग रहना पड़ता है। उन्हें पग-पग पर ध्वनियो के उतार-चढाव, विराम, यति, गति आदि सब को स्पष्ट करते हुए ध्वनि-विकृतियो के सहारे अवस्थानुकृति का प्रयोग करना पड़ता है।

वातावरण निर्माण—रगमचीय नाटको के सदृश ध्वनि-नाटको मे भी वाता-वरण निर्माण का बड़ा महत्त्व है। अन्तर केवल इतना है कि सामान्य नाटको मे वाता वरण का निर्माण बाह्य प्रसाधनो—चित्रो, वस्तुओ, पर्दो तथा बाहरी सजावट आदि के द्वारा किया जाता है। रेडियो-रूपक मे यह कार्य ध्वनियों के माध्यम से ही सम्पन्न करना पड़ता है। इसके लिए वातावरण के ध्वनि-पक्ष को ही अधिक महत्त्व देते हैं। उसके उसी रूप की अवतारणा की जाती है जिसमे ध्वनियो के प्रयोग से उसके सम्पूर्ण स्वरूप के स्पष्टीकरण की सम्भावना है। जैसे वर्षाकालीन चित्र प्रस्तुत

अवस्थानुकृति पर उतना आश्रित नही होता जितना ध्वनि अनुकृति पर। वास्तव में ध्वनि अनुकृति रेडियो-नाटको की प्राणभूत विशेषता है।

रेडियो रूपको का रचना-विधान

रेडियो नाटको की साहित्यिक विधा नाटको का आधुनिकतम प्रकार है। गत १० वर्षो मे इस नाट्य-रूप का बहुत अधिक विकास हुआ है। प्रतिवर्ष सैकड़ों रेडियो नाटक लिखे जा रहे हैं। रेडियो-नाट्य-शिल्प अपनी अलग विशेषताएँ रखता है। यहाँ पर सक्षेप मे उन विशेषताओ का उल्लेख कर देना आवश्यक है।

कथावस्तु—रेडियो-नाटको की कथावस्तु जीवन की किसी एक रोचक एव सामान्य परिस्थिति या भावना को लेकर लिखी जाती है। उसमे विषय या घटनाओं की जटिलता का सर्वत्र वहिष्कार किया जाता है। वस्तु का विन्यास इस ढग से होना चाहिए कि प्रमुख घटना ही इतनी रोचक वन जाय कि अवान्तर घटनाओ को जानने की तीव्र उत्सुकता ही जाग्रत न हो।

स्वरूप और आकार—रेडियो-एकाकी को अपना प्रभाव श्रोताओ पर ध्वनि के माध्यम से डालना पडता है। अत नाटक की कथावस्तु ऐसी होनी चाहिए कि उसकी अभिव्यक्ति ध्वनियो के माध्यम से सरलता से हो सके। जहाँ तक आकार का सम्बन्ध है, रेडियो रूपक ५ मिनट से लेकर २५ मिनट तक के बीच मे अभिनेय होना चाहिए। एक घण्टे तक अभिनीत किए जाने वाले रेडियो रूपक भी होते हैं, किन्तु इस प्रकार के रूपक किसी प्राचीन नाटक, उपन्यास या लोकप्रिय कथा के रेडियो रूपान्तर मात्र होते है। लोगो की रुचि उस कथा मे इस प्रकार समाहित हो जाती है कि वे एक घण्टे तक भी उसे सरलता से सुनते रह जाते है। किन्तु सामान्यतया रेडियो रूपक की लम्बाई ऐसी होनी चाहिए कि वह सरलता से १०-१५ मिनट तक रजन कर सके।

पात्र—रेडियो नाटक मे पात्रो की सख्या कम ही होनी चाहिए। जो पात्र लाए जावें वे इस प्रकार के हो कि उनकी ध्वनि सम्वन्धी विशेषताएँ स्वय स्पष्ट होती चलें। जैसे अगर एकाकी मे पाँच पात्र रखने हैं तो अच्छा हो एक वृद्ध हो, एक युवक हो, एक युवती हो, और एक वालक हो तथा एक नौकर आदि हो। इन सवका भेद उच्चारणों से ही स्पष्ट होता चलेगा। सामान्यतया रेडियो एकाकी में पाँच से अधिक पात्र नहीं होने चाहिएँ। वह भी इस कोटि के हो कि उनका चरित्र सरलता से ध्वनियो के माध्यम से प्रतिध्वनित किया जा सके।

पात्रो को अधिकतर ऐसी परिस्थिति मे प्रस्तुत करना चाहिए कि उनमें परिस्थितिजन्य स्वर-विकृति आ जाये। यह स्वर-विकृति ध्वनि-नाटको को अधिक सफल वना देती है। इससे श्रोताओ को पात्रो का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भटकना नही पड़ता।

रेडियो-रूपको मे पात्रो के परिचय रग-निर्देश, प्रवेश, प्रस्थान आदि की सूचना सूत्रधारा द्वारा इतनी सक्षिप्त और व्यजनात्मक भाषा मे दिखलानी चाहिए

जिसमे समय भी न लगे और श्रोताओ की समझ में भी सब कुछ आ जाय। सभी ध्वनि नाटको मे सूत्रधार की आवश्यकता नही होती। मेरी समझ में सूत्रधार-विहीन ध्वनि नाटक अधिक सफल होते हैं।

सवाद—रेडियो-नाटक की सफलता, ध्वनि-प्रधान सवादो पर अवलम्बित रहती है। रेडियो-नाटको के सवादो का सौन्दर्य ध्वनियो के उतार-चढाव और उसकी वैयक्तिक विशेषताओ मे रहता है। सवाद सक्षिप्त, सकेतात्मक और प्रभाव-पूर्ण भी होने चाहिएँ। पात्रो की भाव-भगिमा, उनकी मुद्रा आदि की अभिव्यक्ति रेडियो नाटको मे सवादो की ध्वनियो के माध्यम से होती है। यही कारण है कि रेडियो नाटक की पूर्ण सफलता ध्वनि-सकेतो, उनकी वैयक्तिक विकृतियो आदि पर ही अवलम्बित रहती है।

स्वगत कथन—सवादो के सदृश ध्वनि नाटको मे स्वगत भाषणो का भी बडा महत्त्व है। रगमच पर उनका महत्त्व उतना नही होता है। उसका कारण उसकी अश्रव्यता है। रेडियो मे ध्वनि-विस्तारण यन्त्र सूक्ष्मातिसूक्ष्म और हलकी से हलकी ध्वनियो को भी श्रोताओ के लिए श्राव्य बना देता है। स्वगत-कथनो के माध्यम से रेडियो-रूपको की कथा के अस्पष्ट अग सरलता से स्पष्ट हो जाते हैं और ध्वनि-सौष्ठव भी बना रहता है।

संगीत—ध्वनि नाटको मे सगीत का विशेष महत्त्व होता है। सगीत प्रभाव-ऐक्य के सृजन मे बहुत सहायक होते है। अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति भी अधिकतर सगीत के माध्यम से ही स्पष्ट होती है। कुछ कलाकार तो रेडियो पर गद्य-एकाकियो के स्थान पर सगीत-रूपको की सफल योजना करते हुए दिखाई देते है। जो भी हो, रेडियो-रूपकों का यह एक नया प्रकार है। आजकल इसके सफल प्रयोग किए जा रहे हैं।

अभिनेयता—ध्वनि-नाटको की अभिनय-कला रगमचीय नाटको की अभिनय कला से सर्वथा भिन्न होती है। रगमच मे नाटकों के अभिनय की सभी सुविधाएँ प्राप्त होती है। रगमच पर रग-निर्देश, वातावरण चित्रण, वेषभूषा, भावभगिमा और मुद्रा-निर्देशन आदि की सुविधाएँ अभिनय को सरल बना देती है। किन्तु रेडियो-रूपको को अभिनय की यह सुविधाएँ नही प्राप्त होती। उसकी सहायक केवल ध्वनि-वैचित्र्य-मात्र है। अत रेडियो-रूपक के अभिनेताओं को अपेक्षाकृत अधिक सजग रहना पडता है। उन्हें पग-पग पर ध्वनियो के उतार-चढाव, विराम, यति, गति आदि सब को स्पष्ट करते हुए ध्वनि-विकृतियो के सहारे अवस्थानुकृति का प्रयोग करना पड़ता है।

वातावरण निर्माण—रगमचीय नाटको के सदृश ध्वनि-नाटको मे भी वातावरण निर्माण का बडा महत्त्व है। अन्तर केवल इतना है कि सामान्य नाटको मे वाता वरण का निर्माण बाह्य प्रसाधनो—चित्रो, वस्तुओ, पर्दों तथा बाहरी सजावट आदि के द्वारा किया जाता है। रेडियो-रूपक मे यह कार्य ध्वनियों के माध्यम से ही सम्पन्न करना पडता है। इसके लिए वातावरण के ध्वनि-पक्ष को ही अधिक महत्त्व देते हैं। उसके उसी रूप की अवतारणा की जाती है जिसमे ध्वनियो के प्रयोग से उसके सम्पूर्ण स्वरूप के स्पष्टीकरण की सम्भावना है। जैसे वर्षाकालीन चित्र प्रस्तुत

करना है तो बादलो की गड़गड़ाहट, बौछारो की छमछम आदि का ही ध्वनन किया जायेगा।

कहने का अभिप्राय यह है कि रेडियो-रूपको मे वातावरण का निर्माण उसके ध्वनि-पक्ष के सहारे किया जाता है। इस प्रकार के ध्वनि-जनित वातावरण की योजना ध्वनि-नाटको की सफलता के लिए बडी आवश्यक होती है।

सकलन-त्रय की उपेक्षा—रेडियो एकाकी अन्य नाट्य-रूपको की अपेक्षा वैधानिक बन्धनो मे बहुत कुछ मुक्त रहता है। इनमे वस्तु-विन्यास-क्रम तथा सकलन-त्रय की उपेक्षा की जाती है। ध्वनि-नाटको मे इन सब का कोई महत्त्व नही होता।

प्रसिद्ध रेडियो नाटककार

डा० दशरथ ओझा के मतानुसार हिन्दी का सबसे पहला रेडियो नाटक 'राधा कृष्ण' नाम का है। इसकी रचना के लिए कई कलाकारो की समिति बनाई गई थी। उनके प्रयास से इसका प्रयोग किया गया था। उसके बाद नित्य नए कलाकार उदय होते गए। प्रमुख कलाकारो के नाम तथा उनकी प्रमुख रचनाओ का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

डा० रामकुमार वर्मा—'झीनी झीनी बीनी चदरिया', 'चारुमित्रा', 'कौमुदी महोत्सव', 'औरगजेब की आखिरी रात' आदि इनके प्रसिद्ध रेडियो एकाकी नाटक है। इन्होने अधिकतर ऐतिहासिक विषयो पर ही रेडियो-नाटक रचे है।

भगवतीचरण वर्मा—इनके रेडियो-नाटको मे 'राख और चिनगारी' बहुत सुन्दर बन पडा है। इसके अतिरिक्त इन्होने और अनेक रेडियो नाटक लिखे है।

उपेन्द्रनाथ अश्क—इन्होने अधिकतर सामाजिक रेडियो-नाटक लिखे हैं। उनके रेडियो नाटको मे 'सुबह शाम', 'पर्दा गिराओ', 'लक्ष्मी का स्वागत' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

लक्ष्मीनारायण मिश्र—इनके 'अहिल्या', 'अशोक वन', 'ताजमहल के आँसू', 'शाहजहाँ की आखिरी रात' नामक रेडियो नाटक विशेष प्रसिद्ध है।

जगदीशचन्द्र माथुर—रेडियो नाट्य-क्षेत्र मे इनका स्थान बडा महत्त्वपूर्ण है। उदयशकर भट्ट ने इनकी बडी प्रशसा की है। उन्होने साप्ताहिक हिन्दुस्तान ११ मई, १६५८ मे लिखा है—"इसी समय रेडियो के नाटक-युग मे एक नए अधिकारी व्यक्ति का अविर्भाव हुआ वह व्यक्ति है श्री जगदीशचन्द्र माथुर। श्री माथुर के आते ही ऐसा लगा जैसे इस नाटक कला के भी प्राण झनझना उठे। इनके लिखे हुए रेडियो नाटको मे 'भोर का तारा', 'विजय की वेला', 'कोणार्क', 'खण्डहर' आदि विशेष प्रसिद्ध हैं।"

उदयशकर भट्ट—'मदन दहन', 'विक्रमोर्वशी' आदि इनके प्रसिद्ध रेडियो-नाटक हैं।

देवराज दिनेश—इन्होने भी बहुत से रेडियो-नाटक लिखे है। उनमे 'तपोबल', 'मानव प्रताप', 'रावण' आदि विशेष प्रख्यात हैं।

हसकुमार तिवारी—इनके लिखे रेडियो-नाटको मे 'झूठे सपने', 'पुकार' आदि विशेष प्रसिद्ध हैं।

प्रभाकर माचवे—आपने ५० से अधिक रेडियो एकाकी लिखे हैं। इनमें 'व्यवहार पूजा', 'वुभुक्षित किम्न करोति पापम्', 'राम भरोसे', 'पुराने चावल', 'अधकचरे', 'क्या यह नारी है', 'कल किस लिए', 'पैरोडी', 'कवि सम्मेलन' आदि विशेष प्रसिद्ध हैं।

भृग तुपकरी—आपने सब मिलाकर २५० से अधिक एकाकियो की रचना की है। यह सब विविध विषयो पर लिखे गए है और विविध शैलियो मे अभिव्यक्त हुए है। इन्होने नवीन शैलियो के प्रयोग का प्रयास भी किया है जैसे इनके 'भिखारी के भेद' नामक एकाकी के प्रत्येक दृश्य मे पात्र बदल जाते हैं। स्थान-परिवर्तन हो जाती है। प्रधान पात्र के दर्शन केवल अन्त मे होते हैं।

स्वदेश कुमार—आपने लगभग १२-१३ एकाकी लिखे है। इनमे 'नारी का मूल्य', 'शादी की बात', आदि की अच्छी ख्याति है। इन्होंने बच्चो के उपयोग के एकाकी भी लिखे हैं।

रामचन्द्र तिवारी—आपने अधिकतर प्रतीकात्मक और सकेतात्मक एकाकियो की रचना की है। इनके एकाकी कई कोटियो के हैं। बच्चो के उपयोग के एकाकी इन्होने भी लिखे हैं।

सुमित्रानन्दन पन्त—कवि पन्त ने बहुत से सुन्दर एकाकी रेडियो-नाटक भी लिखे हैं। इनके दस से ऊपर एकाकी प्रकाशित हो चुके हैं। इनमे—'युग पुरुष', 'छाया', 'ज्योत्स्ना', 'मानसी', 'फूलो का देश', 'साधना', 'रजत शिखर', 'चौराहा', 'परिणीता' विशेष प्रसिद्ध हैं।

चिरजीत—आपने अनेक प्रकार के एकाकी लिखे हैं। यह अधिकतर रेडियो रूपक है। इनके एकाकी रोमास से रोमाचित अधिक प्रतीत होते हैं। उनमे कल्पना, भावना और माधुर्य का प्राधान्य है। अभिनेयता की दृष्टि से वे विशेष महत्त्व के है। आपने प्रहसनो की रचना मे अच्छी ख्याति प्राप्त की है। कुछ प्रहसनो के नाम हैं—'टेलीफोन', 'दफ्तर जाते समय', 'खजाने का साँप' आदि आदि।

राजाराम शास्त्री—आपने बहुत से एकाकी लिखे है। विभिन्न शैलियो मे हैं। इनमे से अधिकाश सामाजिक और पौराणिक कोटि के है। उनमे आदर्श की भावना अधिक मुखरित दिखाई पड़ती है। इनके एकाकियो में—'पत्थर की आँख', 'आखिरी घूँट', 'बादल बोला', 'सास-बहू' आदि के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं।

अनिल कुमार—इन्होने अधिकतर रेडियो-एकाकी लिखे है। इनके एकाकी अधिकतर यथार्थोन्मुख है। वे सामाजिक और ऐतिहासिक कोटि के है। इनके प्रसिद्ध एकाकियो मे—'फागुन के दिन', 'निर्देशक', 'प्रजापति', 'ग्रहो का निर्णय', 'महा-माया', 'पराजय', 'घूँघट', 'मजबूर' आदि उल्लेखनीय है।

प्रो० कैलाशचन्द्र बृहस्पति—आपने बहुत से ध्वनि-एकाकी लिखे हैं। उनमे—'कलक', 'वर्तमान', 'अतीत', 'सास-बहू' आदि विशेष प्रसिद्ध हैं।

अन्य कलाकार—इन ध्वनि-एकाकीकारो के अतिरिक्त और भी बहुत से कलाकारो ने इस दिशा मे सत्प्रयास किए है। ऐसे कलाकारो मे भारत भूषण, प्रफुल्ल चन्द्र ओझा, गणेश प्रसाद द्विवेदी, अमृतलाल नागर आदि विशेष उल्लेखनीय है।

रेडियो रूपको के भेद

रेडियो-रूपको के एकाँकियो के अतिरिक्त और भी कई भेद देखने मे आ रहे हैं। उनमे निम्नलिखित विशेष प्रसिद्ध है—

(१) सगीत रूपक या गीति नाट्य। (४) झलकियाँ—प्रहसन।
(२) फीचर्स-रूपान्तर। (५) मोनोलाग या स्वोक्ति।
(३) फेंटेसी-भाव नाट्य। (६) रिपोर्ताज।

१. रेडियो सगीत रूपक—गीति-नाट्यो के अन्तर्गत रेडियो-सगीत-रूपक भी आते है। रेडियो गीति-नाट्यो मे सामान्य गीति-नाट्यो की शास्त्रीय विशेषताओ को इतना महत्त्व नही दिया जाता जितना ध्वनि-मूलक अभिनय को। उनमे वे सभी विशेषताएँ पाई जाती है जो रेडियो एकाकियो मे रहती हैं। अन्तर केवल इतना है कि रेडियो एकाकियो मे गद्य का प्रयोग प्रधान रहता है जबकि रेडियो सगीत रूपको मे पद्य का प्रयोग किया जाता है।

रेडियो-सगीत-रूपको की रचना करने वालो मे सुमित्रानन्दन पन्त, चिरजीत और गिरजाकुमार माथुर आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है। पन्त जी के प्रसिद्ध रेडियो-सगीत-रूपको के नाम हैं—फूलो का देश, मानसी, विद्युत् वसना, रजत शिखर, शरद यामिनी आदि। इनके रेडियो-गीति-नाट्य इलाहाबाद और लखनऊ रेडियो स्टेशनो पर अधिकतर अभिनीत होते रहते है। चिरजीत के 'मधुमिलन', 'प्रथम दर्शन', 'जीवन साथी', 'शहनाई के आँसू', 'मेघदूत' आदि रेडियो-गीति-नाट्य विशेष प्रसिद्ध है। यह अधिकतर पश्चिमी ओपेरा के ढग पर लिखे गए हैं। गिरजाकुमार के रेडियो-गीति-नाट्यो मे—'मेघ की छाया', 'ऋतु सहार', 'इन्दुमती' आदि बहुत प्रसिद्ध है। श्री उदयशकर भट्ट और भगवतीचरण वर्मा के रेडियो-गीति-नाट्य भी बहुत लोकप्रिय रहे हैं। सिद्धकुमार, विष्णु प्रभाकर, गिरजाकुमार माथुर आदि अन्य कलाकारो ने भी इस दिशा मे सराहनीय कार्य किया है।

२. फीचर—फीचर भी एक प्रकार का रेडियो-रूपक ही है। इसमे काव्य, उपन्यास, कहानियों आदि का रूपान्तर अभिनयात्मक ढग से व्यक्त किया जाता है। लुईमेकनीस ने इसे वास्तविकता का नाटकीकृत रूप कहा है। फीचर मे कलाकार को उसी प्रकार सजग रहना पडता है जिस प्रकार उसे रेडियो-एकाकी रचना मे जागरूक रहना पडता है। जिस प्रकार रेडियो एकाकी मे लम्बी-चौडी कथावस्तु को खण्डश इस प्रकार सजाया जाता है कि सम्पूर्ण वस्तु की झाँकी प्रस्तुत की जा सकती है। उसी प्रकार फीचर मे उपन्यास आदि इस प्रकार काट-छाँट कर प्रस्तुत किए जाते हैं कि उसका आनन्द भी नष्ट न होने पावे, और पच्चीस-तीस मिनट मे उसका अभिनय भी हो जावे। इसके लिए एक व्याख्याकार की आवश्यकता होती

है। वह मध्य की कथा को इस ढग से व्यक्त करता चलता है कि कथा की रोचकता भी बनी रहती है और उसका स्पष्टीकरण भी हो जाता है। फीचर की सफलता अभिनेताओं और व्याख्याकार दोनो पर ही आश्रित रहती है।

फीचर दो प्रकार के होते हैं—(१) रूपान्तर तथा (२) स्वतन्त्र।

रूपान्तर फीचर के उदाहरण

प्रेमचन्द की कहानियों के रूपान्तर—

(१) शतरज के खिलाड़ी। (३) भक्ति-मार्ग।
(२) सूरदास। (४) मनोवृत्ति।

रवीन्द्रनाथ की कहानियों का रूपान्तर—

(१) काबुली वाला। (२) छुट्टी।

प्रसाद साहित्य—

(१) देवरथ और दासी। (२) इरावती।

कुछ अन्य हिन्दी रूपान्तर—

(१) मृग-जाल—अनन्त गोपाल शेवडे।
(२) मृग-नयनी—'उपन्यास' वृन्दावनलाल वर्मा।

संस्कृत रूपान्तर—

स्वप्न वासव-दत्ता।

विदेशी साहित्य से सम्बन्धित फीचर—

(१) समाज के स्तम्भ—इब्सन।
(२) प्राइड एण्ड प्रिजुडिस।
(३) राबिन्सन क्रूसो।

इस प्रकार और भी अनेक रेडियो रूपान्तर दिन-प्रतिदिन रेडियो पर अभिनीत किये जा रहे हैं। इस क्षेत्र मे अनिलकुमार, मृङ्ग तुपकरी आदि ने बहुत काम किया है।

स्वतन्त्र फीचर्स के उदाहरण—स्वतन्त्र फीचर्स मे 'सर्वोदय', 'वन महोत्सव' आदि के नाम विशेप उल्लेखनीय है।

३. भाव नाट्य—अग्रेजी मे इन्हें 'फैन्टेसी' कहते हैं। इस प्रकार के भाव-नाट्यो मे कुछ निम्नलिखित विशेपताओ का होना आवश्यक होता है।

(१) यह प्राय प्रणय-चित्रण प्रधान होते हैं।

(२) भावना और कल्पना की अतिरेकता होती है।

(३) पात्र, स्वप्न या अर्द्ध विक्षिप्तावस्था मे अपनी रगीन अनुभूतियो को व्यक्त करते हैं।

(४) इसमे घटनाओ और परिस्थितियो आदि का चित्रण भावात्मक ढग से किया जाता है।

(५) अभिनय मे भावातिरेकता का, विविध प्रकार के हाव-भाव के प्रदर्शन रहते हैं।

(६) अन्तर्द्वन्द्व का अकन विशेष रूप से किया जाता है।

प्रकार—भाव-नाट्य भी दो प्रकार के हो सकते है—(१) रेडियो भाव-नाट्य और (२) रगमचीय भाव-नाट्य। प्रथम कोटि के भाव-नाट्यो के उदाहरण के रूप मे विष्णु प्रभाकर-कृत 'अर्द्ध नारीश्वर', 'शलभ और ज्योति' तथा अश्क जी का 'छठा वेटा' आदि के नाम दिए जा सकते है। रंगमचीय भाव-नाट्यो मे उदयशकर भट्ट रचित 'विश्वामित्र' और 'मत्स्यगधा' विशेष प्रसिद्ध हैं।

४ रेडियो प्रहसन और झलकियाँ—रेडियो पर किसी सामान्य मार्मिक घटना की हल्की झलक प्रस्तुत करने की प्रणाली भी है। इन्हें झलकियाँ कहते हैं। इनके अन्तर्गत जीवन और जगत् से सम्बन्धित वातो की अभिव्यक्ति ध्वनि नाटिकाओ के रूप मे प्रस्तुत की जाती है। इनका अभिनय प्राय एक प्रवक्ता के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। यह अधिकतर हास्य और व्यग प्रधान होती है।

इस कोटि की झलकियाँ लिखने वालो मे उपेन्द्रनाथ अश्क, चिरजीत, वृहस्पति, प्रभाकर माचवे, जयनाथ नलिन, भृङ्ग तुपकरी, रामचन्द्र तिवारी, अमृतलाल नागर, आदि के नाम विशेष रूप से लिये जा सकते है। अश्क जी की 'पर्दा उठाओ, पर्दा-गिराओ', 'मसखरेवाजो का स्वर्ग', 'कस्वे के क्रिकेट क्लव का उद्घाटन' आदि झलकियाँ सुन्दर प्रहसनात्मक झलकियाँ हैं।

५ स्वोक्ति नाटक—स्वोक्ति नाटक एक-पात्री नाटक होते हैं। यह मूलत हैं रेडियो रूपक ही, किन्तु रगमच पर भी अभिनीत किए जा सकते हैं। इसकी विशेषता यह है कि या तो एक ही पात्र विविध पात्रो का अभिनय करता है, या पात्र के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण किया जाता है। इसके अभिनय की सूचिका ध्वनि हुआ करती है। एक ही व्यक्ति विविध प्रकार की ध्वनियो का अनुकरण कर अनेक पात्रो का अभिनय करने मे समर्थ होता है। इन नाटको मे व्यग और हास की प्रधानता रहती है। इस दिशा मे कई कलाकरो ने प्रयोग किए है। इसकी रचना का श्रीगणेश सम्भवत सेठ गोविन्ददास ने 'चतुष्पथ' लिखकर किया था। विष्णु प्रभाकर के 'सडक', 'धुआँ', 'नही, नही, नही' नाटक भी स्वोक्ति नाटक है। रामवृक्ष वेनीपुरी, प्रभाकर माचवे, जगदीशचन्द्र माथुर, उदयशकर भट्ट, कर्तारसिंह दुग्गल आदि ने भी इस दिशा मे अनुकरणीय प्रयोग किए हैं।

६. रिपोर्ताज—इसको मैं नाट्य-रूप नही मानता। क्योकि इसमे नाटकीयता होते हुए भी अभिनेयता नही होती। अभिनेयता-रहित अभिव्यक्ति को नाट्य रूप नही माना जा सकता। यह वर्णन का स्वतन्त्र साहित्यिक रूप है। कभी तो इसका रूप शुद्ध गद्य मे होता है और कही गद्य-पद्य दोनो मे दिखाई पडते हैं। कही केवल पद्य की छटा रहती है। किन्तु अधिकतर गद्य रूप ही मिलता है। इधर १५-२० वर्षों मे वहुत सी रिपोर्ताज लिखी गई हैं। इनकी अपनी एक शिल्प-विधि है। उसका स्पष्टीकरण स्वतन्त्र रूप से करेंगे।

सक्षेप मे आजकल यही नाट्य-रूप विकसित हो रहे हैं। इनमे से अधिकाश के रूपो मे अभी स्थिरता नही आ पाई है। अत इनके शास्त्रीय स्वरूप पर भी वहुत अधिक नहीं लिखा जा रहा है।

: ३ :

निवन्ध

रूप और परिभाषा—निवन्ध का वर्त्तमान रूप बहुत अर्वाचीन है। प्राचीन काल मे लेखको की प्रवृत्ति गद्य-विधान की ओर बहुत कम थी। यही कारण है कि निवन्ध का प्रयोग पद्यमय रचनाओ के लिए भी होता था, किन्तु अब वह एक प्रकार का गद्य-विधान ही माना जाता है। रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"निवन्ध गद्य की कसौटी है।" दूसरे शब्दो मे यदि कहना चाहे तो कह सकते है कि निवन्ध गद्य का सुन्दरतम बौद्धिक विधान है। सस्कृत मे निवन्ध के पर्यायवाची के रूप मे कई शब्द पाए जाते हैं। इनमे गद्य-विधान', 'लेख' और 'प्रबन्ध' विशेष विचारणीय हैं। 'गद्य-विधान स्पष्ट ही गद्य मे लिखे गए साहित्य के किसी भी स्वरूप के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। इसलिए उसे हम निवन्ध का पर्यायवाची नही मान सकते। 'लेख' शब्द अवश्य ऐसा है जो अपनी विस्तृत व्यापकता के कारण निवन्ध का पर्यायवाची भी माना जा सकता है। 'प्रवन्ध' शब्द भी बहुत प्रचलित है। वास्तव मे हिन्दी मे इसका प्रयोग विस्तृत आलोचनात्मक निवन्ध के लिए ही किया गया है। रामचन्द्र शुक्ल ने सूर, तुलसी, जायसी आदि पर लिखी गई आलोचनाओ को प्रवन्ध ही कहा है।

निवन्ध का आधुनिक रूप बहुत कुछ पाश्चात्य है। अग्रेजी निवन्ध के लिए Essay शब्द का प्रयोग किया जाता है, Essay से मिलते-जुलते अग्रेजी मे और भी कई गद्य-विधान दिखाई पड़ते हैं, जैसे article, thesis treatise आदि। वास्तव में Eassy इन सवसे भिन्न गद्य-विधान है। वोर्सफोल्ड ने इनके विभेद को सुन्दर शब्दो मे स्पष्ट किया है। हिन्दी मे जो प्रवन्ध और निवन्ध मे भेद माना जाता है Essay और treatise में लगभग वही अन्तर है। thesis अत्यन्त खोज-पूर्ण treatise को कहते है। अतएव निवन्ध से यह भी भिन्न हुई। निवन्ध के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न अनेक अग्रेज विद्वानो ने किया है। इन विद्वानो मे जॉनसन, एलेक्जेण्डर स्मिथ, हालवर्ड और हिल आदि विद्वान् विशेष उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त विविध कोषो ने भी Essay के रूप को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। यहाँ पर कुछ प्रमुख परिभाषाओ का निर्देश कर देना अनुचित न होगा। जॉनसन ने Essay की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"A loose sally of mind and irregular indigested piece of literature not a regular and orderly performance of literature"

अर्थात् निवन्ध मन की उच्छृ खल स्थिति की साहित्यिक अभिव्यक्ति है।

Alaxander Smith ने अपने "On the writing of essay" नामक लेख मे Essay का स्वरूप विवेचन इस प्रकार किया है—

"The essay as a literary form resembles the lyric in so far as it is moulded by some central mood, whimsical, serious or satirical Give the mood and the essay from the first sentence to the last grows around it as the cocoon grows around the silk worm"

अर्थात् निबन्ध-प्रगीत-काव्य से इस बात मे बहुत साम्य रखता है कि प्रगीत-काव्य की भाँति यह भी किसी व्यक्तिगत अनुभूति या मानसिक परिस्थिति विशेष से चाहे वह सनकपूर्ण हो, गम्भीर हो, या व्यग्यात्मक हो, सम्बन्धित रहता है। जिस प्रकार सिल्क के कीडे के चारो ओर कोकून घिर जाता है उसी तरह से उस मानसिक स्थिति को केन्द्रित कर निबन्ध लिखा जाता है। Hallward और Hill नामक विद्वानो ने Essay के रूप को इस प्रकार स्पष्ट करने की चेष्टा की है—

"The essay proper or literary essay is not merely a short analysis of a subject, nor a mere epitone, but rather a picture of wandering minds affected for the moment by the subject with which he is dealing Its most distinctive feature is the egoistical element

अर्थात् साहित्यिक निबन्ध किसी विषय का केवल सक्षिप्तीकरण नही होता बल्कि उसे हम लेखक के मस्तिष्क मे उदभूत वस्तु विशेष के प्रति उत्पन्न प्रति-क्रियात्मक चित्र की अभिव्यक्ति कह सकते है। इसका सबसे प्रमुख विशेषता वैयक्तिकता होती है।

इसी प्रकार अग्रजी मे निबन्ध की और भी परिभाषाएँ मिलती है। उन समस्त परिभाषाओ पर विचार करते हुए Hallward और Hill नामक विद्वानो ने Lamb's Eassys नामक अगरेजी पुस्तक की भूमिका मे उसकी कुछ ऐसी प्रमुख विशेषताओ का निर्देश किया है जो उसे अन्य साहित्यिक विधानो से अलग करती हैं। वे विशेपताएँ सक्षेप मे इस प्रकार हैं—

(१) निबन्ध एक छोटी सी रचना होती है। अग्रेजी मे प्राचीन काल मे कभी-कभी चार सौ या पाँच सौ पृष्ठो की रचनाओ तक को निबन्ध का नाम दिया गया था। लॉक की Essay on Human Understanding ऐसी ही रचना है। किन्तु अब निबन्ध उसी लघु रचना को कहते हैं जो किसी भी अवकाश के समय सरलता से पढी जा सके और मस्तिष्क मे रखी जा सके।

(२) इसमे बहुत सी बातो का सग्रह किया जा सकता है, किसी सिद्धान्त विशेष का प्रतिपादन नही। निबन्ध का कार्य किसी बात को सिद्ध करना नही, बल्कि ध्वनित करना होता है। यह ध्वनन भी चित्रात्मक शैली मे किया जाना चाहिए, वर्णनात्मक शैली मे नही।

(३) निबन्ध को किसी एक विचार या भाव पर ही केन्द्रित रहना चाहिए। यह केन्द्रीकरण कलात्मक ढग से किया जाना चाहिए। जॉनसन के मत का खण्डन करते हुए उपर्युक्त विद्वानो ने निबन्ध मे व्यर्थ की बातो का अव्यवस्थित वर्णन

अनावश्यक माना है। कलापूर्णता और आत्मनिर्भरता निबन्ध की प्रधान विशेषताएँ हैं।

(४) निबन्ध मे जिस विषय का विवेचन किया गया हो उस पर लेखक अपने विचार स्वतन्त्रता से व्यक्त कर सकता है, किन्तु वह अपने विचारो को पाठको पर बलात् लाद नही सकता।

(५) कविता के समान निबन्ध मे भी बुद्धि की अपेक्षा हृदय को प्रभावित करने की क्षमता विशेष होनी चाहिए। इसके लिए लेखक मूर्ति विधान का आश्रय ले सकता है।

(६) निबन्ध की अभिव्यक्ति विचारहीनतामय नही प्रतीत होनी चाहिए। साथ ही साथ ऐसा हो कि उसकी रचना बड़े चिन्तन और मनन के बाद की गई भी प्रतीत न हो। स्वतन्त्र विचारो को निर्बाध रूप मे अभिव्यक्त करना ही निबन्ध का लक्ष्य होता है।

इन विशेषताओ के अतिरिक्त आधुनिक निबन्धो मे में कुछ और विशेषताएँ भी होती हैं।

उसमे लेखक के निजीपन और व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति रहती है। हडसन ने इसी बात की ओर सकेत करते हुए लिखा है—"The true essay is essentially personal" उसने। treatise और essay के मौलिक अन्तर को समझाते हुए इस बात पर और भी अधिक बल दिया है। उसके मतानुसार निबन्ध का Subjective होना नितान्त आवश्यक होता है, किन्तु 'treatise' objective रचना होती है।

इससे ही मिलती-जुलती परिभाषा आचार्य शुक्ल की है—

'आधुनिक लक्षणो के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमे व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो ठीक है। यदि ठीक तरह से समझी जाय। व्यक्तिगत विशेपता का यह मतलब नही कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारो की शृखला रखी ही न जाय या जान-बूझकर जगह-जगह मे तोड़ दी जाय।'

"निबन्ध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर छूटी हुई सूत्र शाखाओ पर विचारता हुआ चलता है। यही उनकी अर्थ सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेपता है।"

"निबन्ध लेखक जिधर चलता है उधर अपनी सम्पूर्ण मानसिक सत्ता अर्थात् बुद्धि और भावात्मक हृदय दोनो लिये हुए रहता है। निबन्ध विधा के जनक मातेन ने भी It is myself I portray लिखकर इसी बात का समर्थन किया है। बेंकर ने निबन्ध को परपेचुअल टाकर (Perpetual Talker) कहकर इसी वैशिष्ट्य का सकेत किया है। उनने पूरा रूपक स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"In course of his volubility the perpetual speaker must of necessarily lay bare his own weakness, vanities and peculiarities"

अर्थात् वह अपनी वाचालता के अन्तराल में अपनी दुर्बलताओं, विचित्रताओ, स्वाभिमानी चेतनाओ आदि को विवृत कर देता है। इसका अर्थ यह हुआ कि

कार को अपनी दुर्बलताएँ सहर्ष स्वीकार करनी पड़ती है। इसी भाव से प्रेरित होकर श्री डब्लू० ऐल० फैल्प्स ने निबन्ध की स्वीकारात्मक विशेषताओ पर ही प्रकाश डाला है—

"It is an intimate confessional style of composition where the writer takes the reader into confidence and talks as if to any one listener , talks to about things often essentially trivial and yet making them for the moment interesting by the charm of speakers manner "

अर्थात् वह एक नितान्त स्वीकारात्मक रचना-शैली है, जिसमे लेखक पाठक को अपने विश्वास का पात्र बनाकर इस प्रकार वार्त्तालाप करता है, मानो वह एक श्रोता हो। वह सामान्य तत्त्वो के सम्बन्ध मे भी इस प्रकार वातें करता है जैसे कि वह बहुत ही महत्त्व एव सुरुचिपूर्ण हो। वह उसमें वक्ता-मनोभावो मे रोचकता की प्रतिष्ठा करता है। गर्डनर महोदय ने निबन्ध के वर्ण्य-विषय मे अपने विचार प्रकट करते हुए निबन्ध की वैयक्तिकता पर ही बल दिया है—

"It is not so much that you have something you want to say as that you must say something And after all what does the subject matter Any peg will do to hang your hat on That hat is the king "—(*From On Catching the Brain A G Gardner*)

अर्थात् निबन्ध-लेखन मे विषय महत्त्वपूर्ण है या नही, इस बात पर विचार करने की आवश्यकता नही होती। उसका विषय कोई भी मामूली पदार्थ हो सकता है।

निबन्ध की वैयक्तिकता ने उसे पूर्ण स्वानुभूतिमूलक विधा बना दिया है। हडसन ने जब निबन्ध और ट्रीटाइज़ का भेद स्पष्ट करने का प्रयास किया, तब उसने यह लिखा है कि निबन्ध विषयीगत विधा है और ट्रीटाइज़ विषयगत रचना है।

निबन्ध की इस विषयीगतता ने उसे गीति-काव्य के समीप ला पटका है। ऐलेकजेन्डर स्मिथ ने निबन्ध के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसकी इसी विशेषता पर बल दिया है—

"The essay as a literary form resembles the lyric in so far as it is moulded by some central mood, whimsical, serious or satirical Give the mood and the essay from the first sentence to the last, grows around it as the cocoon grows around the silk worm "

अर्थात् निबन्ध साहित्यिक विधा के रूप मे गीत के अधिक समीप है। गीत के सदृश ही इसका मूल भाव किसी की मौज से प्रेरित होता है। मन की मौज पैदा हुई कि निबन्ध लिखा गया। मन की मौज के चारो ओर निबन्ध इसी प्रकार विकसित होता जाता है जिस प्रकार रेशम के कीडे के चारो ओर कोकून पैदा होता है।

अगर निबन्ध और गीत के अन्तर को एक शब्द मे स्पष्ट करना चाहे तो कह सकते हैं कि निबन्ध का प्राण हास्य और व्यग होता है और गीत का भावना-

जनित मार्मिकता। दोनो मे एक अन्तर और निर्दिष्ट किया जा सकता है। गीत का विषय अधिकतर उदात्त ही होता है, किन्तु निबन्ध उदात्त और अनुदात्त सभी प्रकार के विषयों पर लिखा जा सकता है।

हिन्दी विद्वानो के निबन्ध के सम्बन्ध में दृष्टिकोण

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत—हिन्दी विद्वानो मे निबन्ध के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत विशेष महत्त्व का है। उनके ऊपर पाश्चात्य विद्वानो की पूरी-पूरी छाप है। उन्होने भी उन्ही के अनुकरण पर निबन्ध को अधिकतर लेखक के व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब ही व्यजित करने का प्रयास किया है। उन्होंने इस सम्बन्ध मे लिखा है—

"आधुनिक लक्षणो के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमे व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषताएँ हो। बात तो ठीक है, यदि ठीक तरह से समझी जाय। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारो की शृखला रखी ही न जाय, या जान-बूझकर जगह-जगह से तोड़ दी जाय।"

× × ×

निबन्ध-लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर छूटी हुई सूत्र-शाखाओ पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ-सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है।"

× × ×

"निबन्ध-लेखक जिधर चलता है, उधर अपनी सम्पूर्ण मानसिक सत्ता, अर्थात् बुद्धि और भावात्मक हृदय दोनो को साथ लिये रहता है।"

एक अन्य मत—विजयशकर मल्ल उदीयमान लेखक हैं। उन्होने भी निबन्ध के स्वरूप पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। वे लिखते हैं—"निबन्धकार समाज का भाष्यकार और आलोचक भी होता है।" इसलिए सामाजिक परिस्थितियो का जैसा सीधा और स्पष्ट प्रभाव निबन्धो पर दिखाई पडता है, वैसा अन्य साहित्यिक रूपो पर नही। निबन्धकार बाह्य जगत् से प्राप्त अपनी सवेदनाओं को शीघ्र ही कम से कम परिवर्तित रूप मे यथासम्भव अन्य साहित्यिक रूपो की अपेक्षा अधिक स्पष्टता से अपनी रचनाओ द्वारा प्रस्तुत करता है। उसका और पाठक का इतना सीधा सम्बन्ध होता है कि शैलीगत साज-सज्जा और कलात्मकता प्रदर्शित करने का उसे अधिक अवसर नहीं मिलता। अवश्य ही यह बात नैसर्गिक निबन्ध-लेखक के लिए कही जा सकती है।

× × ×

"इसका शरीर बड़ा लचीला और लेखक की सुविधा के अनुसार बराबर मुड़ जाता है।"

समस्त मतों की व्याख्या और अपना दृष्टिकोण

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं में, उपर्युक्त अवगुणों के होने पर भी कुछ बात अवश्य दिखाई पड़ती है, पर है उनमें प्रत्येक में अतिव्याप्ति की गुंजाइश का दोष। साधारण में निबन्ध की यह व्याख्या अनिश्चित है। ठीक बात यह है। उपर्युक्त परिभाषाओं को दृष्टि में रखते हुए हम निबन्ध की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं—

'निबन्ध वह गद्य-रचना या रचना-विधान है जिसमें निबन्धकार अपने या जगत् में स्वयं या किसी भी वस्तु या व्यक्ति के प्रति उत्पन्न अपनी मानसिक और बौद्धिक प्रतिक्रियाओं को इस प्रकार निर्बाध अभिव्यक्त करता है कि वह अधिक से अधिक रोचक, मननशील और चमत्कारपूर्ण हो।"

निबन्ध का साहित्य मे स्थान

साहित्य मे निबन्ध का क्या स्थान है, इस बात को शुक्ल जी ने सरल शैली मे थोड़े से वाक्य मे इस प्रकार स्पष्ट कर दिया है—'यदि गद्य कवियों का कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी"। इससे स्पष्ट है कि निबन्ध का साहित्य के विविध विधानो मे उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण स्थान है। निबन्ध मे मिलते-जुलते कई साहित्यिक विधान दिखाई पड़ते है, पद्य-क्षेत्र मे प्रगीत-काव्य निबन्ध से बहुत सी बातो मे समान मालूम पड़ता है। यही कारण है कि कुछ विद्वानो ने निबन्ध मे प्रगीत-तत्त्व पर विशेष बल दिया है। अलेक्जेण्डर स्मिथ ने इस बात का इस प्रकार सकेत किया है। (पीछे स्मिथ साहब की परिभाषा देखिए) इससे स्पष्ट है कि निबन्ध प्रगीत काव्य के बहुत समीप होता है। सक्षेप मे दोनो की समताओं और विषमताओं का सकेत कर देना अनुपयुक्त न होगा।

समताएँ—निबन्ध और प्रगीत काव्य मे निम्न समानताएँ है—

(१) प्रगीत-काव्य के समान ही निबन्ध भी एक केन्द्रिक मानसिक दशा से ही प्रेरित माना जाता है।

(२) प्रगीत के ही समान इसमे लेखक का निजीपन और व्यक्तित्व झलकता रहता है।

(३) प्रगीत के ही समान इसका कार्य भी हृदय और बुद्धि का क्षणिक रजन करना है, किसी गूढ सिद्धान्त का शृखलाबद्ध प्रतिपादन नही।

विषमताएँ—निबन्ध और प्रगीत-काव्य मे निम्नलिखित विषमताएँ प्रत्यक्ष, दिखाई पडती है—

(१) निबन्ध गद्य-विधान है, प्रगीत-काव्य की अभिव्यक्ति अधिकतर पद्य मे हुआ करती है।

(२) निबन्ध का कार्य बुद्धि और हृदय दोनो की परितुष्टि करना होता है, चाहे वह परितुष्टि क्षणिक ही क्यो न हो, किन्तु प्रगीत-काव्य हमारे हृदय का ही रजन अधिक करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विषमताओ के प्रकाश मे हम कह सकते हैं कि निबन्ध प्रगीत-काव्य से साम्य रखते हुए भी एक भिन्न साहित्यिक रूप हैं।

गद्य क्षेत्र मे निवन्ध से मिलते-जुलते कई साहित्यिक रूप दिखाई पडते हैं। उनमे एक treatise या प्रवन्ध है।

निवन्ध और प्रवन्ध में प्रत्यक्ष रूप से वहुत साम्य दिखाई देते हुए भी विभेद है।

समस्याएँ—दोनो मे किसी वस्तु का चित्रण और वर्णन वैयक्तिक दृष्टिकोण से ही किया जाता है, हृदय की पूरी अभिव्यक्ति मिलती है।

विषमताएँ—(१) गद्य-गीत मे हमे भावना की ही अतिरेकता मिलती है, किसी वस्तु की भावात्मक प्रतिक्रिया कल्पना की ऊँची उडान के साथ चमत्कारपूर्ण काव्यमयी शैली मे लिखी जाने के कारण गद्यगीत कहलाती है, किन्तु निवन्ध में भावना के साथ-साथ विचारो का भी सगुम्फन किया जाता है। निवन्ध मे कल्पना को उतना महत्त्व नही दिया जाता जितना तर्कना को। निवन्ध की शैली भी उतनी काव्यत्व-पूर्ण नहीं होती जितनी गद्यगीत की होती है। अत स्पष्ट है कि गद्यगीत निवन्ध से भिन्न होता है। इस प्रकार निवन्ध साहित्य का एक स्वतन्त्र गद्यस्वरूप सिद्ध होता है। कहानी, उपन्यास, जीवनी आदि गद्य विधानो से इसका कोई सम्वन्ध नही है। इसी लिए हमने उन सबके साम्य और वैषम्य का निर्देश करने की चेष्टा नही की है।

निवन्ध के स्थूल रूप से दो प्रकार दिखाई पडते हैं—एक साहित्यिक, दूसरा उपयोगी।

आजकल वैज्ञानिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक विषयो पर भी निवन्ध के सदृश गद्य विधान देखे जाते हैं। किन्तु यह गद्य-विधान साहित्यिक निवन्धो से कई वातो मे भिन्न होते है। सक्षेप मे वे वातें इस प्रकार हैं—

(१) इनमे काव्यत्व और साहित्यिकता उस मात्रा मे नही मिलती जिस मात्रा मे उपर्युक्त उपयोगी गद्य-विधानो मे मिलती है।

(२) इसमे लेखक का निजीपन और व्यक्तित्व प्रतिविम्वित नही हो पाता जैसा कि साहित्यिक निवन्धो मे प्राय प्रतिविम्वित दिखाई पड़ता है।

(३) यह अधिकतर विषय प्रतिपादन की दृष्टि से विषयगत ही होते है, निवन्ध के समान विषयीगत नही होते। इन कारणो से हम इन उपयोगी विषयो पर लिखे गये निवन्ध के से आकार वाले गद्य-विधानो को सीधा-सादा लेख या article का नाम देंगे। Article मे अग्रेजी परिभाषा वहुत कुछ इसी कोटि के निवन्धो को दृष्टि मे रखकर दी गई है।

"A literary composition forming an independant portion of a Magazine, newspaper or encyclopaedia, etc"

अतः स्पष्ट है कि हम आलोचना, राजनीति, समाज, धर्म, विज्ञान आदि विषयो मे सम्वन्धित गद्य-विधानो को निवन्ध की कोटि मे न रखकर लेख का अभिधान देंगे।

विषमताएँ — (१) दोनों में यही विषमता है जो कि [illegible] में होता है, अर्थात् निबन्ध में किसी बात का [illegible] और [illegible] चित्रण मात्र होता है, किन्तु प्रबन्ध में [illegible] विषय का प्रतिपादन और विवेचन किया जाता है।

(२) निबन्ध में लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति अधिक पाई जाती है किन्तु प्रबन्ध में [illegible] की प्रधानता रहती है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि निबन्ध [illegible] रचना होती है, और प्रबन्ध [illegible] रचना।

(३) निबन्ध आकार में छोटा और संक्षिप्त होता है, प्रबन्ध विस्तृत और बड़ा होता है।

(४) निबन्ध में किसी भी वस्तु के प्रति केवल लेखक का ही दृष्टिकोण प्रकट रहता है किन्तु प्रबन्ध में विभिन्न विद्वानों की सम्मतियों और दृष्टिकोणों का विवेचन भी किया जा सकता है।

(५) हिन्दी में treatise और essay में बहुत अन्तर नहीं समझा जाता है। शुक्लजी ने सूरदास आदि पर लिखे गए अपने प्रबन्धों को आलोचनात्मक निबन्ध कहा है। इससे एक बात साफ स्पष्ट है कि जब निबन्ध लेखक के वैयक्तिक दृष्टिकोणों से उदासीन होकर स्वतन्त्र आलोचना का काम करने लगता है तब उसे आलोचनात्मक निबन्ध या दूसरे शब्दों में प्रबन्ध कह सकते हैं।

Treatise के समान गद्य का एक विधान थीसिस के नाम से भी प्रसिद्ध है। यह भी एक प्रकार की treatise ही होती है। दोनों में अन्तर इतना ही है कि thesis किसी डिप्लोमा आदि के लिए लिखी जाती है और अधिक खोजपूर्ण होती है। अंग्रेजी कोषों में भी thesis की व्याख्या इस प्रकार दी गई है—

"An essay or description written upon a specific or definite theme especially as essay presented by a candidate for diploma or degree

साधारणतया निबन्ध और thesis में वे ही समानताएँ और विषमताएँ देखी जाती हैं जो treatise और निबन्ध में है।

निबन्ध से मिलता-जुलता एक साहित्यिक रूप और है, वह है गद्यगीत। ऊपर हम अभी निबन्ध में प्रगीतत्व विशेषता का होना अनिवार्य बतला चुके हैं। गद्यगीत भी प्रगीतत्व-प्रधान गद्य-विधान है। किन्तु दोनों में फिर भी कुछ समताएँ और विषमताएँ हैं। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा दिए गए उनके स्वरूप और अन्तर का संकेत कर देना आवश्यक है। अंग्रेजी परिभाषा इस प्रकार मिलती है—

A written composition on particular subject in which its principles are discussed or explained A treatise implies more from and method an essay treaties

और निबन्ध के विभेद के सम्बन्ध में वर्सफोल्ड ने इस प्रकार लिखा है—

The essay stands to the treatise in the relation of a sketch to a finished painting and it has the same kind of merit as a sktech from the nature Just as a sketch is a record of direct and immediate impression received by the mind of the painter from the study of natural objects made on the spot So the essay should contain impression received by the mind of the writer when it has been brought fresh to the consideration of any body of facts

एक दूसरे स्थान पर Worsfold ने essay तथा treatise अन्तर का इस प्रकार स्पष्ट किया है—

The essay is distinguished by the brevity of its external form and by the presence of the element of reflection It treats subject from a single point of view and permits the personal characteristic of the writer to assume a greater prominance than is permitted in the regular and complete treatment of the same subject in a treatise or book

अर्थात् निबन्ध अपने बाह्य रूप की सक्षिप्तता और विचारात्मकता के कारण स्पष्ट हो जाता है। इसमे विषयो का विवेचन केवल एक ही दृष्टि से होता है। वह लेखक के व्यक्तित्व के छाप की गहराई है। यह विशेषता अन्य प्रकार की पुस्तक या प्रबन्ध मे नहीं पाई जाती।

इस अवतरण से निबन्ध और ट्रीटाइज का भेद स्पष्ट प्रगट है।

हिन्दी निबन्ध साहित्य का विकास

निबन्ध साहित्य को हम निम्नलिखित युगो मे बॉट सकते हैं।

(१) भारतेन्दु युग।

(२) द्विवेदी युग।

(३) शुक्ल युग।

(४) वर्त्तमान प्रवृत्तियां।

भारतेन्दु युग—भारतेन्दु युग से ही हिन्दी साहित्य की निबन्ध परम्परा का श्रीगरोश हुआ। इस युग के निबन्धो मे प्रारम्भिक युग का होने के कारण अनेक नवीनताओ के साथ-साथ कुछ दोष भी मिलते हैं। डॉ० वार्ष्णेय ने अपने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' मे इस युग के निबन्धो को निबन्ध न कहकर लेख ही कहा है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बद्रीनारायण चौधरी, जगमोहनसिंह, अम्बिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी, गोविन्द नारायण मिश्र आदि अनेक लेखको की ऐसी रचनाएँ मिलती हैं जिनमे निबन्ध के कुछ लक्षण अवश्य मिल जाते हैं। किन्तु उन्हें निबन्ध न कहकर लेख कहना ही अधिक युक्तिसंगत होगा। उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे निबन्ध-रचना का वास्तविक रूप बालकृष्ण भट्ट और प्रताप नारायण मिश्र की रचनाओ मे माना है।

इस युग के निबन्धों की कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं—

(१) इस काल के निबन्धों मे व्याख्या सौष्ठव नही मिलता। वाक्यविन्यास मे भी व्याकरण आदि की अशुद्धियाँ पाई जाती है।

(२) वास्तव मे यह निबन्ध निबन्ध न होकर लेख ही होते थे।

(३) डॉ० सत्येन्द्र ने इस काल के निबन्ध-साहित्य की रूपरेखा पत्र-रचना मे सम्बन्धित मानी है। वह लिखते है कि यह सभी निबन्ध साधारण— किसी सामयिक समस्या पर नोटवत् है, जिनमे स्वतन्त्र निबन्ध-कला के बीज पैदा हो गए है। अठारवी शताब्दी मे अंग्रेजी निबन्ध भी पत्र-कला के साथ आगे बढे थे।

(४) उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध की निबन्ध रचनाएँ सग्रह रूप मे नही मिलती वे विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे ही दिखाई पडती है। पुस्तक रूप मे प्रकाशित न होने के कारण अधिकाश सामग्री प्राप्त नही है।

(५) अनेक सामान्य विषयो पर जैसे वृद्ध, भौह, आँख आदि पर छोटे-छोटे निबन्ध लिखे गए।

(६) इन स्थायी विषयो के साथ सामाजिक जीवन-सम्बन्धी ऋतुचर्या, पर्व-त्यौहार आदि पर भी साहित्यिक निबन्ध लिखे गए। इन लेखों मे देश की परम्परागत भावनाओ और उमगो का प्रतिबिम्ब रहता था।

(७) ये लेख ग्रन्थ रूप मे प्रकाशित नही हुए थे। मासिक पत्रो के निबन्धो जैसे लेख यथार्थ मे बडे ग्रन्थ के ही भाग है। अत इस काल के निबन्धो मे भी दो प्रकार के रूप मिलते है—

(क) ग्रन्थ-रचना की शैली से एक तटस्थ भाव गाम्भीर्य लिये हुए।

(ख) स्फुट विचारो मे विनोदात्मकता, रूपकत्व तथा व्यक्तिगत भाव सस्पर्शिता से युक्त निबन्ध।

(८) हास्य विनोद-मुहावरे के प्रयोग आदि की ओर लेखको की विशेष रुचि पाई जाती है।

इस युग के प्रमुख लेखक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, पण्डित प्रतापनारायण मिश्र, प० बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन, प० अम्बिकाप्रसाद व्यास, माधवप्रसाद मिश्र, प० राधाचरण गोस्वामी और बालमुकुन्द गुप्त है।

इन लेखको की अपनी वैयक्तिक विशेषताएँ हैं, किन्तु समष्टि रूप मे समाज सुधार और देश-भक्ति इस युग के व्यापक गुण हैं। इनकी पक्तियो मे काव्यानन्द आता है, जैसे 'जहाँ गीत गोविन्द है वही वैष्णव गोष्ठी है, वही रसिक समाज है, वही वृन्दावन है, इत्यादि।' चन्द्रोदय नामक निबन्ध मे उत्प्रेक्षा के साथ भाव और भाषा का सामञ्जस्य मिलता है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—नाटको के समान इनके निबन्धो मे शैलीगत व्यावहारिकपन और भाषा की स्थिरता नही आ सकी है। काश्मीर कुसुम, वैष्णव सर्वस्व, चरितावली, सूरदास, जयदेव, कबीर आदि निबन्धो मे धार्मिक आवेश और देश-प्रेम

की भावना ही दिखाई पडती है। कुछ निबन्धो मे अवश्य साहित्य-सौन्दर्य मिलता है। जनाव, आफत जैसे उर्दू के तद्भव शब्दो तथा करे, हेतू, थिर, जैसे पण्डिताऊ शब्दो का प्रयोग किया है। अपूर्व स्वप्न शीर्षक निबन्ध मे हास्य का सुन्दर प्रयोग मिलता है।

भाषा को सरल बनाने के लिए ग्रामीण शब्दो का भी प्रयोग किया गया है। भाषा के इस सामान्य रूप के कारण उनकी निबन्ध-कला मे अस्थिरता, अपरिपक्वता, पूर्वीपन, व्रजभाषापन और पण्डिताऊपन आ गया है। परन्तु उनकी प्रसगोपयुक्त, मनोरजक, व्यावहारिक, रोचक और द्रुतगामिनी भाषा कहावतो एव मुहावरो के सुन्दर प्रयोग उनकी शैली की श्रीवृद्धि मे बहुत सहायक हैं।

बालकृष्ण भट्ट—हिन्दी के प्रारम्भिक निबन्ध-लेखको मे इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके निबन्ध कई कोटियो के हैं—

(१) विचित्र विषयो पर लिखे गए निबन्ध, जैसे 'भकुआ कौन कौन है'।

(२) सम-सामयिक विषयो पर लिखे गए निबन्ध, जैसे 'पुरातन और नवीन सभ्यता'।

(३) काल्पनिक निबन्ध जैसे, 'आँसू', 'चन्द्रोदय'।

(४) गम्भीर तथा शिक्षाप्रद निबन्ध जैसे 'आत्मनिर्भरता', 'माता का स्नेह' आदि।

(५) सामाजिक और राजनीतिक निबन्ध—अनेक निबन्ध के रूप में लिखी हुई जीवनियाँ भी इसी कोटि मे आती है जैसे 'शकराचार्य' और 'गुरु नानकदेव'।

(६) भावात्मक निबन्ध—जैसे 'कल्पना'। इनमे रस और भाव की व्यजना मिलती है।

इन निबन्धो को दृष्टि मे रखते हुए भट्टजी की निबन्ध सम्बन्धी प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार निर्दिष्ट की जा सकती हैं—

(१) राजा शिवप्रसाद, भारतेन्दु, लक्ष्मणसिह आदि तत्कालीन प्रमुख लेखको की भाषा के रूप भट्टजी मे मिलते हैं।

(२) शैली की दृष्टि से भट्टजी के निबन्ध सस्कृत-शैली के अन्तर्गत रखे जा सकते है। यद्यपि उन्होने उर्दू और अग्रेजी के शब्दो का भी प्रयोग किया है परन्तु ऐसा उन्होने हिन्दी को व्यापक रूप देने और भाव-प्रकाशन मे सुगमता लाने के लिए ही किया है। उन्होने 'सुन्दरापा', 'मरपच' आदि कुछ नए शब्द भी गढे है।

(३) भाषा को सुगम, बोधगम्य और सरस बनाने के लिए उसे व्यावहारिक और व्यापक रूप दिया है।

(४) उनके निबन्धो मे व्यक्तित्व और आत्मचिन्तन दिखाई देता है। उनके निबन्ध प्राय. वर्णनात्मक, विचारात्मक, भावात्मक, तर्कप्रधान, व्याख्यात्मक और समालोचनात्मक है।

(५) विविध उद्धरण देकर यह 'साराश है', या 'तात्पर्य यह है' आदि

वाक्याशो से अपने विचारो को स्पष्ट कर देना चाहते थे। उद्धरणो की अधिकता कही-कही भाषा की सुसम्बद्धता और सुशृखलता मे बाधक हुई है।

(६) शिष्ट, मार्मिक और अवैयक्तिक हास्य-व्यग भट्टजी की प्रमुख विशेषता है। किन्तु कही-कही उनके विचार वैज्ञानिक और तर्कसगत न होकर हास्यास्पद हो गए।

प्रतापनारायण मिश्र—यह भट्टजी के समकालीन थे। 'मनोयोग', 'नारी' आदि जैसे गम्भीर विषयो के साथ-साथ 'होली', 'आप चोर', 'घूरे के लत्ता' आदि हास्य-पूर्ण निबन्ध भी लिखे है। दूसरे प्रकार के ही निबन्ध अधिक मिलते है। अरबी, फारसी, अग्रेजी के शब्द तथा अनेक गढे हुए शब्दो का प्रयोग इनकी शैली की विशेषता है।

उनके विचारात्मक निबन्धो का स्वरूप इससे कुछ भिन्न है। उनमे हास्य-व्यग तथा उर्दू के शब्दो के प्रयोग की प्रवृत्ति नही मिलती। सस्कृत शब्द अधिक मिलते है। 'कवि और कविता' शीर्षक निबन्ध मे इनकी शैली का अच्छा स्पष्टीकरण हो जाता है। इनके निबन्धो मे विषय-वस्तु की अपेक्षा शैलीगत चमत्कार अधिक है।

पण्डित अम्बिकादत्त व्यास—विचारात्मक निबन्ध लेखको मे प० अम्बिकादत्त व्यास का स्थान भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इनके कुछ प्रसिद्ध निबन्धो के नाम 'धैर्य', 'क्षमा', 'ग्रामवास', 'नगरवास' आदि है। यद्यपि व्यासजी सस्कृत के धुरन्धर विद्वान् थे, किन्तु उन्होने अपने निबन्धो की भाषा और शैली को सस्कृत-गर्भित बनाने की चेष्टा नही की है। वह सरल, स्वाभाविक और प्रसाद गुण सम्पन्न है। इनकी भाषा और शैली पण्डिताऊपन और ग्रामीण प्रयोगो से अत्यधिक प्रभावित है।

माधवप्रसाद मिश्र—भावात्मक निबन्ध लेखको मे मिश्रजी की अच्छी ख्याति थी। इनके निबन्ध सख्या मे अधिक नही हैं किन्तु निबन्ध-कला के विकास की दृष्टि से उनका विशेष महत्त्व है। आपकी भाषा और शैली पर सस्कृत का बडा गहरा प्रभाव पडा है। उनके निबन्धो मे ढूँढने से भी कही उर्दू शब्द का प्रयोग नही मिलता। उनकी भाषा और शैली की उपर्युक्त विशेषता निम्नलिखित उद्धरण से प्रगट है—"आर्यवश के धर्म, कर्म और भक्ति-भाव का प्रबल प्रवाह, जिसने एक दिन जगत के बडे-बडे सन्मार्ग विरोधी भूधरो का दर्प दलन कर उन्हें रज मे परिणत कर दिया था और इस परम पवित्र वश का वह विश्व व्यापक प्रकाश, जिसने एक समय जगत मे अन्धकार का नाम तक न छोडा था—अब कहाँ है ?" "जहाँ महा महा महीधर लुढक जाते थे और अगाध अतल स्पर्शीजल था वहाँ अब पत्थरो मे दबी हुई एक छोटी सी किन्तु सुशीतल वारिधारा बह रही है जिससे विदग्ध जनो के दग्ध हृदय का यथा-किञ्चित सताप दूर हो रहा है। जहाँ महाप्रकाश से दिग्दिगन्त उद्भासित हो रहे थे, वहाँ अब एक अधकार से घिरा हुआ स्नेहशून्य प्रदीप टिमटिमा रहा है जिससे कभी-कभी भू-भाग प्रकाशित हो रहा है।" इनका 'रामलीला' नामक निबन्ध हिन्दी साहित्य मे विशेष प्रतिष्ठित है।

द्विवेदी-युग—द्विवेदी-युग के निबन्धो की प्रवृत्ति को समझने के लिए अग्रेजी भाषा के कुछ निबन्धों, सग्रहो के अनुवादो को ध्यान मे रखना आवश्यक है। इन

अनुवादो मे 'वेकन विचार रत्नावली' वहुत प्रसिद्ध है। वेकन अग्रेजी के प्रसिद्ध निवन्धकार थे उनकी अपनी विशेपताएँ थी। उनकी समस्त विशेपताओ का प्रभाव इस अनुवाद गद्य के सहारे तत्कालीन हिन्दी निवन्धो पर पडा है। अग्रेजी अनुवादो के अतिरिक्त कुछ मराठी के ग्रन्थो के अनुवाद भी प्रकाशित हुए, इनमे चिप्लूणकर के निवन्ध विशेप रूप मे उल्लेखनीय हैं। चिप्लूणकर के अनूदित निवन्धो का सग्रह निवन्धमालादर्श के नाम से विख्यात हैं। इसका अनुवाद गगाप्रसाद अग्निहोत्री ने किया था।

इस युग के प्रमुख लेखको मे महावीरप्रसाद द्विवेदी, वावू गोपालराम गहमरी, प० गोविन्दनारायण मिश्र, वावू श्यामसुन्दरदास, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, प० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी—द्विवेदीजी ने निवन्ध के प्रारम्भिक उत्थान काल मे उसकी शैली का परिमार्जन किया। भापा सम्वन्धी दोषो का परिहार भी इसी काल मे हुआ। भापा सम्वन्धी शिथिलता, अव्यावहारिकता और अशुद्धता दूर करने के लिए उन्होंने सरस्वती का सम्पादन किया और उसमे 'भापा की अनस्थिरता' जैसे आलोचनात्मक निवन्ध प्रकाशित कराए। शैली की दृष्टि से इनके निवन्ध दो भागो मे विभक्त किए जा सकते है।

(१) मनोरजक और कौतूहलवर्द्धक निवन्ध।

(२) गम्भीर विपय वाले विचारात्मक और साहित्यिक निवन्ध। प्रथम कोटि के निवन्धो की शैली मे प्रसाद तथा ओज-गुण, व्यग, व्यावहारिकता, सजीवता और सामजस्य-भावना आदि गुण मिलते है। व्यास शैली प्रधान छोटे वाक्यो की वहुलता है। मुहावरे तथा उर्दू के तत्सम शव्दो का जैसे, कम अक्ल, तर्ज आदि का प्रयोग भी मिलता है। दिन-दहाडे आदि हिन्दी देशज के शव्दो का भी प्रयोग है।

गोपालराम गहमरी—शैली और विपय-वस्तु की दृष्टि से इनके निवन्ध भावप्रधान है जैसे 'ऋद्धि-सिद्धि'। इनकी शैली मे एक चमत्कार-प्रदर्शन और कौतूहल रहता है। भापा रोचक, प्रगल्भ और व्यावहारिक है। अग्रेजी और उर्दू के मुहावरो और शव्दो का प्रयोग भी मिलता है।

पं० गोविन्दनारायण मिश्र—इनकी गणना निश्चयात्मक वुद्धि-प्रधान एव विचारात्मक निवन्ध लेखको मे होती है। लेखक की विविध भापाओ की विज्ञता उसकी रचनाओ से प्रतिध्वनित होती है। 'कवि और चित्रकार', 'पट्ऋतु-वर्णन', 'आत्माराम की टेटें' आदि इनके विचारात्मक निवन्ध हैं। इनके निवन्धो मे दो प्रकार की शैलियाँ मिलती हैं। काव्यात्मक निवन्धो की शैली अनुप्रासयुक्त, समास प्रधान और क्लिप्ट सस्कृतमय है। इसके विपरीत अन्य निवन्धो मे अपेक्षाकृत सरल और गद्य शैली मिलती है। प्रथम कोटि के निवन्धो में भावो की जटिलता और साधारण शव्दाडम्वर के कारण रचना मे दुरूहता आ गई है जिससे साधारण वाक्योचित वोधगम्य स्वाभाविक धारा-प्रवाह नही मिलता।

वाक्याशो से अपने विचारो को स्पष्ट कर देना चाहते थे। उद्धरणो की अधिकता कहीं-कही भाषा की सुसम्बद्धता और सुश्रृखलता मे वाधक हुई है।

(६) शिष्ट, मार्मिक और अवैयक्तिक हास्य-व्यग भट्टजी की प्रमुख विशेषता है। किन्तु कही-कही उनके विचार वैज्ञानिक और तर्कसगत न होकर हास्यास्पद हो गए।

प्रतापनारायण मिश्र—यह भट्टजी के समकालीन थे। 'मनोयोग', 'नारी' आदि जैसे गम्भीर विषयो के साथ-साथ 'होली', 'आप चोर', 'घूरे के लत्ता' आदि हास्य-पूर्ण निबन्ध भी लिखे हैं। दूसरे प्रकार के ही निबन्ध अधिक मिलते है। अरवी, फारसी, अग्रेजी के शब्द तथा अनेक गढे हुए शब्दो का प्रयोग इनकी शैली की विशेपता है।

उनके विचारात्मक निबन्धो का स्वरूप इससे कुछ भिन्न है। उनमे हास्य-व्यग तथा उर्दू के शब्दो के प्रयोग की प्रवृत्ति नही मिलती। सस्कृत शब्द अधिक मिलते हैं। 'कवि और कविता' शीर्षक निबन्ध से इनकी शैली का अच्छा स्पष्टीकरण हो जाता है। इनके निवन्धो मे विषय-वस्तु की अपेक्षा शैलीगत चमत्कार अधिक है।

पण्डित अम्बिकादत्त व्यास—विचारात्मक निबन्ध लेखको मे प० अम्बिकादत्त व्यास का स्थान भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इनके कुछ प्रसिद्ध निवन्धो के नाम 'धैर्य', 'क्षमा', 'ग्रामवास', 'नगरवास' आदि है। यद्यपि व्यासजी सस्कृत के धुरन्धर विद्वान् थे, किन्तु उन्होने अपने निबन्धो की भाषा और शैली को सस्कृत-गर्भित बनाने की चेष्टा नही की है। वह सरल, स्वाभाविक और प्रसाद गुण सम्पन्न है। इनकी भाषा और शैली पण्डिताऊपन और ग्रामीण प्रयोगो से अत्यधिक प्रभावित है।

माधवप्रसाद मिश्र—भावात्मक निबन्ध लेखको मे मिश्रजी की अच्छी ख्याति थी। इनके निबन्ध सख्या मे अधिक नही हैं किन्तु निबन्ध-कला के विकास की दृष्टि से उनका विशेष महत्त्व है। आपकी भाषा और शैली पर सस्कृत का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। उनके निबन्धो मे ढूँढने से भी कही उर्दू शब्द का प्रयोग नही मिलता। उनकी भाषा और शैली की उपर्युक्त विशेषता निम्नलिखित उद्धरण से प्रगट है—
"आर्यवश के धर्म, कर्म और भक्ति-भाव का प्रवल प्रवाह, जिसने एक दिन जगत के वडे-बडे सन्मार्ग विरोधी भूधरो का दर्प दलन कर उन्हें रज मे परिणत कर दिया था और इस परम पवित्र वश का वह विश्व व्यापक प्रकाश, जिसने एक समय जगत मे अन्धकार का नाम तक न छोडा था—अब कहाँ है?" "जहाँ महा महा महीधर लुढक जाते थे और अगाध अतल स्पर्शीजल था वहाँ अब पत्थरो मे दवी हुई एक छोटी सी किन्तु सुशीतल वारिधारा बह रही है जिससे विदग्ध जनो के दग्ध हृदय का यथा-किञ्चित सताप दूर हो रहा है। जहाँ महाप्रकाश से दिग्दिगन्त उद्भासित हो रहे थे, वहाँ अब एक अधकार से घिरा हुआ स्नेहशून्य प्रदीप टिमटिमा रहा है जिससे कभी-कभी भू-भाग प्रकाशित हो रहा है।" इनका 'रामलीला' नामक निबन्ध हिन्दी साहित्य मे विशेप प्रतिष्ठित है।

द्विवेदी-युग—द्विवेदी-युग के निवन्धो की प्रवृत्ति को समझने के लिए अग्रेजी भापा के कुछ निवन्धो, संग्रहो के अनुवादो को ध्यान मे रखना आवश्यक है। इन

अनुवादो मे 'वेकन विचार रत्नावली' वहुत प्रसिद्ध है। वेकन अग्रेजी के प्रसिद्ध निवन्ध-कार थे उनकी अपनी विशेपताएँ थी। उनकी समस्त विशेपताओ का प्रभाव इस अनुवाद गद्य के सहारे तत्कालीन हिन्दी निवन्धो पर पडा है। अग्रेजी अनुवादो के अतिरिक्त कुछ मराठी के ग्रन्थो के अनुवाद भी प्रकाशित हुए, इनमे चिप्लूणकर के निवन्ध विशेप रूप से उल्लेखनीय है। चिप्लूणकर के अनूदित निवन्धो का सग्रह निवन्वमालादर्श के नाम से विख्यात हैं। इसका अनुवाद गगाप्रसाद अग्निहोत्री ने किया था।

इस युग के प्रमुख लेखको मे महावीरप्रसाद द्विवेदी, वावू गोपालराम गहमरी, प० गोविन्दनारायण मिश्र, वावू श्यामसुन्दरदास, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, प० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी—द्विवेदीजी ने निवन्व के प्रारम्भिक उत्थान काल मे उसकी शैली का परिमार्जन किया। भापा सम्वन्धी दोपो का परिहार भी इसी काल मे हुआ। भापा सम्वन्धी शिथिलता, अव्यावहारिकता और अशुद्धता दूर करने के लिए उन्होने सरस्वती का सम्पादन किया और उसमे 'भापा की अनस्थिरता' जैसे आलोचनात्मक निवन्ध प्रकाशित कराए। शैली की दृष्टि से इनके निवन्ध दो भागो मे विभक्त किए जा सकते है।

(१) मनोरजक और कौतूहलवर्द्धक निवन्ध।

(२) गम्भीर विपय वाले विचारात्मक और साहित्यिक निवन्ध। प्रथम कोटि के निवन्धो की शैली मे प्रसाद तथा ओज-गुण, व्यग, व्यावहारिकता, सजीवता और सामजस्य-भावना आदि गुण मिलते है। व्यास शैली प्रधान छोटे वाक्यो की वहुलता है। मुहावरे तथा उर्दू के तत्सम शब्दो का जैसे, कम अक्ल, तर्ज आदि का प्रयोग भी मिलता है। दिन-दहाडे आदि हिन्दी देशज के शब्दो का भी प्रयोग है।

गोपालराम गहमरी— शैली और विपय-वस्तु की दृष्टि से इनके निवन्व भाव-प्रधान हैं जैसे 'ऋद्धि-सिद्धि'। इनकी शैली मे एक चमत्कार-प्रदर्शन और कौतूहल रहता है। भापा रोचक, प्रगल्भ और व्यावहारिक है। अग्रेजी और उर्दू के मुहावरो और शब्दो का प्रयोग भी मिलता है।

पं० गोविन्दनारायण मिश्र—इनकी गणना निश्चयात्मक बुद्धि-प्रधान एव विचारात्मक निवन्व लेखको मे होती है। लेखक की विविध भापाओ की विज्ञता उनकी रचनाओ से प्रतिध्वनित होती है। 'कवि और चित्रकार', 'पट्‌ऋतु-वर्णन', 'आत्माराम की टेंटें' आदि इनके विचारात्मक निवन्ध हैं। इनके निवन्धों मे दो प्रकार की शैलियाँ मिलती हैं। काव्यात्मक निवन्धो की शैली अनुप्रासयुक्त, समास प्रधान और क्लिप्ट सस्कृतमय है। इसके विपरीत अन्य निवन्वो मे अपेक्षाकृत सरल और गद्य शैली मिलती है। प्रथम कोटि के निवन्धो में भावो की जटिलता और साधारण शब्दाडम्बर के कारण रचना मे दुरुहता आ गई है जिससे साधारण वाक्योचित वोधगम्य स्वाभाविक धारा-प्रवाह नही मिलता।

बाबू श्यामसुन्दरदास—विचारात्मक निबन्धकारो मे द्विवेदीजी के बाद इनका नाम आता है। यद्यपि निबन्ध रचना की ओर इन्होने अधिक ध्यान नही दिया था फिर भी 'समाज और साहित्य', 'कर्त्तव्य सत्यता', 'भारतीय साहित्य की विशेषता' आदि अनेक निबन्ध लिखे है। विदेशी भावो और शब्दो को ज्यो का त्यो उतारकर रखने की प्रवृत्ति इनकी नही है। इनका वाक्य-विन्यास शुद्ध सस्कृत जैसा है। मुहावरो और व्यावहारिक शब्दो की प्रचुरता इनमे नही मिलती। भावात्मक अश के स्थान पर विचारो की ही अभिव्यक्ति सर्वत्र स्पष्ट और स्वाभाविक रूप मे हुई है। सर्वत्र तार्किक शैली और व्यास शैली का प्रयोग है। इनकी शैली मे अन्य लेखको के समान सस्कृत की प्रधानता होते हुए भी जटिलता नही आने पाई है।

पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी—इनके निबन्ध व्याख्यानात्मक शैली मे है। इनकी भाषा साधारण बोलचाल की सरल हिन्दुस्तानी है। अत उर्दू अंग्रेजी के प्रचलित शब्दो का अत्यधिक प्रयोग मिलता है। बीच-बीच मे हास्यात्मक वर्णन भी आते हैं। भाषा मे रोचकता और बोधगम्यता है। इनके व्यावहारिक निबन्धो मे देश की परम्परागत भावनाओ और उमगो का प्रतिबिम्ब रहता है।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी—गुलेरीजी के निबन्धो की सख्या बहुत कम है। इनके 'कछुआ धरम' 'मारेसि मोहि कुठाऊँ' आदि मौलिक तथा उच्चकोटि के भावात्मक निबन्ध हैं। इनके भावात्मक निबन्धो में भी विचारो का अच्छा सगुम्फन हुआ है। इनकी भाषा साधारण बोलचाल की भाषा है। शैली की विशिष्टता और अर्थ-गर्भित-वक्रता इनके निबन्धो की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

पद्मसिंह शर्मा—द्विवेदीकालीन निबन्ध लेखको में पद्मसिंह शर्मा का नाम विशेष महत्त्व का है। इनके निबन्धो मे एक विचित्र निजीपन है। इनके निबन्ध इनके मनमौजी स्वभाव का स्वच्छ प्रतिबिम्ब हैं।

अध्यापक पूर्णसिंह—जिस प्रकार चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने केवल तीन कहानियाँ लिखकर ही कहानी क्षेत्र मे अपना प्रतिष्ठित स्थान बना लिया था, उसी प्रकार अध्यापक पूर्णसिंह ने भी केवल तीन निबन्ध लिखकर हिन्दी निबन्धकारो मे उच्चाति-उच्च स्थान प्राप्त कर लिया है। आपके निबन्धो के नाम हैं—'सच्ची वीरता', 'आचरण की सभ्यता' तथा 'मजदूरी और प्रेम'। इनकी गद्य शैली अग्रेज निबन्ध लेखक कार्लाइल और होम्स आदि से मिलती-जुलती है। वह व्याख्यात्मक और भावात्मक उभयनिष्ठ है। सच तो यह है कि आपने निबन्धो की नवीन परम्परा के लिए पृष्ठभूमि तैयार की थी। उनके निबन्धो मे व्यक्तित्व की निर्बाध अभिव्यक्ति के साथ साथ एक ऐसा मानवतावादी दृष्टिकोण अभिव्यक्त है जिसमे पाठक का मन एक अपनापन, अनुभव कर तन्मय हो जाता है।

आचार्य शुक्ल काल—द्विवेदी-युग मे हमे निबन्धो के दो प्रकार मिलते हैं। एक वह जिनमे लेखक की आत्माभिव्यक्ति नही के बराबर मिलती है। इनमे कोरा विषय प्रतिपादन मात्र होता है। दूसरे वे जिनमे विषय प्रतिपादन नही के बराबर होता है तथा सर्वत्र लेखक की मन-मौजो की मौजें ही दिखाई पड़ती हैं। केवल एक

अध्यापक पूर्णसिंह ही ऐसे थे जिनमे दोनो का सामञ्जस्य दिखाई पडता था। यही कारण है कि वे केवल तीन निवन्ध लिखकर अमर पद को प्राप्त हो गए। किन्तु शैली का उर्जस्वित-स्वरूप उनमे भी नही विकसित हो सका था। इन तीनो का सतुलित और सुन्दर सामञ्जस्य आचार्य शुक्ल मे दिखाई पडा। यही कारण है कि उन्हे युग-प्रवर्त्तक निवन्धकार कहा जाता है। उन्होने चिन्तामणि की भूमिका मे अपने निवन्धो की प्रकृति का सकेत करते हुए लिखा है—"अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कही मार्मिक अथवा भावापकर्षक स्थलो पर पहुँचती है, वहाँ हृदय थोडा-बहुत रमता, अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है। इस प्रकार यात्रा से श्रम का परिहार होता रहा है। बुद्धि-पथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ न कुछ पाता रहा है।" उपर्युक्त पक्तियो मे उन्होने स्पष्ट व्यजित किया है कि उनके निवन्धो मे उनके समूचे व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति शैलीगत सौष्ठव के साथ हुई है।

यहाँ पर मैं समूच व्यक्तित्व को थोडा स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। यह स्पष्टीकरण आचार्य शुक्ल के निवन्धो से उदाहरण देते हुए करूँगा। इससे स्पष्ट हो जायगा कि शुक्लजी के ही निवन्ध ऐसे हैं जिनमे हिन्दी साहित्य मे सर्वप्रथम व्यक्तित्व की पूर्ण और साग अभिव्यक्ति पाई जाती है। इलाहावाद के एक अध्यापक ने कुछ दिन हुए रेडियो पर भाषण देते हुए कहा था कि शुक्लजी के निवन्धो मे व्यक्तित्व की छाप नहीं के वरावर है। इसीलिए मैं उन्हे निवन्ध लेखक न मानकर प्रवन्ध लेखक मानता हूँ। ठीक है गुटवन्दी के वल पर इधर-उधर अपना प्रोपेगेण्डा करने वालो को अध्ययन से क्या मतलव। उन्हे तो कुछ न कुछ अजीव और गरीव वात अलापना है। यार लोग उनकी मौलिकता की दाद देकर उनकी प्रशसा के पुल वाँध देंगे, और उन्हें युग का महान् आलोचक तक कह डालेंगे। अस्तु, उन महाशय मे मेरा विनम्र निवेदन है कि मेरे निम्नलिखित विवेचन को मनोयोग के साथ पढें और समझें—

प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व प्राय तीन तत्त्वो से वना होता है—

(१) बुद्धि तत्त्व।

(२) भाव तत्त्व।

(३) सौन्दर्यानुभूति।

बुद्धि तत्त्व—बुद्धि तत्त्व विशिष्ट व्यक्तित्व से प्रभावित रचना मे निम्नलिखित वातें पाई जाती हैं—

(१) मननशीलता। (४) यथार्थता।
(२) गम्भीरता। (५) औचित्य।
(३) तार्किकता। (६) सक्षिप्तता।

रामचन्द्र शुक्ल की शैली मे बुद्धि तत्त्व की प्रधानता है। इसलिए उपर्युक्त समस्त विशेषताएँ उनकी शैली मे अपनी सम्पूर्णता मे मिलती हैं। उनका विवेचन इस प्रकार है—

(१) **मननशीलता**—उनके समस्त ग्रन्थ गूढ मननशीलता और चिन्तना के परिणाम हैं। मनोभावो पर लिखे हुए उनके निबन्ध इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

(२) **तार्किकता**—यद्यपि निबन्ध मे खण्डन-मण्डन को महत्त्व नही दिया जाता है किन्तु फिर भी वस्तुओ का प्रस्तुतीकरण तार्किक शैली मे किया जाना आवश्यक होता है और ऐसा वे ही लेखक करते है जो बुद्धि-प्रधान होते है। रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धो मे यह विशेषता पाई जाती है कि वे जिस बात को कहते हैं उसको तार्किक शैली मे रखते है। कुछ निबन्धो मे तो खण्डन-मण्डन की भी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। तार्किक शैली का सबसे सुन्दर उदाहरण इनकी 'मानस की धर्म-भूमि' मे मिलता है। इसमे सबसे पहले उन्होने धर्म की भूमियाँ स्पष्ट की हैं, फिर उन्होने विभीषण, सुग्रीव, भरत आदि के चरित्र को उसकी कसौटी पर कसा है। 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद' शीर्षक निबन्ध मे तो इन्होंने खण्डन-मण्डन को भी महत्त्व दिया है। यह इनके निबन्धो की प्रधान विशेषता थी और इसका कारण इनके व्यक्तित्व की बुद्धि-प्रधानता थी।

(३) **गाम्भीर्य**—बुद्धि-प्रधान व्यक्ति स्वभाव से ही गम्भीर होता है। रामचन्द्र शुक्ल के सम्बन्ध मे यह निर्विवाद है कि वह बुद्धि-प्रधान व्यक्ति थे। यही कारण है कि उनके व्यक्तित्व मे सर्वत्र गम्भीरता बनी हुई है। कही पर न तो कोई अश्लील वर्णन आ पाए है और न कही लोट-पोट कर देने वाला हास्य ही है। हास्य की योजना यदि उन्होने कही की भी है तो बहुत ही शिष्ट और ध्वनिपूर्ण शैली मे की है। जैसे एक स्थल पर वे लिखते हैं—"हवा से लडने वाली स्त्रियाँ यदि किसी ने देखी नही तो सुनी अवश्य होगी।" इसके अतिरिक्त उन्होने अपने निबन्धो के विषय जो रखे हैं वे भी बहुत ही गम्भीर और गूढ है। नाक, भौंह, बातचीत आदि इनके विषय नही है।

(४) **सक्षिप्तता**—यह तो लोक मे प्रसिद्ध ही है कि विद्वान् एव बुद्धिमान कम बोलते हैं और मूर्ख लोग अधिक। यह बात साहित्य तथा शैली मे भी लागू होती है। अधिकतर बुद्धि-प्रधान लेखको की शैली सक्षिप्त और समास-प्रधान हुआ करती है। इसके विपरीत विद्वान लेखको की शैली व्यास-प्रधान होती है। शुक्लजी का व्यक्तित्व बुद्धि-विशिष्ट था। इसीलिए उनकी शैली भी समास-प्रधान है। उनके निबन्धो की सबमे प्रधान विशेषता सूत्र शैली है। वे प्राय सूत्र रूप मे एक वाक्य कह देते हैं जैसे "धर्म की रसात्मक अनुभूति का नाम भक्ति है और धर्म है ब्रह्म के सत् स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति"।

(५) **स्पष्टता**—प्राय देखा जाता है कि बुद्धि-प्रधान लोग अपने व्यवहार मे थोडा स्पष्टवादी होते हैं। यह बात शैली मे भी देखी जाती है। रामचन्द्र शुक्ल स्वभाव से ही बुद्धि-विशिष्ट थे। इसलिए वे अपनी अभिव्यक्ति मे रहस्यात्मक न होकर बहुत स्पष्ट हैं। रहस्यवाद से तो उन्हे चिढ थी। उन्होने इसीलिए अपनी बात को अधिक से अधिक स्पष्ट करने की चेष्टा की है। यही कारण है कि वे प्राय अपने निबन्धो मे सूत्र रूप बात कहकर फिर उसे उपमानो और उदाहरणो के द्वारा पूर्णतया स्पष्ट कर देते हैं। यह विशेषता उनके समस्त निबन्धो मे पाई जाती है।

(६) यथार्थता—मैरी नामक विद्वान् ने अपने problem of style नामक ग्रन्थ मे बुद्धि-प्रधान लेखक की शैली मे यथार्थता का होना अनिवार्य और आवश्यक माना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने समस्त निबन्धो में यथार्थता को महत्त्व दिया है। वे जो कहते हैं यथार्थ कहते है। यही कारण है कि उनके निबन्ध बहुत छोटे हो गए है। 'मानस की धर्म भूमि' को ही ले लीजिए। इस पर सैकडो पृष्ठ लिखे जा सकते है। उन्होने केवल ७-८ पृष्ठ ही लिखे है और उनमे भी इनका मन्तव्य बहुत स्पष्ट है। अन्य स्थलो पर भी जहाँ उन्होने श्रद्धा और भक्ति आदि मनोभावो का विश्लेषण किया है वहाँ पर भी उन्होने उतनी ही बात कही है, जितनी आवश्यक है।

(७) औचित्य—सस्कृत साहित्य की शैली मे औचित्य को बहुत ही महत्त्व दिया गया है। यह औचित्य कई प्रकार का होता है जैसे शब्दमूलक, कल्पनामूलक, रसमूलक, अर्थमूलक आदि। मैरी नामक विद्वान् ने भी अपने problem of style मे बुद्धि-प्रधान शैली मे औचित्य को विशेष स्थान दिया है। रामचन्द्र शुक्लजी की सबसे बड़ी विशेषता औचित्य प्रेम है। जहाँ पर जिस बात की आवश्यकता होती है, वहाँ पर वे उस बात का उसी ढग से वर्णन करते हैं। यही कारण है कि जब वे मुसलमानो से सम्बन्धित बात कहते है, वहाँ पर ठेठ उर्दू का प्रयोग करते हैं। यह है भी ठीक। वास्तव मे मुसलमानो से सम्बन्धित बातें उर्दू मे ही ठीक रहती है। 'लोभ और प्रीति' मे वे एक स्थल पर लिखते है, 'वहाँ प्रेमी जीते-जी यार के कूचे मे अपनी कब्र बनवाते है'। इसी प्रकार उन्होने अन्य प्रकार के औचित्य पर भी ध्यान रखा है। इनके अतिरिक्त रामचन्द्र शुक्ल के व्यक्तित्व की कुछ अपनी और अलग विशेषताएँ भी थी जिनका सम्बन्ध केवल बुद्धि से न होकर सस्कारो से कहा जा सकता है। वे विशेषताएँ निम्नलिखित है—

(१) आदर्श-प्रियता।

(२) प्रकृति-प्रेम।

(३) वैज्ञानिकता।

(१) आदर्श-प्रियता—शुक्लजी के निबन्धो मे उनकी आदर्शप्रियता स्पष्ट झलकती है। उन्होने अधिकतर अपने निबन्धो के विषय भी या तो साहित्यिक या आदर्श-प्रधान रखे है। आदर्श प्रधान निबन्ध की कोटि मे 'मानस की धर्म भूमि', 'श्रद्धा और भक्ति', 'काव्य मे लोक-मगल की साधनावस्था', 'तुलसी का भक्ति-मार्ग' आदि आते है। इसके अतिरिक्त उन्होने आदर्श व्यक्तियो, आदर्श सिद्धान्तो, आदर्श परिस्थितियो आदि का सर्वत्र उल्लेख किया है। उदाहरण के लिए हम 'मानस की धर्म भूमि' मे भरत के चरित्र को ले सकते है। उन्होंने रावण के चरित्र का विश्लेषण कही नही किया है। इसी प्रकार बहुत सी अन्य बातो से भी उनकी आदर्श-प्रियता झलकती है।

(२) प्रकृति-प्रेम—शुक्लजी का प्रकृति प्रेम तो बहुत ही प्रसिद्ध है। निबन्धो मे उसका प्रत्यक्ष प्रमाण 'हिन्दी काव्य मे प्रकृति-चित्रण' शीर्षक निबन्ध

है। इस निबन्ध में उन्होने सस्कृत-कवियो के ढग पर प्रकृति-चित्रण की विविध बातो पर प्रकाश डाला है। आपने 'कविता' वाले निबन्ध मे भी प्रकृति को बार-बार घसीटा है।

(३) **सगुण-प्रियता**—शुक्लजी तुलसी के अनन्य भक्त थे। तुलसी का पूरा प्रभाव उनके ऊपर पडा था। यह बात उनकी समालोचना और निबन्धो दोनो से प्रगट होती है। धर्म की जो परिभाषा उन्होने दी है, उसमे उन्होने स्पष्ट लिखा है कि धर्म है ब्रह्म के सत् स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति। यहाँ पर व्यक्त शब्द ध्यान देने योग्य है। इससे स्पष्ट है कि वे अव्यक्त और निर्गुण मे कम विश्वास करते थे। यह भावना उनके निबन्धो मे प्रत्यक्ष प्रतिबिम्बित है।

इन विशेषताओ के अतिरिक्त हडसन ने शैली तत्त्व मे ही भाव तत्त्व की अवस्थिति भी मानी है। भाव तत्त्व से सम्बन्धित उसने निम्न बातें बतलाई है—

(१) प्रवेग,

(२) शक्ति, तथा

(३) ध्वन्यात्मकता।

(१) **प्रवेग**—(Force) भाव-प्रधान शैली मे एक विचित्र प्रवेग होता है। उदाहरण के लिए हिन्दी मे गणेशशकर की शैली ली जा सकती है। पद्मसिह शर्मा की शैली मे भी यह बात है। शुक्लजी जैसा कि हम निर्दिष्ट कर चुके हैं बुद्धि तत्त्व प्रधान लेखक थे। उनमे भावतत्त्व उतना ही था जितना कि एक गम्भीर भावुक के लिए आवश्यक होता है। इसलिए इनकी शैली मे न तो उच्छृखलता है और न झूठा प्रवेग। उनमे एक सुलझे हुए निबन्ध लेखक का प्रवाह अवश्य है। उदाहरण के लिए हम देखते है कि 'श्रद्धा और भक्ति' जैसे शुष्क और अपूर्ण विषयो को विश्लेषण करते समय भी उनकी शैली मे प्रवाह बना रहता है। 'श्रद्धा और भक्ति' शीर्षक निबन्ध का पहला ही वाक्य देखिए कि कितना प्रवाहयुक्त है। किसी मनुष्य मे जनसाधारण से विशेष गुण व शक्ति का विकास देख उसके सम्बन्ध में जो एक स्थायी आनन्द पद्धति हृदय मे स्थापित हो जाती है, उसे 'श्रद्धा' कहते हैं।

(२) **शक्ति** (Energy)—शैली में शक्ति की प्रतिष्ठा गूढ भावुकता और गम्भीर विचारात्मकता के सहारे हुआ करती है। शुक्लजी में यह दोनो तत्त्व है। इसलिए उनकी शैली में हमें एक शक्ति मिलती है। इसी शक्ति के कारण जो आलोचक उन्हें शुष्क सिद्ध करने की चेष्टा करते है, वे ही उसकी शक्ति से प्रभावित होकर प्रशसा करते है। उनके निबन्धो में बेकन जैसी स्फूर्ति मिलती है।

(३) **ध्वन्यात्मकता** (Suggestiveness)—निबन्ध का एक तत्त्व सकेतात्मकता भी है। शुक्लजी में भी यह विशेपता प्रमुख रूप से पाई जाती है। उन्होने अपने निबन्धो मे समास और सकेतात्मक शैली का ही प्रयोग किया है। उदाहरण देखिए 'आत्म-बोध और जगत्-बोध के बीच ज्ञानियो ने गहरी खाई खोदी है।' इसमे लेखक ने लाक्षणिक और व्यजनात्मक शैली मे बहुत सी बातो का एक साथ सकेत किया है।

पाश्चात्य विद्वानो ने शैली का तीसरा तत्त्व सौन्दर्यानुभूति माना है। उससे सम्बन्धित शैली मे चार विशेषताएँ होती है—

(१) सगीतात्मकता (music)।

(२) वाह्य सौन्दर्य (beauty)।

(३) आन्तरिक सौन्दर्य (grace)।

(४) आकर्षण (charm)।

(१) सगीतात्मकता—तो पद्य की शैली मे पाई जाती है। गद्य मे केवल प्रवाह का ही होना आवश्यक है। वह शुक्लजी की शैली मे है ही।

(२) वाह्य-सौन्दर्य—के अन्तर्गत वाहरी अलकार, गुण-दोष आदि आते है। शुक्लजी ने अपनी शैली पर कहीं झूठा मुलम्मा चढाने का प्रयास नही किया है। उन्होने अलकार आदि का प्रयोग केवल अपने भावो को अधिक से अधिक स्पष्ट करने के लिए ही किया है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पक्ति मे पुनरावृत्ति अलकार का प्रयोग देखा जा सकता है—"हम अपने शारीरिक वल को उसका शारीरिक वल वनाएँगे। अपनी जानकारी और चतुराई को उसकी जानकारी और चतुराई वनाएँगे, उसकी वाग्मिता को वाग्मिता वनाएँगे।" वाह्य सौन्दर्य के अन्तर्गत भाषा भी ली जा सकती है। शुक्लजी ने अधिकतर शुद्ध तत्सम शब्दो का प्रयोग किया है। कही-कही मुहावरे आदि भी आ गए है। उन्होने अग्रेजी शब्दो का हिन्दी मे अनुवाद करने की भी चेष्टा की है। जैसे (exercise of thoughts) को 'विचारो का व्यायाम' और (exercise of emotions) को 'भावो का व्यायाम' कहा है। कही-कही उर्दू और फारसी के शब्दो का भी प्रयोग किया है। किन्तु ऐसे स्थल वहुत कम है। उनकी भाषा मे कही-कही पूर्वीपन भी पाया जाता है।

(३) आन्तरिक सौन्दर्य (Grace)—शुक्लजी की शैली मे आन्तरिक सौन्दर्य या Grace नामक विचित्र वस्तु मिलती है। उनकी निवन्ध शैली की सवसे प्रधान विशेपता प्रभावात्मकता है। जिस विषय पर वे निवन्ध लिखते है उस शुष्क विषय को भी प्रभावात्मक वना देते है। 'मनोभाव' जैसे शुष्क और अमूर्त्त विषय को भी उन्होने अपनी प्रभावपूर्ण शैली के द्वारा चमत्कृत कर दिया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि शुक्लजी की शैली व्यक्तित्व-प्रधान है। वे ही प्रथम निवन्ध लेखक हैं जिनमे व्यक्तित्व की छाप अपनी सम्पूर्णता मे मिलती है। इसलिए निवन्ध लेखको मे उनका इतना अधिक महत्त्व है और वे युग-प्रवर्त्तक निवन्धकार माने जाते है।

शुक्लजी की परम्परा के प्रमुख निवन्ध लेखक

शुक्लजी की परम्परा के प्रमुख निवन्ध लेखक इस प्रकार है—

पीताम्वरदत्त वड्थ्वाल—वड्थ्वालजी एक प्रतिभाशाली निवन्ध-लेखक थे। उनकी प्रवृत्ति स्वभाव से ही अनुसधानात्मक थी। वौद्धिकता उनके निवन्धो की प्रमुख

विशेषता है। उनके लिखे हुए प्रमुख निबन्धो मे तुलसी, कबीर, कणेरी पाव, गगाबाई, हिन्दी साहित्य मे उपासना का स्वरूप, नागार्जुन, कवि केशवदास आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है। आपकी शैली विचारात्मक और गम्भीर है। किन्तु विषय को अधिक से अधिक सुबोध बनाए रखने की आपकी प्रवृत्ति ने उन्हे अग्रेजी, उर्दू, फारसी आदि प्रचलित भाषाओ के प्रचलित शब्दो का प्रयोग करने को बाध्य किया है।

डा० धीरेन्द्र वर्मा—अध्यापक धीरेन्द्रजी हिन्दी साहित्य के उन महान् सेवकों मे से हैं जिन्होने कभी प्रतिदान की कामना नही की। आपके निबन्ध विचारात्मक निबन्धो की परम्परा की महत्त्वपूर्ण कडी हैं। आपने अपने निबन्ध अनुसन्धान, हिन्दी प्रचार, हिन्दी साहित्य, भारतीय समाज आदि अनेक विषयो पर लिखे है। उनमे इनकी गम्भीर प्रकृति की पूरी-पूरी प्रतिछाया दिखाई पडती है। विचार-विश्लेषण, निस्सग आलोचना और गम्भीर अनुसन्धान की दृष्टियो से आपके निबन्ध हिन्दी साहित्य मे बेजोड हैं।

जयशकर प्रसाद—बाबू जयशकर प्रसाद को शुक्ल युग के निबन्ध-लेखको में सर्वाधिक प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है। आपके निबन्ध सख्या मे अधिक न होते हुए भी महत्त्व की दृष्टि से कही अधिक ऊँचे हैं। उनके निबन्धो का प्रकाशन 'काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध' शीर्षक से हुआ। इनके अतिरिक्त इनके कुछ निबन्ध 'चित्राधार' मे सग्रहीत हैं। किन्तु यह निबन्ध निबन्ध न होकर एक प्रकार के कथा-प्रबन्ध हैं जो अपरिपक्व कलाकार द्वारा लिखे गए हैं। इनके अतिरिक्त प्रसादजी के काव्यो की भूमिकाएँ भी निबन्ध का ही एक प्रकार कही जायँगी। इनका लिखा हुआ 'प्राचीन आर्यावर्त्त और उसका प्रथम सम्राट्' भी उल्लेखनीय है। परिपक्वता की दृष्टि से आपके अन्तिम आठ निबन्ध ही जो 'काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध' शीर्षक रचना मे सग्रहीत हैं, महत्वपूर्ण और विचारणीय हैं। विचारो की जिस गुम्फित परम्परा को आचार्य शुक्ल ने जन्म दिया था, उसको विकास की पराकाष्ठा पर पहुँचाने का श्रेय प्रसाद को है। उनके निबन्ध विचारात्मकता, अनुसन्धानात्मक विवेचन, पाण्डित्य और प्रवाह सभी दृष्टियो से बेजोड हैं। इनमे इनके व्यक्तित्व की गहरी झलक है।

नन्ददुलारे वाजपेयी—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी सफल आलोचक ही नही, अपितु उच्चकोटि के निबन्धकार भी है। आप भी शुक्ल-परम्परा की ही एक भव्य कडी हैं। काव्य-कला, एकाकी नाटक, जैनेन्द्र पर विचार, बीसवी शताब्दी का साहित्य, निबन्ध-निचय, नया साहित्य, नए प्रश्न आदि ग्रन्थो मे सग्रहीत निबन्ध विशेष रूप से दृष्टव्य है। आपके निबन्धो मे शुक्लजी की विचारात्मकता के साथ समास-शैली की प्रवृत्ति भी मिलती है। भाषा मे ओज, विचारो मे गम्भीरता, और प्रतिपादन मे पाण्डित्य आदि विशेषताओ के कारण ही उन्हे शुक्ल-परम्परा के निबन्धकारो मे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है।

शान्तिप्रिय द्विवेदी—आप भी शुक्ल परम्परा के ही एक मनस्वी निबन्धकार हैं। इनके निबन्ध 'साहित्य की जीवन-यात्रा' आदि कई सग्रहो मे प्रकाशित हो चुके हैं। इनके निबन्ध समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओ मे भी निकलते रहते है। आपके

निवन्ध गम्भीर और विचार प्रधान होते हुए भी हास्य और व्यग्य से पुलकायमान रहते हैं। इनके सम्बन्ध मे डॉ० रामकुमार वर्मा ने ठीक ही लिखा है—'शान्तिप्रिय द्विवेदी ने अपने निवन्धो की पृष्ठभूमि न तो सस्कृत साहित्य से ली है और न अग्रेजी साहित्य से, उन्होने अपनी मननशीलता में ही, अपने बौद्धिक स्तर मे ही, अपनी आलोचना के आदर्श स्थापित किए हैं। लेखक ने अपना हृदय पिघलाकर उन आदर्शों को प्राप्त किया है।'

वर्तमान युग के निबन्धकार

निवन्ध क्षेत्र मे हमे आजकल कई परम्पराएँ दिखलाई पड़ती है—

(१) गुलाबराय की परम्परा।

(२) हजारीप्रसाद द्वारा प्रवर्तित परम्परा।

(३) डॉ० नगेन्द्र की परम्परा।

(४) डा० रामविलास की निवन्ध परम्परा।

(५) विनोदप्रधान निवन्ध।

बाबू गुलाबराय और उनकी परम्परा के निबन्ध लेखक—आपने जितने दीर्घ-काल तक हिन्दी निवन्ध साहित्य की सेवा की है, उतने दीर्घ-काल तक उसकी सेवा कदाचित् ही कोई लेखक कर सके। आपने साहित्यिक, धार्मिक, सास्कृतिक, राजनैतिक, हास्यात्मक आदि अनेक विषयों पर सैकड़ो निवन्ध लिखे हैं। इनके निवन्धो मे हमे आचार्य शुक्ल की विचार-प्रधानता, श्यामसुन्दरदास की वस्तु-प्रतिपादन-शैली तथा आचार्य हजारीप्रसाद की अनुसन्धानात्मक प्रवृत्ति और व्यगात्मक रजकता का सुन्दर सामजस्य मिलता है। उपयोगिता की दृष्टि से इनके निवन्ध वेजोड़ है। उन्हें मैं विद्वान् और विद्यार्थी दोनो की ही निधि मानता हूँ। इनके प्रसिद्ध निवन्ध 'मेरे निवन्ध', 'निवन्ध सग्रह', 'प्रवन्ध प्रभाकर', 'निवन्ध-माला', 'साहित्य और समीक्षा', 'अध्ययन और आस्वाद' मे सग्रहीत हैं।

इनकी परम्परा के प्रमुख लेखक डॉ० सत्येन्द्र, डॉ० सुधीन्द्र, डॉ० रामकुमार वर्मा, गिरजादत्त शुक्ल 'गिरीश', डॉ० गोपीनाथ तिवारी, चन्द्रवली पाण्डेय, कन्हैयालाल सहल, प्रभाकर माचवे आदि हैं।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और उनकी परम्परा—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी के उन इने-गिने निवन्ध-लेखको मे से है, जिन्होने निवन्ध-लेखन की कई स्वतन्त्र परम्पराओ को एक साथ जन्म दिया है। इनके निवन्ध कुछ तो अनुसन्धानात्मक है, कुछ व्यगात्मक एव प्रतीकात्मक तथा कुछ सास्कृतिक। इनके प्रथम कोटि के निवन्ध नाथ-सम्प्रदाय, कबीर, हिन्दी साहित्य की भूमिका, साहित्य-मर्म, विचार-वितर्क, हमारी साहित्यिक समस्याएँ, मध्यकालीन धर्म-साधना आदि ग्रन्थो मे सग्रहीत हैं। इस कोटि के निवन्धो में हमे इनके पाण्डित्य की गहरी छाप मिलती है। इनकी भाषा सुव्यवस्थित तथा चुस्त है। विचारो की सगुम्फित परम्परा कहीं-कहीं शुक्लजी को भी मात कर गई है। विषय और विवेचन दोनो दृष्टियों से इनके निवन्ध अतुलनीय हैं।

इनके दूसरे कोटि के निबन्धो का एक अच्छा सग्रह 'अशोक के फूल' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। इसमे उन्होने व्यगात्मक और प्रतीकात्मक ढग से चलती हुई चुटीली भाषा मे प्रतीक पद्धति का अनुसरण करते हुए परम गम्भीर तथ्यो का सकेत किया है। अशोक को वे फूलो के सामतशाही विलास का प्रतीक मानते है। इसके सभी निबन्ध प्राय इसी प्रतीकात्मकता से अनुप्राणित है। इन निबन्धो में इनका मानव रूप सर्वत्र झाँक रहा है। इनकी शैली बडी रोचक, प्रभावपूर्ण और रजनात्मक है। गुलाबराय जी ने उनके इस कोटि के निबन्धो को दृष्टि मे रखकर लिखा है—"द्विवेदीजी बालू मे से तेल निकालने की कला को भली भाँति जानते है शुष्क से शुष्क विषय को वे अपनी शैली के चमत्कार से स्निग्ध और सरस बना देते है। और क्षुद्र से क्षुद्र विषय को अपने पाण्डित्य के बल पर महान् बना देते है। यही निबन्धकार की सबसे बडी कला है।"

इनकी तीसरी कोटि के निबन्ध सभ्यता और सस्कृति सम्बन्धी विषयो पर लिखे गए हैं। इस कोटि के निबन्ध 'सभ्यता और सस्कृति' शीर्षक सग्रह मे सग्रहीत हैं। इनके इन निबन्धो मे हमे भारतीय सस्कृति के प्रति इनकी जो अपार श्रद्धा है, उसकी बड़ी सहज अभिव्यक्ति मिलती है। यह निबन्ध उपयोगिता की दृष्टि से बडे महत्त्वपूर्ण है। इनसे सामान्य समाज की अच्छी ज्ञान-वृद्धि हो सकती है।

द्विवेदीजी के अनुसधानात्मक निबन्धो की परम्परा का हिन्दी मे अच्छा अनुगमन किया जा रहा है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, डॉ० विनयमोहन शर्मा, डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, इस दिशा मे सराहनीय कार्य कर रहे हैं।

उनके व्यगात्मक और प्रतीकात्मक निबन्धो की परम्परा को भी जीवित रखने मे कुछ निबन्धकार लगे हुए है। रामवृक्ष बेनीपुरी के 'गेहूँ और गुलाब' शीर्षक सग्रह मे सग्रहीत निबन्ध पूर्ण रूप से द्विवेदीजी के अनुकरण पर ही लिखे हुए जान पड़ते हैं। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने भी इस कोटि के निबन्ध लिखे है। उनके लिखे हुए 'भूले हुए चेहरे', 'जिन्दगी मुस्कराई' आदि निबन्ध इसी कोटि के है। लक्ष्मीनारायण शर्मा भी इस दिशा मे द्विवेदीजी का अनुगमन करने का प्रयास कर रहे हैं इनका 'मेरा छाता खो गया' शीर्षक लेख इसी ढग का है।

द्विवेदीजी के सास्कृतिक निबन्धो की परम्परा को आगे बढाने का सबसे बडा श्रेय डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल को है। इन्होने बहुत उच्चकोटि के सास्कृतिक निबन्ध लिखे हैं। इनके अतिरिक्त डॉ० मुन्शीराम शर्मा के भी इस कोटि के कुछ निबन्ध देखने में आए है। यह भी एक प्रौढ निबन्ध लेखक हैं।

डॉ० नगेन्द्र और उनकी निबन्ध परम्परा—डॉ० नगेन्द्र हिन्दी के प्रतिभाशाली आलोचक और निबन्ध लेखक है। उनके प्रसिद्ध निबन्ध-सग्रहो के नाम क्रमश 'विचार और विश्लेषण', 'विचार और अनुभूति', 'विचार और विवेचन', 'काव्य-चिन्तन' 'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ' हैं। इनके निबन्धो मे हमे विचारो की वही सगुम्फित परम्परा मिलती है जो आचार्य शुक्ल मे पाई जाती है। इनकी शैली शुक्लजी की शैली के सदृश समास-प्रधान होते हुए भी उनकी अपेक्षा

कही अधिक विवेचनात्मक है। इनकी शैली और शुक्लजी की शैली मे एक और भी अन्तर दिखाई पडता है। शुक्लजी की शैली मे व्यक्तित्व की छाप कुछ अधिक मिलती है। इनकी शैली मे व्यक्तित्व की अपेक्षा शास्त्रीयता की छाप अधिक है।

डॉ० नगेन्द्र के निबन्धो की परम्परा का अनुसरण बहुत मे निबन्धकार कर रहे है। ऐसे निबन्धकारो मे डॉ० भगीरथ मिश्र, डॉ० ओमप्रकाश, डॉ० भोलाशकर व्यास, वासुदेव, शचीरानी गुर्टू आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है।

डॉ० रामविलास शर्मा और उनकी निबन्ध परम्परा—डॉ० रामविलास शर्मा ने निबन्धो को नई चेतना और नया रूप दिया है। उनकी वाणी विवेचना की अपेक्षा ओज को कही अधिक धारण किए हुए है। उसमे चिन्तना की अपेक्षा क्रान्ति की मात्रा अधिक है। भाव, भाषा, विचार और शैली सभी दृष्टियो से इनके निबन्धो मे एक नई स्फूर्ति दिखाई पडती है। इनके निबन्ध 'प्रगति और परम्परा' 'सस्कृति और साहित्य' तथा 'लोक-जीवन और साहित्य' आदि मे सग्रहीत हैं।

इनकी परम्परा के अन्य निबन्धकारो मे शिवदानसिंह चौहान, रागेय राघव, रामेश्वर शुक्ल अचल' के नाम विशेष उल्लेखनीय है।

विनोद और व्यग्य-प्रधान निबन्धों की परम्परा—इनका श्रीगणेश भारतेन्दु युग मे हो गया था। प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त आदि भारतेन्दु-युगीन लेखको ने जीवन के सामान्य विषयो को लेकर चटपटी शैली मे विनोद और व्यग-प्रधान निबन्ध लिखे थे। किन्तु आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, डॉ० श्यामसुन्दरदास और आचार्य शुक्ल के गम्भीर और अति साहित्यिक प्रयत्नो के आगे यह परम्परा पनप न सकी। आधुनिक युग मे उस परम्परा को अभिनव रूप देकर पुन प्रवर्तित करने का श्लाघनीय प्रयास डॉ० ससारचन्द ने किया है। उनकी 'सटक सीताराम' नामक रचना व्यग और विनोद-प्रधान निबन्ध क्षेत्र के लिए एक उल्लेखनीय देन है। उन्होने हिन्दी मे पहली बार रेखाचित्र की रोचकता सस्मरण की सरसता और लघु कथा के लालित्य को निबन्ध की विधा मे बाँधने का प्रयत्न किया है।

: ४

गद्य-काव्य

गद्य-काव्य का स्वरूप और परिभाषा

गद्य-काव्य शब्द का प्रयोग यहाँ पर हमने एक आधुनिक साहित्यिक विधा के लिए किया है। गद्य-काव्य के स्वरूप पर विचार करते समय हम सस्कृत, अग्रेजी और हिन्दी विद्वानो के विचारो की मीमासा करेंगे और फिर उसके स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

संस्कृत साहित्य मे गद्य-काव्य—सस्कृत मे गद्य-काव्य शब्द का प्रयोग अधिकतर कथा और आख्यायिका के अर्थ मे मिलता है। यह बात दण्डी के निम्न-लिखित उद्धरण से प्रगट है।

"पद्य गद्य च मिश्र च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम्।"—काव्यादर्श १।८।११

तथा

"अपाद पद सन्तानो गद्यमाख्यायिका कथा।
इति तस्य प्रभेदो द्वौ तयोराख्यायिका किला।"

—काव्यादर्श १।१५।२३

अर्थात् काव्य तीन प्रकार के होते हैं। गद्य, पद्य और मिश्र। यह गद्य काव्य, आख्यायिका और कथा-भेद से दो प्रकार का होता है। हिन्दी के प्राचीन लेखक गद्य-काव्य का अर्थ कथा या आख्यायिका से ही लेते थे।

वास्तव मे बात यह है कि प्राचीन काल मे गद्य मे ही काव्य की रचना की जाती थी। अभिव्यक्ति का माध्यम गद्य होता था, किन्तु उसमे तत्त्व सब उत्तम काव्य के रहते थे। "गद्य कवीना निकष वदन्ति" वाली उक्ति गद्य-काव्य की महत्ता की ओर सकेत करती है। यह गद्य-काव्य मुक्तक न होकर प्रबन्ध के रूप मे रहता था। इसीलिए दण्डी ने कथा और आख्यायिकाओ को, जो प्राय गद्य मे लिखी जाती थी, गद्य-काव्य का अभिधान दिया है।

गद्य-काव्य के सम्बन्ध मे अग्रेजी विद्वानो के मत

गद्य-काव्य के उदाहरण हमें अग्रेजी मे भी मिलते हैं। वहाँ उसे पोयटिक प्रोज का नाम दिया गया है। किन्तु किन्ही कारणो से इस विधा का वहाँ अच्छा विकास नही हो सका। यही कारण है कि वहाँ के साहित्य मे इसकी शास्त्रीय

व्याख्या भी बहुत कम मिलती है। हमारे देखने मे कोई ऐसी शास्त्रीय व्याख्या नहीं आई है जिसे हम यहाँ पर उद्धृत कर सकें।

गद्य-काव्य के सम्बन्ध मे हिन्दी विद्वानो के मत

गद्य-काव्य के सम्बन्ध मे अनेकानेक हिन्दी विद्वानो ने अपने मत प्रकट किए हैं। उनमे से कुछ प्रमुख मतो का उल्लेख कर देना आवश्यक है।

रायकृष्णदास का मत—प्रसिद्ध गद्य-काव्य लेखक रायकृष्णदास ने श्रीमती विद्या भार्गव लिखित 'श्रद्धाजलि' की भूमिका लिखते समय गद्य-काव्य के स्वरूप पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। उनके द्वारा दी गई परिभाषा इस प्रकार है—

"हिन्दी मे कविता और काव्य शब्द पद्यमय रचनाओ के लिए ही रूढ हो गए है। यद्यपि वस्तुत कोई भी रचना जो रमणीय हो, रसात्मक हो, काव्य या कविता है। इसीलिए गद्य मे रचना के लिए हमे गद्य-गीत या गद्य-काव्य का प्रयोग करना पड़ता है।

रामकुमार वर्मा का मत—डॉ० रामकुमार वर्मा ने 'शवनम' की भूमिका मे गद्य-काव्य के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

"गद्य-गीत साहित्य की भावनात्मक अभिव्यक्ति है। इसमे कल्पना और अनुभूति काव्य उपकरणो से स्वतन्त्र होकर मानव-जीवन के रहस्यो को स्पष्ट करने के लिए उपयुक्त और कोमल वाक्यो की धारा मे प्रवाहित होती है।"

डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा का मत—आपने 'नागरी प्रचारणी हीरक जयन्ती ग्रन्थ मे गद्य-काव्य के स्वरूप और विकास पर एक अच्छा निवन्ध लिखा है। उसमे उन्होने गद्य-काव्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"जो गद्य कविता की तरह रमणीय, सरस, अनुभूतिमूलक और ध्वनिप्रधान हो, साथ ही साथ उसकी अभिव्यजना प्रणाली अलकृत एव चमत्कारी हो, उसे गद्य-काव्य कहना चाहिए। इसमे भी इष्ट कथन के लिए कविता की भाँति न्यूनातिन्यून अथवा केवल आवश्यक पदावली का प्रयोग किया जाना चाहिए। अग्नि-पुराण के "सक्षेपात वाक्यमिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली" के अनुसार सक्षिप्त काव्य विधान का विचार इसमे भी रहना चाहिए। कविता के समस्त गुण-धर्मो के अनुरूप सगठित होने के कारण गद्य-काव्य मे भी प्रतीक भावना अथवा आध्यात्मिक सकेत के लिए आग्रह दिखाई पडता है। इसमे भी भावापन्नता का वही रूप मिलता है जिसका आधुनिक प्रगीतात्मक रचनाओ मे आधिक्य रहता है। यदि मूल प्रकृति का विचार किया जाय तो इनकी सगति शुद्ध प्रगीतात्मक कविता के साथ अच्छी तरह बैठती है क्योकि इसके साध्य और साधन उसी कोटि के होते हैं। कविता की भाँति इसमे भी कारण रूप से प्रतिभा ही काम करती है।"

महादेवी वर्मा का मत—श्री केदार लिखित 'अधखिले फूल' मे महादेवीजी ने गद्य-काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वे लिखती हैं—

"पद्य का भाव उसके सगीत की ओट मे छिप जाय, परन्तु गद्य के पास उसे छिपाने के साधन कम हैं। रजनीगन्धा की क्षुद्र, छिपी हुई, चुपचाप छिपी हुई कलियो के समान एकाएक खिलकर जब हमारे नित्य परिचय के कारण शब्द हृदय को भाव-सौरभ से सराबोर कर देते है तब हम चौंक उठते हैं। इसी में गद्य-काव्य का सौन्दर्य निहित है। इसके अतिरिक्त गद्य की भाषा बन्धनहीनता में बद्ध चित्रमय परिचित और स्वाभाविक होने पर भी हृदय को छूने में असमर्थ हो सकती है। कारण हम कवित्वमय गद्य को अपने उस प्रिय मित्र के समान पढना चाहते है, जिसकी भाषा, बोलने के ढग विशेष और विचारो से हम पहले से ही परिचित होगे। उसका अध्ययन हमें इष्ट नही होता।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत—आपने अपने इतिहास ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य' मे गद्य-काव्य की परिभाषा देते हुए लिखा है—'इस प्रकार के गद्य मे भावावेग के कारण एक प्रकार की लययुक्त झकार होती है जो सहृदय पाठक के चित को भाव ग्रहण के लिए अनुकूल बनाती है।"

समस्त मतों की समीक्षा और अपना मत—उपर्युक्त मतो का यदि सूक्ष्मता से अध्ययन करें तो हमे अनुभव होगा कि गद्य-काव्य के स्वरूप को विद्वानो ने कवित्व-पूर्ण गद्य के रूप मे ही समझा है। आज के विद्वान् प्राचीन सस्कृताचार्यों की भाँति उसे कथा और आख्यायिका के रूप मे स्वीकार नही करते। उनकी दृष्टि मे गद्य-काव्य एक स्वतन्त्र प्रकार की भावनामय कवित्व से पूर्ण गद्य-विधा है। मै हिन्दी गद्य-काव्य को किसी व्यक्त या रहस्यमय आधार से अभिव्यक्त होने वाली कवि के भाव जगत की कल्पना-कलित निर्बाध गद्यात्मक अभिव्यक्ति मानता हूँ।

उपर्युक्त परिभाषाओ को दृष्टि मे रखते हुए यदि हम विश्लेषणात्मक शैली मे गद्य-काव्य के प्रमुख तत्त्वो को स्पष्ट करना चाहे तो इस प्रकार करेंगे—

(१) भावना और कल्पना की प्रधानता होनी चाहिए।

(२) उसमे रमणीयता और सरसता की पूर्ण प्रतिष्ठा होनी चाहिए।

(३) उसमे गीति-काव्य जैसी अनुभूति-प्रधानता और भाव-प्रवणता होनी चाहिए।

(४) कम से कम शब्दो मे अधिक से अधिक भाव और चित्रो को स्पष्ट करने की क्षमता भी गद्य-काव्य मे अवश्य होनी चाहिए।

(५) प्रतीकात्मकता, रूपकात्मकता, अन्योक्तिपरकता आदि अभिव्यक्ति सम्बन्धी विशेषता भी गद्य-काव्य मे पाई जाती है।

(६) भाषा भावपूर्ण, चित्रात्मक और ध्वनिमूलक होती है। अभिव्यक्ति में एक विचित्र प्रवेग एव मार्मिकता होती है।

(७) उसमे किसी प्रकार की कथात्मकता नही पाई जाती। वह एक प्रकार की मुक्त निर्बाध अभिव्यक्ति है।

(८) गद्य-काव्य भी उत्तम प्रतिभा से ही उद्भूत होता है।

गद्य-काव्य का सक्षिप्त विकास-क्रम

हिन्दी गद्य-काव्य का उदय वगला और सस्कृत के गद्य-गीतो और गद्य-काव्य के प्रभाव से हुआ है। वाद मे कुछ प्रतिभाशाली कवियों ने स्वतन्त्र रूप से भी गद्य-काव्य का सृजन किया। इस प्रकार हम गद्य-काव्य को ऐतिहासिक दृष्टि से दो भागो मे विभाजित कर सकते हैं—

(१) सस्कृत, वगला या अग्रेजी से प्रभावित गद्य-गीत।

(२) स्वतन्त्र रूप से विकसित होने वाले गद्य-गीत।

प्रभावित गद्य-गीत—प्रभावित गद्य-गीतो को हम तीन भागो मे बाँट सकते हैं—(क) मस्कृत से प्रभावित, (ख) वगला से प्रभावित, (ग) अग्रेजी से प्रभावित।

(क) संस्कृत से प्रभावित गद्य-गीत—सस्कृत की कादम्वरी की परम्परा से हिन्दी के आधुनिक गद्य-काव्य प्रभावित दिखाई पडते है। यहाँ पर एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि हिन्दी गद्य-काव्य का प्रथम लेखक कौन है। हिन्दी गद्य-काव्य के अनुसधाता डॉ० पद्मसिह शर्मा कमलेश के मतानुसार हिन्दी गद्य-काव्य के प्रथम लेखक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र थे। उनका कहना है कि भारतेन्दुजी की 'चन्द्रावली' मे तथा उनके अन्य नाटको के समर्पणो मे हमे गद्य-काव्य के ही दर्शन होते हैं। उनकी धारणा है कि भारतेन्दुजी ने जिस गद्य-काव्य की शैली का शिलान्यास किया था, उस पर भवन-निर्माण करने का प्रयास उनके समकालीन लेखको ने किया। मै इस मत से सहमत नही हूँ। 'चन्द्रावली' की रचना एक नाटिका के रूप मे हुई है। नाटक स्वय उत्कृष्ट कोटि का काव्य है। उसके गद्यो मे भावना का उद्रेक और सरस काव्यत्व का स्फुरण होना वहुत स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त भारतेन्दुजी को पृष्ठभूमि के रूप मे रीतिकालीन गद्य-शैली मिली थी। उन्होने अपने गद्य का निर्माण उसी के अनुकरण पर किया था। अत रीतिकालीन गद्य-शैली को हम गद्य-काव्य की संज्ञा नही दे सकते। यदि हम उसे गद्य-काव्य मान भी लें तो फिर हमे गद्य-काव्य के उदयकाल को भारतेन्दुजी से वहुत पूर्व मानना पडेगा। रीतिकाल के सम्पूर्ण गद्य साहित्य मे हमे गद्य-काव्य जैसी भाव-प्रवणता, चमत्कारप्रियता और काव्यात्मकता मिलती है। फिर भारतेन्दु से ही क्यो गद्य-काव्य का श्रीगणेश माना जाए। मध्ययुग के सम्पूर्ण रीतिकालीन गद्य को गद्य-काव्य कहना उसी प्रकार ठीक नही है जिस प्रकार किसी वस्त्राभूपण से लदी हुई निर्जीव मानव-प्रतिमा को मानव कहना ठीक नही होगा। रीतिकालीन गद्य मे हमे गद्य-काव्य के वाह्याडम्वर की झलक अवश्य मिलती है किन्तु उसमे वह प्राणवत्ता नही है जो आज के उच्चतम् गद्य-काव्य मे दिखाई पडती है। रीतिकालीन गद्य के साथ ही साथ हम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के गद्य को भी गद्य-काव्य कहना ठीक नही समझते।

हमारी धारणा है कि हिन्दी गद्य-काव्य का विकास रीतिकालीन-प्रवृत्तियो की भूमिका पर स्वतन्त्र रूप ने ही हुआ है। अपने इस कथन के प्रमाण मे हम दो-एक प्रारम्भिक गद्य-काव्य लेखको के कथनो को उद्धृत कर सकते हैं। हिन्दी के प्रारम्भिक गद्य-काव्य लेखको मे आचार्य चतुरसेन शास्त्री का स्थान निर्विवाद रूप से बहुत

प्रतिष्ठित है। उन्होने अपने गद्य-काव्य सृजन के कारण पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"मेरा गद्य-काव्य 'अन्तस्तल', जिसकी भूमिका श्री पद्मसिंह शर्मा ने लिखी है हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक गद्य-काव्य था। मुझे किसी से कोई प्रेरणा नही मिली। मेरे मन मे लहर आई और मैंने लिख डाला।"

—डॉ० कमलेश के हिन्दी गद्य-काव्य, पृ० ४२ से

आश्चर्य की बात है कि हिन्दी के प्रारम्भिक गद्य-काव्य सौन्दर्योपासक के लेखक बाबू ब्रजनन्दन सहाय ने भी लगभग ऐसी ही बात कही है। डॉ० कमलेश ने लिखा है कि जब वे बाबू ब्रजनन्दन सहाय से मिले और सौन्दर्योपासक नामक गद्य-काव्य की सृजन प्रेरणा के सम्बन्ध मे उन्होने उनसे प्रश्न किया तो बाबूजी ने उत्तर दिया—सरकार ने लिखाया है। सरकार से उनका अभिप्राय भगवान् कृष्ण से है। वे उनके परम भक्त है।

उपर्युक्त दोनो उद्धरणो से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि हिन्दी के दो आदिम गद्य-काव्य लेखको ने किसी से प्रभाव या प्रेरणा लेकर गद्य-काव्य की रचना नही की थी। वह या तो उनके सरकार की या उनके मन की प्रेरणा से लिखे गए थे। इस प्रकार स्पष्ट है कि हिन्दी के प्रारम्भिक काव्यो का सृजन बहुत कुछ स्वतन्त्र रूप से ही हुआ था। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से उसे प्रेरित या विशेष प्रभावित मानना हमे ठीक नही जँचता।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री और बाबू ब्रजनन्दन सहाय के अतिरिक्त इनसे कुछ पहले होने वाले बद्रीनारायण चौधरी, तथा गोविन्दनारायण मिश्र ने भी कुछ ऐसे गद्य-खण्ड लिखे थे जो गद्य-काव्य कहे जा सकते हैं। इनका प्रकाशन 'आनन्द कादम्बिनी' नामक पत्रिका मे हुआ था। इन्ही के समकालीन ठा० जगमोहनसिंह ने भी 'श्यामा-स्वप्न' नामक एक भावपूर्ण रचना लिखी थी जिसे मै गद्य-काव्य ही मानने के पक्ष मे हूँ। इनकी इस रचना मे प्रणय और प्रकृति की भावपूर्ण झाँकी मिलती है। बालकृष्ण भट्ट ने भी कुछ ऐसे गद्य-खण्ड लिखे थे जो निबन्ध और गद्य-काव्य के मध्य की वस्तु प्रतीत होते है। इनके 'चन्द्रोदय' मे गद्य-काव्य के लक्षण अधिक है और निबन्ध के लक्षण कम। कल्पना, भावना और काव्यत्व के स्फुरण ने उसमे चार-चाँद लगा दिए है। प्रारम्भ में प्रसादजी ने भी कुछ गद्य-काव्य के ढग की रचनाएँ लिखी थी। इनका प्रकाशन इन्दु मे हुआ था। प्रारम्भिक गद्य-काव्य लेखको में जे० पी० श्रीवास्तव का नाम भी लिया जाता है। इन्होने भी कई अच्छे गद्य-काव्य लिखे थे। राधिकारमणप्रसादसिंह ने नवजीवन या प्रेम-लहरी लिखकर गद्य-काव्यो की परम्परा के विकास में योग दिया। यह सब गद्य-काव्य अधिकतर सस्कृत के कादम्बरी और कुछ अश मे रीतिकालीन हिन्दी गद्य परम्परा से प्रभावित थे।

(ख) बगला से प्रभावित गद्य-गीतों की धारा—हिन्दी गद्य गीतो के स्वरूप को सँवारने का बहुत बडा श्रेय बगला गद्य-गीतो को है। हिन्दी में जिस समय भारतेन्दुयुगीन लेखक प्राचीन ढग के गद्य-काव्यो की रचना करने में लगे हुए थे, उसी समय बगला के चन्द्रशेखर मुखोपाध्याय रचित 'उद्भ्रान्त प्रेम' नामक गद्य-काव्य का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ। इसके अनुवादक ईश्वरीप्रसाद शर्मा थे। इस अनुवाद

में हिन्दी के भावुक लेखकों को एक नई प्रेरणा प्रदान की और वे उसी ढग की रचनाएँ लिखने में लग गए। इस शैली में हिन्दी के बहुत से गद्य-काव्य लिखे गए। इनमें श्री राधिकारमणप्रसादसिंह-कृत 'नवजीवन' या 'प्रेम लहरी', मोहनलाल महतो वियोगी-रचित 'धुँधले गीत', श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु-लिखित 'वियोग' शीर्षक गद्य-काव्य विशेप उल्लेखनीय है। मोनमत्त कृत प्रेम लहरी, और शिवपूजन सहाय विरचित 'प्रेम कली' नामक गद्य-काव्य भी इसी परम्परा से सम्बन्धित है। इस परम्परा से प्रभावित अन्य रचनाओ में हृदयनारायण पाण्डेय प्रणीत, 'देवदत्त' विद्यार्थी कृत 'कुमार हृदय का उच्छ्वास', सद्गुरुशरण अवस्थी लिखित 'अमित पथिक', केशवलाल झा अमूल विरचित 'प्रलाप', वृन्दावनलाल कृत 'हृदय की हिलोर', जगदीश झा विमल कृत 'तरगिणी', तेजनारायण काक रचित 'मदिरा', डॉ० रामकुमार प्रणीत 'हिम हास' और, कनक अग्रवाल लिखित 'उद्गार' विशेप उल्लेखनीय हैं। वियोगी हरि की 'मेरी हिमाकत', चतुर सेन शास्त्री की 'तरलाग्नि', रामेश्वरी देवी गोयल प्रणीत 'जीवन का सपना' आदि रचनाएँ भी इसी परम्परा से प्रभावित मानी जा सकती हैं।

रवीन्द्र बाबू की गीताजली एक युग-प्रवर्तक रचना है। इस रचना ने हिन्दी काव्य क्षेत्र में छायावाद का और गद्य-क्षेत्र में रहस्यवादी गद्य-काव्य की परम्परा का प्रवर्तन किया था। रायकृष्णदास ने अपनी साधना की रचना गीताजली के अनुकरण पर ही की थी। वियोगी हरि की 'तरगिणी', आचार्य चतुरसेन शास्त्री कृत 'अन्तस्थल' इस परम्परा की प्रतिनिधि रचनाएँ कही जा सकती है।

गाधीजी के प्रभाव से बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में राष्ट्रीय विचारधारा का देश के कण-कण में प्रसार हुआ। हिन्दी गद्य-काव्य लेखक इस विचारधारा से प्रभावित हुए बिना न रह सके। फलस्वरूप रवीन्द्र के अनुकरण पर गद्य-काव्य लिखने वालो ने अपने गद्य-काव्यो में आध्यात्मिकता एव रहस्यात्मकता की व्यजना के साथ-साथ देश-प्रेम की पुलक भी पैदा की। जिसके फलस्वरूप हिन्दी गद्य-काव्यो ने एक नई दिशा ली। इस दिशा से सम्बन्धित कई उच्चकोटि के गद्य-काव्य लिखे गए। ऐसे गद्य-काव्यो में वियोगी हरि का 'अन्तर्नाद' हरिमोहन वर्मा की 'भारत भक्ति', माखनलाल चतुर्वेदी की 'साहित्य-देवता', तेज नारायण काक का 'निर्झर' और 'पाषाण' और वियोगी हरि की 'श्रद्धा' शीर्षक रचनाएँ विशेप महत्त्व की हैं।

कुछ गद्य-लेखक उपर्युक्त धारा से प्रभावित हुए बिना ही गीताजली के ढग की ही रचनाएँ लिखते रहे। ऐसी रचनाओ मे रायकृष्णदास की 'छायापथ' और 'प्रवाल' तथा वियोगी हरि रचित 'प्रार्थना' विशेप उल्लेखनीय हैं।

बगला मे प्रभावित एक परम्परा हमे छोटे-छोटे गद्य-गीतो या गद्य-काव्य-खण्डो की मिलती है। इसको जन्म देने का श्रेय रवीन्द्रनाथ की 'स्ट्रेवर्डस' नामक अग्रेजी रचना के हिन्दी अनुवाद को है। यह अनुवाद रामचन्द्र टण्डन ने 'कलरव' नाम से किया था। इसके अनुकरण पर गद्य-गीतो की एक परम्परा चल पड़ी। वियोगी हरि की 'भावना' और 'छण्डे छोटे', शान्तिप्रसाद वर्मा का 'चित्रपट'

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका का मत—इस ग्रन्थ मे समालोचना का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"Criticism is the art of judging the qualities and values of an aesthetic object whether in Literature or the fine arts. It involves the formation and expression of judgment"

अर्थात् आलोचना का अर्थ वस्तुओ के गुण-दोषो की परख करना है, चाहे वह परख साहित्य क्षेत्र मे की गई हो या ललित कला क्षेत्र मे। इसका स्वरूप निर्णय मे सन्निहित रहता है।

रिचर्डस का मत—रिचर्ड ने भी आलोचना का वर्णन करते हुए मूल्य-निर्धारण को ही उसकी प्रमुख विशेषता व्यजित किया है। उन्होने लिखा है—

"To set up as a critic is to set up as a judge of values"

अर्थात् आलोचक की नियुक्ति करना निर्णायक की नियुक्ति करना है।

मैथ्यू आर्नल्ड—आपकी धारणा है कि आलोचक को तटस्थ भाव से वस्तु के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान का अनुभव और प्रचार करना चाहिए। वे लिखते हैं—

"But the criticism, real criticism is essentially the exercise of this very quality (curiosity and disinterested love of a free play of mind) It obeys an instinct prompting to try to know the best that is known and thought in the world"

अर्थात् आलोचना की सबसे प्रमुख विशेषता है तटस्थता। वस्तु के स्वरूप की जिज्ञासा ही उसे आलोचना-मार्ग मे प्रवृत्त करती है।

कार्लाइल—कार्लाइल प्रभाववादी समीक्षा के समर्थक थे। उन्होने आलोचना की परिभाषा देते हुए लिखा है—

"Literary Criticism is nothing and should be nothing but the recital of one's personal adventures with a book"

अर्थात् आलोचना पुस्तक के प्रति उद्भूत आलोचक की मानसिक प्रतिक्रिया का परिणाम है।

ड्राइडेन—इन्होने भी मूल्याकन को ही महत्त्व दिया है। आलोचना वह कसौटी है जिसकी सहायता से किसी रचना का मूल्याकन किया जाता है। वह उन विशेषताओ का लेखा प्रस्तुत करती हैं, जो साधारणतया किसी सम्भ्रान्त पाठक को आनन्द प्रदान कर सके।

—आलोचना, इतिहास तथा सिद्धान्त से उद्धृत

ऐडिसन—यह आलोचना का अर्थ छिद्रान्वेषण न लेकर सौन्दर्योद्घाटन ही लेते थे। उन्होने लिखा है कि समालोचक का धर्म कलाकारो के दोष निकालना नही है बल्कि उनका कर्त्तव्य है उनकी कृति का सौन्दर्योदघाटन करना—

—देखिए दि स्पेक्टेटर

कालरिज—एडिसन से मिलता-जुलता ही दृष्टिकोण कालरिज साहब का भी है। उन्होंने भी यही लिखा कि समीक्षा का उद्देश्य साहित्य-निर्माण के नियमों

का निश्चितीकरण भर है। उसका लक्ष्य निर्णयात्मक नियमो का सकलन तैयार करना नही है—

—बाइग्रे फिया टिरेरिया से

वोईसाल—इनका दृष्टिकोण स्वच्छन्दतावादी प्रतीत होता है। उन्होने लिखा है। "आलोचना एक प्रकार का इतिहास अथवा दर्शन है जिसका प्रयोग विचारशील तथा उत्सुक व्यक्तियो द्वारा सतत होता रहेगा और श्रेष्ठ आलोचक वही होगा जो श्रेष्ठ कलाकारो की महत् रचनाओ के क्षेत्र मे अपनी आत्मा के स्वच्छन्द विचरण का वर्णन करेगा।"

अयेन्तर—इनकी धारणा थी कि आलोचना मे निर्णय प्रधान होता है।' आलोचक के तीन प्रमुख कर्त्तव्य है—पहला है अर्थ का स्पष्टीकरण, दूसरा वर्गीकरण और तीसरा निर्णय प्रदान। इसका प्रमुख उद्देश्य जनता तथा लेखको की अभिरुचि का सशोधन तथा कला और साहित्य का श्रेष्ठ निर्देशन है।"

समस्त मतों की आलोचना और अपना दृष्टिकोण—ऊपर लिखी परिभाषाओ का यदि ध्यान से अध्ययन करे तो हमे स्पष्ट अनुभव होगा कि विद्वानो ने आलोचना सम्बन्धी अपने दृष्टिकोणो के अनुरूप ही उसके स्वरूप की व्याख्या की है। कोई निर्णय को, कोई व्याख्या को, कोई वैज्ञानिक विवेचन को, कोई मनोवैज्ञानिक अध्ययन को तथा कोई सिद्धान्त निर्माण को आलोचना का आवश्यक अग मानता है। यह सभी परिभाषाएँ एकागी और एकपक्षीय है। सच्ची समालोचना वह है जिसमे आलोचक इतिहास एव तुलना का आधार लेकर वस्तु के बाह्य और अन्तर दोनो पक्षो की व्याख्या वैज्ञानिक शैली मे करता हुआ सिद्धान्तो का निर्माण और आलोच्य वस्तु का मूल्याकन करने का प्रयास करता है।

सच्ची समालोचना मे निम्नलिखित पक्षो का सुन्दर सामजस्य रहता है।

आलोचना के पक्ष

सत्समालोचना के विविध पक्ष और अग होते है। सक्षेप मे वे इस प्रकार हैं—

(१) आलोचना का व्यक्तिगत और प्रभावाभिव्यजक पक्ष।
(२) आलोचना का शास्त्रीय विवेचन पक्ष और आलोचक की प्रतिभा।
(३) आलोचना का निर्णयात्मक पक्ष।
(४) आलोचना का ऐतिहासिक पक्ष।
(५) आलोचना का मनोवैज्ञानिक पक्ष।
(६) आलोचना का तुलनात्मक पक्ष।
(७) आलोचना का वैज्ञानिक पक्ष।
(८) आलोचना का साहित्यिक पक्ष।
(९) सिद्धान्तो का निर्माण पक्ष।
(१०) आलोचना का व्याख्यात्मक पक्ष।

(१) आलोचना का व्यक्तिगत और प्रभावाभिव्यञ्जक पक्ष—यद्यपि आलोचना का आवश्यक अग उसका शास्त्रीय पक्ष है। किन्तु आलोचक का व्यक्तित्व भी

आलोचना के रूप-विधान मे कम सहायक नही होता। क्योकि आलोचना को बिलकुल निर्जीव वस्तु नही समझना चाहिए। सच्ची आलोचना मे निष्पक्ष नीर-क्षीर विवेक के साथ-साथ व्यक्तिगत सहानुभूति का स्पर्श भी रहता है। आलोचना की यह सहानुभूति उसकी आलोचना को मानव मात्र के लिए बोधगम्य और आकर्षक बना देती है।

हडसन ने लिखा है—आलोचना को विज्ञान मात्र नही बना सकते है। वस्तुओ को उनके यथार्थ रूप मे देखने की बात करते है। पर यह कहने को एक फैशन मात्र है। वस्तुओ को उनके यथार्थ रूप मे देखना सम्भव है क्योकि उन्हे हम अपने मन में ही देख सकते है और क्योकि हमारे मन राग-द्वेष से भरे रहते है, हम उन्हें अपने स्वभाव और प्रकृति के द्वारा ही देख सकेंगे। बहुत करें तो हम पक्षपात, अध-विश्वास और द्वेप से अपने को मुक्त करने की चेष्टा कर सकते हैं। बस उससे और अधिक नही। साहित्य का व्यक्तित्व से विकास होता है और व्यक्तित्व को ही वह अपील करता है। इत्यादि। हडसन के इस कथन से पूर्णतया स्पष्ट है कि **आलोचना में आलोचक की व्यक्तित्वाभिव्यक्ति का होना अनिवाय और अपेक्षित दोनों हैं।** वैसे अन्य विद्वानो ने भी आलोचक के जो **आवश्यक गुण** निर्देशित किए हैं वे भी अधिक-तर बुद्धितत्त्व की अपेक्षा हृदयतत्त्व से ही सम्बन्धित है। हमारे यहाँ काव्यशास्त्र मे काव्यानुशीलन के अधिकारी वे ही बतलाए गए हैं जो प्रतिभानुशाली-हृदय वाले हैं। **'अभिनव भारती'** में लिखा हैं **"अधिकारीमात्र विमल प्रतिभानुशालि हृदय"**—ध्वन्या-लोक लोचन मे भी यही बात इस प्रकार लिखी गई है—

"एषा काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्धि विशदी भूते मनो मुकरे वर्णनीयतन्मयी भवन योग्यता ते हृदय सम्वाद भाजा सहृदया।"

आजकल के हिन्दी आलोचको मे रामचन्द्र शुक्ल मे हमे व्यक्तित्वाभिव्यक्ति बहुत दिखाई पडती है। उनकी समस्त आलोचना मे उनके व्यक्तित्व की पूरी छाप है। यह छाप हमें उनकी आलोचनाओ मे निम्नलिखित रूप मे दिखाई पडती है—

(१) आदर्शवाद के प्रति लगाव।
(२) तुलसी के प्रति विशेप श्रद्धा।
(३) शिष्टता।
(४) मननशीलता और गम्भीरता।
(५) छायावाद और रहस्यवाद के प्रति उपेक्षा।
(६) रसपक्ष का महत्त्व-प्रतिपादन।

(२) आलोचना का शास्त्रीय विवेचन पक्ष और आलोचक की प्रतिभा— मम्मट ने कवि के अपेक्षित साधनो का उल्लेख करते हुए लिखा है—

शक्ति निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास हेतु तदुद्भवे।

अर्थात् काव्योत्पत्ति के सहायक उपादानो मे शक्ति या प्रतिभा, लोकशास्त्र ज्ञान तथा काव्यानुशीलनजनित निपुणता, काव्यज्ञ से शिक्षा प्राप्त करना आदि

अत्यन्त आवश्यक हैं। जब कवि इस प्रकार समस्त शास्त्रो का ज्ञान प्राप्त कर कविता की सृष्टि करता है तो फिर उसकी विवेचना करने वाले भावुक या आलोचक के लिए भी इन समस्त शास्त्रो का ज्ञान प्राप्त करना बड़ा आवश्यक होता है क्योंकि आलोचक का कार्य ही शास्त्रीय ढग से काव्य की परीक्षा करना होता है। 'काव्य-मीमासा' नामक ग्रन्थ मे समीक्षा का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है—"अन्तर्भाष्य समीक्षा अवान्तरार्थ विच्छेदश्चना" अर्थात् समीक्षा अन्तर्भाष्य व अवान्तरार्थ के विच्छेद का नाम है। यह कार्य तभी हो सकता है जब आलोचक मे भी कवि के समान शक्ति, निपुणता, लोकशास्त्र, काव्यादि का ज्ञान वर्तमान हो।

(३) आलोचना का निर्णयात्मक पक्ष—हडसन ने आलोचना के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"In its strict sense the word criticism means judgment and this sense commonly colours our use of it even when it is most broadly employed"

अर्थात् आलोचना का अर्थ प्रधान रूप मे निर्णय ही है इत्यादि। इससे स्पष्ट है कि निर्णय पक्ष आलोचना का प्रमुख पक्ष होता है। हडसन ने आलोचक के दो प्रमुख रूप माने हैं—एक तो व्याख्याकार (Interpreter) और दूसरा निर्णायक (Judicial)। उसने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'An Introduction to Study of Literature' मे आलोचना के निर्णय पक्ष पर विस्तार मे विचार किया है। उसने लिखा है कि जीवन बहुत छोटा होता है। साहित्य बहुत विस्तृत है। उस समस्त साहित्य मे अपने उपयुक्त ग्रन्थो को कोई भी व्यक्ति तभी छाँट सकता है जब उसके सम्बन्ध मे प्रतिष्ठित विद्वानो ने अपने निर्णय दे दिए हो। रिचर्ड्स ने अपने 'Principles of Literary Criticism' मे निर्णय कार्य को भी एक आवश्यक साहित्यिक व्यापार माना है। उसने लिखा है—

"The act of judgment the relation of presentation are only a few of the provisional ultimates introduced for convenience of discussion"

आजकल इस निर्णय व्यापार मे केवल रुचि को ही विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता, बल्कि मनोवैज्ञानिक तथ्य भी उसके मूल मे रहा करते हैं। रिचर्ड्स ने 'A Psychological Theory of Value' मे लिखा है कि सौ वर्ष पहले लिखी गई लागिनस की यह उक्ति—

"The Judgment of Literature is the final outcome of much endeavour"

अर्थात् साहित्य मे सच्चा निर्णय देना बडा प्रयत्नसाध्य होता है, यह आज भी सत्य है। हडसन ने इसी बात का वर्णन किया है। मनोविज्ञान के अतिरिक्त, निर्णय देने मे देश, काल और पात्र का विचार रखना भी नितान्त आवश्यक होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि निर्णय का कार्य सहसा नहीं किया जाना चाहिए। उसके लिए गूढ अध्ययन के साथ-साथ सतुलित मनोवृत्ति भी अपेक्षित होती है। इन दोनो बातो के लिए बडे अभ्यास की आवश्यकता है।

(४) **आलोचना का ऐतिहासिक पक्ष**— आलोचना का ऐतिहासिक पक्ष भी कम महत्त्वपूर्ण नही होता। प्राचीन काल मे अधिकाश आलोचना कोरी निर्णयात्मक होती थी। वे निर्णय बहुत कुछ वैयक्तिक रुचि पर आश्रित रहते थे। किन्तु आज आलोचक को निर्णय देने से पहले आलोच्य वस्तु और उससे सम्बन्धित बातो के ऐतिहासिक पक्ष पर भी विचार करना पडता है। स्काट जेम्स ने लिखा है—

"The critical leader has to put himself as nearly as possible where the writer Stands"

(The making of Literature—by Scott James, page 375)

अर्थात् आलोचक को भी उसी भूमि तक पहुँचने की चेष्टा करनी चाहिए जिस पर लेखक वर्त्तमान रहता है। इस लक्ष्य पर आलोचक तभी पहुँच सकता है जब वह उसके ऐतिहासिक पक्ष का साग विवेचन करे। इसीलिए आधुनिक आलोचक किसी कवि की आलोचना करते समय उन तमाम परिस्थितियो का ऐतिहासिक विवरण देते हैं जिनमे पडकर कवि ने अपनी कृति लिखी होगी। साथ ही साथ परम्परा निर्देश की ओर भी सच्चे आलोचक का ध्यान रहता है। क्रोचे ने इसीलिए अपने दार्शनिक सिद्धान्त के विवेचन मे इतिहास को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। आलोचना के ऐतिहासिक पक्ष पर बल देते हुए जेम्स स्काट ने अपने The Making of Literature' मे लिखा है—

"The critic must have some knowledge of that tract of life from which the creative writer starts This life which we progress to know, we always see characterised the facts of which the artist is sensible must be facts to which the critic can also penetrate and these are to be found not only in life in more obvious sense but the whole order of facts which furnish the mind—the knowledge The memory of the past—the culture the common possession of which makes intelligent conversation possible an exchange of ideas fruitful Behind us all lies that history—the history of poetry music art and all human idea—that history which Chroce tells us is humanity's memories of its own past and whether it be well or ever so faintly remembered has entered into the nature of each of us and has coloured and contributed to the mode of awareness The kind of knowledge of life is possessed in various degrees by the artist and the critic must have the entry to the same world (The making of Literature—Scott James, page 378)

इसी बात को पेटर ने अपने Renaissance मे इस प्रकार लिखा है—

"Every intellectual product must be judged from the point of view of the age and the people in which it was produced

(Page 22)

हडसन ने Seherer को उद्धृत करते हुए लिखा है कि आलोचना मे आजकल की ऐतिहासिक शैली बडा महत्त्व रखती है। उसके मतानुसार आलोचक का कार्य होता है—

"Its aim is to give account of work from the genius of its authors and from the turn this genious has taken from the circumstances amidst which it was developed"

(५) आलोचना का मनोवैज्ञानिक पक्ष—अभी निर्णय पक्ष पर विचार करते हुए हमने आलोचना के मनोवैज्ञानिक आधारभूमि की आवश्यकता सकेतित की है। रिचर्ड्स ने अपने 'Principle of Literary Criticism' नामक पुस्तक में इस सम्बन्ध पर अच्छा विचार किया है। उसने एक स्थल पर लिखा है—

"None the less enough is known for an analysis of the mental events which make up reading of a poem to be attempted and such an analysis is a prime necessity in criticism"

अर्थात् अब मानसिक घटनाओ के विश्लेपरग के लिए ज्ञान का अच्छा विकास हो चुका है। अतएव किसी कविता को पढते समय उनसे बडी सहायता मिलती है। आलोचक के लिए इस प्रकार का मनोवैज्ञानिक विश्लेपरग परमापेक्षित होता है। आलोचना मे मनोविज्ञान का विश्लेपरग करते समय हमे अपने मनोवैज्ञानिक विश्लेपरग से ही प्रेरित नही होना चाहिए क्योकि इमसे आलोचना क्षेत्र मे अव्यवस्था उत्पन्न होने की आशका हो सकती है। रिचर्ड्स ने 'Principle of Literary Criticism' मे पृष्ठ ८२ पर इम बात को इस प्रकार लिखा है—

"For our immediate purpose, for clearer understanding of values and for avoidance of unnecessary confusion in criticism it is necessary to break away from the set of ideas by which popular and academic psychology alike attempt to describe the mind"

उसने आलोचना क्षेत्र मे मनोवैज्ञानिक विश्लेपरग के महत्त्व को प्रगट करते हुए लिखा है—

"For a theory of knowledge is needed only at one point The point at which we wish to decide whether a poem For example is true or reveals reality and if so in what sense Whereas theory of feeling of emotion of aptitude and desires of the effective volitional aspects of mental activity is required at all point mental analysis"

(६) आलोचना का तुलनात्मक पक्ष—आलोचना मे तुलना का भी बडा महत्त्व होता है। सच तो यह है कि हडसन ने व्याख्या और मूल्य निर्धारण आलोचना के जो दो प्रमुख तत्त्व बतलाए है। उनमें मूल में तुलना पक्ष स्वय विद्यमान रहता है। उसने इसीलिए लिखा है—

'In the first place judicial criticism is largely concerned with the question of the order of merits among Literary works"

अर्थात् निर्णयात्मक आलोचना मे आलोच्य ग्रन्थ का अन्य साहित्य-ग्रन्थो मे स्थान निर्देश भी आवश्यक होता है। इन पक्तियो मे उसने तुलना पक्ष पर भी जोर दिया है।

(७) आलोचना का वैज्ञानिक पक्ष—सफल आलोचना मे वैज्ञानिकता को भी विशेष महत्त्व दिया जाता है। आलोचना भावनालोक की वस्तु नहीं होती।

इसमे आलोचक को बुद्धिवादिता और विश्लेषण से काम लेना पडता है। पहले वह आलोच्य वस्तु की व्याख्या और फिर उनका विश्लेषण करता है। बाद को सैद्धान्तिक आलोचना के लिए सिद्धान्त निर्माण भी। इसीलिए हडसन ने आलोचना के लिए Science of Criticism या विज्ञान शब्द का प्रयोग किया है। Introduction to the Study of Litrature, page 280 पर उसने Science of Criticism शब्द का प्रयोग किया है। हडसन ने वैज्ञानिक ढग के आलोचक की विशेपताओ को स्पष्ट करते हुए मोल्टन की निम्नलिखित उक्ति उद्धृत की है—

"Nothing to do with merit relative or absolute Difference in kinds he knows, difference in degrees he does not know"

इत्यादि।

(८) **आलोचना का साहित्यिक पक्ष**—ऊपर हम आलोचना के वैज्ञानिक पक्ष के महत्त्व का सकेत कर चुके हैं। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि आलोचना कोरा विज्ञान है साहित्य नही। वास्तव मे उसमे साहित्यिक आनन्द अपनी पराकाष्ठा मे वर्त्तमान रहता है। साथ ही साथ वैज्ञानिक विवेचना, विश्लेषण, तथा नियम निर्धारण आदि बातो पर भी जोर दिया जाता है। अग्रेजी साहित्य मे इस प्रश्न को दूसरे ढग से उठाया गया है। वह यह है कि क्या आलोचक कवि होता है या नही। कुछ विद्वान् पक्ष मे हैं और कुछ विपक्ष मे। making of Literature मे स्कास्ट जेम्स ने पृ० ३७४ पर इस सम्बन्ध मे अपने विचार प्रगट किए है—

"The answer in part is given by many great poets who have been criticised Some like Dryden, Gothe and Ornald have opened their minds to all Literature with catholic understanding Others with more restricted taste Swinburn for example have written eloquently of just those poets who were peculiarly congenial to them"

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि आलोचक होते हुए भी कोई व्यक्ति कवि हो सकता है। यह बात दूसरी है कि उसके दृष्टिकोण मे अन्तर हो जैसा कि ऊपर उद्धरण से स्पष्ट है। जब आलोचक कवि हो सकता है तो आलोचक मे निश्चय ही काव्यत्व का अश भी होगा। कवि का कोई भी कार्य भावना विरहित नही हो सकता। आलोचक का कर्त्तव्य है कि वह यदि कवि न भी हो तो भी सहानुभूति से काम ले। दूसरे आलोचना सम्बन्धी अपने विचारो का साहित्यिक शैली मे निवेद्य बनावे। आलोचक का परम कर्त्तव्य है कि कवि की आलोचना करते समय उसकी समस्त साहित्यिकता और भावुकता को पाठको तक पहुँचा दे। ऐसी दशा मे उसे साहित्यिक पक्ष पर विशेष ध्यान रखना पडेगा। कोरा वैज्ञानिक शुष्क नियमो को साधारण समाज के लिए निवेद्य नही बना सकता। जब तक कि वे नियम से सत्य-खण्ड, काव्यानुभूति और सहानुभूतित से सवलित करके न रखे जायें। अत. स्पष्ट है कि आलोचना मे साहित्यिक पक्ष का होना उतना ही आवश्यक है जितना कि वैज्ञानिक पक्ष का। हडसन ने आलोचना के भावात्मक और साहित्यिक पक्ष की आवश्यकता को ध्वनित करते हुए लिखा है—

"The chief function of criticism is to enlighten and to stimulate"
(Page 266)"

(९) सिद्धान्तों का निर्माण पक्ष—हम ऊपर आलोचना की वैज्ञानिकता पर जोर दे चुके है। विज्ञान का कार्य वस्तुओ का विश्लेषण कर उसके आधार पर और सम्बन्ध मे नियम निर्माण करना होता है। आलोचना का भी लक्ष्य बहुत कुछ यही है। हडसन ने इसी बात को इस प्रकार लिखा है—

"Differences in kind he knows, difference in degree he does not know He sees the laws and principles of a given body of literature

उसने एक दूसरे स्थल पर लिखा है—

"The critic's business is thus to discover by the direct examination"

(१०) आलोचना का व्याख्यात्मक पक्ष—हडसन ने आलोचना के प्रधान दो पक्ष माने है। उनमें व्याख्या पक्ष भी एक है। उसने लिखा है—

"Criticism may be regarded as having two different functions that of interpretation and that of judgment"

बहुत से आजकल के आलोचक आलोचना के व्याख्यात्मक पक्ष को ही प्रधान मानते है। अग्रेजी आलोचना जगत का सदर्भ देते हुए हडसन ने लिखा है—

"These two writers must suffice to illustrate the marked tendency of our time to regard interpretation"

हमारे यहाँ सस्कृत मे भी आलोचना के व्याख्या पक्ष को विशेष महत्व दिया गया है। सस्कृत मे समीक्षा का अर्थ अन्तरभाष्य व अवान्तरार्थ विच्छेद अर्थात् पूर्ण और स्पष्ट व्याख्या करना है। जिसमें आन्तरिक विशेषताएँ स्पष्ट हो और प्रासगिक बातें भी सकेतित की गई हो वही समालोचना है। अग्रेजी विद्वानो ने इस पक्ष पर विस्तार से विचार किया है।

आलोचना की वैज्ञानिक प्रक्रिया

इस विषय पर डॉ० श्यामसुन्दरदास ने अपने 'साहित्यालोचन' मे अच्छा प्रकाश डाला है। उसके मतानुसार आजकल की वैज्ञानिक प्रक्रिया के दो सामान्य पक्ष है। तुलना और इतिहास साहित्य की आलोचना भी तभी वैज्ञानिक होती है जब तुलना और इतिहास पर उसकी भित्ति उठाई जाती है। हम पीछे इन दोनों बातो पर विचार कर चुके है। डॉ० श्यामसुन्दरदास के मतानुसार आलोचक को इतिहास और तुलना के साथ-साथ विश्वास, रुचि और मानव आदर्शो को भी दृष्टिकोण मे रखना चाहिए। उन्होने आलोचक को कुछ दोषो से बचने के लिए सावधान भी किया है। उनमे पहला दोष यह है कि उसे पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग नही करना चाहिए और प्रयुक्त हुए पारिभाषिक शब्दो को स्पष्ट कर देना चाहिए।

'आलोचना, इतिहास तथा सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ मे वैज्ञानिक प्रक्रिया का स्पष्टीकरण कुछ अधिक विस्तार के साथ किया है। इस ग्रन्थ मे पृ० ४४१ पर लिखा है—"आधुनिक युग की वैज्ञानिक प्रगति से प्रभावित होकर उन्होंने उसी के क्षेत्र के

कुछ नियम अपनाए और आलोचनाधार निर्मित किए । विज्ञान-क्षेत्र मे वर्गीकरण कार्य-कारण सम्बन्ध, समीक्षा तत्वो का विवेचन, पारस्परिक सम्बन्ध इत्यादि का आधार लेकर अनुसधान किया जा रहा था । उन्ही आधारो को अनेक साहित्यिक आलोचको ने भी अपनाया । उन्होने भी साहित्य को वर्गो मे विभाजित किया । उनके कार्य-कारण के पारस्परिक सम्बन्ध का अनुसधान किया, शब्दो के धातु रूप का निश्चय किया, और देश विशेष के सामाजिक तथा राजनीतिक एव राष्ट्रीय जीवन की भूमिका रूप मे रखकर साहित्यिक कृति की जाँच आरम्भ की । उन्होने मनोविज्ञान तथा मनस्तल शास्त्र का सहारा लेकर कवि-हृदय को परखना चाहा । यही आलोचना की वैज्ञानिक प्रक्रिया है ।

आलोचना या भावक का स्वरूप, प्रकार और आवश्यक गुण

आलोचक या भावक—ऊपर जिस आलोचना की चर्चा की गई है, उसकी शक्ति सब मे नही होती । इस सम्बन्ध मे राजशेखर ने लिखा है कि सच्चा भावक या आलोचक वही हो सकता है जिसमे भावयत्री प्रतिभा होती है । वे लिखते है—

भावकस्योपकुर्वाण भावयत्री सा हि कवे. श्रममभिप्राय च भावयति ।
तया खलु फलित कवेर्व्यापारतरुरन्यथा सो—वकेशी स्यात् ।।

अर्थात् भावयित्री प्रतिभा भावक या आलोचक का उपकार करती है । अत उसका नाम भावयित्री है । यह प्रतिभा कवि की कविता-लता को सफल बनाती है । इसके विना कविता निष्फल रह जाती है ।

यहाँ पर एक प्रश्न उठ खडा होता है । कवि श्रेष्ठ होता है या भावक या आलोचक । इस प्रश्न का निश्चित उत्तर राजशेखर ने दिया है । उन्होने लिखा है कि प्रतिभा के तारतम्य से ससार मे विविध प्रकार की प्रतिष्ठा होती है । भावक कवि कभी अधम दशा को प्राप्त नही होते । हाँ, भावक-प्रतिभा तथा कवि-प्रतिभा दोनो का एक मे होना कठिन होता है । राजशेखर ने अपनी 'काव्य-मीमासा' मे एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसमे यह व्यजित किया गया है कि दोनो प्रकार की बुद्धि का एक मे होना आश्चर्यजनक होता है ।

—काव्य मीमासा, केदारनाथ सारस्वत का अनुवाद, पृ० २१

आलोचकों या भावकों के भेद—भावको के भेदो के सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद हैं । महाकवि मगल के मतानुसार भावक या आलोचक दो प्रकार के होते है—(१) अरोचकी, तथा (२) सतृणाभ्यवहारी । वामन के मत में कवि भी अरोचकी और सतृणाभ्यवहारी होते है । राजशेखर के मत मे भावक के चार प्रकार के होते हैं—अरोचकी, सतृणाभ्यवहारी, मत्सरी और तत्वाभिनिवेषी । अरोचकी समालोचक वे होते हैं, जिन्हे किसी की अच्छी मे अच्छी रचना भी अच्छी नही लगती । सतृणाभ्यवहारी आलोचक वे होते है जो भली-बुरी सभी प्रकार की रचनाओ पर वाद-विवाद उठाते हैं । मत्सरी वे होते हैं जो ईर्ष्यावश किसी रचना को पसन्द नही करते और कुछ न कुछ दोष दर्शन कराने की चेष्टा करते है तथा तत्वाभिनिवेषी वे निष्पक्ष और सच्चे आलोचक होते हैं ।

भावक या आलोचक के आवश्यक गुण—आलोचक के आवश्यक गुणो के सम्बन्ध मे पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र मे बहुत कुछ लिखा गया है। भारतीय काव्य-शास्त्र मे भी समीक्षक के आवश्यक कर्त्तव्य और गुणो का यत्र-तत्र सकेत मिलता है। यहाँ पर हम प्राच्य और पाश्चात्य दोनो देशो के आलोचनाशास्त्र और काव्यशास्त्र को दृष्टि मे रखते हुए सक्षेप मे आलोचक के आवश्यक गुणो का सकेत करते है।

(१) सहृदयता—सहृदयता आलोचक का आवश्यक गुण है क्योकि भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार कोई भी व्यक्ति विना सहृदय हुए काव्य का रसास्वादन नही कर सकता। आनन्दवर्द्धनाचार्य ने सहृदयता के प्रश्न को उठाते हुए स्पष्ट किया है कि वह 'रसभावादिरूप काव्य स्वरूप परिज्ञान नैपुण्य' है। पाश्चात्य देशो मे प्राचीन आचार्यों ने सहृदयता को एक दूसरे रूप मे महत्त्व दिया है। प्लेटो ने लिखा है कि काव्यानन्द के अधिकारी वे ही होते हैं जो शिक्षा और संस्कृति से विशिष्ट है।, इस प्रकार स्पष्ट है कि आलोचक का प्रथम आवश्यक गुण सहृदयता है। क्योकि आलोचक का कार्य कवि की कृति के प्राण को पकडकर ज्यो का त्यो प्रगट कर देना है। मैथ्यू आर्नल्ड ने अपने Essays in Criticism नामक ग्रन्थ मे आलोचक के कर्त्तव्य का सकेत किया है। उसके मतानुसार आलोचक का कर्त्तव्य है वस्तु को उसके वास्तविक रूप मे देखना ('To see the object as it really is')।

इसी बात को जेम्स स्काट ने इस प्रकार लिखा है—

"The critic is the listener who understands what is said to him missing nothing from the deeper weight of the meaning to subtlest indication of the tone of voice"

आगे उसी स्थल पर वे फिर लिखते हैं—

"The critical leader has to put himself as nearly as possible where the writer stands"

जिसे भारतीय विद्वान् सहृदयता कहते है अग्रेज विद्वान् केलेट ने उसी को trained taste या aesthetic appreciation कहा है। उसका उसने अपने ग्रन्थ में विस्तार से विवेचन किया है। उसने इस सहृदयता या साहित्यिक अभिरुचि के सम्बन्ध में लिखा है—

• "If things were as they ought to be in the literary world, taste would be ruled by criticism than criticism by taste" (*Page 100*)

अर्थात् साहित्य जगत् मे यदि वस्तुओ की रूप-रेखा वही हो जैसी होनी चाहिए तो आलोचना रुचि को परिष्कृत करेगी न कि रुचि आलोचना को। हमारे यहाँ हिन्दी मे प्रसादजी भी इसी मत के समर्थक थे।

(२) प्रतिभा—हमारे यहाँ प्रतिभा को काव्योत्पादन और काव्यालोचन दोनो मे बहुत महत्त्व दिया गया है। 'काव्यानुशासन' मे हेमचन्द ने लिखा है—

"प्रतिभैवच कवीनां काव्य कारन कारणम् व्युत्पत्यभ्यासौ तस्या एव संस्कारकौ नतु काव्य हेतु।"

"अर्थात् काव्य का मूल कारण प्रतिभा है और यह प्रतिभा व्युत्पत्ति और अभ्यास के सहारे प्राप्त की जा सकती है। कुछ दूसरे आचार्य प्रतिभा को स्वभावज

मानते हैं। जो भी इतना स्पष्ट है कि भारतीय विद्वान् काव्योत्पादन और काव्यालोचन दोनो मे प्रतिभा को बहुत आवश्यक मानते है। इसका प्रमाण यही है कि हमारे यहाँ प्रतिभा के दो भेद माने गए है—कारयत्री और भावयत्री। कारयत्री प्रतिभा का सम्बन्ध कवि से होता है और भावयत्री प्रतिभा का सम्बन्ध भावक से। इसीलिए अभिनवभारती मे भावक का वर्णन करते हुए उसे 'विमल, प्रतिमानशालि हृदय' कहा गया है। पाश्चात्य आलोचक हड्सन ने भी आलोचक मे हेमचन्द्र के समान ही प्रतिभा की उत्पत्ति के लिए एक विशेष प्रकार की शिक्षा आवश्यक मानी है। उसका मत भी हेमचन्द्र से बहुत मिलता-जुलता है। देखिए—

"For the critic of literature a social education is essential and by education we must here understand—as always—both aquisition of knowledge and deep discipline of mind" (*Study of Lit P 280*)

(३) अन्तर्दृष्टि—आलोचक मे अन्तर्दृष्टि जिसे अंग्रेजी मे "insight" कहा है, का होना बहुत जरूरी होता है। अन्तर्दृष्टि की विशेषता बहुत कुछ जन्मजात कही जा सकती है। किन्तु शिक्षा और अभ्यास आदि से आलोचक की यह विशेषता विकसित हो सकती है। आलोचक अपनी इसी विशेषता के कारण सच्ची आलोचना में समर्थ हो सकता है, क्योकि आलोचक का कर्त्तव्य है कि कवि के द्वारा की गई जीवनाभिव्यक्ति को पाठको तक पहुँचा दे। इसी बात को हडसन ने इस प्रकार लिखा है—

"If a great poet makes as partaker of his larger sense of the meaning of life a great critic may make us partaker in the larger sense of the meaning of literature" (*Page 266*)

आलोचक का यह लक्ष्य तभी पूर्ण हो सकता है जब उसमे सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि हो। तभी तो हड्सन ने लिखा है—

"The true critic must be mentally alert and flexible" (*Page 282*)

आलोचक मे अन्तर्दृष्टि के महत्त्व को सकेतित करते हुए केलेट ने लिखा है—

He must, in no inconsiderable measure, see what the poet sees and hear what the poet hears (*Fashion in Literature, Page 100*)

(४) **निष्पक्षता** (Disinterestedness)—आलोचक का निष्पक्ष होना बडा आवश्यक होता है। पाश्चात्य समालोचनाशास्त्र मे आलोचक की इस विशेपता को बहुत महत्त्व दिया गया है। आर्नल्ड ने इसे disinterestedness का नाम दिया है (Essays in Criticism, page 18)। हडसन ने उसे quality of detachment and impartiality कहा है। यदि आलोचक मे यह गुण वर्तमान न हो तो आलोचना दूषित हो सकती है। क्योकि प्रत्येक व्यक्ति जीवन मे किसी न किसी प्रकार के राजनीतिक, धार्मिक या सामाजिक पक्षपातो से प्रेरित रहता है। आलोचना करते समय यदि वह तनिक भी इन प्रेरणाओ से प्रभावित हो गया तो उसका निर्णय जो

कि आलोचना का अनिवार्य अंग कहा जा सकता है, दूषित हो जायगा। दूषित निर्णय साहित्यिक पाप होने के साथ-साथ वैज्ञानिक दृष्टि से भी हेय समझा जायगा। अतएव आलोचक को निष्पक्ष होना ही चाहिए।

(५) वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति का होना—वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक ज्ञान आज की आलोचना के आवश्यक उपादान हैं। पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र मे इनके ऊपर विशेष जोर दिया गया है। वैज्ञानिकता का अर्थ है वस्तुओ का निष्पक्ष भाव से विश्लेषण। इस प्रकार का विश्लेषण तभी सम्भव हो सकता है जब आलोचक मे सचाई हो और निष्पक्षता हो। मैथ्यू आर्नल्ड की "inflexible honesty" इसी सचाई का वाचक है। उनकी 'disinterestedness' ही हमारी निष्पक्षता है। यह दोनो ही गुण आलोचक मे तभी आ सकते हैं जब वह स्वभाव से वैज्ञानिक हो। वैज्ञानिकता के साथ-साथ मनोविज्ञान ज्ञान भी आलोचक के लिए नितान्त आवश्यक होता है। हडसन के मतानुसार अलोचना का प्रमुख कार्य आनन्द और प्रेरणा प्रदान करना है।

"The chief function of criticism is to enlighten and stimulate"
(*Hudson, Page 266*)

आलोचक पाठको को इस प्रकार का आनन्द और प्रेरणा तभी प्रदान कर सकता है जब उने मानव-मनोविज्ञान का अच्छा ज्ञान हो, क्योकि साहित्य मानव-जीवन की अभिव्यक्ति है। मानव-मन-जीवन का अध्ययन ही मनोविज्ञान है। जब तक आलोचना मे इस अध्ययन की सूक्ष्म अभिव्यक्ति न होगी तब तक वह मानव-मन मे न तो प्रेरणा ही प्रदान कर सकती है, न आनन्द ही।

(६) दार्शनिक वृत्ति का होना—कैलेट ने Fashion in Literature नामक पुस्तक मे वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियो के अतिरिक्त आलोचक मे दार्शनिक प्रवृत्ति का होना भी आवश्यक माना है, किन्तु इस दार्शनिक वृत्ति का कार्य उसने वही माना है जिसे हमने वैज्ञानिक वृत्ति का कार्य कहा है। अन्तर केवल इतना है कि वैज्ञानिक वृत्ति केवल वर्गीकरण आदि की ओर प्रेरित करती है, किन्तु दार्शनिक वृत्ति के सहारे आलोचक सत्य और असत्य के बीच विभेद भी स्थापित करने मे समर्थ होता है। उसने लिखा है—

"Another very desirable gift of the critic is the philosophic mind The mind to put it briefly, which is accustomed to distinguish between appearence and reality." (*Page 98*)

आर्नल्ड ने तथा प्रसिद्ध अंग्रेज कवि वर्डस्वर्थ ने भी प्रतिभा के दो भेद माने है। एक को उसने critical power कहा है और दूसरे को inventive power कहा है। दूसरे शब्दो मे यो कह सकते हैं कि भारतीय आचार्यों के कारयत्री और भावयत्री नामक भेदो को पाश्चात्य विद्वानो ने भी स्वीकार किया है। पाश्चात्य विद्वानों ने critical power को inventive power से हेयतर माना है। आर्नल्ड ने अपने Essays in Criticism के पृष्ठ २ पर वर्डस्वर्थ का आश्रय लेते हुए इसी बात की पुष्टि की है। यहाँ पर एक प्रश्न और उठ खड़ा होता है। वह यह है कि क्या वह

दोनो गुण एक साथ विकास को प्राप्त कर सकते हैं या नही। इस प्रश्न के उत्तर में पाश्चात्य समालोचना मे विविध मतवाद खडे हो गए हैं। कुछ विद्वानो की धारणा है कि वे inventive power और creative power एक साथ नही पनप सकती, किन्तु आर्नल्ड ने इसके विरुद्ध गोथे का दृष्टान्त देकर सिद्ध किया है कि दोनो कोटि की प्रतिभाएँ भी एक ही मनुष्य मे हो सकती है। गोथे महाकवि होने के साथ-साथ महान् आलोचक भी था।

इस प्रकार यह बात कि कारयत्री और भावयत्री प्रतिमा दोनो ही एक व्यक्ति मे भी हो सकती है, सभी विद्वान स्वीकार करते है।

(७) **शिक्षा**—मम्मट ने काव्योत्पत्ति हेतुओ का परिगणन करते हुए लिखा है कि कवि को लोकशास्त्र ज्ञान तथा काव्यज्ञशिक्षा अभ्यास भी होना चाहिए। जब कवि इस प्रकार शिक्षित होता है तो उसकी अभिव्यक्ति पर उसकी शिक्षा का भी प्रभाव होगा। अतएव आलोचक को भी उसी के समान शिक्षित होना चाहिए क्योकि आलोचक के लिए स्काट जेम्स के मतानुसार उसी भूमिका तक पहुँचने की चेष्टा करनी चाहिए जिस भूमिका पर कवि रहता है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब कि आलोचक भी कवि के समान शिक्षित हो। हडसन ने भी आलोचक के शास्त्र-ज्ञान की अपेक्षा पर जोर दिया है।

"The true critic is one who is equipped for his task by a knowledge of his subject"

अर्थात् सच्चे आलोचक को अपने विषय का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए।

आर्नल्ड ने Essays in Criticism मे आलोचक के कर्त्तव्यो का सकेत करते हुए लिखा है कि आलोचक को आलोचना करते समय नवीनतम ज्ञान की खोज कर पाठको तक पहुँचा देना चाहिए। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए भी आलोचको का सर्वशास्त्र पारगत होना नितान्त आवश्यक होता है। इसके लिए उसे शिक्षा और गूढ अध्ययन की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

(८) **व्यक्तित्व**—आलोचक को साहित्य-स्रष्टा कहा जा सकता है। साहित्य पर व्यक्तित्व का मौलिक प्रभाव पडता है। हडसन ने इस तथ्य को इस प्रकार स्वीकार किया है।

"Personality being the elemental fact in all literature we start, of course, with the critic himself"

इससे स्पष्ट है कि आलोचक का व्यक्तित्व विशिष्ट होना चाहिए। विशिष्ट व्यक्तित्व से हमारा अभिप्राय कुछ विशेष बातो से है। व्यक्तित्व भी प्राय दो प्रकार के होते हैं। एक वे जो दूसरे से स्वय प्रभावित होते है, दूसरे वे जो दूसरो को स्वय प्रभावित करते हैं। आलोचक का व्यक्तित्व वास्तव मे इन दोनो की मध्य कोटि का होना चाहिए। उसका दृष्टिकोण विस्तृत हो, स्वभाव गम्भीर हो, विचार उदार हो, साथ-साथ सहानुभूति भी हो। हडसन ने इन्ही बातो का अपने ग्रन्थ में सकेत किया है।

(देखिए Study of Literature के पृ २७८ पर)

कुछ पाश्चात्य विद्वानो ने व्यक्तित्व के साथ-साथ आलोचक के लिए एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति का होना भी आवश्यक बताया है । G Telleston ने अपने ग्रन्थ Criticism and the Nineteenth Century मे आलोचक की इस विशेषता का इस प्रकार निर्दिष्ट किया है ।

"What is important then is that the critic should possess a certain kind of temperament "

(९) सहानुभूति—ऊपर हम आलोचक के व्यक्तित्व का सकेत करते समय उसका सहानुभूतिमय होना लिख चुके है । सहानुभूति आलोचक का आवश्यक कर्त्तव्य है । जानसन ने आलोचना को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"Criticism, as it was first instituted by Aristotle, was meant as a standard of judging well "

आलोचक को इस स्थिति तक पहुँचने के लिए सहानुभूतिमय होना ही पड़ेगा । आलोचना का उदय वास्तव मे पहले युगो के निर्देश के लक्ष्य से ही हुआ था । लौंगफैलो ने इस बात का समर्थन किया है—

"Doubtless, criticism was originally begun at pointing out the beauties of a work rather than its defects The passions of man have made it malignant as to the bad heart of procrustes turned the bed symbol of repose into an instrument of torture "

(*New Dictionary of Thoughts, Page 109*)

हमारे यहाँ भी इस तथ्य का समर्थन दूसरे ढग मे किया गया है । किसी ने ठीक कहा है ।

"गुणदोषौ बुधो ग्रहणन इन्दुवद् महेश्वर,
शिरसा श्लाघते पूर्व पर कण्ठे नियच्छति ।"

अर्थात् शिवजी की भाँति बुधजन गुण और अवगुण दोनो ग्रहण करते है किन्तु चन्द्रमा की भाँति गुणो को शिर पर रख प्रकाशित करते हैं और दोषो को विष की भाँति गले के भीतर ही रखते हैं । इस लक्ष्य तक आलोचक तभी पहुँच सकता है जब उसमें सहानुभूति का विशेष गुण है ।

(१०) प्रेषणीयता—पाश्चात्य विद्वानो ने प्रेषणीयता को भी समालोचक का आवश्यक गुण माना है । कैलेट ने अपने Fashion in Literature (फैशन इन लिटरेचर) नामक ग्रन्थ मे इस सम्बन्ध मे इस प्रकार लिखा है—

"He must not only have the trained taste and the psychological gift but he must have the communicative capacity as well "

(*Page 97*)

अर्थात् परिष्कृत रुचि और मनोविज्ञान के साथ-साथ आलोचक मे भाव-प्रेषण की क्षमता भी होनी चाहिए ।

(११) भविष्य निर्माण करने की क्षमता या युग-विधान करने की शक्ति—

साहित्यकार युग का सृष्टा ही नही होता, नवयुग का प्रवर्तक भी होता है। नवयुग प्रवर्तन का यह कार्य केवल कवि का ही नही होता। इसका उत्तरदायित्व आलोचक और पाठक पर भी रहता है। वेट्स ने अपनी Modern Short Stories नामक पुस्तक मे २२२ पृष्ठ पर यह बात इस प्रकार लिखी है—

"For the future lies as Miss Elizabeth had said not with the artist only the reader and the critic have a share in it"

(१२) **औचित्य-ज्ञान**—आलोचक को किसी रचना के गुण-दोषो के विवेचन मे औचिय की उपेक्षा नही करनी चाहिए। हमारे यहाँ तो औचित्य को बहुत महत्त्व दिया गया है। आ० क्षेमेन्द्र ने काव्य के औचित्य को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। वास्तव मे उसका महत्त्व आलोचना मे भी कम नही है। आनन्दवर्धन के द्वारा वर्णित मवटन-औचित्य, प्रबन्ध-औचित्य आदि आलोचक के लिए भी अपेक्षित होते है। इस औचित्य का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए Aristotle ने लिखा है—

"If then one expresses himself in the language appropriate to *the habit he will produce the effect of being characteristic for a rustic* and a man of education will express themselves neither in the same words nor in the same manner"

इस प्रकार का औचित्य-ज्ञान उसी समालोचक मे हो सकता है जो सत्यप्रिय और ईमानदार है, जिसमे धीरता और स्थिरता आदि स्वाभाविक गुण है, तथा जो स्वभाव से गम्भीर है। इससे यह स्पष्ट होता है कि आलोचक मे निम्नलिखित स्वभावजन्य विशेषताएँ भी अवश्य होनी चाहिएँ।

(१) सच्चाई, (२) स्थिरता, (३) धीरता, (४) गम्भीरता।

यह समस्त विशेपताएँ आलोचक के व्यक्तित्व से सम्बन्धित है। इसीलिए हमने आलोचक मे उपयुक्त गुणो से विशिष्ट गुणो का होना भी आवश्यक माना है।

इस प्रकार एक आलोचक मे कुछ तो स्वभावगत शक्तियाँ और विशेषताएँ होनी चहिएँ और कुछ अभ्यासमूलक और प्रयत्नज विशेपताएँ होनी चाहिएँ। हडसन ने आलोचक के गुणो को अत्यन्त सक्षेप मे वतलाते हुए इस प्रकार लिखा है—

"The true critic must be mentally alert and flexible, keen in insight, quick in response to all impressions" (*Page 282*)

सत्समालोचक द्वारा आचरणीय नियम—उपर्युक्त गुणो से विशिष्ट होते हुए भी, सत्समालोचक के लिए कुछ विशिष्ट नियमो का पालन अपेक्षित होता है। पोप ने अपने 'एसेज़ इन क्रिटिसिज्म' मे उनका विस्तृत निर्देश किया है। सक्षेप मे वे इस प्रकार हैं—

(१) सत्समालोचक को प्रकृति और जीवन के नियमो का विधिवत पालन करना चाहिए।

(२) समालोचक को अभिमानी किसी भी परिस्थिति मे नही होना चाहिए।

(३) सत्समालोचक का यह पावन कर्त्तव्य होता है कि वह आलोच्य कलाकार के उद्देश्यो और प्रयोजनो को दृष्टि मे रखकर आलोचना करे।

(४) सद्बुद्धि आलोचक को कलाकार की सम्पूर्ण कृति का साग अध्ययन करके ही अपना मत निश्चित करना चाहिए। रचना के किसी एक अग को देखकर ही मत निश्चित कर देना वडा दोषपूर्ण है।

(५) आलोचक के लिए कलाकार को उन परिस्थितियो पर भी दृष्टि रखनी चाहिए जिनके बीच मे आलोच्य कलाकार ने अपनी रचना की सर्जना की है।

(६) आलोचक मे भावक बुद्धि का होना भी आवश्यक है।

(७) कला की आलोचना केवल भाषा को दृष्टि मे रखकर ही नही की जानी चाहिए। वास्तव मे उसके सभी अग आलोच्य होते है।

(८) भिन्न-भिन्न विषयो के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की विषयानुरूप शैली का अनुसरण करना चाहिए।

(९) सत्समालोचक को तुकान्त रचना ही श्रेष्ठ काव्य नही समझनी चाहिए। उसे काव्य के प्राण को पकडने का प्रयास करना चाहिए।

(१०) सत्समालोचक द्वारा शब्द भाव के प्रतीक समझे जाने चाहिएँ।

(११) आलोचना करते समय कवि द्वारा प्रयुक्त अतिशयोक्ति का अनुसधान करना भी आलोचक का कर्त्तव्य होता है।

(१२) आलोचको को चाहिए कि वे कभी किसी रचना को केवल इसलिए श्रेष्ठ न कहे कि वह प्राचीन है। अथवा किसी रचना की इसलिए निन्दा न की जाय कि वह आधुनिक है। इस प्रकार के दृष्टिकोण से बचने की चेष्टा करनी चाहिए।

(१३) वे रचनाएँ, जो नियमानुसार रची गई हैं, उन्ही को अधिक मान्यता दी जानी चाहिए।

(१४) प्रत्येक सिद्धान्त और नियम का चिन्तन और मनन स्वतन्त्र रूप से करना चाहिए। प्राचीन उदाहरणो को देखकर सिद्धान्त के विशेष स्वरूप का निर्णय नहीं कर लेना चाहिए। हो सकता है कि वह उदाहरण दोषपूर्ण हो।

(१५) आलोचक को कवि या कलाकार के व्यक्तित्व को दृष्टि मे रखकर उसकी कृति की आलोचना नही करनी चाहिए।

(१६) आलोचक को झूठी नवीनता से प्रभावित होकर ही किसी रचना को उत्तम नहीं कहना चाहिए।

(१७) आलोचना सर्वथा सतुलित और सम होनी चाहिए।

(१८) काव्यालोचन क्षेत्र मे दलबन्दी वडी घातक होती है। अत समालोचक को सदैव उससे अलग रहना चाहिए।

समालोचना के दोष

आलोचना आलोचक की लापरवाही से कभी-कभी बहुत दूषित हो जाती है। आलोचना को दूषित करने के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

(१) पारिभाषिक शब्दो का निर्णय। (२) शब्द शक्ति ज्ञान। (३) साहित्य की आत्मा। (४) विषय और मानदण्ड। (५) लक्ष्य की अनन्यता और आसक्ति। (६) अस्पष्टता। (७) अर्थ-ज्ञान की असमर्थता। (८) आलोचक की अति-भावुकता। (९) रूढि या पक्षपात की भावना। (१०) अन्य।

(१) **पारिभाषिक शब्दों का निर्णय**—प्रत्येक आलोचक आलोचना करते समय किन्ही विशेष शब्दो का प्रयोग करता है। यदि वह इन शब्दो को अपनी आलोचना से पहले ही स्पष्ट नही कर देता तो पाठको के भ्रान्ति मे पड़ जाने की सम्भावना रहती है। अतएव सच्चे समालोचक का कर्त्तव्य होता है कि वह अपने समस्त पारिभाषिक और साकेतिक शब्दो का स्पष्टीकरण पहले ही कर दे।

(२) **शब्द शक्ति ज्ञान**—अभिव्यजना मे शब्द शक्तियाँ वडी सहायक होती है। आलोचना वास्तव मे किसी कवि की अनुभूतियो और विचारो का स्पष्ट विश्लेषणात्मक विवेचन है। यह विवेचन तभी सफल हो सकता है जब आलोचक शब्दो के वास्तविक स्वरूप और प्राण से परिचित हो।

(३) **साहित्य की आत्मा**—सच्चे आलोचक को केवल आलोच्य वस्तु के वाह्य रूपो तक ही अपने को सीमित नही रखना चाहिए। उसे आलोच्य वस्तु के प्राण को ज्यों का त्यो स्पष्ट करना चाहिए।

(४) **विषय और मानदण्ड**—आलोचना करते समय आलोचक को अपनी आलोच्य वस्तु तथा उसके मानदण्ड का सही व यथार्थ ज्ञान होना चाहिए। यदि कोई फारसी के कवि को भारतीय काव्यशास्त्र की कसौटी पर कसे तो वह आलोचना असफल और अपूर्ण ही कही जायगी।

(५) **लक्ष्य की अनन्यता और आसक्ति**—वहुत से आलोचक आलोचना करते समय आलोच्य वस्तु को भूलकर वैयक्तिक दृष्टिकोणो के स्पष्टीकरण मे लग जाया करते हैं या व्यर्थ ही विषय से असम्बद्ध बातो से पृष्ठ रगने लगते है।

(६) **अस्पष्टता**—जैसा स्काट ने लिखा है कि आलोचक को कवि के द्वारा अभिव्यक्त भावनाओ और विचारो को इतना अधिक स्पष्ट रूप से समझना चाहिए कि वह उन्हें ज्यो का त्यो पुन. अभिव्यक्त कर सके। उसने स्पष्ट शब्दो मे लिखा है—

"The critic is the listener who understands which is said to him nothing from the deeper weight of meaning to the subtlest indications of a tone of voice"

(७) **अर्थ-ज्ञान की असमर्थता**—प्रत्येक कलाकार वहुत से ऐसे शब्दों और प्रयोगो का आश्रय लेता है, जिसमे अर्थ का पता सामान्य आलोचको को नही हुआ करता। ऐसे आलोचक उनको बिना समझे हुए ही उनकी आलोचना करने लगते है, जिसके फलस्वरूप आलोचना दूषित हो जाती है।

(८) **आलोचक की अति भावुकता**—कभी आलोचक भावक ही नही भावुक

भी होता है। कुछ आलोचकों में भावुकता की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होती है। ऐसे आलोचकों की अतिभावुकता उन्हें सही आलोचना नहीं करने देती। वे भावों के तूफान में स्वयं इतना बह जाते हैं कि प्रस्तुत विषय को भूलकर इधर-उधर भटकने लगते हैं, या फिर कोरी प्रभावाभिव्यंजक कोटि की आलोचना को जन्म देते हैं, जो बहुत कुछ एकांगी होती है।

(९) रूढ़ि या पक्षपात की भावना—आलोचक को अपनी काव्यालोचन की कसौटी देश, काल और परिस्थितियों के अनुरूप बनानी चाहिए। अगर आज की नई कविता की आलोचना प्राचीन कसौटी पर कसकर की जायगी तो आलोचना पक्षपातपूर्ण तो होगी ही, साथ ही दूषित भी हो जायगी। अतः सफल आलोचक को इस दोष से बचना चाहिए।

आलोचक की विफलता के उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त और भी बहुत से कारण हो सकते हैं, जैसे आलोचक का गर्वमय होना, कलाकार के उद्देश्य से अपरिचित होना, आलोच्य रचना के एक-एक अंग की आलोचना के आधार पर निर्णय देना, आलोचना करते समय किसी एक पक्ष पर दृष्टि रखना, अतिशयोक्ति का अनुसंधान न करना, व्यक्तित्व को दृष्टि में रखकर आलोचना करना, नवीनता और प्राचीनता को दृष्टि में रखकर आलोचना करना, दलबन्दी में पड़ना, द्वेष और अहंभाव से प्रेरित होना आदि-आदि।

आलोचना-पद्धतियाँ

आलोचना की जो पद्धतियाँ हिन्दी में आजकल प्रचलित है वे अधिकतर पाश्चात्य ही है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि भारत में आलोचना के कोई प्रकार ही न थे। संस्कृत आलोचना क्षेत्र में कई प्रकार की समालोचना पद्धतियाँ प्रचलित थी।

प्राचीन भारत के आलोचना-प्रकार—प्राचीन भारत में भी कई प्रकार की आलोचना-पद्धतियाँ प्रचलित थी। संक्षेप में वे इस प्रकार है—

(१) टीका पद्धति,
(२) भाष्य पद्धति,
(३) शास्त्रार्थ पद्धति,
(४) आचार्य पद्धति,
(५) निर्णय पद्धति,
(६) खण्डन-मण्डन पद्धति, तथा
(७) समीक्षा पद्धति।

(१) टीका पद्धति—प्राचीन काल में अधिकांश ग्रन्थ पद्य में लिखे जाते थे। किन्तु उन पर टीकाएँ प्रायः गद्य शैली में ही लिखी जाती थी। टीका पद्धति की कुछ विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(क) प्रत्येक शब्द के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग।
(ख) व्याकरणिक विशेषताओं का स्पष्टीकरण।
(ग) अन्तर्कथाओं आदि का स्पष्टीकरण।

यह टीका पद्धति आजकल की व्याख्यात्मक आलोचना का ही एक अविकसित रूप था।

(२) **भाष्य पद्धति**—प्राचीन काल मे टीका के सदृश भाष्य लिखने का भी प्रचलन था। सैकडो भाष्य-ग्रन्थ लिखे गए थे। इन भाष्यो मे विषय का विस्तार से स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया जाता था। भाष्य अधिकतर दार्शनिक रचनाओ के लिखे जाते थे। शाकर भाष्य ऐसी ही एक रचना है जो 'प्रस्थान त्रयी' पर लिखी गई है। इस पद्धति को आजकल की व्याख्यात्मक आलोचना का ही एक प्राचीन प्रकार माना जा सकता है।

(३) **शास्त्रार्थ पद्धति**—प्राचीन भारत मे आलोचना का एक प्रकार शास्त्रार्थ के रूप मे भी प्रचलित था। इस पद्धति मे लेखक पूर्व पक्ष की शका को उठाकर उसका शास्त्रीय शैली मे समाधान करने का प्रयास करता था। इस प्रकार की रचनाएँ तर्कशास्त्र के क्षेत्र मे अधिक मिलती है। यह आलोचना सैद्धान्तिक आलोचना का एक प्रकार है।

(४) **आचार्य पद्धति**—आलोचना का एक रूप इस शैली मे भी देखने को मिलता है। इस शैली मे लेखक अपनी मौलिक और पाण्डित्यपूर्ण शैली मे किन्ही नवीन सिद्धान्तो का प्रतिपादन करता है। आचार्य मम्मट और आनन्दवर्धन आदि के ग्रन्थ इसी प्रकार की शैली में लिखे गए हैं। इसे भी मैं शास्त्रीय समीक्षा का एक प्रकार मानने के पक्ष मे हूँ।

(५) **निर्णय पद्धति**—प्राचीन भारत के आलोचक निर्णयात्मक मूल्याकन मे बडे निपुण थे। वे सूत्र रूप मे या फिर किसी सूक्ति के रूप मे किसी भी साहित्यकार की सम्पूर्ण आलोचना प्रस्तुत कर देते थे। इसके उदाहरण के रूप में 'उपमा कालिदासस्य', 'सूर सूर तुलसी शशी' आदि उक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं। इस प्रकार की पद्धतियाँ आधुनिक निर्णयात्मक आलोचना के अन्तर्गत आएँगी।

(६) **खण्डन-मण्डन पद्धति**—प्राचीन काल मे एक खण्डन-मण्डनप्रधान आलोचना-पद्धति भी प्रचलित थी। इस पद्धति मे आलोचक पहले अपने पूर्व पक्षी के मतो का खण्डन करता है, बाद मे अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है। प्राचीन भारत मे इस प्रकार की शैली का बहुत प्रचलन था।

(७) **समीक्षा पद्धति**—आगे चलकर भारत मे समीक्षा पद्धति का विकास भी हुआ। समीक्षा का अर्थ है अन्तर्भाष्य और अवान्तरार्थ विच्छेद। 'अन्तर्भाष्य अवान्तरार्थ विच्छेदश्च समीक्षा' इससे यह प्रगट होता है कि प्राचीन भारत मे कवि के अन्तर्जगत् की खोज करने की भी चेष्टा की गई थी और आलोचना के वास्तविक रूप के विकास का प्रयास भी हुआ था।

पाश्चात्य आलोचना प्रणालियाँ—पाश्चात्य विद्वानो ने आलोचना पद्धतियो का विभाजन अनेक दृष्टियो से किया है। यही कारण है कि पाश्चात्य साहित्य मे अनेक प्रकार की आलोचना पद्धतियो के नाम मिलते हैं। सामान्यतया प्रचलित विभाजन क्रम इस प्रकार है—

आलोचना के प्रकार—आलोचना के स्थूल रूप से दो प्रकार बतलाए जाते है।

(१) सैद्धान्तिक आलोचना।
(२) व्यावहारिक आलोचना।

व्यावहारिक आलोचना के दो विभेद—(क) शास्त्रीय समीक्षा अथवा विशिष्ट न्तों के आधार पर की जाने वाली समीक्षा।

(ख) स्वतन्त्र वैज्ञानिक प्रणाली पर चलने वाली समीक्षा।

शास्त्रीय समीक्षा के चार प्रकार—
(१) निर्णयात्मक समीक्षा,
(२) तुलनात्मक समीक्षा,
(३) आदर्शात्मक समीक्षा, और
(४) चारित्रिक समीक्षा।

वैज्ञानिक समीक्षा के चार प्रकार—
(१) विवेचनात्मक समीक्षा,
(२) आध्यात्मिक समीक्षा,
(३) प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा,
(४) वैज्ञानिक समीक्षा, और
(५) ऐतिहासिक समीक्षा।

विवेचनात्मक समीक्षा के भी दो प्रकार होते है—
(१) अध्ययन अथवा व्याख्या के रूप मे।
(२) विश्लेषण या गवेषणा आदि के रूप मे।

डॉ० श्यामसुन्दरदास ने केवल समालोचना के चार स्वरूप ही प्रमुख है—
(१) सैद्धान्तिक,
(२) व्याख्यात्मक,
(३) निर्णयात्मक, तथा
(४) स्वतन्त्र अथवा आत्मप्रधान (प्रभाववादी)।

हडसन ने आलोचक के कार्यों का संकेत करते हुए दो प्रकार की आलोचना ोर संकेत किया है। वह लिखता है—

'आलोचना के दो व्यापार होते हैं एक व्याख्या का और दूसरा निर्णय का'। स्पष्ट है कि वह दो प्रकार की आलोचनाएँ ही स्वीकार करता है—
(१) व्याख्यात्मक, और
(२) निर्णयात्मक।

आचार्य रामचन्द्रजी शुक्ल ने भी समालोचना के यह ही दो प्रधान रूप माने है। उन्होने ऐतिहासिक समीक्षा और मनोवैज्ञानिक समीक्षा को व्याख्यात्मक समीक्षा के अन्तर्गत लिया है।

अंग्रेजी साहित्य मे इन दोनो आलोचनाओ के अतिरिक्त प्रभावात्मक या भावप्रधान या आत्मप्रधान आलोचना को भी विशेष महत्त्व दिया गया है। अंग्रेजी साहित्य मे पीटर नामक आलोचक इस प्रकार की समालोचना के प्रधान प्रवर्त्तक हैं।

इन तीनो के अतिरिक्त एक चौथी प्रकार की आलोचना भी बहुत महत्त्वपूर्ण है, वह है सैद्धान्तिक आलोचना। सैद्धान्तिक आलोचना के महत्त्व को हडसन ने भी अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया है वह लिखता है—

"He (critic) seeks the laws and principles in a given body of literature"

अर्थात् वह साहित्य के अग विशेष मे सिद्धान्तो की खोज करता है। आलोचक के द्वारा खोजे गए यही सिद्धान्त सैद्धान्तिक आलोचना का रूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार आलोचना के चार प्रकार स्पष्ट और प्रसिद्ध मालूम होते हैं। डॉ० श्यामसुन्दरदास ने इसीलिए उन्ही चार का विस्तार से वर्णन किया है। हम भी यहाँ पर उन्ही चारों के स्वरूप का निरूपण करेगे।

(१) **व्याख्यात्मक समालोचना**—व्याख्या आज की समालोचना का प्रधान गुण है। इसीलिए हडसन ने लिखा है—

"The modern critic is for the most part more anxious to understand and interpret them to distribute blame or praise"

अर्थात् आज का आलोचक आलोच्य वस्तुओ को समझने के लिए उसकी व्याख्या करने के लिए जितना उत्सुक रहता है, उतना उसके गुण-दोपो के कथन के लिए नही। यह व्याख्यात्मक समालोचना सैद्धान्तिक और निर्णयात्मक आदि सभी समालोचनाओ का मूल भी है। डॉ० श्यामसुन्दरदास ने साहित्यालोचन मे लिखा है—"इसी व्याख्या के बल पर हम किसी कृति के महत्त्व का निर्णय कर सकते हैं। भावमयी समालोचना करने के लिए भी प्रस्तुत रचना का स्वरूप ज्ञान वाछनीय है जो कि व्याख्या ही से प्राप्त होता है" इत्यादि।

मैथ्यू आर्नल्ड ने इस व्याख्यात्मक आलोचना का स्पष्टीकरण थोडा भिन्न रूप से किया है। उनका मत था कि किसी भी रचना की आलोचना करते समय आलोचक को साधारण बुद्धि वाले मनुष्य को दृष्टिकोण मे रखना चाहिए। यदि साधारण मनुष्य आलोचना के भाव को समझ जाता है तो समझना चाहिए कि आलोचक अपने कर्त्तव्य के निर्वाह मे सफल हुआ है।

व्याख्यात्मक आलोचना के सम्बन्ध में मौल्टन ने भी विस्तार से विचार प्रगट किए हैं। उन्होने निर्णयात्मक समालोचना के समान इसके भी तीन भेद माने है—

(१) व्याख्यात्मक आलोचना आलोच्य वस्तुओ मे किसी प्रकार का उत्तम मध्यम भेद नही स्वीकार करती। यह बात दूसरी है कि वह वर्ग-भेद स्वीकार करले। हडसन ने इस बात को इस प्रकार स्पष्ट किया है कि—

"As a Scientist the inductive critic knows nothing about differences in degrees He knows only difference in kind"

(२) व्याख्यात्मक आलोचना निर्णयात्मक आलोचना के समान निश्चित नियमो के पालन मे विश्वास करती है। और निश्चित कसौटी पर कसी जाती है।

(३) व्याख्यात्मक आलोचना नियमो को परिवर्तनशील मानती है निर्णयात्मक आलोचना से इसका यहाँ मतभेद है। निर्णयात्मक आलोचना नियमों को स्थिर मानती है। हिन्दी मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि इसी आलोचना प्रकार मे विश्वास करते है।

निर्णयात्मक समालोचना—हडसन ने अपने शब्दो मे आलोचना के तीन प्रकार प्रधान माने हैं। उनमे भी उसने निर्णयात्मक आलोचना को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व

दिया है। निर्णयात्मक आलोचक कुछ निश्चित नैतिक और साहित्यिक सिद्धान्तो को दृष्टि मे रखकर अपना निर्णय दिया करता है। व्याख्यात्मक समीक्षाकार की तरह वह सैद्धान्तिक आलोचना के नियमो की उपेक्षा नही कर सकता। बल्कि वह सैद्धान्तिक आलोचना का पालन भी करता है और सृजन भी। निर्णयात्मक आलोचना आलोच्य वस्तु का मूल्याकन किए बिना नही रह सकता। व्याख्यात्मक और निर्णयात्मक समालोचना के अन्तर को हडसन ने छोटे से वाक्य मे स्पष्ट किया है। वह इस प्रकार है—

"To express what is not what conceivably ought to be"

अर्थात् व्याख्यात्मक आलोचक के समान निर्णयात्मक आलोचना करने वाला वस्तुओ के वास्तविक स्वरूप का विश्लेषण और प्रदर्शन नही करता, बल्कि उसके आदर्श स्वरूप की ओर सकेत करता है। योरप मे M Scherer नामक विद्वान् इस कोटि की समालोचना का प्रसिद्ध समर्थक माना जाता है। वास्तव में निर्णयात्मक समालोचना एक प्रकार से यत्रवत हो जाती है। आलोचक एक निश्चित आलोचना कसौटी पर आलोच्य वस्तु को कसा करता है। इसीलिए केलेट ने इसकी निन्दा की है और लिखा है—

"Nothing is less satisfactory than an arid, mechanism and merely measuring criticism"

अर्थात् केवल नाप-जोख करने वाली यत्रवत् शुष्क निर्णयात्मक आलोचना सन्तोप-प्रद नही होती। रिचर्डस ने "Principles of Literary Criticism" नामक ग्रन्थ मे "The critics concern with value" शीर्षक निबन्ध मे इस विषय पर अच्छा विचार किया है। इसके अतिरिक्त प्राचीन अलकारशास्त्रियो मे भी निर्णयात्मक आलोचना को ही विशेष महत्त्व दिया है। लोगिनस की इस उक्ति से बहुत लोग परिचित ही होगे—

"The judgment of literature is the final outcome of much endeavours"

हिन्दी मे और विशेपकर सस्कृत साहित्य मे निर्णयात्मक आलोचना को ही विशेष महत्त्व दिया जाता था। सस्कृत की प्रसिद्ध आलोचनात्मक उक्तियाँ इसका प्रमाण हैं, जैसे—

"उपमा कालिदासस्य भारवे अर्थगौरवं
नैषधे पद लालित्य माघे सन्ति त्रयोगुणा ॥"

हिन्दी मे भी प्रारम्भ मे निर्णयात्मक आलोचना का ही प्रचार बढा था। महावीरप्रसाद द्विवेदी और मिश्रबन्धुओ आदि के द्वारा लिखी गई प्रारम्भिक आलोचनाएँ निर्णयात्मक ही थी। बिहारी और देव को लेकर हिन्दी मे जो भगडा खडा हुआ था, उसका मूल कारण निर्णयात्मक आलोचना ही थी। आजकल इस प्रकार की आलोचना को उतना अधिक महत्त्व नही दिया जाता है जितना कि व्याख्यात्मक आलोचना को। पीटर ने लिखा है कि किसी भी साहित्यिक कृति का

निर्णय देते समय उस युग और व्यक्तियो को भी ध्यान मे रखना चाहिए, जिनमें उसकी सृष्टि हुई थी—

"Every intellectual product must be judged from the poin of view of its age and the people in which it was produced"

(*Renaissance, Page 22*

इस प्रकार स्पष्ट है कि निर्णयात्मक आलोचना के लिए आलोच्य कृति मे ऐतिहासिक पक्ष का विश्लेषण भी आवश्यक होता है। व्याख्यात्मक आलोचना मे हम मोल्टन के द्वारा निर्देशित उसकी तीन विशेषताओ का संकेत कर चुके हैं। वे विशेषताएँ थोडे-बहुत अन्तर के साथ निर्णयात्मक आलोचना मे भी पाई जाती हैं

प्रभाववादी समीक्षा—इस प्रभाववादी समीक्षा को अंग्रेजी मे "Impressionist Criticism" तथा हिन्दी मे आत्म-प्रधान भी कहते है। प्रभाववादी समीक्षाएं तो सभी देशो मे और सभी कालो मे ढूँढी जा सकती हैं क्योकि मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह वस्तु विशेष के सम्पर्क मे आने पर उसके सम्बन्ध में कुछ विशेष प्रकार के प्रभावो की अनुभूति करता है। आलोचना इन्ही प्रभावो को मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिक शैली से स्पष्ट कर देती है। इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए स्पिनगार ने अपने "The New Criticism" नामक पुस्तक में इस प्रकार लिखा है—

"To have sensation in the presence of the work of art is to express them That is the function of a criticism for an imperessionist critic"

अर्थात् किसी कृति को देखकर जिन भावो और प्रभावो की अनुभूति होती है उन्हे उसी तरह से प्रगट कर देना प्रभाववादी समीक्षक का कार्य होता है।

इस प्रभाववादी समीक्षा में आलोचक की रुचि भी क्रियमाण रहती है यदि आलोचक की रुचि परिष्कृत और साहित्यिक है तो उसके प्रभाव, जिनकी अभिव्यक्ति वह अपनी समीक्षा में करता है, उतने अस्वाभाविक और अनादरणीय नही होगे जितने कि उस समीक्षक के जिसकी रुचि अपरिमार्जित और दूषित होती है। हमारे काव्यशास्त्र में इसीलिए पाठक को भी सहृदय की संज्ञा दी गई है इस कोटि के आलोचक की रुचि जितनी ही विश्व रुचि के अनुकूल होती है, आलोचना उतनी ही सही होगी। यदि आलोचक की रुचि वैयक्तिक विकारो से विकृत है तो आलोचना दूषित होगी। "Essays in Criticism" में आर्नल्ड ने इसीलिए इस कोटि के आलोचक को निम्नलिखित शब्दो में सावधान किया है—

"A poet or a poem may count to us on grounds personal to ourselves Our personal affinities, liking and circumstances have great power to sway our estimate of this or that poet's work and to make us attach, *more importance to it as poetry than itself it* really possesses because it is or has been of high importance"

अंग्रेजी साहित्य में इस प्रभाववादी समीक्षा का सबसे बड़ा समर्थक पीटर माना जाता है। उसने अपने ग्रन्थ "रेनेसा" मे प्रभाववादी समीक्षा में किन-किन प्रश्नो का उत्तर निहित रहता है, इस बात पर विचार करते हुए लिखा है—

"What is the song or picture disengaing personally presented in life or in book to me What effects does it produce on me Does it give me pleasure, If so, what sort of degree of pleasure etc"

(*Renaissance*)

अर्थात् प्रभाववादी समीक्षा करते समय निम्नलिखित प्रश्नो का उत्तर देना चाहिए।

(१) किसी व्यक्ति विशेष ने कृति या जीवन मे कौनसे संगीत या चित्र प्रस्तुत किए हैं।

(२) उनका हमारे ऊपर क्या प्रभाव पड़ा है ?

उन प्रभावो की अनुभूति आनन्दात्मक है या नहीं।

(३) यदि वह आनन्दात्मक है तो वह आनन्द किस कोटि या प्रमाण का है।

सैद्धान्तिक आलोचना—सैद्धान्तिक आलोचना का जन्म भारत और पाश्चात्य देशो मे बहुत पहले हुआ था। बहुत सी एक सी कृतियो का अध्ययन कर जब आलोचक आलोचना के मापदण्ड के रूप मे किन्ही सामान्य नियमो की निर्धारणा करता है, तो उस समीक्षा को सैद्धान्तिक समीक्षा कहते हैं। हडसन ने यद्यपि सैद्धान्तिक समालोचना का स्वतन्त्र रूप मे वर्णन नही किया है, फिर भी उसने सैद्धान्तिक समालोचना के स्वतन्त्र स्वरूप का निम्नलिखित शब्दो मे सुन्दर ढग से निर्देश कर दिया है।

"The critics business thus, not to test Shakespeares practice by its confirmity or want of confirmity to certain abstract ideas of the drama or to rules independently drawn up, but simply to discover by direct examination of his plays upon which they were written, and then to reduce the result of suchan examination a generalised statement"

अर्थात आलोचक का कार्य केवल यही नहीं है कि वह किसी के औचित्य और अनौचित्य का ही निर्देश करें उसका कर्त्तव्य है कि वह उन सिद्धान्तों और नियमों को खोज निकाले, जिनके आधार पर उस काव्य-कृति का निर्माण किया गया और उन नियमो को सिद्धान्ता क रूप में निश्चित कर दे। सक्षेप मे सैद्धान्तिक समालोचना का यही रूप है। अंग्रेजी मे अरस्तू, कॉलरिज, एडिसन, वर्ड्सवर्थ, पेटर, क्रोचे, जेम्स स्काट, रिचर्ड्स आदि विद्वान् सैद्धान्तिक आलोचक माने जाते हैं। संस्कृत मे काव्यशास्त्र और लक्षण-ग्रन्थो के आचार्य लोग सैद्धान्तिक आलोचना को ही लेकर चले थे। 'हिन्दी मे साहित्यालोचन', 'सिद्धान्त और अध्ययन' आदि

सैद्धान्तिक आलोचानाएँ ही मानी जाती हैं। उर्दू मे मौलाना हाली की 'मुकद्दमा' नामक पुस्तक सैद्धान्तिक समालोचना से ही सम्बन्धित है।

कुछ अन्य प्रकार की समालोचनाएँ

इन चार प्रकार की समालोचनाओ के अतिरिक्त अंग्रेजी साहित्य मे विविध प्रकार की और भी समालोचनाएँ है जिनमे से आदर्शात्मक, तुलनात्मक, मनोवैज्ञानिक, चारित्रिक, ऐतिहासिक, अध्ययनात्मक, आध्यात्मिक, अभिव्यंजनावादी पद्धति, नीतिवादी पद्धति, वैज्ञानिक आदि प्रसिद्ध है। इनमे से वैज्ञानिक और तुलनात्मक ऐतिहासिक विचारणीय है।

वैज्ञानिक आलोचना—जब आलोचक, विज्ञान-क्षेत्र मे प्रचलित वर्गीकरण, प्रक्रिया, कार्य-कारण सम्बन्ध समीक्षा, तत्त्व मीमासा आदि सिद्धान्तो को साहित्य समीक्षा की कसौटी बनाकर आलोचना प्रवर्तित करते है, तब उस आलोचना को वैज्ञानिक आलोचना कहते हैं। आज के वैज्ञानिक युग मे वैज्ञानिक समीक्षा का अच्छा प्रकार हो चला है। ९० प्रतिशत हिन्दी के अनुसधानात्मक निबन्ध इसी प्रणाली मे लिखे जा रहे हैं। इसमे कोई सन्देह नही कि यह आलोचना-प्रणाली कई दृष्टियो से बहुत सफल कही जा सकती है, किन्तु बुद्धितत्त्व की अतिरेकता के कारण शैली की गति यन्त्रवत प्रतीत होने लगती है। जहाँ ज्ञान-पिपासुओ की इस प्रकार की आलोचनाओ से थोडी तृष्णा बुझने की आशा होती है, वही भावुक के लिए वह निष्प्राण और यन्त्रवत प्रतीत होने लगती है। अतएव शुष्क वैज्ञानिक आलोचना-प्रणाली से आलोचना जगत मे निष्क्रियता आने की सम्भावना है।

तुलनात्मक ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली—इस कोटि की आलोचना का प्रमुख लक्ष्य उन ऐतिहासिक परिस्थितिजन्य प्रभावो को खोज निकाला है जिनके बीच में आलोच्य रचना का जन्म हुआ है। इस कोटि का आलोचक परिस्थितिजन्य प्रभावो के प्रकाश में ही आलोच्य वस्तु की आलोचना करता है। इस कोटि के आलोचको ने लोक-गाथा, भाषाविज्ञान, तथा शब्द-व्युत्पत्ति शास्त्र से इसका सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की है। इसका प्रमुख उद्देश्य साहित्यिक प्रभावो का अनुसधान है और इस सिद्धान्त के अन्तर्गत आलोचक साहित्य तथा उसकी अनेक शैलियो पर किसी एक लेखक के व्यापक प्रभाव को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं'—

(आलोचना, इतिहास और सिद्धान्त, पृष्ठ ४४६)

यह आलोचना प्रणाली भी अपने मूल रूप मे अपूर्ण एकपक्षीय प्रतीत होती है।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार की आलोचना प्रणालियाँ प्रचलित हैं, जैसे ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, प्रगतिवादी आदि-आदि। किन्तु इनमे से प्रत्येक किसी न किसी दृष्टि से अपूर्ण है। मेरी समझ मे सफल आलोचना वह होगी जो सर्वांगीण हो। सफल आलोचना के प्रमुख अग निम्न प्रकार होगे।

हिन्दी साहित्य मे समालोचना का उद्भव और विकास

हिन्दी समालोचना का वर्तमान रूप बहुत अर्वाचीन है। इसका उदय भारतेन्दु युग मे हुआ था। तब से वह अनवरत रूप मे विकसित हो रहा है। अब तो यह प्रौढता को प्राप्त हो चला है। समीक्षा के वर्तमान स्वरूप के अतिरिक्त भारतेन्दु युग से पूर्व रीति काल मे भी आलोचना के प्राचीन रूप मिलते है।

सक्षेप मे हिन्दी के सम्पूर्ण समालोचना-साहित्य को स्थूल रूप से निम्नलिखित भागो मे बाँट सकते है—

(१) रीतिकालीन समालोचना प्रणालियाँ।

(२) वर्तमान समीक्षा प्रणालियाँ—

(क) भारतेन्दुकालीन परिचयात्मक समालोचना प्रणाली।

(ख) द्विवेदीजी की गुण-दोष कथन प्रणाली वाली निर्णयात्मक आलोचना।

(ग) शुक्लजी की वैज्ञानिक समीक्षा प्रणाली।

(घ) शुक्लोत्तरकालीन समीक्षा प्रणालियाँ।

रीतिकाल की समीक्षा प्रणालियाँ—रीतिकालीन कवियो मे हमे उन सब आलोचना-प्रणालियो का प्रारम्भिक स्वरूप मिलता है जिनका विकास आधुनिक युग मे हुआ है। इतना अवश्य है कि उनका प्रारम्भिक रूप सस्कृत की प्रणालियो से अधिक प्रभावित है। सक्षेप मे रीतिकालीन ग्रन्थो की प्रमुख धाराओ का, समीक्षा प्रणालियो को दृष्टि मे रख कर निर्देश इस प्रकार कर सकते हैं—

(१) व्याख्यात्मक आलोचना के ढग की रचनाएँ।

(२) सैद्धान्तिक आलोचना के ढग की रचनाएँ।

(३) निर्णयात्मक आलोचना के ढग की रचनाएँ या आलोचना सम्बन्धी सूक्तियाँ।

(४) परिचयात्मक आलोचना की शैली पर लिखे गए कवि-परिचय।

(१) व्याख्यात्मक आलोचना के ढग पर लिखी गई रचनाएँ—प्राचीन काल मे सस्कृत के अनुकरण पर हिन्दी में भी टीका लिखने की परिपाटी थी। यह टीकाएँ कभी-कभी तो समीक्षा के रूप मे ही लिखी जाती थी। समीक्षा का अर्थ स्पष्ट करते हुए 'काव्य मीमासा' मे लिखा है 'अन्तर्भाष्य समीक्षा अवान्तरार्थ विच्छेदश्च'। हिन्दी मे 'भक्तमाल' की प्रियादास कृत टीका वास्तव मे समीक्षा के रूप मे ही लिखी हुई जान पडती है। इसमे टीकाकारने अपनी तरफ से अनेकानेक कथाएँ जोडी हैं और तथ्यो को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। एक दूसरे प्रकार की टीकाएँ भी हिन्दी मे लिखी गई थी। यह टीकाएँ सस्कृत की मल्लीनाथी टीकाओ के अनुकरण पर लिखी गई थी। इनमे टीकाकार पदार्थ विश्लेषण, अलकार निर्देश, अन्तर्कथाएँ आदि भी कभी-कभी लिख दिया करते थे। तुलसी के ग्रन्थो पर लिखी गई टीकाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं और कुछ टीकाएँ तो सुन्दर आलोचना के रूप मे ग्रहीत की जा सकती है।

(२) **सैद्धान्तिक आलोचना के ढग पर लिखी गई रचनाएँ**—सैद्धान्तिक आलोचना के ढग पर रीतिकाल मे बहुत से काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो का निर्माण हुआ। इन काव्य-शास्त्र के ग्रन्थो को डॉ० भगीरथ के अनुकरण पर हम स्थूल रूप से चार भागो मे बाँट सकते हैं—

(क) अलकार ग्रन्थ । (ग) शृगार (नायिका-भेद) के ग्रन्थ ।
(ख) रस ग्रन्थ । (घ) काव्यशास्त्र के ग्रन्थ ।

इन चारो प्रकार के ग्रन्थो के नाम डा० भगीरथ मिश्र ने अपने काव्यशास्त्र के इतिहास मे समयानुक्रम से गिनाये है—

(क) **अलकार ग्रन्थों** मे करनेस कवि लिखित 'कर्णाभरण', 'श्रुति भूषण', 'भूप-भूषण', जसवन्त सिंह लिखित "ललाम", भूषण विरचित "शिवराज भूषण", सुरति मिश्र प्रणीत "अलकार माला", गोप लिखित "रामचन्द्राभरण", सुमति रचित "अलकार चन्द्रोदय", पद्माकर प्रणीत "पद्माभरण", कन्हैयालाल पोद्दार लिखित "अलकार प्रकाश" तथा "अलकार मजरी", लालाभगवान दीन रचित "अलकार मजूषा", रसाल रचित "अलकार पीयूष", अर्जुनदास केडिया लिखित "भारती भूषण" विशेष उल्लेखनीय है। इन ग्रन्थो मे आचार्यों ने विविध अलकारो के निरूपण तो किए ही है, अन्य आचार्यों द्वारा निर्देशित अलकारो का खण्डन और मडन भी किया है। विशेषकर उन्नीसवी और बीसवी शताब्दी मे लिखे गए अलकार-ग्रन्थो मे आलोचना-अश पर्याप्त मात्रा मे मिलता है।

(ख) **रस-ग्रन्थ**—रस सम्बन्धी ग्रन्थो मे भी आलोचना का एक रूप सुरक्षित है। आचार्य लोग विविध रसो की विवेचना करते समय कभी-कभी दूसरे के मतो का विश्लेषण भी किया करते है। इस विश्लेषण-प्रक्रिया मे आलोचना का कुछ न कुछ अश अवश्य ही वर्तमान रहता था। इस कोटि के प्रमुख ग्रन्थ इस प्रकार है—

रसिकप्रिया—केशवदास
रसरत्नावली और रसविलास—मण्डन ।
रस रहस्य—कुलपति ।
रस रत्नाकर—सुरति मिश्र ।
भवानी विलास, रस विलास और कुशल विलास—देव ।
रस शृगार समुद्र—वेनी ।
रस साराश—भिखारीदास।
रस प्रबोध—रसलीन ।
जगत विनोद—पद्माकर।
रसरग—ग्वाल ।
रस कलश—हरिऔध ।
रस मजरी—कन्हैयालाल पोद्दार ।

(ग) **शृगार और नायिका-भेद के ग्रन्थ**—रीतिकालीन आचार्यों ने बहुत से नायिका भेद के ग्रन्थ भी लिखे थे। इनमे वे अनेक प्रकार की नायिकाओ का वर्णन करते समय प्राय विश्लेषणात्मक शैली का अनुसरण करते थे। कभी खण्डन-मण्डन भी करने का प्रयत्न करते थे। शृगार और नायिका-भेद के प्रमुख ग्रन्थ निम्न-लिखित हैं—

हित-तरगिणी—कृपाराम ।
साहित्य-लहरी—सूरदास
जाति-विलास—देव ।
बन्धु-विनोद—कालिदास ।

रसमजरी—नन्ददास । नायिका-भेद—कुन्दन ।
शृगार-सागर—मोहनलाल । शृगार-निर्णय—भिखारीदास ।
शृगार-मजरी—चिन्तामणि । विष्णु विलास—लाल कवि ।
रसराज—मतिराम । बरवै नायिका-भेद—यशोदानन्दन ।
सुखसागर—देव ।

(घ) काव्यशास्त्र के ग्रन्थ—रीतियुग में काव्य के अन्य विविध अगो से सम्बन्धित काव्यशास्त्र के ग्रन्थ भी लिखे गये हैं। इन ग्रन्थो मे भी कभी-कभी आलोचना का कुछ अश मिल जाता है। इन ग्रन्थो मे सबसे प्रमुख ग्रन्थ निम्नलिखित हैं —

कविप्रिया — केशवदास । काव्य-निर्णय—भिखारीदास ।
कवि-कुल कल्पतरु—चिन्तामणि । साहित्य-दर्पन—ग्वाल कवि ।
भाव-विलास, काव्य-रसायन, और शब्द-रसायन—देव । जसवत भूषण—मुरारी दीन ।
रस मजरी—कन्हैयालाल ।
काव्य-सिद्धान्त—सुरति मिश्र । काव्य-दर्शन और काव्यालोक—रामधन मिश्र ।
काव्य कल्पद्रुम—श्रीपति ।

यह सब तो हिन्दी के ग्रन्थ हुए। उनसे पहले भी अपभ्रश-मिश्रित हिन्दी या अपभ्रश मे भी खोज करने पर आलोचना के बीज मिल सकते हैं। १००० ई० के आस-पास शान्ति रत्नाकर ने 'छन्द रत्नाकर' नामक एक छन्द-ग्रन्थ लिखा था। इसके अतिरिक्त भी यदि खोज की जाय तो अपभ्रश मिश्रित हिन्दी मे और भी ऐसे काव्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ मिल सकते है, जिनमे हिन्दी आलोचना का प्रारम्भिक बीज रूप मिलेगा।

(३) निर्णयात्मक आलोचना के ढग पर लिखी गई आलोचनात्मक सूक्तियों वाले ग्रन्थ—हिन्दी मे भी बहुत से ऐसे ग्रन्थ उपलब्ध है, जिनमे प्राचीन समालोचना का प्रशसात्मक रूप पद्यो मे मिलता है। भक्तमाल की टीका, मूल गोसाईं चरित, तुलसी चरित आदि इन ग्रन्थो मे विशेष प्रसिद्ध हैं। उदाहरण के रूप मे भक्तमाल का निम्नलिखित छन्द देखिए —

> कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षट दरसनी ।
> भक्ति विमुख जो धरम ताहि अधरम करि गायो । इत्यादि
>
> —भक्तमाल, पृष्ठ ४८१

प्राचीन कवियो की वन्दना आदि के रूप मे बहुत से कवियो ने ग्रन्थों को लिखते समय अपने पूर्ववर्ती कवियो की वन्दना भी की है। यह परम्परा संस्कृत मे प्रचलित थी। हिन्दी मे भी उसी के अनुकरण पर कवियो के द्वारा अपनाई गई थी। रीतिकालीन ग्रन्थो मे इनके उदाहरण ढूँढे जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त आलोचनात्मक सूक्तियों, जिनमे निर्णय को ही महत्व दिया जाता है, बहुत प्रचलित रही हैं।

(४) परिचयात्मक आलोचना का प्रारम्भिक रूप सन्निहित रखने वाले ग्रन्थ—हिन्दी मे बहुत से सग्रह-ग्रन्थ भी लिखे गए थे। इनमे कवियो की कविताएँ, उनके जीवन-वृत्त और काव्यगत विशेषताओ पर चलते-फिरते रूप मे प्रकाश डाला गया था। इन ग्रन्थों मे आलोचना का जो रूप दिखलाई पडता है, वह आज की वैज्ञानिक आलोचना से यद्यपि बहुत भिन्न है, किन्तु फिर भी यह स्वीकार किए बिना नही रहा जा सकता है कि वह है आलोचना ही। इन ग्रन्थो मे 'कालिदास हजारा' (कालिदास त्रिवेदी), 'सत कवि गिरा विलास' (बलदेव बघेलखण्डी), 'कविमाला' (तुलसी), 'काव्य-निर्णय' (भिखारीदास), 'विद्वद् मोद तरगिनी' (सुम्भा सिंह), 'सभा विलास' (लल्लू लाल), 'राग सगरोद्भव' (कृष्णानन्द), 'विजय हजारा' (अब्दुलहक), 'हफीजुल्लाखाँ हजारा' (हफीजुल्ला), 'शृगार सग्रह' (सूरदास कवि), 'सुन्दरी तिलक' (भारतेन्दु), सुन्दरी सर्वस्व' (ले० सदिग्ध), 'रस चन्द्रोदय' (ठाकुर प्रसाद), गोकुल दिग्विजय (गोकुलदास), 'रस सुधाकर' (सुजान चरित सूक्त), 'काव्य-सग्रह', (महेशदत्त कविरत्न माली) इत्यादि।

वर्तमान हिन्दी समालोचना

हिन्दी समालोचना का जन्म तो प्राचीन काल मे ही हो चुका था, किन्तु उसको पोषित कर, उसके स्वरूप को सँवारने का श्रेय वर्तमान युग को ही है। वर्तमान समालोचना साहित्य को हम स्थूल रूप से चार युगों मे विभक्त कर सकते हैं—(१) भारतेन्दुकालीन परिचयात्मक आलोचना, (२) द्विवेदीजी की गुण-दोष कथन प्रणाली, (३) शुक्लजी की वैज्ञानिक प्रणाली, तथा (४) शुक्लोत्तर कालीन समीक्षा प्रणालियाँ।

१. भारतेन्दुकालीन परिचयात्मक आलोचनाएँ—आधुनिक समालोचना का जन्म भारतेन्दु युग मे ही माना जाता है। डा० वार्ष्णेय ने अपनी थीसिस मे स्पष्ट रूप से लिखा है कि 'उपलब्ध सामग्री के आधार पर यही ज्ञात होता है कि आधुनिक समालोचना का जन्म भी पत्र-पत्रिकाओं द्वारा हुआ'। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय मे उसका प्रारम्भ हो चुका था। 'कवि वचन सुधा' (१८६८) तथा 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' (१८७३) मे प्राय कुछ नोट समालोचना के नाम से निकाला करते थे। भारतेन्दु ने स्वय 'मुद्रा-राक्षस' की भूमिका मे एक समालोचनात्मक नोट लिखा है। 'ब्राह्मण' (१८८३) में प्रतापनारायण मिश्र ने इस प्रकार का एक समालोचना नामक नोट प्रकाशित किया। १८८५ मे लाला श्रीनिवास दास के 'सयोगिता स्वयवर' नाटक पर 'हिन्दी प्रदीप' मे बालकृष्ण भट्ट ने छोटी सी समालोचना लिखी। उसी वर्ष प्रेमघनजी ने 'आनन्द कादम्बिनी' मे उसी की आलोचना लिखी है। यह सब समालोचनाएँ एक प्रकार से समालोचना न होकर पुस्तक का परिचय मात्र हुआ करती थी। १८९७ मे नागरी प्रचारिणी पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसमे गवेषणात्मक और समालोचना सिद्धान्त सम्बन्धी लेख प्रकाशित होने लगे।

२ द्विवेदी-युग—समालोचना का वास्तविक श्रीगणेश द्विवेदी युग में हुआ था और द्विवेदीजी के द्वारा किया गया था। द्विवेदीजी से पहले भी यद्यपि

कुछ समालोचना सम्बन्धी लेख और ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। इनमें प० बद्रीनारायण चौधरी लिखित 'आनन्द कादम्बिनी' पत्रिका मे प्रकाशित लेख विशेष रूप से आते हैं। इनमे से एक लेख मे श्री निवासदास के 'सयोगिता स्वयंवर' के दोषो का अच्छा निर्देश किया गया है। किन्तु उनकी समालोचना-पद्धति, शैली और अभिव्यक्ति इतनी शिथिल और असयत थी कि उन्हे हम सच्ची समालोचना नही मान सकते। सबमे प्रथम ग्रन्थ द्विवेदीजी के ही थे जो सच्ची समालोचना के रूप मे मान्य हुए थे और आज भी मान्य हैं। यह बात दूसरी है कि वह समालोचना का प्रथम और प्रारम्भिक युग था, जिसके कारण उन प्रवृत्तियो का विकास नहीं हुआ था जो आज समालोचना-क्षेत्र मे दिखाई पड रही हैं। द्विवेदीजी के प्रमुख समालोचना ग्रन्थ दो है—'विक्रमाक देव चरित चर्चा और नैषध चर्चा,'' 'हिन्दी कालिदास की आलोचना'। इन दोनो ग्रन्थो मे उन्होने दो सस्कृत कवियो की आलोचना प्रस्तुत की है। 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' मे इन्होने बाबू सीताराम बी० ए० कृत 'कालिदास' की रचनाओ के अनुवादो की आलोचना की है। 'विक्रमाक देव चरित और नैषध चर्चा' मे सस्कृत के दो प्रसिद्ध काव्यो की प्राचीन प्रतिमानो के प्रकाश मे अच्छी समीक्षा की गई है। यह समीक्षा अधिकतर प्रशसात्मक है। इन तीन ग्रन्थो के अतिरिक्त द्विवेदीजी ने 'कालिदास की निरकुशता' नामक एक और ग्रन्थ लिखा था, इसमे इन्होंने कालिदास का भाषा और प्रयोगो के सम्बन्ध मे विशेष रूप से विवेचन किया है। इन चार ग्रन्थो के अतिरिक्त उन्होने कुछ आलोचनात्मक निबन्ध भी लिखे थे। ऐसे निबन्धो मे 'कवि और कविता' नामक निबन्ध बहुत प्रसिद्ध हैं। द्विवेदीजी की समालोचना सम्बन्धी कुछ विशेषताएँ सक्षेप मे इस प्रकार है—

(१) इन्होने अधिकतर सस्कृत के काव्य-शास्त्र को ही काव्य की कसौटी स्वीकार किया था। इस कसौटी पर इन्होने सस्कृत कवियो को ही कसा है। इस दृष्टि मे हम उन्हे सजग आलोचक कह सकते हैं। सस्कृत काव्यशास्त्र मे काव्य के बाह्य और आन्तरिक तत्त्वो का विश्लेषण तो बडी सूक्ष्मता से किया गया है, किन्तु उसमें कही पर भी कवियो के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, तुलनात्मक अध्ययन आदि पर बल नही दिया गया। आलोचना के ऐतिहासिक पक्ष के प्रति भी उपेक्षा बनी हुई थी। सस्कृत काव्यशास्त्र का अनुकरण करने वाले द्विवेदीजी की समालोचना मे भी हमे मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, ऐतिहासिक पक्ष निरूपण, तुलनात्मक अध्ययन आदि नही मिलते। उसका रूप बहुत कुछ निर्णयात्मक और भावात्मक ही है। इन्ही निर्णयात्मकता और भावात्मकता के समन्वय के कारण उनमे साधुवाद की अधिकता है। कवियो की भाषा के सम्बन्ध मे जरूर इन्होने कुछ अधिक ध्यान दिया है। इसी के परिणामस्वरूप इनके युग मे समालोचना के स्वरूप को अधिक महत्त्व नही दिया गया है। समालोचना की भाषा को सुधारने की चेष्टा अवश्य की गई है।

(२) द्विवेदीजी की समालोचना पद्धति पर मराठी साहित्य का भी प्रभाव पडा था, जिससे उनकी शैली थोडी शुष्क इतिवृत्तात्मक और नीरस हो गई थी। समालोचना के लिए इस प्रकार की शैली महत्त्व रखती है। पाश्चात्य साहित्य-शास्त्री हडसन ने कहा है—

The chief function of criticism is to enlighten and to stimulate अर्थात् आलोचना का प्रमुख लक्ष्य प्रकाश और प्रेरणा प्रदान करना है।

द्विवेदीजी की समालोचनाओ को पढने पर इस लक्ष्य की पूर्ति पूर्ण रूप से नही होती हुई प्रतीत होती है। क्योकि उनकी आलोचनाओ मे न तो व्याख्या का वैज्ञानिक, तुलनात्मक और ऐतिहासिक रूप ही दिखाई पडता है और न उसमे वह प्रेषणीयता ही है जो एक सच्चे समालोचक का आवश्यक गुण समझी जाती है। उन्होने अधिकतर कवियो के गुण-दोष कथन तक ही अपने को सीमित रखा। इनकी आलोचना में भी प्रारम्भिक आलोचनाओ मे पाई जाने वाली पुस्तक या कवि मात्र का परिचय देने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इस प्रवृत्ति का सकेत श्याम विहारी मिश्र ने अपने 'देव और विहारी' नामक ग्रन्थ की भूमिका मे इस प्रकार किया है—"आजकल की तो कुछ समालोचनाओ मे पुस्तक का सक्षेप मे उल्लेख मात्र कर दिया जाता है। ग्रन्थ वहुत विद्वत्ता और गवेषणापूर्वक लिखा गया है। यह पुस्तक शिक्षाप्रद है।" (पृ० ३३)

(३) समालोचक के रूप में द्विवेदीजी ने सबसे बडा कार्य समालोचना के आदर्श के सम्बन्ध मे किया था। वे नैतिकतावादी थे। इस दृष्टि से वे अग्रेजी के आलोचक ड्राइडन के अधिक समीप थे। एक दृष्टि से उनका मैथ्यू आर्नल्ड से भी साम्य स्थापित किया जा सकता है। मैथ्यू आर्नल्ड आलोचना का निर्णय और विवेचन सामान्य मनुष्य के दृष्टिकोण से करते थे। द्विवेदीजी ने भी ऐसा ही किया है। उनकी आलोचनाओ मे वैयक्तिकता की उतनी अधिक छाप नही है जितनी शुक्लजी मे दिखाई पडती है। उन्होने आलोचनाएँ अधिकतर साधारण व्यक्तियो के दृष्टिकोण से लिखी थी। उनमे उनके गठन, पाण्डित्य और गम्भीर रुचि आदि की बरबस प्रतिष्ठा नही की गई है।

(४) समालोचना क्षेत्र मे द्विवेदीजी को हम प्राचीनतावादी ही कहेगे।

द्विवेदीजी के पश्चात् उनके अनुकरण पर बहुत से अन्य आलोचको ने भी समालोचना साहित्य को समृद्ध करने की चेष्टा की। उनके वर्ग के समालोचको मे डॉ० श्यामसुन्दर, कृष्णबिहारी मिश्र, लाला भगवानदीन आदि विशेष उल्लेखनीय है। द्विवेदी-मण्डल के बाहर भी समालोचना लिखने का कार्य चल रहा था। एक ओर तो पद्मसिह शर्मा अपनी भावात्मक और प्रभावात्मक समालोचनाएँ लिखने मे लगे हुए थे और दूसरी ओर गगाप्रसाद अग्निहोत्री सैद्धान्तिक समालोचना लिखने का उपक्रम कर रहे थे। पद्मसिह शर्मा पहले आलोचक थे जिन्होने आलोचना क्षेत्र मे तुलना को विशेष महत्त्व दिया था। इन्होने विहारी पर सुन्दर तुलना प्रधान भावात्मक आलोचना लिखी है। गगा प्रसाद अग्निहोत्री ने 'समालोचना' नामक पुस्तक स० १९५३ मे प्रकाशित कराई। इस पुस्तक मे समालोचना का स्वरूप निरूपित करने का प्रयत्न किया गया है। इसके वाद मिश्रबन्धुजी आते हैं। मिश्रबन्धु ने सन् १९०० के लगभग 'सरस्वती' मे 'हमीर-हठ' नामक एक आलोचनात्मक लेख

प्रकाशित करवाया था। इसके बाद इन्होने 'हिन्दी नवरत्न' की रचना की। इनकी आलोचना-प्रणाली यद्यपि द्विवेदीजी से बहुत मिलती-जुलती है, किन्तु द्विवेदीजी की अपेक्षा इनमे विकास के चिन्ह अधिक प्रत्यक्ष थे। 'नवरत्न' में नौ महाकवियो की आलोचना करते समय इन्होने कवियो के ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक पक्ष को भी छूने की चेष्टा की है। यह बात दूसरी है कि वे अपने इस कार्य मे सफल न हुए हो। इनकी समालोचना कसौटी भी द्विवेदी जी की समालोचना कसौटी से विकसित और आधुनिक थी। किन्तु इनकी आलोचनाओ का आदर्श भी गुण-दोष कथन मात्र ही था। यह बात उनकी समालोचना की परिभाषा से ही स्पष्ट है। "निष्पक्ष भाव से किसी वस्तु के गुण-दोष का कथन करना ही समालोचना है।" (पृष्ठ ८)। कृष्णविहारी जी विहारी और देव के झगडे मे पड़ कर अवश्य थोडा लक्ष्य-भ्रष्ट हुए थे। उनकी 'देव और विहारी' नामक पुस्तक मे मूल्याकन और निर्णय को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। वैज्ञानिक शैली मे मनोविज्ञान के विश्लेषण की ओर इनकी अभिरुचि कभी नही हुई।

सैद्धान्तिक आलोचना का शिलान्यास करने वालो मे बाबू श्यामसुन्दरदास चिरस्मरणीय रहेगे। सन् १९२० के लगभग इन्होने अपने 'साहित्यालोचन' की रचना की थी। अंग्रेजी के ग्रन्थो की सहायता से इन्होने समालोचना के सामान्य सिद्धान्तो का बडे सुन्दर ढग से निरूपण किया है। सैद्धान्तिक समालोचना के अतिरिक्त इन्होने तुलसी पर व्याख्यात्मक समालोचना भी लिखी थी। द्विवेदीजी के पश्चात् समालोचना-क्षेत्र मे इन्होने ही सबसे अधिक यश प्राप्त किया है।

आचार्य शुक्ल का समालोचक स्वरूप और शैली—द्विवेदीजी की गुण-दोष कथन-प्रधान समालोचना शैली की प्रतिक्रिया के रूप में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक और व्याख्यात्मक आलोचनाओ की प्रवृत्तियो को आत्मसात् किए हुए अभिनव आलोचना प्रणाली का उदय हुआ। शुक्लजी पहले हिन्दी के समालोचक थे जिन्होने पाश्चात्य समालोचना प्रणालियो और तत्वो का अध्ययन कर भारतीय समालोचना सिद्धान्तो का पुनर्निर्माण करने की चेष्टा की थी। जिस समन्वय-साधना का प्रयत्न तुलसी ने काव्य-क्षेत्र मे किया था, उसका पुनरुद्धरण उनके भक्त शुक्लजी ने समालोचना-क्षेत्र मे किया। जिस तरह से तुलसीदासजी आदर्श-प्रिय, नैतिकवादी महात्मा थे उसी प्रकार शुक्लजी भी आदर्शप्रिय नैतिकवादी विद्वान् थे। उनकी समालोचनाओ पर आदर्शवाद और नीतिवाद की इसीलिए पूरी छाप दिखाई पड़ती है। इन्होने सूर की अपेक्षा तुलसी को अधिक महत्त्व दिया है। इसका कारण सम्भवत यही था कि तुलसी सूर की अपेक्षा अधिक आदर्शवादी और मर्यादा-प्रिय थे। शुक्लजी ने प्राचीन और नवीन काव्य सिद्धान्तो का समन्वय कर अपनी गूढ सम्मति देकर समालोचना के नए सिद्धान्त निश्चित किए। इन्ही सिद्धान्तो के आधार पर उन्होने सूर, तुलसी और जायसी की विस्तृत समीक्षाएँ लिखी। एक ओर तो वे प्राचीन रसवाद के समर्थक थे और दूसरी ओर पाश्चात्य समालोचना के ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, व्याख्यात्मक आदि पक्षो के पूरे पोषक थे। शुक्लजी पर पाश्चात्य समालोचक रिचार्डस का प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है। रिचार्डस मूल्यांकन सम्बन्धी

समालोचना का प्रधान प्रवर्त्तक माना जाता है। शुक्लजी पर भी उनका प्रभाव परिलक्षित होता है। उन्होने प्राय मूल्याकन करने का प्रयत्न किया है। सूरदास की आलोचना करते समय वे तुलसी से उनकी तुलना करते हैं। तुलना करते-करते वे दोनो के मूल्याकन मे लग जाते हैं। निम्नलिखित उदाहरण देखा जा सकता है—

'तुलसी की आलोचना मे हम सूचित कर चुके है कि व्रजभाषा और अवधी दोनों भाषाओ पर उनका तुल्य अधिकार था।"

इतना होते हुए भी यह निर्विवाद है कि उनकी मूल्याकन-प्रणाली रिचार्ड्स के ढग की नहीं थी—उन्होने अधिकतर जिस समालोचना पद्धति को अपनाया है वह व्याख्या और निर्णय दोनो की मध्यवर्तिनी है। यह बात उनके निम्नलिखित अवतरण से स्पष्ट है। "इनमे से कुछ पुस्तकें तो समालोचना की पहली पद्धति पर निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक दोनो ढग लिए हुए चली हैं" इत्यादि। यहाँ पर उन्होने स्पष्ट ही अपने समालोचना-सम्बन्धी आदर्श का सकेत किया है।

शुक्लजी ने अपनी समालोचनाओ मे जिन बातो को अधिक महत्त्व दिया है उनकी व्यजना निम्नलिखित अवतरण से स्पष्ट है, "इस तृतीय उत्थान मे आलोचना का आदर्श भी बदला। गुण-दोष के कथन के आगे बढकर कवियो की विशेषताओं और उनकी अन्त प्रवृत्ति की ओर भी ध्यान दिया गया। तुलसीदास, सूरदास जायसी आदि की विस्तृत आलोचना पुस्तकाकार रूप मे निकली।"

इस अवतरण से स्पष्ट है कि शुक्लजी ने आलोचना-क्षेत्र मे सबसे पहले कवियो की विशेषताओ और उनकी अन्त प्रवृत्तियो की छानबीन की थी। यदि हम सूर, तुलसी और जायसी पर शुक्लजी की लिखित समालोचनाओं का अध्ययन करें तो उनकी इन विशेषताओ के अनेक प्रमाण मिलेंगे। उदाहरण के रूप मे उनके 'सूरदास' से निम्नलिखित पक्तियाँ दी जा सकती हैं। वे सूर के निम्नलिखित पद की, देखिए कितनी सूक्ष्मता के साथ आलोचना करते है—

निरखत अक श्याम सुन्दर के बार बार लावति छाती
लोचन जल कागद मसि मिलि ह्वै गई स्याम स्याम की पाती।

इस पर लिखी गई शुक्लजी की पक्तियाँ उनकी समालोचना के वास्तविक स्वरूप की द्योतिकाएँ है। वे लिखते है, "आँसुओ से भीग कर स्याही के फैलने से सारी चिट्ठी काली हो गई। इससे कृष्ण सम्बन्धी भावना के कारण प्रबल प्रेमोद्रेक सूचित हुआ। आगे देखिए तो इस प्रेमोद्रेक की तीव्रता व्यजित करने के लिए अक और स्याम शब्द मे श्लेष कैसा काम कर रहा है। पत्री पाकर वैसा ही प्रेम उमड़ा जैसा कि कृष्ण को पाकर उमड़ता। कृष्ण की पत्री भी कृष्ण हो गई। जैसे वे कृष्ण को पाकर आलिगन करती वैसे ही वह पत्री को हृदय से लगाती है। यहाँ भावाधिपति सूर ने भाव का और अधिपत्य व्यजित करने के लिए शब्द-साम्य की सहायता ऐसे कौशल से ली है कि एक बार शब्दो का साधारण अर्थ लेने से, जिस भाव की अधिकता सूचित हुई उनका शिलष्ट अर्थ लेने से उसी भाव की और अधिकता व्यजित हुई। इससे जो लाघव हुआ है, मजमून मे जो चुस्ती आई है, वह तो है ही

साथ ही प्रेम के अन्तर्भूत एक मानसिक दशा के चित्र का रग कैसा चटकीला हो गया है। शब्द-साम्य को काम मे लाने वाला सच्चा कवि-कौशल यही है।"

इस अवतरण से शुक्लजी की समालोचना सम्बन्धी निम्नलिखित विशेषताएँ पूर्णरूपेण प्रगट है—

(१) भावपक्ष और कलापक्ष की सूक्ष्मातिसूक्ष्म मनोवैज्ञानिक व्याख्या समान रूप से करने की प्रवृत्ति।

(२) कवि की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तर्वृत्तियो की खोज करने की प्रवृत्ति। यह बात उनके निम्नलिखित शब्दो से स्पष्ट है। "साथ ही प्रेम के अन्तर्भूत एक मानसिक दशा का चित्र कैसा चटकीला हो गया है।"

(३) निर्णय देने की प्रवृत्ति। "शब्द-साम्य को प्रयोग मे लाने वाला सच्चा कवि-कौशल यही है" इस पंक्ति से इस प्रवृत्ति का पता चलता है।

(४) शब्द शक्ति-मूलक और अलकार-मूलक चमत्कार का रसवाद से सामजस्य स्थापित करने की प्रवृत्ति।

(५) बात को अधिक से अधिक स्पष्ट करने की चेष्टा। इसके लिए वे प्रचलित उर्दू शब्दो और प्रयोगो को भी अपनाने मे नही सकुचाते थे, यह बात निम्नलिखित पक्ति से प्रगट है—

"इससे जो लाघव हुआ है, मजमून मे जो चुस्ती आई है, वह तो है ही, साथ ही प्रेम के अन्तर्भूत एक मानसिक दशा के चित्र का रग कैसा चटकीला हो गया है।"

(६) यहाँ पर स्पष्ट ही बुद्धि और हृदय का समन्वय दिखाई पड़ता है। यह उनकी समालोचनाओ की प्रमुख विशेषता थी।

(७) काव्य शास्त्र का विवेचन—उन्होने प्रतिष्ठित काव्यशास्त्र के सिद्धान्तो का सकेत तो किया ही है, और उनके आधार पर कवियो की विवेचना भी की है। ऐसा प्राय सफल आलोचक करते भी आए है। रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि बड़ी पैनी थी। इसी लिए उन्होने प्राचीन आचार्यों द्वारा अविवेचित बातो पर भी स्वतन्त्रता-पूर्वक विचार किया है। उपर्युक्त अवतरण मे "वह तो है ही, साथ ही प्रेम के अन्तर्भूत एक मानसिक दशा का चित्र कैसा चटकीला हो गया है", लिख करके उन्होने एक नवीन अनिर्वचनीय मानसिक दशा की ओर सकेत किया है।

(८) ऊपर वाली बात से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शुक्लजी की समालोचना के आधार मनोभाव और उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण थे। शिवनाथ ने आचार्य शुक्लजी की विवेचना करते हुए इसका सकेत इस प्रकार किया है—"साहित्य के मूल मे निहित मनोभाव या मनोविकार के आधार पर शुक्लजी की आलोचनाएँ विशेष रूप से स्थित है।"

(९) उपर्युक्त अवतरण मे रामचन्द्र शुक्ल के आलोचक स्वरूप की एक और विशेषता प्रगट होती है, वह यह कि उन्होने सर्दव कवि की प्रकृति की खोज करने की चेष्टा की थी। शिवनाथ ने इस बात को इस प्रकार लिखा है—"आचार्य

शुक्ल ने कवि के शील, स्वभाव आदि को जानने के लिए ही उसकी रचना का सहारा लिया है। उसकी शारीरिक बनावट आदि जानने के लिए नही।"

(१०) उपर्युक्त अवतरण से यह भी स्पष्ट है कि शुक्लजी ने अपनी आलोचनाओ मे हृदय तथा कला-पक्ष दोनो पर अपनी दृष्टि रखी है। आलकारिकता का निर्देशन करके तो उन्होने कला-पक्ष का निर्देश किया है और भावो के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वरूप को स्पष्ट कर भाव पक्ष का। आचार्य शुक्ल के ग्रन्थ के लेखक शिवनाथ ने भी उनकी इस विशेषता का निर्देश किया है। वे लिखते है, "उनकी दृष्टि रचनाकार के हृदय-पक्ष तथा कला-पक्ष दोनो पर रहती है," इत्यादि।

इतनी विशेषताओ का तो परिचय उनके उपर्युक्त एक ही अवतरण से मिल जाता है। इनके अतिरिक्त भी उनकी समालोचना की कुछ समष्टिमूलक विशेषताएँ थी। सक्षेप मे यहाँ पर उनका भी निर्देश किया जाता है।

(१) **गुण-दोष पर समान दृष्टि**—शुक्लजी ही आलोचनाएँ कोरी प्रशसात्मक ही नही हैं। उन्होने अपने परमप्रिय कवि तुलसी तक के दोषो का निर्देश किया है।

(२) **ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति**—उन्होने अधिकतर अपनी आलोचनाओ मे ऐतिहासिक परिस्थितियो को भी स्पष्ट करने की चेष्टा की है। शिवनाथ के शब्दो मे "इस ऐतिहासिक परिस्थिति के अन्तर्गत वे शुद्ध इतिहास, साहित्य के इतिहास, तत्कालीन समाज-धर्म आदि का स्पष्टीकरण करते है। जैसे तुलसी की भक्ति-पद्धति पर विचार करते हुए उन्होंने वीरगाथा काल के पश्चात् की भारतीय परिस्थिति का, इतिहास, साहित्य, धर्म, समाज आदि की दृष्टि से दिग्दर्शन किया है।" इत्यादि (पृष्ठ १७३)।

(३) **तुलना**—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी समालोचना मे तुलना पक्ष को भी महत्त्व नही दिया है। शिवनाथ के मतानुसार उन्होने तुलनात्मक शैली का ग्रहण विवेच्य विषयो की स्पष्टता के लिए किया था।

(४) **व्यग और हास्य**—यो तो शुक्लजी बहुत ही गम्भीर प्रकृति के थे किन्तु फिर भी उनकी रचनाओ मे हास्य और व्यग के स्वाभाविक छीटे मिल जाते है। उनकी समालोचनाओ मे भी यह विशेषता प्रकट हो जाती है। हास्य और व्यग के लिए वे प्राय उर्दू-फारसी के शब्दो का प्रयोग किया करते थे। ऊपर उद्धृत अवतरण मे अत्यन्त शिष्ट हास्य की झलक देखी जा सकती है।

(५) शुक्लजी की आलोचनाओ मे उनकी एक प्रकृतिगत विशेषता भी प्रतिबिम्बित दिखाई पडती है। वे आचार्य थे। आचार्यत्व के अनुरूप ही उन्होने अपने आलोच्य कवि सम्बन्धित भ्रमो का निराकरण करके वास्तविक मत की प्रतिष्ठा की है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित वाक्य लिया जा सकता है। "तुलसी पूर्ण रूप से इसी भारतीय भक्ति-मार्ग के अनुयायी थे। अत उनकी रचना को रहस्यवादी कहना हिन्दुस्तान को अरब या विलायत कहना है।"

(६) शुक्लजी की एक विशेषता का उल्लेख शिवनाथ ने इस प्रकार किया

है—'आलोचना और निबन्ध दोनो मे वे संसार के प्रचलित प्रधान विषम विचारो की टीका भी करते चलते हैं।' उन्होने इस विशेषता से सम्बन्धित शुक्लजी की रचनाओ मे से (गोस्वामी तुलसीदास मे से) एक उद्धरण दिया है।

—आचार्य शुक्ल, पृ० १७७

शुक्लजी प्राय आलोच्य वस्तु मे वर्णित भावो और विचारो की आलोचना के बाद उद्धरण भी दिया करते थे। इससे उनकी आलोचनाएँ अधिक स्पष्ट और प्रसाद गुण सम्पन्न हो गई हैं।

शुक्लजी की शैली अधिकतर विवेचनात्मक ही थी किन्तु कभी-कभी उन्होने काव्यात्मक और भावात्मक शैलियो को भी अपनाने की चेष्टा की थी। जिससे स्वर्ण सुगन्ध संयोग उपस्थित हो गया है।

उनकी समालोचनाओ का मान-दण्ड पाश्चात्य और भारतीय प्रतिमानो के समन्वय से बना था। पाश्चात्य शैली पर तो उन्होने कवियो के स्वभाव और चरित्र-चित्रण की चेष्टा की है। भारतीय शैली पर उन्होने रसानुभूति और भावानुभूति के तत्वों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। यह सही है कि शुक्लजी ने भारतीय रसा-वाद को आलोचना की कसौटी माना था, किन्तु जैसा कि नन्द दुलारे वाजपेयी ने लिखा है—"रस के आनन्द पक्ष पर, उसके संवेदनात्मक स्वरूप पर, उनकी निगाह नहीं गई।" यह हम पहले स्पष्ट कर चुके है। शुक्लजी नैतिकवादी एव आदर्शवादी कलाकार थे। वास्तव मे उनके नैतिकता के आग्रह ने ही उन्हे आलोचना क्षेत्र मे सच्चा रसवादी नही रहने दिया। रस का प्राण भाव है। भरत मुनि ने कहा है कि भाव विकसित होकर रस दशा को प्राप्त होता है, किन्तु शुक्लजी ने रस सम्बन्धी व्याख्या करते समय भाव-व्यंजना एव अनुभूति पर इतना बल नही दिया है, जितना नैतिकता पर। यह असतुलन ही उनकी आलोचना का प्रमुख दोष कहा जा सकता है। शुक्लजी की समालोचना मे एक और दोष दिखाई पडता है। नन्द दुलारे वाजपेई के शब्दो मे उसे हम इस प्रकार लिख सकते हैं। "शुक्लजी का समीक्षा-कार्य पाण्डित्यपूर्ण होता हुआ भी वैयक्तिक रुचियो का द्योतक है। कदाचित् इसी कारण वह मार्मिक है, किन्तु वस्तुगत और वैज्ञानिक नही।" (आधुनिक साहित्य, पृष्ठ २७९) वाजपेईजी की आलोचना थोडी कटु है। यह बात अवश्य थी कि शुक्लजी का व्यक्तित्व उनकी आलोचनाओ मे स्पष्ट झलकता रहता है। किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि आलोचनाएँ वैज्ञानिक नहीं थी। उनके ऊपर पाश्चात्य समालोचना-शास्त्र का बहुत अधिक प्रभाव पडा था और पाश्चात्य समीक्षा मे वैज्ञानिकता को सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता है। हडसन ने तो व्याख्यात्मक आलोचना का दूसरा नाम वैज्ञानिक आलोचना ही दिया है। शुक्ल जी ने इस व्याख्यात्मक आलोचना का बहुत कुछ अनुसरण किया था। अतएव यह कहना कि उनकी समालोचना पद्धति वैज्ञानिक नही थी, शुक्लजी के साथ अन्याय करना है।

हरिश्चन्द्र-युग मे समालोचना के शिथिल और अस्पष्ट रूप का श्रीगणेश हुआ था। द्विवेदीजी ने सबसे पहले इस क्षेत्र मे बाह्य विषय को महत्त्व देना प्रारम्भ

किया। किन्तु शैली का सौन्दर्य उनमे न आ सका। भाव-पक्ष पर भी उनकी दृष्टि अधिक नही जम सकी। आलोचना के ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक आदि विविध पक्षो की ओर भी उनका ध्यान नही गया। पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबन्धु आदि विद्वानो ने समालोचना क्षेत्र मे तुलना को महत्त्व देना प्रारम्भ किया। किन्तु वे काव्य-विषय की ओर से थोडा उदासीन हो गए। पद्मसिंह शर्मा जैसे आलोचक आलोचना मे अपनी ही अनुभूतियो को महत्त्व देने लगे। इससे काव्य विषय की ओर भी उपेक्षा हुई। शुक्लजी पहले आलोचक थे जिन्होने काव्य विषय को भी महत्त्व दिया। शैलीगत सौन्दर्य लाने की भी चेष्टा की। आलोचना के तुलनात्मक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक पक्षो के विश्लेषण मे भी प्रयत्नशील हुए, किन्तु उनकी आदर्श प्रियता तथा नैतिकता ने उनकी सौन्दर्यानुभूति थोड़ी वचित कर दी। कला का सच्चा स्वरूप थोडा धूमिल चल पडा, जिससे उनकी समालोचनाओ को धक्का पहुँचा। छायावादी युग के आलोचको ने शुक्लजी की अपेक्षा सौन्दर्यानुभूति की प्रवृत्ति पर कुछ अधिक जोर दिया है। हिन्दी मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कुछ अशो में मूल्याकन सम्बन्धी आलोचना मे विश्वास करते थे, किन्तु वे रिचार्डस के मत से अधिक सहमत नही थे। शुक्ल जी सामजस्यवादी थे। यह सामजस्य भी तुलसी के समान उन्होने विरोधी तत्त्वो मे स्थापित करने की चेष्टा की है। उन्होने, जैसा कि गुलाबरायजी ने लिखा है—

"आन्तरिक वृत्तियो के साथ समाज के बाह्य सामजस्य को भी अपना ध्येय बनाया था।"

शुक्लोत्तरकालीन समीक्षा पद्धतियाँ

आचार्य शुक्ल युगप्रवर्त्तक आलोचक थे। उन्होने आलोचना क्षेत्र में आलोचना की नवीन प्रणाली को जन्म दिया था। वह प्रणाली व्याख्यात्मक, ऐतिहासिक तुलनात्मक, मूल्य निर्धारण और सैद्धान्तिक इन सब के समुचित समन्वय से तैयार हुई थी। शुक्लजी के अनुयायी उनकी आलोचना-पद्धति को ही अपनाकर चले थे। किन्तु शुक्लजी के बाद कुछ नए आलोचको का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होने कुछ नई समालोचना प्रणालियो को अपनाने की चेष्टा की। कोई सौष्ठववादी आलोचना-पद्धति को विकसित करने मे लग गए, किसी ने मनोविश्लेषण-प्रधान आलोचना की गौरव वृद्धि करने का प्रयास किया और कुछ प्रगति या मार्कसवादी समालोचना के स्वरूप-विकास मे प्रयास करने लगे। इस प्रकार शुक्लोत्तर युग मे हमे आलोचना की तीन प्रमुख धाराएँ देखने को मिलती हैं।

(१) शुक्ल पद्धति।
(२) सौष्ठववादी या स्वच्छन्दतावादी।
(३) प्रगतिवादी आलोचना-पद्धति।

१. शुक्लजी की आलोचना-पद्धति—शुक्लजी की आलोचना-पद्धति की विशेषताओ पर मै पहले विस्तार से विचार कर चुका हूँ। यहाँ पर उनकी प्रमुख विशेषताओ का अत्यन्त सक्षेप मे सकेत कर देना पर्याप्त है।

(क) **व्याख्या**—शुक्लजी व्याख्या को आलोचना का प्रमुख अग मानते थे। किन्तु व्याख्या के सम्बन्ध मे उनकी दृष्टि विशिष्ट प्रकार की थी। बाह्यात्मक व्याख्या के साथ शुक्लजी अन्तर्व्याख्या मे भी विश्वास करते थे। यह बात उनके निम्नलिखित कथन से प्रकट है—

"गुण-दोष कथन के आगे बढकर कवियो की विशेषताओ और उनकी अन्तं प्रकृति की छानबीन की ओर ध्यान दिया गया।" इस कथन मे एक ओर तो वस्तु की आन्तरिक व्याख्या की ओर प्रवृत्त होने का सकेत किया गया है, दूसरी ओर कवि के व्यक्तित्व के अध्ययन को आवश्यक ठहराया गया है।

(ख) **कवि के व्यक्तित्व का अध्ययन**—आलोचना-जगत् मे इस विशेषता को जन्म देने का श्रेय सर्वप्रथम शुक्लजी को ही है। उनसे पहले आलोचको की दृष्टि बहुत स्थूल थी। वे कवि के व्यक्तित्व की छानबीन किए बिना ही बाहरी तौर से कुछ गुण-दोष आदि का कथन कर देते थे। कवि की अन्तर्वृत्तियो से परिचय न होने से कभी-कभी कवि के साथ अत्याचार हो जाता था।

(ग) **शास्त्रीयता**—शुक्लजी की आलोचना-पद्धति की सबसे प्रमुख विशेषता शास्त्रानुसरण है। शुक्लजी, आलोचना मे वैयक्तिक रुचि या प्रभावानुभूति की अभिव्यक्ति को विशेष महत्त्व नही देते थे। वे उसी समालोचना को खरी समालोचना मानते थे जो शास्त्र की कसौटी पर कसकर निखारी गई हो। अब प्रश्न यह है कि वह कौनसा शास्त्र था जिसे शुक्लजी कसौटी रूप मे स्वीकार करते थे। इसका उत्तर बहुत स्पष्ट है। उनकी काव्यशास्त्रीय कसौटी भारतीय और पाश्चात्य दोनो काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो के समत्वय से तैयार हुई थी।

(घ) **तुलना और निर्णय का महत्त्व**—शुक्लजी, आलोचना मे तुलना और निर्णय दोनो को विशेष महत्त्व देते थे। उनकी धारणा थी कि समालोचना का सही रूप तब तक नही निखरता जब तक तुलना के सहारे उसका स्पष्टीकरण न किया जाय। शुक्लजी निर्णय देने या मूल्याकन करने के भी पक्षपाती थे। वे बाह्य और आन्तरिक दोनो प्रकार की व्याख्या तथा तुलना करने के पश्चात् अपना निर्णय देना भी आवश्यक समझते थे।

(ङ) **आदर्शप्रियता**—शुक्लजी आलोचना के सम्बन्ध मे बड़ा पवित्र दृष्टि-कोण रखते थे। उनकी धारणा थी कि सच्चा आलोचक वही होने का अधिकारी होता है जिसकी रुचि परिमार्जित है, जो सब प्रकार के राग-द्वेषो से विनिर्मुक्त हैं और आदर्श तथा पवित्र जीवन को महत्त्व देता है।

(च) **समन्वय-भावना**—शुक्लजी तुलसी की भाँति समन्वयवादी थे। वे एकागी आलोचना मे आलोचना के प्रमुख तत्त्वो के समन्वित रूप के पोषक थे और दूसरी ओर पाश्चात्य और प्राच्य-शास्त्र के समन्वय की कसौटी तैयार करने के पक्षपाती थे।

शुक्ल-पद्धति के प्रमुख समालोचक—शुक्ल-पद्धति के प्रमुख आलोचक शुक्लजी के समकालीन विद्वान् डॉ० श्यामसुन्दरदासजी थे। उनमे जहाँ शुक्ल

शैली के उपर्युक्त सभी तत्व मिलते हैं, वही उनमे वैज्ञानिकता उनसे अधिक है। विषय को अधिक से अधिक स्पष्ट करने की जो प्रवृत्ति बाबू श्यामसुन्दरदास में दिखाई पडती है, वह आचार्यजी मे उस मात्रा मे नही मिलती है। डॉ० श्यामसुन्दरदास के अतिरिक्त शुक्ल पद्धति के प्रसिद्ध आलोचक प० कृष्णशकर शुक्ल, प० रामकृष्ण शुक्ल, शिलीमुख, गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश', डॉ० रमाशकर शुक्ल 'रसाल', डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा और विश्वनाथप्रसाद मिश्र आदि हैं। इनके अतिरिक्त कुछ आलोचको की प्रवृत्ति बाबू श्यामसुन्दरदास की आलोचना शैली की ओर थी। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल, डॉ० दीनदयाल गुप्त, बाबू गुलाबराय आदि आलोचक शुक्ल पद्धति मे भी श्यामसुन्दरदास वर्ग के आलोचक थे। इस प्रकार हम देखते है कि शुक्लोत्तर युग के अधिकाश आलोचक शुक्ल परम्परा के ही समालोचक हैं।

२ **सौष्ठववादी आलोचना-पद्धति**—निश्चित प्रतिमानो के प्रकाश मे आलोचना और मूल्याकन करने वाली पद्धति के अतिरिक्त हिन्दी के वर्तमान समीक्षा क्षेत्र मे सौष्ठववादी समीक्षा का भी प्रचलन बढा। इस प्रकार की समीक्षा-पद्धति मे आलोचक मूल्याकन करने का प्रयास नही करता। सौष्ठववादी आलोचक तटस्थ होकर अपनी स्वच्छन्द अनुभूतियो को समालोचना क्षेत्र मे उतारने का प्रयास करता है। इसीलिए इस आलोचना पद्धति को स्वच्छन्दतावादी समालोचना पद्धति भी कहते है। इस कोटि की समीक्षा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए 'हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास' में ठीक लिखा है—"इस नवीन समीक्षा के मानदण्ड के तत्त्वो का निर्माण छायावाद की प्रमुख विशेषताओ से ही हुआ है। स्वच्छन्दता और सौष्ठव इस आलोचना के प्रधान तत्त्व है। इनकी प्रेरणा छायावादी रचनाओ से ही मिलती है। कला-कृति की अपेक्षा कवि के व्यक्तित्व को महत्त्व देने के कारण छायावाद में आत्माभिव्यजन की प्रधानता है। कवि के व्यक्तित्व के साथ ही उसकी परिस्थितियो का निरूपण भी आवश्यक माना गया है। कला-कृति में अलकार आदि शास्त्रीय तत्त्वो की अपेक्षा पाठक के हृदय को स्पर्श करने वाले तत्त्वो का उद्घाटन अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाने लगा है। आलोचक रूढ और परम्परा मुक्त शैली में रस, अलकार आदि के उदाहरण न खोजकर सूक्ष्म सौन्दर्य और सौष्ठव देखने का प्रयत्न करने लगा। उस सौष्ठव से आलोचक भी आह्लादित अधिक होना चाहता है। परम्परा-मुक्त नीति का उपदेश नही ग्रहण करना चाहता। छायावादी कवि का दृष्टिकोण उपयोगितावादी नही है। उसकी सृजन-प्रेरणा आनन्द से ही प्राप्त होती है और वही उसका साध्य है। इसलिए आलोचक भी उपादेयता के मानदण्ड पर साहित्य का मूल्याकन नही कर पाता है। उसको भी आह्लाद को ही प्रमुख मानना पडता है। आलोचक के व्यक्तित्व मे वही सफल आलोचक माना गया है जो कवि की अनुभूति के साथ तादात्म्य स्थापित कर सका। विश्लेषण की क्षमता के साथ ही सौन्दर्य से आह्लादित होने और पाठक को आह्लादित करने की योग्यता को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। (पृष्ठ ४३७)

आलोचना के इस प्रकार पर कारलाइल ने भी अच्छा प्रकाश डाला है। वह इस प्रकार है—

' Criticism stands like an interpreter betweenthe inspired, and uninspired, between the prophet and those who beat melody of his words and catch some glimpses of their material meaning, not their deeper import " —'हिन्दी आलोचना . उद्भव और विकास' से उद्धृत

अर्थात् आलोचक भावाभिभूत और अभावाभिभूत के मध्य का अर्थकर्त्ता होता है। वह देवदूत और उनके सदेशवाहक के बीच का मध्यस्थ होता है। वह इनके वास्तविक अर्थ के कुछ रूपो की व्यजना करता है, किन्तु उसके गूढार्थ को नही समझ पाता।

जिसे कारलाइल ने गूढार्थ कहा है, वही काव्य-सौष्ठव और काव्य की मूल चेतना है। इस मूल चेतना को कारलाइल ने एक स्थल पर Imperial fire अर्थात् दैवी चेतना कहा है। सौष्ठववादी समीक्षा अपनी समीक्षक मे उसी दैवी चेतना की खोज करने का प्रयास करता है।

हिन्दी मे इस प्रकार की समालोचना के प्रवर्त्तक महाकवि प्रसाद, निराला तथा पन्त बताए जाते है। प्रसाद के अतिरिक्त इस पद्धति के प्रमुख आलोचक महादेवी वर्मा, नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र, शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि भी है।

मार्क्सवादी या प्रगतिवादी समालोचना पद्धति—समालोचना पद्धति छायावाद के ह्रास के साथ-साथ प्रारम्भ हो गयी। आलोचको ने आलोचना के नए प्रतिमानो को ढूँढ निकालने की चेष्टा की। यह मान अधिकतर मार्क्सवादी थे। इन मार्कसवादी मानो के प्रकाश मे जो आलोचनाएँ लिखी गई उन्हें मार्कसवादी आलोचना कहा जाने लगा। इस आलोचना पद्धति को प्रगतिवादी आलोचना-पद्धति भी कहते है क्योकि साहित्य-क्षेत्र मे मार्क्सवादी विचारधारा से पुलकित रचनाओं को प्रगतिवादी रचना कहने का पूरा प्रचलन है। इस प्रगतिवाद की मूल चेतना आर्थिक एव उपयोगितावादी होने के कारण इस कोटि की आलोचना को उपयोगितावादी आलोचना-पद्धति कह देते है।

मार्क्सवाद और उपयोगितावाद मे कोई अन्तर नही है। मार्क्सवादियों ने काव्य मे उपयोगितावादी पक्ष को ही उसका प्राण सिद्ध करने की चेष्टा की है।

काडवेल ने 'Illusion and Reality' नामक रचना मे कविता की मार्क्सवादी परिभाषा देते हुए लिखा है कि वह मूलत आर्थिक वस्तु है—

"Poetry is regarded then, not as something racial, national, geneatic or specific in its essence, but as something economic"

अर्थात् कविता के मूल धरातल जातीय और देशगत नही मानने चाहिएँ। उसका वास्तविक महत्त्व उसकी आर्थिक-उपयोगिता मे सन्निहित रहता है। काडवेल के इस सिद्धान्त से सभी मार्क्सवादी साहित्याचार्य सहमत है। मार्क्सवादी आलोचक काडवेल के इस कविता सम्बन्धी दृष्टिकोण को ही काव्यालोचन की कसौटी मान कर चले है।

मार्क्सवाद को हम भौतिक सुखवाद या कल्याणवाद कह सकते है। मार्क्सवादी भौतिक सुखवाद भारतीय शाश्वत मगलवाद से सर्वथा भिन्न है। मार्क्सवादी दृष्टि स्थूल है जबकि भारतीय हितवादी दृष्टि सूक्ष्म।

मार्क्सवादी आलोचना के स्वरूप पर प्रकाश डालने की चेष्टा कई विद्वानो ने की है। इनमे डॉ० रामविलास शर्मा तथा अमृतराय के दृष्टिकोण विशेष सम्माननीय हैं। अमृतराय ने अपनी 'नई समीक्षा' नामक रचना मे अत्यन्त सक्षेप मे मार्क्सवादी समीक्षा का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए लिखा है—"मार्क्सवादी आलोचना साहित्य की वह समाजशास्त्रीय आलोचना है जो साहित्य के ऐतिहासिक तथा गतिशील पक्ष के सम्बन्ध का उद्घाटन करती है। —नई समीक्षा, पृ० ५

'हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास' शीर्षक रचना मे डा० भगवतदत्त मिश्र ने मार्क्सवादी आलोचना के स्वरूप को समझाते हुए लिखा है—"मार्क्सवादी जीवन शक्तियो के आधार पर कलाकृति की श्रेष्ठता स्वीकार करता है। इससे स्पष्ट है कि उसके मूल्याकन का आधार बौद्धिक है। पर यह मान लेना कि मार्क्सवादी आलोचना कला मे भाव तत्त्व की आवश्यकता नही समझती अथवा उसको गौण महत्त्व देती है, इस आलोचना के वास्तविक स्वरूप का न समझना मात्र है। कला का प्रभाव बुद्धि पर ही नही, अपितु हृदय पर भी पडता है। भाव, सवेदना और शैली की सजीवता के कारण एक कलाकृति अपेक्षाकृत कम गम्भीर और उलझे हुए बुद्धि तत्त्व के साथ भी, सवेदना तत्त्व की प्रौढ बुद्धि तत्त्व वाली कला-कृति से कही उत्कृष्ट मानी जावेगी।" —पृ० ५२१

हमारी समझ मे मार्क्सवादी आलोचना ऐतिहासिक आलोचना का वह विकसित रूप है जिसमे भाव पक्ष का बौद्धिक एव उपयोगितावादी उदघाटन तथा शैली के सरल, स्वाभाविक एव जन समवेद्य स्वरूप सन्निहित रहता है। सक्षेप मे इस प्रकार की आलोचना-पद्धति की निम्नलिखित विशेषताएँ निर्दिष्ट की जा सकती हैं—

(१) मार्क्सवादी आलोचक काव्य के उपयोगितावादी पक्ष का उद्घाटन करता है। काव्य जितना ही अधिक उपयोगी होता है उसकी दृष्टि मे वह उतना ही अधिक श्रेष्ठ होता है।

(२) मार्क्सवादी आलोचक काव्य मे प्रेषणीयता को सर्वाधिक महत्त्व देता है। जिस कलाकार की रचना मे भावो और विचारो के प्रेषण की जितनी अधिक शक्ति होती है, वह मार्क्सवादी आलोचक की दृष्टि मे उतना ही उत्तम है। २

(३) मार्क्सवादी आलोचक काव्य मे मिथ्या चमत्कार, निरर्थक अलकारिकता, झूठे अभिव्यक्ति सौष्ठव को कोई महत्त्व नही देता। उसकी आलोचना की कसौटी काव्यशास्त्र के प्रतिष्ठित प्रतिमान नही होते। परम्परागत काव्योक्त उपादानो के प्रकाश मे वह अपनी आलोचना नही लिखता।

(४) मार्क्सवादी आलोचक उसी रचना के वर्ण्य-विषय को महत्त्वपूर्ण समझता है जो जनवादी और जनोपयोगी हो।

(५) मार्क्सवादी की दृष्टि मे भौतिक यथार्थवाद का बड़ा महत्त्व है। यह भौतिक यथार्थवाद सामाजिक यथार्थवाद के नाम से भी प्रसिद्ध है। जिस रचना मे इसका रूप जितना भव्य और स्पष्ट होता है, मार्क्सवादी आलोचक की दृष्टि मे वह रचना उतनी ही महान् होती है।

(६) मार्क्सवादी समालोचक उपर्युक्त तत्त्वो को महत्त्व देते हुए भी कभी यह नहीं करता कि अनुभूति की गहराई और सवेदना की उपेक्षा करे। सच तो यह है कि मार्क्सवादी समालोचक अनुभूति की गहराई को उतना ही महत्त्व देता है जितना कि सौष्ठववादी आलोचक देता है।

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है कि "वे (मार्क्सवादी) कवि, कलाकार अथवा साहित्य की व्यक्तिगत स्थिति और मनोभावना का आधार लेकर यह देखना चाहते हैं कि कौनसा कवि आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न था, उच्च वर्ग का था और कौनसा कवि विपन्न और दरिद्र था। जो कवि निम्न-वर्ग का रहा हो वही प्रगतिशील और समुन्नत माना जायगा। (आधुनिक साहित्य, पृ० ३१०) किन्तु वाजपेयीजी का दृष्टि-कोण एकपक्षीय और पक्षपातपूर्ण है। कुछ निम्न कोटि के समालोचक इस प्रकार की भावना से चाहे कभी अभिभूत हो गए हो किन्तु स्वस्थ मार्क्सवादी कलाकार कभी ऐसा नही करता। वास्तव मे इस प्रकार की स्वस्थ आलोचना पद्धति के प्रति पक्षपातपूर्ण मत निश्चित करना ठीक नही है।

शुक्लोत्तर युग की कुछ अन्य आलोचना पद्धतियाँ

शुक्लोत्तर युग मे हमे कुछ निम्नलिखित कोटि की और आलोचना पद्धतियाँ भी प्रचलित दिखाई पड़ती है। इनमे से कुछ तो शुक्ल युग से पूर्व से ही चली आ रही हैं। उनका विकास-भर शुक्लोत्तर युग मे हुआ है, और कुछ शुक्लोत्तर युग मे ही विकसित हुई हैं। सक्षेप मे वे इस प्रकार है—

१. विश्लेपणात्मक आलोचनाएँ।
२. ऐतिहासिक आलोचनाएँ।
३. सैद्धान्तिक आलोचनाएँ।
४. अनुसधानात्मक आलोचनाएँ।

विश्लेषणात्मक आलोचनाएँ—शुक्लोत्तर युग मे कुछ ऐसी आलोचनाएँ लिखी गई है जिनमे अन्य तत्त्वो की अपेक्षा विश्लेपण को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। इस कोटि की आलोचनाओ की अपनी कुछ निम्नलिखित विशेपताएँ हैं—

(क) इस कोटि के अन्तर्गत सभी प्रकार की समालोचनाएँ आ जाती हैं, चाहे वे व्याख्या-प्रधान, सौष्ठववादी, निर्णयात्मक, या प्रगतिवादी हो। इनमे से किसी भी कोटि मे जब विश्लेपण को अन्य तत्त्वो की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया जाने लगता है, तब वह विश्लेपणात्मक हो जाती है।

(ख) विश्लेपणात्मक समीक्षाओ मे हमे कवि के अन्तर्जगत और उसके बहिर्जगत दोनो की समान भाव से समीक्षा मिलती है।

(ग) विश्लेपणात्मक समीक्षा मे विवेचन की वैज्ञानिक प्रक्रिया को ही अधिक महत्त्व दिया जाता है। यही कारण है कि इस प्रकार की आलोचनाएँ विद्यार्थियो के लिए अधिक उपयोगी होती हैं।

(घ) इस कोटि की आलोचनाओ का अपना एक अलग मानदण्ड होता है, जिसमे पाश्चात्य और प्राच्य दोनो प्रकार के प्रतिमानो का सामजस्य पाया जाता है।

(ङ) इस कोटि की आलोचनाओ की भाषा, सरल, सुबोध और स्वाभाविक होती है। प्रपेणीयता इस कोटि की आलोचनाओ की सबसे बड़ी विशेपता होती है।

(च) इस प्रकार की आलोचनाएँ किसी कवि विशेप को अथवा कवि विशेष की रचना विशेष को लेकर लिखी जाती है।

हिन्दी के प्रमुख विश्लेषणात्मक आलोचना ग्रन्थ

हिन्दी मे हमे विश्लेषणात्मक आलोचनाएँ प्राय दो रूपो मे मिलती है। एक छात्रोपयोगी सामान्य रचनाओ के रूप मे, तथा दूसरे अनुसधानात्मक प्रबन्धो के रूप मे।

सामान्य कोटि की छात्रोपयोगी विश्लेषणात्मक आलोचनाएँ—इस कोटि की आलोचनाएँ अधिकतर हमे 'एक अध्ययन', एक परिचय', 'एक अनुशीलन', 'साधना' आदि के अभिधानो से मिलती है। इनमे एक अध्ययन नाम की आलोचनाओ की तो इधर भरमार हो गई है। कुछ प्रसिद्ध 'एक अध्ययन' इस प्रकार है—

'साकेत एक अध्ययन'—डॉ० नगेन्द्र, 'सूरदास एक अध्ययन', डॉ० रामरतन भटनागर, 'सूरदाम · आलोचनात्मक अध्ययन', परमेश्वर दीन वर्मा, 'विद्यापति : एक अध्ययन'—रामरतन भटनागर, 'मीरा · एक अध्ययन'—पद्मावती शबनम्, 'विहारी : एक अध्ययन'—रामरतन भटनागर, 'तुलसीदास एक अध्ययन'—रामरतन भटनागर, 'जायसी एक अध्ययन'—रामरतन भटनागर, 'केशवदास एक अध्ययन'—रामरतन भटनागर, 'कबीरदास एक अध्ययन'—रामरतन भटनागर, 'स्कन्दगुप्त : एक अध्ययन'—मुरलीधर बाजपेयी, 'स्कन्दगुप्त एक अध्ययन'—प्रेमनारायण टण्डन, 'चन्द्रगुप्त एक अध्ययन'—शम्भूनाथ पाण्डेय, 'ककाल एक अध्ययन'—राम खिलावन चौधरी, 'प्रेमाश्रम एक अध्ययन'—प्रेम नारायण टण्डन, 'कर्मभूमि : एक अध्ययन'—प्रेमनारायण टण्डन, 'सेवा-सदन एक अध्ययन'—रामखिलावन, 'गोदान एक अध्ययन'—प्रेमनारायण टण्डन, 'प्रसाद एक अध्ययन'—गोपीनाथ व्यक्ति, 'नूरजहाँ एक अध्ययन'—भगवतशरण उपाध्याय, 'प्रियप्रवास एक अध्ययन'—भवानीशकर द्विवेदी, 'पचवटी एक अध्ययन'—लक्ष्मीनारायण टण्डन, 'गु जन एक अध्ययन'—वासुदेवनन्दन, 'कामायनी का सरल अध्ययन'—सत्यकाम विद्यालकार, 'निराला एक अध्ययन'—रामरतन भटनागर, 'प्रगतिवाद : एक अध्ययन'—धर्मवीर भारती।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी साहित्य के आलोचना-क्षेत्र मे एक अध्ययनो की एक लम्बी-चौडी परम्परा चल पडी है। इन अध्ययनो के अतिरिक्त हमे विश्लेपणात्मक ढग की आलोचना से सम्बन्धित कुछ सामान्य कोटि की परिचयात्मक आलोचनाएँ भी मिलती हैं। यह अधिकतर परीक्षार्थियो को दृष्टि मे रखकर लिखी गई है।

सामान्य कोटि की परीक्षार्थियों के उपयोग की विश्लेषणात्मक पद्धति पर लिखी गई रचनाएँ—एक अध्ययनो के अतिरिक्त सामान्य स्तर की विश्लेषणात्मक रचनाए और भी कई रूपो मे मिलती है। सक्षेप मे इस कोटि की कुछ प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार है—

'उद्धव शतक परिशीलन'—अशोक कुमार सिंह, 'पद्माकर की काव्य-साधना'—गगाप्रसाद सिंह, 'प्रेमचन्द : एक विवेचन'—इन्द्रनाथ मदान, 'जयशकर प्रसाद · चिन्तन और कला'—इन्द्रनाथ मदान, 'मलिक मुहम्मद जायसी'—कमल कुल श्रेष्ठ, 'गुप्तजी की यशोधरा'—कृष्णकुमार सिंह, 'प्रसाद जी का चन्द्रगुप्त'—कृष्णकुमार, 'प्रसाद जी का अजातशत्रु'—कृष्णकुमार, 'दिनकर और उनका कुरुक्षेत्र'—कृष्णकुमार, 'हरिऔध और उनका प्रिय-प्रवास'—कृष्ण कुमार, 'केशव की काव्य कला'—कृष्ण शकर शुक्ल, 'विद्यापति का अमर काव्य'—गुणानन्द जुयाल, 'कवि निराला और उनका काव्य-साहित्य'—गिरीशचन्द्र तिवारी, 'सुमित्रा-नन्दन पन्त'—तारकनाथ वाली, 'महादेवी वर्मा'—तारकनाथ वाली, 'युगदृष्टा कबीर'—तारकनाथ वाली, 'सेनापति और उनका काव्य'—दुर्गाशकर मिश्र, 'गुप्त-जी की यशोधरा'—धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी।

ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धति

जेम्स स्काट के मतानुसार इतिहास लेखन बहुत निम्न कोटि की समालोचना है। उसने लिखा है—'साहित्य के इतिहासकार और आलोचनाकार मे भेद स्थापित करना आवश्यक है। किसी साहित्यकार की उपलब्ध सामग्री के अनुसधान कार्य और उसके मूल्याकन मे भेद है। साहित्य का इतिहास चाहे सकलन प्रामाणिकता के परीक्षण एव टिप्पण का अमूल्य कार्य करे, किन्तु फिर भी प्रायः निम्न श्रेणी का आलोचक होता है। ठीक इसके विपरीत नीर-क्षीर विवेकी साहित्यालोचक मे निम्न श्रेणी की ग्रन्थ राशि की परीक्षा वा विवेचना की न तो वृत्ति होती है और न वह उसके लिए श्रम ही करता है। फिर भी वह यदा-कदा साहित्य का श्रेष्ठ इतिहास-कार होता है।"

—दि मेकिंग आफ लिटरेचर, पृ० २४-२५

मैं स्काट के उपर्युक्त मत से बिलकुल सहमत नहीं हूँ। मेरी समझ मे इतिहास-लेखन का कार्य साधारण समालोचक नहीं कर सकता। आचार्य शुक्ल ने इतिहास-लेखन के सम्बन्ध मे लिखा है, "जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का सक्षिप्त प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्त-वृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप मे भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियो की परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ उनका सामजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है।"

—इतिहास, पृ० ५१

उपर्युक्त उद्धरण यही प्रमाणित करता है कि इतिहासकार का दायित्व सामान्य आलोचक के दायित्व से कठिनतर होता है। सामान्य आलोचक को आलोचना का कसौटी सामने रखनी पडती है। उसका अनुसधाता और इतिहास विज्ञ होना

आवश्यक नही होता। किन्तु इतिहास-लेखक के लिए अन्वेषक और ऐतिहासिक दोनो ही होना उतना ही आवश्यक है जितना कि आलोचक होना। इस प्रकार साहित्य का इतिहास-लेखक, अनुसधान-कर्त्ता, इतिहासज्ञ और समालोचक तीनो होता है। अत स्पष्ट है कि इतिहास लेखक सामान्य आलोचक की अपेक्षा उच्चतर होता है।

यहाँ पर हम एक दूसरे भ्रम का निराकरण भी कर देना चाहते है। कुछ लोग कहते है कि साहित्य के इतिहास मे व्यक्तियो की आलोचना नही होती और हो भी नही सकती। यह बात हडसन के निम्नलिखित शब्दो से प्रकट होती है—

"किसी राष्ट्र का साहित्य केवल विविध प्रकार के उन ग्रन्थो का जो किसी विशेप काल मे लिखे जाते है, सकलन मात्र नही होता, बल्कि वह विविध कालो के विकास का सापेक्षिक अध्ययन होता है, जिसमे उन कालो के राष्ट्रीय चरित्र की अभिव्यक्ति रहती है।"

—इन्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी आफ लिटरेचर, पृ० ३२, लेखक हडसन

टेन साहब का मत भी लगभग ऐसा ही है। उन्होने लिखा है कि ऐसा देखने मे आता है कि साहित्य की रचना केवल कल्पना या उत्तेजित मस्तिष्क की एकान्तिक सनक भर नही है। उसमे विशेप प्रकार के मस्तिष्क से सम्बन्धित आचारो-विचारो की अभिव्यक्ति रहती है।

—हिस्ट्री आफ इगलिश लिटरेचर, ले० टेन, भूमिका पृ० १

इन उद्धरणो से प्रकट है कि साहित्य के इतिहास प्रणयन मे साहित्यकार के व्यक्तित्व की उपेक्षा नही की जा सकती। वास्तव मे साहित्य का इतिहास उसी को कहते है जो विविध कालो मे क्रम से विकसित होने वाली सास्कृतिक प्रवृत्तियो के प्रकाश मे युग विशेप के रचनाकारो के क्रमबद्ध विवरण प्रस्तुत करता है।

हिन्दी साहित्य के कुछ महत्त्वपूर्ण इतिहास ग्रन्थो का विवरण

(१) इस्त्वादला लितेरात्यूर ऐदूइऐ हिन्दुस्तान—गासी हितासी।
(२) भापा काव्य-सग्रह—महेशदत्त शुक्ल।
(३) शिवसिंह सरोज—शिवसिंह सेंगर।
(४) मार्डन वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान—ग्रियर्सन।
(५) हिन्दी कोविद रत्नमाला—श्यामसुन्दरदास।
(६) मिश्रबन्धु विनोद—मिश्रबन्धु।
(७) नव रत्न—मिश्रबन्धु।
(८) कविता कौमुदी—रामनरेश त्रिपाठी।
(९) ए स्कैच ऑफ हिन्दी लिटरेचर—ऐडविन ग्रीव्स।
(१०) ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दी लिटरेचर—एफ० ए० के०।
(११) हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।
(१२) हिन्दी साहित्य—डॉ० श्यामसुन्दरदास।

(१३) हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास—अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'।
(१४) हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास—डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री।
(१५) हिन्दी साहित्य का इतिहास—रमाशकर शुक्ल, 'रसाल'।
(१६) साहित्य की झाँकी—डॉ० सत्येन्द्र।
(१७) हिन्दी साहित्य—हजारीप्रसाद द्विवेदी।
(१८) हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास—चतुरसेन शास्त्री।
(१९) हिन्दी भाषा और साहित्य—डा० उदयनारायण तिवारी।
(२०) राष्ट्रभाषा का इतिहास—किशोरीदास वाजपेयी।
(२१) हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास—डा० भगीरथ मिश्र।
(२२) हिन्दी साहित्य और उसकी प्रगति—विजयेन्द्र स्नातक।
(२३) हिन्दी साहित्य के विकास की रूपरेखा—रामअवध द्विवेदी।

कुछ सामान्य कोटि के छात्रोपयोगी सक्षिप्त हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थ

(१) हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि—विशम्भरनाथ उपाध्याय।
(२) हिन्दी साहित्य परिचायिका—कृष्णदत्त गौड।
(३) हिन्दी साहित्य का विकास—कृष्णानन्द पन्त।
(४) हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास—बाबू गुलाबराय।
(५) हिन्दी साहित्य का सक्षिप्त इतिहास—बाबू गुलाबराय।
(६) हिन्दी साहित्य का सक्षिप्त इतिहास—गोपालदास खन्ना।
(७) हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास—देवीशरण रस्तोगी।
(८) हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास—पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'
(९) हिन्दी साहित्य—पन्नालाल, पदुमलाल बख्शी।
(१०) हिन्दी साहित्य और उसका इतिहास तथा उसका विकास—प्रेमलता अग्रवाल।
(११) हिन्दी साहित्य का परिचय—डॉ० भगवत स्वरूप मिश्र।
(१२) हिन्दी साहित्य का इतिहास—डॉ० रामकुमार वर्मा और त्रिलोकी-नारायण दीक्षित।
(१३) हिन्दी साहित्य—रामरतन भटनागर।
(१४) हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास—रामबहोरी शुक्ल।
(१५) हिन्दी साहित्य और साहित्यकार—सुधाकर पाण्डेय।
(१६) हिन्दी साहित्य का प्रामाणिक इतिहास—सूरजप्रसाद सिंह।
(१७) हिन्दी साहित्य की परम्परा—हसराज अग्रवाल।
(१८) हिन्दी साहित्य की प्रगति—क्षेमचन्द्र सुमन।

यह सूची हुई उन इतिहास ग्रन्थो की जो हिन्दी साहित्य के सम्पूर्ण कालो को लेकर लिखे गए। अब हम कुछ काल विशेष पर लिखे गए इतिहास ग्रन्थो की भी थोडी सी चर्चा कर देना चाहते है। बहुत से विद्वानो ने हिन्दी साहित्य के किसी

काल विशेष को लेकर उसके इतिहास का अच्छा विवेचन किया है। उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(क) आदि काल से सम्बन्धित इतिहास ग्रन्थ

(१) हिन्दी साहित्य का आदि काल—डॉ० हजारी प्रकार द्विवेदी।
(२) अपभ्रंश साहित्य—डॉ० हरवंश कोछड़।
(३) हिन्दी साहित्य के विकास में अपभ्रंश को योग—नामवरसिंह।
(४) सिद्ध साहित्य—धर्मवीर भारती।
(५) नाथ सम्प्रदाय—आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

(ख) वीरगाथा काल

(१) हिन्दी वीर काव्य—टीकमसिंह तोमर।
(२) वीर काव्य—उदयनारायण तिवारी।

(ग) सम्पूर्ण भक्ति काल के इतिहास को लेकर चलने वाली रचनाएँ

(१) हिन्दी काव्य की भक्तिकालीन प्रवृत्तियाँ और उनके मूल श्रोत—सत्यदेव चतुर्वेदी।
(२) हिन्दी भक्ति-काव्य—रामरतन भटनागर।
(३) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ—सावित्री सिन्हा।

(घ) सन्त-काव्य पर लिखे गए इतिहास ग्रन्थ

(१) हिन्दी-काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डॉ० बड्थ्वाल।
(२) हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि—डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत।
(३) सन्त दर्शन—त्रिलोकीनारायण दीक्षित।
(४) उत्तरी भारत की सन्त परम्परा—आ० परशुराम चतुर्वेदी।
(५) निर्गुण काव्य-दर्शन—सिद्धनाथ तिवारी।
(६) हिन्दी को मराठी सन्तो की देन—विनयमोहन शर्मा।
(७) सन्त-काव्य—परशुराम चतुर्वेदी।
(८) मध्यकालीन धर्म-साधना—हजारीप्रसाद द्विवेदी।

(ङ) सूफी काव्यधारा से सम्बन्धित इतिहास ग्रन्थ

(१) सूफीमत साधना और साहित्य—रामपूजन तिवारी।
(२) भारतीय प्रेमाख्यान की परम्परा—परशुराम चतुर्वेदी।
(३) प्रेमाख्यानक काव्य—कमल कुलश्रेष्ठ।

(च) राम काव्यधारा से सम्बन्धित इतिहास ग्रन्थ

(१) राम-कथा का विकास—कामिल बुल्के।
(२) राम काव्यधारा का रसिक सम्प्रदाय—डॉ भगवती प्रसाद सिंह।

(छ) कृष्ण काव्यधारा से सम्बन्धित इतिहास ग्रन्थ

(१) अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—दीनदयाल गुप्त।

(२) अष्टछाप—धीरेन्द्र वर्मा ।
(३) राधा का क्रम विकास—शचिभूषण गुप्त ।

(ज) रीतिकाल से सम्बन्धित इतिहास ग्रन्थ

(१) रीतिकाल की भूमिका—डा० नगेन्द्र ।
(२) रीति-शृगार—डा० नगेन्द्र ।
(३) रीतिकालीन हिन्दी कविता—रामचन्द्र तिवारी ।
(४) रीतिकालीन कविता और शृगार रस का विवेचन ।
(५) हिन्दी रीति-साहित्य—डा० भगीरथ मिश्र ।
(६) हिन्दी रीतिकाल—ओम्प्रकाश अग्रवाल ।

(झ) आधुनिक काल तथा उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों से सम्बन्धित इतिहास ग्रन्थ

इस कोटि के ग्रन्थो को भी हम दो भागो मे बॉट सकते हैं। एक तो वे जो सम्पूर्ण काल को लेकर चले है और दूसरे वे जो उसके किसी वाद विशेष पर प्रकाश डालते हैं।

(अ) आधुनिक काल की समष्टिमूलक विवेचना करने वाले ग्रन्थ

(१) आधुनिक साहित्य—नन्ददुलारे वाजपेयी ।
(२) हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी—नन्ददुलारे वाजपेयी ।
(३) नया साहित्य—नये प्रश्न—नन्ददुलारे वाजपेयी ।
(४) आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास—कृष्णशकर शुक्ल ।
(५) आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास—डॉ० श्रीकृष्णलाल ।
(६) आधुनिक हिन्दी साहित्य—प्रकाशचन्द्र गुप्त ।
(७) नया हिन्दी साहित्य—प्रकाशचन्द्र गुप्त ।
(८) आधुनिक हिन्दी साहित्य—भोलानाथ तिवारी ।
(९) आधुनिक हिन्दी साहित्य—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ।
(१०) आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ।
(११) अर्द्ध-शताब्दी का इतिहास—विश्वनाथप्रसाद मिश्र ।
(१२) आधुनिक हिन्दी साहित्य—विजयेन्द्र स्नातक ।
(१३) आधुनिक साहित्य की परम्परा—विद्याभास्कर अरुण ।
(१४) हिन्दी साहित्य के ८० वर्ष—शिवदानसिंह चौहान ।
(१५) आधुनिक हिन्दी साहित्य—क्षेमचन्द्र सुमन ।
(१६) नई समीक्षा—अमृतराय ।
(१७) आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ—डॉ० नगेन्द्र ।
(१८) नई कविता के प्रतिमान—लक्ष्मीकान्त वर्मा ।
(१९) आधुनिक कविता की भाषा—व्रजकिशोर चतुर्वेदी ।
(२०) हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा—प्रकाशचन्द्र गुप्त ।
(२१) नई कविता—विशम्भर मानव ।
(२२) आधुनिक काव्यधारा—केसरीनारायण शुक्ल ।

(आ) आधुनिक वादों को लेकर चलने वाली रचनाएँ

(१) हिन्दी साहित्य मे विविध वाद—प्रेमनारायण शुक्ल ।
(२) वाद समीक्षा—डा० कन्हैयालाल सहल ।
(३) हिन्दी साहित्य के प्रमुख वाद और उनके प्रवर्त्तक—विशम्भरनाथ उपाध्याय ।
(४) हिन्दी के दो प्रमुख वाद—प्रेमनारायण टण्डन ।

(इ) छायावाद और रहस्यवाद के ग्रन्थ

(१) छायावाद—नामवरसिंह ।
(२) हिन्दी काव्य मे छायावाद—दीनानाथ शरण ।
(३) छायावाद के गौरव चिह्न—क्षेम ।
(४) छायावाद की काव्य-साधना—क्षेम ।
(५) छायावाद तथा रहस्यवाद का रहस्य—धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ।
(६) छायावाद का पतन—डा० देवराज ।
(७) हिन्दी काव्य मे छायावाद—गगाधर मिश्र ।
(८) छायावाद और रहस्यवाद—गगाप्रसाद ।
(९) कल्पना और छायावाद—केदारनाथ सिंह ।
(१०) छायावाद—रामरतन भटनागर ।
(११) रहस्यवाद—रामरतन भटनागर ।
(१२) कबीर और जायसी का रहस्यवाद—डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ।
(१३) रहस्यवाद और हिन्दी कविता—बाबू गुलाबराय ।

(ई) प्रगतिवाद—

(१) प्रगति और परम्परा—डॉ० रामविलास शर्मा ।
(२) प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ—डॉ० रामविलास शर्मा ।
(३) प्रगतिशील साहित्य के मापदण्ड—रागेय राघव ।
(४) प्रगतिवादी समीक्षा—धर्मवीर भारती ।
(५) प्रगतिवाद की रूपरेखा—मन्मथनाथ गुप्त ।
(६) हिन्दी काव्य मे प्रगतिवाद—विजयशकर मल्ल ।
(७) प्रगतिवाद की रूपरेखा—शिखरचन्द्र जैन ।
(८) साहित्य मे प्रगतिवाद—सोहनलाल ।

(उ) कुछ फुटकर रचनाएँ—

(१) आदर्श और यथार्थ—पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव ।
(२) वक्रोक्ति और अभिव्यजनावाद—रामनरेश वर्मा ।
(३) आधुनिक काव्य मे निराशावाद—शम्भूनाथसिंह ।

(४) ऊपर हमने हिन्दी साहित्य के इतिहास से सम्बन्धित कुछ प्रमुख ग्रन्थो की सूची दी है । इनके अतिरिक्त और भी वहुत से ग्रन्थ उपलब्ध है । इन ग्रन्थो मे

कुछ ग्रन्थ निश्चय ही बडे महत्त्वपूर्ण है, कुछ मध्य स्तर के है, और कुछ बहुत निम्न स्तर के भी है। कुछ ग्रन्थो मे इतिहास लेखन के सिद्धान्तो का अनुसरण किया गया है। कुछ यो ही विश्रृंखल ढग से लिख दिये गए है।

यहाँ पर स्थानाभाव के कारण उनकी आलोचना नही की जाती है।

सैद्धान्तिक समालोचना

इसी प्रसग मे हम सैद्धान्तिक आलोचना और उससे सम्बन्धित कुछ प्रमुख ग्रन्थो की चर्चा भी कर देना चाहते हैं। सैद्धान्तिक समालोचना के सिद्धान्त पक्ष का उद्घाटन हम पीछे कर आए है। यहाँ पर हमे केवल इतना ही कहना है कि इस दिशा मे हिन्दी मे कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नही हो पाया है। केवल कुछ ही उच्चकोटि के ग्रन्थ देखने मे आए है। उनके नाम क्रमश. इस प्रकार है—

(१) साहित्यालोचन—श्यामसुन्दरदास।
(२) सिद्धान्त और अध्ययन—बाबू गुलाबराय।
(३) काव्य के रूप—बाबू गुलाबराय।
(४) काव्य-दर्पण—रामधन मिश्र।
(५) जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त—लक्ष्मीनारायण सुधाशु।
(६) आलोचना, इतिहास तथा सिद्धान्त—के० पी० खत्री।
(७) आलोचना के सिद्धान्त, साहित्य और समीक्षा—बाबू गुलाबराय।
(८) समीक्षा-शास्त्र—दशरथ ओझा।
(९) आधुनिक समीक्षा—डॉ० देवराज।
(१०) साहित्य-समीक्षा—देवेन्द्रनाथ शर्मा।
(११) साहित्यालोचन के सिद्धान्त—प्रभुनारायण।
(१२) हिन्दी आलोचना के भिन्न श्रोत—प्रभुनारायण।
(१३) हिन्दी आलोचना का उद्भव और विकास—डॉ० भगवतस्वरूप।
(१४) साहित्यालोचन—भारतभूषण सरोज।
(१५) आलोचनाशास्त्र—मोहनवल्लभ पन्त।
(१६) आलोचना और आलोचक—डॉ० मोहनलाल।
(१७) आलोचनादर्श—रमाशंकर शुक्ल रसाल।
(१८) समीक्षा और आदर्श—रांगेय राघव।
(१९) समीक्षा शास्त्र—डॉ० रामकुमार वर्मा।
(२०) पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त—लीलाधर
(२१) समीक्षा के सिद्धान्त—डॉ० सत्येन्द्र।

ऊपर जिन ग्रन्थो की चर्चा की गई है वे अधिकतर समष्टि रूप से आलोचना के सिद्धान्तो का निर्देश करने के लिए दिये गए हैं। उपर्युक्त ग्रन्थो मे केवल दो-चार ग्रन्थ ही ऐसे हैं जिन्हें हम उच्चकोटि का ग्रन्थ मानने के लिए बाध्य होते है। अधिकाश ग्रन्थ सामान्य कोटि के हैं और विद्यार्थियो के उपयोग के लिए लिखे गए है।

उपर्युक्त ग्रन्थो के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं

जिनका सम्बन्ध शुद्ध भारतीय समीक्षा शास्त्र से है। इस दिशा मे आचार्य बल्देव-उपाध्याय और डॉ० नगेन्द्र ने सराहनीय कार्य किया है। बल्देव उपाध्याय का 'भारतीय साहित्य-शास्त्र' और डॉ० नगेन्द्र का 'भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका' तथा 'भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा' शीर्षक ग्रन्थ बहुत उच्चकोटि के है। इनके अतिरिक्त इधर सस्कृत काव्य-शास्त्र के मूल ग्रन्थो के हिन्दी अनुवाद की भी अच्छी प्रगति हुई है और कई महत्त्वपूर्ण अनुवाद प्रकाशित हुए है। इस दिशा मे आचार्य विशेश्वर ने अच्छा कार्य किया है। उन्होने 'हिन्दी काव्यालकार सूत्र-वृत्ति', 'ध्वन्यालोक', 'वक्रोक्ति जीवित' आदि के सुन्दर अनुवाद प्रकाशित किए है। उन पर लिखी गई डॉ० नगेन्द्र की भूमिकाएँ भी अपना एक विशिष्ट महत्त्व रखती हैं। इसके अतिरिक्त साहित्य-दर्पण, काव्यप्रकाश, काव्यादर्श आदि के भी हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो गए हैं। इधर भोलाशकर व्यास ने रसगगाधर और कुवलयानन्द नामक शास्त्रीय ग्रन्थो का अनुवाद करके हिन्दी की बडी सेवा की है। इस प्रसग मे हम कुछ उच्चकोटि के और छात्रोपयोगी रस अलकार और पिंगल-सम्बन्धी ग्रन्थो की भी चर्चा कर देना चाहते हैं। रस विवेचन क्षेत्र मे आचार्य शुक्ल लिखित 'रस-मीमासा', हरिऔध लिखित 'रस कलश', कन्हैयालाल पोद्दार लिखित 'रस मजरी', हरिशकर शर्मा प्रणीत 'रस रत्नाकर', और बाबू गुलाबराय कृत 'नव रस' विशेष उल्लेखनीय हैं। उच्च कोटि के अलकार ग्रन्थो मे कन्हैयालाल पोद्दार लिखित 'अलकार मजरी', आचार्य रसाल रचित 'अलकार पीयूष', लाला भगवान्दीन प्रणीत 'अलकार मजूषा', विशेष उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। पिंगल के ग्रन्थो मे रामनरेश त्रिपाठी कृत 'हिन्दी पद्य रचना', अवध उपाध्याय रचित 'नवीन पिंगल', रघुनन्दन शास्त्री लिखित 'छद प्रकाश', विशेष रूप से देखे जा सकते हैं। पिंगल, अलकार और रस से सम्बन्धित कुछ ऐसे भी ग्रन्थ लिखे गए हैं जो विद्यार्थियो के पाठ्यक्रम को दृष्टि मे रखकर लिखे गए है। इनमे विश्वनाथप्रसाद लिखित 'काव्याग कौमुदी', तथा रामबहोरी शुक्ल लिखित काव्य-प्रदीप' दृष्टव्य है।

अनुसधानात्मक आलोचना

अनुसधानात्मक आलोचना हमे दो रूपो मे मिलती है अनुसधानात्मक निबन्धो के रूप में, और दूसरे अनुसधानात्मक प्रबन्धो के रूप मे। यहाँ पर हम अनुसधानात्मक प्रबन्धो पर विचार करेंगे। यह अनुसधानात्मक प्रबन्ध अधिकतर पी-एच० डी० या डी० लिट्० की उपाधि के प्राप्त्यर्थ लिखे जा रहे हैं। पडित प्रशुराम चतुर्वेदी जैसे कुछ निष्काम साहित्य-सेवी बिना किसी उपाधि की लालसा और लोभ के ही उच्च कोटि के अनुसधानात्मक प्रबन्ध लिखने मे लगे हुए हैं।

अनुसधानात्मक प्रबन्धो का अपना अलग स्वरूप है। उसकी अपनी अलग विशेषताएँ हैं। यहाँ पर उनका विस्तार से निर्देश नही किया जा सकता। उसके ऊपर मैं एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिख रहा हूँ, किन्तु फिर भी यहाँ सक्षेप मे उसकी लेखन-कला के सम्बन्ध मे दो-चार आवश्यक बातें निर्दिष्ट की जा रही हैं।

प्रत्येक अनुसधानात्मक प्रबन्ध रचना के ६ चरण होते है—(१) विपय का

चुनाव, (२) रूपरेखा-निर्माण, (३) सामग्री-सचयन, (४) प्रथम वार लिखना, (५) द्वितीय वार लिखना, तथा (६) अन्तिम रूप देना।

(१) **विषय का चुनाव**—अनुसधानात्मक प्रवन्धो के सम्वन्ध मे सवसे पहली आवश्यक वात होती है उपयुक्त विषय का चुनना। अनुसधान के अनुरूप विषय चुनना थोड़ा कठिन होता है। अनुसधानोपयुक्त विषय चुनते समय कुछ विशेष वातो पर ध्यान देना चाहिए। अनुसधान के उपयुक्त वह विषय होता है जिसके सम्वन्ध मे पर्याप्त सामग्री उपलव्ध हो, किन्तु किन्ही कारणो से उपेक्षित होने के कारण अज्ञात पड़ी हो। दूसरी आवश्यक वात है विषय की उपयोगिता और गम्भीरता। अनुसधान का विषय यदि उपयोगी और गम्भीर है तो और भी अच्छा है। जिस विषय के अनुसधान से व्यष्टि और समष्टि का अधिक से अधिक ज्ञानवर्द्धन हो वह विषय उतना ही अच्छा समझना चाहिए। ऐसे विषयो पर भी अनुसधान हो सकता है जिनसे सम्वन्धित सामग्री का पूर्ववर्ती विद्वानो द्वारा पर्याप्त अन्वेषण और उपयोग किया जा चुका है किन्तु उपयु क्त और सही व्याख्या नही हो पाई है। ऐसे विषयो मे अनुसधानकर्त्ता की व्याख्यात्मक प्रतिभा का अच्छा प्रदर्शन हो सकता है। किन्तु इस प्रकार के विषयो को लेकर चलने की क्षमता साधारण कोटि के अनुसधान-कर्त्ताओ मे कम होती है। विशेष प्रतिभाशाली विद्वान् ही इस दिशा में सफल होते देखे जाते हैं। पुराने विषय की नवीन व्याख्या प्रस्तुत करते समय पुरानी व्याख्या का खण्डन भी अनुसधानकर्त्ता को करना चाहिए। खण्डन के विना कोई मण्डन पूर्ण नही होता। मण्डन के लिए आवश्यक सामग्री को भी पहले से ही खोज लेना चाहिए क्योकि कभी-कभी ऐसा होता है कि पुनर्व्याख्या के लिए जिन प्रमाणो की आवश्यकता होती है, उनसे सम्वन्धित सामग्री नही मिल पाती है और विषय अधूरा-सा ही रह जाता है। विवश होकर अनुसधानकर्त्ता को वह विषय अपूर्ण ही छोड़ना पड़ जाता है।

विषय चुनते समय एक वात और ध्यान मे रखनी चाहिए। अनुसधान का विषय न तो वहुत वडा और व्यापक होना चाहिए और न वहुत क्षुद्र और सकुचित ही। वहुत व्यापक विषय लेने से प्रवन्ध के अधिक विस्तृत हो जाने और गहराई तक न पहुँच पाने की आशका वनी रहती है। इसी प्रकार क्षुद्र और सकुचित विषय चुनने से भी कभी-कभी अनुसधानकर्त्ता को वहुत सी आवश्यक कठिनाइयो का सामना करना पड जाता है। उसे प्रवन्ध को विस्तृत करने के लिए अप्रासगिक पृष्ठभूमि या परवर्ती प्रभाव आदि का अनावश्यक विस्तार करना पडता है। जिससे प्रवन्ध का सौन्दर्य क्षीण हो जाता है।

इस प्रकार अनुसधानोपयुक्त विषय चुनते समय अनुसधानकर्त्ता को वडी विवेक-वुद्धि से कार्य लेना पडता है। इस प्रकार की वुद्धि अनुसधानकर्त्ताओ एव विद्यार्थियो मे प्रारम्भ मे वहुत कम पाई जाती है। अतएव उन्हे सदैव ही विषय का चुनाव करते समय अपनी रुचि के अनुरूप कई विषयो को लेजाकर किसी अधिकारी, अनुसधान कार्य निर्देशक तथा विद्वान से परामर्श लेनी चाहिए। जिस विषय को वह उचित

समझे अनुसंधित्सु को उसी पर कार्य करना चाहिए। अनुसंधान कार्य की बहुत बड़ी सफलता विषय के औचित्य पर निर्भर रहती है।

(२) **रूपरेखा-निर्माण**—विषय का चुनाव हो जाने पर उसकी रूपरेखा तैयार करना भी आवश्यक होता है। किन्तु रूपरेखा तैयार करना भी बहुत सरल कार्य नही है, रूपरेखा तैयार करते समय अनुसंधित्सु को निम्नलिखित बातो पर ध्यान देना चाहिए।

(क) विषय के किसी विशेषज्ञ अथवा किसी अन्य उच्चकोटि के विद्वान् के पास जाकर विषय से सम्बन्धित ग्रन्थो की एक सूची तैयार कर लेनी चाहिए। उनमे से भी उसकी परामर्श के अनुरूप कुछ विशेष ग्रन्थो को एक बार ध्यान से पढ लेना चाहिए।

(ख) रूपरेखा बनाते समय समकक्ष प्रबन्ध, जो उपाधि के लिए प्रस्तुत किए जा चुके हैं, अवश्य सामने रख लेना चाहिए। उनकी शैली का आश्रय लेते हुए अपनी प्रतिभा की पुट देकर अपने विषय की रूपरेखा तैयार करनी चाहिए। इस प्रकार जब रूपरेखा तैयार हो जावे तो किसी सुयोग्य अनुसंधान कार्य-निर्देशक को दिखला कर उसमे उचित और आवश्यक परिष्कार कर लेने चाहिएँ।

(३) **सामग्री-सचयन**—रूपरेखा के तैयार हो जाने पर तथा विश्वविद्यालय द्वारा उसके स्वीकृत किये जा चुकने पर अनुसंधित्सु को सामग्री एकत्र करने का प्रयास करना चाहिए। सामग्री-चयन भी कई प्रकार से और कई रूपो मे किया जाता है। कुछ सामग्री ऐसी होती है जो पुस्तकालयो से उपलब्ध होती है, कुछ ऐसी होती है जो विशेष व्यक्तियो से उपलब्ध होती है, तथा कुछ ऐसी होती है जो विशेष स्थानो से प्राप्त होती है। अनुसंधित्सु को सबसे पहले सामग्री के इन श्रोतो की एक सूची अनेकानेक विद्वानो से मिलकर समुचित रूप से तैयार कर लेनी चाहिए। फिर उन पुस्तकालयो, व्यक्तियो या स्थानो मे जाकर अज्ञात सामग्री की खोज करनी चाहिए और उनकी प्रामाणिकता भी निश्चित कर लेनी चाहिए। यदि सामग्री प्रमाणिक हो तो उसकी सम्पूर्ण रूपरेखा बना लेनी चाहिएँ।

पुनश्च उसे अपने निर्देशक को दिखा देना चाहिए और आवश्यक विचार-विनियम करके यदि किन्ही सशोधनो की आवश्यकता हो, उन्हे कर लेना चाहिए। उस रूपरेखा के अनुरूप फिर अपना कार्य प्रारम्भ करना चाहिए। पहले विषय से सम्बन्धित मूल सामग्री के एकत्रीकरण मे सलग्न होना चाहिए। जब सब व्यक्तियो और स्थानो से मूल सामग्री उपलब्ध हो जावे तो फिर उसकी एक सूची बना डालनी चाहिए। उस सूची मे निम्नलिखित बातें स्पष्ट होनी चाहिएँ।

(अ) वह सामग्री कहाँ से और किस व्यक्ति से प्राप्त हुई? (आ) उस सामग्री की क्या रूपरेखा है? (इ) उसके सम्बन्ध मे विद्वानो की क्या धारणाएँ है? (ई) उसकी क्या विशेषताएँ हैं? इसके अतिरिक्त एक सूची उस मूल सामग्री की भी तैयार करनी चाहिए जो किन्ही विशेष स्थानो अथवा व्यक्तियो तक सीमित है तथा अनुसंधित्सु को किसी भी प्रकार उपलब्ध नही हो पाई है। उस सामग्री की भी

उपर्युक्त ढग पर एक विवरणात्मक तालिका वना लेनी चाहिए। मूल सामग्री का जब इस प्रकार विवरण तैयार हो जावे तो फिर विषय से सम्बन्धित अन्य परिचयात्मक और आलोचनात्मक ग्रन्थो के अध्ययन में लगना चाहिए। इन ग्रन्थो का अध्ययन करते समय अनुसधित्सु कई क्रमो का अनुसरण कर सकता है। अधिक अच्छा क्रम हमारी समझ मे इस प्रकार होगा—जव एक पुस्तक पढना प्रारम्भ किया जावे तो सबसे पहले उस पुस्तक का नाम, लेखक, सस्करण तथा उसकी विषयानुक्रमणिका पूरी तौर से उतार लेनी चाहिए। तत्पश्चात् उस पुस्तक का अध्ययन प्रारम्भ करना चाहिए। अपनी नोटवुक मे प्रत्येक पृष्ठ की पृष्ठ सख्या देते हुए उसमे जो कुछ भी आवश्यक सामग्री उपलब्ध होती है, उसे उतार लेना चाहिए। जिस नोटवुक पर यह सामग्री उतारी जावे उसमे सदैव एक कार्वन कापी भी तैयार करते रहना चाहिए। अर्थात् दो पृष्ठो का एक पृष्ठ वनाकर वीच मे कार्वन रखकर ही नोट्स उतारे जावें। प्रत्येक अवतरण के वीच मे दो पक्तियो का स्थान छोड देना चाहिए। इस कार्य के लिए फुलस्केप पृष्ठ अधिक अच्छे रहते है। इस क्रम से सम्पूर्ण आवश्यक पुस्तको का अध्ययन कर डालना चाहिए। जव सहायक पुस्तको का अध्ययन समाप्त हो जाय तो फिर अपने वनाए हुए नोट्स की एक प्रति को अलग करके उसको जिल्द मे वँधवा देना चाहिए। कार्वन प्रति को लेकर प्रत्येक अध्याय के अन्तर्गत आने वाले शीर्पक और उपशीर्पको के अनुरूप वाँटते जाने चाहिए। ऐसा कदापि नही होना चाहिए कि थीसिस की रुपरेखा के प्रत्येक अध्याय के प्रत्येक शीर्पक से सम्बन्धित सामग्री एक स्थल पर हो जावे, पहले उसे वर्णन-क्रम से सँजो लेना चाहिए। फिर थीसिस को लिखने का प्रयास करना चाहिए।

(४) **थीसिस का प्रथम वार लेखन**—जव समस्त सहायक ग्रन्थों का अध्ययन समाप्त हो जाय, तो फिर मूल ग्रन्थो का अध्ययन प्रारम्भ करना चाहिए। मूल ग्रन्थो मे आए हुए आवश्यक उद्धरण भी सहायक ग्रन्थो के ढग पर उतार लेने चाहिएँ। उन्ही के सदृश पहली प्रति को जिल्द मे वँधवा लेना चाहिए और दूसरी प्रति को उसी ढग पर शीर्पको के अनुरूप काट-काट कर वर्गीकृत कर लेना चाहिए। इस प्रकार सहायक ग्रन्थो और मूल ग्रन्थो की सामग्री अध्यायो, शीर्पको और उपशीर्पको मे वँट जावेगी। एक-एक शीर्पक की सामग्री एक-एक स्वतन्त्र जिल्द मे कर लेनी चाहिए। यह कार्य समाप्त हो जाने पर थीसिस को पहली वार लिखने का प्रयास करना चाहिए। प्रथम अध्याय को सर्वप्रथम लिखना चाहिए। प्रथम अध्याय के लिखने के लिए उपर्युक्त सामग्री के अतिरिक्त और जिस सामग्री की आवश्यकता अनुभव होती है, उसको भी समेटकर इस प्रकार लिखना चाहिए कि सहायक ग्रन्थो के समस्त खण्डनात्मक और मण्डनात्मक विचार-विन्दु एव उद्धरण तथा मूल ग्रन्थो के समस्त आवश्यक उद्धरण उस लेखन मे अवश्य स्थान पा जावें। साथ ही उनका स्पष्टीकरण भी हो जाय। ऐसा करने मे प्राय अधिक विस्तार हो जाता है। उस विस्तार से डरना नही चाहिए। प्रथम वार लेखन मे लेखक का सबसे आवश्यक कार्य यही होता है कि वह अपने लेखन मे सम्पूर्ण सामग्री का पूरा-पूरा उपयोग कर ले।

इस प्रकार जब एक अध्याय या एक शीर्षक लिख जावे तो फिर उसके सम्बन्ध में अपने निर्देशक से विचार-विनिमय करना चाहिए।

यदि निर्देशक महोदय उसे देखकर आवश्यक सुझाव देने की कृपा कर सकें तो और भी अच्छा है। जो सुझाव निर्देशक के द्वारा प्राप्त हो उन्हे हाशिये पर नोट कर लेना चाहिए। इसी प्रकार सब अध्यायो को लिखने का प्रयत्न करना चाहिए। इस स्थिति मे ही लेखक को अपनी रूपरेखा मे आवश्यक परिवर्तन करने का भी प्रयास करना चाहिए। किन्तु परिवर्तन निर्देशक की अनुमति और विषय प्रतिपादन की अपेक्षा के अनुरूप ही किए जाने चाहिएँ। इस प्रकार एक बार सम्पूर्ण थीसिस लिख डालनी चाहिए। जब प्रथम बार का लेखन समाप्त हो जावे और निर्देशक महोदय के सम्पूर्ण रचना के सम्दन्ध मे आवश्यक सुझाव प्राप्त हो जावें तो फिर रचना का एक दो बार स्वय मनोयोग के साथ अध्ययन करना चाहिए और उसमे कुछ नई सामग्री, जिसका पता अनुसधित्सु को बाद मे लगा है, का भी हाशिये पर उल्लेख करते जाना चाहिए। यदि कोई सुयोग्य विद्वान् समीप मे हो तो उनसे भी सारी रचना दिखलाकर के विचार-विनिमय कर लेना चाहिए और वे जो सुझाव दें, उनको भी हाशिये पर नोट कर लेना चाहिए। इस प्रकार प्रथम बार का लेखन समाप्त हो जाता है। प्रथम बार के इस लेखन मे प्राय थीसिस की रूपरेखा १,००० पृष्ठो तक भी पहुँच सकती है। किन्तु इस विस्तार से भयभीत नही होना चाहिए। इसका आवश्यक मर्यादन और मार्जन द्वितीय बार के लेखन मे स्वयमेव हो जाता है।

(५) **थीसिस का दूसरी बार लिखना**—थीसिस को दूसरी बार लिखते समय आवश्यकतानुरूप इस प्रकार लिखने का प्रयास करना चाहिए कि उसका आकार भी छोटा होता चले और सम्पूर्ण सामग्री भी समाविष्ट हो जावे और निर्देशक के सभी सुझावो के अनुरूप, सवर्द्धन, मार्जन और मर्यादन भी होता चले। इस प्रकार १,००० पृष्ठो की रचना को लगभग ५०० पृष्ठो मे समेटने का प्रयास करना चाहिए। ५०० पृष्ठ भी केवल विस्तृत विषय से सम्बन्धित थीसिस मे होने चाहिएँ। थीसिस का विषय यदि सकुचित हो तो ४००-४५० पृष्ठ ही पर्याप्त हो जाते हैं। जब इस प्रकार थीसिस दूसरी बार लिखा जावे तो फिर विषय के मर्मज्ञ और विशेषज्ञ विद्वानो से उसे देखने की प्रार्थना करनी चाहिए। इस अवस्था मे अनुसधित्सु को काफी ठोकरें भी खानी पड सकती हैं। क्योकि उसका कार्य विद्वानो की कृपा पर ही अवलम्बित रहता है। विद्वानो की कृपा-लाभ के लिए उसे अत्यधिक विनम्र, श्रद्धालु और सेवा-परायण बनना पडेगा। अनेक बार प्रार्थना करने पर भी हो सकता है कि विद्वान् इतनी विस्तृत रचना को आद्योपान्त देखकर आवश्यक सुझाव देने से इनकार भी कर दें। किन्तु अनुसधित्सु को निराश नही होना चाहिए। एक विद्वान् के द्वारा ठुकराए जाने पर दूसरे विद्वान् से प्रार्थना करनी चाहिए। हो सकता है वह अधिक उदारचेता निकले। इस प्रकार कम से कम तीन विद्वानो की सम्मतियाँ और सुझावो को प्राप्त करके यथास्थान नोट कर लेना चाहिए।

(६) **थीसिस को अन्तिम रूप देना**—जब विशेषज्ञ विद्वानो की सम्मतियाँ और सुझाव प्राप्त हो जावे तो फिर उनके अनुरूप अपनी रचना मे लेखक को संस्कार कर डालने चाहिएँ और फिर उसकी स्वच्छ और शुद्ध एक ऐसी प्रति तैयार करनी चाहिए जिसमे एक भी अशुद्धि न हो, एक शब्द भी अस्पष्ट लिखा हुआ न हो, कोई सन्दर्भ ऊटपटाँग न लिखा हो, सन्दर्भों के लिए हमारी समझ मे ऐसा क्रम रखना चाहिए कि एक अध्याय मे एक से लेकर आवश्यक संख्या का उपयोग करना चाहिए। प्रत्येक पृष्ठ की सामग्री से सम्बन्धित सन्दर्भ उस पृष्ठ के फुटनोट पृथक्-पृथक् रूप से निरपेक्ष भाव से अलग कर देना चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक पृष्ठ के फुटनोट उसी पृष्ठ पर आ जायँगे। ऐसा देखा जाता है कि बहुत प्रयत्न करने पर भी टाइपिस्ट की असावधानी से एक पृष्ठ का फुटनोट विवश होकर दूसरे पृष्ठ पर लिखना पड़ता है। ऐसी अवस्था मे यदि सम्पूर्ण अध्याय के फुटनोटो की संख्या क्रमिक न होगी, प्रत्येक पृष्ठ के सन्दर्भों की संख्या अलग-अलग होगी तो अनर्थ हो सकता है। अतएव इन छोटी-छोटी बातो पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। टाइप के लिए जितनी शुद्ध प्रति दी जावेगी, टाइप उतना ही अच्छा हो सकेगा। थीसिस को सब लोग टाइप नही कर सकते। इसके लिए कुछ विशेष टाइपिस्ट होते है, जो स्वयं हिन्दी संस्कृत का अच्छा ज्ञान रखते है। लखनऊ, बनारस, इलाहाबाद आदि नगरो मे इस प्रकार के व्यक्ति सरलता से मिल जाते हैं।

थीसिस की शैली—अन्त मे थीसिस की शैली के सम्बन्ध मे दो शब्द और लिख देना चाहता हूँ। थीसिस की शैली विश्लेषणात्मक, विवेचनात्मक और अनुसंधानात्मक होती है। उसकी भाषा सरल, स्वाभाविक, साहित्यिक और प्रसाद-गुण सम्पन्न होनी चाहिए। तभी वह प्रभावपूर्ण हो सकेगी।

सन् १९५७ तक की हिन्दी थीसिसो का क्रमिक विवरण

लन्दन विश्वविद्यालय

१९१८	जे० एन० कारपेण्टर	तुलसीदास का धर्म-दर्शन	डी० डी०
१९३०	मोहिउद्दीन कादरी	हिन्दुस्तानी ध्वनियों का अनुसंधान	पी-एच० डी०
१९३१	एम० ई० के०	कबीर तथा उनके अनुयायी	,,
१९४१	लक्ष्मीधर	मलिक मुहम्मद जायसी-कृत पद्मावत का सम्पादन और अनुवाद	,,
१९४९	हरिश्चन्द्रराय	हिन्दी साहित्य मे महाकाव्य	,,
१९५०	विश्वनाथप्रसाद	भोजपुरी ध्वनियो और ध्वनि-प्रक्रिया का अध्ययन	,,

कोनिन्सबर्ग विश्वविद्यालय

१९४९	जनार्दन मिश्र	सूरदास का धार्मिक काव्य	पी-एच० डी०

पेरिस विश्वविद्यालय

१९३५	धीरेन्द्र वर्मा	ब्रजभाषा	डी० लिट्०

भारतीय विश्वविद्यालय

प्रयाग विश्वविद्यालय

१९३१	बाबूराम सक्सेना	अवधी का विकास	डी० लिट्०
१९३७	रमाशकर शुक्ल 'रसाल'	हिन्दी काव्य-शास्त्र का विकास	,,
१९४०	लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	आधुनिक हिन्दी साहित्य	डी० फिल्
१९४०	माताप्रसाद गुप्त	तुलसीदास—जीवनी और कृतियो का समालोचनात्मक अध्ययन	,,
१९४१	श्री कृष्णलाल	हिन्दी साहित्य का विकास	डी० फिल्०
१९४२	जानकीनाथ सिह	हिन्दी छन्दशास्त्र	,,
१९४३	छैलबिहारी गुप्त 'राकेश'	मनोविज्ञान के प्रकाश मे रस सिद्धान्त का समालोचनात्मक अध्ययन	
१९४४	दीनदयाल गुप्त	हिन्दी के अष्टछाप कवियो का अध्ययन।	डी० लिट्०
१९४५	ब्रजेश्वर वर्मा	सूरदास	डी० फिल्०
१९४५	हरदेव बाहरी	हिन्दी अर्थ विचार	डी० लिट्०
१९४६	लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	हिन्दी-साहित्य और उसकी सास्कृतिक भूमिका	,,
१९४६	ब्रजमोहन गुप्त	हिन्दी काव्य मे रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ	डी० फिल्०
१९४७	पृथ्वीनाथ कमल कुलश्रेष्ठ	हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य	,,
१९४७	आनन्दप्रकाश माथुर	सोलहवी और सत्रहवी शताब्दियो की अवस्था का हिन्दी साहित्य के आधार पर अध्ययन। अंग्रेजी विभाग	,,
१९४८	रघुवशसहाय वर्मा	हिन्दी साहित्य के भक्ति और रीति-काव्यो मे प्रकृति और काव्य	,,
१९४८	जयकान्त मिश्र	मैथिली साहित्य का सक्षिप्त इतिहास आदिकाल से लेकर वर्तमान समय तक	,,
१९४८	रामरतन भटनागर	हिन्दी समाचारपत्रो का इतिहास	,,
१९४९	शीलवती मिश्र	हिन्दी सन्तो पर वेदान्त पद्धतियो के ऋण (दर्शन)	,,
१९४९	कामिल बुल्के	रामकथा—उत्पत्ति और विकास	,,
१९४९	शैलकुमारी माथुर	आधुनिक हिन्दी काव्य मे नारी-भावना	,,

१६५०	विश्वनाथ मिश्र	अंग्रेजी का हिन्दी भाषा और साहित्य पर प्रभाव।	डी० फिल्०
१६५१	हरिहरप्रसाद गुप्त	आजमगढ जिले की फूलपुर तहसील के आधार पर भारतीय ामोद्योग सम्बन्धी शब्दावली का अध्ययन।	,,
१६५२	रामसिंह तोमर	प्राकृत अपभ्रंश का साहित्य और उसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव।	,,
१६५२	टीकमसिंह तोमर	हिन्दी वीरकाव्य।	,,
१६५२	भोलानाथ	हिन्दी साहित्य।	,,
१६५२	विद्याभूषण विभु।	उत्तर प्रदेश के हिन्दू पुरुषो के नामो का अध्ययन।	,,
१६५२	लक्ष्मीनारायणलाल	हिन्दी कहानियो का उद्भव और विकास।	,,
१६५२	छैलविहारी राकेश गुप्त	नायक नायिका भेद।	डी० लिट्०
१६५३	सत्यव्रत सिन्हा	भोजपुरी लोक गाथा।	डी० फिल्०
१६५३	धर्मवीर भारती	सिद्ध साहित्य।	,,
१६५३	जगदीश गुप्त	हिन्दी और गुजराती कृष्ण काव्य का तुलनात्मक अध्ययन।	
१६५५	रतनकुमारी	हिन्दी और वंगला वैष्णव कवियो का तुलनात्मक अध्ययन।	,,
१६५६	भोलानाथ तिवारी	हिन्दी रीति साहित्य।	,,
१६५७	पारसनाथ तिवारी	कवीर का पाठ।	,,
१६५७	ऊषा पाण्डेय	मध्यकालीन काव्य मे नारी भावना	,,
१६५७	शशि अग्रवाल	हिन्दी कृष्ण भक्ति साहित्य पर पौराणिक प्रभाव।	,,
१६५७	जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव	डिंगल साहित्य।	,,

लखनऊ विश्वविद्यालय

१६४६	उदयभानसिंह	महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग।	पी-एच० डी०
१६४७	भगीरथ मिश्र	हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास।	,,
१६४८	त्रिलोकीनारायण दीक्षित।	मलूकदास।	,,
१६४६	सरजूप्रसाद अग्रवाल	अकवरी दरवार के हिन्दी कवि।	,,
१६५०	हीरालाल दीक्षित	आचार्य केशवदास—एक अध्ययन।	,,
१६५१	हरिकान्त श्रीवास्तव	हिन्दी प्रेमाख्यानकार।	,,
१६५२	पुत्तूलाल शुक्ल	आधुनिक हिन्दी काव्य मे छन्द।	,,
१६५२	नारायणदास खन्ना	आचार्य भिखारीदास।	,,

१९५२	कृष्णदेव उपाध्याय	भोजपुरी लोक साहित्य।	पी-एच० डी०
१९५२	देवकीनन्दन श्रीवास्तव	तुलसीदास की भाषा।	,,
१९५३	चन्द्रावतीसिंह	हिन्दी मे जीवनी साहित्य।	,,
१९५४	सरला शुक्ला	जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि।	,,
१९५४	भगवत व्रत मिश्र	रविदास और उनके पन्थ।	,,
१९५५	इन्द्रपालसिंह	आदिकालीन हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ।	,,
१९५५	ऊषा गुप्त	कृष्ण भक्ति काव्य मे सगीत।	,,
१९५५	के० भास्करन नय्यर	हिन्दी और मलयालम के भक्त कवियो का तुलनात्मक अध्ययन।	,,
१९५६	त्रिलोकीनारायण दीक्षित।	चरनदास, सुन्दरदास और मलूकदास के दार्शनिक विचार।	,,
१९५६	शकुन्तला वर्मा	आधुनिक हिन्दी साहित्य मे गाँधीवाद।	,,
१९५६	शान्तिप्रसाद चन्दोला	नाथ सम्प्रदाय के हिन्दी कवि।	,,
१९५६	रामचन्द्र तिवारी	शिवनारायणी समुदाय के हिन्दी कवि।	,,
१९५६	अविनाशप्रसाद अग्रवाल	भारतेन्दु युगीन हिन्दी कवि।	,,
१९५७	पुष्पलता निगम	हिन्दी महाकाव्यो मे नायक।	,,
१९५७	ब्रजकिशोर मिश्र	अवध के प्रमुख हिन्दी कवि।	,,
१९५७	प्रेमनारायण टण्डन	सूरदास की भाषा।	,
१९५७	ललितेश्वर झा	मैथिली के कृष्ण भक्त कवियो का अध्ययन।	,,
१९५७	लक्ष्मीनारायण गुप्त	हिन्दी साहित्य को आर्य समाज की देन।	,,
१९५७	समरबहादुर सिंह	अब्दुल रहीम खानखाना—ऐतिहासिक स्रोत की दृष्टि से अध्ययन।	,

राजस्थान विश्वविद्यालय

१९४९	सरनामसिंह अरुण	सस्कृत साहित्य का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव।	,,
१९५०	ब्रह्मदत्त मिश्र सुधीन्द्र	द्विवेदी युग मे हिन्दी कविता का पुनरुत्थान—एक अध्ययन।	,,
१९५४	कन्हैयालाल सहल	राजस्थानी कहावतें—एक अध्ययन।	,,
१९५४	चन्द्रकला	आधुनिक हिन्दी काव्य मे प्रतीकवाद।	,,
१९५४	देवराज उपाध्याय	आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान।	,,

१९५५	राजकुमारी शिवपुरी	राजस्थान के राजघरानो के द्वारा हिन्दी की सेवा।	पी-एच० डी०
१९५५	शिवस्वरूप शर्मा अचल	राजस्थानी गद्य का विकास।	,,

दिल्ली विश्वविद्यालय

१९५१	विमल कुमार जैन	सूफी मत और हिन्दी साहित्य।	,,
१९५१	सावित्री सिन्हा	मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ।	,,
१९५१	दशरथ ओझा	हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास।	,,
१९५२	अपभ्रंश साहित्य	हरिवंश कोछड़	,,
१९५५	स्नेहलता श्रीवास्तव	हिन्दी मे भ्रमर गीत काव्य और उसकी परम्परा।	,,
१९५६	मनमोहन गौतम	सूर की काव्य-कला (प्रकाशित)	,,
१९५६	सत्यदेव चौधरी	रीतिकाल के प्रमुख आचार्य	,,
१९५६	विजयेन्द्र स्नातक	राधा वल्लभ सम्प्रदाय के सन्दर्भ मे हितहरिवंश का विशेष अध्ययन। (प्रकाशित)	,,

आगरा विश्वविद्यालय

१९३९	हरिहरनाथ हुक्कू	रामचरित मानस के विशिष्ट सन्दर्भ मे तुलसीदास की शिल्प-कला का अध्ययन।	डी० लिट्०
१९४६	नगेन्द्र नगाइच	रीतिकाल की भूमिका मे देव का अध्ययन। (प्रकाशित)	,,
१९४७	सोमनाथ गुप्त	हिन्दी नाटक साहित्य का अध्ययन।	पी-एच० डी०
१९४८	(श्रीमती) किरनकुमारी गुप्ता	हिन्दी कविता मे प्रकृति चित्रण।	,,
१९४८	रागेय राघव	गुरू गोरखनाथ और उनका युग।	,,
१९४९	गौरीशकर सत्येन्द्र	व्रजलोक साहित्य का अध्ययन।	,,
१९४९	जयदेव कुलश्रेष्ठ	जायसी, उनकी कला और दर्शन।	,,
१९५१	गोविन्द त्रिगुणायत	कबीर की विचारधारा	,,
१९५१	ओमप्रकाश	हिन्दी साहित्य मे अलकार।	,,
१९५१	मुंशीराम शर्मा	भारतीय साधना और सूर साहित्य।	,,
१९५१	यू० सी० त्रिपाठी	हिन्दी निबन्ध के विकास का आलोचनात्मक अध्ययन।	,,
१९५१	भगवतस्वरूप मिश्र	हिन्दी साहित्य मे आलोचना का उद्भव और विकास।	,,

१९५२	विशम्भरनाथ भट्ट	रत्नाकर, उनकी प्रतिभा और कला।	पी-एच० डी०
१९५२	प्रतिपालसिंह	बीसवी शती के महाकाव्य।	,,
१९५२	राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी	हिन्दी कविता मे शृंगार रस का अध्ययन।	,,
१९५२	प्रेमनारायण शुक्ल	हिन्दी साहित्य मे विविध वाद।	,,
१९५२	ऐस० ऐन० शुक्ल	उपन्यासकार प्रेमचन्द, उनकी कला, सामाजिक विचार और जीवन दर्शन।	,,
१९५३	हरवशलाल शर्मा	श्रीमद्भागवत और सूरदास।	,,
१९५३	रामदत्त भारद्वाज	तुलसी दर्शन। (दर्शन)	,,
१९५४	गुणानन्द जुयाल	मध्य पहाड़ी भाषा और उसका हिन्दी से सम्बन्ध।	,,
१९५४	मनोहरलाल गौड	घनानन्द और उनकी स्वच्छन्द काव्यधारा।	,,
१९५४	पद्मसिंह शर्मा कमलेश	हिन्दी गद्य-काव्य का आलोचनात्मक और रूपकात्मक अध्ययन।	,,
१९५४	बी० डी० शर्मा	हिन्दी कहानियो का विवेचनात्मक अध्ययन।	,,
१९५४	दयाशकर शर्मा	हिन्दी मे पशुचारण-काव्य।	,,
१९५४	श्यामसुन्दरलाल दीक्षित	कृष्ण-काव्य मे भ्रमर गीत।	,,
१९५५	बद्रीनारायण श्रीवास्तव	रामानन्द सम्प्रदाय, हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव।	,,
१९५५	भगवतीप्रसादसिंह	१९वी शती का रामभक्ति साहित्य विशेषत महात्मा बालादास का अध्ययन।	,,
१९५५	कपिलदेवसिंह	गत १०० वर्षों मे कविता के माध्यम के लिए ब्रज भाषा, खडी बोली सम्बन्धी विवाद की रूप-रेखा।	,,
१९५५	शम्भूनाथ पाण्डेय	आधुनिक हिन्दी कविता मे निराशावाद।	,,
१९५५	रामेश्वरलाल खण्डेलवाल	आधुनिक हिन्दी कविता मे प्रेम और सौन्दर्य।	,,
१९५५	सीताराम कपूर	रामचरित मानस के साहित्यिक स्रोत।	,,
१९५६	ब्रजवासीलाल श्रीवास्तव	हिन्दी काव्य मे करुण-रस।	,,

१९५६	जयराम मिश्र	आदि गुरु ग्रन्थ साहब के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्त ।	पी-एच०डी०
१९५६	बरसानेलाल	हिन्दी साहित्य मे हास्य-रस ।	"
१९५६	आनन्दप्रकाश दीक्षित	काव्य मे रस ।	"
१९५६	रामचन्द्र	हिन्दी की स्वच्छन्दतावादी कृतियो का अनुशीलन ।	
१९५६	अम्बाप्रसाद सुमन	अलीगढ जिले के कृपक समाज के शब्दो का अध्ययन ।	"
१९५६	हरिहरनाथ टण्डन	वार्ता साहित्य का जीवन मूलक अध्ययन ।	"
१९५६	गणेशदत्त	मध्यकालीन हिन्दी साहित्य मे चित्रित समाज ।	"
१९५६	महेशचन्द्र सिंहल	सन्त सुन्दरदास ।	"
१९५६	मुशीराम शर्मा	वैदिक भक्ति हिन्दी के मध्य-कालीन काव्य मे उसकी अभिव्यक्ति ।	डी०लिट्०
१९५७	सत्येन्द्र	मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य के प्रेम गाथा-काव्य और भक्ति-काव्य मे लोक वार्ता तत्त्व ।	"
१९५७	गोविन्द त्रिगुणायत	हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि ।	"
१९५७	नत्थनसिंह	बालमुकुन्द गुप्त उनके जीवन और साहित्य का अध्ययन ।	पी-एच०डी०
१९५७	राजेन्द्रप्रसाद शर्मा	बालकृष्ण भट्ट उनका जीवन और साहित्य ।	"
१९५७	गोपीनाथ तिवारी	भारतेन्दु-कालीन नाटक साहित्य ।	"
१९५७	डी० के० जैन	अपभ्रंश साहित्य ।	"
१९५७	बद्रीप्रसाद परमार	मालव लोक साहित्य ।	"
१९५७	आर० के० कक्कड	आधुनिक हिन्दी साहित्य मे आलोचना ।	"
१९५७	गोविन्दसिंह कन्दारी	गढवाली बोली की रावल्टी उप-बोली उसके लोकगीत और उसमे अभिव्यक्त लोक-सस्कृति ।	"
१९५७	द्वारिकाप्रसाद सक्सेना	कामायनी का काव्य, सस्कृति और दर्शन ।	"
१९५७	किशोरीलाल गुप्त	शिवसिंह सरोज मे दिए कवियो सम्बन्धी तथा तिथियो का आलो-चनात्मक परीक्षण ।	

१६५७	रामनाथ तिवारी	कृतिवासी बगला रामायण और रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन।	पी-एच०डी०

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय

१६३४	पीताम्बरदत्त बडथ्वाल	हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय।	डी०लिट्०
१६४०	केशरीनारायण शुक्ल	आधुनिक काव्यधारा।	,,
१६४३	जगन्नाथ प्रसाद शर्मा	प्रसाद के नाटको का शास्त्रीय अध्ययन।	,,
१६४६	ओमप्रकाश गुप्त	हिन्दी मुहावरे।	,,
१६४६	राजपति दीक्षित	तुलसीदास और उनका युग।	,,
१६५०	शिवमगलसिंह सुमन	गीति-काव्य का उद्गम, विकास और हिन्दी साहित्य मे उसकी परम्परा।	पी-एच०डी०
१६५२	शकुन्तला दूबे	हिन्दी काव्य रूपो का उद्भव आर विकास।	,,
१६५५	शम्भूनाथसिंह	हिन्दी मे महाकाव्य का स्वरूप विकास।	,,
१६५५	सितकण्ठ मिश्र	खडी बोली का आन्दोलन।	,,
१६५६	रघुनाथसिंह	आधुनिक हिन्दी साहित्य मे नारी।	,,
१६५६	बच्चनसिंह	रीतिकालीन कवियो की प्रेम व्यजना।	,,
१६५६	रामेश्वरप्रसाद मिश्र	आधुनिक हिन्दी काव्य साहित्य के बदलते हुए मानो का अध्ययन।	,,
१६५६	वलवत लक्ष्मण कातामेर	हिन्दी गद्य के विविध साहित्य रूपो का उद्भव और विकास।	,,
१६५६	हिरण्मय	हिन्दी और कन्नड मे भक्ति आदोलन का तुलनात्मक अध्ययन।	,,
१६५६	नामवरसिंह	रासो की भाषा।	,,
१६५७	कानिका विश्वास	ब्रज बुली।	,,
१६५७	रामदास मिश्र	आधुनिक आलोचना की प्रवृत्तियाँ।	,,
१६५७	विष्णुस्वरूप	कवि समय।	,,
१६५७	अष्टभुजाप्रसाद पाण्डेय	हिन्दी मे गद्य-काव्य का विकास।	,,
१६५७	शिवप्रसादसिह	सूर-पूर्व ब्रज-भाषा साहित्य।	,,

कलकत्ता विश्वविद्यालय

१६४३	नलिनीमोहन सान्याल	विहारी भाषाओ की उत्पत्ति और विकास।	डी० फिल्०

१९४८	विपिनविहारी त्रिवेदी	चन्दबरदाई और उनका काव्य।	डी० फिल्०
१९५१	शिवनन्दन पाण्डेय	भारतीय नाटक का उद्भव और विकास।	,,

नागपुर विश्वविद्यालय

१९३८	बलदेवप्रसाद मिश्र	तुलसी दर्शन।	डी०लिट्०
१९४०	रामकुमार वर्मा	हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास।	पी-एच०डी०
१९५५	हरवशलाल शर्मा	सूरदास और उनका साहित्य।	डी० लिट्०
१९५६	चिन्तामणि उपाध्याय	मालवी लोक गीत।	पी-एच०डी०
१९५६	विनयमोहन शर्मा	हिन्दी को मराठी सन्तों की देन।	,,
१९५६	रामनिरजन पाण्डेय	भक्तिकालीन हिन्दी कविता मे दार्शनिक प्रवृत्तियाँ।	,,
१९५७	महेन्द्र भटनागर	समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचन्द।	,,
१९५७	रामरतनसिंह	हिन्दी कविता मे कल्पना विधान।	,,
१९५७	कृष्णलाल हस	निमाडी और उसका लोक साहित्य।	,,

पंजाब विश्वविद्यालय

१९३८	इन्द्रनाथ मदान	सामाजिक वातावरण के विशिष्ट सन्दर्भ मे आधुनिक हिन्दी कविता की समालोचना।	,,
१९४५	लक्ष्मीधर शास्त्री	ऋषि वर्कतुल्लाह पेमी कृत पेमपकास का अनुसधान, सम्पादन और अध्ययन।	,,
१९४६	शिवनारायण वोहरा	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र।	,,
१९५१	सरनदास भर्नोत	शाम सनेही।	,,
१९५२	वी० पी० खन्ना	हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास।	,,
१९५४	रामधन शर्मा	सूर के दृष्टकूट पद।	,,
१९५७	किरणचन्द्र शर्मा	केशवदास—उनके रीतिकाव्य का विशेष अध्ययन।	,,
१९५७	गोविन्दराम शर्मा	हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य	,,
१९५७	उमाकान्त गोयल	मैथिलीशरण गुप्त, कवि और भारतीय सस्कृति के आख्याता।	,,

सागर विश्वविद्यालय

१९५२	वीरेन्द्रकुमार शुक्ल	भारतेन्दु का नाट्य साहित्य।	,,

१९५३	प्रेमशकर तिवारी	जयशकरप्रसाद के काव्य का विकास।	पी-एच०डी०
१९५७	भानुदेव शुक्ल	भारतेन्दु युग के नाटककार।	,,
१९५७	कमलाकान्त पाठक	गुप्तजी का काव्य विकास।	,,
१९५७	रामलालसिंह	आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त	,,

पटना विश्वविद्यालय

	सौभद्र झा	मैथिली भाषा का विकास	डी० लि
	धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी	सत कवि दरिया · एक अनुशीलन।	पी-एच
	रामखेलावन पाण्डेय	मध्यकालीन सत साहित्य।	डी० लि
	राजाराम रस्तोगी	तुलसीदास—जीवनी और विचारधारा।	पी-एच०

अलीगढ़ विश्वविद्यालय

१९५६	गोवर्द्धनलाल शुक्ल	कविवर परमानन्ददास और उनका साहित्य।	,,
१९५६	देवर्षि सनाढ्य	हिन्दी के पौराणिक नाटको का आलोचनात्मक अध्ययन।	,,

: ६ :

उपन्यास

महत्त्व

साहित्य-विधाओ मे उपन्यास का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। साहित्यिक दृष्टि से ही नही, सास्कृतिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी इसकी गणना प्रथम कोटि की विधाओ मे होने लगी है। साहित्य के स्वरूप के सम्बन्ध मे विद्वानो मे बडा मत-भेद रहा है, किन्तु एक बात सभी विद्वानों को किसी न किसी रूप मे मान्य है। वह यह कि उसके प्रमुख प्रतिपाद्य जीवन और जगत् हैं। दूसरे शब्दो मे यो कहा जा सकता है कि साहित्य जीवन और जगत् की प्रतिच्छाया है। जीवन और जगत् की जितनी सुन्दर और सर्वांगपूर्ण अभिव्यक्ति उपन्यास मे दिखाई पडती है उतनी अन्य किसी विधा मे नही मिलती। जीवन और जगत् के अत्यधिक निकट होने के कारण उपन्यास सर्वाधिक लोकप्रिय साहित्य रूप बन गया है।

उपन्यास का सास्कृतिक महत्त्व भी है। उसमे युग-विशेष के सामाजिक जीवन और जगत् की झाँकी सजोई जाती है। सामाजिक जीवन और जगत् की झाकी का ही दूसरा नाम सस्कृति है। दूसरे शब्दो मे यो कहा जा सकता है कि युग विशेष की सास्कृतिक झाँकी अपने वास्तविक रूप मे हमे उपन्यास साहित्य मे ही उपलब्ध होती है। यदि किसी युग की सास्कृतिक झाकी देखनी हो तो हमे उस युग के उपन्यासो का अध्ययन करना चाहिए।

मनोविज्ञान की दृष्टि से भी उपन्यास का बड़ा महत्त्व है। मनोविज्ञान की सबसे मार्मिक अभिव्यक्ति हमे उपन्यास-साहित्य मे मिलती है। इस सत्य को बडे-बडे मनोवैज्ञानिको तक ने स्वीकार किया है। ऑलपोर्ट नामक पाश्चात्य विद्वान् ने तो विविध प्रकार के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो के व्यावहारिक रूप का अध्ययन करने के लिए बहुत से उपयोगी उपन्यासो की लिस्ट तक दे डाली है। इसलिए, यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि यदि मनोवैज्ञानिको के सामने विश्व के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास न होते तो उन्हे बहुत-से सिद्धान्तों के स्वरूप-निर्धारण मे बड़ी कठिनाई पडती।

व्युत्पत्ति, स्वरूप, परिभाषा, सीमा और विस्तार

संस्कृत मे उपन्यास शब्द—उपन्यास शब्द 'उप' तथा 'नि' पूर्वक 'अस्' धातु मे 'अच्' प्रत्यय जोडने से व्युत्पन्न हुआ है। इस शब्द का प्रयोग सस्कृत मे कई अर्थों मे मिलता है। कुछ लोग इसकी व्याख्या "उपन्यास प्रसादनम्" लिख कर करते है अर्थात् उनकी दृष्टि मे उपन्यास उस रचना को कहेंगे जो हमारा प्रसादन करने में समर्थ हो। कुछ दूसरे विद्वान् 'उपपत्तिकृतोहि अर्थ उपन्याससकीर्तित.' व्याख्या करके समुचित विन्यास को ही उसकी प्रमुख विशेषता बताते हैं।

१९५३	प्रेमशंकर तिवारी	जयशंकरप्रसाद के काव्य का विकास।	पी-एच०डी०
१९५७	भानुदेव शुक्ल	भारतेन्दु युग के नाटककार।	„
१९५७	कमलाकान्त पाठक	गुप्तजी का काव्य विकास।	„
१९५७	रामलालसिंह	आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त	„

पटना विश्वविद्यालय

	सौभद्र झा	मैथिली भाषा का विकास	डी०
	धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी	संत कवि दरिया एक अनुशीलन।	पी-ए
	रामखेलावन पाण्डेय	मध्यकालीन संत साहित्य।	डी०
	राजाराम रस्तोगी	तुलसीदास—जीवनी और विचारधारा।	पी-एच

अलीगढ़ विश्वविद्यालय

१९५६	गोवर्द्धनलाल शुक्ल	कविवर परमानन्ददास और उनका साहित्य।	„
१९५६	देवर्षि सनाढ्य	हिन्दी के पौराणिक नाटकों का आलोचनात्मक अध्ययन।	„

: ६ :

उपन्यास

महत्त्व

साहित्य-विधाओ मे उपन्यास का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। साहित्यिक दृष्टि से ही नही, सास्कृतिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी इसकी गणना प्रथम कोटि की विधाओ मे होने लगी है। साहित्य के स्वरूप के सम्बन्ध मे विद्वानो मे वडा मत-भेद रहा है, किन्तु एक वात सभी विद्वानो को किसी न किसी रूप मे मान्य है। वह यह कि उसके प्रमुख प्रतिपाद्य जीवन और जगत् है। दूसरे शब्दो मे यो कहा जा सकता है कि साहित्य जीवन और जगत् की प्रतिच्छाया है। जीवन और जगत् की जितनी सुन्दर और सर्वांगपूर्ण अभिव्यक्ति उपन्यास मे दिखाई पडती है उतनी अन्य किसी विधा मे नही मिलती। जीवन और जगत् के अत्यधिक निकट होने के कारण उपन्यास सर्वाधिक लोकप्रिय साहित्य रूप वन गया है।

उपन्यास का सास्कृतिक महत्त्व भी है। उसमे युग-विशेष के सामाजिक जीवन और जगत् की झाँकी सजोई जाती है। सामाजिक जीवन और जगत् की झाकी का ही दूसरा नाम सस्कृति है। दूसरे शब्दो मे यो कहा जा सकता है कि युग विशेप की सास्कृतिक झाँकी अपने वास्तविक रूप मे हमे उपन्यास साहित्य मे ही उपलब्ध होती है। यदि किसी युग की सास्कृतिक झाकी देखनी हो तो हमे उस युग के उपन्यासो का अध्ययन करना चाहिए।

मनोविज्ञान की दृष्टि से भी उपन्यास का वड़ा महत्त्व है। मनोविज्ञान की सवसे मार्मिक अभिव्यक्ति हमे उपन्यास-साहित्य मे मिलती है। इस सत्य को वडे-वडे मनो-वैज्ञानिकों तक ने स्वीकार किया है। ऑलपोर्ट नामक पाश्चात्य विद्वान् ने तो विविध प्रकार के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो के व्यावहारिक रूप का अध्ययन करने के लिए वहुत से उपयोगी उपन्यासो की लिस्ट तक दे डाली है। इसलिए, यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि यदि मनोवैज्ञानिको के सामने विश्व के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास न होते तो उन्हें वहुत-से सिद्धान्तो के स्वरूप-निर्धारण मे वड़ी कठिनाई पडती।

व्युत्पत्ति, स्वरूप, परिभाषा, सीमा और विस्तार

संस्कृत मे उपन्यास शब्द—उपन्यास शब्द 'उप' तथा 'नि' पूर्वक 'अस्' धातु मे 'अच्' प्रत्यय जोड़ने से व्युत्पन्न हुआ है। इस शब्द का प्रयोग सस्कृत मे कई अर्थों मे मिलता है। कुछ लोग इसकी व्याख्या "उपन्यास प्रसादनम्" लिख कर करते है अर्थात् उनकी दृष्टि में उपन्यास उस रचना को कहेगे जो हमारा प्रसादन करने में समर्थ हो। कुछ दूसरे विद्वान् 'उपपत्तिकृतोहि अर्थ उपन्याससकीर्तित' व्याख्या करके समुचित विन्यास को ही उसकी प्रमुख विशेपता वताते हैं।

सस्कृत के नाट्य-शास्त्र मे उपन्यास शब्द का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ मे भी मिलता है। उपन्यास प्रतिमुख सन्धि का एक भेद है। दशरूपककार ने उसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—'उपन्यासस्तु सोपाय' अर्थात् युक्ति से बीज का उद्भेद करने वाली प्रतिमुख सन्धि की विशेषता को उपन्यास कहते है।

सस्कृत मे उपन्यास शब्द का अर्थ सदर्भ के अर्थ मे भी मिलता है। शाकुन्तल मे 'आत्मन उपन्यासपूर्वम्', लिखकर इसी अर्थ की व्यजना की गई है।

उपन्यास शब्द प्राक्कथन या भूमिका के अर्थ मे भी प्रयुक्त मिलता है। अमरूक शतक के एक श्लोक मे इसका इसी अर्थ मे प्रयोग पाया गया है। वह इस प्रकार है—

"निर्यात शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजन"

उपन्यास शब्द का प्रयोग प्राचीन साहित्य मे कथनमूलक व्यवस्था के अर्थ मे भी मिलता है। मालती माधव और शाकुन्तल मे इस अर्थ मे भी इसका प्रयोग ढूँढा जा सकता है। एक उदाहरण है—

"पावक खलु एष वचनोपन्यास ।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि सस्कृत मे उपन्यास शब्द का प्रयोग यो तो विभिन्न अर्थों मे होता रहा है किन्तु जिस अर्थ मे आज वह हिन्दी मे प्रयुक्त हो रहा है, उसकी झलक हमे 'उपन्यास प्रसादनम्' वाली उक्ति में ही दिखाई पडती है। अब प्रश्न यह है इस शब्द का प्रयोग प्राचीन काल मे काव्य विधा के अर्थ में अधिक प्रचार क्यो नही पा सका। इसका उत्तर बहुत सरल है। हमारे यहाँ साहित्य का लक्ष्य केवल मनोरजन कभी नही रहा। उपन्यास शब्द केवल मनोरजन के भाव को ही व्यक्त करता था। इसीलिए उसे किसी काव्य विधा के अभिधान के रूप मे प्रयुक्त करने मे आचार्य लोग सकोच करते थे।

अग्रेजी मे उपन्यास शब्द का स्पष्टीकरण

अग्रेजी मे उपन्यास शब्द के लिए 'नाविल' शब्द का प्रयोग किया जाता है। नाविल शब्द इटैलियन शब्द 'नाविला' से बना है। इसका अर्थ सूचना है। इसी अर्थ के आधार पर शिपले ने नाविल की व्याख्या करते हुए लिखा है, "नाविल शब्द से एक नवीन प्रकार की प्रकथन प्रधान रचना का बोध होता है जिसमे आधुनिकता और सत्य दोनो की प्रतिष्ठा पाई जाती है'। नाविल की यह परिभाषा बहुत व्यापक है। अब वह कुछ सकुचित अर्थ मे भी प्रयुक्त किया जा रहा है। यह बात नाविल की निम्नलिखित परिभाषाओ से प्रकट हो जावेगी।

न्यू इगलिश डिक्शनरी की परिभाषा—इस डिक्शनरी मे नाविल की परिभाषा इस प्रकार दी हुई है—'नाविल वह विस्तृत गद्यात्मक प्रकथन प्रधान रचना है जिसमें वास्तविक जीवन का अनुकरण करने वाली घटनाओ और पात्रो का एक व्यवस्थित कथा-वस्तु के रूप मे वर्णन रहता है।'

एवेल चेवेल की परिभाषा—एवेल चेवेल एक प्रसिद्ध फ्रासीसी विद्वान् है। इन्होने उपन्यास को निश्चित आकार वाला गद्यमय आख्यान कहा है।

ई० एम० फार्स्टर—एवेल चेवेल की परिभाषा इस विद्वान को भी मान्य है। किन्तु इसने उसमे थोड़ा सा विस्तार कर दिया है। इसके मतानुसार उपन्यास का आकार ५०,००० शब्दो से कम का नही होना चाहिए।

अर्नेस्ट ए० वेकर—उपन्यास की उपर्युक्त परिभाषाओ को ही थोड़ा व्यापक रूप देते हुए वेकर साहव ने लिखा है कि "उपन्यास को हम गद्यमय कल्पित आख्यान के माध्यम से की गई जीवन की व्याख्या कह सकते हैं।"

एडिथ ह्वार्टन—'पर्मानेन्ट वेल्यूज इन फिक्शन' नामके अपने एक निवन्ध में उपन्यास को परिभाषा वद्ध करते हुए ह्वार्टन नामक विद्वान ने लिखा है :

"उपन्यास एक ऐसा कल्पित आख्यान है जिसमे सुन्दर कथानक और भली प्रकार चित्रित पात्र होते हैं।"

वोल्फर्ट—इस विद्वान ने मानव जीवन से उपन्यास का घनिष्ठ सम्वन्ध वताते हुए लिखा है "उपन्यास सक्रिय मानव जीवन की भाषा मे भावो का गद्यानुवाद है। यह गद्यानुवाद इतना यथार्थ होना चाहिए कि उससे पाठको का आत्मज्ञान वढे।"

वेवस्टर की परिभाषा—इस विद्वान की परिभाषा कुछ अधिक व्यापक और सर्वाङ्गीण प्रतीत होती है। वह इस प्रकार है—

"उपन्यास एक ऐसा कल्पित विशालकाय तथा गद्यमय आख्यान है, जिसमें एक ही कथानक के अन्तर्गत यथार्थ जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्रो और उनके क्रिया-कलापो का चित्रण रहता है।"

हिन्दी विद्वानो द्वारा की गई उपन्यास की परिभाषाएँ

हिन्दी के विद्वानों ने भी उपन्यास के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उपन्यास के स्वरूप के सम्वन्ध मे निम्नलिखित हिन्दी विद्वानो के मत विशेष उल्लेखनीय हैं।

देवकी नन्दन खत्री—खत्रीजी ने उपन्यास की परिभाषा तो कही नही दी है। उन्होंने एक स्थल पर अपने आलोचको के दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए लिखा है "कुछ दिन की वात है कि मेरे मित्रो ने सवाद-पत्रो मे इस विषय का आन्दोलन उठाया था कि इसका (सतति का) कथानक सम्भव है या असम्भव। मैं नहीं समझता कि यह वात क्यो उठाई और वढाई गई। जिस प्रकार पचतत्र और हितो-पदेश वालको की शिक्षा के लिए लिखे गए हैं उसी प्रकार ये लोगो के मनोविनोद के लिए। 'चन्द्रकान्ता' मे जो वातें लिखी गई है, वे इसलिए नही लिखी गई कि लोग उसकी सचाई-झुठाई की परीक्षा करें, प्रत्युत इसलिए कि उसका पाठ कौतूहल-वर्द्धक है।" इस उद्धरण मे उपन्यास के कथानक के कौतूहलवर्द्धक और मनोरजक होने पर ही वल दिया गया है।

प्रेमचन्द—प्रेमचन्द की परिभाषा वेकर नामक विद्वान की परिभाषा से मिलती-जुलती है। वेकर साहव उपन्यास को गद्यमय जीवन की व्याख्या मानते थे। प्रेमचन्दजी ने भी उसे मानव चरित्र का चित्र कहा है। वे लिखते हैं:—"मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यो को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।"

अज्ञेय—अज्ञेय ने अपने "आधुनिक उपन्यास और दृष्टिकोण" शीर्षक लेख में उपन्यास के सम्बन्ध मे अपने जो विचार प्रकट किए है, उनके अनुसार 'उपन्यास व्यक्ति के अपनी परिस्थितियो के साथ सम्बन्ध की अभिव्यक्ति के उत्तरोत्तर विकास का प्रतिनिधित्व करता है।'

हजारी प्रसाद द्विवेदी—आपने उपन्यास की व्याख्या करते समय पाश्चात्य "नाविल" शब्द तथा मराठी की "नवल कथा" शब्दो को ही दृष्टि मे रखा है और उन्ही के प्रकाश मे उपन्यास के स्वरूप को स्पष्ट किया है। वे लिखते है[1] "उपन्यास वस्तुत ही नवल अर्थात् नया और ताजा साहित्याग है, परन्तु फिर भी जिस मेधावी ने कथा, आख्यायिका आदि शब्दो को छोड कर अग्रेजी नाविल का प्रतिशब्द उपन्यास माना था, उसकी सूझ की प्रशसा किये बिना नही रहा जा सकता। जहाँ उसने इस नये शब्द के प्रयोग से यह सूचित किया है कि यह साहित्याश पुरानी कथाओ और आख्यायिकाओ से भिन्न जाति का है, वहा इसके शब्दार्थ के द्वारा (उप=निकट, समीप, न्यास=रखना) यह भी सूचित किया है कि इस विशेष साहित्याश द्वारा ग्रन्थकार पाठक के निकट अपने मन की कोई विशेष बात, कोई अभिनव मत रखना चाहता है। इसलिए यद्यपि यह शब्द पुरानी परम्परा के प्रयोग के अनुकूल नही पड़ता, तथापि उसका प्रयोग उपन्यास की विशिष्ट प्रकृति के साथ बिल्कुल बेमेल नही कहा जा सकता।"

(साहित्य सन्देश, उपन्यास अक, अक्टूबर, नवम्बर, १९४०, पृष्ठ २)

समस्त परिभाषाओं की आलोचना और अपना दृष्टिकोण—ऊपर अनेक पाश्चात्य और भारतीय विद्वानो द्वारा की गई उपन्यास की परिभाषाएँ उद्धृत की गई है। किन्तु उनमे एक भी परिभाषा ऐसी नही, जिसे सर्वांगपूर्ण और सही कहा जा सके। अधिकाश विद्वानो ने उसके किसी एक तत्त्व को ही महत्त्व देकर उसकी परिभाषा रचने की चेष्टा की है। किसी ने उसमे चरित्र-चित्रण के महत्त्व का प्रतिपादन किया है, तो कोई उसके रजक तत्त्व को ही उसका सर्वस्व मानता है। कुछ उसे मानव जीवन का दर्पण कहते है। बहुत से विद्वान तो उसके रूप और आकार का वर्णन करके ही रह गए हैं। आज उपन्यास कला अपने विकास की उस पराकाष्ठा पर पहुँच गई है कि उपर्युक्त सभी परिभाषाएँ एकागी और अधूरी प्रतीत होने लगी है। मेरी समझ मे उपन्यास मानव जीवन का वह स्वच्छ और यथार्थ गद्यमय चित्र है, जिसमे मानव मन के प्रसादन की अद्भुत शक्ति के साथ-साथ उसके रहस्यो के उद्घाटन तथा उसके उन्नयन की विचित्र क्षमता भी होती है। उपन्यासकार यह कार्य सफल चरित्र-चित्रण के सहारे सम्पन्न करता है।

उपन्यास का अन्य समकक्ष विधाओ से अन्तर

पाश्चात्य साहित्य मे उपन्यास और समकक्ष विधाओ के सबध पर विचार करते हुए बहुत कुछ लिखा गया है। उपन्यास की समकक्ष विधाओ मे महाकाव्य, नाटक और कहानी विशेष उल्लेखनीय है।

---

१ प्रेमचन्द—कुछ विचार, पृष्ठ ३८।

उपन्यास और महाकाव्य—उपन्यास और महाकाव्य मे, वैधानिक अन्तर होते हुए भी, एक साम्य है। वह साम्य है, वस्तु-सवधी। उपन्यास का वर्ण्य भी महाकाव्य के सदृश ही सम्पूर्ण मानव जीवन होता है। इस साम्य के अतिरिक्त दोनो के कुछ वैधानिक अन्तर भी उल्लेखनीय है, इनमे सबसे बडा अन्तर अभिव्यक्ति-सवधी है। महाकाव्य की अभिव्यक्ति पद्यात्मक होती है, किन्तु उपन्यास गद्य मे लिखा जाता है। उपन्यास की अभिव्यक्ति मे नाटकीयता रहती है, किन्तु महाकाव्य की अभिव्यक्ति मे वर्णना की प्रधानता पाई जाती है। तभी पाश्चात्य विद्वान ऐफ० आर० लैविस ने उपन्यास को नाटकीय गद्यमय कविता कहा है। इसके अतिरिक्त महाकाव्य और उपन्यास मे कुछ और भी अन्तर है। महाकाव्य मे अधिकतर परम्परागत ऐतिहासिक घटनाओ का ही वर्णन रहता है। किसी ऐतिहासिक व्यक्ति को लेकर उसकी जीवन-गाथा को छन्दबद्ध करना ही, महाकाव्यकारो का प्रमुख लक्ष्य रहा है। इसके विपरीत उपन्यासकार अपने जीवन अनुभवो के आधार पर जीवन के किसी पक्ष का अधिकतर कल्पनामूलक उद्घाटन करता है। अभिव्यक्तिगत इस भेद ने उपन्यास और महाकाव्य मे जो भेद उत्पन्न कर दिया है, उसे बहुत से लोग बडा महत्त्वपूर्ण नही स्वीकार करते। इसका प्रमाण यही है कि फील्डिग ने अपने 'जोसेफ एड्यू' नामक उपन्यास को गद्य मे लिखा हुआ सुखान्त महाकाव्य कहने मे सकोच नही किया है। हार्डी भी फील्डिग के इस मत मे वहुत कुछ सहमत था। इसीलिए उसने भी लिखा है कि उपन्यास एक प्रकार की काल्पनिक रचना है जो प्राचीन युग के महाकाव्य, नाटक, या आख्यायिका के निकटतम है। किन्तु मै इस प्रकार के कथनो मे वहुत गहराई नही मानता। उपन्यास और महाकाव्य मे केवल अभिव्यक्तिगत भेद ही नही है, दोनो मे कुछ मौलिक अन्तर भी है जो दोनो को दो स्वतन्त्र विधाएँ कहने के लिये बाध्य करते हैं।

उपन्यास और महाकाव्य दोनों के वैधानिक नियम यद्यपि एक दूसरे से वहुत कुछ मिलते हुए प्रतीत होते है, किन्तु फिर भी दोनो की स्वीकृतियो में अन्तर रहता है। महाकाव्य में वैधानिक नियमो का पालन और स्वीकृति बड़ी दृढता के साथ की जाती है। किन्तु उपन्यास के सबध मे यह बात लागू नही होती। उपन्यासकार वैधानिक नियमो का उतनी दृढता से पालन करना अपना कर्त्तव्य नहीं समझता। वास्तव मे उनके लिये उसका पालन अनिवार्य भी नहीं होता। इस प्रकार हम देखते है कि उपन्यासकार महाकाव्यकार की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र होता है।

महाकाव्य और उपन्यास मे चरित्र-चित्रण सम्बन्धी बडा अन्तर रहता है। महाकाव्य मे चरित्र-चित्रण परम्परागत, वैधानिक नियमो से नियन्त्रित रहता है, जिसका परिणाम यह होता है कि उसमे वर्ग के चरित्र का ही चित्रण हो पाता है व्यक्ति के चरित्र के विकास का अवसर ही नही रहता।

महाकाव्य और उपन्यास मे उद्देश्य-सवधी अन्तर भी हो सकता है। महाकाव्य का लक्ष्य किसी महान् उद्देश्य की प्रस्थापना होता है। भारत मे यह महान् उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष कहे गए हैं। पाश्चात्य देशो के महाकाव्यो मे किसी

जातीय महायुद्ध, या किसी सास्कृतिक महान् घटना के वर्णन को ही महत्त्व दिया जाता है। दूसरे शब्दो मे हम यह कह सकते हैं कि महाकाव्य की वस्तु के साथ महत् कार्य, महत् उद्देश्य, महत् फल आदि जैसे प्रयोजन जुडे रहते हैं, किन्तु उपन्यास के सबध मे इन त्रयोन्मुखी महत् का कोई महत्त्व नही होता। इस अन्तर ने महाकाव्य को आदर्श-प्रधान और उपन्यास को यथार्थ-प्रधान साहित्य-विधा वनने के लिये बाध्य कर दिया है। सक्षेप मे उपन्यास और महाकाव्य मे यही साम्य और भेद है।

उपन्यास और नाटक—यद्यपि मैरियन फौक्स ने उपन्यास को पौकेट थियेटर कह कर तथा हडसन ने नाटक और उपन्यास एक ही प्रकार की सामग्री से बने रहते हैं, लिखकर दोनो विधाओ के पारस्परिक साम्य की ओर सकेत किया है, किन्तु दोनो ही वैधानिक दृष्टि से सम कम और विषम अधिक हैं।

उपन्यास श्रव्य काव्य के अन्तर्गत है और नाटक दृश्य काव्य कहलाता है। उपन्यास अपने शब्दात्मक रूप मे एक परिपूर्ण रचना है, पर नाटक का शब्दात्मक रूप ही उसका सर्वस्व नही होता, क्योकि नाटक को सुनने के साथ-साथ उसे रगमच पर अभिनीत होते हुए देखने की भी आवश्यकता रहती है। उपन्यास और नाटक की यह भिन्नता इन दोनो के रूप-विकास मे एक बहुत बडा अन्तर ला देती है।

नाटककार अपने पात्रो को रगरूप, आकार-प्रकार, और व्यक्तित्व प्रदान करने, उनकी क्रिया-प्रतिक्रियाओ को चित्रित करने और उनके माध्यम से अपना जीवन-दर्शन व्यक्त करने के लिये एकमात्र शब्दो पर निर्भर रहने के लिए बाध्य नही होता। उसके पास कई अन्य प्रकार साधन होते हैं, जिनके सहारे वह अपने नाटक मे स्वाभाविकता और सजीवता ला सकता है। उसे बने-बनाए और सजे-सजाए पात्र मिल जाते है और मिल जाता है उनके देश-काल और परिस्थिति के अनुकूल वातावरण उत्पन्न करने वाले सीन-सीनरी-युक्त रगमच। परन्तु उपन्यासकार को नाटककार की इनमे से एक भी सुविधा उपलब्ध नही होती। उसका हथियार तो एक ही है और वह है—शब्द। शब्दो के सहारे ही वह पात्र की आकृति-वेश-भूषा, हावभाव, क्रिया-प्रतिक्रिया आदि के ऐसे भव्य चित्र बना डालता है कि उसके पात्र पाठको के कल्पना चक्षुओं के आगे साकार नाच उठते है। इसलिए, उपन्यास के लिए अलग से किसी रगमच की जरूरत नही रहती। उसका रगमच उसके भीतर ही रहता है। इसी से, उपन्यास को कभी-कभी "जेबी थियेटर" भी कह दिया जाता है।

शब्द-चित्रो पर ही निर्भर रहने की इस बाध्यता को छोड़, उपन्यासकार को नाटककार के विपरीत अपनी रचना मे सब प्रकार की स्वच्छदता रहती है। नाटककार सदा अपनी रचना की ओट मे ही कार्य करता है। सीधा दर्शको के सामने आने की सुविधा उसे नही है। वस्तु-जगत् के स्रष्टा की भाँति वह भी अपनी सृष्टि मे दिखाई कहीं नही देता, पर वर्तमान सब जगह रहता है। फलत नाटक के कथानक को गति देने और कथा की टूटी कड़ियो को जोडने से लेकर अपने जीवन-दर्शन को अभिव्यक्त करने तक

का सब काम उसे अपने पात्रो के मुख से—उनके वार्तालापो, सवादो से लेना पड़ता है। नाटक मे सवादो के एकछत्र राज्य का यही कारण है। उपन्यासकार के लिए इस प्रकार की कोई पावन्दी नही है। उसे इस वात की स्वतन्त्रता रहती है कि वह पाठको तक अपने पात्रो के माध्यम से पहुँचे या सीधा ही उनके सामने आ जाए। वह उपन्यास मे प्रत्यक्ष (Direct) या नाटकीय (Indirect) दोनो प्रणालियो मे से जव जिसकी आवश्यकता हो, उसका प्रयोग कर सकता है। जव वह देखता है कि नाटकीय प्रणाली द्वारा उसके पात्र पाठको पर पूरी तरह नही खुल पाए, तो वह उपन्यास मे प्रकट होकर उनके क्रिया-कलापो के पीछे काम करने वाले आन्तरिक प्रेरकों (Motives) पर प्रकाश डालता हुआ उनमे सामजस्य ला देता है। नाटककार को यह स्वतन्त्रता उपलब्ध नही है। उसके पात्र नाटकीय प्रणाली से जितने खुल पाएँ, दर्शको को उतने मे ही सतोष कर लेना पडता है। यह नाटककार की लाचारी है। इसीलिए नाटक के पात्रो का चरित्र वहुधा उतना स्पष्ट नही हो पाता जितना उपन्यास के पात्रो का।

उपन्यासकार पर समय और आकार का प्रतिवन्ध भी नही रहता, क्योकि उसका पाठक उसे जव चाहे और जितने समय में चाहे, पढ सकता है। थियेटर के समय की पावन्दी उपन्यास के पाठको के लिए नही रहती, क्योकि उनका थियेटर तो उनके उपन्यास मे ही रहता है। उसके लिए उन्हे कही वाहर नही जाना पडता। अत. हडसन के निम्नलिखित कथन मे पूर्ण सार्थकता है—"उपन्यास को विकास के लिए वह स्वतन्त्रता प्राप्त है, जो नाटक को दूर भविष्य मे भी प्राप्त होने की सम्भावना नहीं है।" इसी भाव की अभिव्यक्ति उन्होने एक और स्थल पर दूसरे ढंग से की है। उन्होने लिखा है "नाटक जितना अधिक वैधानिक नियत्रण मे रहता है, उपन्यास को उतनी ही अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त है।"

इस प्रकार सक्षेप मे हम देखते हैं कि नाटक और उपन्यास मे वहुत सी दृष्टियो से साम्य दिखाई पड़ने पर भी दोनो मे मौलक अतर है।

उपन्यास और जीवनी—उपन्यास मे काल्पनिक जगत् के पात्रो की कहानी होती है और जीवनी होती है वस्तु जगत् के पात्रो का इतिहास। एक अग्रेजी लेखक ने कहा है कि "उपन्यास मे नामो और तिथियो के अतिरिक्त और सव वातें सच्ची होती हैं, पर इतिहास मे नामो के अतिरिक्त कोई वात सच्ची नही होती।" कारण स्पष्ट है। उपन्यासकार अपने पात्रो का कथाकार ही नही, उनका स्रष्टा भी होता है, पर जीवनीकार या इतिहासकार अपने पात्रो का कथाकार ही होता है, उनका स्रष्टा नहीं। उपन्यासकार और जीवनीकार की स्थितियो का यह तात्त्विक भेद ही उपन्यास और जीवनी मे आकाश-पाताल का अतर ला देता है। उपन्यासकार अपने पात्रो की नस-नस से परिचित होता है, उनके वाह्याभ्यन्तर को भली प्रकार जानता होता है, इसलिए उपन्यास मे उन पात्रो के व्यक्त और अव्यक्त दोनो रूपो का चित्रण मिल जाता है। उनके वारे मे कुछ अज्ञात नही रहता। जीवनीकार अपने पात्रो को उतना ही जान पाता है, जितना उसके सामने वे खुल पाते हैं, शेप उसके लिए रहस्य रहता है। इसलिए, जीवनी में पात्रो का व्यक्त रूप ही चित्रित हो पाता है और पाठकों को

उनका अधूरा परिचय ही मिल पाता है। उपन्यास के पात्रो की तरह वे जीवनी के पात्रो के मन की अतल गहराइयो मे गोता नही लगा पाते और उनका वह रूप पाठको के लिए अज्ञेय ही रह जाता है।

जीवनीकार या इतिहासकार की पात्र सम्बन्धी अल्पज्ञता उपन्यास और जीवनी या इतिहास मे एक और मुख्य अतर ला देती है। इतिहासकार के लिए देश या राष्ट्र मुख्य होता है, और व्यक्ति गौण, जब कि उपन्यासकार के लिए व्यक्ति ही सब कुछ होता है। जीवनीकार प्राय व्यक्ति वर्णन से आरम्भ करके समाज और राष्ट्र के चित्रण मे खो जाता है, क्योकि उस समाज या राष्ट्र के अन्य लोगो से तुलना करके ही तो वह अपने नायक को बड़ा आदमी सिद्ध कर सकता है। उपन्यासकार के लिए बडा आदमी कोई नही। उसके लिए राजा भोज और गगू तेली दोनो बराबर है। वह किसी को बडा और किसी को छोटा सिद्ध करने नही चलता। वह तो अपने पात्रो को जैसे वह हैं—गुण-दोष युक्त मानव—उसी रूप मे व्यक्त कर देता है।

जीवनीकार को अपने नायक के स्थूल रूप मे इतना लिप्त रहना पडता है कि कल्पना उसके लिए वर्जित हो जाती है, पर उपन्यासकार के लिए ऐसी कोई पाबन्दी नही होती। इसीलिए, जीवनी मे मौलिकता के लिए कोई स्थान नही रहता, जब कि उपन्यास मे मौलिकता को मान मिलता है।

उपन्यास के तत्त्व

उपन्यास के आधुनिक रूप का विकास सबसे पहले पाश्चात्य देशो मे ही हुआ था। अतएव उसके तत्त्वो पर भी पाश्चात्य आचार्यों ने ही कुछ अधिक शास्त्रीय और स्पष्ट रूप से विचार किया है। अग्रेज आचार्य हडसन का मत इस दृष्टि से बहुत स्पष्ट है। उसने उपन्यास के तत्त्वो का उल्लेख करते हुए लिखा है कि, "सभी प्रकार की कथात्मक रचना के प्रमुख तत्त्व कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, देश-काल, शैली, और जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति हैं।" (हडसन पृ० १२१) हडसन का यह मत लगभग सभी पाश्चात्य और भारतीय विद्वानो को स्वीकार है। उसी को आधार मान कर हम यहाँ पर एक-एक तत्त्व की शास्त्रीय मीमासा करेंगे।

(१) कथावस्तु—कथावस्तु उपन्यास का प्राण है। उपन्यास की कथावस्तु जीवन से सबधित होते हुए भी अधिकतर काल्पनिक ही हुआ करती है। दूसरे शब्दो मे हम यो कह सकते हैं कि उपन्यासो मे जीवन की अभिव्यक्ति कला और कल्पना के माध्यम से की जा सकती है। कथावस्तु पर विचार करते हुए हडसन ने लिखा है कि—"व्यवस्था की दृष्टि से वह दो प्रकार की होती है, एक सुव्यवस्थित और दूसरी अव्यवस्थित। इसी आधार पर कुछ विद्वान लोगो ने उपन्यासो के दो भेद कर डाले हैं—सुव्यवस्थित कथावस्तु वाले उपन्यास और अव्यवस्थित कथावस्तु वाले उपन्यास। हेनरी जेम्स नामक पाश्चात्य विद्वान ने वस्तु की व्यवस्था और अव्यवस्था को उतना अधिक महत्त्व नही दिया है जितना कि उसके प्रस्तुतीकरण की शैली को। उसका कहना था कि उपन्यासकार को अपनी समस्त घटनाएँ नाटकीय ढग से इस

प्रकार संजोनी चाहिएँ कि वे पाठक का मन बड़ी सरलता से आत्माधीन कर लें। यद्यपि हेनरी जेम्स का यह कथन अपने मे परिपूर्ण है, यह गुण तो उपन्यास की कथावस्तु मे होना ही चाहिए। किन्तु हमारी समझ मे उपन्यास की कथावस्तु चाहे किसी भी कोटि की क्यो न हो, उसमे अन्विति का होना नितान्त आवश्यक होता है। कथाएँ हो सकती हैं, तथा उपकथाएँ भी, किन्तु उन सबको परस्पर सम्बद्ध होना चाहिए। अगर यह कथाएँ सुसम्बद्ध नही होगी तो उपन्यास का ढाँचा ही उखड़ा-उखड़ा लगेगा। जो उपन्यासकार कथावस्तु को महत्त्व न देकर केवल चरित्र को ही महत्व देते हैं, उनके उपन्यासो मे यह दोष प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इसका यह अर्थ नही है कि उपन्यासो मे चरित्र-चित्रण पर बल ही न दिया जाये। सच तो यह है कि चरित्र-चित्रण उपन्यास का प्राणभूत तत्त्व है, किन्तु पात्रो के चरित्र का चित्रण क्रिया-कलापो द्वारा किया जाना चाहिए। तभी वह ग्राह्य हो सकता है। क्रिया-कलाप ही कथानक का प्राण होते है। दूसरे शब्दो मे यो कह सकते हैं कि चरित्र की प्रतिष्ठा कथानक के बीच होनी चाहिए। उसकी अभिव्यक्ति अधर मे नही रहनी चाहिए।

घटना और कथानक—ऊपर हम सकेत कर चुके हैं कि विविध प्रकार के क्रिया-कलाप ही कथानक का स्वरूप निर्माण करते हैं। यह क्रिया-कलाप विविध घटनाओ से विनिर्मित होते हैं। घटनाएँ ही कथानक का प्राण बन जाती हैं। पर इससे यह नही समझना चाहिए कि घटनाओ का सग्रह मात्र ही कथानक होता है। एक था राजा, एक थी रानी। राजा मर गया और फिर रानी भी मर गई। यह हुआ घटनाओ का सग्रह। पर यह कहा जाये कि इस प्रकार का घटना-सग्रह उपन्यास का कथानक होता है, तो यह ठीक नही है। उपन्यास में घटनाओ की व्यवस्थित अन्विति होनी चाहिए। इस व्यवस्था और अन्विति के अभाव मे घटनाओ का विवरण उखडा-उखडा लगेगा और वह उपन्यास का कथानक नही बन सकेगा।

कथावस्तु की अभिव्यक्ति शैली—उपन्यासो मे वस्तु-अभिव्यक्ति-कला का बहुत बडा महत्त्व होता है। कौन सी कथावस्तु किस शैली मे अभिव्यक्त किये जाने पर अधिक प्रभावोत्पादक हो सकती है, उपन्यासकार को इसका ठीक ज्ञान होना चाहिये। कुछ घटनाएँ ऐसी होती है, जिनको कथात्मक शैली मे प्रस्तुत करना पडता है। इस प्रकार की घटनाएँ अधिकतर प्राचीन काल से सम्बन्धित रहती हैं और पुरातन का एक अक होती हैं। ऐतिहासिक उपन्यासो की रचना मे कथावस्तु का प्रस्तुतीकरण इसी शैली मे समीचीन रहता है। कुछ घटनाएँ वर्त्तमान जीवन से सम्बन्धित होने के कारण आत्म-कथात्मक शैली मे अधिक सजीव हो सकती है। उपन्यासकार को उनका प्रस्तुतीकरण आत्म-कथात्मक शैली मे ही करना चाहिए। इसके विपरीत कभी-कभी पत्र-शैली, डायरी-शैली आदि अनेक अभिव्यक्ति-शैलियो का उपयोग भी किया जा सकता है। यदि वस्तु का शैली से सामञ्जस्य स्थापित करने मे उपन्यासकार सफल होता है, तो फिर उसे अपने कार्य मे सफल समझना चाहिये। इन विशेषताओ के अतिरिक्त सफल औपन्यासिक कथावस्तु की कुछ और विशेषताएँ भी होती हैं जिनका सक्षेप मे इस प्रकार निर्देश किया जा सकता है।

(क) **कथानक का चुनाव और संगठन**—उपन्यासकार की सफलता-असफलता में कथानक के चुनाव का बहुत बडा हाथ रहता है। पर्सी ल्यूब्वाक नामक उपन्यास-कार के इस कौशल को उसकी दिव्यशक्ति मानते है।[१] कोरे वर्णन-कौशल के आधार पर साधारण से साधारण कथानक को सफलतापूर्वक निभा लेना प्रत्येक उपन्यास-कार के बस की बात नही। कथानक का सगठन वह वस्तुजगत् के किसी एक या अनेक मनुष्यो के जीवन मे घटित घटनाओ के आधार पर करे या सुनी-सुनाई बातो के आधार पर, या फिर किसी परम्परागत कथा को ही उसने अपना लिया हो, पर कथानक का सगठन इस रूप मे करना होगा कि जिससे मानव-जीवन के रहस्यो का अधिकाधिक उद्घाटन हो सके।

(ख) **कुतूहलोद्दीपन**—कथानक ऐसा होना चाहिए जिसके प्रति पाठको की रुचि आरम्भ से लेकर अन्त तक रमी रहे। सफल कथानक वही कहलाता है जो शुरू मे ही पाठको के औत्सुक्य को जगा दे और ज्यो ज्यो वह खुलता जाय उनकी उत्सुकता उत्तरोत्तर बढती जाय। जहाँ पात्रो की सजीवता उनके बोधगम्य होने मे है, वहाँ कथानक की सजीवता इसमे है कि वह पग-पग पर पाठको को आश्चर्यचकित करता जाय।[२] यदि कथानक उपन्यास के बीच मे ही पूरा खुल जायगा और पाठक को जानने के लिए कुछ शेष नही रह जायगा तो उसकी उत्सुकता मन्द पड़ जायगी और वह उकताकर उपन्यास को बन्द कर देगा।

सम्भाव्यता—इसमे सदेह नही कि कथानक की सजीवता इसी मे है कि वह पाठको को पग-पग पर आश्चर्य-चकित कर दे, अर्थात् उसका विकास आशातीत हो, पर यह भी आवश्यक है कि कथानक के प्रत्येक ऐसे मोड पर पाठक चकित हो कर भी यही सोचे—'ओह ! अच्छा, खैर। ऐसा भी हो सकता है।' पाठक को यदि किसी एक घटना की सम्भाव्यता पर भी सदेह हो जायगा तो उसका मन उपन्यास मे नही लग सकेगा। हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासो मे भले ही पात्रो के अतिमानवीय कृत्य और कथानक के अप्राकृतिक मोड़ खप गए हो, पर आज का पाठक उस घटना की सम्भाव्यता को ही स्वीकार करता है जो उसकी बुद्धि की कसौटी पर खरी उतरे।

इसका यह अभिप्राय नही उपन्यास मे कोई घटना सयोगवश हो ही नही सकती। घटना चाहे सयोगवश घटित हुई हो, पर एक तो सम्भाव्य प्रतीत होनी चाहिए और दूसरे, उसके घटित होने मे, यदि, पूरा नही तो आशिक रूप मे ही सही, किसी पात्र का हाथ दिखा दिया जाय तो उसमे पाठक को बौद्धिक सतुष्टि प्रदान करने की क्षमता बढ जाती है।

ऐतिहासिक उपन्यासकार को एक और बात का भी ध्यान रखना होता है—वह यह है कि उसके उपन्यास के घटनाक्रम मे कालदोष (Anachronism) नहीं

---

१ रिचार्ड चर्च के 'दि ग्रोथ आफ इंगिलिश नावेल' नामक रचना से उद्धृत पृ० १६७।

२ उसी से उद्धृत पृ० १५१।

आना चाहिए। और साथ ही यह भी आवश्यक है कि जिस युग और प्रदेश से उसके कथानक का सम्बन्ध है उसी की रीति-नीति और विधि-निषेधो के अनुसार वह उपन्यास के कथानक को ढाले। तभी उसका उपन्यास अपने युग और जाति का दर्पण बनकर अपने उपन्यास नाम को सार्थक कर सकेगा।

संगठितता—कथानक की संगठितता ही उसे घटना-संग्रह से अलग कथानक का रूप प्रदान करती है। मानव-जीवन मे जितनी घटनाएँ घटित होती हैं उन सबमे कोई सामञ्जस्य नही बैठाया जा सकता, बल्कि उसमे अधिकाश घटनाएँ ऐसी होती हैं जिनमे परस्पर कोई सम्बन्ध दिखाई ही नही देता। पर उपन्यासकार की कुशलता इसी मे है कि उसके कथानक की सभी घटनाएँ एक सूत्र मे पिरोई हुई प्रतीत हो और वह उनमे ऐसी तर्क-संगति बैठाये कि उनमे कार्य-कारण शृखला बध जाय।

उपन्यास के आरम्भ से लेकर अत तक की उसकी कोई भी घटना इस कार्य-कारण शृखला मे ढीली नही पडनी चाहिए। बहुधा ऐसा होता है कि उपन्यास-कार अपनी किसी पूर्ण निश्चित मान्यता या पूर्वग्रह युक्त जीवन-दर्शन के प्रतिपादन की धुन मे उपन्यास के कथानक के अत मे एक ऐसा मोड दे देता है जो उपन्यास भर मे निभाई गई कार्य-कारण परम्परा पर पानी फेर देता है। इसलिए, यह आवश्यक हो जाता है कि स्वार्थ-साधन के लिए उपन्यासकार कथानक के साथ अत मे भी ज़बरदस्ती न करे।

पात्र और उनका चरित्र-चित्रण

उपन्यास को हेनरी जेम्स ने 'जीवन का दर्पण', बालज़ाक ने 'मनुष्यो की यथार्थताओ से बना घर', और मुशी प्रेमचन्द ने 'मानव चरित्र का चित्र' माना है। वास्तव में, उपन्यास का मुख्य विषय मानव और उसका चरित्र है। मानव एक पहेली है, दूसरो के लिए ही नही, प्राय. अपने लिए भी। उस पहेली को सुलझाने की, उस रहस्य को खोलने की सायास या अनायास चेष्टा प्रत्येक उपन्यास मे मिलती है। इस दृष्टि से पात्र और उनका चरित्र-चित्रण उपन्यास का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व बन जाता है। प्रत्येक मनुष्य के दो रूप होते है। एक बाहरी रूप, अर्थात् वह जो दूसरो को नज़र आता है, और दूसरा भीतरी रूप, अर्थात् वह जो वास्तव मे है। यद्यपि उसका भीतरी रूप कई बार उसके व्यक्त कार्य-कलापो में प्रतिबिम्बित हो जाया करता है, पर बहुधा वह अव्यक्त ही रहकर उसकी व्यक्त क्रिया-प्रतिक्रियाओ को प्रेरित करता है। हमारी पहुँच प्राय एक दूसरे के व्यक्त रूप तक ही होती है और उसी के आधार पर हम एक दूसरे के समूचे चरित्र का अनुमान लगा लिया करते हैं। पर क्योकि मनुष्य की व्यक्त चेष्टाओ मे उसका भीतरी असली रूप आंशिक रूप मे ही झलक पाता है, इसलिए एक दूसरे के बारे मे हमारा अनुमान प्राय अधूरा और बहुधा अत्यत भ्रामक होता है। पर उपन्यास-कार अपने पात्रो का स्रष्टा होने के कारण उनकी नस-नस से परिचित होता है।

पात्रो के प्रकार

पात्रो का दो प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है—(१) कथानक की

दृष्टि से, और (२) चरित्र-चित्रण की दृष्टि से। कथानक की दृष्टि से मुख्यतः पात्रो के दो भेद किए जाते हैं—(क) प्रधान पात्र, और (ख) गौण पात्र। जिन पात्रो से उपन्यास के कथानक का मुख्य रूप से और सीधा सम्बन्ध रहता है, जो कथानक को गति देते हैं या उससे विकास पाते हैं, उन्हे 'प्रधान पात्र' कहा जाता है। जिन पात्रो से कथानक का सीधा सम्बन्ध नही होता और जो उपन्यास मे प्रधान पात्रो के साधन बन कर उपस्थित होते है, उन्हे 'गौण पात्र' कहा जाता है।

प्रधान पात्रो के चार उपभेद माने जाते हैं—(१) नायक-नायिका। (२) प्रति-नायक-प्रतिनायिका, (३) पताकानायक-पताकानायिका, और (४) विदूषक। 'नायक' अथवा 'नेता' शब्द सस्कृत के 'नी' धातु से बना है, जिसका अर्थ है 'ले जाना'। यद्यपि उपन्यास के नायक मे उन सभी गुणो का होना अनिवार्य नही माना जाता जो साहित्यदर्पणकार ने नाटक के नायक में माने है, फिर भी उसका 'नेता' होना अनिवार्य-सा ही है। उपन्यास के पुरुष पात्रो मे सर्वप्रधान पात्र, जो आरम्भ से लेकर अत तक उपन्यास के कथानक को अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर करता है उपन्यास के सभी तत्त्व, जिसे धुरी मानकर चलते हैं, वही उसका नायक होता है।

इन्ही गुणो से युक्त प्रधान स्त्री-पात्र को नायिका कहा जाता है। सामान्यत. नायक की पत्नी या प्रेयसी ही नायिका होती है। पर यह कोई अनिवार्य नियम नही हो सकता है कि किसी उपन्यास मे नायक और नायिका ही हो, अथवा केवल नायक हो या केवल नायिका। प्रेमचन्द के रगभूमि मे नायक है, नायिका नही, और सेवा सदन मे नायिका है, पर नायक नहीं।

इसी प्रकार, उपन्यास के नायक या नायिका के लक्ष्य प्राप्ति के प्रयत्नो मे कुछ पात्र सहायक सिद्ध होते हैं और कुछ बाधक बनते है। उपन्यासो के इस प्रकार के पात्रो को भले ही हम क्रमश पताकानायक या पीठमर्द तथा प्रतिनायक या खल-नायक की सज्ञा न दें, पर उपन्यासो मे इनके अस्तित्व से इनकार नही किया जा सकता।

ये तो हुए प्रधान पात्र। इनके अतिरिक्त उपन्यास मे अन्य पात्र भी होते हैं, जिनका सम्बन्ध आधिकारिक कथा से उतना घनिष्ठ नही होता जितना कि प्रधान पात्रो का और जिनका प्रवेश प्रधान पात्रो के साधन के रूप मे होता है। इन्हे गौण पात्र कहा जाता है। उपन्यास मे इनकी आवश्यकता पडती है—कथानक को गति देने, वातावरण की गम्भीरता कम करने, वातावरण की सृष्टि करने, अन्य पात्रो के चरित्र को प्रकाश मे लाने आदि के लिए।

पात्रों के भेद चरित्र-चित्रण की दृष्टि से—चरित्र-विकास की दृष्टि से उपन्यास मे दो प्रकार के पात्र मिलते है एक वे जिनके जीवन की बदलती हुई परिस्थितियो का उनके चरित्र-विकास पर कोई प्रभाव नही पडता और उपन्यास के आरम्भ से लेकर अन्त तक वे एक से रहते है। कथानक की गति के साथ-साथ पाठकों की जानकारी जरूर बढती जाती है, पर यह जानकारी उनके चरित्र मे आए किसी आमूल परिवर्तन को लक्षित नही करती है, प्रत्युत उनके चरित्र के पूर्वव्यक्त

प्रतिन्यासो की ही पुष्टि करती है। ऐसे पात्रो को स्थिर (स्टैटिक) पात्र कहा जाता है। ये पात्र प्राय अपने वर्ग के प्रतिनिधि होते है। इसलिए इन्हे वर्ग प्रतिनिधि पात्र या टाईप भी कहा जाता है।

ऐसे पात्र जो अपनी परिस्थितियो से, अपने आस-पास के वातावरण से, अछूते नही रहते तथा बाह्य अथवा आभ्यान्तरिक परिस्थितियो के परिवर्तन के साथ-साथ जिनके चरित्र का भी विकास होता रहा है, इन्हें विकसन शील (किनेटिक) पात्र कहा जाता है। ऐसे पात्र अपने वर्ग के प्रतिनिधि नही होते। वास्तव मे, इनका कोई वर्ग होता ही नही। वे बाकी सबसे न्यारे, अपने मे अकेले, व्यक्ति ही होते हैं। इसलिए, इन्हे व्यक्ति चरित्र (इडिविजुअल कैरेक्टर) भी कहा जाता है।

चरित्र-चित्रण की विविध प्रणालियाँ—वैसे तो चरित्र-चित्रण की असख्य प्रणालियाँ हो सकती है, पर मुख्य रूप से वे तीन ही हैं। पहली है वर्णनात्मक (Descriptive) प्रणाली, जिसमे उपन्यासकार अपने शब्दो मे पात्रो की आकृति और वेश भूषा का वर्णन उनकी तत्कालीन बाह्य व आभ्यन्तरिक मन स्थिति का चित्रण तथा उसमे व्यक्त होने वाले उनके हाव भाव और क्रिया-प्रतिक्रिया का अकन करता है। दूसरी प्रणाली है विश्लेषणात्मक (Analytical)। इसमे उपन्यासकार अपने पात्रो की व्यक्त क्रिया-प्रतिक्रिया मे न अटका रहकर उनके कारणो की खोज में, पात्रो को उद्वेलित किए रखने वाले उनके भावो और विचारो, उनके चेतन य अचेतन रुझानो, उनकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म सवेदनाओ के विश्लेषण द्वारा उनमे कार्य-कारण की शृङ्खला बैठाता है। ऐसा करता हुआ वह अपने पात्रो के व्यक्त कार्य-कलापो में स्वाभाविकता ही नहीं ला देता, प्रत्युत उनके बाह्याभ्यतर दोनो को स्फटिक स्पष्ट करके उन्हे पाठको के लिए बोधगम्य भी बना देता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासो के उदय से इस प्रणाली को विशेष प्रश्रय मिला है।

चरित्र-चित्रण की तीसरी प्रणाली नाटकीय है। इसमे उपन्यासकार स्वय अपने पात्रो और पाठको के बीच मे नही अडा रहता, प्रत्युत पात्रो को उपन्यास के रग-मच पर लाकर स्वय बीच मे निकल जाता है और उन्हे अपनी क्रिया-प्रतिक्रिया भूभगिमा, कथोपकथनो आदि द्वारा धीरे-धीरे पाठको पर खुलने देता है। दूसरे शब्दो मे, वह अपने पात्रो के चरित्रोद्घाटन के लिए उन सब विधियो का प्रयोग करता है जिनके सहारे नाटककार अपने पात्रो को दर्शको पर व्यक्त करता है। अन्तर केवल यह है कि नाटककार को बना-बनाया स्थित्यनुकूल रग-मच मिल जाता है और मिल जाते है सजे-सजाए वाछित आकार और प्रकार के पात्र, जब कि उपन्यासकार को कोरे शब्द-चित्रो के सहारे इन सब चीजो को पाठको के कल्पना-चक्षुओ के सामने साकार ला खड़ा करना होता है।

सफल चरित्र-चित्रण—ऊपर चरित्र-चित्रण की जो तीन प्रणालियाँ दी हैं इसका अभिप्राय यह नही कि कोई उपन्यासकार पहली प्रणाली को अपनाता होगा और कोई दूसरी या तीसरी को। प्रत्येक उपन्यासकार को यह स्वतन्त्रता रहती है, वह जब चाहे जिस किसी प्रणाली का प्रयोग करे। नाटककार की तरह उस पर

ऐसा कोई प्रतिवन्ध नही रहता कि वह सदा नाटकीय प्रणाली को अपनाने के लिए ही वाध्य रहे। तो भी प्राय देखा गया है कि रुचि और सामर्थ्य के अनुरूप प्रत्येक उपन्यासकार का विशेप झुकाव किसी एक प्रणाली की ओर होता है। पर कई उपन्यासकार किसी एक प्रणाली के प्रति अत्यधिक मोहाविष्ट हो जाने के कारण अपने लिए अनावश्यक सीमाओ का निर्माण कर लेते है। उदाहरणार्थ, अपने उपन्यासो मे वृन्दावनलाल वर्मा नाटकीय प्रणाली की सीमाओ मे वध कर रह गए हैं। वास्तव मे, सफल उपन्यासकार वही है जो अपने उपन्यासो मे चरित्र-चित्रण की इन तीनो प्रणालियो का सम्यक् प्रयोग कर सके और उनमे समन्वय वैठा सके, क्योकि वर्णनात्मक और नाटकीय प्रणालियाँ पात्रो का वहिरग (objective) चित्रण करके ही रह जाती हैं और विश्लेपणात्मक प्रणाली उनके मानस की गहराइयो मे खोकर उनके अतरग (subjective) चित्रण से ही अवकाश नही पा सकती जवकि चरित्र-चित्रण की सफलता पात्रो के वहिरग और अतरग दोनो के स्फटिक स्पष्ट होने मे है।

कथोपकथन

कथोपकथन का प्रयोग कथानक को गति देने, पात्रो के चरित्र का उद्घाटन करने, समाज के किसी वर्ग-विशेष की प्रवृत्तियो को प्रकाश मे लाने, वातावरण की सृष्टि करने आदि कई उद्देश्यो से होता है। उपन्यास मे कथानक का समावेश चाहे किसी भी उद्देश्य से हुआ हो, यह नितान्त आवश्यक है कि वह उपन्यास मे उसका अग वन कर आए, थिगली के रूप मे नही। इसलिए कथोपकथन यदि उपन्यास के कथानक को गति नही देता या पात्रो के चरित्र को प्रकाश मे नही लाता या उपन्यास के किसी अन्य तत्त्व को पुष्ट नही करता तो उसके लिए उपन्यास मे कोई स्थान नही होना चाहिए, उसका विपय चाहे कितना ही आकर्पक हो और भापा चाहे कितनी ही सुन्दर हो।

इसमे कोई सदेह नही कि कथोपकथन का न्यूनाधिक सम्वन्ध उपन्यास के सभी तत्त्वो से है। पर इस तथ्य से इनकार नही किया जा सकता कि उसका सीधा सम्वन्ध पात्रो से और उनके चरित्र-चित्रण से है। पात्रो के भाव-विचार और सवेदनाओ को व्यक्त करने, उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया के पीछे छिपी प्रेरणाओ (Motives) के चित्रण मे तथा उनके एक दूसरे पर पडे सस्कारो को अभिव्यक्त करने मे कथोपकथन वडे कारगर सिद्ध होते है। जिन उपन्यासकारो का रुझान चरित्र-चित्रण की नाटकीय प्रणाली की ओर अधिक होता है वे तो कथोपकथन से पात्रो की मनोवृत्तियो के विश्लेपण और उनकी व्याख्या तक का काम भी ले लेते हैं। कथोपकथन का सवसे वडा लाभ यह है कि उपन्यासकार पाठक और पात्र के वीच से निकलकर, पात्रो को पाठको पर स्वय खुलने का अवसर दे देता है, जिससे उपन्यास मे अधिक स्वाभाविकता आ जाती है।

अच्छा कथोपकथन पात्रानुकूल होता है, उसकी परिस्थिति और उसके वौद्धिक विकास के अनुकूल होता है। इसका अभिप्राय यह नही कि वस्तुजगत् मे वह पात्र

जैसे और जिस बोली मे बोलेगा, उपन्यासकार उससे हू-ब-हू उसी प्रकार का कथोपकथन कराए। वास्तविक जीवन मे हमारे कथोपकथन बहुधा टूटी-फूटी भाषा मे, अनेक प्रकार की अस्पष्टताओ, असगतियो और आवृत्तियो से भरे रहते हैं। उपन्यासकार को पात्रो के कथोपकथन मे इन सब दोषो के लाने की जरूरत नही।[1] उसे तो कथोपकथन और उसकी भाषा को कलात्मक ढग से इस प्रकार छू देना है कि उनसे सम्बन्वित पात्रो का बौद्धिक स्तर ध्वनित हो उठे, अन्यथा कथोपकथन इतना दुरूह हो जाएगा है कि पाठक की समझ से बाहर हो जाए।[2] कथोपकथन की भाषा ही नही, उसका विषय भी पात्रानुकूल होना चाहिए। इसमे बहुधा अनाडी लेखक चूक जाता है और अपने विश्वासो और सिद्धान्तो की व्याख्या की धुन मे अपने पात्रो से ऐसे दार्शनिक विषयो पर कथोपकथन करा देता है जो उनके बौद्धिक स्तर से परे हो।

कथोपकथन भावो की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप मे पात्र का दास होता है, स्वामी नही। इसलिए, यह नितान्त आवश्यक है कि वह स्पष्ट और सुबोध हो, पर कथोपकथन की स्पष्टता से हमारा अभिप्राय यह नही कि वह उपयुक्त समय से पहले कथानक के मोडो तथा पात्रो की प्रतिक्रियाओ को व्यक्त कर दे। हमारा कहना केवल यह है कि किसी स्थिति विशेष मे उपन्यासकार कथोपकथन द्वारा जो कुछ और जितना बताना चाहता है उसे बिना किसी प्रकार की दुरूहता के व्यक्त कर दे।

वातावरण

किसी व्यक्ति की समस्या का वास्तविक ज्ञान और उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया का सही मूल्याकन उसकी परिस्थिति को जाने बिना नही हो सकता क्योकि विपरीत परिस्थितियो के आँधी-तूफान बडे-बडे धैर्यधारियो के छक्के छुड़ा देते है और अनुकूल परिस्थितियो मे साधारण प्रतिभा वाले मनुष्य भी असाधारण सफलताएँ प्राप्त कर लेते है। पर किसी परिस्थिति के वर्णन मात्र से ही यह नही कहा जा सकता कि वह अनुकूल है अथवा प्रतिकूल। इसके लिए उसे देश और काल के सदर्भ मे रखकर देखना होगा। किसी एक देश अथवा काल से प्रतिकूल कहा जाने वाला वातावरण किसी दूसरे देश या काल मे अनुकूल भी सिद्ध हो सकता है। उदाहरणार्थ स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पहले भारतीय काग्रेस के किसी अधिवेशन मे तालियो की गडगडाहट के बीच धुआँधार भाषण करने वाले को मिलती थी जेल की कोठरी या फाँसी का तख्ता, पर अब इसी से वह सुख-सुविधा-सम्पन्न कोठी या वुज़ारात के तख्त का अधिकारी बन जाता है।

---

1 "In a quarrel that takes place in real life, you will find a great many undramatic repetitions and anti climaxes, and sometimes a vast amount of unnecessary language, all this has to be avoided" (*Henry Arther Jones*).

2 "Very few know any dialect thoroughly enough to permit a writer to use it with absolute accuracy The moment dialogue begins to show the need of a glossary it is defeating its own end" (*G P Baker*)

इसलिए जो उपन्यासकार यह चाहता है कि पाठक उसके पात्रो को ठीक-ठीक समझ सकें—और ऐसा प्रत्येक उपन्यासकार चाहा करता है—, उसे अपने पात्रो की परिस्थिति-विशेष का तो, जिसने कि उन्हे उलझा रखा है, सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण करना ही होगा, पर साथ ही उस देश और काल का भी ठीक-ठीक परिचय कराना होगा जिससे उसके उपन्यास के कथानक और पात्रो का सम्बन्ध है, क्योकि देश, काल और परिस्थिति के सदर्भ मे ही पाठक उसके पात्रो के कार्यकलापो का सही मूल्याकन कर सकेगे। समस्यामूलक सामाजिक उपन्यासो मे उपन्यासकार को अपने पात्रो के युग और उसकी परिस्थितियो के चित्रण के लिए कोई विशेष आयास की अपेक्षा नही रहती, क्योकि पाठक स्वय भी उसी युग का होने के कारण उपन्यासकार के सकेत मात्र से ही पात्रो की परिस्थिति को उनके वास्तविक रूप मे ग्रहण कर लेता है। पर ऐतिहासिक-उपन्यास के लेखक को इस विषय मे विशेष परिश्रम करना पडता है। वास्तव मे उपन्यास के कथानक का सम्बन्ध जिस देश व युग से हो उसके बारे मे पूरी जानकारी प्राप्त करना उसके लिए अनिवार्य हो जाता है। ऐतिहासिक उपन्यास का पाठक क्योकि उपन्यास के युग और उसकी परिस्थिति से वहुत दूर होता है, उन्हे पूरी-तरह से समझने के लिए उसे उपन्यासकार के वर्णनो का ही सहारा लेना पडता है। इसीलिए, पाठक के प्रति ऐतिहासिक उपन्यासकार का दायित्व दूसरो की अपेक्षा वढ जाता है और उसकी सवसे वडी कठिनाई यह होती है कि इस जिम्मेदारी को निभाने मे उसके लिए कल्पना का प्रयोग वर्जित होता है और उसे उस युग के जीवन और जगत् के कठोर सत्य को ही अपने उपन्यास का आधार वनाना होता है। कोई उपन्यासकार जितना सही और स्पष्ट चित्रण अपने उपन्यास के युग और उसकी परिस्थितियो का कर सकेगा उतने ही यथार्थ और सजीव वातावरण की वह सृष्टि कर सकेगा और उतनी ही आसानी से और सही रूप मे उसके पात्र समझे जा सकेंगे। इस दृष्टि से वृन्दावन लाल वर्मा के 'गढ कुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी', 'झाँसी की रानी' आदि ऐतिहासिक उपन्यास उल्लेखनीय हैं, जिनमे उस युग की राजनीतिक परिस्थितियो, धार्मिक मनोवृत्तियो और सामाजिक समस्याओ की स्पष्ट झाँकी मिल जाती है।

यहाँ ऐतिहासिक उपन्यासकार को यह चेतावनी देना अप्रासगिक न होगा कि उपन्यास के कथानक के अनुरूप वातावरण की सृष्टि, अर्थात् देश-काल और परिस्थिति-चित्रण, उपन्यास के कथानक को सही रूप मे प्रकाशित करके उसके पात्रो को बोधगम्य बनाने का साधन ही है, अपने आप मे वह साध्य नही। यदि अपने ऐतिहासिक ज्ञान के प्रदर्शन की धुन मे कोई उपन्यासकार इसे साधन से साध्य वना देगा तो उसका उपन्यास इतिहास के शुष्क पन्नो से अधिक रोचक न बन पाएगा और उपन्यास की दृष्टि से अपना महत्त्व खो बैठेगा।

पात्रो की बाह्य परिस्थितियो के चित्रण, उनके आस-पास के वातावरण की सृष्टि से ही उपन्यासकार के कर्त्तव्य की इति नही हो जाती। उसे पात्र के आभ्यन्तरिक वातावरण, उसकी मानसिक उथल-पुथल और उसके अचेतन कारणो का भी चित्रण करना होगा, क्योकि उनके प्रकाश मे ही पाठक उन पात्रो की व्यक्त क्रिया-

प्रतिक्रियाओ की स्वाभाविकना को पहचान सकेगा। समान वाह्य परिस्थितियो में भी जब कोई पात्र भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रतिक्रिया करता हुआ पाया जाता है तो पाठक को उसके आचरण की स्वाभाविकता पर सन्देह होने लगता है, पर कुशल उपन्यासकार दोनो स्थितियो मे पात्र की मानसिक अवस्थाओ का चित्रण करके उसके चरित्र मे व्यक्त होने वाले विरोधाभासो को हटा देता है और इस प्रकार उसे विश्वास करा देते है कि उन दो समान परिस्थितियो मे पात्र के परस्परविरोधी आचरण का मूल उसकी दोनो वार की मनोस्थितियो के परस्पर विरोध मे है।

इस प्रकार, उपन्यामकार को अपने पात्रो के वाह्य और आभ्यन्तरिक दोनों प्रकार के वातावरण का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण करना होता है। ऐसा वह तभी कर सकता है यदि वह अपने पात्रो के वारे मे, उनके देश-काल और समाज के वारे में पूरी-पूरी जानकारी रखता हो।

जीवन-दर्शन और उद्देश्य

जैसा कि हम पहले कह चुके है, उपन्यास का सीधा सम्वन्ध मानव से तथा उसके जीवन और जगत् से है। जितनी सफलता से कोई उपन्यासकार अपने पात्रो की वाह्य और आभ्यन्तरिक परिस्थितियो का चित्रण कर सकेगा, अपने आस-पास की परिस्थितियो के प्रति उनके दृष्टिकोण को और निरन्तर वदलती हुई परिस्थितियो मे अपने परिपार्श्व के प्रति, अपने जीवन और जगत् के प्रति उसके दृष्टिकोण मे जो रूपान्तर घटित होता है, उसे चित्रित कर सकेगा उतना ही सफल उसका उपन्यास होगा। पर यह सव कुछ तो वह तभी कर सकेगा यदि वह स्वय जीवन का पारखी हो और मानव स्वभाव का पूरा जानकार हो—कोरे पुस्तक-ज्ञान के आधार पर नही, वल्कि इस भव-सागर मे अपनी जीवन-नौका को डालकर उसने लहरो के थपेडे खाए हो और सागर की तरगो के उतार और चढाव मे उसकी नौका उठती-गिरती निरन्तर वढती रही हो, और उसके प्रत्येक उत्थान और पतन मे उसने कुछ खोया हो, कुछ पाया हो। ऐसा अनुभवी उपन्यामकार ही उपन्याम के नाम को सार्थक कर सकता है।

पर ऐसे अनुभवी उपन्यासकार के जीवनव्यापी सघर्ष ने उसके मन पर जो सस्कार छोडे होते है, उनके सहारे जीवन और जगत् के प्रति और उसकी प्रत्येक समस्या के प्रति, उसका एक विशेप दृष्टिकोण वन चुका होता है। उसकी मान्यताएँ और विश्वास एक स्पप्ट रूप धारण कर चुके होते हैं और वे जाने या अजाने उसके उपन्यास मे अभिव्यक्ति पा लेते हैं। वहुधा ऐसा भी होता है कि उपन्यासकार अपने जीवन मे अनुभूत सत्य को दूसरो तक पहुँचाने के लिए अधीर हो उठता है और उपन्यास को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम वनाता है। साहित्य की अन्य विधाओ की तुलना मे उपन्यास ही एक ऐसा है जिसकी रचना "कला केवल कला के लिए" की दृष्टि से वहुत कम हुई है। होता प्राय यह रहा है कि अपने युग और उसकी मनोवृत्ति मे व्याप्त विप से अपने समाज और उसके विधि-निपेधो द्वारा निरन्तर होने वाले अनिप्टो से, अपनी जनता की नस-नस मे भरी जडता से

उपन्यासकार इतना बेजार हो गया होता है कि वह अपने युग और समाज को उसकी मोह-निद्रा से झकझोड़कर उठा देने का दृढ संकल्प कर लेता है और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उपन्यास को साधन बनाता है। विश्व के उच्चकोटि के उपन्यासो की रचना उन उपन्यासकारो द्वारा ही सम्भव हुई है जो अपने युग और समाज की धांधली से बेजार और उस धांधली का अन्त करने के लिए दृढ-सकल्प थे। अपने समाज मे आमूल परिवर्तन ला देने के लिए, अपने युग के मानव की काया पलट देने के लिए उनके भीतर ही भीतर जो आग सुलग रही थी, जो तडप उन्हे दिन-रात बेचैन कर रही थी, वही विश्व के अमर उपन्यासो के रूप मे परिवर्तित हुई। ऐसे उपन्यासो मे उनके रचयिता का जीवन-दर्शन इतना सशक्त बनकर आया है कि उससे समाज मे क्रान्ति मच गई।

इस प्रकार, उपन्यास मे उपन्यासकार के जाने या अजाने उसका जीवन-दर्शन अभिव्यक्ति पा लेता है। सच तो यह है कि उपन्यास रचने के लिए एक बार लेखनी उठा लेने पर कोई भी उपन्यासकार जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण, जीवन और जगत् के प्रति अपनी विविध मान्यताओ और विश्वासो को उनसे अलग नही रख सका, वे बरबस उसके उपन्यासो मे झलक पडे। वास्तव मे किसी उपन्यास को अमर बना देने वाला उसमे निहित उपन्यासकार का सशक्त जीवन-दर्शन ही होता है, और यदि कोई उपन्यास असफल रहता है तो भी उसका मुख्य कारण जीवन के प्रति उसके रचयिता का अपरिपक्व दृष्टिकोण होता है। इस दृष्टि से उपन्यास मे निहित जीवन-दर्शन और उसके उद्देश्य का महत्त्व बढ जाता है। इसीलिए तो जब हम किसी उपन्यास की समालोचना करने बैठते है तो अपने को उसमे व्यक्त जीवन-दर्शन का विवेचन करता हुआ पाते हैं। यदि किसी उपन्यास को हम सराहते हैं तो इसलिए कि उस द्वारा प्रचारित दृष्टिकोण हमारे जीवन-दर्शन से मेल खाता है, और यदि उसको व्यर्थ बताते है तो इसलिए कि उसमे व्यक्त जीवन-दर्शन हमे उपयोगी प्रतीत नही होता है।

इसमे सदेह नही कि उपन्यास की प्रमुख शक्ति उसमे निहित उपन्यासकार के जीवन-दर्शन मे होती है पर इसका अभिप्राय यह नही कि उपन्यासकार उपदेशक के रूप मे प्रकट होकर अपनी व्यक्तिगत मान्यताओ और आस्थाओ को, अपने विचारो और विश्वासो को, पाठको पर लादता रहे। वास्तविकता यह है कि किसी उपन्यासकार का जीवन के प्रति दृष्टिकोण चाहे कितना ही परिपक्व हो, उसका जीवन-दर्शन चाहे कितना ही ठोस हो, वह एक दम व्यर्थ सिद्ध हो जायगा यदि वह उपन्यास के विविध तत्वो के माध्यम से व्यक्त न होकर सीधा दार्शनिक व्याख्यान या धार्मिक उपदेश के रूप मे व्यक्त होगा। उपन्यासकार का जीवन-दर्शन पाठक तक इस रूप मे पहुँचना चाहिए जो व्यजनात्मक अधिक हो और अभिधात्मक कम। इसीलिए, प्रेमचन्द प्रभृति ऐसे उपन्यासकार, जो अपने उपन्यासो मे बार-बार प्रकट होकर पाठको को सीधा सम्बोधित करके बडे-बडे व्याख्यान देने लग जाते हैं, वे अपने पाठको को ऊबा देते हैं। पर उपन्यासकार का जीवन-दर्शन इतना अधिक दुरूह और अप्राप्य भी नही होना चाहिए जितना जैनेन्द्र के उपन्यासो का, जिनमे उपन्यासकार और

उसका दर्शन पाठको को हर बार चकमा देकर उनकी पकड़ से निकल जाय। कहने का अभिप्राय यह है कि उपन्यास मे उसके रचयिता के विचार और विश्वास इतने सुलभ भी नही होने चाहिएँ कि वह स्वय प्रकट होकर उनका प्रचार करता फिरे और इतने प्राप्य भी नही होने चाहिएँ कि पाठक के लाख चेष्टा करने पर भी उसके पल्ले कुछ न पडे।

उपन्यासो के विविध भेद

जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाला उपन्यास आज जीवन के समान ही इतना बहुमुखी हो गया है कि उसका कोई भी वर्गीकरण अधूरा और व्यर्थ हो जायगा। फिर भी विविध दृष्टियो से उसके भेदोपभेद किए जा सकते हैं। मुख्यरूप से उसका तीन प्रकार से वर्गीकरण हो सकता है—(१) कथा-शैली की दृष्टि से, (२) कथानक की दृष्टि से, और (३) विषय की दृष्टि से।

कथा-शैली की दृष्टि से—

(१) **कथात्मक**—इसमे उपन्यासकार अपनी ओर से उत्तम पुरुष मे कहानी कहता चला जाता है। हिन्दी मे मनोवैज्ञानिक उपन्यासो के उदय से पहले अधिकाश उपन्यास इसी शैली मे लिखे जाते थे। प्रेमचन्द के सभी उपन्यास कथात्मक शैली मे हैं।

(२) **आत्मकथात्मक**—इसमे उपन्यास का नायक या कोई अन्य पात्र आत्म-कथा के रूप मे प्रथम पुरुष मे आप-बीती कहता कहता है। जैसे—जैनेन्द्र का 'सुखदा', इलाचन्द जोशी का 'जहाज का पछी' आदि।

(३) **पत्रात्मक**—इसमे उपन्यास के कथानक का उद्घाटन और उसके पात्रो की चरित्राभिव्यक्ति आदि सब कुछ पात्रो के एक दूसरे को लिखे गए पत्रो के माध्यम से ही होती है। जैसे—पाण्डेय वेचन शर्मा 'उग्र' का 'चन्द हसीनो के खतूत'।

(१) **घटना-प्रधान**—ऐसे उपन्यासो मे उपन्यासकार का ध्यान कथावस्तु के सगठन की ओर अधिक होता है, पात्रो के चरित्र-चित्रण की ओर कम। ऐसा उपन्यासकार पाठको के मनोरजन, या किसी सामाजिक या राजनीतिक समस्या के लिए कथावस्तु का सगठन करता है, और उसके अनुरूप ही पात्र के चरित्र को रूप और आकार देता चलता है। ऐसे उपन्यासो मे बहुधा कथानक की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए पन्यासकार पात्रो के चरित्र-विकास के साथ जबरदस्ती कर बैठता है, उनके चरित्र-विकास को कई ऐसे मोड दे बैठता है जो उनके स्वाभाविक और प्राकृतिक विकास मे एक असगति ला देते है।

हिन्दी के आरम्भिक उपन्यास अधिकाशत घटना-प्रधान ही थे। देवकीनन्दन खत्री के तिलस्म और ऐयारी के उपन्यास तथा गोपालराम गहमरी के जासूसी उपन्यास इसी कोटि के उपन्यास है, जिनमे उपन्यासकार का उद्देश्य पाठको को घट-नाओ के घटाटोप मे उलझाकर उनकी कुतूहलवृत्ति को उकसाते रहना है।

(२) **चरित्र-प्रधान**—ऐसे उपन्यासो मे पात्रो की प्रधानता रहती है। इनमे कथानक और अन्तर्गत घटनाएँ पात्रो के लिए होती है, न कि पात्र घटनाओ के लिए। ऐसे उपन्यासो की प्रत्येक घटना, उनकी कथावस्तु का प्रत्येक मोड पात्रो के चरित्र के किसी न किसी रूप के उद्घाटन के लिए होता है, कथानक के कलापक्ष दिखाने के लिए नही। इन उपन्यासो मे बहुधा कथावस्तु के सगठन की ओर कोई विशेप ध्यान नही दिया जाता और यह प्रवृत्ति यहाँ तक बढ गई है कि कई उपन्यासो मे कथानक की ओर बिलकुल ही ध्यान नही दिया जाता, और उपन्यास-कार अपना सारा जोर पात्रो के चरित्र-चित्रण मे लगा देता है।

प्रेमचन्द का 'गोदान' और 'रगभूमि', यशपाल का 'दिव्या' और जैनेन्द्र का 'सुनीता' आदि उपन्यास चरित्र-प्रधान उपन्यास ही है, जिनमे कथावस्तु ढीली ही रही है।

ऊपर हमने उपन्याम के घटना-प्रधान तथा चरित्र-प्रधान जो दो भेद बताए हैं इसका अभिप्राय यह नही कि प्रत्येक उपन्यास या तो घटना-प्रधान होगा और या चरित्र-प्रधान। वास्तव मे, सफल उपन्यास वही हो पाता है जिसमे कथानक और चरित्र मे समन्वय रहा हो, जिसमे न तो कथानक की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए पात्रो का गला घोटा गया हो, और न ही पात्रो के चरित्रो के चरित्र-चित्रण पर कथावस्तु की सगठितता की बलि चढाई गई हो, जिसमें ये दोनो तत्त्व एक-दूसरे के बाधक नही साधक बन कर रहे हो।

विपय की दृष्टि से—

तिलस्मी ऐयारी और जासूसी उपन्यास—हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्याम अधिकतर या तो तिलस्मी हैं, या ऐयारी हैं और या फिर जासूमी हैं। तिलस्म शब्द सम्भवत अरबी है। इनसे उन आश्चर्यजनक और कौतूहलवर्द्धक घटनाओ आदि का बोध होता है जो मनुष्य को एकाएक स्तम्भित कर देती है। 'ऐयार' शब्द मक्कारी का पर्यायवाची है। इम मक्कारी के लिये हमारे यहाँ माया शब्द का प्रयोग होता रहा है। जिन उपन्यासो मे मक्कार और मायावी पुरुपो का वर्णन रहता है, उन्हे ऐयारी के उपन्यास कहते है। तिलस्मी और ऐयारी उपन्यास सम्भवत पहले-पहल अरबी और फारमी मे लिखे गए थे। इनके उर्दू अनुवाद उन्नीसवी शताब्दी मे ही प्रारम्भ हो गए थे। ऐयारी और तिलस्मी उपन्यासो की अपेक्षा जासूसी उपन्यास अधिक बुद्धिवर्द्धक प्रतीत होने हैं। तिलस्मी और ऐयारी उपन्यासो का लक्ष्य केवल कौतूहलवर्द्धन ही प्रतीत होता है, किन्तु जासूसी उपन्यासो का लक्ष्य कौतूहलोत्पादन के साथ-साथ बुद्धिवर्द्धन भी प्रतीत होता है। जासूसी उपन्यास सम्भवत पाश्चात्य देशो के डिटेक्टिव (Detective) उपन्यासो के आधार पर विकसित हुए है। इन तीनो कोटि के उपन्यास लिखने की परम्परा भारतेन्दु युग मे ही प्रवर्तित हो गई थी। तिलस्मी और ऐयारी उपन्यास लिखने वालो मे देवकीनन्दन खत्री का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। देवकीनन्दन खत्री का सबसे पहला उपन्याम 'चन्द्रकान्ता' है। चन्द्रकान्ता के बाद 'चन्द्रकान्ता सन्तति' की रचना हुई। यह २४ भागो मे है।

इनकी अन्य रचनाओ मे नरेन्द्रमोहनी (दो भाग), कुसुमकुमारी (चार भाग), काजल की कोठरी, कटोरा भर खून, नौलखा हार और भूतनाथ विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमे से अधिकाश तिलस्म और ऐयारी से भरे हुए हैं। तिलस्मी उपन्यासो मे जनार्दन झा लिखित नौका डूबी और किशोरीलाल गोस्वामी लिखित तिलस्मी शीश महल, नामक उपन्यास भी प्रसिद्ध है।

तिलस्मी उपन्यासो की अपेक्षा जासूसी उपन्यासो की हिन्दी मे अधिक भरमार रही। जासूसी उपन्यास लिखने का श्रीगणेश सम्भवत गोपालराम गहमरी ने किया था। इनके लिखे हुए 'खूनी कौन', 'जमुना का खून', 'जासूस की भूल', 'जासूस की चोरी' नामक उपन्यास बहुत प्रसिद्ध है। जासूसी उपन्यासो मे हरीकृष्ण 'जौहर' लिखित 'डाकू' तथा 'छाती का छुरा', बल्देवप्रसाद मिश्र लिखित 'अद्‌भुत लाश', रामलाल वर्मा लिखित 'खूनी खजर', 'जासूसी चक्कर', 'जासूसी पिटारा', 'डबल जासूसी', 'माया का खून' 'पुतली का महल', 'दारोगा का खून', आदि उपन्यास भी उल्लेखनीय हैं। इन सभी उपन्यासो मे वस्तु, वर्णन तथा घटना जनित वैचित्र्य को ही महत्त्व दिया गया है। इन उपन्यासो मे चरित्र के विकास के लिए न अवकाश ही है और न उपन्यासकारो ने प्रयास ही किया है।

सामाजिक उपन्यास—हिन्दी मे सामाजिक उपन्यास लिखने की परम्परा भारतेन्दुकाल मे ही प्रवर्तित हो चली थी। हिन्दी मे सामाजिक उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति के साथ-साथ वस्तु तथा घटना-वैचित्र्य के स्थान पर चरित्र-वैचित्र्य को महत्त्व दिया जाने लगा। इस चरित्र-वैचित्र्य के प्रयास मे लगे हुए हिन्दी के सामाजिक उपन्यासकारो मे चरित्र-चित्रण की कला का भी विकास दिखाई पडा। हिन्दी के प्रारम्भिक सामाजिक उपन्यासो मे गौरीदत्त लिखित 'देवरानी जिठानी', प्रताप नारायण मिश्र कृत 'राधारानी', 'देवी चौधरानी', राधा चरण गोस्वामी प्रणीत 'विधवा विपत्ति', राधाकृष्णदास रचित 'निस्सहाय हिन्दू', किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'तरुण तपस्विनी', गोपालराम गहमरी लिखित 'दो बहिन', लज्जाराम मेहता प्रणीत 'आदर्श दम्पति', उमरावसिंह लिखित 'आदर्श बहू', 'भाई बहिन', चन्द्रसेन जैन लिखित 'बुढापे का विवाह' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

सामाजिक उपन्यास लिखने की कला को चरम सौन्दर्य प्रदान करने का श्रेय उपन्यास सम्राट् प्रेमचन्दजी को है। उनके 'सेवा सदन', 'वरदान', 'प्रेमाश्रम', 'रगभूमि', 'कायाकल्प', 'निर्मला', 'प्रतिज्ञा', 'गबन', 'कर्मभूमि', 'गोदान', लगभग यह ग्यारहो उपन्यास सामाजिक उपन्यासो की ही कोटि मे आते है। इनके पहले उपन्यास 'प्रेमा' और अन्तिम उपन्यास 'मगल सूत्र' मे भी सामाजिकता की ही झलक दिखाई पडती है। इनके उपन्यास अधिकतर समस्या-प्रधान उपन्यास हैं, इन समस्या-प्रधान उपन्यासो मे कुछ पात्रो के चरित्र-चित्रण का सफल प्रयास किया गया है। प्रेमचन्द के बाद सामाजिक उपन्यास लिखने की परम्परा बराबर चलती रही। प्रेमचन्दजी के बाद के सामाजिक उपन्यासो मे वृन्दावनलाल वर्मा लिखित 'कुण्डली चक्र', राधिकारमणप्रसाद लिखित 'राम रहीम', विश्वम्भर शर्मा कौशिक लिखित 'माँ', शिवपूजनसहाय कृत 'देहाती दुनिया', सियारामशरण लिखित 'नारी',

सूर्यकान्त त्रिपाठी लिखित 'अप्सरा', देवनारायण लिखित 'दहेज', भगवतीप्रसाद वाजपेयी लिखित 'परित्यक्ता', 'दो वहिनें', तथा 'पत्नी' अनूपलाल मण्डल कृत 'निर्वासिता', 'समाज की वेदी पर', 'गरीबी के दिन', इलाचन्द्र जोशी प्रणीत 'सन्यासी' 'निर्वासिता', जैनेन्द्र लिखित 'सुनीता', विशेष प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक सामाजिक उपन्यास लिखे गए। इन सभी उपन्यासो मे समाज के विभिन्न चित्रों की अवतारणा की गई है। उनकी सामाजिक समस्याओ को प्रस्तुत किया गया है, कुछ मे उन समस्याओ के सुलझाव की प्रवृत्ति भी दिखाई पडती है। सक्षेप मे यह कहने मे सकोच नही है कि हिन्दी के सामाजिक उपन्यासो की रूपरेखा वडी व्यापक है।

राजनीतिक उपन्यास—प्रेमचन्द युग के वाद उपन्यास कला ने जव एक नई करवट ली तो उसकी प्रवृत्ति राजनीति की ओर भी हो चली, जिसके फलस्वरूप हिन्दी मे वहुत से सफल और सुन्दर राजनीतिक उपन्यास लिखे जाने लगे। राजनीतिक प्रवृत्ति का उदय जैनेन्द्र मे ही हो चला था। इसका प्रमाण यह है कि उन्होने अपने उपन्यासो के कुछ पात्रो को क्रान्तिकारी दल का सदस्य वनाया है। अज्ञेय की प्रवृत्ति भी थोडी-वहुत राजनीतिक ही प्रतीत होती है। उनके 'शेखर एक जीवनी' मे आतकवाद की झलक मिलती है। ठाकुर शिवनाथसिंह ने शुद्ध राजनीतिक आन्दोलनो को लेकर उपन्यास लिखे। उनके 'जागरण' मे खादी आन्दोलन की अच्छी झाँकी दिखाई पडती है। राजनीतिक उपन्यास लिखने वालो मे रामवृक्ष वेनीपुरी का नाम भी प्रतिष्ठा के साथ लिया जाता है। उनका 'पतितो के देश में' नामक उपन्यास शुद्ध राजनीतिक उपन्यास है। मोहनलाल महतो के उपन्यास भी अधिकतर राजनीतिक हलचलो और आन्दोलनो को लेकर लिखे गए हैं। फ्रायड और मार्क्स से प्रभावित कलाकार यशपाल ने भी कुछ राजनीतिक उपन्यास लिखे है। इनमें 'पार्टी काग्रेस' विशेष प्रसिद्ध है। मार्क्सवादी राजनीति को लेकर हिन्दी मे वहुत से उपन्यास लिखे गए हैं। इनमे नरोत्तमदास नागर के 'दिन के तारे' और सर्वदानन्द वर्मा लिखित 'नरमेध' के नाम विशेष उल्लेखनीय है। नागार्जुन अधिकतर मार्क्सवाद के प्रचारात्मक दृष्टिकोण को लेकर चले हैं। भगवतीचरण वर्मा ने 'टेढे-मेढे रास्ते' मे युग की राजनीतिक विषमताओ का अच्छा सकेत किया है। इसके उत्तर मे रागेय राघव ने 'सीधा-साधा रास्ता' लिखकर मार्क्सवाद की सर्वोत्कृष्टता व्यजित की है। सेठ गोविन्ददास का 'इन्दु' नामक उपन्यास भी राजनीतिक हलचलो का चित्र खीचने मे ही प्रयत्नशील है। अचल की प्रवृत्ति भी वर्त्तमानकालीन राजनीतिक प्रेरणाओ से प्रेरित है। 'चढती धूप', 'उल्का', आदि उपन्यासो मे उनकी राजनीतिक प्रवृत्ति ही झाँक रही है। इधर गुरुदत्त, यज्ञदत्त शर्मा और रामानन्द सागर आदि ने अनेक सफल राजनीतिक उपन्यास लिखे है। गुरुदत्त के राजनीतिक उपन्यासो में 'स्वराज्य दान', 'विकृत छाया' आदि के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं। यज्ञदत्त शर्मा के 'दो पहलू' और 'इसान' नामक उपन्यास भी राजनीतिक उपन्यासो की कोटि मे ही आते हैं। इनमे अधिकतर 'नमक सत्याग्रह', 'क्रातिकारी आन्दोलन' आदि प्रसगो की अवतारणा की गई है। इस प्रकार सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि हिन्दी उपन्यास क्षेत्र मे राजनीतिक उपन्यासो की धारा भी अच्छी पनप रही है।

ऐतिहासिक उपन्यास—हिन्दी साहित्य मे ऐतिहासिक उपन्यासो की परम्परा आधुनिक युग के प्रथम चरण मे किशोरीलाल गोस्वामी के द्वारा प्रवर्तित की गई थी। उनके ऐतिहासिक उपन्यासो मे 'तारा' नामक उपन्यास विशेष उल्लेखनीय है। किन्तु इस उपन्यास मे भी उन्हें ऐतिहासिक उपन्यासकार की दृष्टि से अधिक सफलता नही मिलती है। सफल ऐतिहासिक उपन्यामो के अभाव मे कुछ हिन्दी विद्वानो ने वगला के ऐतिहामिक उपन्यासो का अनुवाद किया। इन उपन्यालो में दुर्गेश नन्दिनी, चन्द्रशेखर, देवी चौवरानी आदि उपन्यास विशेष लोकप्रिय रहे। ऐतिहासिक उपन्यास लिखने का प्रयत्न प्रसिद्ध आलोचक मिश्रवन्धुओ ने भी किया। 'विक्रमादित्य' और 'पुष्यमित्र' नामक उनके ऐतिहासिक उपन्यास कई दृष्टियो से सफल हैं। इस दिशा मे जयशकरप्रसाद का प्रयास भी उल्लेखनीय है। 'ईरावती' मे उन्होने शु गकालीन परिस्थितियो का अच्छा चित्रण किया है। प्रसादजी के वाद ऐतिहासिक उपन्यास-लेखको मे आचार्य चतुरसेन शास्त्री का नाम आता है। इनके ऐतिहासिक उपन्यासो मे 'वैशाली की नगर वधू' 'वय रक्षाम' और 'सोमनाथ' ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। इनमे 'वैशाली की नगर वधू' अधिक सुन्दर वन पडा है।

ऐतिहासिक उपन्यास-लेखको के सम्राट् श्री वृन्दावनलाल वर्मा के प्रयास सव प्रकार से स्तुत्य हैं। उनके प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास 'कचनार', 'गढ कु डार' 'विराटा की पद्मिनी', 'मृगनयनी', झाँसी की रानी', और 'अहिल्यावाई' वहुत सफल है। इनके ऐतिहासिक उपन्यासो की सवसे वडी विशेषता युग विशेष की सस्कृति के सजीव चित्रण मे रहती है। यह सस्कृति भी अधिकतर बुन्देलखण्ड के आसपास के भूमि-भागो से ही सम्वन्धित रहती है। ऐतिहासिक उपन्यास रचना-क्षेत्र मे राहुलजी ने भी अच्छा प्रयास किया है। उनके लिखे हुए 'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय' सफल ऐतिहासिक उपन्यास है। इन उपन्यासो मे तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियो का अच्छा उद्घाटन किया गया है। इनके उपन्यासो में इनकी भ्रमणशील प्रवृत्ति की अच्छी प्रतिच्छाया दिखाई देती है।

ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र मे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का प्रयास भी सराहनीय है। उनका लिखा हुआ 'वाण भट्ट की आत्म-कथा', एक सफल ऐतिहासिक उपन्यास है और आत्मकथात्मक शैली मे लिखा हुआ तो वह अकेला ही है। इस उपन्यास ने यह प्रमाणित कर दिया है कि द्विवेदीजी महान् भावक ही नही, परम भावुक भी हैं। द्विवेदीजी के अतिरिक्त भगवतीचरण वर्मा और रामरतन भटनागर ने भी ऐतिहासिक उपन्यास लिखने का प्रयास किया है। भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' और रामरतन भटनागर की 'अम्वपाली' नामक उपन्यास विशेप प्रसिद्ध हैं।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास—हिन्दी उपन्यासो मे प्रगति का पहला चरण जैनेन्द्र के समय से मनोवैज्ञानिक उपन्यासो के रूप मे प्रारम्भ होता है। जैनेन्द्र का 'सुनीता' नामक उपन्यास हिन्दी का पहला सफल मनोवैज्ञानिक उपन्यास माना जा सकता है। जैनेन्द्र के अन्य उपन्यास भी अधिकतर इसी कोटि मे आते है। जैनेन्द्र का मनोवैज्ञानिक अध्ययन वहुत कुछ अन्तश्चेतनावाद से प्रभावित प्रतीत होता है। जैनेन्द्र के

बाद मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासो की प्रवृत्ति फ्रायड, एडलर, जुग आदि के वासनावाद और अभाववाद की ओर हो गई। फ्रायड ने चेतना के प्रमुख प्रेरक तत्त्व के रूप मे वासना या काम की प्रतिष्ठा की। उनका कहना है कि जन्म से लेकर मृत्यु तक मानव को काम ही भिन्न-भिन्न रूपो मे भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रेरित करता है। हिन्दी उपन्यासकारो पर फ्रायड के इस वासनावाद का काफी प्रभाव दिखाई पडता है। इस प्रभाव का श्रीगणेश, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, जैनेन्द्र से माना जाता है। जैनेन्द्र के बाद इस परम्परा के सबसे प्रमुख लेखक इलाचन्द्र जोशी है। अश्कजी तो शुद्ध रूप से फ्रायडियन मनोवैज्ञानिक हैं। यशपाल भी फ्रायडियन मनोविज्ञान से बहुत अधिक प्रभावित है। इन सबकी विस्तृत चर्चा हम फ्रायडियन यथार्थवाद के सम्बन्ध मे कर चुके है। अतएव पिष्टपेषण नही करना चाहते। इतना ही कहना पर्याप्त है कि हिन्दी उपन्यासो की प्रगतिवादी धाराओ मे फ्रायडियन मनोविज्ञान की धारा का अच्छा विकास हुआ है। इसी प्रसग मे हम यह भी कह देना चाहते हैं कि फ्रायडियन मनोविज्ञान के नाम पर हिन्दी मे बहुत कुछ अश्लील साहित्य का निर्माण भी हो रहा है। उदाहरण के लिए हम द्वारिकाप्रसाद रचित 'घेरे के बाहर' उपन्यास को ले सकते है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासो की दूसरी धारा मार्क्सवादी है। जिस प्रकार मनोविज्ञान के क्षेत्र मे फ्रायडियन मनोविज्ञान की प्रतिष्ठा है, उसी प्रकार मार्क्सवादी मनोविज्ञान की भी मान्यता है। मार्क्सवादी मनोविज्ञान एक प्रकार से रोटी का मनोविज्ञान है। इस मनोविज्ञान की राजनीति क्षेत्र मे अच्छी अभिव्यक्ति पाई जाती है। राजनीतिक उपन्यास अधिकतर इसी मनोविज्ञान से प्रभावित है। किन्तु कुछ उपन्यास राजनीतिक न होकर शुद्ध मनोविज्ञानवादी धारा के अन्तर्गत आते हैं, जैसे यशपाल का 'देशद्रोही', तथा नागार्जुन का 'रतिनाथ की चाची'। इनके अतिरिक्त बहुत से उपन्यास मनोविज्ञान के अन्य विभिन्न पक्षो को लेकर लिखे जा रहे हैं। सक्षेप मे मनोवैज्ञानिक उपन्यासो की धारा हिन्दी साहित्य मे बहुमुखी दिशा मे प्रवहमान है।

आचलिक उपन्यास—हिन्दी मे पिछले दशक मे एक नई कोटि के उपन्यास का उद्भव और विकास हुआ है। यह कोटि है आँचलिक उपन्यासो की। आँचलिक उपन्यास उन उपन्यासो को कहते हैं, जिनमे क्षेत्र-विशेष के जन-जीवन का सांग और समूचा चित्र प्रस्तुत किया जाता है। उसमे उस क्षेत्र-विशेष के मानवो की सम्पूर्ण सास्कृतिक विशेषताएँ उभारना ही इस कोटि के उपन्यासकार का लक्ष्य होता है। वहाँ के लोगो की क्या वेशभूषा है, वे किस प्रकार जीवन यापन करते हैं, उनकी आर्थिक अवस्था कैसी है, उनके जाति और वर्गगत भेदभावो का क्या रूप है, उनके धार्मिक एव सामाजिक विश्वास कैसे हैं, उनका चरित्र-स्तर किस अवस्था मे है, विवाह, मृत्यु आदि जीवन के विविध स्वरूपो और सस्कारो के प्रति उनकी क्या धारणाएँ है, उनके मनोरजन के स्वरूप क्या है, उनकी अपनी सामाजिक समस्याएँ कौन सी है, उनमे राजनीतिक जाग्रति का क्या रूप है, शिक्षा दीक्षा का कैसा ढग है, उनका खान-पान, रहन-सहन कैसा है आदि अनेकानेक की सांग और सश्लिष्ट

अभिव्यक्ति करना ही इस कोटि के उपन्यासो का लक्ष्य होता है। दूसरे शब्दो मे हम यो कह सकते हैं कि जिन उपन्यासो मे स्थान-विशेष के सम्पूर्ण वातावरण का सांग, सश्लिष्ट, और निष्कपट रूप से समस्त स्थानीय विशेषताओ के साथ चित्र प्रस्तुत किया जाता है, उन्हे आंचलिक उपन्यास कहते है। यो तो वातावरण निर्माण की प्रवृत्ति आंचलिक उपन्यासो से पहले भी दिखाई पडती है, किन्तु अन्तर केवल लक्ष्य मे है। आचलिक उपन्यासों मे लेखक का लक्ष्य अचल विशेष के सम्पूर्ण जीवन का सांग चित्र प्रस्तुत करना भर होता है, जबकि अन्य उपन्यासो मे वातावरण आदि का निर्माण या तो प्रसगवश या फिर वर्णन को यथार्थता देने के लिए किया जाता है।

हिन्दी के आंचलिक उपन्यासो मे सबसे महत्त्वपूर्ण उपन्यास का नाम 'मैला आचल' है। इसके लेखक श्री फणीश्वरनाथ रेणु है। इस उपन्यास मे विहार के पूर्निया जिला के एक गांव का इतना कलात्मक ढग से चित्रण किया है कि वह वहुत अधिक मार्मिक प्रतीत होता है। जिस प्रकार चन्द्रधर शर्मा गुलेरी 'उसने कहा था', लिखकर अमर हो गए, उसी प्रकार रेणुजी 'मैला आंचल' लिखकर अमर हो गए है। दूसरा आंचलिक उपन्यास देवेन्द्र सत्यार्थी लिखित 'व्रह्मपुत्र' है। इसमे लेखक ने व्रह्मपुत्र नदी के आसपास के जीवन की झांकी सजोयी है। उदयशकर भट्ट प्रणीत 'सागर, लहरे और मनुष्य', भी एक आंचलिक उपन्यास है। इसमे वम्बई के आसपास के एक गांव की मछुआ जाति के जीवन का सश्लिष्ट चित्र चित्रित किया गया है। नागार्जुन लिखित 'वावा वटेश्वरनाथ' और 'वलचनमा' नामक उपन्यास भी आंचलिक ही कहे जावेगे। इन उपन्यासो मे विहार के दो आंचलो का समूचा चित्र उतारा गया है। श्री शिवप्रसाद मिश्र लिखित 'वहती गगा', भी इसी कोटि का उपन्यास है। इसमे काशी के शहरी जीवन की यथार्थ झांकी सजाई गई है। 'वूद और समुद्र', नामक उपन्यास मे उसके लेखक अमृतलाल नागर ने लखनऊ के शहरी जावन पर आंचलिक ढग पर प्रकाश डाला है। रागेय राघव लिखित 'कव तक पुकारू' नामक उपन्यास भी वहुत कुछ अशो मे आचलिक ही है। हिन्दी के शुद्ध आंचलिक उपन्यास यही हैं।

हास्य रस के उपन्यास—हिन्दी उपन्यासो की एक धारा हास्यरस की भी है। इस धारा का प्रवर्त्तन भारतेन्दु युग मे ही हो चुका था। भारतेन्दु-कालीन पडित वालकृष्ण भट्ट लिखित 'सौ अजान एक सुजान' एक हास्य रस का उपन्यास ही है। हास्य के साथ इसमे व्यग्य और कटाक्ष की मात्रा भी अच्छी है। इसकी शैली भी वडी ओजपूर्ण और व्यगप्रधान है। द्विवेदी युग के हास्यरस-प्रधान लेखको मे जे० पी० श्रीवास्तव का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। इन्होंने वहुत से हास्यरस प्रधान उपन्यास लिखे है, इनमे 'लतखोरी लाल' नामक उपन्याम की वडी धूम रही है। इनके उपन्यासो मे अश्लीलता और गामीणता दोप सर्वत्र पाया जाता है। निरालाजी ने भी दो हास्यरस प्रधान उपन्यास लिखे है। एक का नाम 'कुल्ली भाट' है और दूसरे का नाम 'विल्ले सुर वकरिहा', यह अधिकतर व्यगात्मक है और रेखाचित्र के रूप मे लिखे गये है। व्यग-प्रधान उपन्यास लिखने वालो मे उग्रजी

बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके 'बुधुवा की बेटी', 'चन्द हसीनो के खतूत', "दिल्ली का दलाल' आदि प्रमुख हास्यरस-प्रधान उपन्यास हैं। हास्यरस के उपन्यासो मे अमृतलाल नागर लिखित 'सेठ बाँकेमल' की भी अच्छी ख्याति है। इधर केशवचन्द्र वर्मा भी कुछ हास्यरस के उपन्यास लिख रहे हैं। इनका 'काठ का उल्लू' नामक उपन्यास हास्यरस का ही उपन्यास है। विन्ध्याचल प्रसाद नामक एक नये लेखक का 'चाँदी का जूता' भी एक अच्छा लघु हास्यरस-प्रधान और व्यगात्मक उपन्यास है। हास्यरस उपन्यासो मे आजकल सरयू पण्डा लिखित 'मिस्टर टेलीफून का टेलीफून' बहुत अधिक प्रसिद्ध हो चला है। अरुण लिखित 'नवाब लटकन' नामक उपन्यास भी अच्छा हास्यरस-प्रधान उपन्यास है। यह उपन्यास व्यग्य रेखा-चित्र शैली मे लिखा गया है। द्वारिकाप्रसाद लिखित 'गुनाह बे लज्जत' नामक उपन्यास भी हास्यरस-प्रधान है। इसमें व्यग्य कम है और शिष्ट हास्य की प्रतिष्ठा अधिक की गई है। इस प्रकार हिन्दी मे हास्यरस-प्रधान उपन्यास की अच्छी परम्परा है। किन्तु हमे यह कहने मे सकोच नही है कि इनमे उच्चकोटि के हास्यरस-प्रधान उपन्यास दो एक ही हैं।

उपन्यास मे आदर्श और यथार्थ

प्रत्येक कथा-काव्य मे आदर्श और यथार्थ इन दोनो मे से कम से कम एक की अभिव्यक्ति अवश्य रहती है। वास्तव में यह दोनो ही कथा काव्य के दो चरण हैं। इनमे से एक का अभाव उसे पगु बना देता है। उसकी सन्तुलन और समानुपात मूलक सुषमा नष्ट हो जाती है। किन्तु बहुत से कलाकार इस पगुता को ही सौन्दर्य की पराकाष्ठा समझ रहे हैं और अपने कथा-काव्य मे अपनी रुचि के अनुरूप इस की अभिव्यक्ति करते रहे है। धर्मप्राण युग मे सदैव आदर्शवाद का सौन्दर्योद्घाटन ही होता रहा। आज यथार्थवाद का नग्न सौन्दर्य ही हमे मुग्ध किए हुए है।

अब प्रश्न है कि आदर्श और यथार्थ है क्या। वास्तव मे जीवन और जगत् मे जो कुछ होना चाहिए उसका चित्रण ही आदर्शवाद कहलाता है। तथा जीवन और जगत् मे जो कुछ हो रहा है या युग से होता आया है, साहित्य मे उसी की अभिव्यक्ति को यथार्थवाद कहा जाता है। इन दोनो बातो की अभिव्यक्ति साहित्य मे विविध प्रकार से और विविध रूपो मे पाई जाती है। ऊपर हमने आदर्श और यथार्थ के बीच जो रेखा खीची है, वह बहुत कुछ जीवन के स्वरूप विशेष के अकन से सम्बन्धित है। आदर्श और यथार्थ का यह भेद जहाँ साहित्य की अन्य विधाओ के प्रति लागू होता है, वहाँ उपन्यास-क्षेत्र मे दिखाई पडता है। क्योकि उपन्यास मे जीवन अपनी सम्पूर्णता मे अभिव्यक्त रहता है। अत उसमे आदर्श और यथार्थ दोनो ही मिले रहते है। अत उपन्यासो मे आदर्श और यथार्थ का निर्णय जीवन स्वरूप के चित्रण पर उतना अधिक आधारित नही रहता, जितना कि उसके अभिव्यक्ति के ढग पर अवलम्बित रहता है। पाश्चात्य विद्वान् ईवान वाट ने यह बात बहुत स्पष्ट शब्दो मे घोषित भी की है—

"The novel's realism does not reside in the kind of life it presents but in the way it presents

(The rise of the novel—Ivan Watt, page 11)

अर्थात् उपन्यास का यथार्थवाद इस बात पर आधारित नही रहता कि उसमे जीवन का कैसा चित्र प्रस्तुत किया गया है बल्कि उसका निर्णय उस प्रकार के आधार पर किया जाता है, जिससे उस जीवन की अभिव्यक्ति की जाती है।

उपन्यासो मे यथार्थवाद के रूप और प्रकार

उपन्यास-क्षेत्र मे यथार्थवाद के स्वरूप और प्रकार पर ईवान वाट ने बडे विस्तार से विचार किया है। यथार्थवाद के विविध रूपो और प्रकारो को स्पष्ट करने से पहले मै थोड़ी सी उसकी ऐतिहासिक रूप-रेखा भी दे देना चाहता हूँ। कथा-साहित्य मे यथार्थवाद का बीजारोपण करने का श्रेय पाश्चात्य विद्वान् वोकेचियो और डी० केमरा को दिया जाता है। वोकेचियो ने पहली बार समाज की यथार्थ समस्याओ को अपने उपन्यासो मे चित्रित किया। उसके यथार्थवाद पर बहुत से आलोचको ने कीचड़ उछालने की चेष्टा की, जिसका परिणाम यह हुआ कि कथा-क्षेत्र में वोकेचियो द्वारा प्रवर्तित सामाजिक यथार्थवाद का रूप थोड़ा बहिष्कृत सा हो गया। उसकी अग्नि अन्दर ही अन्दर सुलगती रही और अठारहवी शताब्दी के अन्तिम चरण मे उसका पुनर्विस्फोट हुआ। कुछ ही दिनो मे इसका अच्छा प्रचार हुआ। इस प्रचार मे दुरन्ती विद्वान् द्वारा सम्पादित 'रियेलिस्मे' नामक पत्रिका ने अच्छा योग दिया। फ्रांस एक सौन्दर्यप्रिय देश है। अतएव यहाँ पर जिस यथार्थवाद का विकास हुआ, वह सौन्दर्यात्मक यथार्थवाद कहा जा सकता है। इस कोटि के यथार्थवादी लेखको का लक्ष्य जीवन के सौन्दर्यात्मक पक्ष का चित्रण ही अधिकतर रहता था।[1] किन्तु विविध सामाजिक कारणो से यथार्थवाद का यह स्वस्थ सौन्दर्यात्मक रूप स्थिर न रह सका और उसका पर्यवसान कुत्सित यथार्थवाद के रूप मे हो गया। इस कोटि के यथार्थवादियो का लक्ष्य जीवन के कुत्सित, अनैतिक और अश्लील पक्षो का उद्घाटन करना मात्र रह गया। यथार्थवाद के ऐसे विकृत रूप के पोषको मे पाश्चात्य लेखक फ्लावर्ट का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है।

उन्नीसवी शताब्दी मे आकर के कथा-साहित्य मे क्या सम्पूर्ण पाश्चात्य साहित्य मे चार प्रकार के यथार्थवादो का प्रचलन हुआ। उनके नाम क्रमश मार्क्सवादी यथार्थवाद, फ्रायडियन और अन्तश्चेतनावादी यथार्थवाद तथा दार्शनिक ऐतिहासिक यथार्थवाद है। मार्क्स का यथार्थवाद बहुत कुछ राजनीतिक और सामाजिक यथार्थवाद था। उसने वर्गद्वन्द्व के चित्रण पर ही विशेष बल दिया है और मानव की भौतिक आवश्यकताओ को ही प्रधान बतलाया है। इसके अतिरिक्त मार्क्सवाद मे मानवतावादी दृष्टिकोण भी प्रस्तुत करने की चेष्टा की। अच्छा होता यह मानवतावादी दृष्टिकोण यदि भौतिक न होकर आध्यात्मिक होता। मार्क्सवाद मे इतना ही दोष

१ देखिए 'फ्रैन्च रियेलिज्म, दि क्रिटिकल रिएक्शन नामक पुस्तक।

है कि उसका दृष्टिकोण सर्वथा भौतिक और स्थूल है। फ्रायड ने काम-वासना को केन्द्र मानकर अपने यथार्थवाद के दृष्टिकोण का प्रचार किया। उसने अनेक तर्क-वितर्कों के साथ यही सिद्ध किया कि काम-वासना की नग्न विवृत्ति मे ही यथार्थ-वाद का स्वरूप रहता है। यह फ्रायडियन यथार्थवाद फ्रांस के कुत्सित यथार्थवाद को स्पर्श करते हुए भी उससे भिन्न था। फ्रांस के कुत्सित यथार्थवाद का आधार केवल कुत्सित विकारो को उद्दीप्त करना था जब कि फ्रायड का लक्ष्य अपने काम-वासना-वाद वाले प्रसिद्ध सिद्धान्त को मनोवैज्ञानिक स्तर पर समझना था।

अन्तश्चेतनावादी यथार्थवाद का उदय मार्क्सवाद की प्रतिक्रिया के रूप मे हुआ था। इन्होने फ्रायड के कामवासनावाद को ही अपने ढग पर साहित्य मे प्रतिष्ठित किया है। डी०एच० लारेंस ऐसे अन्तश्चेतनावादी यथार्थवाद के मुखिया थे। सच तो यह है कि इस यथार्थवाद की प्राण-प्रतिष्ठा फ्रायडियन यथार्थवाद की आधारभूमि पर ही हुई है। इनका कहना है कि कवि अपनी बहुत सी यथार्थ अनु-भूतियाँ कुछ सामाजिक प्रतिबन्धो के कारण प्रकट नही कर पाता है। अत उनकी अभिव्यक्ति के लिए वह कला का माध्यम चुनता है। उनकी अभिव्यक्ति के लिए वह नए-नए उपमान और प्रतीको की योजना करता है। यह उपमान और प्रतीक उसके हृदय का निर्बाध उद्गार होते हैं। यह लोग कविता को किसी प्रकार की कला नही मानते। इनके मतानुसार वह केवल कवि के अन्तरग सघर्ष का विस्फोट है। उसके उत्तर मे यह लोग कहते है कि मानव की अन्तश्चेतना के सत्य की प्रतिष्ठा करना ही हमारे साहित्य का प्रमुख लक्ष्य है। साहित्य क्षेत्र मे यथार्थवाद के उपर्युक्त रूप और प्रकार ही अधिक प्रचार पाते रहे है।

योरुप मे साहित्यिक यथार्थवादो के अतिरिक्त एक धारा दार्शनिक यथार्थवाद की भी प्रचलित थी। इस दार्शनिक यथार्थवाद के प्रमुख प्रवर्त्तक डेकार्टे और लॉक नामक विद्वान् माने जाते है। यह दोनो ही दार्शनिक रूढ़ि, परम्परा और अन्य विश्वासो के कट्टर विरोधी थे। इनका कहना था कि प्रत्येक साधक को सत्य के प्रयोग करते हुए अपने व्यक्तिगत अनुभवो के बल पर अनुभूत सत्यो को ही यथार्थ सत्य समझना चाहिए। डेकार्टे ने 'डिस्कोर्स ऑफ मैथड्स' तथा 'मैडीटेशन' नामक रचनाओ मे स्पष्ट रूप से घोषित किया है कि सत्यान्वेषण शुद्ध रूप से व्यक्तिगत साधना है। उसका पूर्व परम्परा और चिन्तन से कोई सम्बन्ध नही है। पाश्चात्य उपन्यास-कला इस दार्शनिक यथार्थवाद से अधिक प्रभावित हुई है। ईवान वाट नामक पाश्चात्य प्रसिद्ध कथा-साहित्य के आलोचक ने 'दि राइज ऑफ दी नाविल' नामक ग्रन्थ के पृष्ठ ११ पर उद्घोषित किया है कि सच्चे उपन्यासकार का कर्त्तव्य अपनी जीवन-साधना से उपलब्ध व्यक्तिगत अनुभवो का सच्चा और ईमानदारी पूर्ण विवरण देना है। उसका कहना है कि जो उपन्यास लेखक उपर्युक्त ढग के आत्मानुभवो के चित्रण मे जितना अधिक सफल होता है उसका उपन्यास उतना ही अधिक सुन्दर और यथार्थ-वादी होता है। आत्मानुभवो की अभिव्यक्ति बिम्ब-विधान के सहारे की जानी चाहिए। कैम्स ने अपने 'ऐलिमेण्ट्स ऑफ क्रिटिसिज्म' नामक ग्रन्थ मे बिम्ब-विधान के सम्बन्ध मे लिखा है कि बिम्ब सदैव विशेष के ही प्रभावपूर्ण होते है। ईवान वाट का कहना

है कि उपन्यासो मे इस विशेष की प्रतिष्ठा हमे दो रूपो मे मिलती है। एक वातावरण निर्माण के रूप मे और दूसरे व्यक्ति चरित्रो की अवतारणा के रूप मे।

पाश्चात्य देशो मे उपर्युक्त साहित्यिक और दार्शनिक यथार्थवादो के अतिरिक्त ऐतिहासिक यथार्थवाद की चर्चा भी मिलती है। ऐतिहासिक यथार्थवाद मे वाह्य वस्तुओ और वातो का चित्रण विषयगत अधिक रहता है। जब ऐतिहासिक तथ्य विषयगत अधिक न होकर विषयीगत रूप मे चित्रित किए जाते है, तब वह ऐतिहासिक यथार्थवाद साहित्य क्षेत्र मे अवतरित हो जाता है। इस प्रकार पाश्चात्य वाङ्मय में हमे प्रमुख रूप से यथार्थवाद की तीन धाराएँ मिलती हैं—एक साहित्यिक, दूसरी दार्शनिक और तीसरी ऐतिहासिक। इनकी भी बहुत सी उपधाराएँ समय-समय पर उद्भूत और विकसित होती रही है। इनके अतिरिक्त भी यथार्थवाद के और बहुत से रूप और प्रकार हो सकते हैं।

उपर्युक्त कोटि के लगभग सभी यथार्थवादो की छाया हिन्दी कथा-साहित्य पर दिखाई पड़ती है। हिन्दी कथा-साहित्य की प्रमुख यथार्थवादी धाराओ का उल्लेख हम निम्नलिखित शीर्षको से कर सकते हैं—

(१) सौन्दर्यात्मक यथार्थवाद—हिन्दी में फ्रासीसी ढग के सौन्दर्यात्मक यथार्थवादी उपन्यासो की कमी नही है। इस कोटि के उपन्यास हिन्दी मे बहुत पहले ही लिखे जाने लगे थे। व्रजनन्दनसहाय ने इस कोटि के बहुत से उपन्यास लिखे थे। इस कोटि के उपन्यासो का प्रधान लक्ष्य रोमानी ढग के प्रेम का वर्णन करना ही रहा है। प्रेम के बीच-बीच सौन्दर्य-चित्रण को भी विशेष प्रश्रय दिया गया है। इस यथार्थवाद से प्रभावित होकर व्रजनन्दनसहाय ने अपने एक उपन्यास का नाम ही 'सौन्दर्योपासक' रख दिया था। इस कोटि के अन्य उपन्यासो मे भगवतीचरण वर्मा का 'चित्रलेखा', रामरतन भटनागर की 'अम्वपाली' और डा० चतुरसेन शास्त्री का 'वैशाली की नगरवधू' आदि उल्लेखनीय हैं। कहने को तो यह उपन्यास ऐतिहासिक है, किन्तु इन ऐतिहासिक उपन्यासो के सहारे से लेखको ने सौन्दर्यात्मक यथार्थवाद का स्वरूप ही प्रस्तुत किया है।

(२) फ्रायडियन यथार्थवाद—उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम चरण और बीसवी शताब्दी के प्रथम चरण मे सिगमन फ्रायड नामक विद्वान् ने अपने 'वासनावाद' नामक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। फ्रायड का मत है कि सम्पूर्ण चेतना को गति प्रदान करने वाली शक्ति काम-प्रवृत्ति है। यह शक्ति गर्भावस्था से लेकर मृत्यु तक मनुष्य मे नए-नए रूपो मे विकसित और उद्दीप्त होती रहती है। सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव से मनुष्य अपनी काम-वासना को अभिव्यक्त नही कर पाता है। उसकी अभिव्यक्ति के लिए वह कला का क्षेत्र खोजता है या फिर उसकी अभिव्यक्ति स्वप्न मे हुआ करती है। फ्रायड का यह सिद्धान्त हमारी समझ मे बिलकुल निराधार है। उसने अपने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करके केवल कामुक कलाकारो के लिए अपनी कामवासना की अभिव्यक्ति को लायसेंस देने का अनुदार काम किया है। मनुष्य के जीवन के दो प्रमुख क्षेत्र होते हैं—एक वह जहाँ

सभ्यता और सस्कृति का पर्दा पड़ा रहता है तथा जहाँ वह अपनी दुर्बलता प्रकट नही कर पाता और दूसरा वह जहाँ पहुँचकर वह अपनी सारी दुर्बलताएँ, अपने सारे विकार, अपने सारे दोप सरलता से व्यक्त कर सकता है। उन दोनो को हम क्रमश वाह्य और अन्तरग जीवन कह सकते है। जहाँ तक वाह्य जीवन की वात है, वहाँ तक तो वात ठीक है। किन्तु काम-वासना की अभिव्यक्ति के लिए अन्तरग जीवन के होते हुए हम यह नही स्वीकार कर सकते कि मनुष्य को अपनी काम-भावनाएँ या विकृत भावनाएँ प्रकट करने के लिए केवल कला-क्षेत्र मे ही एक मात्र स्थान मिलता है। कला-क्षेत्र मे काम-भाव की अभिव्यक्ति की वात तो उस समय उठती है जब उसकी अभिव्यक्ति के लिए उसके पास अपनी पत्नी न हो। पत्नी के प्रति अभिव्यक्त किए हुए प्रेम-भाव को औचित्यपूर्ण होने के कारण हम फ्रायडियन काम-वासना का प्रतीक नही कह सकते। हमारे यहाँ उसे काम के अन्तर्गत न लेकर धर्म के अन्तर्गत समेटा गया है। और जो कुछ धर्मसगत है, वह विकृत नही हो सकता। पति और पत्नी के प्रणय भाव की अभिव्यक्ति न तो विकृत होती ही है और न हमारे समाज को ही दूपित कर सकती है। रही प्रेमी और प्रेमिका वाली वात, हमारे यहाँ उस क्षेत्र मे भी मर्यादा को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। राधा कृष्ण की प्रेमिका थीं, पत्नी नही, किन्तु उन्हे भी मर्यादा का ध्यान रहता था। इस मर्यादा भाव से मर्यादित होकर फ्रायड का परकीय काम हमारे यहाँ भक्ति में परिणत होता रहा है। काम काम तभी तक रहता है, जव तक उसका लक्ष्य केवल भोग रहता है। पूजा मे परिणत हो जाने पर वही भक्ति वन जाता है। हमारे यहाँ इसी भक्ति मे परिणत काम की महिमा पर वल दिया गया है और मानव को यह मार्ग दिखलाया गया है कि जिसे वह स्वाभाविक प्रवृत्ति समझ बैठा है, वास्तव मे वह किसी महान् प्रवृत्ति का स्थूल और विकृत रूप है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति काम न होकर आसक्ति कही जा सकती है और आसक्ति का रूप उदात्त और अनुदात्त दोनो ही हो सकता है। मनुष्य का लक्ष्य उदात्त होता है, अनुदात्त नही। कला मे भी मनुष्य की आसक्ति के अनुदात्त रूप का चित्रण जिसे फ्रायड ने वासना का अभिधान दिया है, तभी यथार्थवादी माना जा सकेगा जव कि उसके उदात्त स्वरूप की भी झलक दिखाई जावे। हमारे साहित्यकार आसक्तिवाद के केवल काले पक्ष को ही लेकर उसी की अभिव्यक्ति मे सच्चा यथार्थ-वाद मानने लगे हैं। यह यथार्थवाद ही फ्रायडियन यथार्थवाद के नाम से प्रसिद्ध हो गया है। इस फ्रायडियन यथार्थवाद की अभिव्यक्ति आजकल के सभी कोटि के उपन्यासो मे उन्मुक्त रूप से मिलती है। इसका कारण पाश्चात्य अनुकरण है। पाश्चात्य उपान्यासकार, डिकेन्स, जोला, गाल्सवर्दी, डास्कोवस्की, आदि ने फ्राय-डियन यथार्थवाद के नाम पर काम-वासना की बहुमुखी अभिव्यक्ति की है। उन्हीं के अनुकरण पर हिन्दी उपन्यासकारो ने भी फ्रायडियन यथार्थवाद को ही अपना मूल लक्ष्य बना रखा है। सच तो यह है कि आज का उपन्यास चाहे किसी भी कोटि का हो उसमे फ्रायडियन सिद्धान्त की चेतना अवश्य रहती है। हिन्दी मे जैनेन्द्र से फ्राय-डियन यथार्थवाद की चेतना के आरोप का प्रयास प्रारम्भ हुआ था, और रेणु के 'मैले

आँचल' तक मे उसकी स्पष्ट छाया दिखाई पड़ती है। जैनेन्द्र ने अपने लगभग सभी उपन्यासो मे अन्तर की यथार्थता का उद्घाटन करने का ही प्रयास किया है। अन्तर की यह यथार्थता अधिकतर फ्रायडियन है। किन्तु उनमे एक बात हमे अच्छी मिलती है वह यह कि उस फ्रायडियन यथार्थता पर उन्होने गांधीवाद का परदा डालने का प्रयत्न किया है, जिससे यह प्रयास कृत्रिम होते हुए भी भारतीयता का चोला पहने हुए है। इसी लिए उनका यथार्थवाद कुछ अशो मे आदर्शोन्मुख माना जा सकता है। जैनेन्द्र के अतिरिक्त फ्रायडियन यथार्थवाद की अभिव्यक्ति करने वाले उपन्यास-कारो मे इलाचन्द जोशी का नाम लिया जाता है। इनके लगभग सभी उपन्यासो के नायक अधिकतर फ्रायडियन ढग पर अपनी वासनाओ की अनियन्त्रित अभिव्यक्ति करते हैं। 'सन्यासी' का नन्दकिशोर, 'परदे की रानी' के निरजन, और इन्द्रमोहन, 'निर्वासिता' का महीप, 'लज्जा' के लज्जा और रज्जू, सब उद्दाम वासनाओ के पुतले ही हैं। अज्ञेय वैसे कुछ चिन्तनशील कलाकार है, किन्तु उनके 'नदी के द्वीप' मे भी हमे फ्रायड का अच्छा प्रभाव दिखाई पड़ता है। अश्कजी तो शुद्ध रूप से फ्रायडियन यथार्थवादी कलाकार कहे जा सकते हैं। उनके उपन्यास 'गिरती दीवारें' और 'गर्म राख' मे अतृप्त वासनाओ की निर्बाध अभिव्यक्ति मिलती है। यशपालजी तो फ्रायड के पूरे चेले हैं। इसके उदाहरण मे उनके 'मनुष्य के रूप' नामक उपन्यास को ले सकते हैं। इसमे काम-वासना की बहुत कुछ नग्न अभिव्यक्ति हुई है। सच तो यह है कि इनका फ्रायडियन यथार्थवाद कही-कही कुत्सित यथार्थवाद की श्रेणी मे आ गया है। कहाँ तक कहें, वर्त्तमान युग का हिन्दी का शायद ही कोई उपन्यास ऐसा हो, जिसमे फ्रायडियन यथार्थवाद की दो चार झाँकियाँ न मिल जाएँ।

(३) **कुत्सित कोटि का यथार्थवाद**—हिन्दी मे कुत्सित भावनाओ, चित्रों और तथ्यो को व्यक्त करने वाले कम लिखे गए है। किन्तु हम यह दावा नहीं कर सकते कि हमारा हिन्दी साहित्य कुत्सित वर्णनो से परिपूर्ण उपन्यासो से रहित है। इधर प्रकृतिवादियो और फ्रायडवादियो के प्रभाव से कुत्सित कोटि के यथार्थवाद का औपन्यासिक कलेवर पीन हो चला है। इस प्रकार के यथार्थवाद की झलक हमें जैनेन्द्र से मिलना प्रारम्भ हो जाती है। कुछ लोगो ने सम्भवत. उन्हे इसी कारण वाममार्गी तक कह डाला है। किन्तु यह कथन सत्य से बहुत दूर है। उनमे कला तो है, किन्तु कुत्सितता नही मानी जा सकती। उन्हे तो मै अन्तश्चेतनावादी अधिक मानता हूँ। इस कोटि के प्रतिनिधि उपन्यासो मे द्वारिकाप्रसाद का 'घेरे के बाहर' नामक उपन्यास विशेष उल्लेखनीय है। इधर यशपाल और पहाड़ी आदि के उपन्यास भी इस प्रकार के यथार्थवाद से प्रभावित हो चले हैं। अश्कजी ने भी अपने 'गर्म राख' मे नारी की मांसल वासना का बहुत ही उत्तेजक वर्णन किया है। यशपाल का 'मनुष्य के रूप' नामक उपन्यास भी इसी कोटि का है। इन सब उपन्यासों में लेखकगण फ्रायड से इतना अधिक प्रभावित हो गए है कि उसके वासनावाद का बड़ा विकृत रूप प्रस्तुत किया है। फ्रायड के वासनावाद का इतना नग्न चित्रण भारत के

लिए हितकर नही प्रतीत होता। फ्रायडियन यथार्थवाद के इस प्रकार के विरूप से हिन्दी साहित्य को कडा धक्का पहुँच रहा है।

(४) मार्क्सवादी यथार्थवाद—जिस प्रकार मनोविज्ञान के क्षेत्र मे फ्रायड की धूम है, उसी प्रकार राजनीति के क्षेत्र मे मार्क्सवाद की प्रतिष्ठा है। मार्क्सवाद मे दलित मानवता के प्रति सहानुभूतिमूलक भाव रखा गया है। उसका लक्ष्य सभी मनुष्यो को समानभाव से जीविका आदि प्रदान करना है। हिन्दी उपन्यासो पर मार्क्सवाद का बहुत प्रभाव दिखाई पड़ता है। यशपाल, नरोत्तमप्रसाद, नागार्जुन, रागेय राघव आदि मार्क्सवादी कलाकार है। रागेय राघव ने भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'टेढे-मेढे रास्ते' के जवाब मे 'सीधा-साधा रास्ता' नामक उपन्यास लिखकर अपने मार्क्सवादी दृष्टिकोण को बहुत स्पष्ट कर दिया है। यशपाल ने 'पार्टी कांग्रेस' 'मनुष्य के रूप', 'देश द्रोही' आदि उपन्यासो मे मार्क्सवाद की ही सजीव अभिव्यक्ति की है। किन्तु यशपाल के सम्बन्ध मे यह बात सदैव स्मरण रखने की है कि वे फ्रायड के वासनावाद से कही पर भी पिण्ड नही छुडा सके है। मै उन्हे फ्रायडियन मार्क्सवादी कहना अधिक उपयुक्त समझता हूँ। नागार्जुन ने अपने 'वलचनमा' और 'रतिनाथ की चाची' नामक उपन्यासो मे मार्क्सवाद के प्रचारवादी दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति भली प्रकार की है। नरोत्तमप्रसाद नागर के 'दिन के तारे', तथा सर्वदानन्द वर्मा लिखित 'नरमेध' आदि मे मजदूर-जागरण के 'मार्क्सवादी पक्ष का अच्छा उद्घाटन किया गया है। इन सभी लेखको से अधिक ख्याति राहुल साकृत्यायन की है। राहुलजी की 'वोलगा से गगा तक', शीर्षक रचना सर्वथा मार्क्सवादी दृष्टिकोण को लेकर ही की गई है। इस प्रकार हिन्दी मे मार्क्सवादी आधार लेकर बहुत सा उपन्यास साहित्य रचा गया है। इनमे सर्वत्र मार्क्सवादी यथार्थवाद की ही प्रधानता है।

हिन्दी के प्रगतिवादी उपन्यासो मे यथार्थवाद के विविध नवीन स्वरूपो की अवतारणा

इधर हिन्दी मे बहुत से प्रयोगवादी उपन्यास लिखे गए है। इन प्रयोगवादी उपन्यासो मे यथार्थ के नए-नए क्षितिज ढूँढ निकालने के प्रयोग दिखाई पडते हैं। उपन्यास-क्षेत्र मे कई प्रकार के प्रयोग दिखाई पड़ते है—जैसे शैलीगत, कलागत, विषय और उद्देश्यगत। प्रथम कोटि के प्रयोग से सम्बन्धित उपन्यासो मे धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवाँ घोडा' विशेष उल्लेखनीय है। इस उपन्यास को कहानी-शैली मे लिखने की चेष्टा की गई है। यह कहानियाँ प्रत्यक्ष देखने मे स्वतन्त्र सी प्रतीत होती हैं, किन्तु इनमें एक शृंखला है जो सब को मिला कर उपन्यास की सज्ञा दे देती है। इसी कोटि की दूसरी रचना रुद्र लिखित 'बहती गगा' है, इसमे काशी के गत दो सौ वर्षों की जीवन-धारा को सत्रह तरगो मे अभिव्यक्त किया गया है। प्रत्येक तरग बाह्य दृष्टि से स्वतन्त्र प्रतीत होती है, किन्तु फिर भी एक ही धारा का अग होने के कारण वह तात्विक दृष्टि से स्वतन्त्र नही है। दूसरे प्रकार के प्रयोगवादी उपन्यासो मे प्रभाकर माचवे लिखित 'परन्तु' नामक उपन्यास का उल्लेख किया जा

सकता है। पाश्चात्य साहित्य मे इस ढग के बहुत से उपन्यास हैं। इस ढग के उपन्यासो मे लेखक की दृष्टि न तो कथा पर रहती है और न चरित्र-चित्रण पर ही। उसका मन मूलत चेतना के प्रवाह पर केन्द्रित रहता है। इस चेतना के प्रवाह की अभिव्यक्ति विविध उद्धरणो के माध्यम से की गई है। उद्धरण भी कई भाषाओ से लिये गये है। चेतना, प्रवाह और उद्धरण-प्रधान शैली के अतिरिक्त तीव्र व्यग्य भी इस उपन्यास मे सर्वत्र मर्म को छूने का प्रयास कर रहा है। जहाँ तक चेतना के प्रवाह की अभिव्यक्ति की बात है, लेखक ने अपनी कला के नए रूप के प्रयोग से यथार्थवाद की एक नई धारा को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

तीसरी कोटि के प्रयोगो मे यथार्थवाद के नए क्षितिज ढूँढने का प्रयास किया गया है। इस दृष्टि से 'जहाज का पछी', 'चाँदनी के खण्डहर' 'मैला आचल' शीर्षक उपन्यास विशेष रूप मे उल्लेखनीय हैं। 'जहाज का पछी' उपन्यास मे लेखक ने कलकत्ता नगर के विभिन्न वर्गों की चेतनाओ का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इन वर्गों का बाह्य रूप कैसा है और उनके अन्तर मे क्या-क्या दुर्बलताएँ है इनका लेखक ने बड़ी मार्मिकता से उद्घाटन किया है। इस उपन्यास मे लेखक ने विभिन्न वर्गों की दुर्बलताओ का प्रमुख कारण 'अह' वर्णन किया है और उनका सुलझाव उसने साम्यवाद के रूप मे ध्वनित किया है। इस सम्बन्ध मे मतभेद हो सकता है कि विभिन्न वर्ग-चेतनाओ मे पाई जाने वाली दुर्बलताओं का प्रमुख कारण 'अह' है, और उसका प्रमुख सुलझाव साम्यवाद है, परन्तु इतना स्वीकार किए बिना नही रहा जा सकता कि लेखक ने जीवन के यथार्थवादी चित्रण की एक नई दिशा प्रस्तुत की है जो इससे पहले के उपन्यासो मे नही मिलती।

'चाँदनी के खण्डहर' नामक उपन्यास मे एक परिवार की जिन्दगी के एक दिन का बडा सश्लिप्ट चित्र प्रस्तुत किया गया है। जीवन के एक अश को उपन्यास मे बाँधने का जितना यथार्थवादी यह ढग प्रयोग मे लाया गया है, वैसा शायद ही कभी पहले लाया गया हो। इससे भी सुन्दर प्रयोग 'सोया हुआ जल' नामक उपन्यास के रूप मे दिखाई पडता है। इस उपन्यास मे डाक बगले मे बिताई गई एक रात की जिन्दगी का चित्र है। इसकी सबसे बडी विशेषता इसके 'सिनेरियो टैकनीक' के अनुगमन मे है। इस टैकनीक मे लिखे गए उपन्यासो मे प्राय कई पात्रो के भाव विचार कार्य आदि का समकालवर्ती रूप दिखलाया जाता है। इस टैकनीक मे लिखा हुआ यह हिन्दी का पहला उपन्यास कहा जा सकता है। इस टैकनीक का आश्रय लेकर लेखक ने यथार्थवादी चित्रण का एक नया क्षितिज खोजा है। इसे हम प्रतीकात्मक कोटि का यथार्थवाद कह सकते है, क्योकि इस कोटि के यथार्थवाद की अभिव्यक्ति अधिकतर प्रतीको के माध्यम से की गई है। यथार्थवाद के नए क्षितिज खोजने के प्रयत्न के रूप मे रेणु लिखित 'मैला आँचल' का बहुत बड़ा महत्त्व है। इसके द्वारा प्रस्तुत किए गये यथार्थवाद को आँचलिक यथार्थवाद की सज्ञा दी जाने लगी है। आँचलिक यथार्थवाद इसलिए कहते है कि इसमे एक अचल के सम्पूर्ण जीवन का सश्लिष्ट और यथार्थ रूप प्रस्तुत किया गया है। इसकी कथावस्तु विहार के पूर्निया जिले के एक मेरीगज नामक गाँव से सम्बन्धित है। लेखक ने इस गाँव

को उत्तर भारत के पिछडे हुए गाँवो के प्रतिनिधि गाँव के रूप मे चित्रित किया है। एक छोटे से स्थान का इतना सश्लिष्ट और यथार्थ चित्रण करके कलाकार ने यथार्थ चित्रण की एक नयी दिशा दिखाई है। हिन्दी में यह प्रयास सर्वथा नवीन है। यथार्थवाद का यह नया स्वरूप और उसकी चित्रण-प्रणाली हिन्दी उपन्यासो की स्वस्थ प्रगति की परिचायिका है।

आदर्शवाद—भारतीय साहित्य की दृष्टि सदा से ही आदर्शवादी रही है। इधर पाश्चात्यो के प्रभाव से उसमे यथार्थवाद की विविध धाराओं की प्रतिष्ठा हो गई है। हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र मे यद्यपि पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप यथार्थवादी प्रवृत्तियो की ही प्रधानता रही है। किन्तु फिर भी भारतीयता से पिण्ड न छुड़ा सकने के कारण वे बहुत कुछ अशो मे आदर्शवाद से भी अपना नाता नहीं तोड़ सके है। हिन्दी उपन्यासो मे आदर्शवाद की अभिव्यक्ति कई रूपो मे दिखाई पडती है—(१) उपदेशो के रूप मे, (२) दयनीय अवस्थाओ को चित्रित करके पाठकों को सुधार की ओर प्रवृत्त करके, (३) समस्याओ को सामने रखकर उनका सुलझाव सकेतित करके, (४) जीवन के आदर्श चित्रो को सामने रखकर।

हिन्दी उपन्यासो मे उपदेशो की प्रवृत्ति भी ढूँढी जा सकती है। इस प्रवृत्ति के दर्शन भारतेन्दु-युगीन उपन्यासो मे विशेषकर होते है। भारतेन्दु युग के प्रतिनिधि लेखक बालकृष्ण भट्ट लिखित 'नूतन ब्रह्मचारी' नामक उपन्यास, उपदेशो से भरा पड़ा है। उपदेश की यह प्रवृत्ति प्रेमचन्द के समय तक परिलक्षित होती है। यहाँ तक कि प्रेमचन्दजी के उपन्यासो मे भी हमे बहुत से स्थलो पर उपदेश-प्रधान अवतरण मिल जाते है।

हिन्दी उपन्यासो मे आदर्श की अभिव्यक्ति एक दूसरे रूप मे भी मिलती है। उपन्यासकार प्राय परिस्थितियो के दयनीय स्वरूप को सामने रखकर पाठको के हृदय को परिवर्तित करके उप-परिस्थितियो को सुधारने की प्रेरणा जाग्रत करने का प्रयास करते हैं। यह प्रवृत्ति सबसे पहले राधाकृष्ण लिखित 'निस्सहाय हिन्दू' में दिखाई पडी। भगवतीप्रसाद बाजपेयी, लिखित 'अनाथ', 'पत्नी', 'दो बहिनें', अनूपलाल मण्डल लिखित 'निर्वासिता', 'समाज की वेदी पर', हजारीलाल लिखित 'दो स्त्री का पति', आदि उपन्यासो मे भी यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। इस प्रवृत्ति का सुन्दरतम रूप हमे आँचलिक उपन्यासो मे मिलता है। रेणु के 'मैला आँचल' शीर्षक उपन्यास मे अचल विशेष का सहानुभूतिपूर्ण यथार्थ चित्र प्रस्तुत करके पाठको के हृदय मे उसके परिष्कार की भावना जाग्रत करने का प्रयास किया है।

नागार्जुन की प्रवृत्ति भी आदर्शोन्मुख है। उन्होने भी अपने 'वलचनमा' और 'बाबा बटेश्वरनाथ' नामक उपन्यासो मे यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करने के साथ ही साथ जनता को सही रास्ता भी दिखाने की चेष्टा की है।

उपन्यासो में आदर्श भावना की प्रतिष्ठा समस्या सामने रखकर भी की जाती रही है। समस्या उपन्यास हिन्दी की बहुत बड़ी विभूति है। यो तो समस्या उपन्यासो

की रचना प्रेमचन्द से पहले ही होने लगी थी, किन्तु प्रेमचन्द ने इस दिशा मे स्तुत्य कार्य किया है। उनका 'सेवा सदन' एक समस्या उपन्याम ही है। व्रजरतनदास के शब्दो मे "सेवा सदन मे मध्य वित्त समाज की नागरिक जीवन की इस समस्या को लेकर कथावस्तु प्रस्तुत की गई है, जो सभी को खटकती है।"

दहेज प्रथा, वेजोड विवाह आदि से परिवार मे कितना अनर्थ हो सकता है, इसमे इसी का अतिरजित वर्णन है। इस उपन्यास मे प्रेमचन्दजी एक समाज-सुधारक के रूप मे सामने आ जाते है। उन्होने समाज के दुर्बल पक्षो पर कटाक्ष किया है और उनके सुधार की प्रेरणा जाग्रत की है। उनका 'प्रेमाश्रम' दूसरा समस्या उपन्यास है। इस उपन्यास मे गाँव के जन-जीवन की झाँकी सजोयी गई है। यह विशेष रूप से कृषक और जमींदार वर्गो से सम्बन्धित समस्या को लेकर चला है। जमीदार लोग कृषको के प्रति कितना अत्याचार करते थे, कृषको की कितनी दयनीय दशा है, इसका यथार्थ चित्र प्रस्तुत करके, उन्होने एक ओर तो यथार्थवाद का पोषण किया है और उसको समस्या के रूप मे सामने ला कर और उस समस्या के सुलझाव की प्रेरणा पैदा करके आदर्शवाद की ओर रुझान दिखाया है। अपनी इसी द्विमुखी प्रवृत्ति के कारण वे आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कलाकार कहे जाते है। इसी प्रकार उनके अन्य उपन्यासो मे भी हमे समाज की विविध समस्याओ और उनके सुलझाव आदि के प्रेरणात्मक सकेत मिलते है।

हिन्दी उपन्यासो मे आदर्शवाद की प्रतिष्ठा प्राचीन ढग पर भी करने का प्रयास किया गया है। प्राचीनकाल में आदर्शवाद को प्रस्तुत करने के लिए व्यक्तियो, वस्तुओ आदि के आदर्श चित्र प्रस्तुत किये जाते थे। हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासो मे से कुछ ने इसी प्रकार के आदर्श चित्रो को प्रस्तुत करने की चेष्टा की। इस प्रवृत्ति का श्रीगणेश लज्जा राम शर्मा ने किया था। इनके लिखे हुए 'हिन्दू गृहस्थ' तथा 'आदर्श दम्पति' मे इसी प्रकार का प्रयास दिखाई पडता है। वृज रतन दास के शब्दो मे "इनके उपन्यास सामाजिक-घटना-प्रधान उपन्यास है, जिनमे प्राचीन हिन्दू मर्यादा, सनातन धर्म तथा हिन्दू पारिवारिक व्यवस्था की सुन्दरता तथा औचित्य को विस्तार से दिखलाने का अच्छा प्रयास है।[१] उमरावसिंह लिखित 'आदर्श बहू' और 'भाई-बहिन' नामक उपन्यास भी इसी कोटि के है। शालिग्राम गुप्त प्रणीत 'आदर्श रमणी' भी ऐसा ही उपन्यास है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के उपन्यासो मे जहाँ यथार्थवाद की अनेक धाराएँ और स्वरूप दिखाई पड़ते हैं, वही आदर्शवाद के भी कई पक्ष प्रकट हो गये हैं।

आदर्श और यथार्थवाद का समन्वय—मैं उपन्यास को जीवन की सर्वाङ्गीण एव सजीव झाँकी समझता हूँ। उस झाँकी की सजीवता एव सर्वाङ्गीणता तब तक पूर्ण नहीं हो सकती जब तक उसमे आदर्श और यथार्थ का सुन्दर समन्वय न हो। केवल एक पक्ष को लेकर चलने वाले उपन्यास जीवन की सजीव झाँकी

---

१ हिन्दी उपन्यास साहित्य, पृष्ठ १६६।

कदापि प्रस्तुत नही कर सकते । अतएव उपन्यास में आदर्श और यथार्थ का सुन्दर समन्वय होना चाहिए । परितोष है कि हिन्दी के उच्चकोटि के उपन्यासकार इस सत्य को स्वीकार करते है।

हिन्दी उपन्यासो के विकास क्रम की स्थूल रूपरेखा

हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यासकार—हिन्दी के साहित्यिक उपन्यासों की रचना भारतेन्दु काल मे ही प्रारम्भ हो गई थी । हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास लिखने का श्रेय श्री निवासदास को दिया जाता है । इनका 'परीक्षा गुरु' हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास कहा गया है । यह उपन्यास अंग्रेजी उपन्यासो के अनुकरण पर लिखा गया था । इस के लेखन मे लेखक का लक्ष्य हिन्दी उपन्यास क्षेत्र मे नई चाल की पुस्तक लिखना था । उपन्यास का नायक मदन मोहन नामक एक रईस है। इसमे उसके उत्थान और पतन, उसके स्वार्थी और सच्चे मित्रो की कथा कही गई है । कथावस्तु सुगठित है । उपन्यास मे चरित्र-चित्रण की अच्छी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

ठा० जगमोहन सिंह—ठा० जगमोहनसिह का जन्म सवत् १९१४ मे विजयराघवगढ मे हुआ था । इनकी शिक्षा-दीक्षा काशी मे हुई थी । यह भारतेन्दु-जी के परम मित्र थे । इन्होने 'श्यामा स्वप्न' नामक एक काव्यमय उपन्यास लिखा था । इस उपन्यास मे चार याम है। इसमे कमला कान्त नामक एक प्रेमी की कथा है। यह कथा गेटे के 'फास्टै' से बहुत प्रभावित प्रतीत होती है। इनके उपन्यास मे प्रकृति के बडे रमणीय चित्रो की अवतारणा की गई है। किन्तु यह चित्र कही-कही बहुत बोझिल हो गये है।

बालकृष्ण भट्ट—इनका जन्म सवत् १९०१ मे प्रयाग मे हुआ था । इनके लिखे हुए दो उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। एक का नाम 'नूतन ब्रह्मचारी' है और दूसरे का नाम 'एक अजान सौ सुजान' । इनके उपन्यासो मे न तो घटना-वैचित्र्य ही दिखाई पडता है और न चरित्र-चित्रण-जनित चमत्कार ही। इनके उपन्यासो मे आदर्श की प्रवृत्ति अधिक सजीव हो उठी है जिससे वह बहुत अधिक उपदेश-प्रधान हो गये है।

गौरीदत्त—इनका जन्म सवत् १८९३ में लुधियाना जिले मे हुआ था । इनका लिखा हुआ 'देवरानी जिठानी की कहानी' नामक उपन्यास १८७० ई० मे प्रकाशित हुआ था । इसे हम हिन्दी का पहला यथार्थवादी सामाजिक उपन्यास मानते है ।

कार्तिक प्रसाद खत्री—आपने लगभग एक दर्जन उपन्यास लिखे थे । किन्तु यह उपन्यास अधिकतर अनूदित ही है । इनमे 'इला', 'प्रमिला', दीनानाथ', 'दलित कुसुम', 'कुलटा', 'रोशनआरा' आदि विशेष प्रसिद्ध हैं।

प्रतापनारायण मिश्र—इनका जन्म सवत् १९१३ मे जिला उन्नाव मे हुआ था। बाद मे यह कानपुर मे आकर बस गये थे । इन्होने बकिम बाबू के चार

उपन्यासो के सफल अनुवाद किये थे। क्रमश इनके नाम 'राजसिह', 'इन्दिरा', 'राधा रानी' तथा 'इगुलांगुली' हैं।

बाबू गजाधरसिह—इनका जन्म १८४८ ई० मे काशी मे हुआ था। यह बहुत दिनो तक कानूनगो रहे थे। इन्होने वकिम बाबू की 'दुर्गेश नन्दिनी' तथा रमेशदत्त के वग विजेता का सफल अनुवाद किया था।

राधाचरण गोस्वामी—इनका जन्म सवत् १६१८ मे वृन्दावन मे हुआ था। इनके लिखे हुए तीन उपन्यास है। उनके नाम क्रमश 'जावित्री', 'विधवा विपत्ति' और 'सौदामिनी' हैं। इन्होने 'मृण्मयी' और 'विरजा' नामक वगला उपन्यासो का अनुवाद भी किया था।

राधाकृष्ण दास—इनका जन्म सवत् १६२२ मे काशी मे हुआ था। यह भारतेन्दुजी के फुफेरे भाई थे। इन्होने बहुत से वगला, अग्रेजी आदि उपन्यासो के अनुवाद किये थे। इन्होने एक मौलिक उपन्यास 'निस्सहाय हिन्दू' की भी रचना की थी। इसमे गोरक्षा के भाव पर बडा मार्मिक प्रसग कल्पित किया गया है। और उसे एक समस्या के रूप मे प्रस्तुत करके लेखक ने समस्यामूलक हिन्दी उपन्यासो की परम्परा का प्रवर्तन किया।

अयोध्यासिह हरिऔध—मूलत' यह कवि थे। किन्तु इन्होने कुछ वगला उपन्यासो के अनुवाद की ओर भी हाथ बढाया था तथा कुल दो मौलिक उपन्यास लिखने की भी चेष्टा की थी। मौलिक उपन्यासो के नाम 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अघखिला फूल' हैं।

धीरे-धीरे भारतेन्दु युगीन उपन्यास कला पर पटाक्षेप सा होने लगा और हिन्दी मे तिलस्मी, जासूसी और ऐयारी उपन्यासो की बाढ सी आने लगी। सवत् १६४० से लेकर १६७५ तक के अधिकाश उपन्यासकार इन्ही प्रवृत्तियो से ग्रस्त दिखाई पडते हैं।

देवकीनन्दन खत्री—बाबू देवकीनन्दन खत्री का जन्म सवत् १६१८ में मुजफ्फरपुर मे हुआ था। तिलस्मी उपन्यास लिखने वालो मे आप अग्रगण्य है। इनके लिखे हुए प्रमुख उपन्यासो के नाम क्रमश 'चन्द्रकान्ता', 'चन्द्रकान्ता सन्तति २४ भाग', 'नरेन्द्र मोहनी दो भाग', 'कुसुमकुमारी चार भाग', 'काजल की कोठरी', 'वीरेन्द्र वीर', 'नौलखा हार' और 'भूतनाथ' है। इनके उपन्यासो से इनकी अखण्ड कल्पना शक्ति का पता चलता है। इनके अधिकाश उपन्यास तिलस्म, ऐयारी आदि से भरे हुए है।

किशोरीलाल गोस्वामी—आपका जन्म सवत् १६२२ मे हुआ था। तिलस्मी उपन्यास लिखने वालो मे आपका नाम भी विशेष उल्लेखनीय है। इनका 'तिलस्मी शीश महल', एक अच्छा तिलस्मी उपन्यास है। इन्होने कुछ अन्य कोटि के उपन्यास भी लिखे थे जिनके नाम क्रमश 'प्रणयिनी-परिणय', 'प्रेममयी', 'तारा' (तीन भाग), 'चपला' (चार भाग) और 'कटे मूड की दो दो बातें', 'तरुण तपस्विनी', 'इन्दुमती', 'सौतिया डाह', 'रजिया बेगम', आदि दो दर्जन से अधिक

उपन्यास बताए जाते है। ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की परम्परा गोस्वामीजी ने ही डाली थी। किन्तु वे अपने इस प्रयास मे सफल नही हुए थे। रजिया बेगम नामक ऐतिहासिक उपन्यास ही थोडा बहुत सफल कहा जा सकता है।

गोपालराम गहमरी—इनका जन्म सवत् १९२३ मे हुआ था। आपने जासूसी और सामाजिक दोनो प्रकार के उपन्यास लिखे थे। सामाजिक उपन्यासो मे 'चतुरा चचला, 'भानुमती,' 'दो बहिन', 'नये बाबू', 'देवरानी जिठानी', विशेष प्रसिद्ध हैं। जासूसी उपन्यासो मे 'खूनी कौन', 'जमुना का खून', 'जासूस की भूल,' 'जासूस की चोरी', आदि के नाम दिये जा सकते हैं।

हरीकृष्ण जौहर—इनका जन्म सवत् १९३७ मे हुआ था। इन्होने लगभग ५२ व ५३ उपन्यास लिखे और अनूदित किए थे। इनके उपन्यास अधिकतर जासूसी और तिलस्मी की कोटि मे ही आते हैं। इनके लिखे हुए 'डाकू' और 'छाती का छुरा' नामक उपन्यास विशेष प्रसिद्ध हैं।

लज्जाराम शर्मा—आदर्श कोटि के सामाजिक उपन्यास लिखने वालो मे आप अग्रगण्य है। इनका जन्म सवत् १९२० मे बूँदी मे हुआ था। इनके लिखे हुए 'कपटी मित्र', 'हिन्दू गृहस्थ' और 'आदर्श दम्पति' नामक उपन्यास बहुत प्रसिद्ध है।

बल्देवप्रसाद मिश्र—इनका जन्म स० १९२६ मे जिला मुरादाबाद मे हुआ था। इन्होने जासूसी, सामाजिक और ऐतिहासिक तीनो कोटि के उपन्यास लिखे है। जासूसी उपन्यासो मे 'अद्भुत लाश', सामाजिक उपन्यासो मे 'अनार कली' और ऐतिहासिक उपन्यासो मे 'पृथ्वीराज चौहान' के नाम लिये जा सकते हैं।

बृजनन्दन सहाय—इनका जन्म सवत् १९३० मे शाहबाद मे हुआ था। भाव-प्रधान उपन्यास लिखने की परम्परा आपने ही प्रवर्त्तित की थी। आपने लगभग ७-८ मौलिक उपन्यास लिखे थे। इनके लिखे हुए उपन्यासो मे 'लाल चीन', 'विस्मृत सम्राट्', 'विश्व दर्शन' तथा 'आरण्यबाला' प्रसिद्ध हैं। इनका लिखा हुआ सबसे प्रसिद्ध उपन्यास 'सौन्दर्योपासक' है। यह शुद्ध भाव-प्रधान उपन्यास है। इनका दूसरा भाव-प्रधान उपन्यास 'राधा कान्त' है। बाबू बृजनन्दन सहाय के कुछ ही दिन बाद हिन्दी उपन्यास के आकाश मे प्रेमचन्द जैसे चाँद का उदय हुआ।

प्रेमचन्द—प्रेमचन्दजी का जन्म १९३३ विक्रमी मे काशी के लमही पाण्डेपुर नामक गाँव मे हुआ था। इन्होने सन् १९०१ से लिखना प्रारम्भ किया था और अपने जीवन के अन्त तक लिखते रहे। इन्होने अपना सबसे पहला उपन्यास उर्दू मे लिखा था। उसका नाम था 'हम खुर्मा व हम सवाब'। १९०५ मे उन्होने इसका 'प्रेमा' नाम से हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया। इनका पहला हिन्दी उपन्यास 'सेवा सदन' है। यह १९१९ मे प्रकाशित हुआ था। यह एक समस्या-प्रधान उपन्यास है। इसमे दहेज प्रथा, बेजोड विवाह आदि की समस्याएँ प्रस्तुत की गई हैं। 'सेवा सदन' के बाद उनका 'वरदान' नामक उपन्यास प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास मे हास-परिहास की ही प्रवृत्ति प्रधान थी। यह सम्भवत उनके लिखे हुए किसी उर्दू उपन्यास का

रूपान्तर था। इनका चौथा महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'प्रेमाश्रम' है। यह १९२२ मे प्रकाशित हुआ था। इसमे जमीदार और कृषक समस्या को उभारा गया है। १९२४ मे इनका 'रगभूमि' नामक उपन्यास सामने आया। इस उपन्यास मे राष्ट्रीय जीवन की अनेक मार्मिक झाँकियाँ सजोयी गई है। रगभूमि मे आकर प्रेमचन्दजी की प्रतिभा का सर्वाङ्गीण विकास दिखायी पड़ा। कला और कथावस्तु दोनो दृष्टियो से यह उपन्यास उत्तम है। इतने उपन्याम लिखने के वाद इनकी प्रवृत्ति मे आध्यात्मिकता की पुट दिखायी पडी, जिसके फलस्वरूप 'कायाकल्प' का निर्माण हुआ। इस उपन्यास मे प्रेमचन्दजी की अध्यात्मप्रियता की स्पष्ट छाया दिखायी पडती है। 'कायाकल्प', के वाद इन्होने फिर दो छोटे-छोटे समस्या उपन्यास लिखे जिनके नाम 'निर्मला' और 'प्रतिज्ञा' है—पहले मे विधुर विवाह की समस्या उठाई गई है और दूसरे मे विधवाओ का प्रश्न छेडा गया है। १९३० मे उनका 'गवन' नामक उपन्यास प्रकाश मे आया। इस उपन्यास मे प्रेमचन्दजी का कलागत विकास दिखाई पडता है। इस उपन्याम मे उनकी प्रवृत्ति चरित्र-चित्रण की ओर अधिक रही है। सुधारवाद के पचडे में वे यहाँ अधिक नही पडे हैं। १९३२ में 'कर्मभूमि' सामने आई। यह उपन्यास राजनीतिक आन्दोलनो और सामाजिक बुराइयो से भरा पडा है। 'कर्मभूमि' के वाद इनका सवसे सुन्दर उपन्यास 'गोदान' लिखा गया। इस उपन्यास मे कवि की प्रवृत्ति आँचलिक अधिक प्रतीत होती है। इसमे ग्रामीण और शहरी जीवनो को सापेक्षता में चित्रित करके, होरी तथा धुनिया नामक कृपक दम्पति का चरित्र वड़ी कुशलता के साथ उभारा गया है।

जयशंकरप्रसाद—प्रसादजी ने जहाँ कविता और नाटक के क्षेत्र मे अपने लिए सर्वोच्च स्थान निर्धारित कर लिया है, वहीं उन्होने उपन्यास क्षेत्र मे भी अपनी कीर्त्ति को अक्षय रखने का प्रयास किया है। इनके लिखे हुए तीन उपन्यास हैं। 'ककाल,' 'तितली' और 'इरावती'। इनके उपन्यासो मे हमे मानव जीवन की यथार्थता का चित्रण अपने अति रूप मे दिखाई पडता है। वास्तव मे समाज इतना दूपित नहीं है जितना कि प्रसादजी ने उसे समझा है। पता नहीं कि उन्हें यह प्रेरणा कहाँ से मिली थी।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री—सुयोग्य वैद्य चतुरसेन शास्त्री उच्चकोटि के साहित्य स्रष्टा भी हैं। आपने अनेक उपन्यास लिखे है। इनमे 'हृदय की परख' 'हृदय की प्याम', 'अमर अभिलापा', 'आत्म दाह', 'मेरी खाल की हाय' 'सिंहगढ विजय', 'रावण का प्रेम', 'आलमगीर', 'अपराजिता', 'सोमनाथ', और 'वैशाली की नगर वधू', विशेप प्रसिद्ध हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा—वर्माजी हिन्दी के श्रेष्ठ ऐतिहासिक-उपन्याम लेखक है। इनका जन्म झाँसी जिला के मोरानीपुर नामक गाँव मे सवत् १९४७ मे हुआ था। इनके प्रसिद्ध उपन्यासो के नाम 'गडकुण्डार', 'सगम', 'लगन', 'प्रत्यागत', 'कुण्डली चक्र', 'प्रेम की भेट', 'विराटा की पद्मिनी', 'मुसाहिव जू', 'झाँसी की रानी', 'कचनार,' '१७२९', अचल मेरा कोई', 'महादजी सिंधिया', 'टूटे काँटे', 'मृग-

नयनी', 'छत्रसाल', 'अहिल्याबाई' 'भुवन विक्रम', 'राणा सांगा', 'अमर बेल', 'हृदय की हिलोर' हैं।

राधिकारमणप्रसादसिंह—राजा राधिकारमण प्रसादसिंह का जन्म संवत् १६४७ मे हुआ था। इन्होने 'राम रहीम' नामक एक सुन्दर उपन्यास लिखा है। इस उपन्यास मे सामाजिक सुधार की प्रवृत्ति प्रधान है।

विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक—इनका जन्म संवत् १६४८ मे अम्बाला मे हुआ था। बाद मे यह कानपुर मे रहने लगे थे। इनका लिखा हुआ 'माँ' नामक उपन्यास एक उच्चकोटि का सामाजिक उपन्यास है।

जे० पी० श्रीवास्तव—हास्य प्रधान साहित्य सृजन करने वालो मे आपका नाम विशेष उल्लेखनीय है। आपका जन्म सन् १८६१ मे हुआ था। आपने जीवन भर गोंडा मे रहकर वकालत की है। इनके उपन्यासो मे दिल की आग' उर्फ 'दिलजले की आह', 'लतखोरी लाल', नामक उपन्यासो की अच्छी ख्याति है। इनका लिखा हुआ एक 'प्राणनाथ' नामक उपन्यास भी है। इनके उपन्यासो मे हास्य कही-कही अश्लीलता की सीमा तक पहुँच गया है।

शिव पूजन सहाय—इनका जन्म शाहबाद जिले मे सन् १८६३ मे हुआ था। इनका लिखा हुआ 'देहाती दुनिया' नामक उपन्यास आंचलिक प्रवृत्तियो को लिये हुए एक सामाजिक उपन्यास है।

राहुल साकृत्यायन—इनका जन्म संवत् १६५० मे आजमगढ जिले मे एक पाण्डेय कुल में हुआ था। उनका उस समय का नाम केदार पाण्डेय था। यौवन मे पदार्पण करते ही यह रामानुजी सम्प्रदाय मे दीक्षित हो गये थे। उस सम्प्रदाय मे इनका नाम रामउदारदास रखा गया। बाद मे वे बौद्ध हो गये। तब से वे महा-पंडित राहुल साकृत्यायन कहलाने लगे। इनके उपन्यासो मे 'जय यौधेय', 'सिंह सेनापति', 'सोने की ढाल', 'जो दास थे', 'मधुर स्वप्न', 'अनाथ', 'विस्मृति के गर्भ मे' 'वोलगा से गंगा तक' आदि की विशेष ख्याति है।

सुदर्शन—पंडित बद्रीनाथ भट्ट 'सुदर्शन' प्रेमचन्दजी के समकालीन लेखक है। यह मूलत कहानी-लेखक है। किन्तु उन्होने 'भागवन्ती' और 'प्रेम पुजारिन' नामक दो उपन्यास भी लिखे हैं।

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला—आपका जन्म संवत् १६५३ मे बंगाल मे हुआ था। आप हिन्दी के एक महान् कवि हैं। कवि होने के साथ-साथ एक उच्चकोटि के उपन्यास लेखक भी है। इनके लिखे हुए कई उपन्यास बहुत प्रसिद्ध हो गए हैं। उनके नाम क्रमश 'अप्सरा', 'उलका', 'प्रभावती', 'निरुपमा', 'चोटी की पकड़' 'काले कारनामे', 'कुल्ली भाट' तथा 'बिल्लेसुर बकरिहा' है। अन्तिम दो रेखाचित्र की शैली मे लिखे हुए उपन्यास हैं। इनमे हास्य और व्यंग की प्रधानता है।

देवनारायण द्विवेदी—आपका जन्म १६५४ मे मिर्जापुर मे हुआ था। आप बंगला के अच्छे विद्वान् थे। आपने हिन्दी मे कई सुन्दर उपन्यास लिखे हैं। इनमे 'गोरा', 'कर्त्तव्याघात', 'प्रणय', 'पश्चात्ताप' और 'दहेज' प्रकाशित हो चुके है।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी—इनका जन्म कानपुर में संवत् १९५६ मे हुआ था। इन्होने दस-ग्यारह उपन्यास लिखे हैं। इनके 'प्रेमपथ', 'प्यासा', 'परित्यक्ता', 'दो वहिनें' और 'अनाथ पत्नी' शीर्षक उपन्यास विशेष प्रसिद्ध हैं।

अनूपलाल मण्डल—इनका जन्म सन् १९०० में विहार मे हुआ था। इन्होंने एक दर्जन से अधिक उपन्यास लिखे हैं। इनके कुछ प्रसिद्ध उपन्यासो के नाम 'निर्वासिता', 'समाज की वेदी पर', 'साकी', 'मीमासा', 'रूपरेखा', 'ज्योतिर्मयी', 'गरीवी के दिन', 'वे अभागे', 'ज्वाला', 'अभिशाप', 'दर्द की तस्वीरें' आदि हैं।

श्री नार्यसिंह—इनका जन्म सन् १९०१ मे हुआ था। इनके लिखे हुए, 'उलझन' तथा 'प्रजामण्डल' नामक उपन्यासो की अच्छी ख्याति है।

इलाचन्द जोशी—इनका जन्म सन् १९०२ मे अल्मोड़ा में हुआ था। यह उच्चकोटि के कहानीकार, सरस कवि और सफल उपन्यासकार हैं। इनके लिखे हुए 'घृणामयी', 'सन्यासी', 'निर्वासिता', 'जिप्सी', 'चार उपन्यास', 'प्रेत और छाया', 'खण्डहर की आत्माएँ', 'जहाज का पछी', 'मुक्ति-पथ' आदि उपन्यास प्रसिद्ध हैं।

पाण्डेय वेचन शर्मा 'उग्र'—इनका जन्म संवत् १९६० के लगभग हुआ था। यह उच्चकोटि के नाटककार और प्रसिद्ध कथाकार है। इनके लगभग ६ उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। उनके नाम क्रमश 'दिल्ली का दलाल', 'वुधुआ की वेटी', 'चन्द हसीनो के खतूत', 'शरावी', 'सरकार तुम्हारी आँखो मे' और 'जीजी जी' हैं। नग्न यथार्थवाद के चित्रण में आपकी लेखनी वहुत रमी है।

भगवतीचरण वर्मा—इनका जन्म संवत् १९६० मे जिला उन्नाव मे हुआ था। इनके लिखे हुए पाँच उपन्यास है। उनके नाम क्रमशः 'पतन', 'चित्रलेखा', 'आखिरी दाव', 'टेढे-मेढे रास्ते' तथा 'तीन वर्ष' है।

चण्डीप्रसाद हृदयेश—भावप्रधान अलकृत शैली मे उपन्यास लिखने वालो मे आप अग्रगण्य है। इनका लिखा हुआ 'मगल-प्रभात' नामक उपन्यास वहुत प्रसिद्ध है।

गोविन्दवल्लभ पन्त—यह मूलत. नाटककार हैं। किन्तु उपन्यास-क्षेत्र में भी इन्हे अच्छी सफलता मिली है। इन्होने एक दर्जन से अधिक उपन्यास लिखे है। इनके उपन्यासो के नाम क्रमश 'मदारी', 'प्रतिमा', 'जुलिया', 'नूरजहाँ', 'अमिताभ', 'चन्द्रकान्त', 'प्रगति की राह पर', 'मुक्ति के वन्धन', 'नौजवान' और 'मानिनी' है।

जैनेन्द्रकुमार—इनका जन्म जिला अलीगढ मे संवत् १९६२ मे हुआ था। इनके लिखे हुए उपन्यासो मे 'परख', 'त्याग-पत्र', 'कल्याणी', 'सुखदा', 'विवर्त्त', 'जयवर्द्धन', 'दशार्क' तथा 'अनाम स्वामी' वहुत प्रसिद्ध हैं।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास लिखने वालो मे आप अग्रगण्य है। प्रेमचन्दजी के वाद उपन्यास-क्षेत्र मे नई प्रगति को जन्म देने का श्रेय इन्हीं को है।

प्रतापनारायण श्रीवास्तव—इनके लिखे हुए कई उपन्यास वताए जाते हैं। इनमे 'विदा', 'विकास', 'विजय' और 'वयालीस' नामक उपन्यासो की अच्छी ख्याति है।

उपेन्द्रनाथ अश्क—इनका जन्म सन् १६०० मे जिला जालन्धर मे हुआ था। यह कवि, उपन्यास-लेखक और नाटककार सभी कुछ हैं। इनके उपन्यासो मे 'सितारो का खेल', 'मेरी दुनिया', 'गर्म राख', 'गिरती दीवारें', 'बैगन का पौधा' तथा 'दीप जलेगा' बहुत प्रसिद्ध हैं।

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'—आप हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ प्रगतिवादी कवि, आलोचक, कहानीकार और उपन्यासकार है। इन सभी क्षेत्रो मे आपकी प्रतिभा ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। प्रगतिवादी लेखको मे आपकी अच्छी प्रतिष्ठा है। आपके 'शेखर एक जीवनी' और 'नदी के दीप' नामक उपन्यासो की बड़ी प्रतिष्ठा है।

यज्ञदत्त शर्मा—आपका जन्म जिला आगरे मे सन् १६१६ मे हुआ था। इन्होने बहुत से उपन्यास लिखे हैं। इनमे 'विचित्र त्याग', 'दो पहलू', 'ललिता', 'प्रेम-समाधि', 'अन्तिम चरण', 'महल', 'मकान', इनसान', 'इसाफ', 'बदलती राहें', आदि विशेष प्रसिद्ध हैं।

यशपाल—मार्क्सवादी लेखक यशपाल की भी हिन्दी साहित्य मे अच्छी ख्याति है। यह उच्च कोटि के प्रगतिवादी लेखक है। इनके प्रसिद्ध उपन्यासों के नाम 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'मनुष्य के रूप' आदि हैं।

सर्वदानन्द वर्मा—वर्माजी मुख्य मन्त्री श्री सम्पूर्णानन्द के सुपुत्र है। आप प्रगतिशील साहित्य-सेवी हैं। आपने कई सुन्दर उपन्यास लिखे है। इनमे 'नरमेघ', 'नरक' आदि विशेष प्रसिद्ध हैं।

रांगेय राघव—आपने हिन्दी साहित्य के सभी क्षेत्रो को अपनी रचनाओ से भर देने का सकल्प कर रखा है। उपन्यास-क्षेत्र मे तो आपकी प्रतिभा ने विशेष चमत्कार दिखाने की चेष्टा की है। आपने एक दर्जन से अधिक उपन्यास लिखे हैं। आपके लिखे हुए 'उबाल', 'पराया', 'सीधा-सादा रास्ता', 'मुर्दो का टीला', 'चीवर', 'प्रतिदान', 'अँधेरे के जुगनू', 'विवाह मठ', 'घरौंदे' आदि विशेष प्रसिद्ध है।

नागार्जुन आचलिक उपन्यास लिखने वालो मे अग्रगण्य है। इनके लिखे हुए 'बलचनमा', 'रतिनाथ की चाची', 'बाबा बटेश्वरनाथ' और 'नई पौध' नामक उपन्यास सफल आचलिक उपन्यास हैं।

फणीश्वरनाथ रेणु—आचलिक उपन्यास लिखने की परम्परा को प्रवर्तित करने का श्रेय इन्ही को दिया जाता है। इनका 'मैला आँचल' नामक उपन्यास उच्चकोटि का आचलिक उपन्यास है।

अन्य लेखक—उपर्युक्त प्रसिद्ध उपन्यासकारो के अतिरिक्त हिन्दी मे कुछ और साहित्यकार भी समय-समय पर उपन्यास-रचना कर इस क्षेत्र की श्रीवृद्धि करते रहे हैं। इन कलाकारो में इन्द्र विद्यावाचस्पति, सद्गुरुशरण अवस्थी, रामचन्द्र शुक्ल, देवेन्द्र सत्यार्थी, कृष्णचन्द्र एम० ए०, श्रीमती कचनलता सब्बरवाल', गुरुदत्त एम० ए०, हिमाशु, क्षेमचन्द्र सुमन, मन्मथनाथ गुप्त, धर्मवीर भारती, 'प्रभाकर माचवे आदि के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं। सक्षेप मे हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यास-लेखको और उनके उपन्यासो का स्थूल विवरण यही है।

: ७ :

आधुनिक कहानी

आधुनिक लघु कहानी

आधुनिक हिन्दी साहित्य की रजनात्मक विधाओ मे कहानी का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण है। उसके इस महत्त्व का कारण उसकी सर्वजनीनता है। साहित्य की समस्त विधाओ मे यही एक ऐसी विधा है जो पाठक का चरम अनुरजन करने के साथ-साथ एक चिरतन सत्य का उद्घाटन करने मे भी प्रयत्नवान रहती है। अपनी इस द्विमुखी विशेपता के कारण ही वह अत्यधिक लोकप्रिय हो गई है तथा शाश्वत साहित्य की निधि भी बन गई है। हमारी धारणा तो यही है कि लोक कल्याण भावना और लोक रजक तत्त्व का जितना सुन्दर समन्वय इस विधा मे होता दिखाई पडता है उतना साहित्य की किसी अन्य विधा मे नहीं मिलता।

सस्कृत आचार्यों की दृष्टि मे कहानी—मैं यह निस्सकोच कह सकता हूँ कि हिन्दी मे कहानी का जो रूप मिलता है वह सर्वथा नवीन है और पाश्चात्य कहानी-कला के अनुकरण पर विकसित हुआ है। सस्कृत मे कहानी नामक कोई विशेष विधा का वर्णन नहीं मिलता। वहाँ पर इसके स्थानापन्न दो शब्द उपलब्ध होते है—एक कथा और दूसरा आख्यायिका। सम्पूर्ण सस्कृत गद्य-साहित्य को प्राय इन्ही दो भागों मे विभाजित करने की परम्परा रही है। आचार्य दण्डी ने अपने काव्यादर्श मे इन दोनो के पारस्परिक भेदो को स्पष्ट करने का अच्छा प्रयास किया है। उसने इन दोनो गद्यरूपो मे निम्नलिखित अन्तर निर्दिष्ट किए है—

(१) कथा प्राय· कवि-कल्पना प्रसूत होती है। जब कि आख्यायिका किसी ऐतिहासिक या पौराणिक इतिवृत्त को लेकर ही चलती है।

(२) कथा मे वक्ता के सम्बन्ध मे कोई निश्चित नियम नही है। उसका वक्ता स्वय नायक भी हो सकता है और कोई दूसरा व्यक्ति भी हो सकता है। किन्तु आख्यायिका के सम्बन्ध मे यह बात नहीं है। आख्यायिका का वक्ता केवल नायक ही हो सकता है। उसमे कोई दूसरा व्यक्ति वक्ता के रूप मे प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

(३) आख्यायिका प्राय उच्छ्वासो में विभक्त रहती है। उसमे वक्त्र और अपरवक्त्र दोनो प्रकार के छन्दो का समावेश रहता है। यह बात कथा मे नहीं पाई जाती।

(४) कथा मे कुमारी-अपहरण, युद्ध, सयोग तथा वियोग वर्णन, सूर्योदय, चन्द्रोदय आदि प्राकृतिक दृश्यो के चित्रण भी रहते है। किन्तु आख्यायिका मे इन सबकी कोई विशेष आवश्यकता नही समझी जाती।

सस्कृत के लेखक गद्य लिखते समय प्राय कथा और आख्यायिका के भेद को प्रकट करने वाले कुछ विशेष शब्दो का प्रयोग भी करते थे । किन्तु यह परम्परा अधिक न चल सकी और कथा तथा आख्यायिका का भेद लुप्त-सा होने लगा। स्वय दण्डी को यह स्वीकार करना पड़ा है कि कथा और आख्यायिका मे केवल नाममात्र का भेद है ।

पाश्चात्य विद्वानो द्वारा दी गई कहानी की परिभाषाएँ एव व्याख्याएँ— कहानी एक ऐसी गद्य-विधा है जिसके स्वरूप का वर्तमान रूप सबसे पहले पाश्चात्य देशो मे विकसित हुआ। यही कारण है कि हमे पाश्चात्य साहित्य मे इसके स्वरूप की अच्छी मीमासा मिलती है । कहानी के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास निम्न-लिखित पाश्चात्य विद्वानो ने किया है—

(१) हडसन, (२) वेल्स, (३) सर ह्य पोल, (४) अपहम, (५) पो, (६) ऐलरी, (७) चेखोव और (८) जौन हैडफील्ड ।

(१) हडसन की परिभाषा—हडसन ने कहानी की परिभाषा और व्याख्या इस प्रकार दी है—

"A short-story must contain one and only one informative idea and that the idea must be worked out to its logical connections with absolute singleness of aim and directness of method "

—*An Introduction to The Study of Literature, page 454*

अर्थात् लघु कथा मे केवल एक ही मूल भाव होता है। उस मूल भाव का विकास तार्किक निष्कर्षों के साथ लक्ष्य की एकनिष्ठता से सरल, स्वाभाविक गति से किया जाना चाहिए । उसने कहानी के आकार के सम्बन्ध मे भी एक अन्य स्थल पर यह निर्णय दिया है कि छोटी कहानी आकार मे केवल इतनी ही बड़ी होनी चाहिए कि वह सरलता से एक बैठक मे समाप्त हो जाय ।

(२) वेल्स साहब की परिभाषा—वेल्स साहब ने भी कहानी के सम्बन्ध में यही निर्णय दिया है कि उसे आकार मे अधिक से अधिक इतना बडा होना चाहिए कि वह सरलता से २० मिनट मे पढी जा सके । उनके शब्द इस प्रकार हैं—

"Any piece of short fiction which can be read in twenty minutes would be a short-story "

(३) सर ह्यू पोल की परिभाषा—इनकी परिभाषा कुछ अधिक व्यापक है—

"A short-story should be story, a record of things, happening full of incidents and accidents, swift movement, unexpected development leading through suspence to a climax and satisfying denouement "

अर्थात् कहानी मे घटनाओ का विवरण इस प्रकार चित्रित किया जाना चाहिए कि एक आशातीत विकास दिखाई पडे । इस विकास की प्रेरिका सक्रियता होनी चाहिए । यह विकास इस प्रकार दिखाया जाना चाहिए कि वह हमारी

जिज्ञासा वृत्ति को स्थिर रखते हुए चरम विन्दु का स्पर्श कर एक सन्तोषजनक पर्यवसिति तक पहुँच जाय।

(४) अपहम साहब की परिभाषा—अपहम साहब ने भी कहानी के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उनके मतानुसार आदर्श कहानी सौनेट के समान निर्दोष गठन वाली सजीव रचना होती है। उसमे गीति-काव्य की भाँति केन्द्रीय एकता भी पाई जाती है।

(५) पो साहब की परिभाषा—पाश्चात्य कहानी-क्षेत्र मे पो साहब की वड़ी प्रतिष्ठा है। उन्होने कहानी के सम्बन्ध मे अपने विचार कई स्थलो पर कई प्रकार से व्यक्त किए हैं। एक स्थल पर उन्होने लिखा है कि कहानी वह गद्यकथा है जो आधे घटे से लेकर दो घटे तक मे समाप्त हो जाती है। एक अन्य स्थान पर उन्होने लिखा है कि सक्षिप्त कथा के प्रथम श्रेणी के लेखक को टैकनीक का प्रेमी होना चाहिए। उसे कलाकार होना चाहिए। क्योकि अच्छी कहानी की रचना मे स्थापत्य का सौन्दर्य होता है। उन्होने एक अन्य स्थल पर कहानी के स्वरूप पर कथानक की दृष्टि से भी विचार किया है। उनका कथन है कि कुछ उसे केवल घटना-क्रम की जटिलता समझते है। इसकी सबसे कठिन व्याख्या के अनुसार यह वह तत्त्व है जिसका कोई परमाणु अलग नही किया जा सकता और जिसमे विना पूरी वस्तु को हानि पहुँचाए कोई भी अणु हटाया नहीं जा सकता। उनका एक उद्धरण और उल्लेखनीय है। वे लिखते है कि कहानी किसी नाटकीय घटना अथवा परिस्थिति का, किसी आकर्षक दृश्य का, अन्तरग रूप से गुथे घटना-क्रम का, चरित्र के किसी पहलू का, अनुभव के अश का, या किसी भौतिक समस्या का वर्णन करती है। उन्होने एक अन्य स्थल पर कहानी के प्रमुख तत्त्वो का सकेत करते हुए लिखा है कि कुशल कलाकार पहले तो वहुत सतर्क चिन्ता से किसी एक असाधारण प्रभाव की वात सोचेगा, फिर वह ऐसी घटना की कल्पना करेगा, ऐसा घटना-क्रम एकत्रित करेगा जो उसके पूर्व-कल्पित प्रभाव की सृष्टि मे सवसे अधिक सहायक हो। कथा के विचार का निर्दोष निरूपण होता है। क्योकि इसमे कोई वाधा नही पडती। यह लक्ष्य उपन्यास नहीं साध सकता।

(६) ऐलरी साहब की परिभाषा—ऐलरी साहब ने कहानी की परिभाषा देते हुए उसकी सक्रियता पर अधिक वल दिया है। उन्होंने लिखा है—

"A short-story is just like a horse race. It is the start and finish which count most"

अर्थात् वह एक घुडदौड़ के समान होती है। जिस प्रकार घुड़दौड़ का आदि और अन्त ही महत्त्वपूर्ण होता है उसी प्रकार कहानी का आदि और अन्त ही विशेष महत्त्व का होता है।

(७) चेखोव की परिभाषा—कहानी के वर्ण्य-विषय पर दृष्टि रखते हुए उन्होने लिखा है—

"One must write about simple things how Peter Seminovitch married Maria in Rome.".

अर्थात् कहानी मे साधारण से साधारण बातो का वर्णन हो सकता है। जैसे सैमियोविच ने किस प्रकार मेरिया से विवाह किया—बस इतना ही।

(८) जौन हैडफील्ड की परिभाषा—हैडफील्ड साहब ने कहानी की परिभाषा मे उसके रूपाकार को ही अधिक महत्त्व दिया है। उन्होने लिखा है—

"He describes the short-story, a story that is not long"
—*Modern Short Stories*

अर्थात् छोटी कहानी वह है जो बहुत बड़ी न हो।

हिन्दी विद्वानो द्वारा दी गई कहानी की परिभाषा

हिन्दी के विद्वानो ने भी कहानी के स्वरूप को समझाने की चेष्टा की है। यहाँ पर कुछ बहुत प्रसिद्ध विद्वानो के दृष्टिकोणो का उल्लेख किया जा रहा है—

(१) प्रेमचन्द-कृत कहानी की व्याख्या—प्रेमचन्दजी ने कहानी के स्वरूप और तत्त्वो के सम्बन्ध मे कई बार अपने विचार प्रकट किये हैं। यहाँ पर हम दो प्रमुख और महत्त्वपूर्ण विचार उद्धृत कर रहे हैं—

(क) "अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरजित होकर कहानी बन जाती हैं।"—कुछ विचार, पृ० ५२

(ख) "सबसे उत्तम कहानी वह होती है जो किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर आधारित हो।"—कुछ विचार, पृ० ५२

(२) प्रसाद-कृत कहानी की व्याख्या—कवि प्रसाद ने कहानी की व्याख्या सौन्दर्य की दृष्टि से की है। उन्होने लिखा है कि "आख्यायिका मे सौन्दर्य की झलक का रस है। मान लीजिए, आप किसी तेज सवारी से चले जा रहे है। रास्ते मे एक गोल-मटोल शिशु खेल रहा है। उसकी सुन्दरता की झलक मिलने भर मे ही सवारी आगे निकल जाती है। किन्तु उतनी झलक ही इतनी होती है कि उसकी स्थायी रेखा आपके अन्तर्पट पर अकित हो जाती है। यही काम कहानी भी करती है।"

इलाचन्द जोशी-कृत परिभाषा—इलाचन्द जोशी ने कहानी का स्वरूप इस प्रकार निर्धारित किया है—"जीवन का चक्र नाना परिस्थितियो के सघर्ष से उलटा-सीधा चलता रहता है। इस सुवृहत् चक्र की किसी विशेष परिस्थिति की स्वाभाविक गति को प्रदर्शित करने मे ही कहानी की विशेषता है।"

उपर्युक्त मतो की समीक्षा और अपना दृष्टिकोण—कहानी की उपर्युक्त परिभाषाओ पर विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि कहानी की कोई भी परिभाषा पूर्ण नही है। अधिकतर विद्वान् उसके किसी एक पक्ष को ही महत्त्व देते हुए उसके स्वरूप को स्पष्ट करते रहे हैं। किसी ने उसके आकार को ही प्रधान रूप से निर्दिष्ट किया है। किसी ने उसकी एक वैधानिक विशेषता को लेकर ही परिभाषा पूरी कर दी है और किसी ने अपने दृष्टिकोण की मौलिकता प्रदर्शित करने के लिए ही कहानी का रूप-विधान किया है। विचारणीय यह है कि इतने विद्वानो द्वारा विचार किए जाने पर भी कहानी का स्वरूप एक ही स्थल पर अपनी सम्पूर्णता मे क्यो

नहीं निरूपित किया जा सका। वास्तव मे वात यह है कि कहानी जीवन या जगत् के किसी एक पक्ष का ऐसा सवेदनात्मक चित्रण है जिसकी विशेपताओ और प्रभावान्विति की अनुभूति भर की जा सकती है। उसकी सवेदना और प्रभावान्विति शब्दबद्ध नही हो सकती। सम्भवत इसीलिए पाश्चात्य विद्वान् सीन ओ फाउलियन को भी यही लिखना पड़ा कि अच्छी कहानी के गुण परिभाषा मे नही वाँधे जा सकते। किन्तु मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह किसी भी वस्तु के स्वरूप को दुर्बोध नही देखना चाहता। इसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर मै भी कहानी के सम्वन्ध मे अपना दृष्टिकोण प्रकट कर रहा हूँ—मेरी दृष्टि मे कहानी आधुनिक साहित्य की वह लघ्वाकार गद्यात्मक विधा है जिसमे कलाकार जीवन या जगत् की किसी एक घटना, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, भावना या विचार को लेकर एक निश्चित कला-विधि का अनुसरण करता हुआ ऐसी सवेदना और प्रभावान्विति का सृजन करता है जो पाठक को भाव-विभोर कर रससिक्त करने मे समर्थ होती है।

कहानी के स्वरूप के सम्वन्व मे ऊपर हमने जो अनेक परिभाषाएँ दी है उनमे कहानी की लगभग सभी विशेषताएँ व्यक्त हो गई है। लोगो ने अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल विशेपता को ही महत्त्व देकर उसको परिभाषाबद्ध किया है। यदि हम उन सब विशेपताओ को दृष्टि मे रखकर कहानी के स्वरूप का विश्लेपणात्मक निर्देश करना चाहे तो वह इस प्रकार होगा।

आकार की लघुता—आधुनिक कहानी की सबसे प्रमुख विशेपता आकार की लघुता है। उसके स्वरूप की मीमासा करने वाले सभी आचार्यों ने उसकी इस विशेपता पर वल दिया है। उसकी यह विशेपता ही उसे उपन्यास से अलग करती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि कहानी उपन्यास का लघु सस्करण है। हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि कहानी उपन्यास से आकार मे बहुत लघु होती है। कहानी की कथावस्तु और शिल्प-विधि ऐसी रोचक और कलापूर्ण होनी चाहिए कि जो व्यक्ति उसे पढना प्रारम्भ करे वह उसे एक वैठक मे समाप्त करके ही उठे। आज के व्यस्त जीवन मे एक वैठक आधे घण्टे से अधिक नही हो सकती। अतः कहानी आकार में उतनी ही वडी होनी चाहिए जो सरलता से आधे घण्टे मे पढ़ी जा सके।

सवेदना की एकता—कहानी का वर्ण्य-जीवन या जगत् की कोई एक घटना, एक विचार, एक परिस्थिति या एक भावना होती है। इसके निर्वाह के लिए सवेदना की केन्द्रियता और एकता आवश्यक होती है। सवेदना की यह एकता और केन्द्रियता कहानी का प्राण होती है।

प्रभावान्विति—सवेदना की केन्द्रियता और एकता की सफल योजना ही कहानी मे औचित्यपूर्ण प्रभावान्विति को जन्म देती है। यहाँ पर प्रभावान्विति के स्वरूप को स्पष्ट कर देना अनुपयुक्त न होगा। जव सवेदना कथाकार की कला से इतनी ऊर्ज्वसित हो जाती है कि वह सरलता से पाठक के मन, हृदय और वुद्धि को आक्रात करके उसे भौतिक जगत् से उठाकर कथाजगत् का स्वामी वना देती है तभी

उसे प्रभावान्विति कहते है। जिस कहानी मे प्रभावान्विति का स्वरूप जितना प्रवेग-पूर्ण होता है वह कहानी उतनी ही उत्तम होती है।

वैधानिकता—कहानी की एक स्वतन्त्र शिल्पविधि है, उसका एक अपना अलग सविधान है। उसकी रचना उस सविधान के अनुरूप ही होनी चाहिए। रचना के समय कहानी के सविधान की उपेक्षा करने से कहानी कलात्मक लघु कथा के पद से च्युत हो जाती है। अतएव कहानी की आलोचना करते समय उसकी वैधानिक पूर्णता पर अवश्य विचार करना चाहिए। आजकल वैधानिक दृष्टि से जो कहानी जितनी सफल होती है वह उतनी ही उत्तम समझी जाती है।

आधार भूमि के रूप में किसी सत्य खण्ड की प्रतिष्ठा—प्रत्येक लघु कथा किसी सत्य खण्ड पर अवश्य ही आधारित रहनी चाहिए। जो कहानी किसी सत्य खण्ड का आधार लेकर नही खडी होगी वह त्रिशकु के सदृश अधर मे लटकी हुई समझी जायगी और उसमे प्राणवत्ता का अभाव होगा। प्राणवत्ता के अभाव मे कहानी मे शाश्वतता नही आ पायेगी और वह गम्भीर साहित्य की निधि न वन सकेगी।

आकर्षण-शक्ति और रोचकता—लघु कथा मे एक विचित्र आकर्पण और एक मधुर रजकता और रोचकता होती है। यह रजकता और आकर्पण ही कहानी के प्रमुख गुण है। इनके अभाव मे कहानी कहानी न रहकर शुष्क विवरण मात्र रह जाती है। अतएव सफल कलाकार को कहानी मे करुणा, कौतूहल, हास्य, अतृप्त जिज्ञासा आदि को जागृत करने की क्षमता लानी चाहिए। इन सबके समुचित सप्रयोग से ही कहानी रोचक और आकर्षक वन सकती है।

चरित्र-चित्रण—चरित्र-चित्रण यदि कहानी का प्राण नही तो कहानी का प्राणप्रदायक तत्त्व अवश्य ही है। प्रत्येक कहानी जीवन या जगत के किसी एक पक्ष का उद्घाटन करने का प्रयास करती है। जीवन और जगत का कोई भी ऐसा पक्ष नही हो सकता जिसमे किसी न किसी रूप मे मानव की अवतारणा न की गई हो। जहाँ मानव की अवतारणा होगी वहाँ उसके चरित्र का प्रस्फुटन भी दिखाई पडेगा। चरित्र का यह प्रस्फुटन जितना कलात्मक होगा कहानी का मूल्य उतना ही अधिक वढ जायेगा। अतएव कहानीकार को चरित्र-चित्रण की ओर सदैव दृष्टि रखनी चाहिए।

सक्रियता—सक्रियता कहानी के लिए नितान्त आवश्यक होती है। इसका समावेश उसमे कई प्रकार से किया जा सकता है। इसके लिए कथाकार कभी तो घटनाओ के घात-प्रतिघात की ओर कभी छोटे-छोटे भावपूर्ण चुटीले सवादो की योजना करके कहानी मे एक नई चेतना उत्पन्न कर देता है जिससे उसकी सक्रियता वहुत वढ जाती है। इस सक्रियता से कहानी का सौन्दर्य प्रस्फुटित हो उठता है।

सक्षेप मे कहानी के प्राणभूत तत्त्वो का विश्लेपणात्मक विवेचन यही है।

कहानी और उपन्यास मे अन्तर

कहानी और उपन्यासों मे कुछ मौलिक अन्तर है। सक्षेप मे अन्तर को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

(१) कहानी का कथानक हो भी सकता है और नही भी। उसमे कथा-साहित्य के विविध पक्षो मे से किसी एक ही पक्ष के मार्मिक अश को लेकर चलना होता है। यदि कहानी चरित्र को अपना लक्ष्य बनाती है तो उसके किसी एक ही पक्ष का रहस्योद्घाटन करती है। यदि वातावरणप्रधान कहानी है तो उसमे किसी वातावरण विशेप का ही चित्रण किया जायगा। इसी बात को हडसन ने और अधिक स्पष्ट शब्दों मे व्यक्त करते हुए लिखा है—"कहानी का प्रेरक कोई एक ही मार्मिक विचार होता है।" उसके मतानुसार इस विचार का विकास लक्ष्य पर केन्द्रित होते हुए इस प्रकार अन्त की ओर अग्रसर होता है कि माध्यम पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। कुछ ऐसे ही विचार शिपले साहब के भी है। वे लिखते है—"उपन्यास के सब पहलुओ, पात्रो के चरित्र का चित्रण और विकास, व्याख्या और विकास, स्थानीय वातावरण निर्माण, भावनाओ का घात-प्रतिघात, उनका सघर्ष—मे से कहानी किसी एक को ही लक्ष्य कर लिखी जाती है। उसी के निरूपण मे वह समर्थ हो पाती है।" कहने का अभिप्राय यह है कि कहानीकार को अपनी दृष्टि किसी एक वस्तु पर केन्द्रित करनी पडती है। वह विविधता मे एकता को चुनती है। किन्तु उपन्यास इसके बिलकुल विपरीत होता है। उसमे उपर्युक्त सभी बातें एक साथ सरलता से सँजोई जा सकती है। कहानी और उपन्यास मे यह एक बहुत बड़ा अन्तर है।

(२) कहानी जीवन या जगत् के किसी एक अश के रहस्य का ही उद्घाटन करती है। जीवन को पूर्णता मे देखने का प्रयास उसमे कभी नही पाया जा सकता। यह कार्य उपन्यास का है। हडसन ने इसी बात को निम्नलिखित प्रकार से व्यक्त करने की चेष्टा की है—

"कहानी मे हम पात्रो से केवल कुछ क्षणो के लिए मिलते हैं। उन्हे कुछ ही सम्बन्धो और परिस्थितियो मे देखते है। किन्तु उपन्यास इससे भिन्न है। उसमे पात्रो के सम्पूर्ण जीवन की झाँकी झलकती है।"

इसी प्रकार स्टीवेन्सन ने लिखा है—

"The short-story is not the transcript of life but a simplification of some side of it"

—*From General Introduction to Stevenson's Stories.*

(३) लघु कहानी और उपन्यास मे आकार सम्बन्धी अन्तर भी है। कहानी केवल इतनी बड़ी होनी चाहिए जो सरलता से एक बैठक मे समाप्त हो जाय, किन्तु उपन्यास के लिए कोई ऐसा प्रतिबन्ध नही है। यहाँ पर एक प्रश्न उठ खडा होता है। वह यह कि क्या हम कहानी को उपन्यास का लघु रूप कह सकते हैं। मेरी समझ मे कहानी को कला की दृष्टि से उपन्यास का लघु रूप कदापि नही कहा जा सकता। यह अवश्य है कि कहानी और उपन्यास दोनो ही कथा-साहित्य के दो भिन्न-भिन्न अग है। एक का रूप छोटा होता है और दूसरे का वृहत्, फिर भी दोनो एक दूसरे से भिन्न होते हैं। प्रकाशचन्द्र गुप्त के शब्दो में "कहानी के पीछे सृजनात्मक प्रेरणा क्षणिक होती है, शिखा ज्वाल के समान जो शीघ्र ही बुझ जाय। उपन्यास

मे सृजन प्रेरणा को समय की लम्बी अवधि तक पोषित करना होता है। कहानी जीवन की एक सूक्ष्म झाँकी मात्र ही हो सकती है। उपन्यास जीवन की विशालता, बहुरूपता और जटिलताओ का बहुमुखी अकन करता है। हम कह सकते है कि कहानी और उपन्यास का वैसा ही सम्बन्ध है जैसा गीत का महाकाव्य से, अथवा एकाकी का सर्वांग नाटक से। इनमे सृजन प्रेरणा का युग और विषय का प्रतिपादन पूर्ण रूप से ही भिन्न होता है।"
—साहित्य-धारा से उद्धृत, पृ० ३१

इन प्रमुख विभेदो के अलावा भी कहानी और उपन्यास मे कुछ और अन्तर मिलते हैं, जिनकी चर्चा आगे की जा रही है। इन सबके आधार पर हम कहानी को उपन्यास का लघु रूप नही कह सकते।

(४) कहानी और उपन्यास मे प्रभावान्विति सम्बन्धी अन्तर भी पाया जाता है। विषय के एकत्व के साथ कहानी मे प्रभावो की एकता का होना भी बड़ा आवश्यक होता है। प्रभावान्विति क्या है, इसको स्पष्ट करते हुए डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने लिखा है—"विषय का एकत्व जिस समय एकोन्मुख होकर बुद्धि और हृदय को स्पन्दित करता है, उस समय स्पन्दित करने वाली शक्ति प्रभावान्विति होती है।" डॉ० शर्मा के शब्दो मे "कहानीकार कहानी मे विषय को इस क्रम से उपस्थित करता है कि अन्त तक आते-आते स्थान-स्थान पर उत्पन्न होने वाले विभिन्न प्रभाव इस प्रकार सिमटते और एक दूसरे से सयुक्त होते चले जाते है कि उनका एक सम्मिलित प्रभाव-व्यूह तैयार हो जाता है। समाप्ति-स्थल पर आकर उन प्रभावो की एक समष्टि बन जाती है और वे सभी आकर एक स्थल पर अन्वित हो उठते है। इसी को प्रभावो की अन्विति या समष्टि माननी चाहिए। यही कहानी की सबसे बड़ी विभूति होती है।"

उपन्यास इस विभूति से व्यतिरिक्त रहता है—ब्रेडर मैथ्यू साहब ने स्पष्ट लिखा है—

"A good short-story differs from the novel chiefly in it essential unity which a novel cannot have it"
—*The Philosophy of Short Stor*

किन्तु इससे यह नही समझना चाहिए कि उपन्यासो मे प्रभावान्विति का न होना कोई दोष है। वास्तव मे उसका अभाव उपन्यास के लिए गुण रूप ही है। इस बात को स्पष्ट करते हुए डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने लिखा है—"कहानी यदि अपने एकोन्मुख समष्टि प्रभाव के माध्यम से हमारे चित्त को पूर्णतया झकझोर और आन्दोलित करके हमे अनुमान, कल्पना और जिज्ञासा से उन्मुक्त द्वार प... -ला खडा करती है, तो उपन्यास जीवन के विविध क्षेत्रो की झाँकी देकर सारे रहस्यो और वस्तु-स्थितियो से परिचित कराकर हमारे भीतर एक पूर्णता विधायक सन्तुष्टि उत्पन्न करता है।"

(५) कहानी और उपन्यास दोनो मे ही कल्पना की बडी आवश्यकता पडती है, किन्तु कहानी मे कल्पना को सयमित रखना पडता है। उपन्यास मे ऐसा कोई नियम नही है।

(६) कहानी और उपन्यास दोनो मे ही विचारो और भावो की अभिव्यक्ति की जाती है, किन्तु उपन्यासकार की अपेक्षा कहानीकार का कार्य अधिक विवेकपूर्ण होता है। कहानीकार के लिए स्मृति से अधिक विस्मृति की सहायता लेनी पड़ती है। लम्बे-लम्बे विवरणो में से केवल चुनी हुई मार्मिक बातो को सकेतात्मक शैली मे व्यक्त करना ही कहानीकार की कलात्मक विशेषता है। उसमे उपन्यासकार की अपेक्षा सचयन और विवेक-शक्ति अधिक होनी चाहिए।

(७) कहानी और उपन्यास मे एक और अन्तर लक्षित होता है। वह है अन्तर्द्वन्द्व सम्बन्धी। कहानी मे किसी प्रकार के मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण के लिए अवकाश कम होता है। किन्तु उपन्यास मे उपन्यासकार को स्वतन्त्रता होती है कि वह मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व को चाहे कितने ही विस्तार से चित्रित करे।

(८) कहानी और उपन्यास मे एक और मौलिक अन्तर है। उपन्यास को हम गद्यमय महाकाव्य कह सकते है। जिस प्रकार महाकाव्य मे इतिवृत्तात्मक और रसात्मक दोनो स्थल पाए जाते है, उसी तरह से उपन्यास मे भी दोनो प्रकार के विवरण मिलते हैं। किन्तु कहानी मे इतिवृत्तात्मक विवरण के लिए स्थान नही होता। उसमे सर्वत्र व्यजनामूलक रसात्मकता को ही महत्त्व दिया जाता है।

(९) उपन्यास और कहानी मे कथोपकथन की दृष्टि से भी बड़ा अन्तर है। उपन्यास मे लम्बे-लम्बे व्याख्यान भी झाड़े जा सकते हैं। लम्बी-चौड़ी दार्शनिक व्याख्याएँ भी की जा सकती है। किन्तु कहानी मे छोटे-छोटे त्वराबुद्धि मूलक, तर्कमय, रोचक सवाद ही होने चाहिएँ। उपन्यासो मे विवरण और विश्लेषण को महत्त्व दिया जाता है, किन्तु कहानी मे सक्षिप्तता और सकेतात्मकता की ही प्रधानता रहती है।

(१०) कहानी और उपन्यास दोनो मे ही चरित्र-चित्रण को महत्त्व दिया जा सकता है। किन्तु दोनो के चरित्र-चित्रण के रूप मे अन्तर होता है। उस अन्तर को स्पष्ट करते हुए कथा-सम्राट् प्रेमचन्द ने लिखा है—"कहानी मे बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुजाइश नहीं होती। यहाँ पर हमारा उद्देश्य सम्पूर्ण मनुष्य को चित्रित करना नही होता, उसके चरित्र का एक अग दिखाना है।"

—'कुछ विचार' से उद्धृत

कहानी और उपन्यास के चरित्र-चित्रण के रूप मे ही अन्तर नही होता वरन् उसके चित्रण की प्रक्रिया भी भिन्न होती है। इस सम्बन्ध मे पाश्चात्य आचार्य हडसन के शब्द उल्लेखनीय है। उसने लिखा है—

"कहानी मे चरित्र का उद्घाटन किया जाता है। जब कि उपन्यास आदि मे चरित्र को विकसित किया जाता है। यही कारण है कि कहानी मे चरित्र-चित्रण की अभिनयात्मक शैली और उपन्यास में विश्लेपणात्मक शैली अपनायी जाती है। सक्षेप मे मैं कह सकता हूँ कि कहानी मे चरित्र की झलक रहती है और उपन्यास मे उसकी झाँकी।"

(११) कहानी और उपन्यास की शैली मे भी अन्तर रहता है। कहानी की शैली का प्राण व्यजकता और ध्वन्यात्मकतापूर्ण होती है। प्रसिद्ध

कहानीकार 'पहाडी' ने ठीक ही लिखा है—"व्यजकता और प्रतिध्वनि कहानी की जीवन सांसें है ।" इसके विपरीत उपन्यास मे विश्लेषणात्मक शैली अपनायी जाती है । कहानी और उपन्यास मे इनके अतिरिक्त शैलीगत और भी अन्तर ढूंढे जा सकते है । किन्तु वे सब इन्हीं पर आधारित है ।

इस प्रकार हम देखते है कि कहानी और उपन्यास के बीच रूपाकार वैधानिकता और शैली सम्बन्धी कुछ ऐसे अन्तर पाये जाते है जिनके कारण कहानी को उपन्यास का लघु रूप नही कहा जा सकता ।

प्राचीन और आधुनिक कहानी—आज की कलापूर्ण कहानियाँ प्राचीन नानी की कहानियो से बहुत सी बातो मे भिन्न होती हैं । प्राचीन कहानियो में आकार सम्बन्धी कोई नियम नही था । नानी की बहुत सी कहानियाँ ऐसी भी होती थी जिन्हे बच्चे कई दिनो तक बरावर सुनते रहते थे । फिर भी वह समाप्त नही होती थी । किन्तु आज की कहानी के आकार के सम्बन्ध मे निश्चित नियम है । वेल्स ने तो स्पष्ट शब्दो मे लिखा है कि कोई भी मधुर कथात्मक रचना जो सरलता से २० मिनट मे पढी जा सके, कहानी कहलावेगी । यदि २० मिनट को हम कम समय समझें तो भी कहानी का आकार किसी प्रकार से इतना बडा नही होना चाहिए कि उसके पढने मे एक घटे से अधिक लगे ।

कथावस्तु की दृष्टि से भी आज की कहानी प्राचीन कहानी से भिन्न होती है । प्राचीन कहानियो मे अधिकतर अद्‌भुत घटना-वैचित्र्य, अति प्राकृतिक वर्णन, चमत्कारपूर्ण चित्रण ही मिलते थे । किन्तु आज की कलापूर्ण कहानी मे इसके स्थान पर सवेदना, कौतूहल, उत्सुकता आदि जागृत करने की क्षमता को महत्त्व दिया जाता है । मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण, स्वाभाविकता और यथार्थता आदि छोटी कहानी के प्राणदायक अणु है ।

प्राचीन कहानी से आज की कहानी एक बात में और बहुत भिन्न है । प्राचीन कहानी मे किसी सत्य की व्यजना को महत्त्व नही देते थे । उपदेश और मनोरजन ही उसके प्रधान लक्ष्य थे । किन्तु आज की कहानी मे उपदेश और मनोरजन से कही अधिक किसी सत्य की प्रतिष्ठा को महत्त्व दिया जाता है ।

कला की दृष्टि से भी आज की कहानी प्राचीन कहानी से बहुत भिन्न है । प्राचीन कहानियो के लिए किन्ही वैधानिक नियमो का निर्माण नही किया गया था । उसकी सारी कलात्मकता वक्ता के ऊपर ही निर्भर रहती थी, किन्तु आज की कहानी के सम्बन्ध मे निश्चित वैधानिक नियम निर्धारित किये जा चुके है । उनका पालन करना कहानी-लेखक का परम कर्त्तव्य होता है । आधुनिक युग मे कहानी साहित्य का प्रधान अग मानी जाती है । किन्तु प्राचीन काल में साहित्य से इसका कोई घनिष्ट सम्बन्घ नही था । सस्कृत मे कथाएँ और आख्यायिकाएँ तो लिखी गई थीं, किन्तु आज के ढग की कहानियाँ नही मिलती । यद्यपि पचतत्र, हितोपदेश और ईसप की कहानियाँ आकार मे आज की कहानियो से बहुत मिलती-जुलती थी किन्तु कलात्मकता और स्वाभाविकता की दृष्टि से वे उनकी तुलना मे नही आ सकतीं ।

प्राचीन कहानियो का प्रारम्भ एक ही शैली मे होता था । भारत की नव्वे प्रतिशत कहानियाँ एक राजा और एक रानी से आरम्भ होती थी । किन्तु आजकल कहानी का आरम्भ कलापूर्ण ढग से किया जाता है । इसके लिए उसमें भूमिका की आवश्यकता नही पड़ती। उसके प्रारम्भ को इस प्रकार उपस्थित किया जाता है कि पढने पर वह कहानी कहानी नही, प्रत्युत जीवन की वास्तविक घटना जान पड़ती है ।

प्राचीन कहानियो मे प्राय उच्च वर्ग के मनुष्यो या देवो और दानवो का ही वर्णन मिलता है । किन्तु आज की कहानी सामान्य मानवता को लेकर लिखी जाती है । वह ससार की किसी छोटे-छोटे से जीव की साधारण से साधारण घटना या परिस्थिति से सम्बन्धित हो सकती है ।

प्राचीन कहानियो मे वार्त्तालाप का कोई नियम नही था । मनुष्य के साथ पशु भी वार्त्तालाप करते सुने जाते थे । इससे कहानी की स्वाभाविकता तो नष्ट होती ही थी—कथोपकथन की कला का भी कोई विकास नही हो पाता था । आज की कहानी कलापूर्ण कथोपकथनो के सहारे विकसित होती है ।

प्राचीन कहानियो मे चरित्र-चित्रण आदर्श और अत्यन्त अतिरजित रूप मे किया जाता था । किन्तु आज चरित्र-चित्रण की एक निश्चित कलामूलक कसौटी है। कहानियो मे उसी के अनुरूप चरित्र-चित्रण किया जाता है । प्राचीन कहानियो के चरित्र-चित्रण मे आश्चर्य और अद्‌भुतता को ही महत्त्व देना कहानीकार का लक्ष्य होता था । आजकल कहानीकार मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण को अधिक महत्त्व देता है ।

प्राचीन कहानियाँ अधिकतर भावना-प्रधान होती थी । किन्तु आज की कहानी में तार्किकता और बुद्धिवादिता का ही प्राधान्य रहता है ।

प्राचीन और नवीन कहानियो मे शैलीगत विभेद भी दिखाई पडता है । प्राचीन कहानियाँ अधिकतर प्रथम पुरुप या अन्य पुरुप मे ही कही जाती थी । आज की कहानी-कला मे कहानी लिखने की विविध शैलियाँ विकसित हुई हैं—पत्र-शैली, डायरी-शैली आदि-आदि । एक दूसरा अन्तर भी है । प्राचीन कहानियो की प्रधान विशेपता वर्णनात्मकता थी । आज की कहानी मे वर्णनात्मकता उतनी आवश्यक नही समझी जाती जितना प्रभावान्विति योजना और मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण अपेक्षित समझे जाते है ।

कहानी का रचना-विधान

कहानी का एक निश्चित रचना-विधान है । वह पाश्चात्य साहित्य से ही अधिकतर हिन्दी मे आया है । उस रचना-विधान के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं—

(१) कथावस्तु ।
(२) पात्र और चरित्र-चित्रण ।
(३) कथोपकथन या सवाद ।
(४) स्थिति या वातावरण ।
(५) शैली ।
(६) उद्देश्य ।

(१) कथावस्तु—कहानी की कथावस्तु पर हम निम्नलिखित शीर्षकों मे विचार करेंगे ।

वस्तु-चयन परिधि—कहानी की वस्तु-चयन परिधि वहुत विस्तृत और व्यापक बताई गई है । इस सम्बन्ध मे एच० ई० वेल्स नामक पाश्चात्य विद्वान् का मत विशेष उल्लेखनीय है—

"The short story can be any thing from the prose painted rather than written to the piece of straight reports in which style, colour and elaboration have no place from the piece which catches like a cab wel, the light subtle iridescence of emotions that can never be really captured or measured to the solid tale in which all emotions, all action, all reaction is measured fixed glazed and finished like well built have wills inree coats of shining and enduring paints "

—*Beats—The Modren Short Stories*

अर्थात् लघु कथा सामान्य चित्रणो से लेकर रिपोर्ट तक (जिनमे शैली तथा रूपरग सम्बन्धी कोई चमत्कार नही होता) से सम्वन्धित रहती है । कहानी के अन्तर्गत वह गद्यखण्ड भी आ जाते है, जिनमे उन मनोभावो का चित्रण कर दिया जाता है जिनका चित्रण अन्य साहित्यिक रूपो मे कठिन होता है । वैधानिक दृष्टि से सफल कहानी की समस्त विचारधाराएँ और क्रिया-कलाप आदि नियन्त्रित रहते हैं ।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि कहानी की परिधि पर्याप्त विस्तृत होती है । इस विस्तार का कारण है उसका मानव-जीवन से सम्बन्धित होना । कहानी का लक्ष्य जीवन के किसी मार्मिक पक्ष या मानव-स्वभाव के किसी विलक्षण चरित्र पर प्रकाश डालना होता है । अपने इस लक्ष्य की पूर्त्ति के लिए उसे जीवन से अधिक से अधिक सम्बन्धित रहना पडता है । अधिक सही अर्थों मे हम कह सकते हैं कि वह जीवन का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है ।

वस्तु प्राप्ति के स्रोत—कहानी के लिए हमे कथावस्तु बहुत से स्रोतो से प्राप्त हो सकती है । उनमे से कुछ निम्नलिखित है—

(क) इतिहास, पुराण आदि ।
(ख) पत्र-पत्रिकाएँ ।
(ग) दैनिक जीवन की घटनाएँ ।
(घ) साहित्य ।
(ङ) कल्पना ।

(क) इतिहास, पुराण आदि—इतिहास, पुराण आदि सदा से ही भारतीय साहित्य के लिए अमर और चिरन्तन स्रोत रहे हैं । भारत के अधिकाश साहित्य का मूल स्रोत यही है । हिन्दी कहानियो के लिए भी उन्होने बड़ी प्रेरणा प्रदान की है । प्रसादजी अपनी वहुत सी कहानियो की सामग्री इतिहास से लेते रहे । उनका 'तानसेन', 'सिकन्दर की शपथ', 'चित्तौड-उद्धार', 'अशोक', 'जहाआरा' शीर्षक कहानियाँ ऐतिहासिक आधार लेकर ही खडी है । पौराणिक कहानियो मे हम जैनेन्द्र की 'नारद का अर्घ्य' कहानी ले सकते हैं ।

(ख) पत्र-पत्रिकाएँ—सैकडो कहानियो की कथावस्तु का आधार पत्र-पत्रिकाओं मे वर्णित घटनाएँ ही हुआ करती है। कहानी का नवीन रूपान्तर सूचनिकाएँ तो अधिकतर पत्र-पत्रिकाओ मे वर्णित घटनाओ को ही आधार बनाकर चलती है।' बहुत सी कल्पित कहानियाँ प्राय पत्रिकाओ मे वर्णित प्रसगो और घटनाओ का आधार लेकर ही अपना रूप निर्माण करती हैं।

(ग) दैनिक जीवन की घटनाएँ—हमारा जीवन प्रतिपल अनेक घटनाओ के घात-प्रतिघात मे विकसित होता जाता है। इनमे कुछ घटनाएँ इतनी प्रभावपूर्ण और प्रेरक होती है कि भावुक हृदय के लिए वे कहानी लिखने की अच्छी सामग्री प्रदान करती हैं। कल्पना-प्रधान कहानियो का मुख्य आधार अधिकतर इसी प्रकार की दिन-प्रतिदिन की घटनाएँ होती है।

(घ) साहित्य—बहुत सी कहानियाँ भिन्न-भिन्न साहित्य की कहानियो का आश्रय लेकर विकसित होती हैं। प्रत्येक साहित्य की सैकडो विधाएँ होती है और उन विधाओ से सम्बन्धित सहस्रो रचनाएँ होती है। उन रचनाओ मे जीवन की सहस्रधा अभिव्यक्ति रहती है। सफल कहानीकार भी इनसे प्रेरणा पाकर इनका आधार लेकर अपनी कहानी का निर्माण करता है।

मूल स्रोतों के उपयोग की विधियाँ—कुछ कहानी-कला के आचार्यों ने मूल स्रोतो से प्राप्त होने वाली सामग्री के सचय और सुरक्षा एव स्मरण के लिए नोटबुक रखने का उपदेश दिया है। किन्तु मै इसकी कोई आवश्यकता नही समझता। कहानी जीवन और जगत् के किसी मार्मिक पक्ष के प्रति कौतूहलात्मक प्रतिक्रिया का परिणाम है। कहानी को किसी एक घटना, वस्तु, विषय या धारणा की रोचक झलक मात्र मानता हूँ। झलक के लिए सश्लिष्ट सजावट की आवश्यकता नहीं होती। अत नोटबुक मे किए हुए सूक्ष्म विवरण कहानी की रचना मे बाधा रूप हो सकते है। हाँ, उपन्यास-रचना मे इस प्रकार के विवरण महत्त्व रख सकते है।

सामग्री को कहानी के रूप में ढालने के प्रकार और भेद—डॉ० जगन्नाथ शर्मा ने उपादान सग्रह के प्रकारो का वर्णन करते हुए टीवेन्सन के दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण किया है। मैं भी यहाँ पर उसका उल्लेख कर देना आवश्यक समझता हूँ—"जहाँ तक मुझे ज्ञात है कहानी लिखने के तीन प्रकार हैं। आप एक प्लाट (Plot) लेकर उनमे पात्रो को फिट कर लें, अथवा आप पात्र पहले ले लें फिर उनके चरित्र के अनुरूप घटनाओ और परिस्थितियो का विकास करें, अथवा यह भी हो सकता है कि आप मेरे साथ जो मैं कह रहा हूँ, सहमत होकर अनुभव करें। आप किसी वातावरण को लेकर उनके अनुरूप घटनाओ और पात्रो की योजना करें।"

उपर्युक्त तीन प्रकारो के अतिरिक्त मैं कहानी की रूपरेखा-निर्माण का एक ढग और अनुभव करता हूँ। मेरी समझ मे प्रत्येक कहानी का निर्माण करने से पहले हमे उस सवेदना, धारणा या विचार को पकड़ना पड़ेगा, जिससे सम्बन्धित प्रभावान्वित पाठको को प्रभावित करना कहानी लेखक का लक्ष्य हो। जब सवेदना

या धारणा तथा प्रभावान्विति का रूप कहानीकार के मन मे स्पष्ट हो जाय, तो फिर उसके अनुरूप वातावरण, पात्रो, घटनाओ आदि की कल्पना करें। इस प्रकार जो कहानी लिखी जायगी, वह निश्चय ही बहुत सफल और प्रभावपूर्ण कहानी होगी। इन विधियो के उपयोग के मूल मे कलाकार की अपनी प्रतिभा रहती है।

प्रेरणा—जीवन मे पग-पग पर अनुभूत होने वाली सैकडो सवेदनाएँ ही कहानी-लेखक को प्रेरणा प्रदान करती है। इनमे प्रत्येक सवेदना एक कहानी की रचना के लिए पर्याप्त होती है। हडसन ने कहानी लेखन की प्रेरणाओ का अच्छा वर्णन किया है। वह लिखता है—

"A dramatic incident or Situation, a telling scene, a phase of character, an aspect of life, a moral problem—any one of these and innumerable of other motives which might be added to the test may be made the nuleas of a thoroughly satisfactory story"

—*Hudson An Introduction to the Study of Literature, page 457*

अर्थात् कोई नाटकीय घटनाएँ या परिस्थितियाँ, कोई प्रभावात्मक दृश्य, कोई चरित्र, कोई मार्मिक पक्ष, कोई महत्त्वपूर्ण अनुभव, खण्ड अथवा जीवन का कोई मार्मिक पक्ष, या कोई नैतिक तथ्य, इनमें से कोई एक अथवा सहस्रो अन्य प्रेरणाओ मे से जिनकी परिगणना की जा सकती है, किसी सफल कहानी का मूल भाव बन सकते हैं। कहना न होगा कि मूल भाव या प्रेरणा ही आधुनिक कहानी का प्राण है। प्रेमचन्दजी ने भी लिखा है—"आज लेखक केवल कोई रोचक दृश्य देखकर कहानी लिखने नही बैठ जाता। उसका उद्देश्य स्थूल सौन्दर्य नही है। वह तो कोई ऐसी प्रेरणा चाहता है जिसमे सौन्दर्य की झलक हो और इसके द्वारा वह पाठक की सुन्दर भावनाओ को स्पर्श कर सके। —'कुछ विचार', पृ० ५६

(ड) कल्पना—कहानी साहित्य का एक उदात्त स्वरूप है। कल्पना कहानी की सर्जना मे बहुत बडा योग देती है। कहानी-लेखक जीवन और जगत् से सामग्री एकत्रित करता है। उसे कहानी के रूप मे परिणत करने का श्रेय कल्पना को ही है। कल्पना ही कवि की प्रतिभा से विनिर्मित ककाल मे रूपरग का सचार करती है। यदि कहानी मे कल्पना का योग न रहे तो वह कलात्मक कहानी न रहकर कोरा इतिहास या कथा-मात्र रह जायगी। सच तो यह है कि कहानी को कलात्मक रूप प्रदान करने का श्रेय कहानीकार की कल्पना को है। निबन्ध और कहानी के अन्तर को स्पष्ट करते हुए डॉ० श्री कृष्णलाल ने भी कल्पना को कहानियो का प्राण कहा है। वे लिखते हैं—"यो तो साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र और विभाग मे कल्पना का उपयोग आवश्यक और अनिवार्य हुआ करता है, परन्तु कहानी मे ही शायद इसका सबसे अधिक उपयोग होता है। कल्पना कहानी का प्राण है।"

—हिन्दी कहानिया, भूमिका, पृ० २१

कहने का अभिप्राय यह है कि कहानियो के रूप-विधान में कल्पना का बहुत बडा महत्त्व है।

कथानक मे सवेदना का महत्त्व—यहाँ पर एक बार फिर इस बात पर बल देना उचित समझता हूँ कि प्रत्येक कहानी के कथानक मे सवेदना का होना नितान्त आवश्यक होता है। सवेदना उस मर्मस्पर्शी अनुभूति को कहते हैं, जो मानव मात्र के हृदय को इस प्रकार प्रभावित कर दे कि वह तिलमिला उठे। कहानी का कथानक किसी न किसी सवेदना पर ही केन्द्रित रहना चाहिए। सवेदना के बिना कहानी का कथानक सफल कहानी का निर्माण नही कर सकता। यह सवेदना भी एक ही होनी चाहिए। कहानी मे अनेक सवेदनाओ के लिए कोई स्थान नही होता है।

कथानक में संघर्ष का होना—कहानी के कथानक मे सघर्ष की प्रतिष्ठा भी की जा सकती है। घटना-प्रधान कहानियो का तो यह सर्वथा प्राण ही होता है। किन्तु बहुत सी ऐसी कहानियाँ भी हो सकती हैं, जिनमे कोई सघर्ष न भी हो। फिर भी सघर्ष-प्रधान कहानी सघर्ष-विहीन कहानी से कही अधिक प्रभावपूर्ण होती है।

कथानक मे कौतूहल, औत्सुक्य और करुणा आदि की प्रतिष्ठा—विल्की कालिन्स नामक पाश्चात्य आलोचक ने लिखा है कि कहानीकार वही श्रेष्ठ होता है जो अपनी कला से पाठको में कौतूहल और औत्सुक्य को जाग्रत कर सके और उन्हें पल मे हँसा और रुला सके। उसके कहने का अभिप्राय यह है कि कहानी के कथानक मे कौतूहल, औत्सुक्य, करुणा और हास्य आदि तत्त्वो की पूर्ण प्रतिष्ठा होनी चाहिए। यह सब कहानी मे रोचकता उत्पन्न करते है।

कथानक का किसी सत्य के उद्घाटन में समर्थ होना—कथानक की कल्पना करते समय कहानीकार को एक बात पर और ध्यान देना चाहिए। डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा के शब्दो मे वह बात इस प्रकार है—"कहानी रचना की प्रेरणा यदि ऐसे अनुभव, विश्वास अथवा चिन्तन पर आश्रित है जिसका मूलाधार जीवन का कोई तथ्य अथवा सत्य है, अथवा तद्-विषयक कोई कल्पना है तो फिर कथानक की गति स्पष्ट एक-रस, एक-गति, सरल और सीधी होगी। कारण-कार्य और परिणाम की योजना उतनी आवश्यक न होगी जितनी कि उस सत्य अथवा तथ्य को किसी सुनिश्चित आसन अथवा पीठिका पर बैठाना। लेखक का सारा ध्यान केवल इसी बात मे लगेगा कि जो तथ्य अथवा सत्य प्रभावोत्पादकता का मुख्य कारण बनाया जा रहा है, उसे ऐसी परिस्थिति के बीच मे खडा किया जाय जो उसकी प्रकृति के सर्वथा अनुकूल हो। इसलिए ऐसी कहानियो मे वह परिस्थिति होगी और प्रभावान्विति का कारण रूप वह जीवन का सत्य होगा।"

—कहानी का रचना-विधान—डॉ० जगन्नाथ शर्मा; पृ० ५०

कथानक का खण्डो में विभाजन—कहानियाँ प्राय दो प्रकार की हुआ करती हैं—एक तो वह जिनका कथानक इतना छोटा होता है कि उसमे खण्डो की

कोई आवश्यकता ही नहीं पडती, और दूसरी वे होती हैं जिनका कथानक बडा होता है। उनमे कई चित्र सन्निहित रहते हैं। ऐसी कहानियो को कई खण्डो मे विभाजित करना ही उपयुक्त होता है। डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने कथानक को खण्डो मे विभाजित करने के चार आधारभूत सिद्धान्त बताए है—

(१) कथा के प्रवाह मे काल के व्यवधान को सूचित करने के लिए ।
(२) दृश्य और स्थान के परिवर्तन का चित्र उपस्थित करने के लिए ।
(३) चरित्र की मानसिक वृत्तियो के उत्कर्षापकर्ष को व्यजित करने के लिए ।
(४) प्रभावान्विति को उत्तरोत्तर चुटीली बनाने के लिए ।

इनके अतिरिक्त कथानक को खण्डो मे विभाजित करने के कुछ निम्नलिखित प्रयोजन और भी हो सकते हैं।

(५) कौतूहल और उत्सुकता जाग्रत बनाए रखने के लिए कथानक को परिच्छेदो मे विभाजित करना बडा आवश्यक हो जाता है।

(६) अधिक से अधिक विस्तृत घटना, चित्र या परिस्थिति को कम से कम शब्दो मे व्यक्त करने की कामना से भी खण्ड विघान आवश्यक होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कहानी की मार्मिक, सक्षिप्त और कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए कथानक को खण्डो मे विभाजित करना परमापेक्षित होता है।

वस्तु-विन्यास क्रम—सामान्यत कथावस्तु का विन्यास आदि मध्य और अन्त मे रहता है। वास्तव मे कहानी रचना-विधान मे यह तीन अग ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। सफल कहानी मे इन तीनो का समुचित सामजस्य रहता है।

आरम्भ—कहानी के आरम्भ करने के सैकडो प्रकार हो सकते हैं। कुछ प्रसिद्ध प्रकार निम्नलिखित हो सकते है—

(१) कुछ कहानियो का प्रारम्भ एक प्रकार की **परिचयात्मक भूमिका** से किया जाता है। इस परिचयात्मक भूमिका मे पात्रो या परिस्थितियो का परिचय कराया जाता है। प्रेमचन्द की 'आत्माराम' कहानी इसका एक उदाहरण है।

(२) **कोरा परिचयात्मक प्रारम्भ**—कुछ कहानियो मे लम्बी-चौडी भूमिका तो नहीं होती, किन्तु प्रारम्भ प्राय पात्रो और परिस्थितियो के सक्षिप्त परिचय से किया जाता है। 'शतरज के खिलाड़ी' नामक कहानी मे इसी प्रकार का आरम्भ देखने को मिलता है।

(३) **नवीन ढग का आकस्मिक प्रारम्भ**—इसमे किसी प्रकार का परिचय या भूमिका आदि नहीं होते। कहानी सहसा किसी समस्या को सामने रखकर प्रारम्भ कर दी जाती है। प्रेमचन्दजी की 'वैर का अन्त' शीर्षक कहानी ऐसी ही है।

(४) कुछ कहानियाँ **प्रकृति-चित्रण** आदि से भी प्रारम्भ की जाती हैं। प्रसाद की प्रारम्भिक कहानियाँ प्राय इसी प्रकार की हैं। 'चन्दा', 'ग्राम', 'रसिया' नामक कहानियाँ इसी कोटि के प्रारम्भ से युक्त हैं।

(५) दो पात्रों के नाटकीय कथोपकथन के सहारे—इस ढग की कहानियो के उदाहरण के रूप मे 'अघोरी का मोह' विशेष उल्लेखनीय है।

(६) कुछ कहानियो का प्रारम्भ इतिवृत्तात्मक होता है। प्रेमचन्दजी की 'ईदगाह' ऐसी ही कहानी है।

(७) कौतूहलोत्पादक प्रारम्भ—कभी-कभी कहानी कौतूहलोत्पादक विवरणों के सहारे प्रारम्भ होती है। रायकृष्णदास की 'रमणी' नामक कहानी ऐसी ही है। आचार्य चतुरसेन की 'सूनी' नामक कहानी ऐसी ही है।

इसी प्रकार कहानी को प्रारम्भ करने के और भी सैकडो प्रकार हो सकते हैं। कहानी चाहे किसी ढग से प्रारम्भ की जाय, किन्तु उसके प्रारम्भ मे निम्नलिखित विशेषताएँ होनी चाहिएँ।

(१) वह कलात्मक होना चाहिए।

(२) वह नाटकीय होना चाहिए।

(३) उसे पूर्ण कहानी पढने की कौतूहलता और उत्सुकता जाग्रत करने की क्षमता रखने वाला होना चाहिए।

(४) उसमे अनिर्वचनीय सौन्दर्य और रसात्मकता होनी चाहिए।

मध्य या विकास—कहानियो मे प्रारम्भ का जितना महत्त्व होता है, उतना ही महत्त्व मध्य का भी होता है। मैं तो मध्य का महत्त्व प्रारम्भ से भी अधिक मानता हूँ। कुछ कहानियो मे मध्य से सम्वन्धित दो वातें होती हैं—

(१) मुख्य घटना या समस्या की उन्मुखता और परिवर्तन-विन्दु, तथा

(२) संघर्ष का स्पष्ट स्वरूप।

कुछ कहानियो मे मध्य से सम्वन्धित तीन वातें होती है—

(१) समस्या प्रवेश की भूमिका।

(२) समस्या का समावेश।

(३) सघर्ष का स्पष्ट स्वरूप।

कुछ कहानियो मे विकास या मध्य के चार भाग होते है—

(१) समस्या का समावेश।

(२) परिचय।

(३) सघर्ष का जन्म।

(४) सघर्ष का स्वरूप या घात-प्रतिघात।

कहानी के विकास मे कहानीकार चाहे कितने भाग स्पष्ट करे किन्तु उसमें निम्नलिखित वातें अवश्य होनी चाहिएँ—

(१) कहानी के मध्य भाग का सम्वन्ध किसी समस्या या सघर्ष से अवश्य होना चाहिए।

(२) उस सघर्ष या समस्या का प्रस्तुतीकरण वडे कलात्मक ढग से होना चाहिए।

(३) यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि कहानी मे सवेदना धीरे-धीरे स्पष्ट होती चले। कहानी के प्रति पाठक का औत्सुक्य प्रतिपल वढता रहे।

(४) कहानी की वस्तु का विकास प्रवाहपूर्ण ढग से हो और उसकी रोचकता कही भी जरा सी क्षीण न होने पावे।

अन्त—कहानी के विकास की यह अन्तिम अवस्था है। डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा के शब्दो मे "जितना भी विवरण कहानी मे प्रसरित रहता है, उसका सार सौन्दर्य पु जभूत होकर अन्त मे आकर एक विशेष प्रकार की सवेदनशीलता को स्फुरित करता है। सिद्धान्त की दृष्टि से इसी को प्रभावान्विति और समष्टि प्रभाव माना जाता है।"

अन्त के भी दो पक्ष होते है—(क) चरम सीमा और (ख) अन्त। कुछ कहानियो मे केवल चरम सीमा भर होती है, अन्त अलग से नही होता। कुछ कहानियो मे चरम सीमा और अन्त दोनो ही होते हैं।

चरम सीमा—चरम सीमा कहानी का प्राण है। यह वह स्थल है जहाँ आकर प्रतिपाद्य सवेदना पूर्ण पर सम्वेद्य बन जाती है और पाठक मत्रमुग्ध होकर रह जाता है। इसी स्थल पर पाठक का मन प्रभावान्विति से आप्लावित हो जाता है। कहानी-लेखक की बहुत बडी कला चरम सीमा की योजना मे रहती है। कहानी का यही वह स्थल होता है जहाँ जाकर पाठक की समस्त जिज्ञासाएँ शान्त हो जाती हैं, किन्तु अच्छी चरम सीमा वह है जिसके बाद पाठक मे कोई भावी अनुभूति की आकाक्षा अवशिष्ट भी रह जाती है। कहानी की चरम सीमा नाटकीय और सक्षिप्त हो तो और भी अच्छा है।

जिन कहानियो मे चरम सीमा के साथ अन्त अलग से जुड़ा रहता है उसमे लेखक को अधिक सजग रहना पडता है। चरम सीमा और अन्त दोनो का निर्वाह सफल कलाकार ही कर पाते हैं। इस सम्बन्ध मे अलबाइट ने लिखा है—

"The story should conclude unless there is special reason why it must not But it should not be carried far past the climax and smoothed down in to dull conventionality

—*The Short Story—Albright*

अर्थात् कहानी मे कोई अन्त अवश्य होना चाहिए। यदि अन्त न हो तो उसके न होने का उपयुक्त कारण भी होना चाहिए। किन्तु उसे चरम सीमा से अधिक आगे नही वढना चाहिए और क्रमश स्वभावत शिथिल पड़ जाना चाहिए।

कहानी और मनोविज्ञान—कहानी-साहित्य के विकास के आरम्भ काल मे कहानी का मनोविज्ञान से कोई घनिष्ठ सम्वन्ध नही समझा जाता था, किन्तु अव यह बात नही रही है। प्रेमचन्द के शब्दो मे 'गल्प' का आधार अव घटना नही, मनोवैज्ञानिक सत्य की अनुभूति है। आज लेखक कोई रोचक दृश्य देखकर कहानी लिखने नही वैठता। उसका उद्देश्य स्थूल सौन्दर्य नही, वह तो कोई ऐसी प्रेरणा चाहता है

जिसमे सौन्दर्य की झलक हो और इसके द्वारा वह पाठक की भावनाओ को सार्थक कर सके।"
—मानसरोवर प्रथम भाग, भूमिका

कहानी शीर्षक—इसी प्रसग मे कहानी के शीर्षक पर विचार कर लेना आवश्यक समझता हूँ। कहानी मे शीर्षक का बहुत बडा महत्त्व होता है। यह महत्त्व कई दृष्टियो से है। शीर्षक कहानी का दर्पण है। कहानी अच्छी है या बुरी यह बहुत कुछ शीर्षक से पता चल जाता है। मैं उसे कहानी का प्राण मानता हूँ। शीर्षक कहानी का ही दर्पण नही है, वरन् कहानीकार की व्यक्तिगत विशेषताओ की भी व्यजना करने मे समर्थ होता है। शीर्षक का महत्त्व एक दृष्टि से और है। कहानी जीवन के किसी मार्मिक पक्ष का रहस्योद्घाटन करती है। उसके शीर्षक मे उसकी प्रतिच्छाया अवश्य रहनी चाहिए। शीर्षक ही प्राय कहानी की सवेदना को वहन किए रहता है। कहानी के प्रति पाठको मे उत्सुकता, आकर्षण आदि के भावों को जाग्रत करने का श्रेय शीर्षक को ही होता है। यह सब बातें सफल कहानीकारों के शीर्षको मे अवश्य पाई जाती है।

अच्छे शीर्षको की कुछ अपनी विशेपताएँ होती है। कहानी लेखको को उन पर ध्यान रखना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—

(१) शीर्षक पाठक मे पढने का औत्सुक्य जाग्रत करने की क्षमता रखता हो। उसे कौतूहल और प्रमुख आकर्पण के लिए भी पाठक को तैयार करना चाहिए।

(२) शीर्षक लघु होना चाहिए।

(३) यदि वह नवीनता और मौलिकता को लिये हुए हो तो और भी अच्छा है। उपर्युक्त तीनो विशेपताओ के सम्बन्ध मे डॉ० जगन्नाथ शर्मा द्वारा उद्वृत पाश्चात्य विद्वान् चार्ल्स बैरेट की पक्ति उल्लेखनीय है—

"A good title is apt, specific, attractive, new and short"
—*Short Story, page 7*

(४) शीर्षक का कहानी और उसकी मुख्य सवेदना से सम्बन्धित होना आवश्यक है। शीर्षक कहानी की भावना, वर्ण्य आदि के अनुरूप होना चाहिए। इस सम्बन्ध मे डॉ० शर्मा द्वारा उद्धृत मेकानोची नामक पाश्चात्य विद्वान् के शब्दो को उद्धृत कर सकते हैं।

अर्थात् अच्छा शीर्षक कहानी के लिए बहुत जरूरी होता है। किन्तु यह ध्यान रहे कि उसे कथा की प्रकृति और रोचकता के अनुरूप होना चाहिए। उदाहरणार्थ मान लीजिए कथा मे किसी शान्त प्रकृति के मामूली व्यक्ति से सम्बन्धित बात कही गई किन्तु उसका शीर्षक अत्यधिक उत्तेजनात्मक है तो यह ठीक नही है।'

कहने का अभिप्राय यह है कि कहानीकार को कहानी का शीर्षक बहुत सोच-समझकर चुनना चाहिए। इस सम्बन्ध में हम मेकानोची नामक पाश्चात्य विद्वान् के मत का उल्लेख कर सकते है। उसने लिखा है कि—

'Keep the title in its proper proportion to the nature and interest of the story.'

—*Maconochie The Craft of the Short Story, page 25*

अर्थात् कहानी का शीर्षक निश्चित रूप से ही अच्छा होना चाहिए। अच्छा शीर्षक वही होता है जो कहानी की प्रकृति के अनुरूप हो। मान लीजिए कहानी मे किसी शान्त चरित्र का चित्रण किया है और उसका शीर्षक उत्तेजनात्मक है, तो ठीक नही है।

(२) पात्र और चरित्र-चित्रण—नाटक के प्रसग मे वर्णित आर्थर जोन्स का यह कथन कि "किसी अभिनेय कृति मे कथानक, घटनाएँ, वातावरण जब तक कि वे चरित्र-चित्रण से सम्बन्धित न हो, अपेक्षाकृत अबौद्धिक और लडकपन लिये रहते हैं।" कहानी के सम्बन्ध मे भी सत्य है। प्रत्येक कहानी में, चाहे वह किसी कोटि की क्यो न हो, चरित्र-चित्रण का बडा भारी महत्त्व है।

दो-चार कहानियो को छोडकर शेष कहानियो में मानव-जीवन के ही किसी न किसी अश के मार्मिक पक्ष का उद्घाटन रहता है। मानव-जीवन का कोई भी ऐसा अश नही जिसमे किसी न किसी प्रकार का चारित्रिक सौन्दर्य न हो। जो कहानीकार इस चारित्रिक सौन्दर्य का उद्घाटन करने मे समर्थ होते है, उनकी कहानी का बहुत सा स्वरूप भी शीर्षक से स्पष्ट हो जाता है। उपर्युक्त शीर्षक विहीन कहानी वैधानिक दृष्टि से पूर्ण होने पर भी उत्तम कहानी नही कही जा सकती। प्रेमचन्दजी ने तो घटना-प्रधान कहानियो मे भी घटनाओ को पात्रो के चरित्रो के आश्रित ही बताया है। वे लिखते है—"घटनाओ का कोई स्वतन्त्र महत्त्व नही होता। उनका महत्त्व केवल पात्रो के मनोभावो को व्यक्त करने की दृष्टि से ही है।"

—कुछ विचार, पृ० ५६

जीवन मे हमे दो प्रकार के चरित्र दिखाई देते है—(१) वे जिनका चरित्र निर्विवाद रूप से किसी एक दिशा मे झुका रहता है। (२) वे जिनके चरित्र मे अन्तर्द्वन्द्व की प्रधानता रहती है। साहित्य-क्षेत्र में स्थिर चरित्र को विशेष महत्त्व नही दिया जाता है। उसमे तो अन्तर्द्वन्द्व-प्रधान चरित्रो का महत्त्व रहता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि अन्तर्द्वन्द्व-प्रधान चरित्रो मे सभी प्रकार के पाठको के मनोरजन की सामग्री रहती है। अन्तर्द्वन्द-प्रधान पात्रो के चरित्र मे एक-गत्यात्मकता भी होती है। यह गत्यात्मकता ही उसे सौन्दर्य प्रदान करती है और पाठक के मन को आकृष्ट करती है। किन्तु कहानी के प्रसग मे यह नही भूलना चाहिए कि वह एक छोटी सी रचना है। उसमे किसी भी पात्र के चरित्र की एक चलती हुई झलक होती है। पाश्चात्य आचार्य हडसन ने इस तथ्य को समर्थित करते हुए लिखा है—"कहानी मे चरित्र का उद्घाटन मात्र किया जाता है। जब कि उपन्यासो मे चरित्र का विकास दिखाया जाता है।" इसी प्रकार प्रेमचन्द ने भी कहा है कि "वह अपने चरित्रो के मनोभावो की व्याख्या करने नही बैठता, केवल उसकी तरफ इशारा भर कर देता है।"

—मानसरोवर, प्रथम भाग, भूमिका

इससे स्पष्ट है कि कहानीकार का कार्य उपन्यासकार की अपेक्षा कठिन होता है। कहानीकार को चरित्र-चित्रण मे सदैव चरित्र के मूलभाव को पकड़कर विवृत करने का प्रयास करना चाहिए। चरित्र के मूल भाव के विवृत हो जाने पर

चरित्र सम्बन्धी सूक्ष्मताओ का सश्लिष्ट चित्रण नहीं करना पड़ता। चरित्र के इस मूलभाव की अभिव्यक्ति भी अधिकतर कलापूर्ण नाटकीय शैली मे हो तो और भी अच्छा है। चरित्रांकन की इस नाटकीय शैली का स्वरूप क्या है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने लिखा है—"कहानी की सर्वाधिक प्रभावशाली और व्यवहारोपयोगी चरित्रांकन पद्धति वह होती है जिसमे नाटकीय विधि का उपयोग होता है। इस विधि के अनुसार सवादो के अन्तराल मे पात्र स्वय अपने मुख से अपने चरित्र के प्रकाशक विविध गुण धर्मों, विचारो, अनुभूतियो, आशाओ, निराशाओ, आकाक्षाओ, आदर्शों अथवा अपनी रुचि, अरुचि, मतव्यो और भावनाओ का विवरण उपस्थित करता है अथवा परिचय देता है। यहाँ वह अपने विषय मे स्वय बोलता है। और अपने मतव्यो का इस प्रकार कथन करता है कि उसके अन्त करण का स्वयमेव और भली भाँति उद्घाटन हो जाता है।"

यहाँ पर एक प्रश्न उठ सकता है वह यह कि चरित्र-चित्रण का आधार दृश्य जगत् होगा या मनोविज्ञानशास्त्र। चरित्र-चित्रण का जो स्वरूप हमे साहित्य मे मिलता है, वह यथार्थ होते हुए भी यथार्थ जगत् से भिन्न होता है। साहित्य मे यथार्थ जगत् की प्रत्येक बात कल्पना या भावना के माध्यम से आती है। कल्पना या भावना के माध्यम से चित्रित होने के कारण वह यथार्थ जगत् की होते हुए भी यथार्थ जगत से सर्वथा भिन्न हो जाती है। अत हमे यथार्थ जगत् के साथ पात्रो के चरित्र-निर्माण मे मनोविज्ञान शास्त्र को भी दृष्टि मे रखना चाहिए।

कहानी के चरित्र-चित्रण मे एक बात पर और ध्यान रखना चाहिए। वह यह कि पात्रो की सख्या अधिक न हो, क्योकि अधिक पात्रो को निभाना कठिन हो जाता है। कहानी अधिक विवरणात्मक हो जाती है। साथ ही बाह्य सघर्ष का वह रूप भी नही चित्रित करना चाहिए, जिसमे विरोधी प्रकृति के पात्रो का द्वन्द्व चित्रित हो। वास्तव मे कहानी मे केवल प्रमुख पात्र के चरित्र पर ही दृष्टि रखनी चाहिए। उसके चरित्र का चित्रण करते समय यह सदैव ध्यान रखना चाहिए कि उसके चरित्र के सहारे ही अन्य सहायक पात्रो के चरित्र के प्रमुख तत्वो की भी निवृत्ति होती जाय। अत कहानी मे प्रमुख पात्र का चरित्र-चित्रण विशेष महत्त्व रखता है। चरित्र को अधिक से अधिक यथार्थ रूप देने का प्रयास करना चाहिए। इसके लिए कहानीकार को पात्रो की वेषभूषा, उनके रूपाकार तथा नाम, भाषा आदि का उनके चरित्र के अनुरूप ही विधान करना चाहिए। औचित्य और अनुरूपता न होने पर चरित्र-चित्रण पूर्ण और प्रभावात्मक नही हो सकता।

(३) संवाद—सवाद कहानी का प्राण-प्रदायक तत्त्व है। डॉ० जगन्नाथ-प्रसाद शर्मा के शब्दो मे "यो तो जहाँ कही भी कहानी मे इसका उपयोग किया जायगा वहाँ अपने-अपने ढग के परिणाम खिल उठेंगे। पर जहाँ इस तत्त्व का क्षिप्र और द्रुत प्रयोग कथा-भाग को उत्कर्षोन्मुख करेगा वहाँ एक प्रकार का विशेष चमत्कार दिखाई देगा। कहानी मे जिस अश मे सवाद-सौन्दर्य निखरा मिलेगा वह अश अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ उमड़ पड़ेगा। यदि कहानी का आरम्भ लय और

गतिशील, पर स्वाभाविक और औचित्यपूर्ण सवादो मे किया गया है तो पाठको का ध्यान उसी प्रकार केन्द्रित हो उठता है जैसे रगमच पर होने वाले किसी अभिनय की ओर।"

कुछ आलोचक तो सवादो को कहानी का प्राण तक कह डालते है। ऐसे ही आलोचको ने कहानी की परिभाषा देते हुए उसे 'सवादात्मक-चित्र-विधा' तक कहा है।

सवाद कहानी मे कई कार्य करते हैं—

(१) पात्रो के चरित्र को उभारते हैं।

(२) वर्णन मे रोचकता और प्रवाह डालते हैं।

(३) वे कथावस्तु को विकास की ओर ले जाते है।

(४) कहानी को अधिक से अधिक परसवेद्य बनाते है।

(५) वे एक विशेष प्रकार का वातावरण निर्माण करने मे समर्थ होते हैं।

(६) कहानी मे स्वाभाविकता लाते हैं।

इन सब कार्यों का सम्पादन सफल सवादो से होता है। सफल सवादो में निम्नलिखित गुण होते हैं—

(१) सवाद देश, काल, पात्र, परिस्थिति, घटना, भाव आदि के अनुकूल होने चाहिएँ।

(२) सक्षिप्त, ध्वन्यात्मक और अभिनयात्मक होने चाहिएँ।

(३) तर्कयुक्त, कौतूहलोद्दीपक, वक्रोक्ति-प्रधान, चुटीले और प्रवेगपूर्ण होने चाहिएँ।

(४) सवाद पात्रो के चरित्रो को उभारने वाले और कथावस्तु के विकास मे योग देने वाले होने चाहिएँ।

(५) सवाद के मध्य मे आवश्यक विराम, गति, यति आदि का उचित ध्यान रखना चाहिए।

(६) सवादो की प्रकृति ऐसी होनी चाहिए कि वे सक्रियता और सजीवता के साथ-साथ कहानी मे एक अनिर्वचनीय सौन्दर्य-विधान करने की क्षमता रखने वाले हो।

(७) कहानी मे स्वगतोक्तियों, भाषणों और सिद्धान्त विवेचनो के लिए कोई स्थान नही होता।

(४) स्थिति या वातावरण—कहानी मे दृश्य जगत् की या जीवन की किसी एक घटना, परिस्थिति आदि का सवेदनात्मक और सजीव वर्णन होता है। कहानी मे सजीवता और स्वाभाविकता लाने वाले तत्त्वो मे वातावरण का बडा महत्त्वपूर्ण स्थान है। वातावरण से विरहित कहानी ठीक उसी तरह प्रभावहीन लगेगी जिस प्रकार दुष्यन्त और शकुन्तला का अभिनय करने वाले पात्रो का नग्न रगमच पर आकर अपने दिन प्रतिदिन के कपडो मे ही अभिनय करना लेशमात्र भी प्रभावोत्पादक नही होगा। अब प्रश्न यह है कि वातावरण से क्या तात्पर्य है। वातावरण

वास्तव मे दर्शक के मस्तिष्क पर पडने वाला वह प्रभाव है जो देश, काल और व्यक्ति की पारस्परिक अनुरूपता से उत्पन्न होता है। डब्ल्यू० बी० पिटकिन साहब का भी मत बहुत कुछ इसी से मिलता-जुलता है।"

"The atmosphere is, be it repeated, the impression which environment makes upon the beholder and which the beholder in writing seeks to convey to his readers"

—*The Art and Business of Short Story Writing, page 193*

वातावरण के सामान्यतया तीन पक्ष हो सकते हैं। एक वह जो हमारी इन्द्रिय विशेष को प्रभावित कर उद्दीप्त करता है। दूसरा वह जो हमारी कृत्रिम सौन्दर्यानुभूति की वृत्ति की परितृप्ति करता है और तीसरा वह जो हमारी सच्ची सहानुभूति की वृत्ति को जागृत करता है।

प्रत्येक कहानी मे उपर्युक्त तीन प्रकार मे से किसी न किसी प्रकार के वातावरण का निर्माण अवश्य रहना चाहिए। आजकल प्रथम प्रकार के वातावरण का निर्माण अवश्य रहना चाहिए। रीतिकालीन प्रवृत्तियो से प्रभावित कहानियो मे द्वितीय प्रकार के वातावरण की झाँकी मिलती है और उच्चकोटि की साहित्यिक और उदात्त भाव-सम्पन्न कहानियो मे हमे तृतीय कोटि के वातावरण निर्माण की प्रवृत्ति दिखाई पडती है। पाश्चात्य विद्वानो ने केवल प्रथम दो प्रकार के वातावरणो की चर्चा की है। प्रथम को उन्होने 'लोकल कलर' (Local colour) और दूसरे को 'एटमासफियर' (Atmosphere) कहा है। इनका वर्णन करते हुए क्लार्क ने कहा है—

"Local colour, as the term implies makes its appeal largely to the eye of the reader Atmosphere on the other hand makes its appeal almost entirely to the emotions"

—*Manual of Short Story Art, page 72*

(५) भाषा और शैली—छोटी कहानियो की भाषा और शैली पर भी कलाकार को ध्यान रखना चाहिए। उसकी बहुत बड़ी सफलता इन दोनो पर अवलम्बित रहती है। शैली मे सजीवता, रोचकता, सकेतात्मकता और प्रभावात्मकता का होना नितान्त आवश्यक होता है। इन विशेषताओ के लाने के लिए कुछ लेखक तो आलकारिकता लाने का प्रयत्न करते है और कुछ मुहावरो और लोकोक्तियो का प्रयोग। प्रसाद की शैली अपनी आलकारिकता के कारण सरस और प्रभावपूर्ण मालूम होती है। उनकी 'भिखारिन' कहानी से यह उदाहरण देखा जा सकता है।

"जाह्नवी अपने वालू के कम्बल मे ठिठुरकर सो रही थी। शीत कुहासा बनकर प्रत्यक्ष हो रहा था। दो-चार लाल धाराएँ प्राची के क्षितिज मे बहना चाहती थी।"

प्रेमचन्द की 'नशा' नामक कहानी मे मुहावरों और लोकोक्तियो की छटा देखी जा सकती है। शैली की दृष्टि से कहानियाँ पाँच प्रकार की होती हैं—

(क) **ऐतिहासिक**—इस शैली मे कहानी लिखने वाले अधिकतर अन्य पुरुष के रूप मे कहानी लिखते हैं। उसमे इत्तिवृत्तात्मक घटनाओ को विशेष प्रश्रय दिया जाता है। प्रसाद की 'पुरस्कार' नामक कहानी इस शैली मे लिखी गई है। उसके इस वाक्य से यह बात प्रकट होती है—'मगध का एक राजकुमार अरुण अपने रथ पर बैठा हुआ वडे कौतूहल से यह दृश्य देख रहा था।'

(ख) **आत्मकथन-प्रधान शैली या प्रथम पुरुष-प्रधान शैली**—बहुत सी कहानियाँ स्वय कहानी-नायक के मुख से प्रथम पुरुप मे कहलाई जाती हैं। उनको पढते समय ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई परिचित पुरुप अपनी सच्ची गाथा कह रहा हो। प्रेमचन्द की 'शान्ति' नामक कहानी इसी शैली मे लिखी गई है। उसका प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है—"जब मैं सुसराल आई तो वडी फूहड थी।"

(ग) **सवादात्मक या कथोकथन-प्रधान शैली**—इस शैली मे लिखी गई कहानियो मे कथोपकथनो की ही प्रधानता होती है। हिन्दी मे ऐसी कहानियाँ कम हैं।

(घ) **पत्रात्मक शैली**—बहुत सी कहानियाँ पत्रो के उत्तर और प्रत्युत्तर के रूप मे लिखी जाती है। वेचन शर्मा 'उग्र' ने इस शैली मे 'चन्द हसीनो के खतूत' नामक प्रसिद्ध उपन्यास लिखा है। प्रेमचन्द की 'दो सखियाँ' नामक कहानी इसी शैली मे लिखी गई है।

(ङ) **डायरी शैली**—कुछ कहानी लेखक डायरी के पृष्ठो का ही वर्णन करके कहानी कह डालते है। प्रेमचन्द द्वारा लिखित 'मोटेराम शास्त्री' की डायरी के नाम से दो-तीन कहानियाँ लिखी गई हैं। किन्तु हिन्दी मे इस ढग की कहानियाँ कम है।

(६) उद्देश्य—कहानी का एक उद्देश्य भी होता है। वह मनोरजन का एक प्रमुख साधन है सही, किन्तु मनोरजन को हम उसका प्राण नही मान सकते। आजकल की छोटी कहानियो मे अधिकतर किसी सत्य की—चाहे वह मनोवैज्ञानिक हो, धार्मिक हो, या और किसी प्रकार की हो—प्रतिष्ठा की जाती है। छोटी कहानी मे सम्पूर्ण जीवन की व्याख्या तो नही की जा सकती, किन्तु जीवन के किसी पक्ष के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण अवश्य प्रस्तुत किया जा सकता है। आजकल कुछ ऐसी कहानियाँ लिखी जाने लगी है, जिनका उद्देश्य किसी सत्य की प्रतिष्ठा न होकर पाठको को केवल चरित्र-वैचित्र्य मे रमाना होता है। ऐसी कहानियाँ अधिकतर कलावादियो की होती हैं। जो लोग कला को जीवन के लिए मानते है, वे छोटी कहानियो मे किसी सत्य खण्ड की प्रतिष्ठा अवश्य करते हैं। गुलेरीजी की 'उसने कहा था' कहानी का वहुत वडा महत्त्व इस वात पर भी निर्भर है कि उसमे प्रेम के आदर्श की प्रतिष्ठा की गई है। उसका मुख्य प्रतिपाद्य हमारी समझ मे प्रेम मे त्याग के महत्त्व और स्थान को सकेतित करना है। हमारी समझ मे वह अपनी इसी विशेषता के कारण इतनी अधिक लोकप्रिय हो सकी है।

कहानियो के प्रकार

हिन्दी मे अनेक प्रकार की कहानियाँ लिखी जा चुकी है, जिनका हम सरलता से वर्गीकरण नही कर सकते। यही कारण है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास मे इन कहानियो को बहुत से वर्गो मे बाँटा है। किन्तु फिर भी बहुत सी कठिनाइयाँ शेष रह जाती हैं, जो उनके वर्गीकरण क्षेत्र के बाहर हैं। सब कहानी-लेखको की कहानियो के वर्गीकरण की बात तो बहुत ही कठिन है। साधारणतया प्रसाद और प्रेमचन्द की ही कहानियो के वर्गीकरण मे कठिनाई पड़ती है। डॉ० सत्येन्द्र ने अपनी 'प्रेमचन्द और उनकी कहानी-कला' नामक पुस्तक मे उनकी कहानियो को वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया है। उन्होने इनकी कहानियों को इतने वर्गो और उपवर्गो मे विभाजित किया है कि जिनका निर्देश करना भी कठिन है। इसी प्रकार 'प्रसाद की कहानियाँ' शीर्षक पुस्तक के लेखक केदारनाथ ने प्रसाद की कहानियो को बहुत से वर्गो मे विभक्त करने की चेष्टा की है। ये वर्ग सख्या मे बहुत अधिक है। श्रीपति शुक्ल ने सभवत वर्गीकरण की इन कठिनाइयो को समझते हुए अपनी पुस्तक 'कहानी-कला और प्रेमचन्द' मे प्रेमचन्द की कहानियो का वर्गीकरण ही नही किया है।

डॉ० श्रीकृष्णलाल ने अपने 'हिन्दी साहित्य के विकास' मे हिन्दी कहानियो को स्थूल रूप से तीन वर्गो मे विभक्त किया है—(क) कथा-प्रधान, (ख) वातावरण-प्रधान (ग) प्रभाव-प्रधान। इन तीन वर्गों के भी उन्होने कई उपवर्ग निश्चित किए हैं। उनके वर्गीकरण को यद्यपि हम पूर्ण नहीं कह सकते, तथापि सुविधा और सरलता की दृष्टि मे वह ग्राह्य हो सकता है। इसलिए हम यहाँ पर हिन्दी कहानियो का वर्गीकरण उन्ही की शैली पर करते है।

(क) कथा-प्रधान कहानियाँ—इन कहानियो मे चरित्र अथवा पात्र, कार्य और कार्यो तथा चरित्रो के बीच सम्बन्ध—यही तीन मुख्य पक्ष होते है। साधारणतया कहानी मे वस्तु-वर्णन को महत्त्व दिया जाता है।

(i) चरित्र-प्रधान—जिस कहानी मे चरित्र-चित्रण को प्रधानता दी जाती है, वे चरित्र-प्रधान कहानियाँ होती हैं। 'आत्माराम', 'पुरस्कार' और 'बूढ़ी काकी' आदि इसी कोटि की कहानियाँ हैं। चरित्र-प्रधान कहानियो का एक सुन्दर रूप उन मनोवैज्ञानिक कहानियो मे मिलता है जहाँ किसी असाधारण परिस्थिति विशेष मे किसी चरित्र का स्थूल मनोवैज्ञानिक विश्लेषण होता है। 'जाह्नवी', 'मिठाईवाला', 'अपराध' आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं। इनमे घटना या कथा बहुत कम रहती है। चरित्र-प्रधान कहानियो मे कुछ ऐसी भी कहानियाँ होती हैं जिनमे अचानक परिवर्तन दिखाया जाता है। कौशिक की 'ताई' नामक कहानी मे रामेश्वरी के चरित्र मे सहसा परिवर्तन दिखाया गया है।

(ii) घटना-प्रधान कहानी—कहानी का सबसे साधारण रूप घटना की प्रधानता ही होती है। इसमे कौतूहल की शान्ति तो अवश्य हो जाती है किन्तु कला

और चरित्र-सौन्दर्य बहुत कम होते हैं। इनमे घटनाओ के घात-प्रतिघात पर विशेष ध्यान दिया है, जिनमे दैव-घटना और सयोग की सहायता ली जाती है। कौशिक की 'पावन पतित' कहानी ऐसी ही है। ज्वालादत्त शर्मा और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की बहुत सी कहानियाँ इसी कोटि की हैं।

(iii) **कार्य-प्रधान कहानी**—इनमे सबसे अधिक बल कार्य पर दिया जाता है। गोपालराम गहमरी की जासूसी कहानियाँ तथा अन्य साहसिक, रहस्यपूर्ण, अद्भुत और वैज्ञानिक कहानियाँ इसी श्रेणी की है। जी० पी० श्रीवास्तव की अति प्रसगपूर्ण हास्यमय कहानियाँ भी ऐसी ही है। इनमे चरित्र-चित्रण को कोई विशेष महत्त्व नही दिया गया है।

(ख) **वातावरण-प्रधान कहानी**—इन कहानियो मे केवल वातावरण या परिपार्श्व (environment) पर जोर देना ही यथेष्ट नही है, उसमे कहानियो की परिस्थितियो मे से किसी विशेष अग या पक्ष पर अधिक बल देकर एक मुख्य भावना का प्राधान्य रखा जाता है। इसी प्रकार भावना द्वारा कथा का विकास होता है। उदाहरणार्थ—प्रेमचन्द की 'शतरज के खिलाडी' कहानी को ले सकते है। इसमे मीर और मिर्जा तो निमित्त मात्र है, कहानी का प्रधान उद्देश्य तो शतरज की लत का कलापूर्ण चित्रण है। कला की दृष्टि से ऐसी कहानियो का सबसे अधिक महत्त्व है। कलाकार अपनी इच्छानुसार वातावरण की सृष्टि कर सकता है। कवित्वपूर्ण, आदर्शवादी और नाटकीय वातावरण की सृष्टि करने मे प्रसाद अद्वितीय हैं। सुदर्शन और प्रेमचन्द की कला मे यथार्थवाद का चित्रण मिलता है।

(ग) **प्रभाव-प्रधान कहानी**—इन कहानियो मे कहानीकार का उद्देश्य किसी प्रभाव विशेष की सृष्टि करना होता है। वातावरण, घटना, चरित्र आदि से अधिक महत्त्व प्रभाव को ही दिया जाता है। मोहनलाल महतो की 'कवि' नाटक कहानी मे यह प्रभाव, आधुनिक युग कविता के लिए उपयुक्त ही नही प्रधान वस्तु भी है। इन कहानियो मे कलात्मकता को विशेष महत्त्व दिया जाता है। प्रभाव-प्रधान कहानियाँ हिन्दी मे बहुत कम है।

(घ) **विविध कहानियाँ**—उपर्युक्त तीन प्रकार की कहानियो के अतिरिक्त हास्यपूर्ण, ऐतिहासिक, प्रकृतवादी और प्रतीकवादी कहानियाँ भी लिखी गई हैं।

(i) **हास्यपूर्ण कहानियाँ**—ऐसी कहानियाँ हिन्दी में केवल जी० पी० श्रीवास्तव, अन्नपूर्णानन्द और बद्रीनाथ भट्ट ने लिखी हैं। परन्तु इनका हास्य कोई विशेष या उच्चकोटि का हास्य नही होता। उच्चकोटि की हास्यपूर्ण कहानियो का हिन्दी मे अभाव है।

(ii) **ऐतिहासिक कहानियाँ**—इस कोटि की कहानियो में प्रसाद की 'ममता' कहानी सराहनीय है। प्रेमचन्द का 'बज्रपात', चतुरसेन शास्त्री की 'भिक्षुराज' और सुदर्शन की 'न्याय-मन्त्री' ऐतिहासिक कहानियाँ है। वृन्दावनलाल वर्मा ने भी कुछ ऐसी कहानियाँ लिखी है। ऐतिहासिक उपन्यासो की अपेक्षा ऐतिहासिक कहानियो की सख्या हिन्दी मे बहुत कम है।

(iii) प्रकृतवादी कहानियाँ—वेचन शर्मा 'उग्र', चतुरसेन शास्त्री आदि की कुछ कहानियाँ ऐसी ही है। इनमे मानवता की घृणास्पद और लज्जास्पद बातें कलात्मक ढग से चित्रित की जाती हैं। यथार्थवादी होने पर भी ऐसी कहानियाँ जनता की रुचि और मगल भावना के लिए उचित नही होती।

प्रतीकवादी कहानियाँ—इनकी सख्या भी हिन्दी मे बहुत कम है। रायकृष्णदास की कहानी 'कला की कृत्रिमता' इस कोटि की सफल रचना है। प्रसाद की 'कला' शीर्षक कहानी भी एक सफल प्रतीकवादी कहानी है।

भारत का प्राचीन कथा-साहित्य

वैदिक कथाएँ—विश्व का सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद है। ऋग्वेद मे हमे अनेक कहानियाँ सग्रहीत मिलती है। इन कहानियो मे 'कक्षीवान की कथा', 'वामनावतार की कथा', 'शुन. शेप की कथा', 'सूर्योपाख्यान', 'कुत्म की कथा', 'रेभ ऋषि की कथा', 'घोपा की कथा' आदि बहुत प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त इसमे और भी सैकड़ों कथात्मक घटनाओ की चर्चा है। इनमे से प्रत्येक एक-एक कथा जैसा रजन प्रदान करने वाली है। सहिताओ के बाद कथाओ का विस्तार उपनिषद्-साहित्य मे दिखाई दिया। उपनिषदो मे भी हमे सैकडो कथाएँ मिलती हैं। इनमे 'देवताओं की शक्ति-परीक्षा की कथा', 'नचिकेता की कथा', 'सत्यकाम की कथा', 'गार्गी और याज्ञवल्क्य की कथा', 'श्वेतकेतु और उद्दालक की कथा', 'अश्विनीकुमार और गुरु दव्यग की कथा', 'सुकेशा की कथा' आदि लोकप्रसिद्ध है। कहने का अभिप्राय यह है कि हमें वैदिक ग्रन्थो मे अनेक कथाएँ उल्लिखित मिलती है। वे इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि कथा-साहित्य उतना ही प्राचीन है जितना कि स्वय ऋग्वेद।

आख्यानक, काव्य और पुराण-कथाएँ—कथा-साहित्य का सम्यक् विकास हमे पौराणिक साहित्य मे मिलता है। पौराणिक साहित्य की आधारभूमि रामायण और महाभारत स्वय विस्तृत कथाएँ हैं जिनमे सैकड़ो अन्तर्कथाएँ गुथी हुई हैं। पुराणो मे तो कथाओ के अतिरिक्त और कुछ है ही नही। सच तो यह है कि कथा-साहित्य का जितना अधिक विकास भारतीय धर्मक्षेत्र मे पुराणो के रूप में हुआ उतना शायद अभी तक साहित्य-क्षेत्र मे भी नही हुआ है। १८ तो पुराण लिखे गए और फिर सैकड़ो उपपुराणो का प्रणयन हुआ।

बौद्ध-कथाएँ—कथा-साहित्य बौद्धो के आश्रय से और भी अधिक विकास को प्राप्त हुआ। त्रिपिटक-साहित्य मे हमे सैकडो बौद्ध-कथाएँ मिलती है। बौद्ध-कथाओ मे 'जातक' का विशिष्ट स्थान है। भगवान् बुद्ध के 'निर्माण-कार्य' से सम्बन्धित कथाएँ ही जातक के नाम से प्रसिद्ध है।

जैन-कथाएँ—बौद्ध-कथाओ के अतिरिक्त कथा-साहित्य को जैनियो का आश्रय भी प्राप्त हुआ। जैन पुराणो मे इन कथाओ का अच्छा सग्रह किया गया है। यह कथाएँ अधिकतर प्राकृत मे लिखी गई है। चरित काव्यो के रूप मे अपभ्रंश मे भी जैन-कथाएँ मिलती है।

लौकिक सस्कृत का कथा-साहित्य—लौकिक सस्कृत मे कथा-साहित्य सम्बन्धी निम्नलिखित रचनाएँ विशेष प्रसिद्ध है—

(क) **वृहत्कथा**—गुणाड्य कृत 'वृहत्कथा' सस्कृत का विशाल कथा-साहित्य थी। बूलर साहब के मतानुसार इसकी रचना प्रथम या द्वितीय शताब्दी के आस-पास हुई थी। इसका मूल रूप 'पैशाची प्राकृत' मे लिखा गया था। इसमे एक लाख श्लोक बताए जाते है। यह ग्रन्थ अब अपने मूल रूप मे उपलब्ध नही है। आजकल इसके केवल तीन सस्कृत रूपान्तर उपलब्ध है। मूल कृति गद्य मे थी या पद्य मे इस सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है। दण्डी के मतानुसार वह गद्य मे थी। हमे दण्डी का मत ही मान्य है। वृहत्कथा के सस्कृत रूपान्तर जो आजकल उपलब्ध है, वह इस प्रकार है—(i) वृहत्कथा श्लोक-सग्रह, (ii) वृहत्कथा मजरी, (iii) कथा-सरित्सागर।

(i) **वृहत्कथा श्लोक-सग्रह**—इसकी रचना आठवी या नवी शताब्दी के पास मानी जाती है। अब यह ग्रन्थ खण्डित रूप मे उपलब्ध है। इसमे २८ सर्ग और ४,५२४ श्लोक हैं। मूल ग्रन्थ मे निश्चय ही १०० से अधिक सर्ग होगे।

(ii) **वृहत्कथा मजरी**—इसके लेखक काश्मीर के आचार्य क्षेमेन्द्र है। इसकी रचना ग्यारहवी शताब्दी के प्रथम चरण में हुई थी।

(iii) **कथा-सरित्सागर**—इसके लेखक भी काश्मीर के आचार्य सोमदेव थे। इसमे २४,००० श्लोक हैं। इस ग्रन्थ का विश्व-कथा-साहित्य मे बडा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमे सैकडो कथाएँ सग्रहीत है। इसमे कथाओ के वर्णन की प्रणाली लगभग पुराणो के ढग की ही है।

(ख) **वैताल पचाशिका**—यह २५ कथाओ का सुन्दर सग्रह है। इन कथाओ का वक्ता एक वैताल है। इनकी कथाएँ अधिकतर रजक तत्त्व-प्रधान है। उनकी शिल्प-विधि मे कोई नवीनता नही है।

(ग) **शुक सप्तति**—इस सग्रह मे ७० कथाएँ सग्रहीत हैं। इन कथाओ का वक्ता एक तोता है। वह अपनी पत्नी मैना से कुल्टा स्त्रियो की कथाएँ कहता है। इन कथाओ मे रोचकता की मात्रा अधिक है।

(घ) **सिहासन द्वात्रिंशिका**—इस ग्रथ मे ३२ कथाएँ हैं, जो ३२ पुतलियो के द्वारा कही गई है। इसके श्रोता राजा भोज हैं।

कुछ अन्य कोटि की कथाएँ—

(क) **नीति-कथाएँ**—कथा-साहित्य के अन्तर्गत नीति साहित्य भी आता है। नीति आख्यानो के अन्तर्गत 'पचतत्र' और हितोपदेश का बहुत बडा महत्त्व है। पचतत्र की रचना ३०० ई० के आस-पास हुई थी। पचतत्र भी अब मूल रूप मे उपलब्ध नही है। उसके आठ परिवर्तित सस्करण प्राप्त हैं। इनमे एडगर्टन साहब का सस्करण अधिक प्रामाणिक माना जाता है। हितोपदेश भी पचतत्र के ढग की रचना है। इसके लेखक कोई नारायण नामक पण्डित माने जाते हैं। यह किसी धवलचन्द नामक राजा के राजपण्डित थे। इसकी रचना राजा के मूर्ख

लड़को को पढाने के हेतु की गई थी । इसमे ४३ कथाएँ हैं, जिनमे से २५ कथाएँ पचतत्र से ली गई हैं ।

(ख) ऐतिहासिक कथाएँ—सस्कृत मे बहुत सी ऐसी कथाएँ लिखी गई थीं, जिनका महत्त्व साहित्यिक दृष्टि से कम और ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक है । ऐसे ऐतिहासिक कथा-ग्रन्थो मे निम्नलिखित बहुत प्रसिद्ध हैं—

(i) बाणभट्ट का हर्षचरित—इस ग्रन्थ मे महाराज हर्षवर्द्धन (६०६-६४९) का चरित्र वर्णित है । साथ ही उनसे तथा उनके युग से सम्बन्धित बहुत सी ऐतिहासिक और सास्कृतिक सामग्री मिलती है ।

(ii) वाकपतिराज का 'गौडावहो'—यह ग्रन्थ अधूरा ही छूटा हुआ है। इसमे कन्नौज के राजा यशोवर्मा का इतिहास वर्णित है ।

(iii) पद्मगुप्त का नव साहसाक चरित—इसकी रचना १००५ के लगभग हुई थी । इस ग्रन्थ मे सिन्धुराज द्वारा विजित जिन राजाओ और स्थानो की चर्चा की गई है वे सब ऐतिहासिक हैं । इस ग्रन्थ का आधार लेकर तत्कालीन इतिहास के खोज की आवश्यकता है ।

(iv) बिल्हण का विक्रमाक देवचरित—इसकी रचना १०८५ के आस-पास हुई थी । इसमे १८ सर्ग है तथा चालुक्यवशी राजा विक्रमादित्य का चरित्र वर्णित है ।

(v) कल्हण की राजतरगिणी—इसका रचनाकाल ११४८-५१ के आस-पास बताया जाता है। कल्हण विजयसिह के मन्त्री और चम्पक के पुत्र थे । इस ग्रन्थ मे काश्मीर के ११५१ तक के इतिहास का अच्छा वर्णन किया गया है ।

इसी प्रकार कुछ और ऐतिहासिक महाकाव्य लिखे गए थे जो कराल काल द्वारा कवलित हो गए।

रोमाचकारी लम्बी कथाएँ और आख्यायिकाएँ

(१) दण्डी का दशकुमार चरित—इस ग्रन्थ मे दस राजकुमारो के पर्यटन की विचित्र और रोचक कथाएँ कही गई हैं । कुछ विद्वान् इसे धूर्तो का रोमास कहना अधिक उपयुक्त समझते है ।

(२) सुबन्धु की वासवदत्ता—इसकी कथावस्तु बहुत छोटी है । इसका नायक राजा कन्दर्पकेतु है । वह स्वप्न मे अपनी भावी पत्नी के रूप को देखकर अत्यधिक स्मर पीडित हो जाता है और उसकी खोज मे निकल पडता है । सक्षेप मे यही इसकी कथावस्तु है । इसको काव्यात्मक ढग से सजाया गया है ।

(३) बाणभट्ट की कादम्बरी—सस्कृत साहित्य का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है । इसकी कथावस्तु पर्याप्त लम्बी-चौडी है । इसमे कई कथाएँ एक साथ गुथी हुई है । रोमाच तत्त्व के साथ कथा की रजकता भी अत्यधिक मात्रा मे है ।

इस प्रकार सस्कृत के कथा-साहित्य का सक्षिप्त विकास-क्रम यही है ।

हिन्दी का प्रारम्भिक कथा-साहित्य

हिन्दी का प्रारम्भिक कथा-साहित्य अधिकतर पद्य मे है। उसका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

प्रेम-कथाएँ—हिन्दी मे हमे प्रेम-कथाएँ तीन रूपो मे मिलती है—

(१) जैनियो के चरित काव्यो के रूप मे।

(२) वीरगाथाकालीन वीरगीत और वीर-प्रबन्धो के रूप मे।

(३) सूफी आध्यात्मिक प्रेम-कथा के रूप मे।

प्रत्येक कोटि से सम्बन्धित एक विस्तृत साहित्य मिलता है। विस्तार-भय से यहाँ पर उसका विस्तृत उल्लेख नही किया जा रहा है।

(१) **धार्मिक वार्ताएँ**—हिन्दी का आदिम कथा साहित्य हमे वैष्णव वार्त्ताओ के रूप मे भी मिलता है। इन वार्त्ताओ मे हमे सन्तो के जीवन की प्रशस्तियाँ मिलती हैं। वार्ता ग्रन्थो मे सबसे अधिक ख्याति "दो सौ वैष्णवो की वार्त्ता' तथा 'चौरासी वैष्णवो की वार्त्ता' की है।

(२) **पद्य मे अनुवादित कथा-साहित्य**—हिन्दी का कुछ प्राचीन कथा-साहित्य हमे गद्य मे भी मिलता है। यह अधिकतर १९वी शताब्दी का है। सबसे पहली कहानी १८०३ की लिखी हुई 'रानी केतकी की कहानी' है। इसी समय के लगभग लल्लूलालजी ने 'सिंहासन-बत्तीसी', 'वैताल पच्चीसी', 'माधवानल काम-कन्दला' और 'शकुन्तला' नामक कथात्मक ग्रन्थ लिखे थे।

१८५० से लेकर १९०० के बीच मे हमे विविध प्रकार की कथाओ के हिन्दी रूपान्तर ही अधिकतर मिलते है। उनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(१) **धार्मिक कथाओं के हिन्दी रूपान्तर**—हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्य युग मे कई धार्मिक ग्रन्थो के हिन्दी रूपान्तर प्रकाशित हुए। ये अधिकतर गद्य मे हैं। इनमे छोटी-छोटी कथाओ के रूप मे लिखित भागवत, योगवाशिष्ठ आदि धार्मिक ग्रन्थो के हिन्दी रूपान्तर सग्रहीत हैं। इन ग्रन्थो मे मुन्शी सदासुखलाल का 'सुखसागर' तथा रामप्रसाद निरजन लिखित 'योगवाशिष्ठ' बहुत प्रसिद्ध हैं।

(२) **मुसलमानों की प्राचीन कहानियों के हिन्दी रूपान्तर**—इसी उत्तर मध्य युग मे कुछ हिन्दी-प्रेमी लेखको ने प्राचीन फारसी की कहानियो के हिन्दुस्तानी रूपान्तर प्रस्तुत किए थे। यह कार्य दक्षिण मे अधिक हुआ। किन्तु इन हिन्दुस्तानी रूपान्तरो की लिपि अधिकतर उर्दू ही थी। भाषा की दृष्टि से वे हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत लिये जायँगे। अभी हाल मे ही प्रकाशित डॉ० बाबूराम सक्सेना लिखित 'दक्खिनी हिन्दी' नामक पुस्तक मे इनका उल्लेख मिलता है।

(३) **अंग्रेजी नाटकों आदि के हिन्दी रूपान्तर**—इस कोटि के हिन्दी रूपान्तर सबसे पहले 'सरस्वती' मे प्रकाशित हुए थे। सन् १९०० की जनवरी मे 'सिम्बलीन', फरवरी मे 'एथेन्सवासी साइमन', मार्च तथा अप्रेल मे 'परिक्लीज' तथा सितम्बर मे 'कौतुकमय मिलन' नाम से प्रकाशित अंग्रेजी नाटको के हिन्दी रूपान्तर बहुत प्रसिद्ध है।

(४) संस्कृत नाटकों की कहानियों के हिन्दी रूपान्तर—इनका भी प्रकाशन सबसे पहले 'सरस्वती' मे ही हुआ था। अंग्रेजी नाटको की कथाओ के हिन्दी रूपान्तारो को देखकर बहुत से भारतीय प्रेमी सज्जनो ने संस्कृत नाटको की कथाओ के हिन्दी रूपान्तर भी प्रकाशित कराए। 'रत्नावली' और 'मालविकाग्निमित्र' कहानियो के हिन्दी रूपान्तरो मे भारतीयता के साथ-साथ रोचकता भी बहुत अधिक है। इनके अतिरिक्त कुछ संस्कृत कथा-ग्रन्थो के हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हुए थे। ये अनुवाद प्राय कहानियो के रूप मे लिखे हुए होने के कारण काफी लोकप्रिय हो गए। श्री गदाधरसिंहजी कृत 'कादम्बरी' अनुवाद इस कोटि की प्रतिनिधि रचना मानी जा सकती है। इसके अतिरिक्त सुदर्शन द्वारा लिखे गए बहुत से पौराणिक आख्यान भी इसी कोटि की रचनाओ मे आयेंगे।

भारतेन्दु-युग का कहानी-साहित्य

भारतेन्दु-युग मे भी हमे लघु कथा के उस रूप की झलक नही मिलती जो आज उपलब्ध है। किन्तु उनके युग की पत्रिकाओ मे हमे कभी-कभी कथाओ की अपने ढग की झाँकी दीख जाती है। हरिश्चन्द्र चन्द्रिका मे 'मालती', हिन्दी प्रदीप मे 'पढे-लिखे बेकार की नकल', सार सुधानिधि मे 'तपस्वी', आदि कथाएँ उपन्यास और कहानी के मध्य की वस्तु हैं।

आधुनिक कहानियों का आदिम रूप—आधुनिक कहानियो का आदिम रूप हमे सरस्वती के प्रारम्भिक अको में प्रकाशित होने वाली निम्नलिखित कथाओ मे दिखाई पडता है—

(१) १९०० मे सरस्वती मे किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' नामक पहली मौलिक कहानी प्रकाशित हुई। इसका रूप-विधान आधुनिक कहानियो-सा प्रतीत होता है।

(२) १९०२ मे किशोरीलाल गोस्वामी की 'गुलबहार' और मास्टर भगवानदास की 'प्लेग की चुडैल' नामक कहानियाँ प्रकाश मे आई।

(३) १९०३ मे आचार्य शुक्ल लिखित 'ग्यारह वर्ष का सपना' तथा बंग महिला की 'दुलाईवाली' और गिरिजादत्त वाजपेयी की 'पण्डित और पण्डितानी' शीर्षक कहानियाँ प्रकाशित हुई।

१९०७ मे बग महिला की 'जम्बुकी न्याय', वृन्दावनलाल वर्मा की 'राखीबन्द भाई' तथा मैथिलीशरण गुप्त की 'नकली किला' नामक कहानियाँ लिखी गई।

आधुनिक कहानियों का श्रीगणेश—विद्वानो ने यो तो किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' नामक कहानी को हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी कहा है, किन्तु डॉ० श्री कृष्णलाल ने उसे टैम्पेस्ट की छाप सिद्ध करके उसे प्रथम मौलिक कहानी मानने से इनकार किया है। मेरी अपनी धारणा है कि 'इन्दुमती' और 'टैम्पेस्ट' की कथा मे प्रणय-कथा सम्बन्धी साम्य के अतिरिक्त और कोई साम्य नही है। केवल इस आधार पर हम उसे अनूदित कहानी नही कह सकते। हिन्दी की मौलिक

कहानियो की परम्परा का प्रवर्त्तन कहानी-क्षेत्र मे प्रसाद के प्रवेश से प्रारम्भ होता है। प्रसादजी की सबसे पहली कहानी 'ग्राम' १६११ मे उनके मासिक पत्र 'इन्दु' में प्रकाशित हुई । प्रेमचन्द जी की पहली कहानी 'पचपरमेश्वर' की रचना १६१६ मे हुई थी। इनके अतिरिक्त इस युग की कहानियो मे राधिकारमणजी की 'कानो मे कगना' (१६१३), विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक की 'रक्षाबन्धन' (१६१३) तथा चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की 'उसने कहा था' (१६१५) का भी स्थान बडा महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार स्पष्ट है कि १६११-१६ के बीच मे कहानियो की परम्परा का सम्यक् विकास हुआ।

इस बीच मे ज्वालादत्त शर्मा और चतुरसेन शास्त्री ने कहानी-क्षेत्र मे पदार्पण किया। इन्होने कई सुन्दर कहानियाँ लिखी, जिससे कहानियो की परम्परा को बल मिला। हिन्दी की अधिकाश प्रारम्भिक कहानियो मे कथानक का क्रमिक विकास आकस्मिक घटना नियोजन तथा सयोग-सयोजन द्वारा किया जाता था। इन कहानियो में स्वाभाविकता और सजीवता तो कम होती थी, कौतूहल और रोचकता अधिक। ज्वालादत्त शर्मा की 'विधवा' नामक कहानी मे हमे दैव-सयोग के चमत्कार के ही दर्शन होते है। विधवा पार्वती को दैव-सयोग से ही अपने पति की पुस्तको मे 'सैल्फ हैल्प' नाम की पुस्तक मिल जाती है। यही पुस्तक उसकी जीवन-धारा को बदल देती है। इस युग की सबसे पहली कहानी 'उसने कहा था' है, जिसमे आधुनिक कहानी का उदात्ततम रूप सन्निहित है। इस कहानी से ही हिन्दी कहानी का स्वर्ण-युग प्रारम्भ होता है। इस स्वर्ण-युग मे हमे कहानियो की कई परम्पराएँ दिखाई पडती हैं। उनके प्रवर्त्तक अधिकतर उच्चकोटि के कहानीकार है। उनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(१) भावना-प्रधान कहानियों की परम्परा—इस परम्परा के प्रवर्त्तक बाबू जयशकरप्रसाद माने जाते हैं। प्रसाद मूलत कवि थे। उनका कवि उनकी सभी साहित्य-विधाओ मे मुखरित है। इसी ने उनकी कहानियो को भावना-प्रधान बना दिया है। उनके पाँच कहानी-सग्रह उपलब्ध हैं। उनके नाम क्रमश 'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप', 'आँधी', 'इन्द्रजाल' हैं। इन सब मे ६६ कहानियाँ सग्रहीत हैं। ये कहानियाँ वैसे कई प्रकार की हैं—भाव-प्रधान, वातावरण-प्रधान, घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान आदि। किन्तु सभी प्रकार की कहानियो मे भावना की प्रधानता है। शैली अत्यधिक काव्यत्वपूर्ण और अलकृत है।

प्रसाद की भावना-प्रधान कहानियो की परम्परा को आगे बढाने का श्रेय प्रसिद्ध कथाकार हृदयेश को है। उनके दो कहानी-सग्रह देखने मे आए हैं—'सुधाशु' और 'अनाख्या'। इन कहानियो मे प्रसाद जैसी भावुकता की प्रधानता है। हाँ, इसमे प्रसाद जैसी रहस्यात्मकता का अवश्य अभाव है। हृदयेश जी की दो कहानियो को बहुत प्रसिद्धि प्राप्त है—'सुधा' और 'शान्ति-निकेतन'।

यह दोनो कहानियाँ प्रसाद की कहानियो के सदृश भावना-प्रधान है। इनमें काव्यत्व का भाव प्रसाद की अपेक्षा कम नही है। भावना-प्रधान कहानियो मे इनका

विशेष महत्त्व है। इनके अतिरिक्त पत, व्यास आदि अनेक कहानीकार इस परम्परा का पोषण करते रहे है।

(२) आदर्शवादी कहानियों की परम्परा—इस परम्परा के प्रवर्त्तक प्रेमचन्द जी थे। १९१६ से लेकर १९३६ तक इन्होंने लगभग ३०० कहानियाँ लिखी थी। प्रेमचन्द की यह कहानियाँ पहले लगभग २० सग्रहो मे प्रकाशित हुई थी। बाद मे सरस्वती प्रेस से इनमे से १५० कहानियाँ मानसरोवर के अभिधान से आठ भागो में प्रकाशित हुई। प्रेमचन्दजी की प्रारम्भिक प्रवृत्ति यथार्थोन्मुख आदर्शवाद की ओर थी। यह बात उन्होंने 'प्रेम प्रसून' की भूमिका में स्वय स्वीकार की है। "हमने इन कहानियो में आदर्श को यथार्थ से मिलाने की चेष्टा की है।" —'प्रेम-प्रसून' की भूमिका से

किन्तु बाद की कहानियो मे यथार्थोन्मुख प्रवृत्ति पूर्णरूपेण आदर्श-प्रधान हो गई है। इनका आदर्शवाद भी बहुत कुछ गान्धीवादी आदर्शवाद है, जिसमे सर्वत्र दलित मानवता के प्रति सहानुभूति का भाव प्रदर्शित किया गया है। उनका आदर्शवाद उनकी इसी सहानुभूति का परिणाम है। वह उनकी आत्मा मे से निकला है। कोरा दिखावटी नही है। इनकी अन्तिम कहानियो के आदर्शवाद की प्रतिष्ठा मनोविज्ञान की भूमिका पर की हुई जान पड़ती है। मनोवैज्ञानिक आधार लेकर चलने वाली उनकी आदर्श-प्रधान कहानियाँ उनकी कहानी-कला का चरम सौन्दर्य प्रदर्शित करती है। इस दृष्टि से प्रेमचन्द की टक्कर का कलाकार हिन्दी मे आज दिन तक नहीं जन्मा है।

प्रेमचन्द की आदर्शात्मक परम्परा के प्रमुख कलाकार चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, सुदर्शन और कौशिकजी माने जाते हैं। गुलेरीजी ने अपने जीवन मे केवल तीन ही कहानियाँ लिखी थी—'सुखमय जीवन', 'बुद्धू का कॉंटा', 'उसने कहा था'। इनमें 'उसने कहा था' कहानी उनकी कहानियो में ही नही विश्व-साहित्य की कहानियो में श्रेष्ठ स्थान की अधिकारिणी है। वृन्दावनलाल वर्मा ने उसे 'हिन्दी कथा साहित्य का गौरव' (हिन्दी की श्रेष्ठ कहानिया—डॉ० त्रिगुणायत की भूमिका) ठीक ही कहा है। वास्तव मे यह कहानी मूल सवेदना, रचना-सौष्ठव, आदर्शात्मक चरित्र-चित्रण, नाटकीय संवाद और अभिनयात्मक शैली आदि सभी दृष्टियो से हिन्दी-साहित्य मे बेजोड है।

हिन्दी कहानी-लेखको में विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' का स्थान बहुत विशिष्ट है। इनके दो कहानी-सग्रह उपलब्ध हैं—'कला-मन्दिर' और 'चित्रशाला'। इन कहानियो मे भी आदर्शवाद की ही प्रधानता है। इनका आदर्शवाद सुधारोन्मुख अधिक है। आदर्शवादी कहानी-लेखको मे सुदर्शनजी का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। आपके कई कहानी-सग्रह प्रकाशित हो चुके है—'सुदर्शन-सुधा', 'सुदर्शन-सुमन', 'तीर्थयात्रा', 'पुष्पलता', 'गल्पमजरी', 'सुप्रभात', 'चार कहानियाँ', 'परिवर्तन', 'नगीना', 'पनघट' आदि। इन कहानियो मे सर्वत्र किसी न किसी आदर्श की प्रतिष्ठा मिलती है। विधवा-विवाह, अछूतोद्धार आदि इनकी कहानियो के प्रमुख विषय रहे हैं।

(३) **यथार्थवादी कहानियों की परम्परा**—१९२२ के लगभग हिन्दी कहानी-क्षेत्र मे एक नवीन परिवर्तन बिन्दु दिखाई पडा। इसके प्रवर्त्तक बेचन शर्मा उग्र थे। इनके प्रवेश से कहानी-क्षेत्र मे क्रान्तिमय यथार्थवाद की एक नई चेतना ने अँगडाई ली। उसके फलस्वरूप यथार्थवादी कहानियो की परम्परा प्रवर्तित हुई। उनके यथार्थवाद के प्रमुख स्वर व्यग, कटाक्ष और क्रान्ति के है। उनकी कहानियो में लगभग वही ओज और प्रवेग मिलता है जो काव्य-क्षेत्र मे सन्त कबीर की वाणी मे मिलता है। 'चिंगारियाँ', 'बलात्कार', 'दोजख की आग' इनके प्रमुख कहानी-सग्रह हैं। उग्र की परम्पराओ के अन्य लेखको मे चतुरसेन शास्त्री का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उनकी कहानियो मे भी हमे सामाजिक पाखण्डो और कुरीतियो पर कटाक्ष मिलता है। 'रजकण' और 'अक्षत' इनके प्रमुख कहानी-सग्रह है।

(४) **मनोवैज्ञानिक कहानियों की परम्परा**—इस परम्परा के प्रधान प्रतिनिधि और प्रवर्त्तक जैनेन्द्रकुमार जैन हैं। आपने कहानी-कला को नई दिशा प्रदान की है। इन्होने कहानियो मे पहली बार एक विशिष्ट जीवन-दर्शन की झाँकी सँजोई है। यह जीवन-दर्शन मनोविज्ञान की दृढतर भूमिका पर प्रतिष्ठित है। उन्होने अधिकतर सामान्य मानव की मनोभूमि के अन्तर्द्वन्द्वमय धरातलो का उद्घाटन करने का प्रयास किया है। इनका उद्घाटन करते समय उनकी दृष्टि सन्तुलन और समन्वय पर अधिक रही है। उन्होने स्पष्ट लिखा है—"मै किसी ऐसे व्यक्ति को नही जानता जो मात्र लौकिक हो · सबके भीतर वह है जो अलौकिक है।" उनका जीवन-दर्शन इसी लौकिकता और अलौकिकता के बीच मे खोया हुआ है। जैनेन्द्र ने कहानी-क्षेत्र मे एक और बहुत बडा कार्य किया है। उन्होने दार्शनिक सत्य खण्डो को कहानी की मधुरिमा मे लपेटकर रखा है। उन्होने लिखा भी है—"दार्शनिक के रूप मे सत्य अत्यन्त गरिष्ठ है। · उसको दृष्टान्तगत, चित्रगत और कथा के रूप मे परिवर्तित करो तभी वह रुचिकर और कार्यकारी बन सकता है।"

—'एक रात' की भूमिका से

इस परम्परा के दूसरे लेखक सियारामशरणजी गुप्त हैं।

(५) **मनोविश्लेषणात्मक कहानियों की परम्परा**—इस परम्परा के प्रमुख और प्रवर्त्तक कलाकार इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेयजी हैं। इस कोटि के कलाकार फ्रायड के एकागी मनोविश्लेषणवाद से अधिक प्रभावित प्रतीत होते है। इन्होंने अधिकतर इसी मनोविज्ञान को आधार बनाकर अपनी कहानियाँ लिखी हैं। इनकी मनोवैज्ञानिक कहानियो का आधार व्यक्ति चरित्र है। उन्होंने मानव अह का बहुमुखी स्वरूपोद्घाटन किया है। अह के स्वरूप तक ही यदि वे अपनी दृष्टि सीमित रखते तो अच्छा होता। अह के विकृत रूपो के उद्घाटन से उनके यथार्थवाद का रूप भारतीय दृष्टि से विकृत हो गया है। उसकी अभिव्यक्ति फ्रायडियन अधिक हो गई है। इनके प्रमुख सग्रहो के नाम 'त्रिपथगा', 'परम्परा', 'कोठरी की बात' और 'जयदोल' हैं।

जोशीजी भी अह के ही विशेष कलाकार हैं। किन्तु अज्ञेय से उनकी दिशा भिन्न है। जहाँ अज्ञेय ने अधिकतर अह के समस्त अगो का जी खोलकर उद्घाटन

किया है, वही जोशीजी ने अह पर कटाक्ष करके अज्ञेय से विपरीत दिशा का निर्देश किया है। इनके प्रमुख कहानी-सग्रहो के नाम—'रोमाटिक', 'छाया', 'आहुति', 'होली', 'दीवाली', 'ऐतिहासिक कथाएँ' हैं।

इस परम्परा के अन्य कलाकार भगवतीचरण वर्मा और पहाडी है। भगवतीचरण वर्मा के प्रमुख कहानी-सग्रह 'इन्सटालमेन्ट', 'दो बाँके', 'खिलते फूल' है। इन्होने अधिकतर सामान्य मानव के सामान्य मनोविज्ञान के फ्रायडियन विश्लेषण को ही अपनी कहानियो का विषय बनाया है। पहाडी इस परम्परा के प्रगतिशील विशेष प्रसिद्ध लेखक है। आपके कई कहानी-सग्रह प्रकाशित हो चुके है। इनमें 'सडक', 'बरगद की जडे' आदि है। आपकी अधिकाश कहानियाँ फ्रायडियन मनोविज्ञान के विश्लेषण को ही लेकर खडी हुई है।

(६) **प्रभाववादी कहानियों की परम्परा**—इस कोटि की कहानी लिखने का सूत्रपात सद्‌गुरुशरण अवस्थी ने किया था। उसको विकास-पथ पर ले जाने का श्रेय चन्द्रगुप्त विद्यालकार को है। अवस्थीजी के प्रमुख कहानी-सग्रह 'फूटा शीशा' और 'पडोस की कहानियाँ' है। इनकी कहानियाँ शैलीगत चमत्कार, वस्तु-वैचित्र्य आदि के लिए प्रसिद्ध है। इनमे सबसे प्रधान इनकी प्रभावात्मकता है। प्रभाववादी कहानी लिखने वालो मे चन्द्रगुप्त विद्यालकार की अच्छी ख्याति है। आपकी कहानियो के दो सग्रह प्रकाशित हो चुके है—'चन्द्रकला' और 'अमावस'। इनकी कहानियाँ अधिकतर प्रभाव-प्रधान है। इनमे सर्वत्र भावना और कल्पना की मधुरिमा मिली रहती है। महादेवीजी की कहानियाँ भी अधिकतर भावना और कल्पना-प्रधान हैं। वे भी किसी न किसी प्रभाव की ही व्यजना करती हैं। यह प्रभाव सस्मरणात्मक, और सवेदनात्मक अधिक प्रतीत होता है, कलात्मक कम।

सामाजिक यथार्थवादी कहानियाँ—इस कोटि की कहानी लिखने का सूत्रपात प्रेमचन्दजी कर चुके थे। किन्तु उसको अभिनव-कला के साँचे मे ढालकर प्रगतिवादी रूप देने का श्रेय यशपाल को है। यशपाल ने कहानी-कला को मनोविश्लेषणवाद के सकुचित घेरे मे घसीटकर समाज के खुले हुए आसमान के नीचे ला पटका है। यशपाल ने सामाजिक परिस्थितियो को मनुष्य चरित्र का प्रमुख विधायक स्वीकार किया है। वे साम्यवादी विचारधारा से अधिक प्रभावित है। वह कही भी उनके कलाकार को पराजित नही कर सकी है। वे कलाकार पहले हैं, साम्यवाद, प्रचारक बाद मे। इनके कई कहानी-सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—'पिजड़े की उडान', 'अभिशप्त', 'आहुतियाँ', 'ज्ञान-दान', 'तर्क का तूफान', 'भस्मावृत्त चिगारी', 'फूलो का कुर्ता', 'धर्म-युद्ध', 'उत्तराधिकारी', 'चित्र का शीर्षक' आदि-आदि। होमवती देवी, कमला देवी चौधरानी आदि इस परम्परा की प्रमुख पोषिका हैं।

हिन्दी-कहानियों के नवीनतम कला रूप—हिन्दी-कहानियो मे कुछ नवीनतम कला रूपो का विकास भी हो रहा है। नए-नए प्रयोग सामने आ रहे हैं। इनमें रेखाचित्र और रिपोर्ताज प्रमुख है। कहानी-क्षेत्र मे रेखाचित्र शैली को अपनाने वाले कलाकारो में जैनेन्द्र, महादेवी वर्मा, प्रकाशचन्द्र, अमृतराय, रामवीर, ओकार शरद्,

सत्येन्द्र शरत् आदि प्रसिद्ध है। रिपोर्ताज लिखने वालो मे शिवदानसिंह चौहान, अमृतराय, कृष्णचन्द्र आदि विशेष प्रसिद्ध है। इन कला रूपो पर हम आगे कुछ विस्तार से विचार करेंगे।

कहानी-कला का विकास-क्रम

वर्त्तमान कलापूर्ण हिन्दी कहानी का जन्मकाल ई० सन् १९०० निश्चित किया गया है। किशोरीलाल गोस्वामी लिखित 'इन्दुमती' कहानी हिन्दी की प्रथम कलापूर्ण कहानी मानी जाती है। यद्यपि 'इन्दुमती' से पहले भी राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' 'राजा भोज का सपना' नामक कहानी लिख चुके थे। किन्तु वह कहानी प्राचीन ढग की 'नानी की कहानी' से बहुत भिन्न नही कही जा सकती। उसकी वर्णन-शैली बिलकुल प्राचीन ढग की ही है। प्राचीन ढग के कौतूहल और चमत्कार की ही उसमे सर्वत्र प्रधानता दिखलाई पडती है। सन् १९०० मे भी सरस्वती मे 'सिम्बेलीन' की कहानी और 'कौतुकमय मिलन' कहानियाँ प्रकाशित हुई थी, किन्तु इन्हे भी हम कहानी-कला की दृष्टि से आदिम कहानियाँ नही मान सकते, क्योकि इन्हे हम शेक्सपियर के नाटको का गद्यात्मक सक्षिप्तीकरण कह सकते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि वर्तमान कहानी-कला के विकास के प्रथम चिह्न 'इन्दुमती' मे ही मिलते है। यद्यपि 'इन्दुमती' की कथा शेक्सपियर की 'टेम्पेस्ट' नाटक की कथा से बहुत मिलती-जुलती है, फिर भी अभिधान, वस्तु-विन्यास, वर्णन, चरित्र-चित्रण आदि सभी दृष्टियो से वह मौलिक है। उसे हम किसी प्रकार भी अग्रेजी नाटको का सक्षिप्तीकरण या छायाभास नही कह सकते। इस प्रकार हिन्दी कहानियो मे मौलिकता की छाप सबसे प्रथम 'इन्दुमती' मे ही दिखाई पडती है।

सन् १९०० के पश्चात् लगभग चार-पांच वर्ष तक अधिकतर अनूदित कहानियाँ ही लिखी गईं। कुछ लोगो ने मौलिक कहानी लिखने की चेष्टा भी की, किन्तु उनमे से सफल बहुत कम हुए। सन् १९०६ ई० के आस-पास कुछ छन्दोबद्ध उपदेशात्मक कहानियाँ लिखी गईं। उनमे बग महिला की 'जम्बुकी न्याय' तथा विद्यानाथ की 'बडी बहू' विशेष उल्लेखनीय हैं। 'जम्बुकी न्याय' बहुत कुछ हितोपदेश की कहानियो से मिलती-जुलती है। 'बडी बहू' मे उपदेश वृत्ति बहुत कुछ स्पष्ट हो गई है। इन कहानियो से नवोदित कहानी-कला को थोडा धक्का पहुँचा। किन्तु बग महिला की प्रतिभा पाकर कहानी-कला थोडे समय के लिए थिरक उठी। इनकी 'दुलाई वाली' कहानी प्रारम्भिक कहानियो मे कला के विकास की दृष्टि से अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इस कहानी मे 'इन्दुमती' की मौलिकता तो है ही, साथ ही वातावरण निर्माण के सहारे स्वाभाविकता लाने की चेष्टा भी की है। अपने ढग की यह पहली कहानी है, जिसके पढने के बाद कहानी कहानी न लगकर स्वाभाविक यथार्थ घटना प्रतीत होती है। कहानी-कला की यह प्रगति 'भावुक और दार्शनिक कवि' प्रसाद के कहानी क्षेत्र मे पदार्पण करते ही सकुचित हो गई। प्रसाद के प्रभाव से कहानी-कला मे भावना और कल्पना का आरोप बढा। यथार्थ के स्थान पर आदर्श को महत्त्व दिया गया। सन् १९१० मे वृन्दावनलाल वर्मा द्वारा लिखी हुई 'तातार'

और 'एक वीर राजपूत' नामक कहानियाँ आदर्श वीर भावना से भरी हुई हैं। सन् १९१३ मे लिखी गई कौशिक की 'रक्षा-बन्धन' भी आदर्श भावना से विभोर है। इसी काल मे लिखी गई प्रसाद की कहानियाँ रोमाचकारी आदर्श को लेकर खडी हुई है। प्राय इनकी समस्त कहानियो मे प्रेम के ही विविध आदर्शमय रोमाचकारी चित्र चित्रित किए गए है। 'रसिया बालम', 'प्रणय-चिह्न', 'चन्दा' नामक कहानियाँ रीतिकालीन प्रेम का प्रतिनिधित्व करती हैं। 'पुरस्कार' मे सफल दाम्पत्य प्रेम का चित्रण किया गया है। 'आँधी', 'आकाशदीप' आदि असफल प्रेम की कहानियाँ हैं। 'कलावती' और 'सलीम' मे दाम्पत्य प्रेम के विविध रगीन चित्र मिलते हैं। 'बिसाती' मे पूर्वानुरागिनी परकीया नायिका की मधुमयी झाँकी है। 'समुद्र सतरण' मे मुग्धा की मधुर कोमलता मूर्त्तिमान हो उठी है। इसके अतिरिक्त 'चूडीवाली', 'नारी', 'सिकन्दर की शपथ' कहानियाँ भा दाम्पत्य-प्रेम पर प्रकाश डालती है। प्रसाद की इन समस्त रोमाचकारी प्रणय-कहानियो मे एक प्रकार की विचित्र रहस्यात्मकता झलक्ती है। कला की दृष्टि से इन कहानियो का महत्त्वपूर्ण अग इनकी काव्यात्मकता है। प्रसाद से पहले जितनी कहानियाँ लिखी गई थी, उनमे जितना अधिक वर्णन को महत्त्व दिया गया था, उतना काव्यत्व को नही। प्रसाद ने उनमें काव्यत्व की प्रतिष्ठा की। अपनी इस देन के लिए वे कहानी-क्षेत्र मे स्वर्णाक्षरो मे अकित रहेंगे। इसी समय मे कुछ और कहानियाँ लिखी गईं। इनमे कल्पना, भावना और काव्यत्व के अतिरिक्त रोमाचकारी प्रणय की झलक मिलती है। इन कहानियो मे प्राय किसी पौराणिक या ऐतिहासिक युग के किसी रमणीय चित्र का चित्रण होता था। प्रसाद की बहुत सी कहानियाँ ऐसी ही थी।

कहानी-कला मे प्रसादजी के प्रयास से कल्पना की प्रचुरता, भावना की अतिरेकता, उच्च काव्यत्व, अतीत की मधुमयी झाँकी आदि तत्त्व प्रतिष्ठित हो चुके थे। प्रेमचन्द ने कहानी-कला को बहुमुखी विकास प्रदान करने की चेष्टा की। वातावरण के निर्माण के सहारे कहानी-कला में स्वाभाविकता का आरोप बग महिला लिखित 'दुलाईवाली' में तथा प्रसाद लिखित 'आकाश-दीप' मे पहले ही किया जा चुका था। आगे चलकर प्रेमचन्द ने अपनी कहानियो में इसका अच्छा उपयोग किया। उनकी अनेक कहानियों मे वातावरण निर्माण के सहारे स्वा-भाविकता लाने की चेष्टा की गई है। प्रेमचन्द की 'घर जमाई' नामक कहानी मे वातावरण-निर्माण से ही कहानी का प्रारम्भ किया गया है। कहानी-कला के क्षेत्र मे क्रान्तिकारी परिवर्तन की प्रतिष्ठा उस समय से समझनी चाहिए जब से उसमे मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण की प्रतिष्ठा की गई। यो तो कहानी-क्षेत्र मे कला की इस विशेषता को सर्वप्रथम गुलेरीजी ने अपनी 'उसने कहा था' नामक कहानी मे प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की थी, परन्तु उसका चरम विकास हमे प्रेमचन्द की 'बूढी काकी', 'आत्माराम', 'पच-परमेश्वर' आदि कहानियों मे दिखलाई पडता है। मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण के अतिरिक्त केवल मनोवैज्ञानिकता की आधारभूमि पर भी कहानियाँ लिखी जाने लगीं। प्रसाद की 'प्रतिमा' और 'अघोरी का मोह'

नामक कहानियाँ ऐसी ही हैं। स्वाभाविकता, मनोवैज्ञानिकता और चरित्र-चित्रण के अतिरिक्त कहानी-कला मे कथोपकथन की कला भी विकसित हुई। 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी' नामक कहानी मे कथोपकथन की कला का बीजारोपण मिलता है। उसका विकास अज्ञेय के 'रीछ', प्रेमचन्द की 'अग्नि-समाधि', प्रसाद की 'इन्द्रजाल' आदि कहानियो मे दिखलाई पडता है।

कहानी-कला मे एक प्रकार का और विकास दिखलाई पडा। वह आदर्शोन्मुख से यथार्थोन्मुख हो चली। रोमाचकारी प्रेम, दैवसयोग आदि के स्थान पर सामाजिकता को महत्त्व दिया जाने लगा। बहुत सी ऐसी कहानियाँ लिखी गई जो देश की सामाजिक और आर्थिक दशा से व्यथित जनता की दयनीय दशा चित्रित करती है। ऐसी कहानियो मे भगवतीप्रसाद बाजपेयी की 'निंदिया लागी' और जैनेन्द्रकुमार का 'अपना अपना भाग्य' प्रसिद्ध है। कुछ ऐसी भी कहानियाँ लिखी गईं जिनमे स्वदेश के प्रेम के आकर्षक चित्र चित्रित किए गए। उग्र लिखित 'उसकी माँ' नामक कहानी ऐसी ही है।

कहानी-कला के विकास की पराकाष्ठा उस समय से समझनी चाहिए जब से कहानियो मे किसी सत्य की प्रतिष्ठा करने की चेष्टा की जाने लगी। सबसे पहले गुलेरीजी की 'उसने कहा था' नामक कहानी मे कहानी-कला की इस विशेपता के दर्शन हुए। बाद मे प्रेमचन्द और सुदर्शन की अधिकाश कहानियाँ इसी विशेपता को लेकर लिखी गई। इस प्रकार कहानी-कला का उत्तरोत्तर क्रमिक विकास होता गया।

वर्तमान कहानी-कला की प्रगति कई बातो की ओर है। एक ओर तो वह चरित्र-वैचित्र्य को लेकर खडी होना चाहती है और दूसरी ओर वह मानव-भावनाओ को भी स्पर्श करना चाहती है। प्रेमचन्दजी ने 'मानसरोवर' के प्रथम भाग मे इसी बात को निम्नलिखित शब्दो मे विस्तार से लिखा है—"पाठको से यह कहने की आवश्यकता नही कि इन थोडे ही दिनो मे गल्प-कला ने कितनी प्रौढता प्राप्त कर ली है। अब हिन्दी गल्प-लेखको मे विपय, दृष्टिकोण और शैली का वि ास होने लगा है। कहानी जीवन के अब बहुत निकट आ गई है। उसकी जमीन इतनी लम्बी-चौडी नही है कि उसमे कई रसो, कई चरित्रो और कई घटनाओ के लिए स्थान हो। वह केवल एक प्रसग की आत्मा की झलक का मर्मस्पर्शी चित्रण है। इस एकतथ्यता ने उसमे प्रभाव, आकर्षण और तीव्रता भर दी है। अब व्याख्या का अश कम और सवेदना का अधिक रहता है। उसकी शैली भी अब प्रवाहमयी हो गई है। लेखक को जो कुछ कहना है वह कम से कम शब्दो मे कह डालता है। वह अपने चरित्रो की मनोव्याख्या करने नहीं बैठता, केवल उसकी तरफ इशारा ही कर देता है। अब हम कहानी का मूल्य उसकी घटना से नही लगाते। हम चाहते हैं कि पात्रो की मनोगति स्वय घटनाओ की सृष्टि करे। घटनाओ का स्वतन्त्र कोई महत्त्व ही नही रहा। खुलासा यह है कि गल्प का आधार अब घटना नही, मनोविज्ञान की अनुभूति है। आज लेखक केवल कोई रोचक दृश्य देखकर कहानी लिखने नही बैठता। उसका उद्देश्य स्थूल सौन्दर्य नही है। वह तो कोई ऐसी प्रेरणा चाहता है जिसमे

सौन्दर्य की झलक हो और इसके द्वारा वह पाठक की सुन्दर भावनाओ को स्पर्श कर सके। प्रेमचन्द की यह उक्ति सन् १५ से लेकर आज तक लिखी गई कहानियो के सम्बन्ध मे ठीक उतरती है। हाँ, आज की कहानियो मे कुछ वे भी विशेषताएँ आने लगी है जिनका सकेत उपर्युक्त पक्तियो मे नही किया गया है। वह है चरित्र-वैचित्र्य की अभिव्यक्ति। आजकल प्राय अधिकाश कहानियो मे यही विशेषता पाई जाती है। मार्च, सन् १९५२ की 'विश्व-वाणी' मे प्रकाशित धूमकेतु लिखित 'ठकुरानी' नामक कहानी मे हमे इसी विशेषता के दर्शन होते है। आजकल उच्चकोटि की अधिकाश कहानियाँ प्राय इसी कोटि की होती हैं। आज की कहानियो मे एक प्रवृत्ति और दिखलाई पड़ती है—वह है किसी भावात्मक तथ्य पर कहानी लिखना। १९४९ नवम्बर की विश्ववाणी मे प्रकाशित रामचन्द्र पाठक की 'मानवता' नामक कहानी ऐसी ही है। आजकल कुछ ऐसी भी कहानियाँ लिखी जा रही है जो रूपकात्मक और प्रतीकात्मक होती हैं। सतीन्द्रमोहन चट्टोपाध्याय की 'हिमालय' कहानी इसी प्रवृत्ति को प्रकट करती है। वर्तमान कहानियो मे कहानीकार काव्य की एक नवीनतम प्रवृत्ति को भी प्रतिष्ठित करने की चेष्टा कर रहे हैं। आजकल काव्य मे ऐन्द्रिक प्रभाव, सवेदना तथा अनुभूति को विशेष महत्त्व दिया जाता है। हिन्दी की बहुत सी वर्तमान कहानियो मे यह विशेपता पाई जाती है। चन्द्रगुप्त विद्यालकार की कहानियो में सवेदना लाने की अधिक चेष्टा की जाती है। अज्ञेय ऐन्द्रिक प्रभाव उत्पन्न करने की ओर अधिक प्रयत्नशील रहते हैं। इसके अतिरिक्त (कुछ ऐसी कहानियाँ भी देखने मे आ रही हैं जो व्यक्ति-वैचित्र्य-प्रधान न होकर वर्ग-वैचित्र्य-प्रधान कही जा सकती हैं। मोहनलाल महतो की 'कवि' नामक कहानी ऐसी ही है। भाषा और शैली की दृष्टि से कहानी अब पहले से बहुत आगे बढ चुकी है। उसमे भाषा-सौष्ठव के साथ-साथ प्रवाह भी बहुत अधिक पाया जाता है। कला की दृष्टि से भी वह पहले से बहुत आगे बढ चुकी है। जीवन और जगत् के सौन्दर्य की जितनी सुन्दर अभिव्यक्ति और अनुभूति इन कहानियो मे जितने सकेतात्मक और कलात्मक ढग से व्यक्त की जाती है उतनी पहले नही होती थी।) सक्षेप मे यही कहानी-कला के विकास का क्रमिक इतिहास है।

: ८ :

रेखाचित्र

रेखाचित्र चित्रकला और साहित्य के सुन्दर सुहाग से उद्भूत एक अभिनव-कला रूप है। रेखाचित्रकार साहित्यकार के साथ ही साथ चित्रकार भी होता है। जिस प्रकार चित्रकार अपनी तूलिका के कलामय स्पर्श से चित्र-पटल पर अकित विशृखल रेखाओ मे से कुछ अधिक उभरी हुई रेखाओ को सँवारकर एक सजीव रूप प्रदान कर देता है, उसी प्रकार रेखा-चित्रकार मन-पटल पर विशृखला रूप मे बिखरी हुई शत-शत स्मृति-रेखाओ मे से उभरी हुई रमणीय रेखाओ को अपनी कला की तूलिका से स्वानुभूति के रग मे रजित कर जीते-जागते शब्द-चित्र मे परिणत कर देता है। यही शब्द-चित्र रेखाचित्र कहलाता है।

रेखाचित्र साहित्य की अन्य विधाओ से एक दृष्टि से सर्वथा भिन्न है। साहित्य की अन्य विधाओ मे कलाकार पर शब्द-योजना और वाक्य-विन्यास सम्बन्धी कोई विशेष नियत्रण नही रहता। किन्तु रेखाचित्र के सम्बन्ध मे यह बात लागू नही है। रेखाचित्रकार की सीमाएँ निश्चित हैं। उसे तो कम से कम शब्दो मे सजीव से सजीव रूप-विधान और छोटे से छोटे वाक्य से अधिक से अधिक तीव्र और मर्म-स्पर्शी भाव-व्यजना करनी पडती है। अपने इस कार्य मे वही कलाकार सफल होता है जिसका हृदय अधिक सवेदन-शील और जिसकी दृष्टि सूक्ष्म पर्यवेक्षण-निपुण एव मर्मभेदनी होती है। सक्षेप मे रेखाचित्र वस्तु, व्यक्ति अथवा घटना का शब्दो द्वारा विनिर्मित वह मर्मस्पर्शी और भावमय रूप-विधान है जिसमे कलाकार का सवेदनशील हृदय और उसकी सूक्ष्म-पर्यवेक्षण दृष्टि अपना निजीपन उँडेलकर प्राण-प्रतिष्ठा कर देती है। अधिक स्पष्ट शब्दो मे कहना चाहे तो कहेगे कि साहित्य की अन्य विधाओ के सदृश ही रेखाचित्र भी कलाकार की किसी व्यक्ति, वस्तु या घटना के पूर्व-सन्निकर्ष से उद्भूत क्रियाओ और प्रतिक्रियाओ की अभिव्यक्ति है। किन्तु उसकी शिल्प-विधि अपनी स्वतन्त्र है। उसकी यह स्वतन्त्र शिल्प-विधि उसे समकक्ष और सदृश साहित्यिक विधाओ से अलग किए हुए है।

रेखाचित्र और जीवनी—रेखाचित्र और जीवनी बहुत सी दृष्टियो से सदृश होते हुए भी दो स्वतन्त्र गद्य-विधाएँ है। दोनो की प्रकृतियो मे अन्तर है। जीवनी की रचना के मूल मे बुद्धि और भावना अधिक रहती है, कल्पना कम। किन्तु रेखाचित्र मे इन तीनो का समान भाव से मिश्रण रहता है। बुद्धि के सहारे रेखाचित्रकार विशाल स्मृति-रेखाओ मे से केवल उन उभरी हुई रेखाओ को चुन लेता है जिनके सहारे वह अभीप्सित चित्र सरलता से चित्रित करने मे सफल हो सके। कल्पना रेखाओ के उस ककाल मे रग भरने का कार्य करती है और भावना

उस रजित ककाल में प्राण-प्रतिष्ठा करके उसे एक सजीव प्रतिमा के रूप मे प्रस्तुत कर देती है।

रेखाचित्र और जीवनी में एक अन्तर और है। जीवनी मे लेखक की दृष्टि सर्वांगीण चित्रण की ओर रहती है जो पाठक के मन के क्षणिक प्रसादन, अवसादन तथा कौतूहल-वर्द्धन में सफल होती है। जीवनीकार शब्दो का प्रयोग वर्णन मे प्रवाह करने के लिए करता है। किन्तु रेखाचित्रकार शब्दो का प्रयोग चित्र-रचना के हेतु करता है। रेखाचित्र मे शब्द ही रेखाएँ हैं और उन्ही के सहारे चित्र खीचा जाता है।

जीवनी मे लेखक की निजी अनुभूतियो, कल्पनाओ, भावनाओ और विशिष्टताओ का उतना महत्त्व नही होता जितना रेखाचित्र मे होता है। रेखा-चित्र वास्तव मे यथार्थ का वह चटकीला चित्र है जिसका निर्माण लेखक की निजी अनुभूति अपनी वैयक्तिक शिष्टताओ की पट्टिका पर कल्पना की तूलिका से शब्द-रेखाओ के सहारे भावनाओ के कोमल करो द्वारा करती है।

जीवनी मे लेखक की चयन-कला का महत्त्व अधिक रहता है और उसकी सूक्ष्म-पर्यवेक्षण दृष्टि का कम। इसके विपरीत रेखाचित्रकार के लिए सूक्ष्म-पर्यवेक्षण दृष्टि का महत्त्व अधिक होता है, चयन-कला का कम। जीवनी लेखक के सामने व्यक्ति विशेष से सम्बन्धी एक विशाल सामग्री बिखरी पड़ी रहती है। वह उनमे से कुछ का चयन कर उसे ऐतिहासिक शैली मे व्यक्त कर देता है। उसमे वह महत्त्वपूर्ण और कम महत्त्वपूर्ण का भारी भेद नही मानता। इसके विपरीत रेखा-चित्र सूक्ष्म-पर्यवेक्षण दृष्टि से सचित वस्तु या व्यक्ति विशेष की रूपरेखा को अपनी भावनाओ के रग मे रजित कर प्रस्तुत करता है। सक्षेप मे जीवनी और रेखाचित्र मे यही मौलिक भेद हैं।

रेखाचित्र और सूचनिका—सूचनिका को भी मैं एक प्रकार का रेखाचित्र ही मानता हूँ। अन्तर केवल इतना है कि रेखाचित्र किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना अथवा सवेदना मे से किसी का भी हो सकता है किन्तु सूचनिका अधिकतर किसी घटना विशेष से ही सम्बन्धित होती है। दोनो की अभिव्यजना शैली मे भी अन्तर है। रेखाचित्र मे कलाकार चित्र को अपनी अनुभूतियो के रग मे रजित कर प्रस्तुत करता है। किन्तु सूचनिका मे लेखक अपेक्षाकृत अधिक तटस्थ रहता है। सूचनिका मे अभिव्यक्ति-सौष्ठव अधिक रहता है, लेखक की आत्माभिव्यक्ति कम। हिन्दी में सूचनिका साहित्य का विकास बहुत कम हुआ है। अतएव उसका स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाया है। इसलिए अन्य विधाओ से इसका भेद करना थोड़ा कठिन है। रेखाचित्र मे कलाकार का लक्ष्य अधिकतर किसी वस्तु, घटना अथवा व्यक्ति आदि का ऐसा चित्र प्रस्तुत करना होता है जो यथार्थ होते हुए भी उसकी आत्मानुभूति और कल्पना से अनुरजित हो। किन्तु सूचनिका लेखक का लक्ष्य यह नहीं होता। उसका उद्देश्य तटस्थ भाव से वर्तमान जीवन की घटनाओ को काव्यात्मक ढग से प्रस्तुत करना होता है। इसके लिए वह घटना से सम्बन्धित विभिन्न व्यक्तियो एवं परि-स्थितियो आदि की कम से कम शब्दो मे अधिक से अधिक व्याख्या करता है।

रेखाचित्र और कहानी—रेखाचित्र और कहानी बहुत कुछ सदृश विधाएँ हैं। दोनो का ही आकार लघु होता है। दोनो ही किसी एक वस्तु, व्यक्ति या सवेदना को लेकर चलते है। दोनो मे ही कम से कम शब्दो मे अधिक से अधिक बात कहने की आवश्यकता रहती है। दोनो मे ही कलाकार वर्णन एव कथोपकथन आदि का आश्रय लेता है। किन्तु फिर भी दोनो के शिल्प-विधान मे अन्तर होता है। दोनो के उद्देश्य मे भी अन्तर होता है। कहानी का लक्ष्य अधिकतर मनोरजन होता है। कभी-कभी उसके माध्यम से कलाकार किसी सत्य खण्ड की अभिव्यक्ति भी करता है। किन्तु रेखाचित्र के सामने यह दोनो लक्ष्य ही गौण रहते है। उसका प्रमुख लक्ष्य होता है—चरित्र-विशेष के बाह्य और आभ्यान्तर दोनो ही के मार्मिक एव सवेदनशील तत्त्वो को उभारकर पाठको के सम्मुख प्रस्तुत कर देना। किन्तु वह यह कार्य तटस्थ भाव से नही करता। उसके चित्रण, उसकी अनुभूतियों और मान्यताओ के रग मे रगे रहते हैं।

कहानी और रेखाचित्र के कला-रूप मे भी अन्तर है। कहानी केवल श्रव्य-काव्य है। वह केवल पढी और सुनी जाती है। इसके विपरीत रेखाचित्र पाठक के मन रगमच पर स्वय अभिनीत होने वाला दृश्य-काव्य। कहानी मे या तो कहानीकार बोलता है या पात्र। किन्तु रेखाचित्र मे अधिकतर कलाकार ही बोलता है। उसका बोलना एक सूत्रधार के बोलने के सदृश होता है। किन्तु कलाकार का इस प्रकार मुखरित होना वास्तव मे रेखाचित्र का ही मुखरित होना है। रेखाचित्र की यह मूक-मुखरता ही उसकी सबसे प्रमुख विशेषता है। इसने इसे नाटक के समक्ष स्थान दिला दिया है।

कहानी और रेखाचित्र मे अभिव्यक्ति सम्बन्धी अन्तर भी है। कहानी की अभिव्यक्ति मे तरलता अधिक होती है और रेखाचित्र की अभिव्यक्ति मे सरलता की मात्रा अधिक पाई जाती है। एक का प्राण उसका प्रवाह चैतन्य है जो पाठको की जिज्ञासा को परितृप्त करता हुआ दूर तक बहा ले जाता है। इसके विपरीत दूसरे का वैभव उसकी मूर्तिमत्ता है जो पाठक या दर्शक की अनुभूति को भाव-विभोर कर मुग्ध कर देती है।

इतना होते हुए भी दोनो विधाओ मे बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी कारण कभी-कभी कहानी रेखाचित्र का रूप धारण कर लेती है और रेखाचित्र कहानी बन जाता है। महादेवीजी की कहानियाँ सस्मरणात्मक रेखाचित्र अधिक है, कहानियाँ कम। उदाहरण के लिए उनकी 'घीसा' नामक कहानी उद्धृत की जा सकती है।

रेखाचित्र और निबन्ध—कुछ लोग रेखाचित्र और निबन्ध मे कोई मौलिक भेद नही स्वीकार करते। एक सज्जन ने निबन्धो की भावात्मक शैली के प्रसग में सस्मरण और रेखाचित्र भी समेट लिये हैं।

—देखिए नागरी प्रचारिणी सभा का हीरक जयन्ती ग्रन्थ, पृष्ठ २२८

मैं इस मत से सहमत नही हूँ। मेरी दृष्टि मे रेखाचित्र और निबन्ध दो

भिन्न-भिन्न साहित्यिक विधाएँ हैं। इसमे कोई सन्देह नही कि दोनो मे कुछ साम्य भी है, किन्तु भेदो की मात्रा साम्य की अपेक्षा कही अधिक है। अतएव मैं दोनो को दो विभिन्न विधाएँ मानने के पक्ष मे हूँ। निबन्ध और रेखाचित्र दोनो में ही कलाकार के व्यक्तित्व की गहरी छाप रहती है। दोनो ही विधाएँ जीवन और जगत् की विविध वस्तुओ के प्रति कलाकार के हृदय मे अद्भुत क्रियाओ और प्रतिक्रियाओ का प्रतिबिम्बन मात्र होती हैं, किन्तु दोनो का क्षेत्र सीमित है। निबन्ध मे जीवन या जगत् की किसी भी वस्तु या व्यक्ति के प्रति लेखक की निजी अनुभूतियो की प्रधानता रहती है। यह अनुभूतियाँ अधिकतर वर्णनात्मक शैली मे अभिव्यक्त की जाती है। आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति रेखाचित्र मे भी रहती है किन्तु उसमे कलाकार उसकी अभिव्यक्ति चित्र या मूर्त रूप मे करता है। रेखाचित्र में वर्णनात्मकता का कोई महत्त्व नही है। व्यक्ति या वस्तु का आश्रय निबन्ध और रेखाचित्र दोनो ही ले सकते हैं। किन्तु निबन्ध में उससे सम्बन्धित वर्णना की प्रधानता रहती है और रेखाचित्र मे चित्रण की।

रेखाचित्र और संस्मरण—रेखाचित्र और संस्मरण भी बहुत मिलते-जुलते साहित्यिक रूप हैं। मै दोनो मे गहरा सम्बन्ध स्वीकार करता हूँ। किन्तु मै दोनो को पर्यायवाची मानने के पक्ष मे नही हूँ क्योकि यह परस्पर एक दूसरे के अंग मात्र है, सम्पूर्ण नही। इसीलिए मैंने संस्मरणो का विवेचन रेखाचित्र से अलग करने का निर्णय किया है।

रेखाचित्र और आत्मकथा—रेखाचित्र और आत्मकथा भी परस्पर समान प्रतीत होते है। किन्तु मै इन दोनो को भी परस्पर पर्यायवाची मानने के पक्ष मे नही हूँ। आत्मकथा वर्णन-प्रधान होती है। वह एक प्रकार का इतिहास है, जिसकी अभिव्यक्ति लेखक तटस्थ भाव से करता है। किन्तु रेखाचित्र मे लेखक तटस्थ नही रह सकता। उसे तो अपना चित्र अपनी अनुभूतियो और आस्थाओ के रंग मे रंगना ही पड़ता है। इसीलिए मैं दोनो को स्वतन्त्र गद्य रूप मानता हूँ।

रेखाचित्र के प्रकार—हिन्दी-साहित्य के रेखाचित्रो का अध्ययन करने मे हमे रेखाचित्र के कई रूप और प्रकार दिखाई पड़ते है। संक्षेप मे वे निम्नलिखित हैं—

(१) वर्णन-प्रधान रेखाचित्र।
(२) संस्मरणात्मक रेखाचित्र।
(३) संवेदनामूलक रेखाचित्र।
(४) व्यंगात्मक रेखाचित्र।
(५) रूपकात्मक रेखाचित्र।
(६) मनोवैज्ञानिक रेखाचित्र।

वर्णन-प्रधान रेखाचित्र—हम ऊपर कह चुके है कि रेखाचित्र किसी एक वस्तु, व्यक्ति या संवेदना का वह शब्द-चित्र है, जिसमे कलाकार का संवेदनशील हृदय और उसकी सूक्ष्म पर्यवेक्षण दृष्टि कला के आश्रय से प्राण प्रतिष्ठा कर देती है। चित्र-विधान दो प्रकार से किया जा सकता है वस्तु-वर्णन के सहारे

और साम्य-योजना के सहारे। वर्णन-प्रधान रेखाचित्रो मे चित्र-विधान अधिकतर वस्तु-वर्णन की शैली मे किये जाते हैं। इस शैली का उपयोग अधिकतर ऐतिहासिक एव पौराणिक व्यक्तियो, वस्तुओ और घटनाओ आदि के रेखाचित्र प्रस्तुत करते समय किया जाता है। इस प्रकार के रेखाचित्र कलाकार की आत्मानुभूति से अन्य रेखाचित्रो की अपेक्षा कम अनुरजित रहते हैं। इस प्रकार के रेखाचित्र विनिर्मित करते समय कलाकार अपने वर्णन द्वारा विषय सम्बन्धी अतीत की उन मूल और प्रभावपूर्ण रेखाओ को उभारने की चेष्टा करता है जो उसके चित्र को सजीव रूप प्रदान कर देती हैं। इस प्रकार के रेखाचित्र रामवृक्ष बेनीपुरी, बनारसीदास चतुर्वेदी आदि लेखको ने अधिक तैयार किये है।

सस्मरणात्मक रेखाचित्र—बहुत से रेखाचित्र सस्मरणात्मक होते हैं। इनमे किसी व्यक्ति, वस्तु या घटना का स्मृतिमूलक वर्णन प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार के रेखाचित्र भी अधिकतर वस्तु-वर्णनात्मक ही होते है। किन्तु उनका चित्रण भी कलाकार तटस्थ भाव से नहीं कर पाता। वे उसकी अनुभूति और आस्थाओ से प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। व्यक्तिपरक सस्मरणात्मक रेखाचित्रो के रूप मे हम महादेवीजी की 'स्मृति की रेखाएँ' और 'अतीत के चलचित्र' नामक रचनाओ मे सग्रहीत रेखाचित्रो को ले सकते है।

घटना या वस्तुपरक सस्मरणात्मक रेखाचित्र रिपोर्ताज या सूचनिका से अधिक साम्य रखते हैं। रिपोर्ताज और इस कोटि के रेखाचित्रो मे केवल यही अन्तर होता है कि रिपोर्ताज मे लेखक का दृष्टिकोण ऐतिहासिक अधिक होता है साहित्यिक कम और घटनापरक सस्मरणात्मक रेखाचित्रकार इतिहासकार कम होता है, चित्रकार अधिक।

सवेदनात्मक रेखाचित्र—बहुत से ऐसे रेखाचित्र भी लिखे गये है जिनमें लेखक ने किसी यथार्थ सवेदना को काल्पनिक चित्र मे बाँधने का प्रयास किया है। जीवन मे कलाकार अनेक सवेदनाओ से प्रभावित होता है। इनमे से कुछ सवेदनाएँ शाश्वत सत्य खण्डो के रूप मे उपस्थित होती हैं और कुछ वैयक्तिक अनुभूतियो का रूप धारण कर सामने आती हैं। रेखाचित्रकार दोनों प्रकार की सवेदनाओ को केन्द्र-बिन्दु बनाकर कल्पना के सहारे शब्द-रेखाओ मे भावना का रग भरकर सामने रख देता है। इस प्रकार के रेखाचित्र राहुलजी ने अधिक लिखे हैं।

व्यगात्मक रेखाचित्र—हिन्दी मे व्यगात्मक रेखाचित्रो की रचना अपेक्षाकृत कुछ अधिक हुई है। समाज की विभिन्न रूढियो और पाखण्डो की मजाक उडाने के लिए व्यगात्मक रेखाचित्रो का निर्माण किया जाता है। इस कोटि के रेखाचित्रो मे प्राय: दुर्बल पक्ष के विकृताग का यथार्थ चित्रण करके उस पर कटाक्ष किया जाता है। इस कोटि के रेखाचित्रो के उदाहरण के रूप मे हम कृष्णचन्द्र का 'फूल और पत्थर' शीर्षक सग्रह मे सग्रहीत रेखाचित्र ले सकते है। इस सग्रह मे ९ रेखाचित्र सग्रहीत हैं। उन रेखाचित्रो के नाम 'अखबारी ज्योतिषी', 'देशभक्त', 'हमारा स्कूल', जम्मन शहीद', 'मेरा दोस्त', 'मुस्कराहट', 'अखिल भारतीय हीरा' आदि हैं।

रूपात्मक रेखाचित्र—हिन्दी मे इस कोटि के रेखाचित्र भी बहुत लिखे गए हैं। इस कोटि के रेखाचित्रो मे लेखक रूपक या प्रतीक आदि के माध्यम से किसी सदेश की प्रतिष्ठा करता है। इस प्रकार के रेखाचित्र का उदाहरण रामवृक्ष बेनीपुरी लिखित 'गेहूँ और गुलाब' शीर्षक सग्रह में सग्रहीत रेखाचित्र है। गेहूँ जीवन के उपयोगी पक्ष का और गुलाब जीवन के कलामय पक्ष का प्रतीक बना कर प्रयुक्त किये गये है। गेहूँ और गुलाब के प्रतीको के माध्यम से कलाकार ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि जीवन मे उपयोगिता और सौन्दर्य-बोध दोनो की समान आवश्यकता रहती है। दोनो ही एक दूसरे के पूरक है। इस प्रकार के और भी बहुत से रेखाचित्र लिखे गए है।

मनोवैज्ञानिक रेखाचित्र—आजकल मनोवैज्ञानिक रेखाचित्र लिखने की भी अधिक प्रवृत्ति बढ रही है। हिन्दी मे इस कोटि के अनेक रेखाचित्र रचे गए है। इनमे कलाकार मानव-मन के विविध रहस्यो का उद्‌घाटन करता है। इस कोटि के रेखाचित्र लिखने वालो मे पद्मसिह शर्मा, श्रीराम शर्मा, महादेवी वर्मा, सुरेन्द्रनाथ दीक्षित आदि के नाम उल्लेखनीय है।

रेखाचित्रों का सक्षिप्त ऐतिहासिक विकास-क्रम—हिन्दी मे रेखाचित्र लिखने की परम्परा का अच्छा विकास हो रहा है। इस दिशा में बहुत से कलाकार प्रयत्न-शील हैं। उनमे से प्रमुख कलाकारो का विवरण इस प्रकार है—

पद्मसिह शर्मा—बिहारी का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने वाले पद्मसिह शर्मा रेखाचित्र विधा के जनक कहे जाते हैं। इनके रेखाचित्र पद्मराग मे सग्रहीत हैं। इनके रेखाचित्रो मे यद्यपि कला का वह रूप नही दिखाई पड़ता जो आज के रेखाचित्रो में मिलता है, किन्तु यह कहने मे कोई सकोच नही है कि उन्होंने जो शिलान्यास किया था आज के कलाकारो ने उसी पर रेखाचित्र का भव्य भवन खड़ा करने का प्रयास किया है।

श्रीराम शर्मा—श्रीराम शर्मा भी हिन्दी के एक प्रतिष्ठा-प्राप्त पुराने लेखक है। इन्होने उस समय रेखाचित्र विधा को अपनाने की चेष्टा की थी, जब कि हिन्दी साहित्य के अधिकाश लेखक इस विधा के नाम से भी परिचित नही थे। इनके रेखा-चित्र 'बोलती प्रतिमा' के नाम से प्रकाशित हुए है।

बनारसीदास चतुर्वेदी—सस्मरण और रेखाचित्र क्षेत्र मे बनारसीदास चतुर्वेदी का नाम सदैव स्मरणीय रहेगा। इन्होंने इस दिशा मे अकेले जो कार्य किया है वह दस कलाकार भी नही कर सकते। इनके रेखाचित्र 'रेखाचित्र और सस्मरण' शीर्षक से प्रकाशित हुए हैं।

प्रकाशचन्द्र गुप्त—आधुनिक साहित्यकारो मे प्रकाशचन्द्र गुप्त का नाम भी प्रसिद्ध हो चला है। इन्होने बहुत से सस्मरण और रेखाचित्र लिखे है। वे 'पुरानी स्मृतियां और नए स्कैच तथा रेखाचित्र' नामक सग्रह मे पाये जाते हैं।

रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी—प्रतीकात्मक और रूपकात्मक रेखाचित्र लिखने वालो मे आपका नाम अग्रगण्य है। इनके रेखाचित्र के कई सग्रह प्रकाशित हो चुके

हैं। इन सग्रहो मे 'माटी की मूरतें', 'लाल तारा', 'गेहूँ और गुलाब' के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर—यद्यपि इन्होने ज्ञानोदय के संस्मरण अक मे लिखित अपने एक लेख मे यह दावा किया है कि वे हिन्दी के प्रथम सस्मरण और रेखाचित्र-लेखक हैं, किन्तु यह कथन अर्थवादात्मक अधिक प्रतीत होता है। इतना सत्य है कि इन दोनो दिशाओ मे आपने श्लाघनीय कार्य किया है। इनके रेखाचित्र अधिकतर 'भूले हुए चेहरे' नामक सग्रह मे सग्रहीत है। समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओ मे इनके रेखाचित्र प्रकाशित होते रहते है।

निरालाजी—हिन्दी के महाकवि निराला ने भी कुछ सुन्दर रेखाचित्र लिखे हैं। उनके रेखचित्रो मे कला और भावना की मात्रा बहुत अधिक है। उनके 'चतुरी चमार' और 'कुल्ली भट्ट' नामक रेखाचित्र बहुत प्रसिद्ध है।

महादेवी वर्मा—हिन्दी की भावुक कवयित्री ने कुछ सुन्दर रेखाचित्र भी लिखे है जो सस्मरणात्मक कहानियो का आनन्द देते हैं। इनके रेखाचित्र 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएँ' और 'शृखला की कडियाँ' नामक सग्रहो मे सग्रहीत हैं।

देवेन्द्र सत्यार्थी—वर्त्तमान हिन्दी रेखाचित्रकारो मे देवेन्द्र सत्यार्थी का नाम उल्लेखनीय है। उन्होने बडे ही सजीव रेखाचित्र लिखे हैं। इनका 'रेखाएँ बोल उठी' शीर्षक रेखाचित्रो का सग्रह विशेष प्रसिद्ध है।

हर्षदेव मालवीय—व्यगात्मक रेखाचित्र लिखने वालो में हर्षदेव मालवीय का नाम भी प्रसिद्ध है। इनके 'पुराने' तथा 'पोगल गुरु' नामक रेखाचित्र सग्रह की अच्छी ख्याति है।

राहुल साकृत्यायन—समस्या रेखाचित्र लिखने वालो मे इनका नाम अग्रगण्य है। यह किसी न किसी समस्या को लेकर रेखाचित्र खीच देते है। इनके रेखाचित्र पत्र-पत्रिकाओ मे अधिक छपते रहते है।

कुछ अन्य रेखाचित्रकार—उपर्युक्त रेखाचित्रकारो के अतिरिक्त कुछ अन्य कलाकारो ने भी इस विधा के विकास मे अच्छा योग दिया है। इन कलाकारो मे उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशकर भट्ट, विष्णु प्रभाकर, महावीर अधिकारी, सुरेन्द्रनाथ दीक्षित, फणीन्द्रनाथ रेणु, महताब अली, प्रो० कपिल के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

: ६ :

संस्मरण

सस्मरण भी साहित्य का एक आकर्षक स्वरूप है। हिन्दी की प्राचीन कविता मे सस्मरण की अभिव्यक्ति स्मरण अलकार के रूप मे पाई जाती है। आज के साहित्य मे सस्मरण ने एक विशिष्ट साहित्यिक विधा का रूप धारण कर लिया है। उसकी अपनी अलग शास्त्रीय विशेषताएँ है।

भावुक कलाकार जब अतीत की अनन्त स्मृतियो मे से कुछ रमणीय अनुभूतियो को अपनी कोमल कल्पना से अनुरजित कर व्यजनामूलक सकेत शैली मे अपने व्यक्तित्व की विशेषताओ से विशिष्ट कर रोचक ढग से यथार्थ रूप मे व्यक्त कर देता है, तब उसे सस्मरण कहते है।

सस्मरण और रेखाचित्र समकक्ष विधाएँ हैं। दोनो के कलाकार अतीत का सम्बन्ध वर्त्तमान से वर्त्तमान का गठबन्धन भविष्य से इस प्रकार करने का प्रयास करते हैं कि वस्तु, व्यक्ति या घटना का यथार्थ रूप निकल आवे और भावना तथा कल्पनामूलक रोचकता भी बनी रहे। साथ ही साथ लेखक की व्यक्तिगत रुचियाँ भी उभर आवें। इस साम्य के होते हुए भी दोनो मे भेद है। रेखाचित्र चारित्रिक चित्र होता है, सस्मरण केवल चित्र मात्र न होकर चरित्र का दर्पण भी होता है। उसमे कलाकार रेखाचित्रकार की भाँति कुछ प्रमुख रेखाओ को ही नही उभारता वरन् सम्पूर्ण परिस्थिति का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से वर्णन करता है।

संस्मरण और जीवनी मे भी बड़ा साम्य है। दोनो ही अतीत जीवन को यथार्थ रूप में चित्रित करने का प्रयास करते है। किन्तु दोनो की चित्रण-कला में भेद होता है। सस्मरण लेखक साहित्यकार पहले होता है, इतिहासकार बाद मे। इसके विपरीत जीवनीकार इतिहासकार पहले और साहित्यकार बाद मे। एक में कलाकार के व्यक्तित्व के भावमय चित्रो की प्रधानता होती है दूसरे मे तटस्थ वर्णनो की। यही दोनो मे मौलिक अन्तर है।

सस्मरण और निबन्ध मे भी भेद है। निबन्ध को मैं लेखक की वस्तु, व्यक्ति, घटना आदि किसी एक वस्तु से सम्बन्धित बौद्धिक क्रियाओ और प्रतिक्रियाओ का सक्षिप्त व्यवस्थित रूप मानता हूँ। इसके विपरीत सस्मरण जीवन की किसी अतीत घटना, व्यक्ति या वस्तु के प्रति लेखक की भावात्मक प्रतिक्रिया का प्रकाशन होता है। निबन्ध और सस्मरण मे यही मौलिक भेद है।

सस्मरण और कहानी मे भी परस्पर बड़ा साम्य दिखाई पड़ता है। किन्तु यह दोनो भी एक दूसरे से बहुत कुछ भिन्न हैं। कहानी एक निश्चित वैधानिक

सगठन का अनुसरण करती है। सस्मरण इस प्रकार के नियन्त्रण से मुक्त रहता है। सस्मरण की अपेक्षा कहानी का स्वरूप अधिक व्यापक होता है। कहानी अनेक प्रकार की हो सकती है। उन प्रकारो मे एक वर्ग संस्मरणात्मक कहानियो का भी है। इससे प्रकट है कि कहानी और सस्मरण समान नही कहे जा सकते।

हिन्दी का सस्मरण साहित्य

हिन्दी मे एक विस्तृत सस्मरण साहित्य प्राप्त है। सस्मरण लिखने का प्रवर्त्तन द्विवेदी-युग मे ही हो गया था। द्विवेदीजी की प्रेरणा से 'सरस्वती' में बहुत से सस्मरणात्मक जीवन-परिचय प्रकाशित हुए थे। इन जीवन-परिचयो मे लेखक की आत्मानुभूति की प्रधानता रहती थी। वे कोरे जीवन वृत्त मात्र न थे। इसीलिए उन्हे जीवनी न कहकर सस्मरण कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। द्विवेदीजी के युग के बाद सस्मरण साहित्य का स्वतन्त्र विकास होने लगा। उस विकास-क्रम का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

सत्यदेव परिव्राजक—हिन्दी के सस्मरण साहित्य सृष्टाओ मे आपका नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। १६०५ के आस-पास आपने अमरीका की यात्रा की थी। उस यात्रा से सम्बन्धित सस्मरणो का आपने सजीव वर्णन किया है। आपके सस्मरण भाव तथा प्रभाव दोनो से परिपूर्ण हैं।

हेमचन्द्र जोशी—सत्यदेव परिव्राजक के सदृश हेमचन्द्र जोशी ने भी फ्रास की यात्रा की थी और उस यात्रा से सम्वन्धित सस्मरणो को शब्द-शृखलाओ मे बाँधने का प्रयास किया था। इनके सस्मरणो मे परिव्राजक के सस्मरणो की अपेक्षा साहित्यिकता अधिक है। यह सस्मरण 'फ्रास यात्रा और सस्मरण' के नाम से प्रकाशित हुए है। इनके अतिरिक्त आप अब भी सस्मरण लिखते रहते हैं जो विविध पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित भी होते रहते हैं।

श्री नारायण चतुर्वेदी—पुराने सस्मरण-लेखको मे आपका नाम भी उल्लेखनीय है। आपके सस्मरण 'लखनऊ से देहरादून तक की यात्रा' शीर्षक से प्रकाशित हुए हैं। आपके सस्मरणो मे साहित्यिकता की मात्रा कम और विनोद की मात्रा अधिक है।

बनारसीदास चतुर्वेदी—सिद्धहस्त सस्मरण-लेखक पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी ने सैकडो सस्मरण लिखे हैं जो समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित होते रहते हैं। इन्होंने सस्मरण लेखन-कला को बहुत आगे बढाया है।

पद्मसिह शर्मा—बिहारी सतसई का तुलनात्मक अध्ययन करने वाले शुक्ल-युग के साहित्य-महारथी श्री पद्मसिह शर्मा ने बहुत से सस्मरण लिखे थे। इनके सस्मरणो मे इनके व्यक्तित्व की नोक-झोक झाँका करती है।

श्रीराम शर्मा—सस्मरण लिखने वालो मे आपका स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। आपके सस्मरण अधिकतर शिकार सम्बन्धी है। इनके सस्मरणो मे व्यक्तिगत अनुभवों की पुट होने के कारण एक विचित्र यथार्थताजनित रोचकता आ गई है।

राजेन्द्रलाल हाण्डा—वर्त्तमान युग के सस्मरण लेखको मे ग्रापका नाम भी प्रचलित हो चला है। इनके सस्मरण 'दिल्ली मे १० वर्ष' शीर्षक सग्रह मे प्रकाशित हो चुके हैं।

श्रीनिधि विद्यालकार—नए सस्मरण लेखको मे ग्रापका नाम भी गण्य है। ग्रापके सस्मरण 'शिवालक की घाटियो मे शीर्षक से प्रकाशित हो चुके हैं। यह सस्मरण प्रकृति के सश्लिष्ट चित्रणो से समन्वित होने के कारण बहुत सुन्दर ग्रौर ग्राकर्षक हो गए है। चित्रात्मकता इनके सस्मरणो की प्रमुख विशेषता है।

राधिकारमणप्रसार्दसिह—ग्रापने बहुत से सस्मरण लिखे हैं। यह कई सग्रहो मे प्रकाशित हुए हैं। कुछ प्रसिद्ध सग्रहो के नाम हैं—'नारी क्या एक पहेली', 'पूरब ग्रौर पच्छिम', 'हवेली ग्रौर झोपडी', 'देव ग्रौर दानव', 'वे ग्रौर हम'। यह सस्मरण एक विशिष्ट कोटि के है। इनमे वर्णनो ग्रौर चित्रणो की सापेक्षिक शैलियो का उपयोग किया गया है।

ग्रयोध्याप्रसाद गोयलीय—ग्रापके सस्मरणो के भी कई सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें 'जैन जागरण के ग्रग्रदूत' सग्रह बहुत प्रसिद्ध है। इनके सग्रह जीवनी-परक ग्रधिक प्रतीत होते है।

: १० :

हिन्दी में डायरी लेखन-कला

हिन्दी साहित्य मे पाश्चात्यो के अनुकरण पर डायरी लेखन-विधा का भी विकास हो रहा है। इसे हम साहित्य का शुद्ध स्वरूप नही मान सकते। किन्तु फिर भी इसे साहित्य से बहिष्कृत भी नहीं किया जा सकता। मैं इसे अर्द्ध-साहित्यिक गद्य-रूप मानने के पक्ष मे हूँ।

डायरी लेखक अपने जीवन या जीवन के किसी महत्त्वपूर्ण प्रसग को लेकर डायरी लिखता है। डायरी लेखन मे वह यथार्थ घटनाओ को इस प्रकार सक्षेप में व्यक्त करता है कि सारी बात भी स्पष्ट हो जाय और विस्तार भी न हो। वास्तव मे व्यजना, व्यंग और वर्णन सजीवता ही डायरी लेखन-कला के प्राणभूत तत्त्व हैं। डायरी लेखक घटना वर्णन के साथ-साथ आत्म-विश्लेषण सम्बन्धी उन परिस्थितियो को भी चित्रित करता चलता है, जिससे उसका व्यक्तित्व मुखरित हो उठता है। साहित्यिक डायरी और ऐतिहासिक डायरी मे अन्तर है। एक मे लेखक का व्यक्तित्व झाँका करता है। दूसरे मे केवल घटनाओ की यथार्थता भर प्रतिविम्बित मिलती है। लेखक के व्यक्तित्व की सजीवता से पुलकित होने के कारण ही साहित्यिक डायरी रोचक, भाव और प्रभावपूर्ण प्रतीत होती है।

हिन्दी का डायरी साहित्य

हिन्दी की डायरी लेखन-कला का प्रारम्भ १६३० के आस-पास माना जाता है और नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ इसके प्रथम लेखक बताये जाते हैं। इससे भी पहले टालसटाय की डायरी का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो चुका था। हमारी अपनी धारणा यह है कि हिन्दी लेखको को डायरी लिखने की प्रेरणा उसी अनुवाद से मिली थी। हिन्दी के प्रसिद्ध डायरी साहित्य का विवरण इस प्रकार है—

नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ—आप पहले हिन्दी विद्वान् हैं जिन्होने हिन्दी मे मौलिक डायरी लिखने का शिलान्यास किया था। इनकी डायरी का प्रकाशन 'नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ की जेल डायरी' के नाम से हुआ है। इसमे घटनाओं का वर्णन ऐसी अद्भुत भावुकता की पुट देकर किया गया है कि वे सजीव हो उठी हैं। उनकी सजीवता ही उनके आकर्षण का प्रमुख कारण है।

घनश्यामदास बिड़ला—घनश्यामदास बिड़ला लक्ष्मीपति होते हुए भी सरस्वती के प्रति भी श्रद्धा रखते है। १६३१ की गोलमेज कान्फ्रेंस का वर्णन आपने 'डायरी के कुछ पन्ने' नाम से किया है। इनकी डायरी की प्रमुख विशेषता यह है कि अधिक से अधिक घटनाओ का कम से कम शब्दो में चित्रात्मक वर्णन प्रस्तुत किया गया है

इन वर्णनो को पढकर ऐसा लगता है कि मानो पाठक गोलमेज कान्फ्रेंस का चलचित्र देख रहा हो।

रावी—हिन्दी के वर्त्तमान लेखको मे रावी का नाम अब प्रसिद्ध हो चला है। आपने कविताओ के अतिरिक्त डायरियाँ भी लिखी हैं। इनके द्वारा लिखी गई 'बुकसेलर की डायरी' बडी रोचक रचना है। एक व्यक्ति के जीवन के उत्थान-पतन की इससे अधिक रोचक कहानी इससे कम शब्दो में शायद ही कोई लखक कह सका हो।

महादेव देसाई—आप उच्च कोटि के गुजराती लेखक थे और थे महात्मा गाधी के परम भक्त। आपने महात्मा गाधी को दृष्टि मे रखते हुए अपने जीवन की डायरी लिखी है। उस डायरी के कुछ महत्त्वपूर्ण और रोचक पृष्ठ हिन्दी मे अनुवादित भी किये गए हैं।

सुशीला नायर—गाधीजी के भक्तो मे आपका भी विशिष्ट स्थान है। उनके प्रति इनकी अनन्य भक्ति थी। आपने 'गाधीजी की कारावास-कथा' लिखकर डायरी साहित्य के विकास मे योग दिया है। इस रचना से गाधीजी के प्रति उनकी जो अनन्य भक्ति थी, उसकी मार्मिक अभिव्यक्ति होती है।

सज्जनसिंह—सज्जनसिंह ने लद्दाख की यात्रा की थी। आपने उस यात्रा के वर्णन डायरी के रूप मे प्रस्तुत किए है। उस डायरी का नाम है—'लद्दाख यात्रा की डायरी'। इसमे लेखक के मीठे और तीखे यात्रा सम्बन्धी अनुभवो का अच्छा वर्णन किया गया है।

आचार्य विनोवा भावे को लेकर लिखी गई डायरियाँ—विनोवाजी जो एक महान् भूदान-यज्ञ कर रहे हैं, उसमे वहुत से लोग उनके सहयोगी हैं। उनके इन सहयोगियो ने उनके इस यज्ञ से सम्बन्धी सस्मरणो को डायरी के रूप मे लिखने का प्रयास किया है। इस प्रकार का प्रयास करने वालो मे निर्मला देशपाण्डे और दामोदरदास मूँदड़ा के नाम विशेष उल्लेखनीय है। निर्मलाजी की डायरी का नाम है—'सर्वोदय पद-यात्रा'; और मूँदडाजी की रचना का शीर्षक है—'विनोवा के साथ'। यह दोनो ही रचनाएँ साहित्यिक और ऐतिहासिक दोनो प्रकार का महत्त्व रखती हैं।

ऐलेन कैम्पवेल लिखित 'भारत-विभाजन की कहानी' का हिन्दी अनुवाद—ऐलेन साहव ने भारत विभाजन की कहानी की रचना डायरी के रूप मे की है। यह रचना इतनी लोकप्रिय हुई कि इनका हिन्दी अनुवाद भी शीघ्र ही प्रकाशित हो गया।

इलाचन्द्र जोशी—डायरी को अधिक साहित्यिक रूप प्रदान करने का श्रेय इलाचन्द्र जोशी को है। आपकी 'मेरी डायरी के नीरस पृष्ठ' वड़ी ही सरस रचना है।

कुछ अन्य कलाकार—कन्हैयालाल प्रभाकर, धर्मवीर भारती, जगदीश गुप्त आदि भी डायरी लेखन-कला के विकास मे योगदान दे रहे हैं।

: ११ :

इण्टरव्यू

अंग्रेजी साहित्य मे इण्टरव्यू नामक साहित्य-विधा का भी अच्छा विकास हुआ है। इण्टरव्यू उस रचना को कहते है जिसमे लेखक किसी व्यक्ति विशेष से प्रथम भेंट मे अनुभव होने वाली उसके सम्बन्ध मे अपनी क्रियाओ और प्रतिक्रियाओ को अपनी पूर्व-धारणाओ और आस्थाओ एव रुचियो से रजित कर सरस भावपूर्ण ढग से व्यजना-प्रधान शैली मे बंधे हुए शब्दो मे व्यक्त करता है। यह भी एक प्रकार का सस्मरण रूप है। सस्मरण और इण्टरव्यू मे अन्तर केवल इतना है कि सस्मरण व्यक्ति, वस्तु और घटना सबका होता है। उससे लेखक का व्यक्तिगत सम्बन्ध चाहे स्थापित हुआ हो या नही हुआ हो। किन्तु इण्टरव्यू केवल किसी व्यक्ति का ही चित्रण करता है। इण्टरव्यू के लिए यह भी आवश्यक है कि लेखक का अभीप्सित व्यक्ति से सम्पर्क भी स्थापित हुआ हो, और उससे उसकी बातचीत भी हुई हो।

हिन्दी का इण्टरव्यू साहित्य

हिन्दी मे इण्टरव्यू साहित्य बहुत कम लिखा गया है। प्रयत्न करने पर भी केवल दो-चार इण्टरव्यू लेखको के नामो से अधिक के नाम नही गिनाए जा सकते। कुछ प्रसिद्ध इण्टरव्यू लेखक इस प्रकार हैं—

पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'—आज के उदीयमान साहित्यकार कमलेशजी वास्तव मे हिन्दी के सफल इण्टरव्यू लेखक हैं। आपके इण्टरव्यू 'मैं इनसे मिला' शीर्षक सग्रह के अभिधान से दो भागो में प्रकाशित हुए है। इनमे लेखक ने २२ प्रसिद्ध साहित्यकारो से प्राप्त की भेटो का बड़ा भावात्मक, यथार्थ और प्रभावपूर्ण वर्णन किया है।

राजेन्द्र यादव—आपने रशियन कथाकार चेखव से भेंट की थी। उस भेंट का इन्होने बडा रोचक और भावपूर्ण वर्णन किया है।

अन्य इण्टरव्यू लेखक—इन दोनो कलाकारो के अतिरिक्त हिन्दी के कुछ और कलाकार भी इस दिशा मे प्रवृत्त हो रहे हैं। इन कलाकारो मे डॉ० रामचरण महेन्द्र, शिवदानसिंह चौहान, लक्ष्मीनारायण शर्मा आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

: १२ :

जीवनी-साहित्य

साहित्यिक विधाओ के अन्तर्गत जीवनियो का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। पाश्चात्य विद्वान् लिटन स्ट्रेची ने इसे 'लेखन-कला का सबसे सुकोमल और सहानुभूतिपूर्ण स्वरूप' कहा है। साहित्य की यह विधा बहुत अर्वाचीन मानी जाती है किन्तु बात ऐसी नही है। हमारी समझ मे यह काफी प्राचीन विधा है। हाँ, इतना अवश्य है कि उसका गठबन्धन साहित्यिकता मे आधुनिक युग मे ही हुआ है। इस साहित्यिक विधा के शास्त्रीय पक्ष का विवेचन अभी तक हिन्दी मे नही के बराबर मिलता है। पाश्चात्य विद्वानो ने अवश्य इसके स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। यहाँ पर हम कुछ प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वानो द्वारा दी गई पारिभाषिक व्याख्याओ का उल्लेख करेंगे।

जान्सन द्वारा दी गई जीवनी की परिभाषा—जान्सन ने जीवनी विधा के शास्त्रीय पक्ष पर एक महत्त्वपूर्ण लेख लिखा है। उस लेख मे उन्होंने इसके स्वरूप को इस प्रकार स्पष्ट किया है—"जीवनीकार का लक्ष्य जीवन की उन घटनाओं और क्रिया-कलापो का रजक वर्णन करना होता है, जो व्यक्ति विशेष की बड़ी से बडी महानता से लेकर छोटी से छोटी घरेलू बातो तक से सम्बन्धित होती है।" जान्सन की यह परिभाषा बहुत पुरानी है और आज की साहित्यिक जीवनी विधा के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट करने मे असमर्थ-सी प्रतीत होती है।

शिप्ले साहब द्वारा जीवनी का स्वरूप-विवेचन—शिप्ले साहब ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'टैक्निकल टर्म्स ऑफ वर्ल्ड लिटरेचर' नामक ग्रन्थ मे जीवनी के स्वरूप को भी स्पष्ट किया है। उन्होने लिखा है कि "जीवनी किसी व्यक्ति विशेष की जीवन-घटनाओ का विवरण है। अपने आदर्श रूप मे वह प्रयत्नपूर्वक लिखा गया इतिहास है, जिसमे व्यक्ति-विशेष के सम्पूर्ण जीवन या उसके किसी अश से सम्बन्धित बातो का विवरण मिलता है। यह आवश्यकताएँ उसे एक साहित्यिक विधा का रूप प्रदान करती है।"

शिप्ले साहब की उपर्युक्त परिभाषा भी कुछ अस्पष्ट-सी ही प्रतीत होती है।

वाइवियन डी० सोला नामक विद्वान् द्वारा जीवनी का स्वरूप-स्पष्टीकरण—इस विद्वान् ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ इंगलिश बायग्राफीज इन सेविण्टीन्थ सेन्चुरी' नामक सग्रह की भूमिका में जीवनी का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया है—"इतिहास की दृष्टि से जीवनी आलोचनात्मक, अज्ञातजन्य उत्सुकता, विवरणों के औचित्यपूर्ण

विश्लेषण और चयन पर बल देती है, साहित्य की दृष्टि से इसमे अवयव सम्बन्धी एकसूत्रता रहती है। इसमे सहृदयो की सौन्दर्यात्मक वृत्ति की परितुष्टिकारिणी विशेषता भी पाई जाती है। इतिहास और साहित्य के अतिरिक्त जीवनी व्यक्ति-विशेष का अध्ययन भी है। इस दृष्टि से उसे अनौपचारिक होना चाहिए। उसकी अभिव्यक्ति इस ढग से की जानी चाहिए कि उससे यह प्रतीत हो कि लेखक का उस व्यक्ति विशेष से जिसकी जीवनी वह लिख रहा है घनिष्ट सम्बन्ध रहा है, उससे वह बहुत बेतकल्लुफ है। उसकी इस बेतकल्लुफी की अभिव्यक्ति जीवनी मे अवश्य होनी चाहिए। यह बात दूसरी है कि बेतकल्लुफी की मात्रा के सम्बन्ध मे विद्वानों मे मतभेद हो किन्तु इस सम्बन्ध मे कोई मतभेद नही है कि जीवनी की अभिव्यक्ति बहुत स्वाभाविक और सहज गति से अथवा बेतकल्लुफी से की जानी चाहिए।"

अपना दृष्टिकोण—उपर्युक्त व्याख्या मे जीवनी को तीन तत्त्वो की त्रिवेणी ध्वनित किया गया है। एक ओर तो वह इतिहास होती है और दूसरी ओर साहित्यिकता से अनुप्राणित रहती है और तीसरी ओर वह व्यक्ति विशेष का तटस्थ पर बेतकल्लुफीपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करती है। वास्तव मे है भी यही। जीवनी साहित्यिक विधा होते हुए भी व्यक्ति विशेष की जीवन-गाथा का ऐतिहासिक अध्ययन होती है। अधिक स्पष्ट शब्दो मे कहना चाहे तो कहेगे कि जीवन-कथा वह साहित्यिक विधा है जिसमे भावुक कलाकार किसी व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन या उसके जीवन के किसी भाग का वर्णन परम सुपरिचित ढग से इस प्रकार व्यक्त करता है कि उस व्यक्ति की सच्ची जीवन-गाथा के साथ-साथ कलाकार का हृदय भी मुखरित हो उठता है। ऐतिहासिक विवरण साहित्यिक जीवनी का रूप तभी धारण करते हैं, जब ऐतिहासिक तथ्य लेखक की वैयक्तिक श्रद्धा या सहानुभूति से अनुप्राणित हो जाते हैं।

जीवनी और संस्मरण में अन्तर—जीवनी और संस्मरण मे, प्रत्यक्ष देखने में ऐसा लगता है कि कोई भेद नही है। किन्तु बात ऐसी नहीं है। यह दोनो ही स्वतन्त्र साहित्यिक विधाएँ है और दोनों मे कुछ मौलिक अन्तर है। पहली बात तो यह है कि जीवनीकार का लक्ष्य व्यक्ति-विशेष के जीवन की प्रमुख घटनाओ और परिस्थितियो आदि का सही और व्यवस्थित चित्र प्रस्तुत करना होता है किन्तु संस्मरण मे लेखक केवल उन बातो का ही चित्रण करता है जिनसे वह स्वय प्रभावित होता है। जीवनी लेखक के लिए यह आवश्यक नहीं होता कि वह जिस व्यक्ति की जीवनी लिख रहा है, उससे व्यक्तिगत रूप से बहुत अधिक परिचित ही हो। कभी-कभी वह महापुरुषो की जीवनियाँ श्रद्धाभाव से प्रेरित होकर प्राचीन उपलब्ध विवरणो के आधार पर भी लिख डालता है। किन्तु संस्मरण के लिए यह नितान्त आवश्यक होता है कि लेखक ने उस व्यक्ति या वस्तु का साक्षात्कार प्राप्त किया हो, जिसका संस्मरण वह लिख रहा है।

जीवनी और रेखाचित्र—जीवनी रेखाचित्र से भी भिन्न है। रेखाचित्र मे लेखक व्यक्ति, वस्तु, घटना आदि किसी का भी एक कल्पनारंजित चित्र स्तुत

करता है किन्तु जीवनी मे लेखक को केवल व्यक्ति विशेष की जीवन-गाथा पर ही अपना मन केन्द्रित करना पड़ता है। जीवनी के विवरणो के प्रसग मे वह श्रद्धा और सहानुभूति से तो काम ले सकता है। किन्तु कल्पना का उपयोग अधिक वाछनीय नही समझा जाता। इसी अन्तर के कारण जीवनी और रेखाचित्र दो भिन्न विधाएँ मानी जाती है।

हिन्दी का जीवनी-साहित्य और उसके विविध प्रकार

हिन्दी मे अब एक विस्तृत जीवनी-साहित्य उपलब्ध है। खेद है कि किसी भी विद्वान् ने इसका व्यवस्थित, अनुसन्धानात्मक और वैज्ञानिक विवेचन नही किया है। यहाँ पर मै प्रकृति-भेद के आधार पर जीवनियो के विविध प्रकारो और उनके उदाहरणो का उल्लेख कर रहा हूँ। मेरी समझ मे हिन्दी की सम्पूर्ण जीवनियाँ निम्नलिखित प्रकारो मे वर्गीकृत की जा सकती हैं—

(१) मध्यकाल की वे आदर्शात्मक जीवनियाँ, जिनमें लेखक, एक विशेष आदर्शात्मक ढर्रे पर सन्तो, महात्माओं आदि महापुरुषों की जीवनी का वर्णन करता रहा है—हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य मे हमे इस प्रकार की बहुत सी जीवनियाँ मिलती हैं। चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता, दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता, मूल गोसाई चरित्, कबीर परिचयी आदि सैकडो जीवनियाँ प्राप्त है। इनमे सन्तो, महात्माओ अथवा महापुरुषो की जीवन-घटनाओ का बडी श्रद्धा के साथ अतिरजनापूर्ण, अलौकिक वर्णन प्रस्तुत किये गये हैं। इस प्रकार की जीवनियाँ लिखते समय लेखक कभी-कभी श्रद्धा-भावना से इतना अधिक अभिभूत हो जाता है कि उसे अपने आराध्य के महत्त्व को व्यजित करने के लिए उनके जीवन की यथार्थ घटनाओ पर अलौकिकता की पर्त्ती चढानी पड जाती है, जिससे कि वह सच्ची जीवनी न रहकर एक प्रकार की विशेष ढर्रे पर लिखी गई कल्पित जीवनी भर रह जाती हैं। अपनी इन्ही दुर्बलताओ के कारण ये जीवनियाँ आज की साहित्यिक जीवनियो से अलग समझी जाती हैं।

(२) उपदेश-प्रधान जीवनियाँ—जीवनियो की यह कोटि भी आदर्शात्मक कोटि है। इस प्रकार की जीवनियो मे लेखक अधिकतर उन महापुरुषो की जीवन-गाथा प्रस्तुत करता है जिनका चरित्र आदर्श रूप होने के कारण समाज के लिए उपदेश रूप होता है। हिन्दी मे इस प्रकार की जीवनियो की अधिकता है। उदाहरण के लिए हम आनन्दप्रकाश जैन लिखित 'महात्मा गान्धी', 'पण्डित जवाहरलाल नेहरू', 'डॉ० राजेन्द्रप्रसाद', डॉ० राधाकृष्णन्', 'लोकमान्य तिलक', 'राजगोपालाचार्य तथा सुखदेव लिखित', 'लोकमान्य तिलक', 'लाला लाजपतराय', 'श्री अरविन्द', हरिराम रामचन्द्र दिवेकर लिखित 'सन्त तुकाराम', भीमराव गोपाल देशपाण्डे लिखित' लोकमान्य तिलक' आदि जीवनियाँ ले सकते हैं।

(३) घनिष्ठ परिचितों और सम्बन्धियों द्वारा लिखी गई जीवन-कथाएँ—बहुत सी जीवन-कथाएँ ऐसी होती है, जो व्यक्ति विशेष से पूर्ण परिचित या घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियो द्वारा लिखी जाती है। अधिक परिचित व्यक्ति द्वारा

लिखी गई जीवन-कथाओ मे या तो श्रद्धा-भावना की अतिरेकता रहती है या फिर यथार्थ चित्रण का प्राधान्य। यदि, जिस व्यक्ति की जीवनी लिखी गई है, वह व्यक्ति श्रद्धा का पात्र रहा है तो लेखक उसकी उन्ही बातो का चित्रण करेगा जो उसके चरित्र की उदात्तता द्योतित करती है और यदि वह व्यक्ति जिसकी जीवनी लिखी गई है, लेखक का सुपरिचित मित्र आदि है, तो फिर वह उसकी सबलताओ और दुर्बलताओ का सहानुभूतिपूर्ण चित्र प्रस्तुत करेगा। इनके अतिरिक्त इस प्रकार की जीवनियो का एक स्वरूप और हो सकता है, वह है लेखक का जीवनी मे प्रतिपाद्य व्यक्ति के प्रति अधिक श्रद्धा और सहानुभूति से विरहित रूप। ऐसी अवस्था मे लेखक उस व्यक्ति विशेष की, जिसकी वह जीवनी लिख रहा है, दुर्बलताओ आदि पर ही अपनी दृष्टि रखता है। किन्तु अन्तिम दो कोटि की जीवनियाँ बहुत कम मिलती है। अधिकतर श्रद्धा प्रधान जीवनियाँ ही दिखाई पड़ती हैं। हिन्दी मे इस कोटि की जीवनियो का सुन्दर उदाहरण इन्द्र विद्यावाचस्पति लिखित 'मेरे पिता' है।

(४) **साधारण-जन सम्बन्धी जीवनियाँ**—अधिकतर लोगो की प्रवृत्ति महापुरुषों की जीवनियाँ लिखने की ओर ही रही है। किन्तु इधर यथार्थवाद के अधिक प्रचार के फलस्वरूप साधारण व्यक्तियो की जीवनियाँ भी लिखी जाने लगी है। कभी-कभी यह जीवनियाँ काल्पनिक होती है। इस कोटि के जीवनी-लेखक के लिए ससार का कोई भी व्यक्ति जीवनी-लेखन के लिए अनुपयुक्त नही होता। जीवनी-लेखक की इस यथार्थवादी प्रवृत्ति ने जीवनी-क्षेत्र मे एक नई प्रगति उत्पन्न कर दी है। इस कोटि की जीवनियो मे लेखक की श्रद्धा कम और सहानुभूति की मात्रा अधिक रहती है। हिन्दी मे इस कोटि की बहुत सी जीवनियाँ उपलब्ध हैं। उदाहरण के लिए हम जैनेन्द्रकुमार जैन लिखित 'ये और वे', हर्षदेव मालवीय लिखित 'मुरली बादशाह', 'भुन-खलीफा' तथा 'ढुलकते इक्के पक्के आम' नामक जीवनियाँ ले सकते हैं।

(५) **अनुसन्धानात्मक या ऐतिहासिक जीवनियाँ**—इस कोटि के जीवनी-लेखक का लक्ष्य व्यक्ति विशेष की जीवन-गाथाओ की अज्ञात से अज्ञात घटनाओ और विवरणो को ढूँढ निकालना होता है। उन विवरणो के प्रकाश मे वह उस व्यक्ति की सच्ची जीवन-गाथा सामने रखता है। हिन्दी मे इस कोटि की जीवनी का उदाहरण अयोध्याप्रसाद लिखित 'जैन जागरण के अग्रदूत' नामक रचना है। इस रचना मे सैंतीस महापुरुषो के अनुसन्धानात्मक जीवनवृत्त दिए गए हैं।

(६) **मनोवैज्ञानिक जीवनियाँ**—इस प्रकार की जीवनियो मे अधिकतर लेखक का लक्ष्य मानव मनोविज्ञान के प्रकाश मे व्यक्ति विशेष की जीवन-गाथा की व्याख्या करना होता है। हिन्दी मे इस कोटि की बहुत सी रचनाएँ उपलब्ध हैं। उनमें रामवृक्ष बेनीपुरी लिखित 'कार्ल मार्क्स', सुखदेव लिखित 'विद्रोही सुभाष', राहुल साकृत्यायन लिखित 'स्तालिन', 'कार्ल मार्क्स, 'लेनिन', उमाशकर लिखित 'नाना फडनवीस' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

(७) कलात्मक जीवनियाँ—इधर कुछ दिनो से साहित्य क्षेत्र मे सौन्दर्यवाद की वहुत अधिक चर्चा होने लगी है। वहुत सी जीवनियाँ भी सौन्दर्यवाद से प्रभावित हो गई हैं। इस कोटि के जीवनी-लेखक व्यक्ति-विशेष के उन्ही पक्षो का उद्घाटन करते है, जो मानव की सौन्दर्यात्मक वृत्ति की परितुष्टि करने मे समर्थ है। इस कोटि की जीवनियो मे उमेश मिश्र लिखित 'विश्वकवि रवीन्द्रनाथ', स्वामी अपूर्वनाथ लिखित 'माँ शारदा', लुई फिशर लिखित 'गाधी की कहानी' और कृपलानी लिखित 'महात्मा गाधी' शीर्षक रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय है।

(८) व्यगात्मक जीवनियाँ—जीवनियो की यह कोटि अग्रेजी साहित्य मे वहुत प्रतिष्ठा पाती रही है। स्विफ्ट नामक अग्रेज लेखक इस कोटि की जीवनी-लेखन मे सिद्धहस्त थे। इस कोटि के जीवनी-लेखन मे लेखक प्रतीक योजना और कल्पना का अधिक सहारा लेता है। वह ऐसे काल्पनिक व्यक्ति का चित्र खीचता है, जो किसी व्यग को व्यजित करने मे समर्थ हो। हिन्दी मे इस प्रकार की जीवनियाँ वहुत कम दिखाई पडती हैं। इस कोटि के सस्मरण और निवन्ध तो वहुत मिलते हैं। केशवचन्द्र वर्मा लिखित 'लोमडी का मास' शीर्षक सस्मरण सग्रह व्यगात्मक ही है। रामवृक्ष वेनीपुरी लिखित 'गेहूँ और गुलाव' व्यगात्मक निवन्ध का उदाहरण है। इस प्रकार की जीवनियाँ लिखने की भी आवश्यकता है। वे समाज के लिए हितकर हो सकती हैं।

(९) वालोपयोगी जीवनियाँ—हिन्दी मे वहुत सी वालोपयोगी जीवनियाँ भी लिखी जा रही हैं। इस कोटि की जीवनियाँ सरल और रोचक भाषा मे किसी उपदेश को व्यजना करती हुई लिखी जाती हैं। इस कोटि की जीवनियो मे प्राणनाथ वानप्रस्थ लिखित 'चन्द्रशेखर आजाद', 'सम्राट् अशोक', 'सरदार भगतसिह' आदि विशेष उल्लेखनीय है।

: १३ :

आत्मकथा

जीवनी-साहित्य के सदृश ही आत्मकथा भी साहित्य की एक सरस सस्मरणात्मक विधा है। सस्मरणात्मक होते हुए भी यह विधा सस्मरण नामक साहित्यिक विधा से भिन्न है। पाश्चात्य आलोचक शिपले ने 'टकनीकल टर्मस ऑफ वर्ल्ड लिट्रेचर' नामक ग्रन्थ मे आत्मकथा और सस्मरणगत भेदो को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "यद्यपि आत्मकथा और सस्मरण देखने मे समान साहित्यिक स्वरूप मालूम पड़ते हैं किन्तु दोनो मे अन्तर है। यह अन्तर बल सम्बन्धी है। एक मे चरित्र पर अधिक बल दिया जाता है और दूसरे मे बाह्य घटनाओ और वस्तु आदि के विवरणो और वर्णनो पर ही लेखक की दृष्टि रहती है। सस्मरण मे लेखक अधिकतर उन अपने से भिन्न व्यक्तित्वो, वस्तुओ और क्रिया-कलापो आदि का सस्मरणात्मक चित्रण करता है जिनका उसे अपने जीवन मे समय-समय पर साक्षात्कार हो चुका है। इन वस्तुओ, व्यक्तियो और क्रिया-कलापो आदि के वर्णनो मे सस्मरणात्मक आनन्द होते हुए भी एक प्रकार की विश्रृखलता रहती है, आत्मकथा मे यह विश्रृखलता नही पाई जाती। उसे लेखक के जीवन का एक श्रृखलाबद्ध ऐसा विवरण कह सकते है, जिसमें वह अपने विशाल जीवन-सामग्री की पृष्ठभूमि मे से कुछ महत्त्वपूर्ण बातो को लेकर उनको व्यवस्थित ढग से सामने रखता है या फिर अपनी अन्तर्दृष्टि से उनको सस्मरण के रूप मे प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिप्ले के मतानुसार आत्मकथा मे लेखक की वर्णनाएँ विषयीगत अधिक होती हैं, विषयगत कम। इसके विपरीत सस्मरण की वर्णनाएँ विषयगत अधिक होती हैं और विषयगत कम। हमारी समझ मे आत्मकथा लेखक के जीवन की दुर्बलताओ, सबलताओ आदि का वह सतुलित और व्यवस्थित चित्रण है जो उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के निष्पक्ष उद्घाटन मे समर्थ होता है।

हिन्दी में आत्मकथा साहित्य

हिन्दी मे आत्मकथा साहित्य अभी बहुत कम रचा गया है। जो कुछ साहित्य उपलब्ध है, उसको हम प्रवृत्तिगत विभिन्नताओं के आधार पर निम्नलिखित वर्गों मे बांट सकते है।

(१) **धार्मिक प्रवृत्ति-प्रधान व्यक्तियों की आत्मकथाएँ**—ससार मे बहुत से महान् व्यक्ति हुए हैं जो अपने जीवन के प्रारम्भिक काल मे कुछ अधिक उच्छृखल रहे हैं किन्तु किन्ही विशेष प्रेरणाओ और परिस्थितियो के फलस्वरूप उनके जीवन की गतिविधि सहसा बदल गई और वे उच्चकोटि के धार्मिक व्यक्ति बन गए।

इस कोटि के व्यक्तियो के द्वारा लिखी गई आत्मकथाओ मे हमें आत्म-निवेदन और आत्म-विगर्हणा के साथ-साथ उन परिस्थितियो और घटनाओ का मार्मिक चित्रण भी मिलता है, जिन्होने उनके जीवन की गतिविधि को बदलने मे योग दिया और उनके जीवन को एक सफल जीवन बना दिया । इस कोटि की आत्मकथाओ में निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं—

(१) मेरा जीवन-प्रवाह—वियोगी हरि ।

(२) प्रवासी की आत्मकथा—स्वामी दयाल सन्यासी ।

(३) साधना के पथ पर—हरिभाऊ उपाध्याय ।

(२) राजनीतिक प्रवृत्ति-प्रधान व्यक्तियों की आत्मकथाएँ—राजनीतिक नेताओ का जीवन भी एक सघर्ष का जीवन रहता है । उत्थान और पतन उनके जीवन के दो समान महत्त्वपूर्ण पक्ष होते है । भाग्य का झकोरा उन्हे किस समय किस पक्ष की ओर ले जाकर पटकता है, यह कुछ नही कहा जा सकता । इन लोगो की आत्मकथाओ का सौन्दर्य भाग्य के इसी उत्थान और पतन की कहानी को सच्चाई से व्यक्त करने मे निहित रहता है । हिन्दी मे महात्मा गाघी की आत्मकथा, पडित जवाहरलाल नेहरू की 'मेरी कहानी' राजेन्द्रप्रसाद की 'मेरी आत्मकथा' नामक रचनाएँ इसी कोटि के अन्तर्गत आती हैं ।

(३) कलाकार के जीवन की आत्मकथाएँ—कलाकार के आत्मकथात्मक विवरणो मे भी एक विचित्र कला रहती है, एक मोहक सुरभि पाई जाती है । अलौकिक आनन्द की विचित्र प्रेपणीयता उसको अन्य कोटि की आत्मकथाओ से कही अधिक रोचक बना देती है । इस कोटि का कलाकार अपनी कला के साधना-मार्ग का भावात्मक शैली मे चित्रण करता है । यह चित्रण हमारी सौन्दर्यात्मक भावना को सोते हुए से जगा देता है । हम भी उस कलाकार के अनुरूप ही जीवन-पथ पर चल पड़ते है । कभी-कभी तो यहाँ तक देखा गया है कि कलाकार की जीवन-कथाओ को पढकर कुछ लोग उसकी दुर्वलताओं आदि का मिथ्यानुकरण करने लगते है । हिन्दी मे इन कोटि की प्रमुख आत्मकथाएँ इस प्रकार है—

देवेन्द्र सत्यार्थी कृत—'चाँद सूरज के वीरन' ।

कन्हैयालाल मुंशी रचित—'स्वप्न सिद्धि की खोज मे'

बाबू गुलाबराय लिखित—'हमारी जीवन-असफलताएँ' आदि-आदि ।

इनके अतिरिक्त कुछ और प्रकार की आत्मकथाएँ भी हो सकती हैं । हिन्दी मे अभी यह साहित्य बहुत अविकसित है । इसलिए उन प्रकारो की चर्चा भी यहाँ नहीं की जा रही है ।

: १४ :

यात्रा-साहित्य

यात्रा-साहित्य की परम्परा बहुत प्राचीन है। संस्कृत साहित्य मे हमें मेघदूत और रघुवश आदि महाकाव्यो मे इसकी झलक मिलती है। विदेशी यात्रियो ह्वेनसाग, इब्नबतूता, टैवरनियर, फाह्यान आदि ने भी देश के भिन्न-भिन्न भागो मे घूमकर जो अनुभव किये थे, उन्हे लिपिवद्ध किया था। आज उनके वे अनुभव प्राचीन ज्ञान के भडार प्रतीत होते हैं—इस प्रकार हमें बहुत पहले से ही यात्रा-साहित्य की दो परम्पराएँ मिलती हैं—एक वह जो साहित्य क्षेत्र मे उपलब्ध है और दूसरी वह जो इतिहास की सम्पत्ति बनी हुई है। यहाँ पर हम हिन्दी मे उपलब्ध साहित्यिकता-प्रधान यात्रा-साहित्य पर विचार करेगे।

साहित्यिक यात्रा वर्णनो मे लेखक की प्रकृतिगत विशेषताएँ प्रतिविम्बित मिलती हैं। उसकी फक्कडता, घुमक्कडता, मस्ती और उल्लास, उसके यात्रा सम्बन्धी विवरणो मे प्राण-प्रतिष्ठा कर देते है। साहित्यिक विवरण ऐतिहासिक विवरणो मे इसी बात मे भिन्न होते हैं। ऐतिहासिक विवरणो मे लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति बहुत कम हो पाती है। वह एक तटस्थ दृष्टा के रूप मे जो कुछ देखता है, उसी का वर्णन करता चला जाता है। किन्तु साहित्यिक दृष्टा तटस्थ नही रह पाता। वाह्यजगत् की प्रतिक्रिया से उसके हृदय मे जो भावनाएँ जगती है, वह उनको अपनी सम्पूर्ण चेतना के साथ व्यक्त कर देता है, जिससे शुष्क विवरण भी इतने मधुर और भाव-विभोर करने वाले हो जाते है कि उनका पाठक तन्मय होकर लेखक से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। वह लेखक की अनुभूतियो मे, उसकी मस्ती मे इतना अधिक डूब जाता है कि उसे अपना आत्मवोध नही रहता। किन्तु जव उस आनन्द की अवस्था से वह किन्ही वाह्य कारणो और विघ्नो से जगता है तो वह फिर उस आनन्द के लिए तड़प उठता है। इसके लिए वह लेखक के अनुरूप ही स्वय यात्रा का रस लेने के लिए यात्री बन जाता है। तभी तो राहुलजी को लिखना पडा था कि 'मेरी यात्राओ को पढकर कितने ही माता-पिताओ को अपने सपूतो से वचित होना पडा होगा।' (किन्नर देश से) यही आनन्द, यही उल्लास यात्रा-साहित्य मे साहित्यिकता की प्रतिष्ठा करता है।

हिन्दी का यात्रा-साहित्य

हिन्दी मे यात्रा-साहित्य बहुत कम लिखा गया है। जो कुछ साहित्य उपलब्ध है, उसका अध्ययन प्रवृत्ति भेद से निम्नलिखित प्रकारो मे किया जा सकता है।

(१) सूचना और विवरणप्रधान यात्रा-साहित्य—यह साहित्य अधिकतर निवन्ध शैली मे लिखा गया। इस कोटि के यात्रा-साहित्य मे उन तमाम स्थानो, व्यक्तियो और वस्तुओ आदि का यथातथ्य वर्णन रहता है जिन्हे वह अपनी यात्रा के बीच मे देखता, सुनता और समझता है। हिन्दी मे इस कोटि के यात्रा साहित्य सम्बन्धी कुछ ग्रन्थो के नाम इस प्रकार है —

(१) किन्नर देश मे—राहुल साकृत्यायन।
(२) हिमालय परिचय—राहुल साकृत्यायन।
(३) आज का जापान—भदन्त आनन्द कौसल्यायन।
(४) सुदूर दक्षिण मे—सेठ गोविन्ददास।
(५) पृथ्वी-परिक्रमा—गोविन्ददास।

(२) प्रकृति के सम्पर्क से उद्भूत लेखक के हृदय के निर्वाध उल्लास की अभिव्यक्ति करने वाला यात्रा-साहित्य—इस कोटि के यात्रा साहित्य मे सूचनात्मक विवरणो की अपेक्षा भिन्न-भिन्न स्थानो, व्यक्तियो और वस्तुओ के साक्षात्कार से उद्भूत होने वाले लेखक के हृदय के उल्लास की अभिव्यक्ति प्रधान रहती है। इस प्रकार का साहित्य अधिकतर संस्मरणात्मक रोचक शैली मे लिखा जाता है। इसमे लोकरंजन की शक्ति अपेक्षाकृत अधिक रहती है। हिन्दी मे इस कोटि के यात्रा सम्बन्धी कुछ निम्नलिखित ग्रन्थ उल्लेखनीय है —

(१) लन्दन से पेरिस की सैर—वेणी शुक्ल।
(२) काश्मीर—गोपाल नेवटिया।
(३) सागर प्रवाह—गोपाल नेवटिया।
(४) वह दुनिया—भगवतशरण उपाध्याय।
(५) पैरो मे पख बाँधकर—रामवृक्ष बेनीपुरी।
(३) शिवालिक की घाटियो में—श्रीनिधि सिद्धान्तालंकार।
(७) यूरोपा—देवेश दाम।
(८) रजवाडा—देवेश दाम।

(३) जीवन-दर्शन का सकेत करने वाले यात्रा-विवरण—हिन्दी मे बहुत सा ऐसा यात्रा-साहित्य सृजित किया जा रहा है जिसमे सूचनाओ तथा लेखक के उल्लास की अपेक्षा जीवन-दर्शन के प्रति लेखक के दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति पर अधिक बल रहता है। इस कोटि का लेखक बाह्य वस्तुओ, व्यक्तियो और पदार्थों के बीच, एक अनिर्वचनीय सदेश की झलक पाता है। यह अनिर्वचनीय सदेश ही साहित्य मे प्राण-प्रतिष्ठा करता है। सच तो यह है कि अनुभूतिगत उल्लास और विचारसूत्र दर्शन का इतना सुन्दर समन्वय जितना कि इस कोटि के यात्रा-साहित्य मे दिखाई पडता है, शायद ही किसी साहित्यांग मे मिल सके। इस कोटि की कुछ प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार है—

(१) धरती गाती है—देवेन्द्र सत्यार्थी।
(२) यौरप के झकोरे मे—डॉ० सत्यनारायण।
(३) तूफानो के बीच—रांगेय राघव।

(४) लोहे की दीवारो के दोनो ओर—यशपाल ।

(५) रथ के पहिये—देवेन्द्र सत्यार्थी

(६) राह बीती—यशपाल ।

(४) **डायरी के रूप मे लिखे गये सस्मरणात्मक यात्रा-विवरण**—हिन्दी में बहुत से ऐसे भी यात्रा सम्बन्धी ग्रन्थ उपलब्ध है, जिनकी रचना डायरी शैली मे की गई है। यह ग्रन्थ डायरी के ढग पर लिखे गए हैं। जिस प्रकार डायरी मे हम लम्बी-चौडी बातो के लिए सकेत शब्दो का प्रयोग करते हुए अत्यन्त सक्षेप मे सारी आवश्यक बातें नोट कर लेते हैं, साथ ही साथ समय-समय पर वस्तु या व्यक्ति विशेष की प्रतिक्रिया के रूप उद्भूत होने वाली अनुभूतियो को भी टाँक लेते हैं, उसी प्रकार इस कोटि को यात्रा-साहित्य का लेखक यात्रा के बीच मे दिखाई पड़ने वाली समस्त भौगोलिक एव सास्कृतिक सूचनाओ को टाँकता चलता है और साथ ही साथ बीच-बीच मे उनकी साक्षात्कार जनित प्रतिक्रिया के फलस्वरूप अपने हृदय मे उत्पन्न होने वाले भावो और विचारो को भी स्वच्छन्द गति से सहज रूप में अभिव्यक्त कर देता है। इस कोटि के उदाहरण के रूप मे हम राहुल साकृत्यायन लिखित—'यात्रा के पन्ने'—नामक रचना ले सकते हैं।

(५) **व्यक्तिगत पत्रों के रूप में लिखा गया यात्रा-साहित्य**—हिन्दी के कुछ लेखकों ने यात्रा-साहित्य की सर्जना कुछ पात्रो के रूप मे भी की है। इन पात्रो की लेखन-शैली सहज, सरस और आत्मीय होती है। उनकी यह सहजता, सरसता और आत्मीयता ही इस कोटि के साहित्य को लोकप्रिय बना देती है। इस कोटि के उदाहरण के रूप मे डॉ० वीरेन्द्र वर्मा लिखित 'योरुप के पत्र' ले सकते हैं।

इस प्रकार हिन्दी मे हमे विविध शैलियो मे लिखा यात्रा-साहित्य मिलता है। हमे यह कहने मे सकोच नहीं है कि यह साहित्य अभी अपनी शैशवावस्था मे है। सरस साहित्य के सृष्टाओ को इस साहित्य के पोषण और विकास की ओर अधिक सजग और जागरूक होना चाहिए।

: १५ :

पत्र-साहित्य

जीवन मे प्रत्येक व्यक्ति विशेषकर के प्रत्येक महान् व्यक्ति नित्यप्रति अपने परिचित और अपरिचित मित्रो, सम्बन्धियो और उपासको के अनेक पत्र प्राप्त करता है। उनमे से बहुत से पत्रो का वह उत्तर भी देता है। अपने उत्तर के बीच मे वह पत्र-लेखको के द्वारा उठायी गयी समस्याओ के सुलझाव आदि पर भी अपने विचार प्रकट करता है। कभी-कभी वह पत्रो के उत्तरो मे अपने अनुभवो, विचारो और दृष्टिकोणो को भी निस्सकोच भाव से व्यक्त कर देता है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति का अपना अन्तरग जीवन भी रहता है। महान् व्यक्ति भी इसका अपवाद नही होते। मानव-शरीर धारण करके वे भी अनेक दुर्वलताओ का शिकार बनते हैं। वे दुर्वलताएँ प्राय श्रद्धातिरेक के कारण उपेक्षा अथवा विस्मरण के गर्त मे लुप्त हो जाती है। किन्तु उसके साहित्य को उन दुर्वलताओ को समझे विना सरलता से नही समझा जा सकता। प्रत्येक मनुष्य की आत्मगत दुर्वलताएँ यदि कही अधिक से अधिक निस्सकोच भाव से अभिव्यक्त मिलती हैं, तो वह मित्रो, स्नेहियो और घनिष्ठ परिचितो को लिखे गए पत्रो मे ही मिलती हैं। अतएव अनुसन्धान-कर्त्ताओ को इन पत्रो को प्रकाश मे लाना चाहिए। और इस साहित्य को स्थायी साहित्य के रूप मे प्रतिष्ठित करना चाहिए। साहित्य क्षेत्र मे पत्रो का क्या महत्त्व है, इस पर पाश्चात्य विचारको ने भी वहुत कुछ लिखा है—इस सम्बन्ध मे डाक्टर जान्सन के शब्द उद्धरणीय हैं। उन्होने अपनी शिष्या मिसेज थ्रेल को एक वार लिखा था—पत्र पत्र-लेखक के हृदय का दर्पण होते हैं। उसके हृदय मे जो कुछ भी होता है वह अपने वास्तविक रूप में पत्रो मे स्पष्ट रूप मे प्रतिविम्वित हो जाता है। इसी प्रकार रिचार्डसन ने भी लिखा था कि पत्र पत्र-लेखक के जीवन का अध्ययन करने मे एक मात्र प्रामाणिक आधार होते है। खेद है कि जिस साहित्य का इतना अधिक महत्त्व है, उस साहित्य के प्रति हमारे हिन्दी के विद्वान् अत्यधिक उदासीन है। इस दिशा मे हिन्दी मे जो कुछ प्रयास किया गया है वह एक प्रकार से नहीं के वरावर है। इस क्षेत्र मे केवल दो-एक प्रयास ही उल्लेखनीय हैं। इनमे वैजनाथसिंह विनोद का प्रयास अग्रगण्य है। इन्होने 'द्विवेदी पत्रावली' नाम से द्विवेदीजी के कुछ पत्रो का सग्रह प्रकाशित किया है। इनके अतिरिक्त हरिशकर शर्मा द्वारा सम्पादित 'पद्मसिंह शर्मा' के पत्र भी उल्लेखनीय है। इस दिशा मे अनुसन्धान की वडी आवश्यकता है। अनुसन्धानकर्त्ताओ को चाहिए कि वे एक-एक काल को लेकर उस काल के लेखको के पत्रो की खोज करके उनका सम्पादन और प्रकाशन करावे। इससे उनके रचनात्मक साहित्य के अध्ययन मे वडी सहायता मिलेगी।

पद्यात्मक शैली में लिखा हुआ काल्पनिक पत्र-साहित्य—पत्र-साहित्य का यह एक दूसरा पक्ष है। सफल कलाकार कल्पित पत्रो की सर्जना करके सरस साहित्य की श्रीवृद्धि कर सकते हैं। भारतेन्दुकालीन लेखक वालमुकुन्द गुप्त ने 'शिवशम्भू का चिट्ठा' तथा विशम्भर शर्मा ने 'कौशिक', 'दुवेजी की चिट्ठियाँ', जवाहरलाल नेहरू ने 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' आदि रचनाएँ लिखकर इस कोटि के साहित्य की श्रीवृद्धि की है। किन्तु यह प्रयास बहुत कम है। योग्य लेखको को इस दिशा मे अवश्य प्रवृत्त होना चाहिए। इस साहित्य के लिए आज के व्यस्त युग मे अच्छा अवकाश है।

: १६ ·

संलाप साहित्य

नरम साहित्य का एक स्वरूप सलापात्मक भी होता है। यह सलाप स्वतन्त्र रूप से लिखे जा सकते हैं। स्वतन्त्र सलापो मे वडी-वडी गूढ वातो का सरल से सरल ढग मे विश्लेपण किया जा सकता है। हमारे प्राचीन साहित्य में नलाप साहित्य के सृजन की अच्छी परम्परा थी। इस साहित्य का वीजारोपण हमे ऋग्वेद मे मिलता है। वहाँ पर यम-यमी सवाद, पुरुरवा-उर्वशी सवाद आदि अनेक स्वतन्त्र सलाप उपलव्ध होते हैं। वे वैदिक साहित्य की सरस निधि हैं। वैदिक काल के वाद मलाप साहित्य की परम्परा का पोपण हमे तन्त्र साहित्य मे मिलता है। अधिकतर तन्त्र ग्रन्थ, विशेप करके शैव शाक्त तन्त्र ग्रन्थो मे हमे शिव और पार्वती के सलापो के सहारे ही गूढ दार्शनिक विपयो का विश्लेपण मिलता है। यह सवाद परम्परा यदि साहित्य मे अपनायी गई होती तो एक सरस साहित्यिक विधा का स्वतन्त्र विकास हो सकता था। तन्त्र साहित्य के वाद सस्कृत साहित्य मे भी यह परम्परा लुप्त हो गई।

हिन्दी साहित्य मे स्वतन्त्र सलाप वहुत कम मिलते हैं। इस दिशा मे सवसे महत्वपूर्ण प्रयास श्री व्योहार राजेन्द्रसिंह का है। इन्होंने अपनी एक रचना 'सलाप' के नाम से प्रकाशित की है। इसमे १५ स्वतन्त्र सलाप दिए हुए है जिनमे रोचक घटनाओ, गम्भीर वातो का सरस और सरल शैली मे भावपूर्ण ढग से वर्णन किया गया है। इस दिशा मे और भी लेखको को प्रवृत्त होना चाहिए और साहित्य की इस विधा के विकास मे योग देना चाहिए।

: १७ .

वार्षिकी साहित्य

अंग्रेजी मे वार्षिकी साहित्य का अच्छा प्रचलन है। यद्यपि वार्षिकी नामक रचनाएँ शुद्ध साहित्य के अन्तर्गत नही आती। वे इतिहास के समीप अधिक हैं और इतिहास के कम। किन्तु सस्मरणात्मक साहित्य की वह श्रीवृद्धि करती है। हिन्दी लेखको ने इस ओर बिलकुल ध्यान नही दिया है। यदि यह शुष्क ऐतिहासिक विधा सरस कलाप्रिय साहित्यिको के हाथ मे पड जाय तो हो सकता है कि यह एक स्वतन्त्र साहित्यिक विधा के रूप में पनप सके। हिन्दी में अभी तक इस दिशा मे सबसे अधिक उल्लेखनीय प्रयास डॉ० महादेवशाह का है। इन्होने सन् ५२ की वार्षिकी लिखी थी। इसमे ३५० विषयो का सकलन है।

: १८ :

पत्रकारिता

पत्रकारिता साहित्य का बडा ही प्रतिष्ठित और दायित्वपूर्ण अग है। यद्यपि पत्र-पत्रिकाओ का अधिकाश साहित्य स्थायी नही समझा जाता है, किन्तु बहुत सी दृष्टियो मे वह स्थायी साहित्य से भी अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। हमारे नित्यप्रति के जीवन की जो झाँकी इस साहित्य मे दृष्टिगोचर होती है वह स्थायी साहित्य मे इस रूप मे नही मिलती। हमारे दिन-प्रतिदिन के जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने के कारण इस साहित्य का महत्त्व भी नित्य साहित्य से भी अधिक है। साथ ही साथ इस प्रकार के साहित्य सृष्टाओ का दायित्व भी स्थायी साहित्य सृष्टाओ के दायित्व की अपेक्षा अधिक रहता है। पत्रकार का सबसे पवित्र कर्त्तव्य अपने साहित्य मे सत्य की सुरक्षा पर बल देना होता है। स्थायी साहित्य मे सत्य के जिस स्वरूप पर बल दिया जाता है वह इस साहित्य के सत्य के स्वरूप से थोडा भिन्न होता है। इस साहित्य का सत्य एक ओर तो लोक सत्य से सम्बन्धित रहता है और दूसरी ओर काव्य सत्य से भी अपना गठबन्धन किए रहता है। इस साहित्य मे काव्य सत्य को उसी सीमा तक अपनाया जाता है जहाँ तक वह जनता मे किसी भाँति की भ्रान्ति न उत्पन्न करे। समाचारपत्रो का सत्य पूर्ण लौकिक सत्य ही होता है। उसकी अभिव्यक्ति करते समय लेखक को बहुत अधिक भावना मे नही बहना चाहिए। ऐसा होने से समाज मे मिथ्यात्व का प्रचार हो सकता है। उदाहरण के लिए मान लीजिए कोई दुर्घटना हुई। उस दुर्घटना मे दो-चार लोगो को सामान्य क्षति पहुँची, किन्तु पत्रकार ने काव्य सत्य से अनुप्रेरित होकर बडे-बडे शीर्षक मे 'भयकर दुर्घटना, सहस्रो व्यक्ति घायल' जैसी विज्ञप्ति दे दी तो इसमे कोई सदेह नही कि उस पत्र का क्षण भर के लिए विक्रय कुछ अधिक बढ जायगा किन्तु यह विज्ञप्ति काव्य सत्य के रूप मे न ग्रहण करके लोक सत्य के रूप मे ही ग्रहण की जावेगी। लोक को जब इसके मिथ्यात्व का भयकर रूप ज्ञात होगा तो वह उस पत्र और उसके सपादक दोनो के प्रति उदासीन होने लगेगे। कहने का अभिप्राय यह है कि पत्र-पत्रिकाओ के साहित्य का सत्य शुद्ध स्थायी साहित्य के सत्य के बिलकुल अनुरूप नही हो सकता। उसे लौकिक सत्य की रक्षा के साथ-साथ ही काव्य सत्य की सीमा का स्पर्श करना पडेगा। पत्रकार को केवल सत्य के स्वरूप की सुरक्षा का ही ध्यान नही रखना पडेगा वरन् उसे साहित्य के शिव और सौन्दर्य तत्त्वो को भी कुछ अधिक वास्तविक रूप मे जनता के सामने लाना पडेगा। इसके लिए उसे जनरुचि और जनकल्याण भावनाओ के मनोविज्ञान से पूर्ण परिचित होना पडेगा। जो पत्रकार इन भावनाओ के मनोविज्ञान से परिचित नहीं होते वे इस साहित्य की रचना मे कदापि

सफल नही होते। वास्तव मे पत्र-पत्रिकाओ का साहित्य हमारे प्रत्यक्ष जीवन को बल प्रदान करने वाला वह अव्यर्थ शस्त्र है जिसके समुचित प्रयोग मे हम जन-जीवन की चेतना की गतिविधि तक बदलने मे समर्थ होते है।

हिन्दी के पत्र-पत्रिका साहित्य का सक्षेप विकास-क्रम

पत्र-पत्रिकाओ का साहित्य बहुत अर्वाचीन है। हिन्दी में इस साहित्य का शिलान्यास सन् १८२६ के आस-पास हुआ था। 'उदन्त मार्त्तण्ड' हिन्दी की पहली पत्रिका है। इसका प्रकाशन १८२६ मे ही प्रारम्भ हुआ था। इससे पहले जो पत्र-पत्रिकाएँ गजट आदि के रूप मे प्रकाशित हुए थे वे अधिकतर अंग्रेजी मे थे। अतएव हिन्दी पत्रो के इतिहास के प्रसग मे उनकी चर्चा नही की जा रही है। उदन्त मार्त्तण्ड से पहले अग्रेजी के ही गजट आदि प्रकाशित होने प्रारम्भ नही हो गये थे वरन् फारसी के भी कुछ पत्र तैयार किए जाने लगे थे। १८१० मे मौलवी इकराम अली ने फारसी मिश्रित उर्दू मे 'हिन्दुस्तानी' नामक पत्रिका प्रकाशित की। उर्दू-फारसी के कुछ और पत्र पत्रिकाओ के प्रचार के प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं, किन्तु यहाँ पर उन सबका उल्लेख करना हमारा लक्ष्य नही हैं। उदन्त मार्त्तण्ड से पहले बगला मे भी पत्रकारिता का श्रीगणेश हो चुका था। गगाकिशोर भट्टाचार्य सन् १८१६ मे ही 'बगाल गजट' का प्रवर्त्तन कर चुके थे। बगाल गजट के अतिरिक्त बगला के 'समाचार दर्पण', 'समाचार चन्द्रिका', 'सवाद कौमुदी' आदि पत्र 'उदन्त मार्त्तण्ड' से पहलें ही प्रकाश मे आ चुके थे। इस प्रकार हम देखते है कि हिन्दी पत्रकारिता की प्रतिष्ठा अग्रेजी, उर्दू, फारसी और बगला की पृष्ठभूमि पर हुई थी। 'उदन्त मार्त्तण्ड' के सम्पादक पण्डित जुगलकिशोर थे। यह पत्र साप्ताहिक था। सम्पादक के कथनानुसार इसकी भाषा मध्यदेशीय थी। दुर्भाग्यवश यह पत्र एक वर्ष से अधिक नही चल सका। इसका कारण बहुत कुछ ईसाई मिशनरियो की प्रतिस्पर्द्धा-भावना थी जो यह समझते थे कि इसके प्रचार से उनके ईसाई धर्म-प्रचार मे बाधा पडेगी। इस प्रकार हिन्दी का पहला पत्र 'उदन्त मार्त्तण्ड' उदय भी हुआ और एक वर्ष बाद अस्त भी हो गया।

(१) **हिन्दी पत्रकारिता का प्रारम्भिक काल (१८२६-१८७३)**—'उदन्त मार्त्तण्ड' के अस्त हो जाने पर भी हिन्दी पत्रकारिता की अमर ज्योति क्षीण नही हो सकी। बहुत से साहसी पत्रकार लोग उस अमर ज्योति को जीवित रखने का समय-समय पर प्रयास करते रहे। १८२६ से लेकर १८७३ के बीच तक 'उदन्त मार्त्तण्ड' के अतिरिक्त कुछ निम्नलिखित हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित की गई—

(१) वग दूत, (२) प्रजामित्र, (३) बनारस अखबार, (४) ज्ञानदीप, (५) जगत दीपक भास्कर, (६) सुधारक, (७) साम्य दण्ड मार्त्तण्ड, (८) बुद्धि प्रकाश, (९) समाचार सुधा वर्षण, (१०) प्रजा-हितैषी, (११) सर्व हितकारक, (१२) सूरज प्रकाश, (१३) जग लाभ चिन्तक, (१४) प्रजा हित, (१५) सर्वोपकारक, (१६) लोकमित्र, (१७) भारत खण्डामृत, (१८) तत्त्वबोधिनी पत्रिका, (१९) ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका, (२०) सोम प्रकाश, (२१) सत्य-दीपक, (२२)

वृत्तान्त विलास, (२३) ज्ञान दीपक, (२४) कवि वचन सुधा, (२५) विद्या विलास, (२६) वृत्तान्त दर्पण, (२७) विद्यादर्श, (२८) ब्रह्म ज्ञान प्रकाश, (२९) पाप-मोचन, (३०) जगदानन्द, (३१) जगत प्रकाश, (३२) बुद्धि-विलास, (३३) हिन्दू प्रकाश, (३४) प्रयागदूत, (३५) प्रेम-पत्र और (३६) बोधा समाचार।

इनके अतिरिक्त भी कुछ छोटे-मोटे और पत्र प्रकाशित हुए थे जिनकी भाषा अधिकतर हिन्दुस्तानी या उर्दू थी। जैसे बनारस अखबार, आगरा अखबार, अलमोड़ा अखबार आदि। उपर्युक्त पत्र अधिकतर मासिक थे। कुछ थोड़े से साप्ताहिक थे और दैनिक तो सम्भवतः दो-एक ही थे। दैनिकों में 'समाचार-सुधा वर्षण' की विशेष ख्याति थी। इन पत्र-पत्रिकाओं की भाषा की कोई निश्चित व्यवस्था नहीं थी। कुछ पत्र-पत्रिकाएँ तो द्विभाषीय थे और कुछ पञ्चभाषीय तक थे जिनमें हिन्दी का प्रयोग भी किया जाता था। उनकी हिन्दी बहुत साधारण कोटि की और शिथिल होती थी। सम्भवतः इन्हीं कारणों से यह पत्र-पत्रिकाएँ अधिक दिन जीवित न रह सकीं।

(२) हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का विकास-युग (१८७३-१९००)—१८७३ से लेकर १९०० तक हिन्दी पत्रकारिता का विकास-युग माना जा सकता है। इस विकास-युग के सबसे प्रमुख पत्र 'हरिश्चन्द्र मैगेजीन' और 'सरस्वती' हैं। पहले से इस युग का श्रीगणेश हुआ था और दूसरे से इस युग का पर्यवसान। 'हरिश्चन्द्र मैगेजीन' का प्रवर्त्तन १८७३ में किया गया था जो एक वर्ष बाद 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के नाम से प्रकाशित होने लगी।। इस विकास-युग में ३५० से ऊपर पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाश में आईं। संख्या में इतने अधिक होते हुए भी सामग्री और स्वरूप की दृष्टि से केवल कुछ ही पत्र उच्चकोटि के कहे जा सकते हैं। जिस प्रकार हिन्दी के अन्य स्वरूपों के जन्मदाता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र माने जाते हैं, उसी प्रकार पत्रकारिता के भी वही प्राण प्रतिष्ठापक कहे जा सकते हैं। उन्होंने अपने जीवन-काल में स्वयं कई पत्रों का प्रवर्त्तन किया था जिनमें 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र मैगेजीन', 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका,' 'बालाबोधिनी', 'स्त्री जन की प्यारी' आदि के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं। भारतेन्दुजी सत्य के निर्भीक समर्थक पत्रकार थे। उन्होंने पत्रकारिता क्षेत्र में एक नई जागृति पैदा कर दी थी और इस दिशा में पत्रकारों के लिए एक आदर्श मार्ग प्रदर्शन किया था। उनके प्रयास और प्रेरणा से हिन्दी में सैकड़ों पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हुए जिनमें बालकृष्ण भट्ट द्वारा सम्पादित 'हिन्दी-प्रदीप', बद्री-नारायण चौधरी 'प्रेमघन' द्वारा सम्पादित 'आनन्दकादम्बिनी', बाबू जगन्नाथदास द्वारा सम्पादित 'साहित्य सुधानिधि' विशेष उल्लेखनीय हैं। हिन्दी की सबसे महत्त्व-पूर्ण साहित्यानुसन्धान पत्रिका 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का प्रकाशन भी इसी विकास-युग में हुआ था। यह पत्रिका १८९५ में प्रकाशित हुई थी। इस विकास-युग के अस्त होते-होते सन् १९०० में 'सरस्वती' का प्रकाशन हुआ। हिन्दी साहित्य की महान् पत्रिकाओं में 'सरस्वती' का स्थान बहुत प्रतिष्ठित माना जाता है। इसके प्रकाशन से हिन्दी पत्रकारिता क्षेत्र में एक नए युग की चेतना का उदय हुआ।

(३) हिन्दी पत्रकारिता का मंथरगति काल (१९००—१९२०)—सन्

१९०० से लेकर सन् १९२० का समय हिन्दी पत्रकारिता के लिए सख्या की दृष्टि से चाहे महत्त्वपूर्ण न हो किन्तु कला और सामग्री की दृष्टि से अवश्य महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है । इस युग मे नयी पत्र-पत्रिकाओ का प्रवर्त्तन बहुत कम हुआ । केवल 'अभ्युदय', 'प्रताप', 'कर्मयोगी', 'हिन्द केसरी', 'स्वतन्त्र', 'विश्वमित्र', 'आज', 'वर्त्तमान' आदि कई प्रसिद्ध पत्र प्रकाश मे आए। इनमें दैनिक अधिक थे, मासिक कम । मासिक पत्रो मे 'सरस्वती' ने अपने स्तर का और भी अच्छा विकास किया। और वह हिन्दी की श्रेष्ठ मासिक पत्रिका के रूप मे प्रकाशित रही । इस युग की पत्र-पत्रिकाओ मे हमे राजनैतिक चेतना, अधिक प्रधान मिलती है, साहित्यिक चेतना कुछ शिथिल पड चली थी। इसका कारण सम्भवत प्रथम महायुद्ध था।

(४) **हिन्दी पत्रकारिता का स्वर्ण-युग (१९२० से आज तक)**—सन् १९२० के बाद से हिन्दी पत्रकारिता का स्वर्ण-युग प्रारम्भ होता है। इस युग मे हिन्दी पत्रकारिता का बहुमुखी विकास हुआ । साहित्यिक, राजनैतिक, सामाजिक, मनोरजक, धार्मिक, जातीय आदि विविध धाराओ मे हिन्दी पत्रकारिता प्रवाहित हुई ।

हिन्दी के प्रमुख प्रकाशित साहित्यिक पत्र

अखण्ड ज्योति—इसका प्रकाशन १९३९ मे प्रारम्भ हुआ था। यह मासिक पत्रिका है। इसके सम्पादक श्रीराम शर्मा आचार्य है। इसका पता है—अखण्ड ज्योति प्रेस, मथुरा ।

आजकल—यह राजकीय मासिक पत्र है। इसका प्रकाशन १९४५ से प्रारम्भ हुआ है। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी इसके सम्पादक रह चुके है। इसका 'गाधी' नामक विशेषाक विशेष महत्त्व का है। इसका वार्षिक मूल्य ६ रु० है । इसका पता प्रकाशन विभाग, ओल्ड सैक्रेटेरियेट, दिल्ली है।

इडियन टाइम्स—यह विदेश मे प्रकाशित होने वाला हिन्दी का मासिक पत्र है। इसका पता है—इडियन टाइम्स प्रेस, पोस्ट बाक्स ३४१, सूबा फीजी।

कल्पना—यह साहित्यिक मासिक पत्र है । इसका प्रकाशन भारत प्रेस, जीरो रोड, इलाहाबाद से होता है। इसी नाम का एक दूसरा मासिक पत्र और भी है। वह मेरठ से प्रकाशित हो रहा है ।

चाँद—यह प्रसिद्ध साहित्यिक मासिक पत्र है। इसका प्रकाशन १९२३ में प्रारम्भ हुआ था। किसी समय महादेवी वर्मा इसकी सम्पादिका थी। इसका पता है—पोस्ट बाक्स नम्बर ३, इलाहाबाद ।

नागरी प्रचारिणी पत्रिका—इसका प्रकाशन जून १८९६ से प्रारम्भ हुआ था। २४ वर्षो तक यह मासिक पत्रिका रही। बाद को त्रैमासिक हो गई। बडे-बडे धुरन्धर विद्वान् इसके सम्पादक रह चुके हैं। कुछ सम्पादको के नाम क्रमश गौरीचन्द्र हीराचन्द्र ओझा, मुशी देवीप्रसाद, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, श्यामसुन्दरदास,

रामचन्द्र शुक्ल, केशवप्रसाद मिश्र, मगलदेव शास्त्री, आचार्य पद्मनारायण विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि हैं। इसका वार्षिक मूल्य १० रु० है किन्तु सदस्यो से ३ रु० लिये जाते हैं।

माधुरी—इसका प्रकाशन १९२१ मे प्रारम्भ हुआ था। यह साहित्यिक मासिक पत्रिका है। दुलारेलाल भार्गव, प्रेमचन्द, कृष्णबिहारी मिश्र आदि विद्वान् इसके सम्पादक रह चुके हैं। इसका पता है—नवल किशोर प्रेस, लखनऊ।

राष्ट्रवाणी—यह प्रगतिशील मासिक पत्र है। इसका पता है—गोला दीनानाथ, बनारस।

विशाल भारत—यह भी साहित्यिक मासिक है। इसका प्रकाशन १९२८ से प्रारम्भ हुआ था। बनारसीप्रसाद चतुर्वेदी इसके सम्पादक रह चुके हैं। इसके बहुत से सुन्दर विशेषाक निकल चुके हैं। इन विशेषाको मे पद्मसिंह शर्मा अक और कला अक विशेष महत्त्व के हैं। इसका पता है—१२०/२, अपर सर्कुलर रोड, कलकत्ता।

विश्व-भारती—इसका प्रकाशन १९४२ से आरम्भ हुआ था। यह एक त्रैमासिक पत्र है। श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वान् इसका सम्पादन-भार वहन कर चुके हैं।

विश्व-मित्र—यह मासिक पत्र सन् १९३२ से प्रकाशित होना आरम्भ हुआ है। सामयिक समस्याओ से युक्त होना इसकी एक विशेषता है। इसका पता है—७४ धर्मतल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता।

विश्ववाणी—यह साहित्यिक कम और सास्कृतिक अधिक है। इसका प्रकाशन १९४० मे प्रारम्भ हुआ था। इसका बौद्ध सस्कृति अक विशेष प्रसिद्ध है। इसका पता है—साउथ मलाका, इलाहाबाद।

वीणा—यह मध्यभारतीय हिन्दी साहित्य-समिति की प्रमुख मासिक पत्रिका है। इसका प्रकाशन १९२४ से प्रारम्भ हुआ था। इसका पता है—तकोगज, इन्दौर।

वीर अर्जुन—इसका प्रकाशन १९३४ से प्रारम्भ हुआ था। १९४२ मे यह किन्ही कारणो से बन्द हो गया था। किन्तु १९४३ से इसका प्रकाशन फिर से प्रारम्भ कर दिया गया। यह साप्ताहिक पत्र है। इसके सम्पादक श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति, श्री कृष्णचन्द्र विद्यालकार आदि विद्वान् रह चुके है। इसका पता है—मथुरा रोड, नई दिल्ली।

ब्रज-भारती पत्रिका—ब्रज साहित्यमण्डल की यह त्रैमासिक मुख पत्रिका है। इसका प्रकाशन १९४१ से प्रारम्भ हुआ था। इसका पता है—ब्रज साहित्य मण्डल, मथुरा।

शोध-पत्रिका—यह प्राचीन साहित्य शोध सस्थान विद्यापीठ, उदयपुर से प्रकाशित होती है। इसका प्रकाशन सन् १९४५ से प्रारम्भ हुआ था।

सम्मेलन पत्रिका—यह हिन्दी साहित्य सम्मेलन की त्रैमासिक मुख-पत्रिका है। इसका प्रकाशन उसी समय से हो रहा है, जब से सम्मेलन की स्थापना हुई है। श्री वियोगी हरि, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा आदि इसके प्रमुख सम्पादक रह चुके हैं।

सरस्वती—इसका प्रकाशन १९०० में प्रारम्भ हुआ था। महावीरप्रसाद द्विवेदी इसके परम प्रतिष्ठित सम्पादक रह चुके है। यह इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित होती है।

साहित्य-सन्देश—इसका प्रकाशन १९३८ से प्रारम्भ हुआ था। यह हिन्दी आलोचना की एक प्रतिनिधि साहित्यिक पत्रिका है। बाबू गुलाबराय और डॉ० सत्येन्द्र इसके सम्पादक रह चुके है। इसके वर्त्तमान सम्पादक श्री महेन्द्रजी है।

सुकवि—यह कविता-प्रधान मासिक पत्रिका है। इसका प्रकाशन १९२७ मे प्रारम्भ हुआ था। यह लाठी मुहाल, कानपुर से प्रकाशित हुई है।

हिन्दी—आरम्भ मे यह नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुई थी। अब यह स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित होती है। इसके सम्पादक श्री चन्द्रवली पाण्डे थे।

हिन्दी जगत—यह बम्बई प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन से प्रकाशित होने वाली एक मासिक पत्रिका है। इसका प्रकाशन सन् १९४७ से प्रारम्भ हुआ था। इसका पता है—गणेश बाग, दादी पेट अगवारी गली, बम्बई-२।

हिन्दी प्रचार पत्रिका—यह बम्बई हिन्दी विद्यापीठ की मासिक पत्रिका है। इसका प्रकाशन १९४२ से प्रारम्भ हुआ था। इसका पता है—बम्बई हिन्दी विद्यापीठ, गिरगाँव, बम्बई-४।

हिमालय—यह एक साहित्यिक पत्रिका है। इसका प्रकाशन सन् १९४७ मे प्रारम्भ हुआ था। श्री रामधारीसिंह दिनकर, रामवृक्ष बेनीपुरी, शिवपूजनसहाय आदि इसके सम्पादक रह चुके हैं। इसका पता है—पुस्तक भण्डार, हिमालय प्रेस, पटना।

उर्मिला—यह भी एक साहित्यिक मासिक पत्र है। इसका प्रकाशन १९५१ से प्रारम्भ हुआ था। इसका पता है—१४/६४, टेढ़ी नीम, बनारस।

कल्पना—यह द्वैमासिक पत्रिका है। इसके सम्पादक श्री आर्येन्द्र शर्मा हैं। इसका पता है—चेतना प्रकाशन, हैदराबाद।

नया साहित्य—यह प्रगतिशील मासिक पत्रिका है। इसके सम्पादक श्री रामविलास शर्मा, श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि हैं। इसका पता है—नया कटरा, प्रयाग।

नई धारा—यह साहित्यिक मासिक पत्रिका है। इसके सम्पादक रामवृक्ष बेनीपुरी है। इसका पता है—अशोक प्रेस, महेन्द्र, पटना।

नवभारत—यह साप्ताहिक पत्रिका है। इसमे राष्ट्रीय और साहित्यिक दोनो प्रकार के लेख रहते हैं। इसका पता है—नवभारत, बेलारी, दक्षिण भारत।

हिन्दी अनुशीलन—यह प्रयाग भारतीय हिन्दी परिषद् की त्रैमासिक

हिन्दी पत्रिका है । इसमें भाषा और साहित्य से सम्बन्धित अनुसन्धानपूर्ण लेख प्रकाशित होते है।

आलोचना—सन् १९५१ के आस-पास राजकमल प्रकाशन ने आलोचना नामक एक त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया। इसमे कोई सन्देह नही कि इसमे उच्च कोटि के लेख ही प्रकाशित होते रहे है। किन्तु यह कहने में भी सकोच नहीं है कि यह अखाडियो के सघर्ष का एक साधन भी बनता रहा है।

सरस्वती संवाद—इसका प्रकाशन सन् १९५२ के आस-पास प्रारम्भ हुआ था। यह मासिक आलोचनात्मक पत्रिका है। डॉ० शम्भूनाथ पाण्डेय इसके सम्पादक हैं। इसमे भी उच्चकोटि के साहित्यिक निबन्ध प्रकाशित होते रहे है। इसका पता है—सरस्वती सदन, मोती कटरा, आगरा।

ज्ञानोदय—आधुनिक साहित्यिक पत्रो में ज्ञानोदय का स्थान भी प्रतिष्ठित माना जाता है। इसका प्रकाशन कलकत्ता से होता है।

झंकार—इसका प्रकाशन सन् १९५१ से प्रारम्भ हुआ है। यह एक साहित्यिक मासिक पत्रिका है। यह फीजी से प्रकाशित होती है। इसका पता है—तारा प्रेस, नसीनू, सूवा फीजी।

समालोचक—अभी गत वर्ष आगरे से डॉ० रामविलास शर्मा के सम्पादकत्व मे आगरे से इसका प्रकाशन प्रारम्भ हुआ है। इसमें उच्चकोटि के साहित्यिक निबन्ध रहते हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ साहित्यिक पत्रिकाओ के नाम और उल्लेखनीय है। वे इस प्रकार हैं—अजन्ता, अनुशीलन, अवन्तिका, नया पथ, सगम, प्रतिभा, पाटल, रसिक पथ, देव सागर, कला-निधि आदि।

कहानी-प्रधान पत्र-पत्रिकाएँ—हिन्दी मे एक बहुत बड़ा पत्र-पत्रिका साहित्य मनोरजन को लेकर विकसित हुआ है। कुछ प्रसिद्ध मनोरजन प्रधान सामग्री देने वाले पत्रो के नाम इस प्रकार हैं—

कहानी प्रधान पत्रो मे 'सुमित्रा', 'सरिता', 'सजनी', 'रसभरी', 'माया', 'मानसरोवर', 'मनोरजन', 'नई कहानियाँ', 'नया ससार', 'धूपछाँह', 'छाया', 'कहानियाँ', 'अरुण', 'मनोरमा', 'मनोहर कहानियाँ', 'मधुप' (साप्ताहिक), 'नवरस', 'अभ्युदय', अतीत (पद्यात्मक कहानी)।

सिनेमा जगत् सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाएँ—आजकल सिनेमा जगत् को लेकर भी एक विस्तृत पत्र-पत्रिका साहित्य प्रकाशित हो रहा है। इनमे निम्नलिखित पत्र-पत्रिकाएँ विशेष प्रसिद्ध हैं—

(१) अभिनय, (२) चित्र प्रकाश, (३) चित्रपट, (४) तारा, (५) नव-चित्रपट, (६) रगभूमि (दिल्ली से प्रकाशित), (७) रगभूमि (बम्बई से प्रकाशित), (८) सारग, (९) सिनेमा तस्वीर, (१०) दीपशिखा, (११) झंकार।

बालोपयोगी पत्र-पत्रिकाएँ—हिन्दी में बहुत से पत्र-पत्रिकाएँ बालको के लिए ही निकलते हैं। 'किशोरी', 'किलकारी', 'कुमार' (कालाकांकर से प्रकाशित), 'कुमार', 'मनमोहन', 'चमचम', 'बालबोध', 'बालक', 'बाल-भारती'

(इलाहाबाद), 'बाल-भारती' (दिल्ली), 'बाल-विनोद', 'बाल-सखा', 'बाल-सेवा', 'बाल-हित', 'हमारे बालक', 'होनहार', 'कन्या', 'चुन्नू-मुन्नू', 'चन्दामामा', 'खिलौना', 'भारती', 'लल्ला', 'शिशु' आदि।

स्त्रियोपयोगी पत्र-पत्रिकाएँ—हिन्दी मे कुछ स्त्रियोपयोगी पत्र-पत्रिकाएँ भी प्रकाशित होती हैं। उनमे से कुछ इस प्रकार है—'आर्य महिला', 'ऊषा', 'क्षत्राणी', 'गृहिणी', 'चाँद', 'छाया', 'जागृत महिला', 'तारा', 'महिला', 'महिला श्रम पत्रिका', 'रानी', 'रूपरानी', 'सरिता', 'आँचल', 'कन्या', 'मोहनी' आदि आदि।

हास्य रस की पत्र-पत्रिकाएँ—हिन्दी मे दो-तीन पत्र-पत्रिकाएँ ऐसी भी प्रकाशित होती हैं जिनका लक्ष्य केवय हास्य रस होता है जैसे 'आँधी-पानी', 'तरग' आदि आदि।

राजनीतिक पत्र-पत्रिकाएँ—बहुत सी पत्र-पत्रिकाएँ ऐसी भी प्रकाशित हो रही है, जिनका उद्देश्य राजनीतिक है। इन पत्र-पत्रिकाओ मे रायपुर से प्रकाशित 'अग्रदूत', जयपुर से प्रकाशित समाजवादी पत्रिका 'अमर-ज्योति', कानपुर से प्रकाशित काग्रेसी और गाधीवादी मासिक पत्रिका 'अमर ज्योति', दिल्ली से प्रकाशित 'अमर भारत', इटावा से प्रकाशित हिन्दू महासभा की समर्थक पत्रिका 'अरुणोदय', अलवर से प्रकाशित 'अलवर पत्रिका', अलीगढ से प्रकाशित 'अलीगढ हेराल्ड', काशी से प्रकाशित 'आँधी', खडवा तथा इन्दौर से प्रकाशित 'आगामी कल', काशी से प्रकाशित 'आज', दिल्ली से प्रकाशित 'आजकल', बम्बई से प्रकाशित आजाद हिन्द', कलकत्ता से प्रकाशित समाजवादी और सास्कृतिक दृष्टिकोणपूर्ण पत्रिका 'आदर्श', दिल्ली से प्रकाशित समाजवादी पत्र 'आदर्श', राँची से प्रकाशित 'आदिवासी', नागपुर से प्रकाशित 'आलोक', फीजी से प्रकाशित 'इण्डियन टाइम्स', इन्दौर से प्रकाशित 'इन्दौर समाचार', दिल्ली से प्रकाशित 'इतिहास', कानपुर से प्रकाशित 'इन्क्लाब', आगरा से प्रकाशित 'उजाला', उज्जैन से प्रकाशित 'एकता', जोधपुर से प्रकाशित 'कल की दुनिया', आगरा से प्रकाशित 'काँग्रेस', मिर्जापुर से प्रकाशित 'चेतना', बम्बई से प्रकाशित 'चेतना', रायपुर से 'चिन्गारी', काशी से प्रकाशित 'छत्तीसगढ केसरी', इन्दौर से प्रकाशित 'जनता', जयपुर से प्रकाशित प्रजातन्त्रवादी पत्र 'जनता', शाहजहाँपुर से प्रकाशित 'जनतन्त्र', बनारस से काशित 'जनवाणी', पटना से प्रकाशित 'जनशक्ति', कानपुर से प्रकाशित 'जागरण', भूपाल-गढ से प्रकाशित 'जनवाणी', लश्कर से प्रकाशित 'जीता ससार', मद्रास से प्रकाशित 'दक्खिनी हिन्द', फर्रुखाबाद से प्रकाशित 'नया-युग', हाथरस से प्रकाशित 'नया ससार', अजमेर से प्रकाशित 'नव-ज्योति', ग्वालियर से प्रकाशित 'नवभारत', नागपुर से प्रकाशित 'नवभारत', बम्बई से प्रकाशित 'नवभारत', दिल्ली से प्रकाशित 'नवयुग', भरतपुर से प्रकाशित 'नवयुग-सदेश', लखनऊ से प्रकाशित सघीय पत्र 'पाँचजन्य', रीवाँ से प्रकाशित 'प्रकाश', चम्बा से प्रकाशित 'प्रजामित्र', बीकानेर से प्रकाशित 'प्रजामित्र', जोधपुर से प्रकाशित 'प्रजासेवक', दिल्ली से प्रकाशित 'फौजी अखबार', पटना से प्रकाशित 'विहार' तथा 'विहार काग्रेस', इलाहाबाद से प्रकाशित 'भारत' तथा 'भारत जननी', दिल्ली से प्रकाशित 'भारतवर्ष', जम्मू से प्रकाशित

'भारती', इलाहाबाद से प्रकाशित 'भारतीय', दिल्ली से प्रकाशित 'भारतीय समाचार', काशी से प्रकाशित 'युगधारा', कानपुर से प्रकाशित 'युगान्तर', जयपुर से प्रकाशित 'युगान्तर', जोधपुर से प्रकाशित 'राष्ट्रपताका', बनारस से प्रकाशित 'राष्ट्रवाणी', नागपुर से प्रकाशित 'लोकमत', बीकानेर से प्रकाशित 'लोकमत', बम्बई से प्रकाशित 'लोकवाणी', जयपुर से प्रकाशित 'लोकवाणी', इन्दौर से प्रकाशित 'लोक-शासन', कलकत्ता से प्रकाशित 'विशाल भारत', अमृतसर से प्रकाशित हिन्दू महासभा का प्रमुख-पत्र 'विश्वबन्धु', कलकत्ता से प्रकाशित 'विश्वमित्र', इलाहाबाद से प्रकाशित 'विश्ववाणी', दिल्ली से प्रकाशित 'वीर अर्जुन', बम्बई से प्रकाशित 'वेंकटेश्वर समाचार', अलमोड़ा से प्रकाशित 'शक्ति', फीजी से प्रकाशित 'शान्तिदूत', मुंगेर से प्रकाशित 'शान्ति-सन्देश', काशी से प्रकाशित 'ससार', लखनऊ से प्रकाशित कांग्रेस दल का मुखपत्र 'स्वयसेवक', खण्डवा से प्रकाशित स्वराज्य', दिल्ली से प्रकाशित 'हिन्दुस्तान', प्रयाग से प्रकाशित 'अपना देश', दिल्ली से प्रकाशित 'अमेरिकन रिपोर्टर', त्रिलारी से प्रकाशित 'नवभारत', नई दिल्ली से प्रकाशित 'सोवियत भूमि', ग्वालियर से प्रकाशित 'हमारी आवाज' आदि के नाम उल्लेखनीय है ।

धार्मिक पत्र पत्रिकाएँ— हिन्दी मे बहुत सी धार्मिक पत्र-पत्रिकाएँ भी प्रकाशित हो रही है। धार्मिक पत्र-पत्रिकाओ मे अनेकान्त, (जैनधर्म), आत्मधर्म, आर्य मित्र, आर्य सेवक, कल्याण, गीताधर्म, गोसेवक, जैन-प्रचारक, जैन सिद्धान्त भास्कर, तारण-बन्धु, त्याग-भूमि, दयानन्द सदेश, दादू सेवक, धर्म दूत, परमहस, भक्त भारत, योगी, योगेन्द्र, शुभचिन्तक, सकीर्तन, श्वेताम्बर जैन, सतवाणी, स्वयवेद, नाम महात्म्य, निष्काम, श्री रगनाथ अदिति, कबीर सदेश आदि विशेष प्रसिद्ध हैं।

इसके अतिरिक्त और बहुत सी जातीय पत्र-पत्रिकाएँ भी प्रकाशित होती है । यहाँ पर उन सबका विवरण देना अनावश्यक-सा है ।

(इलाहाबाद), 'बाल-भारती', (दिल्ली), 'बाल-विनोद', 'बाल-सखा', 'बाल-सेवा', 'बाल-हित', 'हमारे बालक', 'होनहार', 'कन्या', 'चुन्नू-मुन्नू', 'चन्दामामा', 'खिलौना', 'भारती', 'लल्ला', 'शिशु' आदि।

स्त्रियोपयोगी पत्र-पत्रिकाएँ—हिन्दी मे कुछ स्त्रियोपयोगी पत्र-पत्रिकाएँ भी प्रकाशित होती हैं। उनमे से कुछ इस प्रकार है—'आर्य महिला', 'ऊषा', 'क्षत्राणी', 'गृहिणी', 'चाँद', 'छाया', 'जागृत महिला', 'तारा', 'महिला', 'महिला श्रम पत्रिका', 'रानी', 'रूपरानी', 'सरिता', 'आँचल', 'कन्या', 'मोहनी' आदि आदि।

हास्य रस की पत्र-पत्रिकाएँ—हिन्दी में दो-तीन पत्र-पत्रिकाएँ ऐसी भी प्रकाशित होती हैं जिनका लक्ष्य केवय हास्य रस होता है जैसे 'आँधी-पानी', 'तरग' आदि आदि।

राजनीतिक पत्र-पत्रिकाएँ—बहुत सी पत्र-पत्रिकाएँ ऐसी भी प्रकाशित हो रही है, जिनका उद्देश्य राजनीतिक है। इन पत्र-पत्रिकाओ मे रायपुर से प्रकाशित 'अग्रदूत', जयपुर से प्रकाशित समाजवादी पत्रिका 'अमर-ज्योति', कानपुर से प्रकाशित काग्रेसी और गाधीवादी मासिक पत्रिका 'अमर ज्योति', दिल्ली से प्रकाशित 'अमर भारत', इटावा से प्रकाशित हिन्दू महासभा की समर्थक पत्रिका 'अरुणोदय', अलवर से प्रकाशित 'अलवर पत्रिका', अलीगढ से प्रकाशित 'अलीगढ हेराल्ड', काशी से प्रकाशित 'आँधी', खडवा तथा इन्दौर से प्रकाशित 'आगामी कल', काशी से प्रकाशित 'आज', दिल्ली से प्रकाशित 'आजकल', बम्बई से प्रकाशित आजाद हिन्द', कलकत्ता से प्रकाशित समाजवादी और सास्कृतिक दृष्टिकोणपूर्ण पत्रिका 'आदर्श', दिल्ली से प्रकाशित समाजवादी पत्र 'आदर्श', राँची से प्रकाशित 'आदिवासी', नागपुर से प्रकाशित 'आलोक', फीजी से प्रकाशित 'इण्डियन टाइम्स', इन्दौर से प्रकाशित 'इन्दौर समाचार', दिल्ली से प्रकाशित 'इतिहास', कानपुर से प्रकाशित 'इन्क्लाब', आगरा से प्रकाशित 'उजाला', उज्जैन से प्रकाशित 'एकता', जोधपुर से प्रकाशित 'कल की दुनिया', आगरा से प्रकाशित 'कांग्रेस', मिर्जापुर से प्रकाशित 'चेतना', बम्बई से प्रकाशित 'चेतना', रायपुर से 'चिन्गारी', काशी से प्रकाशित 'छत्तीसगढ केसरी', इन्दौर से प्रकाशित 'जनता', जयपुर से प्रकाशित प्रजातन्त्रवादी पत्र 'जनता', शाहजहाँपुर से प्रकाशित 'जनतन्त्र', बनारस से काशित 'जनवाणी', पटना से प्रकाशित 'जनशक्ति', कानपुर से प्रकाशित 'जागरण', भूपाल-गढ से प्रकाशित 'जनवाणी', लश्कर से प्रकाशित 'जीता ससार', मद्रास से प्रकाशित 'दक्खिनी हिन्द', फर्रुखाबाद से प्रकाशित 'नया-युग', हाथरस से प्रकाशित 'नया ससार', अजमेर से प्रकाशित 'नव-ज्योति', ग्वालियर से प्रकाशित 'नवभारत', नागपुर से प्रकाशित 'नवभारत', बम्बई से प्रकाशित 'नवभारत', दिल्ली से प्रकाशित 'नवयुग', भरतपुर से प्रकाशित 'नवयुग-सदेश', लखनऊ से प्रकाशित सघीय पत्र 'पाँचजन्य', रीवाँ से प्रकाशित 'प्रकाश', चम्बा से प्रकाशित 'प्रजामित्र', बीकानेर से प्रकाशित 'प्रजामित्र', जोधपुर से प्रकाशित 'प्रजासेवक', दिल्ली से प्रकाशित 'फौजी अखबार', पटना से प्रकाशित 'बिहार' तथा 'बिहार काग्रेस', इलाहाबाद से प्रकाशित 'भारत' तथा 'भारत जननी', दिल्ली से प्रकाशित 'भारतवर्ष', जम्मू से प्रकाशित

'भारती', इलाहाबाद से प्रकाशित 'भारतीय', दिल्ली से प्रकाशित 'भारतीय समाचार', काशी से प्रकाशित 'युगधारा', कानपुर से प्रकाशित 'युगान्तर', जयपुर से प्रकाशित 'युगान्तर', जोधपुर से प्रकाशित 'राष्ट्रपताका', बनारस से प्रकाशित 'राष्ट्रवाणी', नागपुर से प्रकाशित 'लोकमत', बीकानेर से प्रकाशित 'लोकमत', बम्बई से प्रकाशित 'लोकवाणी', जयपुर से प्रकाशित 'लोकवाणी', इन्दौर से प्रकाशित 'लोक-शासन', कलकत्ता से प्रकाशित 'विशाल भारत', अमृतसर से प्रकाशित हिन्दू महासभा का प्रमुख-पत्र 'विश्वबन्धु', कलकत्ता से प्रकाशित 'विश्वमित्र', इलाहाबाद से प्रकाशित 'विश्ववाणी', दिल्ली से प्रकाशित 'वीर अर्जुन', बम्बई से प्रकाशित 'वेंकटेश्वर समाचार', अलमोडा से प्रकाशित 'शक्ति', फीजी से प्रकाशित 'शान्तिदूत', मुंगेर से प्रकाशित 'शान्ति-सन्देश', काशी से प्रकाशित 'ससार', लखनऊ से प्रकाशित काग्रेस दल का मुखपत्र 'स्वयसेवक', खण्डवा से प्रकाशित स्वराज्य', दिल्ली से प्रकाशित 'हिन्दुस्तान', प्रयाग से प्रकाशित 'अपना देश', दिल्ली से प्रकाशित 'अमेरिकन रिपोर्टर', बिलारी से प्रकाशित 'नवभारत', नई दिल्ली से प्रकाशित 'सोवियत भूमि', ग्वालियर से प्रकाशित 'हमारी आवाज' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

धार्मिक पत्र पत्रिकाएँ—हिन्दी मे बहुत सी धार्मिक पत्र-पत्रिकाएँ भी प्रकाशित हो रही हैं। धार्मिक पत्र-पत्रिकाओ मे अनेकान्त, (जैनधर्म), आत्मधर्म, आर्य मित्र, आर्य सेवक, कल्याण, गीताधर्म, गोसेवक, जैन-प्रचारक, जैन सिद्धान्त भास्कर, तारण-बन्धु, त्याग-भूमि, दयानन्द सदेश, दादू सेवक, धर्म दूत, परमहस, भक्त भारत, योगी, योगेन्द्र, शुभचिन्तक, सकीर्तन, श्वेताम्बर जैन, सतवाणी, स्वयवेद, नाम महात्म्य, निष्काम, श्री रगनाथ प्रदिति, कबीर सदेश आदि विशेष प्रसिद्ध हैं।

इसके अतिरिक्त और बहुत सी जातीय पत्र-पत्रिकाएँ भी प्रकाशित होती हैं। यहाँ पर उन सबका विवरण देना अनावश्यक-सा है।